प्रथम संस्करण
१९५७

मूल्य
आठ रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय प्रयाग

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप मे हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व मे किसी प्रकार की कमी नही आती। हमे संविधान मे निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों मे व्यवहृत करना है, वरन् उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाड्मय के सभी अवयवो पर प्रामाणिक ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थो के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता मे एक हिन्दी समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षो मे हिन्दी के ग्रन्थो को पुरस्कृत करके साहित्यकारो का उत्साह बढाती रही है और अब इसने पुस्तक प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाड्मय के सभी अगो के सम्बन्ध मे पुस्तको का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ मे लिया है। इसके लिए एक पञ्च-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षो मे ३०० पुस्तको का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्राय वे सब विषय ले लिये गये है जिन पर ससार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य मे ग्रन्थ प्राप्त है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमे से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयो को दी जाय जिनकी हिन्दी मे नितान्त कमी है।

प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना

इस ग्रन्थ मे वर्णित विपय आरम्भ मे ही उपोद्घात मे सक्षेपत बतला दिये गये है। अनुक्रमणिका और विपयानुसार सूची द्वारा उनका विस्तृत ज्ञान होगा। इस ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध करने की हमे विशेप आवश्यकता नही प्रतीत होती। ज्योतिप-शास्त्र मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा द्वारा उत्पन्न हुआ है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनुष्य का ध्यान इसकी ओर गया होगा। इतना ही नही, हम इसे मनुष्य विरचित शास्त्रो मे आद्यशास्त्र कह सकते है, अत यह जानना आवश्यक है कि हमारे देश मे इसकी अभिवृद्धि क्रमश. कैसे हुई। इस ग्रन्थ मे इन्ही सब विपयो का विवेचन किया गया है, अत इसकी उपयोगिता स्पष्ट है।

ऐसा ग्रन्थ सस्कृत मे नही है। कालपरम्परानुसार ग्रन्थो की उपयोगिता इत्यादि का विचार करने की ओर हम लोग ध्यान कम देते है, सौ दो सौ वर्प पूर्व और हजार पाच सौ वर्ष पूर्व के ग्रन्थकार की योग्यता प्राय समान ही समझते है, किसी शास्त्र का इतिहास जानने की चेष्टा कम करते है, फिर हमारे यहा लौकिक पुरुपो का उत्कर्ष वर्णन करने का प्रचार भी बहुत कम है। मालूम होता है, इन्ही कारणो से आज तक ऐसा ग्रन्थ नही बना।

अब इस ग्रन्थ की रचना का इतिहास थोडे मे बतलाऊगा। लगभग शक १८०२ मे हमारा ध्यान सायन पञ्चाङ्ग की ओर और उसके द्वारा ज्योतिपशास्त्र की ओर गया। प्राचीन ग्रन्थो को देखते देखते तारतम्य पूर्वक उनकी योग्यता, उनके समय का पौर्वापर्य और ज्योतिपशास्त्र की वृद्धि का क्रम जानने की प्रवृत्ति हुई और मन में यह विचार आने लगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ सरीखा यदि कोई ग्रन्थ बन जाता तो बडा अच्छा होता। शक १८०६ मे इस प्रान्त मे पञ्चाङ्ग के विपय मे विशेप आन्दोलन हो रहा था। उस समय पूना की 'दक्षिणा प्राइज कमेटी' की ओर से सन् १८८४ के दिसम्बर मे इस आशय की विज्ञप्ति निकली कि हमारे पञ्चाङ्गो की वर्तमान दुरवस्था का विचार हमारे ज्योतिपशास्त्र के इतिहास सहित किसी ग्रन्थ के रूप में होना चाहिये। अपनी रुचि का विषय सामने आने पर ग्रन्थ लिखने की और भी अधिक इच्छा हुई। ग्रन्थ के लिए पारितोपिक ४५० रुपया रखा था। लिखने की अवधि सन् १८८६ के अन्त तक थी परन्तु उस समय तक ग्रन्थ लिखने के साधन, मुख्यत प्राचीन ज्योतिप

ग्रन्थ उतने नही मिले जितने कि आवश्यक थे इसलिये उस समय ग्रन्थ नही लिखा जा सका। 'दक्षिणा प्राइज़ कमेटी' से मैंने समय बढाने का निवेदन किया। समय मिला भी परन्तु उसके बाद के पाच छ महीने आवश्यक जानकारी इकट्ठी करने मे ही बीत गये। अन्त मे १८८७ के नवम्बर मे ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और १८८८ के शुरू मे ग्रन्थ का प्रथम भाग कमेटी के पास भेजा। ग्रन्थ लिखते समय भी अन्वेषण का काम जारी था और उसमें कुछ विघ्न भी आये। अन्त मे १८८८ के अक्टूबर पर्यन्त तीन सप्ताह मे सम्पूर्ण ग्रन्थ कमेटी के पास भेज दिया। उसमें इस ग्रन्थ के साचे के लगभग ४२५ पृष्ठ होते। कमेटी ने जिन विषयो का विवेचन करने को कहा था उनकी अपेक्षा बहुत अधिक विषयो का विस्तृत वर्णन उसमे था। कमेटी ने ग्रन्थ पसन्द किया और हमें १८९१ मे पूर्ण पारितोषिक मिला। उसे छपवाने की भी इच्छा हुई परन्तु वह अधिक व्यय का कार्य मुझसे निभने योग्य नही था। कुछ दिनो बाद आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने उसे छापना स्वीकार किया। इसी बीच मे गायकवाड सरकार की ओर से पञ्चाङ्ग विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने का एक विज्ञापन निकला। उसके लिए एक सहस्र रुपये का बाबाशाही पारितोषिक रखा था। तदनुसार मैंने शक १८१५ के आरम्भ मे अर्थात् सन् १८९३ मे इस ग्रन्थ का आवश्यक भाग वहा भेजा। ग्रन्थ छपवाने की सूचना बहुत से लोग दे रहे थे पर मेरी दृष्टि मे वह पूर्ण नही हुआ था। बाद में ज्ञात हुए बहुत से नवीन विषय उसमें स्थान-स्थान पर जोडने थे, बहुत सी बाते जाननी थी और गायकवाड सरकार के यहा भेजे हुए ग्रन्थ के सम्बन्ध मे वहा से निर्णय हो जाने पर छपवाने का विचार था।[1] सन् १८९४ की जुलाई में हम पूना आये, उस समय लोगो ने छपवाने का विशेष आग्रह किया इसलिये १८९५ के मार्च मे आर्यभूषण प्रेस के मालिक ने ग्रन्थ छपवाना आरम्भ कर दिया। छपते समय भी पहिले न देखे हुए ग्रन्थो का वाचन तथा अन्वेषण का काम हो ही रहा था। बीचमें आये हुए कितने ही उल्लेखों द्वारा यह ज्ञात होगा।

दक्षिणा प्राइज कमेटी मे भेजे हुए ग्रन्थ के कुछ लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे सक्षिप्त कर दिये और कुछ निकाल दिये है। इसमे ४२५ मे से लगभग ४० पृष्ठ कम हो गये, फिर भी इसके मुख्य भाग मे सूचीपत्र के अतिरिक्त लगभग १४० पृष्ठ (मूल मराठी ग्रन्थ मे) बढ गये है।

आज हम लोगो को इसकी कल्पना भी नही है कि हमारे देश मे ज्योतिषशास्त्र-

---

[1] उसका फैसला शीघ्र ही हुआ। ग्रन्थ पसन्द आया और मुझे पारितोषिक मिला।

ज्ञान और ज्योतिषग्रन्थों की सम्पत्ति कितनी है। सामान्य लोग बहुत हुआ तो भास्कराचार्य प्रभृति दो एक ज्योतिषियों के तथा चार छ ग्रन्थों के नाम जानते हैं परन्तु इस ग्रन्थ में अनेकों ज्योतिष ग्रन्थकारों और ग्रन्थों के वर्णन आये हैं और अनुक्रमणिका में केवल उनके नामों की दो सूचियां दी हैं। यह विलक्षण ज्ञान-सम्पत्ति देख कर पाठक आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहेंगे और इस ग्रन्थ में वर्णित ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि का सम्पूर्ण इतिहास पढ़ने से अपने पूर्वजों के विलक्षण प्रयत्न, अन्वेषण, जिज्ञासा और तदनुसार उनकी योग्यता का ज्ञान होने पर वे अतिशय आनन्द में मग्न हो जायंगे।

स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ शास्त्रीय होने के कारण उपन्यास की तरह सुबोध नहीं होगा पर सभी भाग दुर्बोध नहीं हैं। यदि इसमें आठ-आठ पृष्ठों के भाग किये जायं तो प्रत्येक में कुछ ऐसी बातें मिलेंगी जो कि सबके लिए सुबोध हों अतः पाठक को चाहिये कि गहन भाग आने पर वह निराश न हो बल्कि आगे पढ़ता जाय। इसमें अनेकों विषय हैं। जिसको जो मनोरञ्जक प्रतीत हो अनुक्रमणिका और विषयानुसार सूची द्वारा उसे निकाल कर देख सकता है। कहीं कहीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनका अर्थ समझ में न आवे तो विषय-सूची देखनी चाहिये। कुछ शब्दों के अर्थ मेरे ज्योतिर्विलास नामक ग्रन्थ में मिलेंगे।

कुछ लोग इस ग्रन्थ को बहुत बड़ा और कुछ बिलकुल संक्षिप्त बतलाते हैं। एक सभ्य पुरुष का कथन है कि इतने विषयों के लिए कम से कम एक सहस्र पृष्ठ चाहिये थे। दोनों कथन ठीक हैं और इसीलिये मैंने बीच का मार्ग ग्रहण किया है। विस्तार करना चाहें तो एक एक पृष्ठ के चार चार हो सकते हैं और इससे अधिक संक्षेप उसी स्थिति में किया जा सकता है जब कि कुछ विषय निकाल दिये जायं परन्तु ऐसा ग्रन्थ बनने का सुयोग बार बार नहीं आता इसलिये मुझे उपलब्ध विषयों में से जितने इसमें रखने योग्य प्रतीत हुए सब रखे हैं।

यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसमें वाल्मीकि-रामायण और अठारह पुराणों में से एक का भी ज्योतिष सम्बन्धी वर्णन नहीं है। इन सबका समावेश करने की सूचना भी बहुतों ने दी पर मैं अकेला क्या क्या कर सकता था! ज्योतिष के ही अनेकों ग्रन्थ मैंने नहीं देखे हैं। केवल पूना के आनन्दाश्रम में भिन्न भिन्न लगभग ५०० ज्योतिष-ग्रन्थ हैं। मैंने वे सब देखे हैं परन्तु इस ग्रन्थ में उनमें से बहुतों का वर्णन नहीं आया है। पृ० ३४० में बतलायी हुई आफ्रेच सूची में लगभग २००० ज्योतिष ग्रन्थ हैं। वे सब मिले कैसे और उन्हें देखा कब जाय! फिर भी ज्योतिष तथा अन्य ग्रन्थों की ज्योतिष सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण सभी बातें इसमें आ गयी हैं। हम लोगों के भाग्य से हमारे देश में

मेरी अपेक्षा बहुत अधिक योग्य अनेक विद्वान् विद्यमान है। अवशिष्ट कार्य उन्हे अपने हाथ मे लेना चाहिये। मेरे श्रम का वे कुछ उपयोग कर सकें तो अच्छा ही है।

इस ग्रन्थ मे परशुराम, राम इत्यादि अवतारी पुरुषों के समय का विवेचन करने का सुझाव कुछ लोगो ने दिया था परन्तु ज्योतिष सम्बन्धी विश्वसनीय प्रमाण जिनके द्वारा उनका समय निश्चित किया जा सके मुझे आज तक नही मिले और न तो भविष्य मे मिलने की आशा है, फिर भी काल निरवधि है और वसुन्धरा विपुला है, न जाने कब क्या होगा। इस विषय में मेरा मत सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा। ग्रन्थो के रचनाकाल का विवेचन प्रथम भाग के उपसहार मे किया है।

इस ग्रन्थ मे कौन कौन से विषय है अथवा होने चाहिये, इस विषय मे लोगो की भिन्न भिन्न धारणाएँ देखी गयी है। कुछ लोग तो यहा तक समझते है कि पञ्चाङ्ग बनाने की सारणिया, प्रत्येक सिद्धान्तानुसार ग्रहगणित करने के प्रकार, उनकी उपपत्तिया, नाटिकल अलमनाक द्वारा बनने वाले पञ्चाङ्गो सरीखे सूक्ष्म पञ्चाङ्ग बनाने की पद्धति, जिनके द्वारा उत्तम जन्मपत्र बनाये जाते है वे उत्तम जातक ग्रन्थ, इतना ही नही ज्योतिष शास्त्र का सर्वस्व इसमे है। स्पष्ट है कि इसमे इतनी बातो का समावेश होना असम्भव है परन्तु इससे हमारे देश के लोगो की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त होती है और यह देख कर बडा आनन्द होता है।

सस्कृत मे ऐसा ग्रन्थ नही है यह तो पहिले बता ही चुके है। अग्रेजी मे कुछ बातें भिन्न भिन्न स्थानो में मिलती है पर वे सब मिल कर इस ग्रन्थ के चतुर्थांश के बराबर भी न होगी। उपसहार द्वारा ज्ञात होगा कि उत्तम विद्वानो ने अग्रेजी में बहुत से लेख लिखे है पर आजतक किसी ने इतना व्यापक विचार नही किया है और जो कुछ किया है वह भी एतद्देशीय दृष्टि से नही हुआ है।

कुछ ग्रन्थ मुझे स्वत पढने को नही मिल सके अत कही कही उनकी बातें अन्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार के आधार पर लिखनी पडी है। ऐसे स्थलो मे उस ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम लिख दिया है। अन्य ग्रन्थो के तात्पर्यार्थ या उद्धरण स्वत उन ग्रन्थो को पढ कर लिखे है और उनके नाम सर्वत्र दे दिये है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे एक भी पक्ति दूसरे ग्रन्थ के अनुवाद स्वरूप अथवा दूसरो के आधार पर नही लिखी है। महत्त्व के बहुत से ज्योतिष ग्रन्थो का मैने स्वत सग्रह किया है। जहा कही यह लिखा है कि अमुक बात गणित द्वारा सिद्ध होती है वहा स्वत ध्यानपूर्वक गणित किया है और मेरा विश्वास है कि वह ठीक है तथापि भ्रम मनुष्य का धर्म है इसलिये उसमें दृष्टिदोष हो सकता है।

दक्षिणा प्राइज़ कमेटी के सभासदो ने मूलग्रन्थ के सशोधन के सम्बन्ध मे दो तीन

सुझाव दिये थे। इनमें से एक संक्षेप करने के सुझाव को छोड शेष सब इसमें स्वीकार कर लिये गये हैं। मूलग्रन्थ में यूरोपियन विद्वानो की कही कही कडी टीका की गयी थी। कमेटी ने उसका कडापन बिलकुल निकाल देने की सूचना दी थी तदनुसार विषय को ठीक रखते हुए कडाई बिलकुल निकाल दी गयी है। फिर भी एक बात कहे बिना नही रहा जाता कि हमारे देश के कुछ बडे बडे विद्वान् भी यूरोपियनो की बातें सारी जैसी तो उन्हे वेदवाक्य समझते है। इससे यह विदित होता है कि उन्हे अपनी योग्यता का भरोसा नही है।

रावबहादुर म० गो० रानडे का कथन था कि यूरोपियन विद्वानो के मत और उनकी टीका इत्यादि विवादास्पद विषय इस ग्रन्थ मे न रखकर इनका विचार किसी अग्रेजी मासिक द्वारा होना चाहिये। ऐसा करने से ग्रन्थ बहुत बडा नही होगा। तदनुसार कुछ बातो की चर्चा मैंने अग्रेजी पुस्तको द्वारा की है। यह सब होते हुए भी मुझे यह भाग इस ग्रन्थ से निकाल देना उचित नही प्रतीत हुआ। सब वाचको को नही तो कुछ को तो यह अवश्य उपयोगी जान पडेगा। यदि इसका इगलिश मे अनुवाद होने का सुअवसर आया तो मेरा विस्तृत कथन यूरोपियन विद्वानो के सामने जायगा और उसका योग्य विचार होगा। एक यूरोपियन विद्वान् ने मुझसे कहा भी है कि यदि इस ग्रन्थ का अग्रेजी में शीघ्र अनुवाद नही हुआ तो इसके कुछ भागो का अनुवाद तो करवाना ही पडेगा।

वाचकों से मेरी प्राचीन ग्रन्थो के अन्वेषण की ओर ध्यान देने की आग्रहपूर्वक प्रार्थना है। मेरा न देखा हुआ कोई ग्रन्थ यदि किसी महाशय को मिले तो कृपया मुझे उसकी सूचना दे। ऐसा करने से मुझ पर और देश पर उनके बडे उपकार होगे। तैलगण द्रविड और बगाल प्रान्त के ग्रन्थो का वर्णन इस ग्रन्थ मे विशेषत नही है। वहा के विशिष्ट ग्रन्थो की ओर पृ० ६३६ मे लिखे हुए नाडीग्रन्थ सरीखे ग्रन्थो की जनता को जितनी अधिक जानकारी होगी उतना ही अच्छा होगा। मैंने जिन ग्रन्थकारो का वर्णन किया है उनमें से बहुतो के वशज विद्यमान होगे। यदि वे उनके विषय मे कुछ विशेष बतलावेगे तो अच्छा होगा।

ग्रन्थप्रचार के विषय में देखा गया कि तैलग और द्राविड प्रान्त के ग्रन्थो की अन्य प्रान्तो मे विशेष प्रसिद्धि नही है। लिपिभेद के कारण ऐसा हुआ होगा। बगाल के ग्रन्थ भी इधर विशेष प्रचलित नही है तथापि प्राचीन काल की यात्रा इत्यादि अडचनो का विचार करते है तो यह देख कर बडा आश्चर्य होता है कि बडे बडे ग्रन्थो का प्रचार भारत के कोने कोने तक है, ग्रहलाघव इत्यादि ग्रन्थ शीघ्र ही चारो ओर प्रचलित हो गये और मध्यम ग्रन्थ भी प्रचलित है। ज्योतिष के विद्वानो को इस देश के राजाओ

का आश्रय तो था ही पर मुसलमान बादशाहो का आश्रय भी पहिले ही से था। इनके अतिरिक्त काशी के विद्यापीठ मे भी बहुतो की उपस्थिति होती थी। इन्ही कारणो से सर्वत्र ग्रन्थो का प्रचार हुआ होगा।

ज्योतिष ग्रन्थो की संख्या बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि यह देश बहुत बडा होने के कारण सदा उपयोग मे आने वाले एक ही विषय के भिन्न भिन्न प्रान्तो मे भिन्न भिन्न ग्रन्थ बने। कुछ ग्रन्थ, विशेषत करणग्रन्थ, प्राचीन होने पर निरुपयोगी हो जाया करते है इसलिये कालक्रमानुसार नये नये ग्रन्थ बनते गये और एक ही विषय ग्रन्थकार के चातुर्यानुसार न्यूनाधिक सुबोध हो जाता है इसलिये अनेक आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाये।

इस ग्रन्थ मे जितने वेदमन्त्र और संस्कृत श्लोक आये है उन सबो का अर्थ लिखने से ग्रन्थ बहुत बडा हो जाता इसलिये अत्यन्त आवश्यक स्थलो मे ही अर्थ लिखा गया है। कही कही केवल भावार्थ लिखा है और जहा पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा कुछ समझ मे आने योग्य है वहा भावार्थ भी नही लिखा है।

वेदमन्त्रो का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा है। अन्वय के लिए जो शब्द ऊपर से लेने आवश्यक थे वे [ ] इस कोष्ठ मे और पर्याय शब्द या वाक्यांशो के अर्थ ( ) इस कोष्ठ में लिखे हैं। जो बात मूल में नहीं है वह ऊपर से बिलकुल नही ली गयी है। वेदमन्त्र और संस्कृत श्लोक छापने मे प्राय अशुद्धि नहीं हुई है। छापने के लिए भेजी हुई सम्पूर्ण प्रति स्वय लिखना अशक्य था अत सम्भव है उनकी कुछ अशुद्धिया प्रूफ संशोधन के समय भी ध्यान मे न आकर ज्यो की त्यो रह गयी हो पर इसे दूर करने का कोई उपाय नही है।

मध्यमाधिकार मे जिन ज्योतिषियो के जीवनचरित्र लिखे है वे विशेषत ज्योतिषगणितग्रन्थकार है। उनमें से यदि किसी ने संहिता या जातकग्रन्थ बनाया है तो उसका भी विवरण वहा लिखा है। जिन्होने केवल संहिता या जातकग्रन्थ बनाये है अर्थात् गणितग्रन्थ एक भी नहीं बनाया है उनका जीवनचरित्र तत्तत् स्कन्धो मे लिखा है।

ज्योतिषियो के जीवनचरित्र मे प्राय उनके समय स्थान ग्रन्थ उनकी टीकाएँ और ग्रन्थकार की योग्यता का वर्णन है। उनके वंश में उनके पूर्व या पश्चात् यदि कोई ग्रन्थकार हुआ है तो उसका भी वर्णन किया है। किसी के जीवनचरित्र मे यदि कोई विशेष बात है तो वह विषयसूची मे लिखी है। विषयसूची मे ग्रन्थकारो के नाम के आगे लिखा हुआ शक, यदि स्पष्ट न किया गया हो तो उनका जन्मशक नहीं बल्कि ग्रन्थरचनाकाल है।

मेरे मतानुसार प्राचीन ग्रन्थकारो का नाम लिखते समय आदरार्थ बहुवचन का प्रयोग नही करना चाहिये और मैने प्राय सर्वत्र ऐसा ही किया भी है। भास्कराचार्य

मे अधिक पूज्यवुद्धि व्यक्त करने के लिए 'भास्कराचार्य कहते हैं' लिखने की कोई आवश्यकता नही है जव कि हम ईश्वर के नाम का उल्लेख भी एकवचन मे ही करते हैं। सस्कृत और इगलिश मे भी आदरप्रदर्शन के लिए वहुवचन का प्रयोग नही किया जाता, ऐसा कह सकते हैं। कुछ आधुनिक और विद्यमान विद्वानो के विषय मे वोलचाल मे सर्वदा वहुवचन का प्रयोग किया जाता है। उसे निकाल देने मे भाषा शायद कर्ण-कटु हो जायगी इसलिये उनके लिए मैंने वहुवचन का ही प्रयोग किया है।

आज हम लोग शक की अपेक्षा ईसवी सन् मे अधिक परिचित हैं इसलिये शक द्वारा किसी वात का काल सम्वन्धी विचार करने की अपेक्षा ईसवी द्वारा करने मे सुविधा मालूम होती है परन्तु हमारे ज्योतिषगणितग्रन्थकारो ने सर्वत्र शक का ही उपयोग किया है। भारत के किसी भी प्रान्त का ग्रन्थ लीजिये, वहा व्यवहार मे शक का प्रचार न रहते हुए भी ग्रन्थ मे शक ही मिलेगा इसलिये मैंने भी उसीका उपयोग किया है परन्तु 'शककालपूर्व' के स्थान मे 'ईसवी सन् पूर्व' कह सकते हैं। इतने प्राचीन काल के सम्वन्ध में शक और ईसवी सनो के अन्तर स्वरूप ७८ वर्षों की उपेक्षा की जा सकती है। इस ग्रन्थ मे जहा शकवर्ष को जानवूझ कर वर्तमान न कहा हो वहा उसे गतवर्ष समझना चाहिये (पृ० ४८६ देखिये)। ग्रहस्थिति इत्यादिको के लिए जहा जानवूझ कर सायन विशेषण न लगाया हो वहा उन्हे निरयण अथवा ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार समझना चाहिये। जहा केवल सूर्यसिद्धान्त, आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त लिखा हो वहा क्रमश. वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त समझना चाहिये।

यह तो स्पष्ट है कि अनुक्रमणिका से ग्रन्थ देखने मे वडी सुविधा होती है पर उसे वनाना कितना कठिन है, इसका ज्ञान अनुभव द्वारा ही होगा। एक मनुष्य को उसे वनाने मे वहुत अधिक समय लगेगा। विषयानुसार सूची मैंने स्वय वनायी है। शेष सूचिया वनाने मे पूना ट्रेनिंग कालेज के वर्तमान विद्यार्थियो ने वडी सहायता की है। यह कार्य अनेक मनुष्यो द्वारा हुआ है और सूचीपत्र छपने पर्यन्त उसकी ५ प्रतिया वनी हैं इसलिये कही कही अशुद्धिया रह गयी होगी और कुछ नाम विलकुल छूट गये होगे पर इसमें कोई वश नही है। हमारे ग्रन्थकार अङ्कगणित, वीजगणित इत्यादि गणित ग्रन्थों का भी समावेश ज्योतिष ग्रन्थो मे ही करते हैं, तदनुसार सूचीपत्र मे मैंने भी ऐसा ही किया है। पञ्चाङ्ग और सस्कृत-मराठी ग्रन्थ तथा उनके कर्ताओ के नाम भी सस्कृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारो मे ही लिखे हैं। सूचीपत्र मे पृष्ठाको के सामने 'टि' (टिप्पणी) लिखना कही कही भूल से रह गया है।

यह ग्रन्थ लिखते समय ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थो का सग्रह करने मे कितना परिश्रम हुआ, लोगो की कितनी प्रार्थनाएँ करनी पडी, ग्रन्थो के वाचन का कार्य कितनी शीघ्र-

तापूर्वक करना पडा, ग्रन्थ लिखने और छपने के समय कितना शारीरिक और मानसिक श्रम करना पडा, पाठक इसकी कल्पना नही कर सकेंगे। इस व्यासग द्वारा होने वाला आनन्द ही इस कार्य का एक मात्र सच्चा पुरस्कार हो सकता है।

इसे छपाने का कार्य मुझसे होने योग्य नहीं था क्योकि इसमें व्यय अधिक था और शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण इसकी विक्री कम होना भी निश्चित था। आर्यभूषण प्रेस के मालिक मेरे ग्रामस्थ तथा वालमित्र रा० रा० हरि नारायण गोखले ने इसे छपवा कर मेरा ही नहीं सम्पूर्ण महाराष्ट्र का वडा उपकार किया है। पुस्तक छपाने और छपना आरम्भ होने के वाद उसे पूर्ण करने का उन्होने यदि वार वार आग्रह न किया होता तो यह ग्रन्थ कभी भी प्रकाशित न हो पाता क्योकि मेरी दृष्टि से कदाचित् यह मेरे जीवन भर मे पूर्ण न होता। मै समझता हू ऐसे ग्रन्थो के पूर्ण होने का कार्य भविष्य पर ही छोड देना चाहिये, फिर भी अव तक जितने कार्य हाथ मे लिये है यथाशक्ति उन्हे पूर्ण किया है। यदि किसी महाशय को इसमें कोई दोष दिखाई दे अथवा इसके विषय मे कुछ वक्तव्य हो तो वे मुझे उसकी सूचना दे। मेरे ऊपर उनके वडे उपकार होगे।

यह ग्रन्थ लिखने मे आरम्भ से अव तक मुझे अनेक मनुष्यो की सहायता मिली है। ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से सव सहायको के नाम तथा सहायता के प्रकार नही लिखता पर अन्तःकरण पूर्वक सवको धन्यवाद देता हू।

अपना थोडा वहुत जीवनचरित्र लिखने की हमारे ज्योतिषग्रन्थकारो की पद्धति है। यह पद्धति न होती तो इस ग्रन्थ का वहुत सा भाग मै न लिख पाता। उसी का अनुसरण करते हुए अपना थोडा सा वृत्तान्त लिख कर प्रस्तावना समाप्त करता हू। रत्नागिरी जिले मे दापोली तालुके के मुरुड नामक गाव मे शक १७७५ मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार आषाढ शुक्ल १४ युक्त १५ मगलवार (तदनुसार २०।२१ जुलाई सन् १८५३) को मिथुन लग्न में मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता इत्यादि के नाम क्रमश बालकृष्ण, रामचन्द्र, वल्लाल और शकर तथा माता का नाम दुर्गा था। मै शिवुन्दनगोत्रीय हिरण्यकेशीशाखाध्यायी चितपावन ब्राह्मण हू। मेरे कुल का मूल उपनाम वैशम्पायन है। वैशम्पायन घराना मुरुड गाव का पुरोहित और धर्माधिकारी है। कुछ शताब्दि पूर्व एक सिद्ध पुरुष ने मुरुड गाव वसाया। हमारा मूलपुरुष उनका शिष्य था। उसी सिद्ध द्वारा मेरे मूल पुरुष को उपर्युक्त वृत्ति मिली। लडकपन में मेरा अध्ययन लगभग दो वर्ष मुरुड की ग्रामीण पाठशाला में और उसके वाद सन् १८६२ के अप्रैल से १८६८ के अक्टूबर तक वही सरकारी स्कूल मे हुआ। उसी समय घर पर संस्कृत और वेद का भी अभ्यास किया। उसके वाद के दो वर्षों में से कुछ समय दापोली कोर्ट में उम्मेदवारी करने में और कुछ अंग्रेजी पढने में वीता। १८७०

के नवम्बर से आरम्भ कर तीन वर्ष तक मैं पूना ट्रेनिग कालेज रहा। अन्तिम परीक्षा मे मे उस कालेज के तृतीय वर्ष का प्रथम श्रेणी का सर्टिफिकेट मिला। वहा पढते समय लगभग दो वर्ष तक सवेरे एक घटा अग्रेजी स्कूल मे जाया करता था। सन् १८७४ में मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की। उसके बाद अनेक अड़चनो के कारण कालेज मे न जा सका। सन् १८७४ की फरवरी से १८८० की फरवरी तक रेवदण्डा के मराठी स्कूल मे और उसके बाद १८८२ के अगस्त तक थाना के नम्बर एक के मराठी स्कूल मे हेडमास्टर था। उसके बाद १८८९ के अक्टूबर तक वार्शी के अग्रेजी स्कूल मे असिस्टेट मास्टर था। उसके बाद १८९४ के जून तक धुलिया के ट्रेनिंग स्कूल मे असिस्टेट था। इस समय पूना के ट्रेनिग कालेज मे असिस्टेट मास्टर हू। मैंने विद्यार्थी बुद्धिवर्धिनी, सृष्टिचमत्कार, ज्योतिर्विलास और धर्ममीमासा नामक मराठी पुस्तके क्रमश १८७६, १८८२, १८९२ और १८९५ ईसवी मे लिखी है और ये छप चुकी है। मैंने और मि० सेवेल ने मिलकर Indian Calendar नामक ग्रन्थ अग्रेजी मे लिखा है। वह हाल ही में छपा है। मेरा भारतीय प्राचीन भूवर्णन नामक ग्रन्थ अपूर्ण होने के कारण अभी नही छपा है। ज्योतिष मेरा वशपरम्परागत विषय नही है। सर्वदा विद्याव्यासग में रहने का स्वभाव और समाचारपत्र पढने का व्यसन होने के कारण मेरा ध्यान सायनवाद की ओर और उसके द्वारा ज्योतिषशास्त्र मे लगा। इस विषय का मुझे थोडा बहुत जो कुछ ज्ञान है सब स्वसम्पादित है। कुछ लोग समझते है कि मुझे ज्योतिष का कुछ ऐसा ज्ञान है जो कि औरो के लिए दुष्प्राप्य है परन्तु साधारण मराठी सस्कृत और इगलिश जानने वाला बुद्धिमान् गणितज्ञ और जिज्ञासु मनुष्य मेरे इतना ज्योतिष-ज्ञान पाच छ महीनो मे सहज सम्पादित कर सकता है। आजतक ज्योतिष सीखने की इच्छा से मेरे पास बहुत से लोग आये परन्तु उनमे से अन्त तक कोई भी नही टिका, यह दूसरी बात है। ससार का वर्तमान ज्योतिषज्ञानभण्डार बहुत बडा है। मेरा ज्ञानसग्रह उसके सामने कुछ भी नही है और मेरी ज्ञानसग्राहक-शक्ति के लिए वह अनेक कारणो से अगम्य है। बुद्धि के स्वयभू प्रेरक उस सविता से प्रार्थना है कि वह सबको ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करे।

शकर बालकृष्ण दीक्षित

पूना
३१ अक्टूबर सन् १८९६ ई०
सायन अमान्त कार्तिक कृष्ण १०
शनौ शक १८१८ ।

विषय सूची

प्रथम भाग

वैदिककाल तथा वेदाङ्गकालमे ज्योतिषका विकास

प्रथम विभाग—वैदिक काल

द्वितीय विभाग—वेदाङ्ग काल

प्रथम भाग का उपसंहार

द्वितीय भाग

ज्योतिष सिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास

(१) गणितस्कन्ध

(२) सहितास्कन्ध

(३) जातकस्कन्ध

उपसंहार

परिशिष्ट

इस प्रकार के स्वाभाविक चमत्कारों की ओर मनुष्य का ध्यान अपने आप जाता है। इनमें भी पृथ्वी के चमत्कारों की अपेक्षा आकाश के चमत्कार स्वभावत ही भव्य और चित्ताकर्षक होते हैं, इसलिये उनकी ओर ध्यान अधिक जाता है। जिन मनुष्यों का ध्यान किसी विशेष कारण से अनेक प्रापञ्चिक व्यवहारों की ओर कम है उनका ध्यान आकाश की ओर लगने की अधिक सम्भावना है। जान बूझ कर सदा इसकी ओर ध्यान देनेवालों को छोड दीजिये पर यदि सामान्यत शेष जन-समूह को देखा जाय तो रात को भेड बकरियों के साथ जगल या किसी खुली जगह मे रहनेवाले गडरिये इत्यादिकों को या सबेरे जल्दी उठ कर खेती का काम करनेवाले किसानो को तथा साधारणत नक्षत्र-चिह्नों से ही दिशा पहिचानकर रात को समुद्र मे नावे चलानेवाले मल्लाहो को अन्य लोगों की अपेक्षा नक्षत्रों का ज्ञान बहुत अधिक होता है। और लोग भी थोडा

बहुत जानते ही है। ऐसे मनुष्य हमारे देश में कम मिलेंगे जिन्हे आकाश का ज्ञान कुछ भी न हो।

सूर्य और चन्द्रमा प्रति दिन नियम पूर्वक उगते और अस्त होते है तथा ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुए क्रमश आती है। इन वातो का अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण इस समय हमें इनके विपय मे विशेप चमत्कार नही मालूम हो रहा है पर जगत के आरम्भ में इन्होने मनुष्य को चकित कर दिया होगा और आकाश के तेजो के विचार की ओर अर्थात् ज्योतिषशास्त्र की ओर मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्ति-काल से ही लगा होगा। सूर्य सवेरे उगता है। धीरे-धीरे ऊपर आता है। उसकी किरणें क्रमश प्रखर होती जाती है। कुछ समय मे वह आकाश के उच्चतम भाग मे आ जाता है और फिर धीरे-धीरे नीचे जाने लगता है। उसका तेज कम होने लगता है। अन्त में वह अदृश्य हो जाता है। उसके अदृश्य होने के वाद बहुत देर तक अँधेरा रहता है। दूसरे दिन वह फिर प्राय पहिले ही स्थान मे उगता है। किसी अप्रस्तुत अत्यन्त भिन्न स्थान में नही उगता। यह जो सूर्य उगता है वह पिछले दिन वाला ही प्रतिदिन रहता है या नया आता है, यदि वही है तो रात को कहा रहता है, वह आकाश मे किसी अकल्पित ऊटपटाग स्थान में क्यो नही उगता, उसकी किरणे न्यूनाधिक प्रखर क्यो होती है, वह जहा उगता है और अस्त होता है वहा आकाश तो पृथ्वी से लगा हुआ दिखायी देता है फिर सूर्य उसी मे से ऊपर कैसे आता है, पूर्व-पश्चिम भागो में यदि समुद्र हो तो वह समुद्र में से आता है और समुद्र ही में डूवता हुआ दिखायी देता है, तो क्या सचमुच वह समुद्र में डूवता है? इत्यादि वातो में हमें आज कोई महत्व नही मालूम होता परन्तु सृष्टि के आरम्भ मे इन्होने मनुष्य को वडी उलझन में डाल दिया होगा और किसी बात का ठीक निश्चय होने में वडा समय लगा होगा। पीछे का अनुभव भविष्य मे उपयोगी सिद्ध होता है और इस प्रकार परम्परया मनुष्य का ज्ञान वढता रहता है। जो वातें भविष्य मे विलकुल सामान्य-सी समझी जाने लगती है उनका भी अन्वेपण करके उन्हें सिद्धान्त रूप में रखने में अनेको वर्ष लग जाते है तो फिर सृष्टि के आरम्भ में सामान्य विषयो के भी सच्चे तत्वो को जानने में बहुत समय लगा होगा इसे कहना ही क्या है।

ऊपर सूर्य के विपय में जो वाते वतलायी गयी वे कपोल-कल्पित नही है। जैनो ने दो सूर्य माने थे। ग्रन्थो में इसके प्रमाण मिलते है। पुराणादिको में भी वारह मास के वारह भिन्न भिन्न सूर्य माने गये है। वेदो में तो द्वादश आदित्य प्रसिद्ध ही है। ये वातें यद्यपि इस समय कल्पित जान पडती है परन्तु कभी न कभी मनुष्य इन्हें विलकुल सत्य समझते रहे होगे। 'सूर्य उगने के पहिले समुद्र मे डूवा रहता है' इस विपय में ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र
आगूळ्हमासूर्यमजभर्तन ।।

ऋ० स० १०।७२।७

हे देवताओ! आप लोगो ने समुद्र मे डूबे हुए सूर्य को [प्रात काल उदित होने के लिए] ऊपर निकाला।

इसी प्रकार तैत्तिरीय-वेद मे कहा है—

"य उदगान्महतोर्णवाद्विभ्राजमान सलिलस्य मध्यात्।
म मा वृपभो रोहिताक्ष सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु ।।"

महान् समुद्र मे मे जल के मध्य से जो देदीप्यमान सूर्य ऊपर आया वह हमे पवित्र करे।

सूर्य प्रात काल उगता है। मध्याह्न मे अत्यन्त उच्च स्थान में आता है और साय-काल में अस्त हो जाता है। मानो वह तीन पगो में सम्पूर्ण आकाश पार कर जाता है। इस चमत्कार का वर्णन ऋग्वेदादिको में बहुत-से स्थानो मे है। ऐसे वर्णन भी कि रात को सूर्य अपना तेज अग्नि में स्थापित करता है बहुत हैं।

"अग्नि वावादित्य साय प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्त ददृशे ।।"

तैत्ति० ब्राह्मण २।१।२।८

इस मन्त्र में कहा है कि सूर्य रात को अग्नि मे प्रवेश करता है। चन्द्रमा की ओर मनुष्य का ध्यान सूर्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही लगा होगा। चन्द्रमा का उदय रात्रि मे सूर्य की भाति नियमित रूप मे नही होता। कभी-कभी वह सूर्यास्त के समय उगता है और उस समय पूर्ण दिखायी देता है। इसके बाद क्रमश देर से उगने लगता है और छोटा दिखायी देने लगता है। तारो में उसका स्थान बहुत शीघ्र परिवर्तित होता रहता है। वह सूर्य के पास आने लगता है और एक दिन बिलकुल अदृश्य हो जाता है। उसके बाद दूसरे, तीसरे दिन सूर्यास्त के बाद तुरन्त ही पश्चिम मे दिखायी देने लगता है परन्तु उस समय उसकी छोटी सी कोर मात्र दिखायी देती है और ऐसा मालूम पडता है मानो वह नवीन ही उत्पन्न हुआ है। आज भी उस दिन प्राय चारो वेदो मे उपलब्ध

"नवो नवो भवति जायमानोह्ना केतुरुपसामेत्यग्रम्।
भाग देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु ।।"

ऋ० स० १०।८५।१९

यह मन्त्र पढ कर उसका दर्शन कर वन्दना करते हुए उसे वस्त्र का सूत्र अर्पण करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि हमे नवीन वस्त्र और दीर्घायु दे । इसके वाद वढते-वढते वह एक दिन पहिले की भाति पूर्ण हो जाता है। उसके इस न्यूनाधिक्य का अर्थात् उसकी कलाओ की क्षयवृद्धि का हमारे प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थो मे पर्याप्त वर्णन है। किं-वहुना चन्द्रमा की कलाए, उसका काला धव्वा, सौम्य दर्शन और आह्लादकारक चन्द्रिका इत्यादि वाते सभी देशो मे सर्वदा कवि-कल्पना-सृष्टि का एक प्रधान विषय रही हैं।

चन्द्रमा एक वार पूर्ण होने के लगभग २९½ दिनो वाद फिर पूर्ण होता है और आगे भी पुन -पुन इतने ही दिनो में पूर्ण हुआ करता है, अत पहिले मनुष्य के ध्यान मे यह वात आयी होगी कि एक वार सूर्य का उदय होने के वाद पुन द्वितीय उदय होने तक प्राय सर्वदा समान काल लगता है। तत्पश्चात् वही काल अर्थात् एक अहोरात्र मनुष्य की काल-गणना का स्वाभाविक परिमाण हुआ होगा। इसी प्रकार चन्द्रमा के विषय में भी उपर्युक्त नियम दिखलायी पडने पर, उसके एक वार पूर्ण होने से लेकर दूसरी वार पूर्ण होने तक का समय, मनुष्य की काल-गणना का दूसरा दिन से वडा स्वाभाविक परि-माण निश्चित हुआ होगा। वहुत सी भाषाओ मे चन्द्रमा का नाम ही इस काल का भी द्योतक माना हुआ पाया जाता है। वेदो मे चन्द्रमा का मास नाम मिलता है। उदा-हरणार्थ—

'सूर्यमासामिव उच्चरात'

ऋ० स० १०।६८।१० अथ० म० २०।१६।१०

'सूर्यमासा विचरन्ता दिवि'

ऋ० म० १०।९२।१२

इसमे स्पष्ट है कि चन्द्रमा का मास नाम उपर्युक्त काल का वाचक है।

दिन और मास के मानो का निश्चय हो जाने पर मनुष्य को कुछ दिनो वाद ज्ञात हुआ होगा कि ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुए एक नियमित समय के भीतर अर्थात् चन्द्रमा द्वारा ज्ञात होनेवाले मासात्मक काल की वारह सख्यायें वीतने पर, पुन पुन आया करती है। वेदो में इस काल के लिए शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुओ के ही नामो का प्रयोग किया गया है। ऋक्सहिता में वर्ष अर्थ मे शरद् शब्द वीस से अधिक वार और हिम शब्द दस से अधिक वार आया है। अन्य वेदभागो में भी ये शब्द अनेको वार आये हैं। वर्ष शब्द भी मूल में ऋतुविशेष का ही वाचक है।

शतञ्जीव शरदो वर्धमान शत हेमन्ताँच्छतमुवसन्तान् ।।

ऋ० म० १०।१६१।४ अथ० स० २०।९६।९

इस ऋचा मे वर्ष अर्थ मे शरद्, हेमन्त और वसन्त तीनो शब्द साथ आये है। वर्ष अ' मे संवत्सर शब्द भी अनेको जगह मिलता है।

अस्तु, दिवस और मास से बडा कालगणना का तीसरा स्वाभाविक परिमाण वर्ष हुआ। इन तीनो की उत्पत्ति का सामान्य दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया। यहाँ ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी विचारो की क्रमश वृद्धि का सूक्ष्म वर्णन नही करते क्योकि ऐसा करने से विस्तार होगा और उतने की यहा आवश्यकता भी नही है। मुख्य विषयो का वर्णन आगे यथास्थान किया ही जायगा।

जैसे सूर्यादिको को देखने से चमत्कार मालूम होता है उसी प्रकार उनकी नियमित स्थिति देख कर भी अत्यन्त आश्चर्य होता है और उनके विषय मे एक प्रकार की पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है। इस स्थिति मे यह आकाश का सम्पूर्ण व्यवहार किसी अप्रतिहत सत्य द्वारा चल रहा है और उस सत्य की महत्ता अवर्णनीय है इत्यादि विचारो का मन मे आना स्वाभाविक है। ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा देखिये--

> सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणोत्तभिता द्यौ। ऋतेनादित्या-
> स्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रित ॥
>
> ऋ० स० १०।८५।१ अथ० म० १४।१।१

सत्य ने भूमि सँभाल रखी है। सूर्य ने आकाश सँभाला है। सत्य से आदित्य रहते है [और सत्य से ही] सोम आकाश मे स्थित है।

'इस पापी कलियुग मे सभी ने अपना सत्य छोड दिया पर सूर्य और चन्द्रमा ने नही छोडा' ये उद्गार आज भी बहुतो के मुख से सुनायी देते है।

आकाश के कुछ चमत्कारो को देखकर आनन्द होता है, कुछ आश्चर्योत्पादक और कुछ डरावने भी होते है। ग्रहण, उल्कापात और धूमकेतुओ को देखने से आज भी बहुत से लोगो को विलक्षण विस्मय ही नही भय भी मालूम होता है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टिके आरम्भ मे लोग इनसे अत्यन्त भयभीत हुए होगे और इन्हे ईश्वरीय क्षोभ के द्योतक समझते रहे होगे। कोलम्बस ने एक टापू के निवासियो से कहा कि सूर्य तुम पर क्रुद्ध है और वह अमुक दिन तुम्हे दिखायी नही देगा। बाद मे वैसी ही स्थिति देख कर उनके अत्यन्त भयभीत होने का वर्णन बहुतो ने पढा होगा। ई० स० पूर्व ५८४ के लगभग लीडिया और मीडियावालो का युद्ध ५ वर्ष तक जारी रहा। ई० स० पूर्व ५८४ मे, जब कि युद्ध हो रहा था, खग्रास सूर्यग्रहण हुआ और अकस्मात् दिन मे रात हो गयी यह देखकर दोनो पक्ष अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होने आपस मे समझौता करके युद्ध बन्द किया। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है। कौरव-पाण्डवो का घोर युद्ध होने के पहिले एक

ही मास मे सूर्य और चन्द्रमा दोनो के ग्रहण लगे थे। उसके बाद का घोर संग्राम हुआ जिसमें अतिशय मनुष्य-सहार हुआ। उसका वर्णन हमारे महाभारत में है ही। इसी प्रकार अनेको प्रसगो मे उल्कापात और केतु-दर्शन होने के वर्णन पुराणादिकों में बहुत से है।

मनुष्य-व्यवहार के साधनी-भूत तथा कालगणना के स्वाभाविक मान दिन, मास और वर्ष आकाशीय चमत्कारो पर ही अवलम्बित है। खेती के लिए ऋतुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और ऋतुज्ञान सूर्य पर अवलम्बित है। वर्षा भी सूर्य के ही कारण होती है। ज्वार-भाटे का कारण चन्द्रमा है। मालूम होता है ईश्वर अपने क्षोभों को भी आकाशस्थ तेजो की ही कुछ विशिष्ट स्थितियो द्वारा उनके आने के पूर्व सूचित करता है। इन सब हेतुओ से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का ध्यान उसके उत्पत्तिकाल से ही ज्योतिषशास्त्र में लगा होगा और प्राचीनकाल में ही उनकी ये धारणाएं होंगी कि चन्द्रमा और सूर्य की अमुक स्थिति में खेती इत्यादि के अमुक अमुक कार्य करने पड़ते है और उसमे भी अमुक विशिष्ट स्थिति में करने से वे अधिक लाभप्रद होते है, उदाहरणार्थ चन्द्रमा की अमुक स्थिति मे बीज बोया जाय तो उपज अच्छी होगी और उसके अमुक नक्षत्र में रहने पर बोने से नष्ट हो जायगी। सूर्य जब दक्षिण से उत्तर या उत्तर से दक्षिण की ओर मुडता है उस समय अर्थात् अयन-सक्रान्ति के दिन अमुक अमुक कार्य हिताहित-प्रद होगे, विवाहादि कार्य अमुक समय करने से मगल-प्रद होगे, अमुक कर्म करने से ग्रहण उल्कापात और केतु इत्यादिको के दर्शन-जन्य अरिष्ट शान्त होगे। आकाश में दो ग्रह आमने-सामने आ जाने पर उनका युद्ध समझ कर उनकी न्यूनाधिक तेजस्विता द्वारा जय-पराजय मानकर पृथ्वी के राजाओं की जय-पराजय का निश्चय करने लगे होगे। इसी प्रकार कुछ समय बाद उनकी यह कल्पना होना भी स्वाभाविक है कि आकाशस्थ ज्योतियो का सम्बन्ध यदि सम्पूर्ण जगत् के व्यवहार और शुभाशुभ से है तो प्रत्येक मनुष्य की जन्म-कालीन घटनाओ से भी उनका सम्बन्ध अवश्य होगा और मनुष्य के जन्मकाल की तथा अन्य समयो की सूर्य-चन्द्रादि ग्रहो की स्थिति द्वारा उसके जीवन में होने वाले सुख-दु ख का निश्चय किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विषयो के तीन भेद होते है। प्रथम भेद में गणित-सम्बन्धी बाते आती है जैसे कितने दिनो का महीना होता है, कितने महीनो का वर्ष होता है, वर्ष में कितने दिन होते है, सूर्य का दक्षिणायन या उत्तरायण अमुक दिन से कितने दिनो बाद होगा, अमुक ग्रह अमुक दिन कहा रहेगा, ग्रहण कब होगा इत्यादि। ग्रहण, केतु तथा ग्रह-युद्धादिको द्वारा जगत् के शुभाशुभ का ज्ञान और अमुक दिन विवाहादि कर्म करने से शुभ या अशुभ फल होगे इत्यादि बातें द्वितीय भेद में आती है। किसी व्यक्ति की जन्म-

कालीन तथा अन्य समयो की ग्रहस्थिति के अनुसार उसके जीवन मे होने वाले सुख-दु ख का विचार तृतीय भेद में किया जाता है। ये ज्योतिपशास्त्र की तीन शाखाएँ (स्कन्ध) कही जा सकती हैं।

हमारे ज्योतिपशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थो मे ज्योतिप के यही तीन स्कन्ध माने गये हैं। पहिले को गणित दूसरे को सहिता और तीसरे को जातक या होरा कहते हैं। गणित को सिद्धान्त भी कहा जाता है। नारद का वचन है—

सिद्धान्तसहिताहोरारूप स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मल चक्षुर्ज्योति शास्त्रमनूत्तमम्॥

नारदसहिता १।४

श्रीपतिकृत रत्नमाला के टीकाकार महादेव (शके ११८५) का कथन है—

'ग्रहगणितपाटीगणितबीजगणितरूपसुनिश्चलमूलस्य बहुविधविततहोरातन्त्र-शाखस्य ज्योति शास्त्रवनस्पते सहितार्था एव फलानीत्यववार्य जातकर्मनामकरणमौञ्जीवन्धनविवाहयात्रादौ निखिल सहितार्थमल्पग्रन्थेनाभिधातुमिच्छु .. आह।'

केशवकृत मुहूर्ततत्व नामक ग्रन्थ की टीका मे (लगभग शके १४४०) गणेश-दैवज्ञ ने कहा है—

"श्रीकेशवो .गणितस्कन्ध जातकस्कन्ध चोक्त्वा
महितास्कन्ध चिकीर्षु .. प्रतिजानीते।"

आकाशस्थ ज्योतियो के विचार की ओर हम लोगो का ध्यान बहुत प्राचीन काल मे ही लगा था परन्तु किसी विपय का शास्त्र बनने मे बहुत समय लगता है, इसलिए ज्योतिपशास्त्र के भी ग्रन्थ बनने मे बहुत समय व्यतीत हुआ होगा और सर्व प्रथम जो ग्रन्थ बने होगे उनमें तो कम से कम इस शास्त्र का विवेचन कुछ मूलभूत विपयो के ही रूप मे रहा होगा और वह भी कुछ स्थूल ही। हमारे यहा के सम्प्रति उपलब्ध ज्योतिपग्रन्थो मे अति प्राचीन ग्रन्थ वेदाङ्गज्योतिप है। उसमें गणित द्वारा केवल सूर्य और चन्द्रमा की ही स्थिति का विचार किया है। उसके बाद का ग्रन्थ अथर्ववेदाङ्ग-ज्योतिप होना चाहिये'। इसमें सहिता और होरा स्कन्धो का थोडा विचार किया है। इसके बाद के ग्रन्थ गर्ग, पराशर इत्यादि की महिताए जान पडती हैं। ज्योतिप-शास्त्र का कुछ विस्तृत ज्ञान हो जाने पर उसकी गणितादि तीन शाखाए हुई होगी।

' इन ग्रन्थो का स्वरूप थोड़े में दिखाने के लिए बहुत-सी बातो का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। आगे इनका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

इसके पहिले कुछ ऐसे भी ग्रन्थ बने होंगे जिनमें तीनों शाखाओं का एकत्र विवेचन हो। मालूम होता है उस समय ऐसे ग्रन्थ थे और उन्हें लोग संहिता ही कहते थे। वराहमिहिर ने अपनी संहिता में लिखा है—

ज्योतिः शास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं
तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः संकीर्त्यते संहिता ।। अध्याय १

वेदाङ्गज्योतिष और गर्गादि की संहिताओं से प्राचीन ग्रन्थ पहिले थे या नहीं इसे जानने का सम्प्रति कोई साधन उपलब्ध नहीं है। गर्गादिकों के जो संहिताग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं उनका मूल जैसा था वैसा ही आज भी है अथवा नहीं यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। सम्प्रति गर्ग-संहिताएं भी दो-तीन प्रकार की उपलब्ध हैं। उपर्युक्त वराहमिहिर के वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहिले ऐसा संहिता-ग्रन्थ अवश्य रहा होगा जिसमें तीनों स्कन्धों का विवेचन एकत्र हो, वह विवेचन चाहे पूर्ण हो अथवा अंशत। जैसे-जैसे ज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान बढ़ता गया और प्रत्येक शाखा पूर्ण होती गयी वैसे-वैसे भविष्य में प्रत्येक शाखा के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ बने होंगे और संहिता नाम केवल एक स्कन्ध का पड़ गया होगा। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका से ज्ञात होता है कि उसके (शके ४२७) पूर्व भिन्न-भिन्न शाखाओं के स्वतन्त्र ग्रन्थ बन चुके थे। केवल गणितस्कन्ध विषयक आर्यभट का ग्रन्थ वराहमिहिर के कुछ पहिले का है परन्तु उसके भी पहिले गणित स्वतन्त्र स्कन्ध बन चुका था, यह आगे चल कर सिद्ध करेंगे। स्वयं वराहमिहिर के तो तीनों शाखाओं के भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं ही।

प्रत्येक स्कन्ध के ग्रन्थों के विषय

गणित-स्कन्ध के ग्रन्थों में सिद्धान्त, तन्त्र और करण तीन भेद हैं। करण ग्रन्थ में केवल ग्रहगणित रहता है। सिद्धान्त का लक्षण भास्कराचार्य ने इस प्रकार किया है—

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना मानप्रभेदः क्रमा,
च्चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः ।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते,
सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः ।।

सिद्धान्तशिरोमणि मध्यमाधिकार

सिद्धान्त या तन्त्र में मुख्यतः दो अङ्ग होते हैं। एक में केवल ग्रहादिकों का गणित और दूसरे में प्राधान्यतः सृष्टि-रचना का वर्णन, गोलविचार, यन्त्ररचना और काल-

गणना के मान इत्यादि विषय रहते हैं ये दोनो अङ्ग बिलकुल पृथक् नही रहते और न तो रखे जा सकते हैं। अधिकाश सिद्धान्तो मे दोनो का सम्मिश्रण ही पाया जाता है। सिद्धान्त, तन्त्र और करणो के लक्षण कोई-कोई यो करते हैं कि जिसमे ग्रहगणित का विचार कल्पादि से हो वह सिद्धान्त, जिसमें महायुग से हो वह तन्त्र और जिसमे किसी इष्ट शक से हो वह करण है। केवल ग्रहगणित की दृष्टि से देखा जाय तो इनमे इसके अतिरिक्त अन्य कोई भेद नही है अर्थात् यह कह सकते है कि वस्तुत इनमे कोई भेद नही है। तीनो प्रकार के ग्रन्थो में जिन भिन्न-भिन्न प्रकरणो मे ग्रहगणित का विचार किया रहता है उन्हे अधिकार या अध्याय कहते हैं। उनके नाम ये हैं—

१ मध्यमाधिकार	५ सूर्यग्रहण	९ ग्रहयुति
२ स्पष्टाधिकार	६ छायाधिकार	१० भग्रहयुति
३ त्रिप्रश्नाधिकार	७ उदयास्ताधिकार	११ महापात
४ चन्द्रग्रहण	८ शृङ्गोन्नति	

कुछ ग्रन्थो मे अधिकार-सख्या इससे कुछ कम है और कुछ मे अधिक और उनका क्रम भी प्रत्येक मे भिन्न-भिन्न है फिर भी इन ग्यारहो मे उन सबका समावेश हो जाता है।

सहिता के विषयो के सम्बन्ध में सबकी एकवाक्यता नही है। सामान्यत सहिता के दो अङ्ग माने जा सकते हैं। एक तो वह जिसमे ग्रहचार अर्थात् नक्षत्र-मण्डल में ग्रहो के गमन और उनके परस्पर युद्धादि का धूमकेतु, उल्कापात और शकुनादिको द्वारा ससार के शुभाशुभ फल का विवेचन रहता है और दूसरा वह जिसमे मुहूर्त अर्थात् विवाह और यात्रादि कर्मो के शुभाशुभफलप्रद समय का विचार रहता है। वराह-मिहिर की सहिता से विदित होता है कि उनके समय दोनो अङ्गो का महत्व समान था परन्तु श्रीपति के समय (शके ९६०) से क्रमश प्रथम अङ्ग का महत्व कम होने लगा और लगभग शके १४५० से दूसरे अङ्ग का प्राधान्य हो गया। किंवहुना, मुहूर्ततत्व, मुहूर्तमार्तण्ड, मुहूर्तचिन्तामणि, मुहूर्तचूडामणि, मुहूर्तदीपक और मुहूर्तगणपति इत्यादि ग्रन्थो के नाम से तथा तदन्तर्गत विषयो को देखने से पता चलता है कि आगे जाकर मुहूर्तविषय ही तीसरा स्कन्ध बन बैठा। मुहूर्तग्रन्थो मे वराहमिहिर की सहिता के कुछ विषय रहते हैं पर उनका प्राधान्य नही रहता।

किसी मनुष्य के जन्मकालीन लग्न द्वारा उसके जीवन के सम्पूर्ण सुखदु खो का निश्चय पहिले ही कर देना होरास्कन्ध का सामान्यत मूल स्वरूप है। होरास्कन्ध का ही दूसरा नाम पहिले जातक था। आगे चलकर इसके दो विभाग हो गये। उपर्युक्त विषय जिस अङ्ग में आया उसे जातक कहने लगे और दूसरा अङ्ग ताजिक हुआ। किसी मनुष्य के जन्मकाल से आरम्भकर जिस समय सौरवर्ष की कोई सख्या समाप्त होकर

नवीन वर्ष लगता है उस समय के लग्न द्वारा उस वर्ष के सुख-दुःख का निश्चय करना सामान्यतः ताजिक का मुख्य विषय है। इस पद्धति में जन्म लग्न का मुथहा नाम रख कर उसे भी एक ग्रह मान लिया गया है। कुछ ग्रन्थकारों ने ताजिक शब्द का संस्कृत रूप 'तार्तीयक' बताया है। मुसलमानों का प्राबल्य होने के समय (लगभग शके १२००) में हमारे देश में ताजिक अङ्ग उनके ग्रन्थों से आया।

इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वी, चन्द्र और सूर्यादिकों की स्थिति कहाँ है, कैसी है, उन्हें गति कैसे मिलती है, वह किस प्रकार की होती है, इत्यादि प्रश्नों का सामान्य विवरण हमारे ज्योतिषग्रन्थों के जिस प्रकरण में रहता है उसके भुवनकोश, भुवनसंस्था, जगत्संस्था इत्यादि अर्थों के नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में हैं। यद्यपि इन बातों का विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया है तथापि विषय-प्रवेश होने के लिये यहाँ भुवनसंस्था, ग्रहगति अयनचलन और कालगणना करने की युगपद्धति के विषय में संक्षेप में कुछ कहूँगा।

भुवनसंस्था

हमारे ज्योतिषशास्त्र के मतानुसार विश्व के मध्यभाग में पृथ्वी है। उसके चारों ओर क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु, शनि और तारकामण्डल घूम रहे हैं। यह घूमता हुआ नक्षत्र-मण्डल दोनों ध्रुवों में बंधा हुआ है। पृथ्वी गोल और निराधार है। उसके चारों ओर वायु है जिसे भूवायु कहते हैं। उसके ऊपर आकाश में प्रवह नाम का वायु सञ्चार करता है। उसी की प्रेरणा से चन्द्रादि तेजों को गति मिलती है और वे पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। यह वर्णन सभी सिद्धान्त और तन्त्र ग्रन्थों में रहता है। करण ग्रन्थों में नहीं रहता पर पञ्चसिद्धान्तिका में है। ज्योतिष के पौरुष ग्रन्थों में पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए मतों में प्राचीन मत सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, इसलिए उनके उपर्युक्त अर्थों के सूचक वचन नीचे उद्धृत करते हैं।

> पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
> खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितो वृत्तः॥१॥
> मेरोः समोपरि वियत्यक्षो व्योम्नि स्थितो ध्रुवोऽधोऽन्यः।
> तत्र निबद्धो मरुता प्रवहेण भ्राम्यते भगणः॥५॥
> चन्द्रादूर्ध्वं बुधसितरविकुजजीवार्कजास्ततो भानि॥३०॥

अध्याय १३ त्रैलोक्यसंस्थान

आधुनिक ज्योतिषियों की भाँति प्रथम आर्यभट का मत है कि "ग्रहों के साथ सम्पूर्ण तारा-मण्डल लगभग एक दिन में हमें पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा करता हुआ दिखायी देता है परन्तु यह गति वास्तविक नहीं है। पृथ्वी की दैनन्दिन गति के कारण हमें ऐसा

भास होता है।" बहुत से पौरुष-सिद्धान्तकारो ने आर्यभट के इस मत मे दोष दिखलाये है।

नक्षत्रो के सम्बन्ध से देखने पर ग्रह पश्चिम से पूर्व की ओर जाते हुए दिखायी देते है। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहो की इसी गति का विचार किया गया है। ग्रहो की पूर्वाभिमुख गति की उपपत्ति सूर्यसिद्धान्त मे इस प्रकार है—

पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रै सतत ग्रहा।
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगा ॥२५॥

मध्यमाधिकार

अर्थ—ग्रह नक्षत्रो के साथ पश्चिम में जाते समय नक्षत्रो के वेग से अत्यन्त पराजित होने के कारण अपने मार्ग मे नियमित रूप से पीछे रह जाते है, इसलिए उन्हें पूर्वाभिमुख गति प्राप्त होती है।

इसका तात्पर्य इतना ही है कि नक्षत्रो की गति की अपेक्षा ग्रहो की दैनन्दिन गति कम होने के कारण वे पीछे रह जाते है, अत नक्षत्रो से पूर्व मे जाते हुए दिखायी देते है।

प्रथम आर्यभट के मतानुसार नक्षत्रो की दैनन्दिन गति वास्तविक नही है, इसलिए उन्हें ग्रहो की पूर्वाभिमुख-गति के विषय मे उपर्युक्त कल्पना नही करनी पडी। उनका कथन है कि ग्रहो की वस्तुत पूर्वाभिमुख गति है।

ग्रहगति के विषय मे एक और ऐसी कल्पना की गयी है कि सब ग्रहोकी पूर्वाभिमुख (योजनात्मक) गति उनके कक्षा-मण्डल मे समान ही है परन्तु पृथ्वी से ग्रहो के अन्तर समान न होने के कारण दूर की कक्षाए निकट की कक्षाओ की अपेक्षा बडी पडती है, इसलिए दृक्प्रत्यय में आनेवाली उनकी पूर्वाभिमुख गतिया भिन्न-भिन्न दिखायी देती है। चन्द्रमा अत्यन्त पास है, इसलिए उसकी गति सबसे अधिक है और शनि की कक्षा सब ग्रहो से बाहर है, इसलिए उसकी गति सबसे कम है। पञ्चसिद्धान्तिका में कहा है—

प्राग्गतयस्तुल्यजवा ग्रहास्तु सर्वे स्वमण्डलगा.॥३९॥
पर्येति शशी शीघ्र स्वल्प नक्षत्रमण्डलमधस्थ।
ऊर्ध्वस्थस्तुल्यजवो विचरति महदर्कजो मन्दम् ॥४१॥

अध्याय १३ त्रैलोक्यसस्थान

सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल मे ग्रह की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते है। भगण-पूर्ति का काल अनेको प्रदक्षिणाओ का अवलोकन करने के बाद निश्चित किया गया होगा। गणित ग्रन्थो मे प्रत्येक ग्रह की कल्पीय या महायुगीय भगण-सख्या लिखी रहती

है। उनके द्वारा लायी हुई और उपर्युक्त पञ्चसिद्धान्तिका के वाक्य में बतलायी हुई गति प्रतिदिन समान रहती है। उसे मध्यमगति कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली प्रत्येक ग्रह की गति सर्वदा समान नहीं रहती। उदाहरणार्थ गुरु को लीजिये, उसकी भगण-पूर्ति का काल लगभग १२ वर्ष है। इस मान से गुरु की मध्यम गति ५ कला के लगभग आती है परन्तु प्रत्यक्ष देखा जाय तो गुरु कभी इससे कम चलता है और कभी अधिक। कभी-कभी उसकी गति १५ कला के लगभग रहती है और कभी १ कला से भी कम। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह उलटा (पूर्व से पश्चिम की ओर) चलता है। इसे वक्रगति कहते हैं। प्रतिदिन की इस प्रकार की गति स्पष्ट गति कहलाती है। मध्यमगति द्वारा ग्रह का जो स्थान निश्चित होता है, स्पष्टग्रह उससे कुछ आगे या पीछे रहता है। जो स्थिति प्रत्यक्ष दिखायी देती है उसे स्पष्टस्थिति कहते हैं और मध्यगति द्वारा लायी हुई स्थिति मध्यमस्थिति कही जाती है। इष्टकाल में गणित द्वारा किसी ग्रह की स्पष्ट स्थिति निकालना अर्थात् इष्ट समय में आकाश में किसी ग्रह का स्थान जानना हमारे ज्योतिषशास्त्र के गणित स्कन्ध का प्रधान विषय है।

अयनचलन

सूर्य किसी नक्षत्र में आने के बाद पुनः जितने समय में वहाँ आता है उसे नाक्षत्र सौर वर्ष कहते हैं। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त का संयोग दो स्थानों में होता है। उन दोनों बिन्दुओं को सम्पात या क्रान्तिपात कहते हैं। सूर्य जब सम्पात में आने के बाद विषुववृत्त के उत्तर की ओर जाता है और जब कि उस समय वसन्त ऋतु रहती है उस सम्पात को मेषसम्पात या वसन्तसम्पात कहते हैं। मान लीजिये किसी समय वसन्त-सम्पात में एक तारा है। उसी समय सूर्य भी वहाँ आया और वर्ष का आरम्भ हुआ। सम्पात में गति है। वह प्रतिवर्ष लगभग ५० विकला पीछे हटता है, इसलिये नक्षत्र-मण्डल उतना ही आगे खिसकता हुआ दिखाई देता है। सम्पात से चलकर सूर्य को पुनः सम्पात तक आने में जो समय लगता है उसे साम्पातिक सौर वर्ष कहते हैं। इसी का नाम आर्तववर्ष या सायनवर्ष भी है। सूर्य जब सम्पात में आता है उस समय पहिले का नक्षत्र ५० विकला आगे गया रहता है। उसे वहाँ तक जाने में लगभग ५० पल अधिक लगते हैं अतः सिद्ध हुआ कि साम्पातिक सौर वर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौर वर्ष लगभग ५० पल अधिक है। ऋतुएँ साम्पातिक सौर वर्ष पर अवलम्बित हैं। जब-जब सूर्य सम्पात में आयेगा सर्वदा एक ही ऋतु रहेगी परन्तु एक बार किसी नक्षत्र में सूर्य के रहने पर जो ऋतु होगी वही सर्वदा उस नक्षत्र में आने पर नहीं होगी, यह स्पष्ट है। [illegible] बिन्दु खिसकने पर उसके सभी बिन्दु खिसक जाते हैं इसलिये सम्पात-बिन्दु

की भाँति अयन-विन्दु भी पीछे खिसकते हैं, अत एक बार जिस नक्षत्र मे सूर्य के आने पर उत्तरायण होता है, बाद में उसमे नही होता बल्कि पीछे-पीछे हटने लगता है। अयनविन्दु की गति सम्पात-विन्दु के समान ही होती है। सूर्य के अयन नक्षत्रो मे क्रमश पीछे हटने के कारण वह गति पहिले ज्ञात हुई, इसलिए उसे अयनचलन कहने लगे।

कालगणना की युगपद्धति

कलियुग का मान ४३२००० वर्ष है। द्वापर, त्रेता और कृतयुग क्रमश इससे द्विगुणित, त्रिगुणित और चतुर्गुणित होते हैं। इन चारो युगो का एक महायुग होता है। वह कलियुग का दसगुना होता है। उसका मान ४३२०००० वर्ष है। एक सहस्र महायुगो का कल्प होता है। यही ब्रह्मा का दिन है। कल्प मे १४ मनु होते हैं। कल्पारम्भ से लेकर वर्तमान महायुग के आरम्भ पर्यन्त ६ मनु और २७ महायुग बीत गये। २८ वे महायुग के कृत, त्रेता और द्वापर तीन युग बीत गये। इस समय कलियुग है। प्रत्येक मनु ७१ महायुगो का होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनु के आरम्भ मे कृतयुग तुल्य सन्धि होती है। इस प्रकार ब्रह्मदिन के आरम्भ से लेकर वर्तमान कलियुग के आरम्भ तक ४५६७ कलियुग इतना समय बीता। इस विषय मे एक प्रथम आर्यभट को छोड अन्य सब सिद्धान्तो का मत एक है। अन्य विषयो में थोडा मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे सब ग्रह अर्थात् सूर्यादि सात ग्रह एक स्थान मे आते हैं अर्थात् उनका मध्यम भोग शून्य आता है। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के सिद्धान्तानुसार वे केवल कल्पारम्भ मे एक स्थान मे आते है। कलियुगारम्भ में पास-पास तीन-चार अशो के भीतर रहते है। और भी एक मतभेद है। उसे आगे कहूँगा।

हमारे देश मे आकाशस्थित ज्योतियो की गति-स्थिति इत्यादि का तथा ज्योतिष-शास्त्र के अन्य सब अङ्गो का विचार उत्पन्न होने के बाद तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमश कैसे बढता गया इसका इतिहास इस पुस्तक में लिखा गया है। हमारे देश का प्राचीन नाम भारतवर्ष, भरतखण्ड या भारत है। इसमे भारतवर्ष के ज्योतिषशास्त्र का इतिहास है, इसलिये इसका नाम 'भारतीय ज्योतिषशास्त्र अथवा भारतीय ज्योतिषशास्त्र का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास' रखा है।

ज्योतिषशास्त्र के सहिता और जातक अङ्ग ग्रहादि ज्योतियो की गति पर अवलम्बित है। ग्रहादिको की स्पष्ट स्थिति अर्थात् अमुक समय ग्रह आकाश मे अमुक स्थान मे रहेगा, पहिले बता देना हमारे ज्योतिषशास्त्र का अत्यन्त महत्व का विषय है और वह उतना ही कठिन भी है। स्पष्ट गति-स्थिति के सूक्ष्म ज्ञान द्वारा मध्यम गति-स्थिति का सूक्ष्म

ज्ञान होता है तथापि सूक्ष्म स्पष्ट स्थिति का ज्ञान होने के पहिले भी सामान्यत मध्यम-गति-स्थिति का बहुत कुछ सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है। यह पहिले की सीढी है। ज्योतिष-शास्त्र के सम्प्रति उपलब्ध सिद्धान्त ग्रन्थो में स्पष्ट-गति-स्थिति का गणित है परन्तु मनुष्य का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान इस स्थिति तक पहुँचने मे बहुत समय लगा होगा इसलिये हम ज्योतिषशास्त्र के इतिहास के दो विभाग 'ज्योतिषसिद्धान्तकाल' और 'सिद्धान्तप्राक्काल' करते है और इसी के अनुसार इस ग्रन्थ के भी दो विभाग किये है। सिद्धान्तप्राक्काल मे हम लोगो का ध्यान ज्योतिष की ओर कैसे लगा, तत्सम्बन्धी ज्ञान क्रमश कैसे बढता गया और वह स्पष्ट स्थिति जानने वाली सीढी तक कैसे पहुँचा, इसका इतिहास हमें वेद, वेदाङ्ग स्मृति और महाभारत इत्यादि ग्रन्थो मे प्रसगवशात् आये हुए ज्योतिषसम्बन्धी लेखो द्वारा मालूम होता है। वह इस ग्रन्थ के प्रथम भाग मे है। और उसके बाद का आजतक का इतिहास द्वितीय भाग मे दिया गया है। मैंने सिद्धान्त-प्राक्काल के और तदनुसार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के दो विभाग वैदिक-काल और वेदाङ्ग-काल किये है। प्रथम में वेदो की सहिताओ, ब्राह्मणो और क्वचित् उपनिषदो मे आये हुए ज्योतिष सम्बन्धी विषयो का इतिहास है और द्वितीय विभाग मे वेदाङ्ग स्मृति और महाभारतादिको मे वर्णित विषयो का वर्णन है। वेदाङ्गो मे ज्योतिष के दो ग्रन्थ है। उनमें केवल ज्योतिष विषय ही है परन्तु मध्यम गति-स्थिति भी है। चूँकि वे दोनो ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थो से प्राचीन है, इसलिए उनका विवेचन प्रथम भाग ही में किया है। वैदिक-काल, वेदाङ्ग-काल और ज्योतिष-सिद्धान्तकाल की मर्यादा का विचार प्रथम भाग के अन्त में किया है।

द्वितीय भाग में ज्योतिष के तीनो स्कन्धो का इतिहास है। उसमें गणितस्कन्ध का इतिहास पूर्वोक्त मध्यम, स्पष्ट इत्यादि अधिकारो के क्रम से दिया है। भुवनसस्था, वेध और अयनचलन का विवेचन भी उसी में है। इस विवेचन मे अनेक ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के नाम आयेगे। चूँकि उनके इतिहास का ज्ञान न रहने से उपर्युक्त विवेचन समझने में अडचन होने की सम्भावना है, इसलिए दूसरे विभाग के आरम्भ में ही मध्यमाधिकार में ज्योतिष-गणित-ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थो का इतिहास लिखा है और उनी में ग्रहो की मध्यम गति-स्थिति का विचार किया गया है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट गति-स्थिति का विवेचन है। पञ्चाङ्ग के अङ्गो का और इस देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रचलित भिन्न-भिन्न पञ्चाङ्गो का वर्णन भी उसी में है। दोनो भागो के विषय-क्रम का विस्तृत स्वरूप अनुक्रमणिका द्वारा ज्ञात होगा।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास
प्रथमभाग
(सिद्धान्तप्राक्काल)
द्वितीयभाग
(सिद्धान्तकाल)
प्रथमविभाग
(वैदिककाल)
द्वितीयविभाग
(वेदाङ्गकाल)
गणितस्कन्ध
संहितास्कन्ध
जातकस्कन्ध
मध्यमाधिकार
स्पष्टाधिकार
त्रिप्रश्नाधिकारादि
१ प्रकरण
२ प्रकरण
(भुवनसंस्था)
३ प्रकरण
(अयनचलन)
४ प्रकरण (वेध)
ज्योतिष गणित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का
इतिहास तथा मध्यम गति और स्थिति
१ प्रकरण
ग्रहों की स्पष्ट
गति-स्थिति
२ प्रकरण
पञ्चाङ्ग
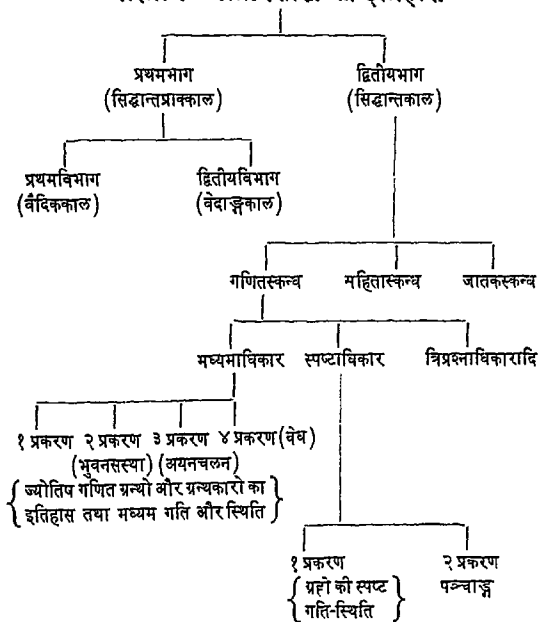
प्रथम भाग

वैदिक काल तथा वेदाङ्ग काल में ज्योतिष का विकास

प्रथम भाग

वैदिककाल

इस प्रकरण म वेदो मे आये हुए ज्योतिषशास्त्रसम्बन्धी उल्लेखो का विचार किया जायगा। वेद केवल ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ नही है, अत स्पष्ट है कि उनमे कोई भी बात ज्योतिष विषयक विवेचन के लिए नही कही गयी होगी बल्कि इतर विषयो का विचार करते समय प्रसगवशात् उसके सम्बन्ध मे कुछ बाते आ गयी होगी। हमे चाहिए कि जहा उनके द्वारा कुछ अनुमान किये जा सकते हो वहा करे और जहा अनुमानोपयोगी सब सुसगत उपकरण न हो वहा उपलब्ध बाते ही ज्यो की त्यो उद्धृत कर दे।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे पूर्वज सृष्टि के और विशेषत आकाश के चमत्कारो का अवलोकन करने मे सदा सचेष्ट रहते थे। कोई भी वेद या वेदभाग अथवा उसका कोई प्रपाठक ही लीजिये, उसमे आकाश, चन्द्र और सूर्य, उषा और सूर्य, रश्मि, नक्षत्र और तारे, ऋतु और मास, दिन और रात, वायु और मेघ—इनके विषय मे कुछ न कुछ वर्णन अवश्य मिलेगा और वह भी बडा ही मनोहर, स्वाभाविक, सुन्दर, चमत्कारिक और आश्चर्यकारक। मै यहा इसके कुछ उदाहरण देता पर ऐसा करने से ग्रन्थविस्तार होगा और कुछ अश मे विषयान्तर भी होगा।

विश्वोत्पत्ति

अब पहिले यह विचार करे कि जगत् की उत्पत्ति के विषय मे वेदो मे क्या लिखा है। ऋग्वेदसहिता में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है —

देवाना नु वय जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु य पश्यादुत्तरे युगे ॥१॥
ब्रह्मणस्पतिरेतास कर्मार इवाधमत।
देवाना पूर्व्ये युगे सत सदजायत ॥२॥
देवाना युगे प्रथमे सत सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥३॥

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदिति परि ॥४॥
अतिदिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव।
तान्देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतवन्धव ॥५॥

ऋ० म० १०।७२

हम देवो के जन्म स्पष्ट वाणी से कहते है जो [देवगण पूर्वयुग मे उत्पन्न होते हुए भी] उत्तरयुग में [यज्ञो मे] शस्त्र गाते समय [स्तोता को] देखता है ॥१॥ कर्मार की भाँति ब्रह्मणस्पति ने देवों को जन्म दिया। देवो के पूर्वयुग मे असत् (सर्वाभाव) से सत् हुआ ॥२॥देवो के प्रथम युग मे असत् से सत् हुआ, उससे दिशाए हुई और उसके पश्चात् उत्तानपद हुआ ॥३॥ उत्तानपद से पृथ्वी हुई, पृथ्वी से आशाएं हुई, अदिति से दक्ष हुआ, दक्ष से अदिति हुई ॥४॥ हे दक्ष ! तुम्हारी दुहिता अदिति के उत्पन्न होने के वाद स्तुत्य तथा अमर देव उत्पन्न हुए ॥५॥

इस वर्णन के आधार पर सामान्यत कह सकते है कि पहिले कोई अस्तित्व उत्पन्न हुआ, उसके वाद दिशाएं और तदनन्तर पृथ्वी उत्पन्न हुई।

ऋक् संहिता में एक स्थान पर लिखा है :—

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत तत समुद्रो अर्णव ॥१॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत।अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्व ॥३॥

ऋ० सं० १०।१९०

ये मन्त्र अन्य वेदो मे भी है। तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन है —

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत। कथमिदं स्यादिति। सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोमन्यत। अस्ति वै तत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठती। स वराहो-रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् ॥

अष्टक १ अध्याय १ अनुवाक ३

इसमें "पहिले जल था, उसके वाद पृथ्वी उत्पन्न हुई इत्यादि" वर्णन है। तैत्तिरीय-

सहिता के भी निम्नलिखित वाक्यो मे इसी प्रकार उदक के पश्चात् वायु और उसके वाद पृथ्वी की उत्पत्ति वतायी है।

> आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा
> चरत् स इमामपश्यत् ता वराहो भूत्वाऽहरत् ता विश्वकर्मा
> भूत्वा व्यमार्त् सा प्रथत सा पृथिव्यभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्।
>
> अष्टक ७ अध्याय १ अनुवाक ५

इसमे उदक के वाद वायु और वायु के वाद पृथ्वी यह क्रम है।

निम्नलिखित उपनिषद्भाग में वतायी हुई उत्पत्ति का क्रम अधिक सुव्यवस्थित ज्ञात होता है।

> तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत। आकाशाद्वायु।
> वायोरग्नि। अग्नेराप। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय
> ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुष।
>
> तैत्तिरीयोपनिषद् २।१ (ब्रह्मवल्ली प्रथमखण्ड)

अन्य भी अनेको स्थलो में सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है।

यद्यपि वेदो मे सृष्टि की उत्पत्ति, उसका क्रम इत्यादि वाते वतलायी हैं तथापि तैत्तिरीयब्राह्मण मे एक स्थान पर बडा चमत्कारिक वर्णन यह है कि सृष्ट्युत्पत्ति का वास्तविक कारण वतलाना असम्भव है और उसे कोई भी नही जानता।

> नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमा परो
> यत्। किमावरीव कुह कस्य शर्मन्। अम्भ किमासीद्गहन
> गभीरम्। न मृत्युरमृत तर्हि न। रात्रिया अह्न आसीत् प्रकेत।
> आनीदवातं स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्य न पर किञ्च
> नास। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्। सलिलं सर्वं मा
> इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहित यदासीत्। तमसस्तन्महिमा
> जायतैकम्। कामस्तदग्रे समवर्तताधि। मनसो रेत प्रथम
> यदासीत्। सतो वन्धुमसति। निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या
> कवयो मनीषा। तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्। अधस्वि-
> दासी ३दुपरिस्विदासी ३त्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्
> स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात्।
>
> तै० ब्रा० २।८।९

"पूर्व सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर सृष्टि उत्पन्न होने के पहिले सत् नही था, असत् भी नही था, आकाश नही था, उदक नही था, मृत्यु नही थी, अमृत नही था, रात और दिन को प्रकाशित करनेवाले कोई (सूर्य-चन्द्र) न थे। केवल ब्रह्म था। उसके मन मे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसके बाद सारा ससार उत्पन्न हुआ, इत्यादि" वर्णन इन वाक्यो मे है। इसके बाद आगे कहा है —

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय। अथाको वेद यत आबभूव।
> इय विसृष्टिर्यत आबभूव। यदि वा दधे यदि वा न। यो
> अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्। सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
> कि स्विद्वन क उ स वृक्ष आसीत्[1]। यतो द्यावापृथिवी
> निष्टतक्षु ।

तै० ब्रा० २।८।९

यह विविध सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, किसलिए हुई, इसे वस्तुत कौन जानता है? अथवा कौन कह सकता है? देवता भी पीछे से हुए फिर जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई उसे कौन जानता है? जिससे द्यावापृथिवी बनी वह वृक्ष कौन सा था और किस वन में था, इसे कौन जानता है! इन सब का अध्यक्ष परमाकाश में है, वही इसे जानता है अथवा वह भी जानता है या नही इसे कौन जाने?

उपर्युक्त विचारो में यह अभिप्राय भी स्पष्ट है कि जगदुत्पत्ति का कारण जानने वाला तो कोई नही है पर उत्पत्तिक्रम भी किसी को ज्ञात नही है। ऋग्वेद मे भी एक स्थान में लिखा है —

> तिस्रो द्याव सवितुर्द्वा उपस्था एका यमस्य भुवने
> विराषाट्। आणि न रथ्यममृताधितस्थु ॥

ऋ० स० १।३५।६

"द्युलोक तीन है। उनमें से दो सविता के उदर में [और] एक यम के भुवन में [है] [चन्द्रतारादि] अमर [उस] पर बैठे है", ऐसा कहने के बाद ऋषि फिर उसी ऋचा में कहते है —

[1] "कि स्विद्वन" मन्त्र वाजसनेयिसहिता (१७।२०) में भी है। इसी प्रकार इसके पहिले के सब मन्त्र ऋक्सहिता (१०।१२९) में भी है। 'कि स्विद्वन' मन्त्र १०।३१ में है।

इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्

यह सब जाननेवाला यदि कोई है तो वह यहा आकर बतावे। यहा ऋषि का आशय यह है कि वस्तुत इसे जानने वाला कोई नही है।

यह सब होते हुए भी मालूम होता है जगत्सस्थान का—कम से कम पृथ्वीसस्थिति का तो वेदकाल मे भी अच्छा ज्ञान था।

विश्वसंस्था

सम्पूर्ण जगत् के विषय मे कुछ कहते समय रोदसि, द्यावापृथिवी अथवा इसी अर्थ के दूसरे शब्दो द्वारा आकाश और पृथ्वी के समुच्चय को लक्षित करके किया हुआ वर्णन बहुत से स्थलो में पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है, जगत् के द्यौ और पृथ्वी दो भाग माने गये है। कही-कही द्युलोक तीन बतलाये है। ऋक्सहिता मे तीन द्युलोको का निर्देश बहुत से स्थलो मे है। कही-कही द्यु का पृष्ठभाग अथवा अत्यन्त उच्च भाग स्वर्ग बतलाया है पर अधिकाश स्थानो पर द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी जगत् के तीन भाग माने गये है। द्यौ और पृथ्वी के बीच के भाग का नाम अन्तरिक्ष है। वही वायु, मेघ और विद्युत् का स्थान है। पक्षी उसी में उडते है ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णोद्यौ समवर्तत पद्भ्या भूमि ।

पुरुषसूक्त की इस प्रसिद्ध ऋचा मे ये तीन भाग स्पष्ट है। मालूम होता है उनकी ऊर्ध्वाध-स्थिति का ध्यान रख कर ही विराट् पुरुष के मस्तक नाभि और पादो से उनकी उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।

य पृथिवी व्यथमानमदहृद्य पर्वतान् प्रकुपिता अरम्णात्।
यो अन्तरिक्ष विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् सजनास इन्द्र ॥

ऋ०स० २।१२।१ अथ०सं० २०।३४।२

जिसने काँपती हुई पृथ्वी दृढ की जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष व्यवस्थापित किया, जिसने द्यु को धारण किया, ऐ मनुष्यो! वह इन्द्र है।

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रि पार्थवानि त्रिरुदत्तमद्भ्य ॥

ऋ० सं० १।३४।६

हे अश्विनो! आप हमें तीन वार द्युलोक की, तीन वार पृथ्वी पर की और तीन वार अन्तरिक्ष की औषधिया दीजिये।

यहा मूलोक्त 'अद्भ्य' शब्द का अर्थ है 'जिसमें मेघोदक रहता है उस प्रदेश से

अर्थात् अन्तरिक्ष से'। इसके अनेको प्रमाण है और उस शब्द से भी ज्ञात होता है कि अन्तरिक्ष उसी को कहते है जिसमें मेघोदक रहता है।

ये मही रजसो विदुर्विश्वेदेवासो अद्रुह । मरुद्भिरग्न आगहि ॥

ऋ० स० १।१९।३

हे अग्ने! जो देवता महान् अन्तरिक्ष मे रहते है उन सब मरुतो (देवताओ) के साथ तुम यहा आओ। इससे मरुत् (वायु) का स्थान अन्तरिक्ष ज्ञात होता है।

वेदा योवीनाम्पदमन्तरिक्षेण पतताम्। ऋ० स० १।२५।७

"जो [वरुण] अन्तरिक्ष में उडनेवाले पक्षियो का मार्ग जानता है"। इसमे पक्षियो का गमनमार्ग अन्तरिक्ष सिद्ध होता है।

द्यौरन्तरिक्षे प्रतिष्ठितान्तरिक्षि पृथिव्याम्।

ऐ० ब्रा० ११।६

इस ऐतरेयब्राह्मण के वाक्य में तो यह तो स्पष्ट है कि पृथ्वी और द्यौ के बीच में अन्तरिक्ष है। बहुत से स्थलो में यह वर्णन है कि सूर्य द्युलोक के अत्यन्त उच्च प्रदेश मे सञ्चार करता है। अग्रिम ऋचा देखिये—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरा दिवम्। हृद्रोग मम सूर्य हरिमाण च नाशय।

ऋ० स० १।५०।११

ऐ अनुकूल-तेज सूर्य तू. . परम उच्च द्युलोक पर चढकर मेरा हृद्रोग . नाश कर।

निम्नलिखित कुछ वाक्यो में भी यह कल्पना दिखायी देगी कि सूर्य पृथ्वी से अत्यन्त दूर प्रकाशित होता है।

यथाग्नि पृथिव्या समनमदेव मह्य भद्रा सन्नतय सन्नमन्तु
वायवे समनमदन्तरिक्षाय समनमद् यथा वायुरन्तरिक्षेण सूर्याय
समनमद् दिवे समनमद् यथा सूर्यो दिवा चन्द्रमसे समनमन्न-
क्षत्रेभ्य. समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रैर्वरुणाय समनमत्।

तै० स० ७।५।२३

इनमें कहा है कि अग्नि पृथ्वी से वायु और अन्तरिक्ष को नत हुआ, वायु अन्तरिक्ष मे सूर्य और द्यु को, इसी प्रकार सूर्य द्यु से चन्द्रमा और नक्षत्रो को तथा चन्द्रमा नक्षत्रो मे वरुण को नत हुआ। इसका अभिप्राय यह जान पडता है कि अग्नि पृथ्वी पर है, वायु अन्तरिक्ष के आश्रय में रहता है, सूर्य द्युलोक में आक्रमण करता है और चन्द्रमा

नक्षत्रमण्डल मे सञ्चार करता है। मालूम होता है यहा चन्द्रमा सूर्य से ऊपर समझा गया है।

लोकोसि स्वर्गोसि। अनन्तोस्यपारोसि। अक्षितोस्यक्षय्योसि। तपस प्रतिष्ठा। [1]त्वयीदमन्त । विश्व यक्ष विश्व भूत विश्व ँ सुभूतम्। विश्वस्य भर्ता विश्वस्य जनयिता। तन्त्वोपदधे कामदुघमक्षितम्। प्रजापतिस्त्वासादयतु। तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद। तपोसि लोके श्रितम्। तेजस प्रतिष्ठा। त्वयीद । तेजोसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य प्रतिष्ठा । समुद्रोसि तेजसि श्रित। अपा प्रतिष्ठा। आप स्थ समुद्रे श्रिता। पृथिव्या प्रतिष्ठा युष्मासु। । पृथिव्यस्यप्सु श्रिता। अग्ने प्रतिष्ठा। । अग्निरसि पृथिव्या ँ श्रित। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा। । अन्तरिक्षमस्यग्नौ श्रितम्। वायो प्रतिष्ठा। । वायुरस्यन्तरिक्षे श्रित। दिव प्रतिष्ठा। । द्यौरसि वायौ श्रिता। आदित्यस्य प्रतिष्ठा। । आदित्योसि दिवि श्रित। चन्द्रमस प्रतिष्ठा। । चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रित। नक्षत्राणा प्रतिष्ठा। । नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि। सवत्सरस्य प्रतिष्ठा। युष्मासु। । [2]सवत्सरोसि नक्षत्रेषु श्रित। ऋतूना प्रतिष्ठा। । ऋतव स्थ सवत्सरे श्रिता।

[1] यहां से आरम्भ कर ६ वाक्य मूलोक्त तेज, समुद्र इत्यादि प्रत्येक शब्द के आगे उनके लिङ्गवचनानुसार परिवर्तित होकर आये हैं। यहाँ उन्हें बार-बार नहीं लिखा है।

[2] 'संवत्सरोसि' इत्यादि आगे के वाक्य यहाँ आवश्यकता न रहते हुए भी लिखे हैं, इसका कारण यह है कि पूर्ण अनुवाक देने से पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा उसमें बतलायी हुई सब बातें ठीक समझ में आ जायेंगी। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी महत्त्व के मान संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष और अहोरात्र यहाँ एकत्र पठित हैं तथा जैसा कि उनका उत्तरोत्तर अवयवावयवी सम्बन्ध है इसी क्रम से आये हैं और आगे भी इनका उपयोग है।

मासाना प्रतिष्ठा युष्मासु। । मासा स्थर्तुपु श्रिता। अर्धमासाना प्रतिष्ठा युष्मासु। । अर्धमासा स्थ मासु श्रिता। अहोरात्रयो प्रतिष्ठा युष्मासु। । अहोरात्रे स्थोर्धमासेपु श्रिते। भूतस्य प्रतिष्ठे भव्यस्य प्रतिष्ठे। पौर्णमास्यष्टकामावास्या। अन्नादा स्थान्नदुघो युष्मासु। राडसि वृहति श्रीरसीन्द्रपत्नी धर्मपत्नी ओजोसि सहोसि वलमसि भ्राजोसि। देवाना धामामृतम्। अमर्त्यस्तपोजा। । ।

तै० ब्रा० ३।११।१

यहा प्रथम तीन वाक्यों में कहा है—तुम लोक हो, स्वर्ग हो, अनन्त हो, अपार हो, अक्षित हो, अक्षय्य हो। इसमें लोक शब्द सम्पूर्ण विश्व के उद्देश्य से कहा गया है। इन वाक्यों मे सर्वत्र ऊर्ध्वाधोभाव विवक्षित नही है। कही कार्यकारणभाव, कही व्याप्य-व्यापकभाव और कही अङ्गाङ्गीभाव हैं। "पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष और उसके ऊपर द्यौ है" यह पूर्वोक्त परम्परा तथा सूर्य द्युलोक के आश्रय में है, यह कल्पना भी यहा है।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि विश्व के पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ (आकाश) ये तीन विभाग मानते थे। वेदो में इस वात का भी स्पष्ट निर्देश है कि मेघ, विद्युत् और वायु जिस प्रदेश में घूमते हैं वह पृथ्वी के पास है और सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रो का आक्रमण-प्रदेश पृथ्वी से वहुत दूर है। स्वर्ग, मृत्यु (पृथ्वी) और पातालात्मक विभाग वेदो मे नही मिलते।

"चन्द्रमा सूर्य से ऊपर है"—यह वास्तविक स्थिति और वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-सिद्धान्त-विरुद्ध धारणा ऊपर दो स्थानो में दिखायी देती है पर 'नक्षत्र सूर्य से ऊपर हैं' इस वास्तवस्थिति का भी वर्णन है। चन्द्रमा को सूर्य से ऊपर मानने का कारण हम समझते है यह है कि जब सूर्य दिखायी देता है उस समय नक्षत्र नही दीखते, इसलिए स्वभा-वत ऐसा ज्ञात होता है कि उसका नक्षत्रो से कोई सम्बन्ध नही है पर चन्द्रमा की स्थिति ऐसी नही है। वह अत्यन्त शीघ्रगामी है और उसके पास के नक्षत्र दिखायी देते है, इसलिए वह नक्षत्रो मे से हो कर जाता हुआ स्पष्ट दिखायी देता है। अत उसके विपय मे यह धारणा होना स्वाभाविक है कि वह नक्षत्रो के प्रदेश मे तथा उनके इतनी ही ऊंचाई पर है और चूंकि नक्षत्र सूर्य से ऊपर हैं इसलिए वह भी सूर्य से ऊपर होगा—

ऐसा लोगो ने समझ लिया होगा तथापि निम्नलिखित मन्त्र में 'चन्द्रमा सूर्य से नीचे हमारे पास है' इस वास्तविक स्थिति का भी वर्णन है।

> सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिव । ते सेधन्ति
> पथो वृक तरन्त यह्वतीरपो वित्त मे अस्य रोदसी ॥
> ऋ० स० १।१०५।११

इसके भाष्य मे सायणाचार्य लिखते है—"यास्कपक्षे त्वाप इत्यन्तरिक्षनाम यह्वतीरपो महदन्तरिक्ष तरन्त वृक चन्द्रमस . ."। अत यास्क और सायणाचार्य के मतानुसार उपर्युक्त ऋचा का आशय यह है कि चन्द्रमा अन्तरिक्ष मे अर्थात् सूर्य से नीचे है। इसी सूक्त की पहिली ऋचा में चन्द्रमा को पक्षी अर्थात् अन्तरिक्ष मे सञ्चार करने वाला कहा है। उससे भी इस कथन की पुष्टि होती है।

विश्व का अपारत्व

निम्नलिखित ऋचा में कहा है कि विश्व पृथ्वी से बहुत बडा है।

> यदिन्विन्द्र पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टय ।
> अत्राह ते मघवन् विश्रुत सहोद्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् ॥
> ऋ० स० १।५२।११

[हे इन्द्र] यदि पृथ्वी दशगुणित बडी होगी [और] मनुष्य सर्वदा शाश्वत [रहेगे] तभी हे मघवन्! [तुम्हारी] शक्ति [और] पराक्रम द्वारा प्रख्यात तुम्हारा प्रभाव द्युलोक इतना बडा होगा।

यहा 'दशगुणित' उपलक्षण है। उसका अर्थ 'अनेकगुणित' समझना चाहिये। इस ऋचा मे ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्र का प्रभाव बहुत बडा है और वह द्युलोक इतना बडा होने योग्य है परन्तु उसका वर्णन करनेवाले मनुष्य की आयु बहुत थोडी है और पृथ्वी भी छोटी है। यदि पृथ्वी बडी हो जायगी और उस पर रहनेवाले मनुष्य दीर्घजीवी होगे तो इन्द्र के प्रभाव का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जा सकेगा और वह अनन्त विश्व मे फैलेगा। यहा हमे इतना ही देखना है कि यह विश्व पृथ्वी से अनन्तगुणित बडा है, यह बात इस ऋचा मे स्पष्ट है। विश्व के आनन्त्य का वर्णन अन्य भी बहुत से स्थलो मे है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीयब्राह्मण का उपर्युक्त (३।११।१) अनुवाक देखिये।

सब भुवनो का आधार सूर्य

सब भुवन सूर्य के आधार पर हैं, इस विषय में अग्रिम वाक्य देखिये।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थु ।।
ऋ० स० १।१६४।२

उस एक चक्रवाले रथ मे सात [घोडे] जोडे जाते हैं [परन्तु] सात नामो का एक ही घोडा [रथ] खीचता है। उस चक्र में तीन नाभिया हैं। वह अक्षय और अप्रतिबन्ध है और उसी के आधार पर सब भुवन स्थित है।

यद्यपि यहा सूर्य शब्द नही है तो भी यह निश्चित है कि यह ऋचा सूर्य-विषयक है।

सनेमि चक्रमजर विवावृ तउत्तानाया दशयुक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृत तस्मिन्नार्पित भुवनानि विश्वा ।।
ऋ० स० १।१६४।१४

जिसका सदा एक ही मार्ग हैं [और] जो अविनाशी है वह चक्र घूमता ही रहता है सूर्य का चक्षु घूमता रहता है। उस पर सकल भुवन स्थित हैं।

मित्रो जनान् यातयति प्रजानन् मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्र कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे . ।।
तै० म० ३।४।११

मित्र [प्रत्येक की योग्यता जानकर] मनुष्यो को प्रेरित करता है। मित्र द्युलोक और पृथ्वी को धारण करता है। मित्र मनुष्य और देवताओ को देखता है।

यह ऋचा ऋग्वेद मे भी कुछ परिवर्तित हो कर आयी है। इसी प्रकार और भी बहुत मे प्रमाण दिखाये जा सकते हैं।

ऋतुओ का कारण सूर्य

ऋतुओ का कारण सूर्य है। इस विषय में अग्रिम ऋचा देखिये—

पूर्वाम नुप्रदिश पार्थिवानामृतून् प्रशासद्विदधावनुष्ठु।
ऋ० स० १।९५।३

[वह सूर्य] ऋतुओ का नियमन करके क्रमश पृथ्वी की पूर्वादि दिशाओ का निर्माण करता है।

ऋतुओ का उत्पादक सूर्य है, इसके और भी बहुत से प्रमाण है पर ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे यहा नही लिखे है। आगे कालमान मे ऋतुओ का विचार किया है, वहा कुछ वाक्य दिये है।

वायु का कारण सूर्य

निम्नलिखित वाक्य मे वायु चलने का कारण भी सूर्य ही बतलाया है।

> सवितार यजति यत्सवितारं यजति तस्मादुत्तरत पश्चादय
> भूयिष्ठ पवमान. पवते सवितृप्रसूतो ह्येप एतत्पवते ॥
>
> ऐ० ब्रा० २।७

वह [होता] सविता के लिए याज्य कहता है। सविता का यजन करने से उत्तर पश्चिम की ओर से बहुत वायु चलता है क्योकि वह सविता से उत्पन्न होकर बहता है।

मेरा उद्देश्य यह प्रतिपादन करने का नही है कि पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य के आकर्पण के कारण उस पर अवलम्बित है और उसके चारो ओर घूमते है—ऐसा वेदो में लिखा है परन्तु यह कल्पना वेदो मे है कि प्रकाश, उष्णता तथा पर्जन्यादि के विषय मे सब भुवन सूर्य के आश्रित है और ऋतुओ की उत्पत्ति भी उसी से होती है अर्थात् वह विश्व का आधारभूत है, इसमें कोई सन्देह नही है।

'सूर्य के रथ में सात घोडे है' यह वर्णन यद्यपि बहुत मे स्थानो मे आता है

सूर्य के सात घोडे

पर वह अलङ्कारिक है। वस्तुत उसके पास रथ घोडा इत्यादि कुछ नही है, यह बात भी वेदो मे लिखी है।

> अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत् पतयदूर्ध्वसानु ।
>
> ऋ० स० १।१५२।५

[1] "ऋ १।१०५।९ अमी ये सप्तरश्मय.' के विषय में वेदार्थयत्नकार शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने (पु० २ पृ० ६८३ अप्रैल १८७८ के अंक में) लिखा है—"ऋ० ८।७२।१६ में स्पष्ट कहा है कि (सूर्यस्य सप्त रश्मिभि) सूर्य की सात किरणें है। इससे ज्ञात होता है, प्राचीनकाल में आर्य इस आधुनिक सिद्धान्त से कि 'सूर्यकिरणों के सात रग है' अपरिचित नहीं थे।"

अश्व रहित ही उत्पन्न हुआ [यह सूर्य उत्पन्न होते ही]　　　वडी शीघ्रता से ऊपर उड जाता है।

सूर्य एक ही है, दो, वारह या अनेक नही है। इस विषय मे ऋक्सहिता मे लिखा है—

सूर्य और उषा एक एक है

एक एवाग्निर्वहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वमनु प्रभूत । एकैवोपा सर्वमिद विभाति　. ।

ऋ० स० ८।५८।२

एक ही सूर्य विश्व का प्रभु है। एक ही उपा विश्व को प्रकाशित करती है।

'उपा एक ही है' वाक्य ध्यान देने योग्य है। सूर्योदय के पूर्व होने वाले सन्धिप्रकाश को उपा कहते है। ऋग्वेद मे वहुत से स्थलो मे चमत्कारपूर्वक कहा है कि नित्य सूर्योदय के पूर्व प्रकाशित होनेवाली उपाए अनेक है परन्तु वस्तुत जैसे सूर्य एक है उसी प्रकार सूर्य से नित्य सम्वद्ध रहनेवाली उपा भी एक ही है।

पृथ्वी का गोलत्व, निराधारत्व और दिन-रात

स वा एप न कदाचनास्तमेति नोदेति त यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाथात्मान विपर्यस्यते रात्रिमेवा-वस्तात् कुरुतेऽह परस्तादथ यदेन प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मान विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्री परस्तात् स वा एप न कदाचन निम्नोचति।

ऐ० ब्रा० १४।६

वह (सूर्य) न तो कभी अस्त होता है न उगता है। यह जो अस्त होता है वह (सचमुच) दिन के अन्त मे जाकर अपने को उलटा घुमाता है। इधर रात करता है और उधर दिन। इसी प्रकार यह जो सवेरे उगता है वह (वस्तुत) रात्रि का अन्त करके अपने को उलटा घुमाता है। इधर दिन करता है और उधर रात्रि। [वस्तुत] यह [सूर्य] कभी भी अस्त नही होता'।

' वक्ता अपने स्थान को लक्षित करके वोल रहा है। इधर का अर्थ है वक्ता सूर्य के जिस ओर है। अपने को उलटा घुमाता है अर्थात् सायंकाल तक सीधा जाकर अस्त के वाद नीचे उलटा घूम जाता है।

उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि "पृथ्वी गोल है, आकाश से अलग है और आकाश मे निराधार स्थित है"—इन बातो का ज्ञान था। अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण (९।१०) मे भी इस अर्थ के बहुत से ऐसे ही वाक्य है।

मालूम होता है ऋग्वेदसहिताकाल मे भी यह बात ज्ञात थी कि पृथ्वी का आकार गोल है और वह निराधार है। निम्नलिखित ऋचाए देखिये—

चक्राणास परीणह पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्र परिस्पशो अदधात् सूर्येण।
ऋ० स० १।३३।८

सुवर्णमय अलङ्कारो से सुशोभित [वृत्र के] दूत पृथ्वी की परिधि के चारो ओर चक्कर लगाते हुए तथा आवेश से दौडते हुए भी इन्द्र को जीतने मे समर्थ नही हुए। [फिर उसने उन] दूतो को सूर्य (प्रकाश) से आच्छादित किया[1]।

पृथ्वी यदि समधरातल होती तो सूर्य के उगते ही उसके किरण सम्पूर्ण पृथ्वी पर—कम से कम उसके आधे भाग पर एक ही साथ पडते परन्तु वे इस प्रकार न पड कर क्रमश पडते है, ऐसे निर्देश अनेको स्थलो मे है। निम्नलिखित ऋचा देखिये—

आप्रा रजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोक देव कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्रबाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥
ऋ० म० ४।५३।३

देदीप्यमान [सविता ने] अन्तरिक्ष के, द्युलोक के [और] पृथ्वी पर के प्रदेश [तेज से] भर डाले है अपनी कान्ति मे जगत् को सुलाते और जागृत करते हुए सविता ने उदित होकर अपनी बाहे फैला दी है।

"सूर्य सुलाते और जागृत करते हुए उगता है"—इसका अर्थ यह है कि वह जैसे-

[1] वेदार्थयत्नकार श्री शंकर पाण्डुरग पण्डित इस ऋचा की व्याख्या (वेदार्थयत्न पु० १ पृ० ३८०) में लिखते है —

इस ऋचा के 'परीणह चक्राणास' शब्दो से स्पष्ट विदित होता है कि इस सूक्त की रचना के समय हमारे आर्य-पूर्वजो को यह ज्ञान था कि पृथ्वी की आकृति सपाट नहीं बल्कि गोल है।

जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढता जाता है वैसे-वैसे जगत् के कुछ भागो मे रात्रि होने लगती है और कुछ भागो में दिन। इससे पृथ्वी का गोलत्व व्यक्त होता है[1]।

मेरुपर्वत, जम्बूप्रभृति सप्तद्वीप इत्यादि जो पृथ्वी के कुछ विभाग माने जाते है, उनका वर्णन हमें वेदो मे कही नही मिला।

जगदुत्पत्ति, सृष्टिसस्था इत्यादि सम्बन्धी वैदिक उल्लेखो का विवेचन यहा तक हुआ। अब यह देखना है कि वर्ष, मासादि कालमान, सूर्यचन्द्रमा की गतिस्थिति और नक्षत्र, ग्रहण, ग्रह इत्यादिको के विषय में उनमें क्या लिखा है।

कल्प

वेदोत्तरकालीन ज्योतिषग्रन्थो का कल्प नामक कालमान तो वेदो मे नही ही है पर अन्य भी किसी कालमान के अर्थ में हमे उनमें कल्प शब्द नही मिला।

युग

किसी कालमान के अर्थ में युग शब्द वेदो में अनेको वार आया है। केवल युग शब्द या कृतादि चार युगो मे से कोई एक जिन मन्त्रो मे आया है उन्हे पहिले यहा उद्धृत करते है क्योकि ऐसा करने से उनके विषय में विचार करने मे सुविधा होगी।

देवाना पूर्व्ये युगे सत सदजायत। ऋ० म० १०।७२।२

इसका अर्थ पहिले लिख चुके है।

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्य मघवा नाम बिभ्रत्।

उपप्रयन्दस्युहत्याय वज्री यद्धसूनु श्रवसे नाम दधे॥

ऋ० स० १।१०३।४

[1] स्पष्ट है कि सब वेदो की संहिताएँ, ब्राह्मण और उपनिषद् एक ही समय में नहीं बने है। उनके रचनाकाल की अवधि निश्चित करना बडा कठिन है। भाग करना हो तो संहिताकाल, ब्राह्मणकाल और उपनिषत्-काल, ये तीन भाग करने पड़ेंगे और इनके अन्तर्विभाग तो अनेको होंगे। वैदिककालीन ज्योतिष-ज्ञान सम्बन्धी थोड़े से अनुमानों के लिए उनके अनेक विभाग न करके मैंने केवल यही दिखलाया है कि वे वाक्य किस ग्रन्थ के है। उसके द्वारा विभाग करने का कार्य मुझे वाचको को ही सौंप देने में सुभीता दिखायी दे रहा है और इसीलिए सब वाक्यो का समावेश वैदिककाल में किया है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपनिषदो से ब्राह्मण और ब्राह्मणो से संहिताएँ प्राचीन है और उनमें भी ऋक्संहिता सबसे प्राचीन है।

अति प्रवल इन्द्र ने हाथ मे वज्र लेकर दस्यु को मारने के लिए जाते समय जो नाम धारण किया उसी प्रख्यात नाम को इस मानवयुग[1] मे स्तोता के लिए मघवा धारण करता है।

सायणाचार्य का कथन है कि यहा युग शब्द से कृतत्रेतादि युगो का ग्रहण करना चाहिए।

विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिष ।

ऋ० स० ५।५२।४

ईर्मान्यद्वपुषे वपुश्चक्र रथस्य ये मथु । पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना—
रजासि दीयथ ।। ऋ० स० ५।७३।३

अर्थ—[हे अश्विनो] मानवयुग मे तुम अपने रथ के दूसरे चक्र से . भुवन के चारो ओर घूमते हो।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे। अपामर्थं यतीना ब्रह्मा
भवति सारथि ।। ऋ० स० १।१५८।६

ममता का पुत्र दीर्घतमा दशम युग मे वृद्ध होता हुआ परिणाम के प्रति जानेवाले कर्म का ऋत्विक् रूप सारथी हुआ है।

इसके भाष्य मे सायणाचार्य ने लिखा है—अश्वियो के प्रभाव से दीर्घतमा दस युग पर्यन्त सुखी रहते हुए कालक्रमण करने के वाद वृद्ध हुआ। युग शब्द मे क्या ग्रहण करना है, इसे उन्होने स्पष्ट नही किया है परन्तु लेख के पूर्वापर सन्दर्भानुसार यहा उनका अभिप्राय कृतादि दस युग ग्रहण करने का ज्ञात होता है।

युगे युगे विदथ्य गृणद्भ्योग्नेरयिं यशस धेहि नव्यसीम्।

ऋ० म० ६।८।५

हे अग्ने! प्रत्येक युग मे यजार्य तुम्हारे उद्देश्य से नयी स्तुति करनेवाले हमको द्रव्य और यश दो।

या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा। ऋ० म० १०।९७।१

अर्थ—जो औषधिया पहिले तीन युगो मे देवो से उत्पन्न हुई।

[1] वेदमन्त्रो का अर्थ सर्वत्र मूल का अनुसरण करते हुए लिखा गया है। ऊपर से एक भी वात ऐसी नहीं लायी गयी है जो कि मूल में नहीं है।

इसके भाष्य मे सायणाचार्य ने त्रियुग शब्द का अर्थ "कृत, त्रेता, द्वापर तीन युगों मे अथवा वसन्त, वर्षा, शरद् तीन ऋतुओं मे" किया है। तैत्तिरीय संहिता में यह मन्त्र "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। वाजसनेयिसंहिता (१२।७५) मे भी "या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा"—इस प्रकार है। भाष्यकार महीधर ने यहा त्रियुग शब्द से वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओं का ग्रहण किया है। वाजसनेयिसंहिता ये युगनिर्देश इस प्रकार है—

श्लक्ष्णं ८० मप्रयस्तम त्वागिरा दैव्य मानुषा युगा।

वा० स० १२।१११

यह निश्चित है कि इन वाक्यो मे युग शब्द किसी काल का वाचक है परन्तु वह कितने वर्षों का है, यह किसी भी वाक्य से स्पष्ट नही होता। वेदाङ्गज्योतिष में पाच वर्षों का एक युग माना गया है। उपर्युक्त वाक्य मे युग का यही अर्थ है, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता परन्तु यह भी नही कह सकते कि यह अर्थ नहीं है, क्योंकि वेदाङ्गज्योतिषोक्त युग के अङ्गभूत पाच सवत्सरो के नाम वेदो मे आये है, यह आगे दिखायेंगे। स्पष्ट है कि 'दीर्घतमा दसवे युग में वृद्ध हुआ'—इस अर्थ के उपर्युक्त मन्त्र में दीर्घतमा का न्यूनत्व सिद्ध करने का नही बल्कि उसका कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाने का अभिप्राय है और यदि युग पाच वर्ष का मानते है तो पचासवे वर्ष मे वृद्धत्व आता है जो कि दीर्घतमा के न्यूनत्व का द्योतक है। अत मनुष्य की आयु सहस्रो वर्ष न मानकर बिलकुल मर्यादित १०० वर्ष माने तो भी युग कम से कम १० वर्षो का मानना पडता है। "प्रत्येक युग में हम तुम्हारी नवीन स्तुति करते है" इस अर्थ के द्योतक उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्र से भी युग मनुष्य की आयु के भीतर आनेवाला एक कालपरिमाण अर्थात् १०० वर्षो से न्यून ज्ञात होता है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह एक दीर्घकाल का बोधक नही था। वह किसी दीर्घकाल का बोधक है, यह कल्पना वक्ता के मन मे आये बिना "पहिले देवयुग मे अमुक हुआ, वर्तमान मानवी युग" ये उद्गार निकलने असम्भव है, अत मानना पडता है कि युग शब्द का कोई नियमित अर्थ नही था और इससे ज्ञात होता है कि कोई बात किसी क्रम से एक होकर उसी काल क्रमानुसार पुन जितने समय में होती है वह युग है, यह युग शब्द का ज्योतिषोक्त अर्थ वेदकाल मे भी रहा होगा। सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण जिस क्रम से और जितने समय के अन्तर से होते है, लगभग १८ वर्षो के बाद वे उसी क्रम से और उतने ही काल के अन्तर से पृथ्वी पर कही न कही पुन

युग शब्द का ज्योतिषोक्त सामान्य अर्थ

पुन दृश्य होते है, अत यह एक प्रकार का १८ वर्षो का ग्रहण युग कहा जा सकता है। इसी अर्थ के तत्त्वो का अनुसरण करते हुए युग शब्द प्रवृत्त हुआ है, यह बात वेदाङ्गज्योतिष के युग शब्द और अन्य उदाहरणो से स्पष्ट हो जाती है। कलियुगादि प्रत्येक युग या महायुग के आरम्भ मे सब ग्रह एक स्थान मे रहते है और युग मे वे अनेको प्रदक्षिणाए करके दूसरे युग के आरभ मे पुन एक स्थान मे आ जाते है। इस काल को युग कहते है। यद्यपि ज्योतिषग्रन्थो मे युग शब्द का प्रयोग ४३२०००० अथवा इसके कुछ गुणित वर्षो के अर्थ मे ही पाया जाता है तथापि उपर्युक्त अर्थ के अनुकूल भी मिलता है। उदाहरणार्थ प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ की सूर्यदेवयज्वकृत भटप्रकाशिका टीका मे[1] लिखा है—

खाकाशाष्टकृतद्विद्विव्योमेष्वद्रीषुवह्नय ३५७५०२२४८०० । युग बुधादिपाताना ॥
रव्युच्चस्य रसैकाकगिर्यष्टिनवशकरा सहस्रघ्ना ११९११६७९१६००० युग प्रोक्त ॥

इन वाक्यो में पात और उच्चो के युगपरिमाण दिये है और उनकी वर्षसख्याए भिन्न-भिन्न है। इनमें युग शब्द बार-बार आवृत्ति करनेवाले किसी पदार्थ की एक आवृत्ति के कालपरिमाण अर्थ मे आया है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वेदवाक्यो मे युग शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ होगा और युग के परिमाण भिन्न-भिन्न होगे परन्तु यह नही कहा जा सकता कि यह काल कितना है और किस बात की आवृत्ति का ध्यान रखकर निश्चित किया गया है तथापि उस समय महायुग यदि ४३२०००० वर्षो का न माना जाता रहा हो तो भी वेदकाल मे युग को किसी दीर्घकाल का मान अवश्य समझते थे। इतना ही नही, वेदत्रयी-सहिताकाल मे चार युगो की भी कल्पना थी, यह बात "या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा" वाक्य मे स्पष्ट हो जाती है।

कृतादि शब्द

अब यहा उन वाक्यो को उद्धृत करेगे जिनमे कृतत्रेतादि शब्द है।

> प्राची दिशा वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता ब्रह्म द्रविण त्रिवृत्स्तोम
> स उ पञ्चदश वर्तनिस्त्र्यविर्वय कृतमयाना. त्रेतायाना
> द्वापरोयाना आस्कन्दोयाना अभिभूरयाना पितर

[1] आर्यभटीय की परमादीश्वरकृत भटदीपिका टीका, गीतिकापाद की सातवीं आर्या देखिये।

पितामहा परेवरे ते न पान्तु तेनोवन्त्वस्मिन् ब्रह्मन्नस्मिन्क्षत्रस्यामाशिष्यस्या पुरोधायामस्मिन् कर्मन्नस्या देवहू त्याम्।

तैं० म० ४।३।३

इस अनुवाक के अन्त में यह प्रार्थना है कि पितर इत्यादि हमारा रक्षण करें। इसी प्रकार 'कृतत्रेताद्वापर रक्षण करें' यह भी है।

वाजसनेयिसंहिता मे पुरुषमेध का वर्णन है। उसमे कृतादिको को अर्पण करने के लिए पुरुष इस प्रकार बताये है—

कृतयादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिन द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम्।

वा० म० ३०।१८

अर्थ—कृत को आदि नवदर्श त्रेता को कल्पी और आस्कन्द को सभास्थाणु

आदिनव नामक दोष को देखनेवाले को आदिनवदर्श और कल्पक को कल्पी कहते हैं, ऐसा अर्थ भाष्यकार महीधर ने किया है। इससे किञ्चिद् भिन्न एक वाक्य तैत्तिरीयब्राह्मण मे है—

कृताय सभाविन। त्रेताया आदिनवदर्शम्। द्वापराय बहि सदम्। कलये सभास्थाणुम्।

तैं० ब्रा० ३।४।१

कृत के लिए सभावी का [आलम्भन किया जाय]। त्रेता [देवता] को आदिनवदर्श, द्वापर को बहि सद और कल को सभास्थाणु देना चाहिए।

यहा यह बताया है कि भिन्न-भिन्न देवताओं को अमुकामुक मेध्यपुरुष देने चाहिए। माधवीय भाष्य में सभावी का अर्थ द्यूतसभा में बैठनेवाला, आदिनवदर्श का द्यूतद्रष्टा, बहि सद का स्वय न खेलते हुए बाहर बैठ कर खेल देखनेवाला और सभास्थाणु का खेल बन्द हो जाने पर भी सभास्थान को न छोडनेवाला किया है।

ऐतरेयब्राह्मण में हरिश्चन्द्र की कथा है। हरिश्चन्द्र पुत्रविहीन था। उसने वरुण से प्रार्थना की कि यदि आप मुझे पुत्र दें तो मैं आपको उसकी बलि चढाऊँगा। उसके बाद पुत्र हुआ। उसका नाम रोहित था। कुछ वर्षों बाद जब उसे बलि देने लगे, वह भाग कर अरण्य में चला गया। एक वर्ष अरण्य मे भ्रमण करने के बाद गाव मे आया। उस समय इन्द्र ने मनुष्य रूप धारण कर आकर कहा कि तू लौट जा। चार वर्ष के बाद रोहित फिर लौट आया। उस समय इन्द्र वहा आया और उससे कहने लगा—

कलि शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापर। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति॥

ऐ० ब्रा० ३३।१५

सोनेवाला कलि, बैठनेवाला द्वापर और उठनेवाला त्रेता होता है। घूमनेवाला [होने पर] कृत सम्पन्न होता है [अत] घूमता ही रह, घूमता ही रह।

ये वै चत्वार स्तोमा । कृत तत्। अथ ये पञ्च कलि म । तस्माच्चतुष्टोम ।
तै० ब्रा० १।५।११

चार स्तोम कृत और पाच कलि है अत [ज्योतिष्टोम यज्ञ] चतुष्टोम [होना चाहिए] यहा ज्योतिष्टोम सम्बन्धी स्तोमो की सख्या बतायी है। कोई पाच बतलाता है और कोई चार। पाच का होना कलि अर्थात् अशुभ और चार होना कृत अर्थात् शुभ है इसलिए चार ही रखने का निश्चय किया है।

यद्यपि यह सिद्ध नही किया जा सकता कि उपर्युक्त वाक्यो मे कृतादि शब्द किसी कालपरिमाण के ही अर्थ में आये है पर उनमे यह कल्पना स्पष्ट है कि वे चार देवता है और कृत की अपेक्षा त्रेतादिको की योग्यता उत्तरोत्तर कम है तथा कलियुग अत्यन्त अशुभ है। युग कालपरिमाण-दर्शक है और चार है, यह बात यदि वेदो में है तो वेदोत्तरकाल मे अत्यन्त प्रबल हो गयी हुई युगकल्पना का मूल भी उन्ही वेदवाक्यो मे होगा जिनमें कृतादि नाम है—इसमें कोई सन्देह नही है। गोपथब्राह्मण (१।२८) में द्वापर शब्द एक कालपरिमाण अर्थ में आया है।

पञ्चसंवत्सरात्मक युग

वेदाङ्गज्योतिष मे पाच वर्ष का युग माना गया है। उसके नाम है सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर। ये नाम यद्यपि वेदाङ्गज्योतिष मे नही है पर वेदो से ज्ञात होता है कि उन पाचो के नाम ये ही है। गर्गादिको ने भी इस युग के सवत्सरो के ये ही नाम लिखे है। अब देखना है कि इस विषय मे वेदो मे क्या लिखा है।

सवत्सरस्य तदह परिषष्ठयन्मण्डूका प्रावृषीण बभूव।
ब्राह्मणास सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्त परिवत्सरीणम् ॥
ऋ० स० ७।१०३।८

यह नही कहा जा सकता कि सवत्सर, परिवत्सर इत्यादिको का जो क्रम है उसी के अनुसार कहने के उद्देश्य से यहा सवत्सर और परिवत्सर शब्द रखे गये है पर वे है उसी क्रम से। केवल वर्ष के विषय मे जब कुछ कहना होता है उस स्थिति मे ऋग्वेद मे प्राय शरद्, हेमन्त सरीखा कोई ऋतुवाचक शब्द आता है। इससे ज्ञात होता है कि ये दोनो

नाम कदाचित् पञ्चवर्षात्मक युग के अङ्गभूत दो पदार्थों के होंगे। परिवत्सर शब्द ऋग्वेद में और एक स्थान पर (१०।६२।२) आया है पर शेष तीन नाम उसमें नहीं हैं।

सवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्सरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि

वा० स० २६।४५

सवत्सराय पर्यायिणी परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमि-
द्वत्सरायातिष्कद्वरी वत्सराय विजर्जरा सवत्सराय पलिक्नीम् ॥

वा० स० ३०।१६

यह मन्त्र पुरुषमेध का है। इसमे सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर को पर्यायिणी प्रभृति स्त्रिया देने के लिए कहा है। वाजसनेयिसहिता के इन दोनो मन्त्रो में नामो का क्रम एक ही है। द्वितीय मन्त्र मे सवत्सरादि पाच नामो के बाद सवत्सर शब्द एक बार फिर आया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे लिखा है—

अग्निर्वा सवत्सर। आदित्य परिवत्सर। चन्द्रमा इदावत्सर। वायुरनुवत्सर।

तै० ब्रा० १।४।१०

अग्नि ही सवत्सर है। आदित्य परिवत्सर है। चन्द्रमा इदावत्सर और वायु अनुवत्सर है। यहा चार ही नाम है। इनमे से प्रथम तीन वाजसनेयिसहिता के ही क्रमानुसार हैं। चौथा अनुवत्सर उनसे भिन्न है।

सवत्सराय पर्यायिणी। परिवत्सरायाविजाता। इदावत्सरायापस्कद्वरी। इद्वत्सरायातीत्वरी। वत्सराय विजर्जरा। सवत्सराय पलिक्नीम् ॥

तै० ब्रा० ३।४।१

यह वाक्य उपर्युक्त वाजसनेयिसहितान्तर्गत वाक्य सदृश ही है। दोनो मे सवत्सरो के नामो का क्रम एक ही है। मेध्य पशुओ में थोडा अन्तर है। यहा भी पाच नामो के बाद अन्त में सवत्सर शब्द पुन आया है।

सवत्सरोसि परिवत्सरोसि। इदावत्सरोसीदुवत्सरोसि। इद्वत्सरोसि वत्सरोसि।

तै० ब्रा० ३।१०।४

वाजसनेयिसहिता का ऐसा ही एक वाक्य ऊपर लिखा है परन्तु उसकी अपेक्षा यहा चतुर्थ स्थान मे 'इदुवत्सर' एक अधिक नाम है और सब मिलकर छ हैं। यहा माधवा-

चार्य ने इदुवत्सर का अर्थ अनुवत्सर किया है। तैत्तिरीय और वाजसनेयि संहिताओ मे सवत्सर, परिवत्सर इत्यादि नाम अन्य भी बहुत से स्थानो में आये हैं।

इस प्रकार कही पाच, कही छ और कही चार ही नाम आये हैं और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार से। अत निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि ये वेदाङ्गज्योतिप के पञ्चसवत्सरात्मक युग के ही प्रचारदर्शक हैं तथापि वेदोत्तरकालीन बहुत से ग्रन्थो मे पञ्चसवत्सरात्मक युग तथा उसके अवयवी भूत सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर, इन पाच सवत्सरो का निर्देश अनेको स्थानो मे है, अत उसका पूर्वपरम्परागत कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। साराश यह कि वैदिककाल मे प्रचलित युगपद्धति सर्वथा वेदाङ्गज्योतिपोक्त पञ्चसवत्सरात्मक युगपद्धति सरीखी न रही हो तो भी उसका कुछ अगो में इससे साम्य अवश्य रहा होगा।

वर्ष

अब वर्ष और तदङ्गभूत मास का विवेचन करेगे। ३५४ दिन या ३६५ दिन अथवा अन्य किसी काल का वाचक वर्ष शब्द ऋग्यजु सहिता, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य और गोपथ ब्राह्मणो में नही है। शतपथब्राह्मण (२।२।३) मे है। ऋग्वेद में शरद् प्रभृति ऋतुवाचक शब्द वर्ष अर्थ मे अनेको बार आये हैं। कुछ स्थलो मे सवत्सर और परिवत्सर शब्द भी हैं। दोनो यजुर्वेदो मे वर्ष अर्थ मे शरद् और हेमन्त इत्यादि शब्द तो अनेको बार आये ही हैं परन्तु सवत्सर शब्द उनकी अपेक्षा अधिक बार आया है। गोपथब्राह्मण (६।१७) मे वर्ष अर्थ में हायन और वाजसनेयिसहिता के निम्नलिखित मन्त्रो मे समा शब्द आया है।

तेषा ँ श्रीर्मयिकल्प्यतामस्मिन् लोके शत ँ समा। वा० स० १९।४६
कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषे शत ँ समा। वा० स० ४०।२

ऋक्सहिता (१०।८५।५) के "समाना मास आकृति" वाक्य में भी सवत्सर अर्थ मे समा शब्द आया है।

वेदकाल मे मास चान्द्र थे[1] और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। यहा इसका

[1] संवत्सर का विचार करना है, इसलिए यहाँ इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। सावन, चान्द्र और सौर मासो का विवेचन आगे किया है।

प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। आगे मास का विचार किया है, वहा कुछ प्रमाण दिये है। पूर्णिमा को पूर्णमासी कहते है अर्थात् वहा मास की समाप्ति समझी जाती है और चन्द्रवाचक मास शब्द से मास का ग्रहण किया जाता है, यह पहिले ही बता चुके है। इन दोनो हेतुओ से यह सिद्ध होता है कि वेदकाल मे मास चान्द्र थे। चान्द्र, मास गिनने के लिए जैसे चन्द्रमा स्वाभाविक साधन है उस प्रकार सौर मास गिनने का कोई सहज साधन नही है। उसका मान केवल गणित द्वारा ही जाना जा सकता है, अत सृष्टयुत्पत्ति के पश्चात् प्रथम-प्रथम सब लोगो के मास चान्द्र ही रहे। सौरमास बाद में प्रचलित हुए होगे। आपातत ऐसा ज्ञात होता है कि यदि मास चान्द्र थे तो वर्ष भी चान्द्र ही रहा होगा पर इसका विचार करना होगा कि वर्ष चान्द्र था या सौर और यदि सौर था तो नाक्षत्र (Sidereal) सौर था या साम्पातिक (Tropical) सौर। अत यहा पहिले उन वाक्यो को उद्धृत करते है जिनमे वर्ष के मास या दिन का निर्देश है।

मास-चान्द्र

वर्ष-सौर

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत । वेदा य उपजायते ।

ऋ० स० १।२५।८

धृतव्रत [वरुण] बारह महीनो [और] उनमे उत्पन्न होनेवाले प्राणियो को जानता है [और उन बारह महीनो के] पास उत्पन्न होनेवाले [अधिमास]को जानता है। यद्यपि यहा प्रत्यक्ष अधिमास शब्द नही है पर वह विवक्षित है, यह बात सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाती है और इस ऋचा की परम्परागत व्याख्या भी यही है। यूरोपियन विद्वानो को भी यही अर्थ मान्य है। इस ऋचा में यह भी बतलाया है कि वर्ष मे मास सामान्यत १२ होते है।

द्वादशार न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्र परिद्यामृतस्य। आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थु ॥

ऋ० स० १।१६४।११

सत्यभूत [आदित्य] का बारह अरोवाला चक्र द्युलोक के चारो ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नही होता है। हे अग्ने इस [चक्र] पर पुत्रो के ७२० जोडे आरूढ हुए रहते है।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेक त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साक त्रिशता न शकवोऽर्पिता षष्टिर्न चलाचलास ॥　　ऋ० स० १।१६४।४८

वारह परिधि, एक चक्र और तीन नाभि—इन्हे कौन जानता है ? उस चक्र में शकु की तरह ३६० चञ्चल अरे लगाये हुए है।

इन दोनो ऋचाओ के चमत्कारिक वर्णन का तात्पर्य यह है कि सवत्सर रूप एक चक्र है, वारह मास ही उसके वारह अरे है और ३६० दिवस ३६० काटे है। रात्रि-दिन ही एक मिथुन है और ऐसे मिथुन ३६० है अर्थात् दिन रात मिला कर सव ७२० है।

> मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेपश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोसि ँ स सर्पोस्य ँ हस्पत्याय त्वा ॥
>
> तै० स० १।४।१४

[हे सोम तुम] उपयाम (स्थाली) द्वारा गृहीत हुए हो। मधु हो, माधव हो ।

यहा मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इप, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस्, तपस्य—ये मासो के १२ नाम आये है और ससर्प नाम अधिमास के लिए आया है। इसके भाष्य मे माधवाचार्य ने अहस्पति का अर्थ क्षयमास किया है।

> मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत् शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृत् नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृत् इपश्चोर्जश्च शारदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। तै० स० ४।४।११

मधु और माधव वसन्त ऋतु के, शुक्र और शुचि ग्रीष्म के, नभस् और नभस्य वर्षा के, इप और ऊर्ज शरद् के, सहस् और सहस्य हेमन्त के एव तपस् और तपस्य शिशिर के मास है[1]।

> पड्रात्रीर्दीक्षित स्यात् पड् वा ऋतव सवत्सर
> द्वादशरात्रीर्दीक्षित स्यात् द्वादश मासा सवत्सर
> त्रयोदशरात्रीर्दीक्षित. स्यात् त्रयोदशमासा सवत्सर
> पञ्चदशरात्रीर्दीक्षित स्यात्पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयोर्धमासश सवत्सर आप्यते चतुर्वि ँ शति ँ रात्रिर्दीक्षित स्याच्चतुर्वि ँ शतिरर्धमासा सवत्सर त्रि ँ शत ँ रात्रीर्दीक्षित स्यात् त्रि ँ शदक्षरा विराट् , मास दीक्षित स्याद्यो मास स सवत्सर ॥
>
> तै० स० ५।६।७

[1] मालूम होता है यहाँ ऋतु शब्द का प्रयोग मास अर्थ में किया गया है।

छ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए [क्योंकि] छ ऋतुओं का सवत्सर [होता है]। बारह रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, सवत्सर मे १२ मास होते हैं। १३ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, १३ मासो का सवत्सर होता है। १५ रात्रि दीक्षित रहना चाहिए, अर्धमास में १५ रातें होती हैं। अर्धमासो से सवत्सर होता है। २४ रात्रि दीक्षित रहें, सवत्सर में २४ अर्धमास होते हैं। ३० रात्रि दीक्षित रहे, ३० अक्षरो का विराट् होता है। मासभर दीक्षित रहना चाहिए, मास ही सवत्सर है।'

तस्य त्रीणि च शतानि षष्टिश्च स्तोत्रीयास्तावती सवत्सरस्य रात्रय ।

तै० स० ७।५।१

उसमें ३६० स्तोत्रीय रहते हैं [क्योंकि] सवत्सर मे उतनी ही रातें होती हैं।

उपयामगृहीतोसि। मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये नभसे नभस्याय ,इषे ऊर्जे सहसे सहस्याय तपसे तपस्याय अ ँ हसस्पतये त्वा।

वा० स० ७।३०

[हे ऋतुग्रह तुम] उपयाम (स्थाली) से मधु के लिए गृहीत हुए हो ।

यह वाक्य प्राय उपर्युक्त तैत्तिरीयसहितोक्त वाक्यो सरीखा ही है। इसमें मधु माधवादि १२ नाम वे ही हैं परन्तु अहसस्पति एक अधिक है।

उपर्युक्त तैत्तिरीयसहिता के "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृत्" इत्यादि सदृश ही वाक्य वाजसनेयिसहिता में भी हैं (१३।२५, १४।६, १५, १६, २७ और १५।५७ देखिये)।

म ँ सर्पाय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा दिवापतये स्वाहा ॥

वा० स० २२।३०

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहे षाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा ँ हसस्पतये स्वाहा ॥

वा० स० २२।३१

'यहाँ ३० दिन और मास में भेद मालूम होता है क्योंकि दीक्षित रहने की रातो की सख्या के हेतुओं के अनुसार ३० रात्रि दीक्षित रहने का कारण यह बतलाना चाहिए था कि मास में ३० रातें होती हैं परन्तु ऐसा नहीं कहा है। इससे यह निःसंशय सिद्ध होता है कि वेदकाल में भी यह बात ज्ञात थी कि चान्द्र मास में ३० से कुछ कम सावन-दिन होते हैं।

यहा ससर्प और मलिम्लुच नाम आये हैं जिनका प्रयोग सम्प्रति अधिमास अर्थ मे किया जाता है। इसके बाद मधु माधवादि १२ नाम हैं और तदनन्तर तेरहवा नाम अहस्पति है। इससे ज्ञात होता है कि ससर्प, मलिम्लुच और अहस्पति मे कुछ भेद है।

त त्रयोदशान्मासादक्रीणँस्तस्मात् त्रयोदशोमासो नानुविद्यते।

ऐ० ब्रा० ३।१

उन्होने उस (सोम) को तेरहवे मास से मोल लिया अत १३ वा मास निन्द्य है।

त्रीणिच वैशतानि षष्टिश्च सवत्सरस्याहानि सप्त च वै शतानि विंशतिश्च सवत्सरस्याहोरात्रय ॥ ऐ० ब्रा० ७।१७

सवत्सर मे ३६० दिन और दिनरात [मिलकर] सब ७२० होते हैं।

द्वादशरत्नी रशना कर्तव्या ३ त्रयोदशरत्नी ३ रिति । ऋषभो वा एष ऋतूना। यत्सवत्सर । तस्य त्रयोदशो मासो विष्टप। ऋषभ एष यज्ञाना। यदश्वमेध । यथा वा ऋषभस्य विष्टप। एवमतस्य विष्टपम् ॥

तै० ब्रा० ३।८।३

[अश्वमेध में] रशना १२ अरत्नी की करनी चाहिए या १३ की? सवत्सर ऋतुओ का ऋषभ (श्रेष्ठ) है। १३ वा मास उसका विष्टप है। अश्वमेध यज्ञो मे श्रेष्ठ है। जैसे ऋषभ (वृषभ) का विष्टप है उसी प्रकार उसका भी है।

उपर्युक्त वाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदकाल मे वर्ष सौर था। जैसे दिन का मान जानने का स्वाभाविक साधन दो सूर्योदयो के बीच का काल और मास जानने का साधन चन्द्रमा के दो बार पूर्ण होने के मध्य का काल है उसी प्रकार वर्ष जानने का सहज साधन ऋतुओ की एक परिक्रमा है। ऋतुए न होती तो वर्ष एक कालमान न बना होता। ऋतुए सूर्य द्वारा होती है, अत वर्ष सौर ही रहा होगा। वस्तुत १२ चान्द्र मास और लगभग ११ दिनो मे ऋतुओ की एक प्रदक्षिणा होती है पर सर्व प्रथम इतना सूक्ष्म ज्ञान होना कठिन है। प्रथम-प्रथम लोग बहुत दिनो तक १२ चान्द्रमासो में ही ऋतुओ की एक प्रदक्षिणा अर्थात् वर्ष मानते रहे होगे पर इस पद्धति में जो प्रथम मास माना गया रहा होगा वह कुछ दिनो तक ग्रीष्म मे, उसके बाद शिशिर में और तत्पश्चात् वर्षा मे अर्थात् उत्तरोत्तर पीछे आता रहा होगा और सम्प्रति प्रचलित मुसल्मानो के मुहर्रम की तरह लगभग ३३ वर्षो में उसका सब ऋतुओ मे भ्रमण होना रहा होगा। इस प्रकार ३३ वर्षो के कई पर्याय समाप्त होने पर अधिकमास प्रक्षेपण की कल्पना ध्यान मे आयी होगी और वह थी। इससे सिद्ध होता है कि उस समय वर्ष सौर था।

यद्यपि सम्प्रति इसमे कोई विशेषता नही मालूम होती परन्तु इतने प्राचीन कालमें हमारे यहा अधिकमास की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, यह बडे महत्व का विषय है। प्राचीन रोमन राष्ट्र में, जो कि किसी समय अत्यन्त प्रबल राष्ट्र समझा जाता था, बहुत दिनो तक वर्ष मे १० ही मास माने जाते थे। हमारे जिन वेदो मे अधिक मास का उल्लेख है उनके कुछ भाग ई० पूर्व० १५०० के कुछ पूर्व ही बने है, इसे यूरोपियन विद्वान् भी मानते है। उपर्युक्त वाक्य में अधिक मास का उल्लेख इस ढग से नही किया गया है जिससे यह प्रतीत हो कि उसे लोग कोई विलक्षण पदार्थ समझते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस वेदभाग की रचना के अनेको वर्ष पूर्व ही उसका ज्ञान हो चुका था और उसे लोग बिलकुल साधारण सा विषय समझने लगे थे।

उस समय अधिकमास कितने मासो के बाद मानते थे, यह जानने का कोई साधन नही है। आजकल मध्यम मान से लगभग ३२-३३ महीनो के बाद मानते है, यद्यपि स्पष्ट मान से कुछ न्यून या अधिक मासो मे ही पड जाता है। वेदाङ्गज्योतिष मे ३० मास के बाद एक अधिमास बताया है अत वेदकाल में भी इसके विषय मे कोई न कोई नियम अवश्य रहा होगा, पर इस समय वह ज्ञात नही है।

उपर्युक्त वाक्यो में मलिम्लुच, ससर्प और अहस्पति नाम आये है। आजकल मलिम्लुच अधिमास को कहते है।

> रविणा लङ्घितो मासश्चान्द्र ख्यातो मलिम्लुच। व्यासः
>
> मासद्वये यदाप्येकराशि संक्रमेतादित्यस्तत्राद्यो मलिम्लुच शुद्धोन्य.।
>
> मैत्रेयसूत्र

नारदसंहिता के निम्नलिखित श्लोक में अधिमास को ससर्प और क्षयमास को अंहस्पति कहा है।

> असंक्रान्तिद्वियशाली ससर्पांहस्पती मतौ।

मुहूर्तचिन्तामणिकार का कथन है कि जब किसी मास का क्षय होता है उस समय अधिमास दो होते है। उनमें से पूर्व के अधिमास को ससर्प और क्षयमास के बाद आने-वाले को अंहस्पति कहते है (प्रकरण १ श्लोक ४७ की टीका देखिये)। पता नही चलता, वेदकाल में इनका क्या अर्थ करते थे।

यह तो निश्चित है कि वर्ष सौर था परन्तु वह नाक्षत्रिक सौर था कि साम्पातिक सौर, इसका विचार आगे करेंगे।

सावन चान्द्र और सौर मास

अब यह देखना है कि सौर की तरह अन्य मानो के भी वर्ष थे या नही। सावन, चान्द्र, सौर, नाक्षत्र और बार्हस्पत्य, इन पाच ज्योतिपशास्त्रोक्त मानो मे से नाक्षत्र और बार्हस्पत्य मानो का स्पष्ट या अस्पष्ट वर्णन वेदो मे मुझे कही नही मिला। शेष तीन का विचार करेंगे।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को सावन दिन कहते हैं। सावन सज्ञा यज्ञो के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। सोमयाग मे एक अहोरात्र मे सोम के तीन सावन होते हैं। कालमाधव मे माधवाचार्य ने लिखा है—सावनशब्दोऽहोरात्रोपलक्षक सोमयागे सवनत्रयस्याहोरात्रसम्पाद्यत्वात्, अत सवन के सम्बन्ध से सावन हुआ। इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्य सम्बन्धी कालो को क्रमश चान्द्र और सौर कहा है।

अहोरात्र मे होनेवाले एक सोमयाग को (और सम्भवत उस दिन को भी) वेद मे अह कहते हैं। ६ अहो के समूह को षडह और पाच षडहसमूह को मास कहते हैं। सवत्सर सत्र इत्यादिको मे ऐसे कई षडह और मास करने पडते हैं। ये सब मिल कर ३६० दिवस होते हैं (इसके अतिरिक्त बीच मे एक विषुवान् दिवस होता है)। माधवाचार्य ने लिखा है—

अहोरात्रसाध्य एक सोमयागो वेदेष्वह शब्देनाभिधीयते तादृशानामहर्विशेषाणा गण षडह षडहेन पञ्चकेन एको मास सम्पद्यते तादृशैर्द्वादशभिर्मासै साध्यं सवत्सरसत्रम्।

इससे और अन्यान्य अनेक प्रमाणो से ज्ञात होता है कि यज्ञकृत्यो मे वर्ष सावन लिया जाता था। हम समझते हैं गणना मे सौर और चान्द्र वर्षो की अपेक्षा सुगम होने के कारण व्यवहार मे भी उसका प्रचार अवश्य रहा होगा। मास चान्द्र थे, यह पहिले सिद्ध कर चुके हैं, अत चान्द्र वर्ष भी अवश्य रहा होगा परन्तु उसमे अधिकमास डालकर सौर वर्ष से उसका मेल रखते रहे होगे।

मालूम होता है, चान्द्र वर्ष मे दिन ३६० से कुछ कम होते हैं, यह बात ज्ञात हो चुकी थी। ऊपर पृष्ठ की टिप्पणी मे बता चुके हैं कि चान्द्र मास मे ठीक ३० दिन नही होते हैं, यह जानते थे। उत्सर्गिणामयन नामक एक सत्र है। वह गवामयन की विकृति है। तैत्तिरीयसहिता ७।५।६ मे उसके विषय मे लिखा है—षडहैर्मासात्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति। इस अनुवाक मे सत्र होते समय बीच मे तदङ्गभूत कुछ अह छोडने कहा है। एक चान्द्र मास मे लगभग २९½ अर्थात् दो मासो मे ५९ दिन होते हैं, अत यदि चान्द्र मास के

आरम्भ में पडह का आरम्भ किया जाय तो यज्ञ सम्बन्धी दो मास (६० दिन) समाप्त होने के एक दिन पहिले चान्द्र मास समाप्त हो जायगा, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने पर याज्ञिक लोगों को ज्ञात हुआ होगा कि पडह में एकाध दिवस[1] छोडने होंगे और इसी कारण उत्सर्गिणामयन की प्रवृत्ति हुई होगी। ताण्ड्यब्राह्मण ५।१०।२ में इस उत्सर्ग का कारण बतलाया है—यदि [दिवस] छोडा नहीं गया तो संवत्सर चमडे के भाथे की तरह फूल जायगा।

यथा वै दृतिराध्मात एवं संवत्सरोनुत्सृष्ट

उपर्युक्त वाक्य जिस अनुवाक में है उसी के आगेवाले अनुवाक में कहा है—उत्सृज्या ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिन। इससे अनुमान होता है कि याज्ञिक लोगों में बहुत दिनों तक इस विषय में मीमांसा होती रही होगी कि एक दिन छोडा जाय या न छोडा जाय। यद्यपि उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट नहीं होता कि एक वर्ष में कितने दिन छोडते थे पर उनसे यह कल्पना स्पष्ट है कि १२ चान्द्र मासों में अर्थात् एक चान्द्र वर्ष में दिन ३६० से कम होते हैं। सारांश यह कि उस समय सावन, चान्द्र और सौर वर्षों का प्रचार था।

अयन

अयन दो हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन। इन शब्दों से किस काल और सूर्य-स्थिति का ग्रहण करना चाहिए, इस विषय में दो मत ज्ञात होते हैं। ज्योतिषसिद्धान्त ग्रन्थों में ये दो मत नहीं हैं। उनमें सायन मकरारम्भ से सायन कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण और सायन कर्कारम्भ से मकरारम्भ पर्यन्त दक्षिणायन होता है—यह अर्थ निश्चित हो चुका है। सूर्य विषुवृत्त से चाहे जिस ओर हो, उत्तरायण में प्रतिदिन क्रमशः उत्तर ओर और दक्षिणायन में दक्षिण ओर खिसकता रहता है। कुछ ग्रन्थकारों ने उत्तर गोलार्द्ध में शिशिर के आरम्भ से ग्रीष्म के अन्त पर्यन्त और कुछ ने हेमन्त के मध्य से ग्रीष्म के मध्य पर्यन्त उदगयन माना है। ज्योतिषगणितग्रन्थोक्त अयन का यह अर्थ व्यवहार में भी सदा सर्वमान्य है, पर मालूम होता है उनका एक और अर्थ प्रचलित था। तैत्तिरीय संहिता ६।५।३ में लिखा है—

[1] इस उत्सर्ग के विषय में कालमाधव में माधवाचार्य ने लिखा है—
[illegible] प्रकृतौ चैतस्मिन् मासे त्रिंशत्स्वहस्सु सोमयागविशेषाणां विहितानामनुष्ठाने न किञ्चिदहरुत्सृष्टं, [illegible] तद्द्विवृत्तावपि प्राप्ते प्रतिमास-मेकैकस्याहः सोमयागपरित्यागो विधीयते। तत्र कतमदहस्त्यज्यतामिति मीमांसायां (सम्पाद्य मासान् [illegible]) उच्यते॥

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा । ते देवा ऋतव शरद्धेमन्त शिशिरस्ते
पितरो स (सूर्य) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि
भवति यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति।

यद्यपि इन वाक्यो मे उदगयन और दक्षिणायन शब्द नही है पर कहा है—जहा सूर्य उत्तर ओर आवर्तित होता है (मुडता है या रहता है) वहा देवताओ मे रहता है और वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देवताओ की ऋतुएँ है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सूर्य जब तक विषुववृत्त के उत्तर रहता था तब तक उत्तरायण और जब तक दक्षिण रहता था तब तक दक्षिणायन मानते थे। कुछ ज्योतिष-सहिताग्रन्थो मे उत्तरायण को देवताओ का दिन कहा है। जब कि सूर्य विषुववृत्त से उत्तर रहता है, वह मेरु पर रहनेवाले देवताओ को छ मास तक सतत दिखायी देता रहता है, अत इस कथन से भी सूर्य का विषुववृत्त से उत्तर रहने का काल ही उत्तरायण सिद्ध होता है। भागवत मे भी यही परिभाषा है।

तस्मादित्य षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण
तै० स० ६।५।३

यहा अस्पष्ट रूप मे बताया है कि सूर्य ६ मास दक्षिण और छ मास उत्तर चलता है। मरने के बाद जीव के गन्तव्य स्थान के विषय मे आगे निरुक्त प्रकरण मे निरुक्त का एक वचन उद्धृत किया है, उसमे सूर्य की उत्तर-दक्षिण गति का वर्णन है। वैसा वर्णन प्राय उपनिषदो मे मिलता है परन्तु वह स्पष्ट नही है। अयन शब्द का प्रयोग किस काल के लिए किया गया है, इस बात का स्पष्ट उल्लेख मुझे वेदो में उपर्युक्त शतपथब्राह्मणवाक्य के अतिरिक्त और कही नही मिला।

य . उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमान गत्वा-
दित्यस्य सायुज्य गच्छत्यथयो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव
महिमान गत्वा चन्द्रमस सायुज्य सलोकतामाप्नोति।
नारायण उपनि० अनु०८०

इसमे और मैत्रायण्युपनिषद् मे उदगयन और उत्तरायण शब्द है। अन्यत्र बहुधा उदगयन के लिए देवयान और देवलोक तथा दक्षिणायन के लिए पितृयाण और पितृलोक शब्द का प्रयोग किया गया है। शतपथब्राह्मणोक्त अयन शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही सब वेदवाक्यो मे है या दूसरा भी कही है, दोनो मे कौन सा प्राचीन है, दूसरा कब प्रचलित

हुआ इसका निश्चय नहीं होता। ज्योतिषग्रन्थों का उपर्युक्त अर्थ ही सब ज्योतिष-गणितग्रन्थों में है, इसमें सन्देह नहीं है और वही बहुधा सर्वत्र प्रचलित भी है।

ऋतु

ऋतुओं का थोड़ा सा विवेचन ऊपर कर चुके हैं। ऋग्वेदसंहिता में शरद् हेमन्त इत्यादि ऋतुओं के नाम अनेकों स्थानों में आये हैं परन्तु केवल ऋतु शब्द जैसे बह्वृच-ब्राह्मण और दोनों यजुर्वेदों में अनेकों बार आया है उस प्रकार ऋक्संहिता में नहीं है। उसमें ऋतुओं का विशेष माहात्म्य नहीं दीखता। ऋक्संहिता के पांचवें अष्टक के तृतीयाध्याय के २८ और २९ वें वर्गों के "शन्न इन्द्राग्नी भवतां" इत्यादि ५०,६० वाक्यों में कहा है कि अमुकामुक देवता कल्याणकारक हों परन्तु उनमें से एक भी वाक्य में यह नहीं कहा है कि संवत्सर, ऋतु, मास और नक्षत्र हमारा कल्याण करें। यजुर्वेद में यदि एक साथ इतने देवताओं की प्रार्थना की गयी होती तो ऋतुओं का नाम आये बिना न रहता।

ऋतु संख्या

ऋक्संहिता को छोड़ अन्य वेदग्रन्थों में ६ ऋतुओं और उनके नामों का उल्लेख अनेकों स्थानों में है (तैत्तिरीयसंहिता ४।३।२, ५।६।२३, ७।५।१४ इत्यादि देखिये। कुछ वचन ऊपर लिखे भी हैं)। बहुत से स्थलों में पांच ऋतुओं का भी विधान मिलता है। उदाहरणार्थ—

पञ्च शारदीयेन यजेत। पञ्च वा ऋतवः संवत्सरः।

तै० ब्रा० २।७।१०

पञ्चशारदीय से यजन करना चाहिए [क्योंकि] संवत्सर में पांच ऋतुएं [होती हैं]। जिस समय पांच ऋतुएं मानी जाती थीं उस समय मालूम होता है हेमन्त और शिशिर दोनों को मिला कर एक ही ऋतु मानते थे। अग्रिम वाक्य देखिये—

द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन

ऐ० ब्रा० १।१

तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयब्राह्मणों में भी जहां ऋतुएं पांच हैं वहां हेमन्त और शिशिर मिला कर एक ही ऋतु मानी गयी है। कई प्रमाण देकर माधवाचार्य ने भी [illegible] में हेमन्त में शिशिर का अन्तर्भाव करना चाहिए (कालमाधव

का ऋतुनिर्णय देखिये)। कही कही (शतपथब्राह्मण ३।४।४।१७) तीन ऋतुओ का का भी वर्णन मिलता है।

प्रथम ऋतु

वेदो मे जहा छ ऋतुओ का एकत्र निर्देश है वहा आरम्भ वसन्त से है। इसके अतिरिक्त "ऋतुओ मे वसन्त मुख्य है", इसके स्वतन्त्र विधान भी है। निम्नलिखित वाक्य मे वसन्त को ऋतुओ का मुख कहा है।

मुख वा एतदृतूना। यद्वसन्त। तै० ब्रा० १।१।२।६,७

तस्य ते [सवत्सरस्य] वसन्त शिर। ग्रीष्मो दक्षिण पक्ष।
वर्षा पुच्छ। शरदुत्तर पक्ष। हेमन्तो मध्यम्।
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन्ही सरीखे वाक्य और भी दो स्थानो में आये है। यहा हेमन्त को सवत्सर का मध्य और वर्षा को पुच्छ कहा है। सवत्सर को एक पक्षी मानने से इसकी इस प्रकार ठीक सगति लगती है।

(मुख-वसन्त)
(उत्तरपक्ष-शरद्) | हेमन्त | (दक्षिण-ग्रीष्म)
(पुच्छ-वर्षा)

ऋत्वारम्भ

उभयतो मुखमृतुपात्र भवति को हि तद्वेद यदृतूना मुखम्।
तै० स० ६।५।३

ऋतुपात्र मे दोनो ओर मुख होते है। कौन जानता है कि ऋतु का मुख कौन सा है। इस उद्गार का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि किसी विवक्षित ऋतु का आरम्भ कहा से होता है, इसका पता नही चलता और यह ठीक भी है क्योकि ऋतुए सूर्य की स्थिति पर अवलम्बित है पर सौरमास की तिथि सदा अनिश्चित रहती है। यदि किसी वर्ष मे सौर मास का आरम्भ चान्द्र मास के साथ हुआ तो अग्रिम वर्ष मे वह शुक्ल द्वादशी के लगभग और उसके आगेवाले वर्ष में कृष्णाष्टमी के आसपास होगा। अत ऋत्वारम्भ की तिथि निश्चित नही की जा सकती। इतना ही नही, सौर मासो से भी उनका सम्बन्ध थोडा अनियमित ही है। सम्प्रति वर्षा निरयण मृगशीर्ष-

नक्षत्र के आरम्भ से चार-छ दिन पूर्व या पश्चात् आरम्भ होती है। स्थलभेद से भी ऋत्वारम्भ में दस-पाच दिन का अन्तर पडता है, अत प्राचीन काल में इसकी अनियमित स्थिति के सम्बन्ध मे उपर्युक्त उद्गार निकलना अस्वाभाविक नही है।

चन्द्रमा और सूर्य की गति के सूक्ष्म ज्ञान और कालमापन के साधनो के अभाव में पक्षसन्धि और ऋतुसन्धि का सूक्ष्म ज्ञान होना अत्यन्त कठिन हैं। निम्नलिखित आख्यायिका से ज्ञात होता है कि मनुष्य की आद्यस्थिति में पूर्णिमान्त और अमान्त तथा ऋत्वारम्भ का जानना कितना कठिन था।

> प्रजापतेर्ह वै प्रजा ससृजानस्य पर्वाणि विसस्रंसु स वै सवत्सर एव प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रयो सन्धी पौर्णमासी चामावास्या चतुर्मुखानि ॥३५॥ स विस्रस्तै पर्वभि। न शशाक संहातुं तमेतैर्हविर्यज्ञैर्देवा अभिषज्यन्नग्निहोत्रेणै वाहोरात्रयो सन्धी तत्पर्वाभिषज्यँस्ततत्समदधु पौर्णमासेन चैवामास्येन च पौर्णमासी चामावास्याच तत्पर्वभियज्यस्त त्समदधु-श्चातुर्मास्यैरेवर्तुमुखानि तत्पर्वाभिषज्यँस्तत्समदधु ॥३६॥
>
> शतपथब्राह्मण १।६।३

तात्पर्यार्थ–प्रजा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति के पर्व शिथिल हो गये। सवत्सर ही प्रजापति है। अहोरात्र की दो सन्धिया, पौर्णमासी, अमावास्या और ऋत्वारम्भ ही उसके पर्व है। देवताओ ने उनकी चिकित्सा की। अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की सन्धिया, पौर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि यज्ञो द्वारा पौर्णमासी और अमावास्या पर्व तथा चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा ऋतुसन्धिया व्यवस्थित की। इस कथा में यज्ञ और काल-ज्ञान का भी थोडा सम्बन्ध दिखायी देता है।

मास

ऊपर सवत्सरविचार में मासो का बहुत विचार हो चुका है। उपर्युक्त मधु-माधव इत्यादि सज्ञाओ के अतिरिक्त तैत्तिरीयब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यो में उनके और भी नाम आये है। इन्ही मे अर्द्धमास और ऋतुओ के भी अन्य नाम है।

> अथ यदाह। पवित्रन् पवयिष्यन्त्सहस्वान्त्सहीयानरुणो-रजा इति। एष एव तत्। एष ह्येव तेर्धमासा। एष मासा। अथ यदाह्। अग्निष्टोम उक्थ्योग्निर्ऋतु

प्रजापति सवत्सर इति। एप एव तत्। एपह्येव ते यज्ञ-
ऋतव। एप ऋतव। एप सवत्सर।

तै० ब्रा० ३।१०।६

सवत्सर के २४ अर्धमासो के नाम ये हैं—

पवित्रन् पवयिष्यन् पूतो मेध्य। यशो यशस्वानायुरमृत।
जीवो जीविष्यनृत्स्वर्गो लोक। सहस्वान् सहीयानोजस्वान्
सहमान। जयन्नभिजयन्त्सुद्रविणो द्रविणोदा। आर्द्रपवित्रो
हरिकेशो मोद प्रमोद॥

तै० ब्रा० ३।१०।१

अरुणोरुणरजा पुण्डरीको विश्वजिदभिजित्। आर्द्र
पिन्वमानोन्नवान् रसवानिरावान्। सर्वौषध सम्भरो
महस्वान्॥

तै० ब्रा० ३।१०।१

ये १३ नाम मासो के हैं। मालूम होता है, इनमे एक नाम अधिमास का है।

अग्निर्ऋतु सूर्यऋतुश्चन्द्रमा ऋतु। प्रजापति सवत्सरो महान्क।

तै० ब्रा० ३।१०।१

ये छ नाम ऋतुओ के हैं। यह भी सम्भव है कि तीन ही ऋतुए मानकर उनके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा नाम रखे गये हो। अन्त में सवत्सर को प्रजापति कहा है।

मध्वादि और चैत्रादि नाम

स्पष्ट है कि मध्वादि और अरुणादि सज्ञाओ का सम्बन्ध नक्षत्रो से नही, ऋतुओं से है। ऋग्वेदसहिता में ये नाम नही है। ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयसहिताब्राह्मण और वाजसनेयिसहिता–ब्राह्मणो मे मध्वादि नामो का विशेष माहात्म्य है पर उनमे चित्रा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा को चैत्री और चैत्री जिस मास मे हो वह चैत्र है—इस व्युत्पत्ति के नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि नाम नही हैं। चन्द्रमा नियमित नक्षत्रो मे पूर्ण होता है, उसका ज्ञान होने के कुछ दिनो वाद पूर्णिमाओ के चैत्री, वैशाखी नाम पडे होगे और इसके कुछ समय वाद "सास्मिन् पौर्णमासीति (पाणिनि ४।२।२१)" सूत्र की प्रवृत्ति होकर चैत्रादि नाम सिद्ध हुए होगे। सव वेदो मे नक्षत्रो के नाम अनेक स्थानो में है (इसका विवेचन आगे किया है) परन्तु नक्षत्रो मे चन्द्रमा के पूर्ण होने का वर्णन मुझे केवल दो

स्थानो में मिला है। उनमें से एक तैत्तिरीयसहिता के निम्नलिखित अनुवाक में है। इसमे कालमान सम्बन्धी कुछ और बातें भी है, इसलिए यहा सम्पूर्ण अनुवाक लिख दिया है। इसमे गवामयन (सवत्सरसत्र) की दीक्षा के समय का भी विचार किया है।

> सवत्सराय दीक्षिप्यमाणा एकाष्टकाया दीक्षेरन्नेपा वै सवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्या वा एप एता रात्रि वसति साक्षादेव सवत्सरमारभ्य दीक्षन्त आर्त वा एते सवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकाया दीक्षन्तेन्तनामानावृतू भवतो व्यस्त व एते मवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकाया दीक्षन्तेऽन्तनामानावृतू भवत फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन् मुख वा एतत् ॥१॥ सवत्सरस्य यत्फल्गुनीपूर्णमासो मुखत एव मवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैव निर्या यत्सामेघ्ये विपूवात्सम्पद्यते चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन्मुख वा एतत्सवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखत एव सवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न काचन निर्या भवति चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्यै दीक्षेरन् तेपामेकाष्टकाया क्रय सम्पद्यते तेनैकाष्टका न छवट् कुर्वन्ति तेषाम् ॥२॥ पूर्वपक्षे सुत्या सम्पद्यते पूर्वपक्ष मासा अभिसम्पद्यन्ते ते पूर्वपक्षे उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोनूत्तिष्ठन्ति तान् कल्याणी कीर्तिरनूत्तिष्ठत्यरात्सुरिमे यजमाना इति तदनु सर्वे राध्नुवन्ति ॥

तै० सं० ७।४।८

अर्थ

सवत्सर [सत्र] के लिए दीक्षा लेनेवाले को एकाष्टका में (उस दिन) दीक्षा लेनी चाहिए। एकाष्टका सवत्सर की पत्नी है। वह उस रात्रि में उसके पास रहता है [अत एकाष्टका के दिन दीक्षा लेनेवाले] साक्षात् सवत्सर के आरम्भ में ही दीक्षित होते है। एकाष्टका में दीक्षा लेने वाले संवत्सर की पीड़ा के प्रति दीक्षित होते है। [उनकी] अन्तिम नामो की दो ऋतुए होती है। जो एकाष्टका को दीक्षा लेते है वे मवत्सर के व्यस्त के प्रति दीक्षित होते है (उनका सवत्सर व्यस्त होता है)। [उनकी] दो ऋतुए अन्तिम नामो की होती है। फल्गुनी पूर्णमासी को दीक्षा लेनी चाहिए।

फल्गुनी पूर्णमासी सवत्सर का मुख है [अत उस दिन दीक्षित होनेवाले] मुख से ही संवत्सर का आरम्भ करके दीक्षित होते हैं [परन्तु] उसमें एक ही निर्या (दोप) है कि सामेघ्य के स्थान मे विपुवान् आ जाता है, इसलिए चित्रापूर्णमासी को दीक्षा लेनी चाहिए। चित्रापूर्णमास सवत्सर का मुख है [अत. उस दिन यज्ञ का आरम्भ करनेवाले] मुख से ही सवत्सर का आरम्भ करके दीक्षित होते हैं। इसमे एक भी दोष नहीं है। पूर्णिमा के चार दिन पूर्व दीक्षा लेनी चाहिए। उनका एकाष्टका मे [सोम का] क्रय होता है। इससे [वे] एकाष्टका को निष्फल नही करते। पूर्वपक्ष मे उनकी सुत्या होती है। पूर्वपक्ष मे मास होते हैं। वे पूर्वपक्ष में उठते हैं। उनके उठने के वाद ओषधि और वनस्पतिया उठती हैं। ये यजमान (यज्ञ करनेवाले) समृद्ध हो गये—इस प्रकार उनकी कल्याणदायिनी कीर्ति होती है। उसके वाद सब समृद्ध होते हैं।

यह अनुवाक सामवेद के ताण्डयब्राह्मण (५।९) में भी है पर उसमे कुछ शब्द और दो एक वाक्य भिन्न हैं[1]।

यहा फल्गुनीपूर्णमास और चित्रापूर्णमास शब्दो का अर्थ फल्गुनी और चित्रायुक्त पूर्णिमा—इतना ही है। यहा फाल्गुन और चैत्र शब्द तो नही ही हैं पर ध्यान देने योग्य वात यह है कि फाल्गुनी और चैत्री नाम भी नही हैं।

> न पूर्वयो फल्गुन्योरग्निमादधीत। एषा वै जघन्या रात्रि सवत्सरस्य। यत्पूर्वे फल्गुनी। पृष्टितएव सवत्सरस्याग्निमाधाय। पापीयान् भवति। उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रि सवत्सरस्य। यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव सवत्सरस्याग्निमाधाय। वसीयान् भवति।
>
> तै० ब्रा० १।१।२।८

पूर्वफल्गुनी मे अग्न्याधान नही करना चाहिए। पूर्वफल्गुनी सवत्सर की अन्तिम रात्रि है.... । उत्तरफल्गुनी मे आधान करना चाहिए। यह सवत्सर की प्रथम रात्रि है।

[1] ताण्डयब्राह्मण में एकाष्टका का एक और दोष यह बतलाया है कि "अपोनभिनन्दन्तोभ्यवयंति" अर्थात् यज्ञ करनेवाले अवभृथस्नान करने जाते समय उदक का अभिनन्दन नहीं करते। उसमें सांमेघ्य के स्थान में संमेघ पाठ है। सायण ने उसका अर्थ 'मेघ-युक्त दिन' किया है।

यद्यपि यहा पौर्णिमा शब्द नही है पर मालूम होता है पूर्वफल्गुनीयुक्त पूर्णिमा ही उद्दिष्टार्थ है अर्थात् यह कल्पना है कि फल्गुनी में चन्द्रमा पूर्ण होता है पर ऐसा होते हुए भी यहा फाल्गुन शब्द नही आया है। इतना ही नही, फल्गुनी पूर्णमास शब्द भी नहीं है जो कि उपर्युक्त सहितावाक्य में आ चुका है।

उपर्युक्त वाक्यो से ज्ञात होता है कि तैत्तिरीयसहिताब्राह्मणकाल मे यह बात ध्यान में आ चुकी थी कि चन्द्रमा नक्षत्रो मे पूर्ण होता है पर उस समय तक चैत्रादि नाम नही पडे थे, यह निश्चित है। शतपथ-गोपथब्राह्मणो के निम्नलिखित वाक्यो मे फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द है।

एपाह सवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्या फाल्गुनीपूर्णमासी।

शतपथब्राह्मण ६।२।२।१८

फाल्गुन्या पौर्णमास्या चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत।
मुख वा एतत्सवत्सरस्य यत्फाल्गुनीपौर्णमासी॥

गोपथब्राह्मण ६।१९

सुनते है कि साङ्ख्यायनब्राह्मण में भी "या वैपा फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सरस्य प्रथमा रात्रि" वाक्य है पर मैने वह ब्राह्मण नही देखा है। इन सब वाक्यो में फाल्गुनी का अर्थ 'फाल्गुनीनक्षत्रयुक्त' ही है। शतपथब्राह्मण २।६।३ में फाल्गुनी पूर्णमासी शब्द है। सायणाचार्य ने उनकी व्याख्या 'फल्गुनीभ्या युक्ता पौर्णमासी फाल्गुनी' यही की है। सामविधानब्राह्मण २।४ मे कहा है—या रौहिणी वा पौपी वा पौर्णमासी। यहा रौहिणी का अर्थ रौहिणमास सम्बन्धी नही बल्कि रोहिणीयुक्त है। इसी प्रकार पौपी, फाल्गुनी इत्यादिको का भी अर्थ तन्नक्षत्रयुक्त ही है। साराश यह कि ब्राह्मण-काल में फाल्गुनी इत्यादि नाम प्रचलित थे पर फाल्गुन, चैत्र इत्यादि मास-नाम नही। सहिताब्राह्मणो मे वे कही भी नही मिलते। शास्त्रीय-सिद्धान्त स्थापित होने में कितना समय लगता है, इसका सूक्ष्म विचार करने से यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी कि फाल्गुनी इत्यादि नामो का प्रचार होने के बहुत दिनो बाद फाल्गुनादि नाम प्रचलित हुए होगे। अत ऐतिहासिक रीति से यह सिद्ध होता है कि मध्वादि नामो के बहुत दिनो बाद चैत्रादि सज्ञाए प्रचलित हुई। अब यह सिद्ध करेंगे कि स्वाभाविक क्रम भी ऐसा ही है।

मनुष्य प्रथम चन्द्रमा द्वारा मास गिनने लगा होगा और सूर्य-चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग में घूमते हुए दिखलायी पडे होगे उस मार्ग के नक्षत्रविशेषो के अर्थात् २७ नक्षत्रों के नाम शीघ्र पडे होगे परन्तु चन्द्रमा की गति नियमित नक्षत्रो में होती है और

यह उनमें से कुछ में पूर्ण होता है, इसका सूक्ष्म ज्ञान होने में और उसके द्वारा 'चैत्री-पूर्णिमा' इत्यादि सज्ञाओं के प्रवृत्त होने में और उनके बाद चैत्रादि सज्ञा स्थापित होने में मध्वादिकों की प्रवृत्ति और २७ नक्षत्रो के नाम पडने के पश्चात् बहुत समय लगा होगा क्योंकि क्रान्तिवृत्त से नक्षत्रों का दूरत्व प्राय सदा एक सा रहता है। उदाहरणार्थ रोहिणी-योगतारा क्रान्तिवृत्त से लगभग ५½ अश दक्षिण है और वह सहस्रो वर्षो तक वही रहेगा परन्तु चन्द्रमा का भ्रमणमार्ग क्रान्तिवृत्त नही है। वह कभी-कभी क्रान्तिवृत्त से पाच, साढे पाच अश उत्तर और कभी-कभी उतना ही दक्षिण चला जाता है। उसकी कक्षा क्रान्तिवृत्त को दो स्थानो में काटती है। उन दोनो छेदनविन्दुओं को चन्द्रपात या राहु-केतु कहते हैं। यदि चन्द्रपात अचल होता तो किसी नक्षत्रविशेष से चन्द्रमा का सम्बन्ध सदा एक सा रहता पर पात में भी गति है। लगभग १८½ वर्षों में उसका एक भगण होता है अत १८½ वर्षों मे कभी-कभी चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित कर देता है और कभी-कभी दोनो मे ११ अश का अन्तर पड जाता है। इस कारण नक्षत्रो मे चन्द्रमा के पूर्ण होने का नियम जानने में बडी अडचन पडी होगी। साथ ही साथ एक और छोटी सी अडचन है। सन् १८८४ के सितम्बर से १८८८ के मार्च तक किसी एक ही स्थान से नही पर कही न कही रोहिणी चन्द्रमा की प्रत्येक प्रदक्षिणा में उससे आच्छादित दिखायी पडी थी। इस प्रान्त में यह मनोहर दृश्य देखने का अवसर तीन ही चार बार आया। कई बार यह चमत्कार उस समय हुआ जब कि चन्द्रमा क्षितिज के नीचे था या हमारे यहा दिन था। कई बार वह रोहिणी के बिलकुल पास दिखायी पडा था। पात की प्रत्येक प्रदक्षिणा में प्रत्येक नक्षत्र के साथ चन्द्रमा की यह स्थिति नही होती अर्थात् वह प्रत्येक नक्षत्र से पाच अश उत्तर और दक्षिण नही जाता।[1] कुछ के बिलकुल पास आ जाता है, किसी किसी से दूर रहता है, कुछ के केवल उत्तर और किसी किसी से केवल दक्षिण जाता है। नियमित नक्षत्रो मे उसके पूर्ण होने का नियम बनाने में कुछ अन्य अडचनें भी हैं। चन्द्रमा किसी मास मे किसी नक्षत्र पर पूर्ण होने के बाद अग्रिम मास मे उससे दूसरे या तीसरे नक्षत्र मे पूर्ण होता है। इस प्रकार १२ चान्द्रमास समाप्त होने पर, प्रथम पर्याय के प्रथम चान्द्र मास मे जिस नक्षत्र पर पूर्ण हुआ था उसी पर यदि द्वितीय पर्याय के प्रथम मास मे भी पूर्ण

[1] यहाँ थोड़े में इसका सूक्ष्म विचार करना कठिन है। सायन पञ्चाङ्गो में तारा-चन्द्रयुति नामक एक कोष्टक दिया रहता है। उसमें पाच-सात वर्षों की युति का विचार करने से यह बात समझ में आ जायगी।

होता तो उसके विषय में नियम बनाने मे सुविधा होती पर प्रथम पर्याय के प्रथम मास में यदि अश्विनी में पूर्ण हुआ तो द्वितीय पर्याय अर्थात् द्वितीय चान्द्र वर्ष के प्रथम मास में रेवती में पूर्ण होता है। चैत्रादि १२ नामो के कारणीभूत चित्रा प्रभृति द्वादश ही नक्षत्रो मे उसके पूर्ण होने का नियम नही है, कभी न कभी सब में पूर्ण होता है। दूसरी बहुत बडी अडचन यह है कि २७ मे से मघा, ज्येष्ठा, चित्रा और रोहिणी चार ही नक्षत्र ऐसे है जिनके पास पूर्णचन्द्र के आने पर तारे दिखायी देते है। कुछ नक्षत्र चन्द्रमा से सात आठ अश और कुछ इससे भी अधिक दूर रहने पर ही अदृश्य हो जाते है। साराश यह कि नक्षत्रो का नामकरण होने के बहुत दिनो बाद इस बात का निश्चित ज्ञान हुआ होगा कि चन्द्रमा नियमित नक्षत्रो में पूर्ण होता है। इसके बाद पूर्णिमाओ के चैत्री, वैशाखी इत्यादि नाम पडे होगें और तदनन्तर चैत्र, वैशाख इत्यादि नाम प्रचलित हुए होगे। अत ऐतिहासिक और नैसर्गिक दृष्ट्या सिद्ध हुआ कि मध्वादि सज्ञाओ के बहुत दिनो बाद चैत्रादि सज्ञाए प्रचलित हुई।

सौरमास

सावन और चान्द्र मास तो वेदो में है पर उनमें सौर मास का स्पष्ट उल्लेख मुझे नही मिला। भचक्र का एक द्वादशाश भोगने में सूर्य को जितना समय लगता है उसे सौर मास कहते है। मेषादि १२ राशियो के नाम तो वेदो में नही ही है पर भचक्र के १२ तुल्य भागो के उन सरीखे अन्य नाम भी नही है। वेदोक्त मधु-माधवादि नाम सौर मासो के नही है—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योकि उनके अर्थ का सम्बन्ध ऋतुओ से अर्थात् सूर्य से है, इतना ही नही, मध्वादिको को ऋतु भी कहा है परन्तु वेदो में ऐसा विधान कही नही मिलता जिससे यह प्रकट हो कि उन मासो की समाप्ति पूर्णिमा या अमावास्या के अतिरिक्त किसी अन्य दिवस में भी होती थी। पूर्णिमा और अमावास्या मे मासान्त होने का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि ये नाम पूर्णिमा या अमावास्या में समाप्त होनेवाले चान्द्र मास के ही है तथापि वर्ष सौर था, यह निर्विवाद सिद्ध है। अत चान्द्र मास से भिन्न मान के सौर मास भी अवश्य रहे होगे और मध्वादि सज्ञाओ का प्रयोग दोनो के लिए किया जाता रहा होगा।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

पूर्णिमा और अमावास्या में समाप्त होनेवाले मासो को क्रमश पूर्णिमान्त और अमान्त मास कहते है। वेदो में ये दोनो मिलते है। पूर्णिमान्त मान था, यह बात

पूर्णमासी शब्द से ही सिद्ध हो जाती है क्योकि जिसमे मास पूर्ण होता है वही पूर्णमासी है। तैत्तिरीयसहिता १।६।७ मे लिखा है—

वर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायाम्।

यहा अमावास्या की जोडी मे पूर्णमास ही शब्द आया है, इससे सिद्ध होता है कि पौर्णमासी मे मासान्त मानते थे।

अमावास्यया मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति अमावास्यया हि मासान् सम्पश्यन्ति
पौर्णमास्या मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति पौर्णमास्या हि मासान्त्सम्पश्यन्ति ॥

तै० स० ७।५।६।१

उत्सर्गिणामयन सम्बन्धी अनुवाक के इन वाक्यो से विदित होता है कि अमावास्या और पूर्णिमा दोनो मे मास की समाप्ति मानते थे[1]। उसमें भी इन वाक्यो के आगे के निम्नलिखित वाक्यो मे पूर्णिमान्त मान के विषय में ही विशेष कटाक्ष दिखायी देता है।

यो वै पूर्ण आसिञ्चति परा स सिञ्चति य पूर्णादुदचति
प्राणमस्मिन्त्सदधाति यत्पौर्णमास्या मासात्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति
सवत्सरायैव तत्प्राण दधति तदनु सत्रिण प्राणन्ति यदहर्नो-
त्सृजेयुर्यथा दृतिरुपनद्धो विपतत्येव ँ् सवत्सरो विपतेदार्ति-
मार्छेयुर्यत्पौर्णमास्या मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति सवत्सरायैव
तदुदान दधति तदनु सत्रिण उदनन्ति नार्तिमार्छन्ति पूर्णमासे
वै देवाना ँ् सुतो यत्पौर्णमास्या मासान्त्सम्पाद्याहरुत्सृजन्ति
देवानामेव तद्यज्ञेन यज्ञ प्रत्यवरोहन्ति ॥

तै० स० ७।५।६

अथर्वश्रुति के सृष्टिप्रकरण मे सवत्सरादिको की उत्पत्ति बतलाने के बाद मास और पक्ष के विषय मे कहा है—

मासो वै प्रजापति । तस्य कृष्णपक्ष एव रवि शुक्ल प्राण ॥

यहा कृष्णपक्ष का नाम पहिले आया है। इससे भी पूर्णिमान्त ही मास सिद्ध होता है परन्तु तैत्तिरीयब्राह्मण में शुक्लपक्षान्तर्गत दिनो के बाद कृष्णपक्ष के दिन पठित है इससे अमान्त मान का भी प्रचार सिद्ध होता है।

[1] माधवाचार्य ने कालमाधव में शङ्का-समाधानपूर्वक निश्चय किया है कि इन वाक्यो में पूर्णिमान्त और अमान्त दोनो मान माने गये है।

पूर्वापरपक्ष

पूर्णिमान्त मानने से कृष्णपक्ष पहिले और शुक्लपक्ष उसके बाद आता है, अत कृष्णपक्ष की पूर्व और शुक्लपक्ष की पर सज्ञा होनी चाहिए परन्तु वर्णन ऐसा नही है। शुक्लपक्ष को पूर्व और कृष्णपक्ष को पर कहा है।

पूर्वपक्ष देवान्वसृज्यन्त। अपरपक्षमन्वसुरा। ततो देवा अभवन्। परासुरा ।।
तै० ब्रा० २।२।३।१

पूर्वपक्ष में देवता उत्पन्न हुए और अपर पक्ष में असुर, इसलिए देवताओ की जय हुई और असुरो की पराजय।

पूर्वपक्षाश्चितय। अपरपक्षा पुरीषम् ।।
तै० ब्रा० ३।१०।४।१

इन दोनो वाक्यो में शुक्ल और कृष्ण शब्द नही है, पर शुक्लपक्ष को शुभ और कृष्ण को अशुभ मानने से शुक्लपक्ष पूर्व और कृष्णपक्ष पर ज्ञात होता है। पूर्व और अपर पक्षो के १५ दिनो के नाम नीचे लिखे है। वहा पूर्व और अपर सज्ञाओ का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण अर्थ मे किया गया है। चन्द्रमा सम्बन्धी "नवो नवो भवति" मन्त्र के निरुक्त (११।६) मे कहा है—

नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्याह्ना
केतुरुषसामेत्यग्रमित्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य ।।

स्पष्ट है कि यहा पूर्वपक्ष और अपरपक्ष शब्दो का प्रयोग शुक्ल और कृष्ण पक्षो के उद्देश्य से किया गया है। वेदोत्तरकालीन अन्य ग्रन्थो में भी पूर्वापरपक्षो का यही अर्थ मिलता है।

दिवस

अब सावन दिन, सौर दिन और चान्द्र दिन अर्थात् तिथि का विवेचन करेंगे। वेदो में सौर मास का स्पष्ट उल्लेख नही है, अत सौर दिन का न होना भी स्पष्ट ही है। सावन दिन है। वह बडा व्यवहारोपयोगी है। यज्ञ उसी के अनुसार किये जाते थे, यह ऊपर बता चुके है।

तैत्तिरीयब्राह्मण के निम्नलिखित वाक्यो में शुक्ल और कृष्णपक्षो के दिन और रातो के भिन्न-भिन्न नाम पठित है।

संज्ञान विज्ञान दर्शा दृष्टेति। एतावनुवाकौ पूर्वपक्षस्याहोरात्राणा नामधेयानि। प्रस्तुतं विष्टुत ँ सुता सुन्वतीति। एतावनुवाकावपरपक्षस्याहोरात्राणा नामधेयानि ॥
तै० ब्रा० ३।१०।१०।२

संज्ञान विज्ञानं प्रज्ञान जानदभिजानत्। सकल्पमान
प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृप्त क्लृप्त। श्रेयोवसीय
आयत् सम्भूत भूतम् ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष के अहो (दिवसो) के प्रत्येक वाक्य मे पाच-पाच और सब मिलकर १५ नाम है।

दर्शा दृष्टा दर्शता विश्वरूपा सुदर्शना। अप्यायमाना प्यायमाना
प्याया सूनृतेरा। आपूर्यमाणा पूर्यमाणा पूरयन्ती पूर्णा पौर्णमासी ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।१

ये पूर्वपक्ष की १५ रात्रियो के १५ नाम है। पौर्णमासी इत्यादि शब्दो से स्पष्ट हो जाता है कि यहा पूर्वपक्ष का अर्थ शुक्लपक्ष है।

प्रस्तुत विष्टुत ँ स ँ स्तुत कल्याण विश्वरूप। शुक्रममृत
तेजस्वि तेज समृद्ध। अरुण भानुमन् मरीचिमदभितपत्
तपस्वत् ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये अपरपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष के १५ दिनो के नाम है।

सुता सुन्वती प्रसुता सूयमानाऽभिषूयमाणा। पीति प्रपा सम्पा
तृप्तिस्तर्पयन्ती। कान्ता काम्या कामजाताऽऽयुष्मती कामदुघा ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।२,३

ये कृष्णपक्ष की १५ रात्रियो के नाम है।

यहा दिवसो के नाम नपुसकलिङ्गी और रात्रियो के स्त्रीलिङ्गी है। दिवसवाची अह शब्द नपुसकलिङ्गी और रात्रि शब्द स्त्रीलिङ्गी है। मालूम होता है इसी कारण यहा ऐसा प्रयोग किया गया है। उपर्युक्त वाक्य मे कृष्णपक्ष की अन्तिम रात्रि को अमावास्या न कहकर कामदुघा कहा है परन्तु शुक्लपक्ष की अन्तिम रात्रि का नाम पौर्णमासी ही है।

इन वाक्यो और अन्य लेखो से ज्ञात होता है कि पौर्णमासी और अमावास्या किसी तिथि के विशेषण नही है बल्कि रात्रि के है। तैत्तिरीयसहिता—ब्राह्मण मे अमावास्या और पूर्णिमा नाम अनेको स्थानो में है परन्तु तिथि शब्द नही है, अत इनका किसी तिथि का विशेषण होना सर्वथा असम्भव है।

तिथि

चान्द्र मास का तीसवा भाग अथवा सूर्य और चन्द्रमा मे १२ अश अन्तर पडने मे जितना समय लगता है—इस अर्थ में मुझे वेदो में तिथि शब्द कही नही मिला। यद्यपि उस समय चान्द्र मास था पर उसमे २९½ सावन दिन होने के कारण उसका तीसवा भाग सावन दिन से छोटा होता है। स्पष्ट सूर्य और चन्द्रमा सम्बन्धी तिथि कभी सावन दिन से बडी और कभी छोटी होती है और उसका मध्यममान सावन दिन से सदा न्यून रहता है। इन दोनो को नापने का कोई भी नैसर्गिक सुलभ साधन नही है, अत वेदो में आधुनिक मध्यम और स्पष्ट दोनो तिथिया नही है। बहवृचब्राह्मण में तिथि शब्द दो एक स्थानो मे है। उसमें तिथि का लक्षण यह है—

या पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथि ।

जिसमे [चन्द्रमा] उगता है और अस्त होता है उसे तिथि कहते है। चन्द्रमा के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त एक सावन दिन से लगभग एक मुहूर्त अधिक समय लगता है। एक चान्द्र मास मे सूर्य के उदय कभी २९, कभी ३० और चन्द्रमा के उससे एक कम अर्थात् २८ या २९ होते है, अत तिथि के उपर्युक्त लक्षणानुसार चान्द्र मास में ३० तिथिया कभी नही होगी। यह लक्षण अन्य वेदो या वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो में नही मिलता, अत उसका विशेष प्रचार नही रहा होगा। सम्भव है, उपर्युक्त वाक्य का भावार्थ दूसरा हो। कुछ भी हो, ज्योतिषग्रन्थोक्त अर्थ में वेदो में तिथि शब्द और प्रतिपदादि तिथिया नही मिलती तथापि पूर्णिमा और अमावास्या को पञ्चदशी कहा है।

चन्द्रमा वै पञ्चदश । एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते। पञ्चदश्यामापूर्यते ।।

तै०ब्रा० १।५।१०

इसमें कहा है, पञ्चदशी में चन्द्रमा क्षीण होता है और पञ्चदशी में पूर्ण होता है। पञ्चदशी शब्द से ज्ञात होता है कि उस समय प्रथमा, द्वितीया अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया इत्यादि सज्ञाए प्रचलित रही होगी। वे पहिले रात्रि की वाचक रही होगी और बाद में तिथिवाचक हुई होगी। सामविधानब्राह्मण (२।६, २।८, ३।३) में कृष्णचतुर्दशी, कृष्णपञ्चमी और शुक्लचतुर्दशी शब्द आये है।

अष्टका-एकाष्टका

अमावास्या और पौर्णिमा के अतिरिक्त एक अष्टका शब्द भी वेदो मे आया है।

द्वादश पौर्णमास्य । द्वादशाष्टका । द्वादशामावास्या ॥

तै० ब्रा० १।५।१२

शतपथब्राह्मण (६।४।२।१०) मे भी इसी अर्थ का एक वाक्य है। इससे ज्ञात होता है कि १२ पौर्णमासी और १२ अमावास्याओ की भाति १२ अष्टकाए भी होती है। वर्ष मे वे १२ है, २४ नही है। इससे ज्ञात होता है कि शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष की आठवी रात को अष्टका कहा होगा। उपर्युक्त वाक्य मे पूर्णिमा के बाद अष्टका आयी है। तैत्तिरीयब्राह्मण ३।११।१।१९ मे कहा है—

पौर्णमास्यष्टकामावास्या

इस वाक्य मे भी पूर्णिमा के बाद अष्टका है, अत कृष्णपक्ष की आठवी रात्रि को अष्टका कहते रहे होगे। आश्वलायनादि सूत्रो मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशैकाष्टका द्वादशामावास्या ।

ताण्ड्यब्राह्मण १०।३।११

यहा कृष्णाष्टमी को एकाष्टका कहा है। आपस्तम्बसूत्र मे माघी पूर्णिमा के बाद की अष्टमी को एकाष्टका कहा है।

व्यष्टका-उदृष्ट

पौर्णमास्या पूर्वमहर्भवति । व्यष्टकायामुत्तर । अमावास्याया पूर्वमहर्भवति । उदृष्ट उत्तरम् ॥ तै० ब्रा० १।८।१०।२

ये वाक्य ताण्ड्यब्राह्मण (१८।११।८) मे भी है। यहा कृष्णप्रतिपदा को व्यष्टका और शुक्लप्रतिपदा को उदृष्ट कहा है।

चन्द्रकला

वेदो मे चन्द्रमा की कला के न्यूनाधिक्य का कारण यह बताया है कि देव उसका प्राशन करते है।

यत्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुन । वायु सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृति ॥ ऋ० स० १०।८५।५

हे देव [सोम] तुम्हारा प्राशन करते हैं। उसके बाद तुम पुन तेजस्वी होते हो। वायु सोम का रक्षक है और तुम समो (सवत्सरो) और मासो के कर्ता हो। निरुक्त में यह ऋचा सोमवल्ली पर और चन्द्र पर है।

यमादित्या अ ँशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितय पिबन्ति। तै० स० २।४।१४

इसका अर्थ यह है कि आदित्य चन्द्रमा को तेजस्वी करते हैं और पूर्ण हो जाने के बाद उसका प्राशन करते हैं। यहा आदित्या शब्द बहुवचन में है। पहिले यह प्रयोग द्वादश आदित्यो के उद्देश्य से किया गया होगा अर्थात् लोगो की यह धारणा रही होगी कि चन्द्रमा की कलाओ का क्षयवृद्धिकारक सूर्य ही हैं परन्तु आदित्य शब्द सब देवताओं का वाचक होने के कारण लोग समझने लगे होगे कि देवता चन्द्रकला का प्राशन करते हैं।

चन्द्रप्रकाश

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व। तै० स० ३।४।७।१

इसमें चन्द्रमा को सूर्यरश्मि अर्थात् सूर्य द्वारा प्रकाश प्राप्त करनेवाला कहा है। निम्नलिखित वाक्यो में यह कल्पना है कि चन्द्रमा अमावास्या की रात्रि में जो आकाश में नही दीखता उसका कारण यह है कि वह पृथ्वी पर आकर, प्राणी, औषधी और वनस्पति इत्यादिको मे प्रवेश करता है।

सोमावास्याया रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिद प्राणभृदनु प्रविश्य तत प्रातर्जायते॥ बृहदा०, शत० ब्रा० १४।४।३।२२

एष वै सोमो राजा देवानामन्न यच्चन्द्रमा स यत्रैष एता ँ रात्रि न पुरस्तान्न पश्चाद्दृशे तदिम लोकमागच्छति स इहैवापश्चौषधीश्च प्रविशति स वै देवाना वस्वन्न ँ ह्येषा तद्यदेष एता ँ रात्रिमिहामावसति तस्मादमावास्या नाम॥

शत० ब्रा० १।६।४।५

अग्रिम वाक्य मे यह वर्णन भी है कि अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र रहते हैं। इसमे कहा है कि अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य मे प्रवेश करता है। आदित्य से चन्द्रमा उत्पन्न होता है।

चन्द्रमा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते।

ऐ० ब्रा० ४०।५

यहा सूर्य मे चन्द्रमा उत्पन्न होनेका अभिप्राय यह है कि शुक्लप्रतिपदा को वह पुन दिखायी देता है।

दर्श, पर्व, अनुमति इत्यादि

अमावास्या को दर्श[1] और अमावास्या तथा पूर्णिमा को पर्व कहा है। पूर्णिमा को अनुमति और राका तथा अमावास्या को सिनीवाली और कुहू भी कहा है। ऋक्संहिता के मण्डल २ सूक्त मे राका और सिनीवाली शब्द हैं। वहा वे कदाचित् देवतावाचक होगे। ऐतरेयब्राह्मण ३२।१० और गोपथब्राह्मण ६।१० में लिखा है—

या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राका या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहू ।।

कठशाखा के वेद मे भी यह वाक्य है। निरुक्त ११।३१ म कहा है—

सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता अमावास्येति याज्ञिका ।।

चन्द्रसूर्यगति

यज्ञो के विषय मे वेदो मे अमावास्या और पूर्णिमा का बडा प्राधान्य है। वेदकालीन सूर्य-चन्द्रमा का गतिविषयक आविष्कार—जो कि प्रसङ्गाभाव के कारण वेदो मे नही आये हैं परन्तु जिनका परिणत स्वरूप वेदाङ्गज्योतिष मे दिखायी देता है—दर्शपूर्णमासेष्टियो के कारण ही प्रादुर्भूत हुए होगे, इसमे कोई सन्देह नही है। वेदो मे "सन्धौ यजेत, सन्धिमभितो यजेत" इत्यादि वाक्यो मे बताया है कि पर्व की सन्धि मे अर्थात् पर्व और प्रतिपदा की सन्धि में अथवा उसके आसपास यज्ञ करना चाहिए। अत उस समय लोगो ने पर्वसन्धि जानने का प्रयत्न किया होगा और उन्हें इस विषय का कुछ न कुछ ज्ञान भी अवश्य रहा होगा।

वार

वारो के सात नाम वेदो मे नही मिलते। सात वारो का सामान्य नाम 'वासर' ऋक्संहिता मे दो स्थानो मे आया है।

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा।।

ऋ० सं० ८।६।३०

[1] अमावास्या को सूर्य-चन्द्रमा एकत्र हो जाते है, यह कल्पना पुराणों में भी है। मत्स्यपुराण और वायुपुराण में दर्श के विषय में कहा है—

आश्रित्यताममावास्यां पश्यत सुसमागतौ।
अन्योन्य चन्द्रसूर्यौ तौ यदा तद्दर्श उच्यते।।

जब यह इन्द्र द्युलोक पर सूर्यरूप से प्रकाशित होता है उस समय चिरन्तन उदकवान् इस सूर्य रूपी इन्द्र के तेज को सब दिनभर देखते हैं—इस प्रकार सायणाचार्य ने यहा वासर का अर्थ दिवस किया है। इसके अतिरिक्त उसे ज्योति का विशेषण मान कर "निवासक" "निवासस्य हेतुभूत"—ये दो अर्थ किये है।

दिनमान

निम्नलिखित ऋचा मे दिनमान के न्यूनाधिक होने का वर्णन है। इसमें कहा है कि सूर्य दिन को बढाता है।

सोमराजन् प्रण आयूषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ।। ऋ० स० ८।४८।७

हे सोमराजन् (वासर) (जगद्वासक) जैसे दिवस सूर्य बढाता है उसी प्रकार तुम हमारी आयु बढाओ। यहा वासर शब्द का अर्थ दिवस नही है।

विषुव

विषुव-दिवस का उल्लेख वेदो मे अनेको स्थानो में है। सवत्सरसत्रविषयक तैत्तिरीयसहिता का एक अनुवाक ऊपर पृष्ठ मे लिखा है, उसमें विषुव का वर्णन है। अब यहा एक दूसरा वर्णन उद्धृत करते है। सवत्सरारम्भ के विवेचन मे भी इसकी आवश्यकता पडेगी।

> एकविंशमेतदहरुपयन्ति विषुवन्त मध्ये सवत्सरस्यैतेन वै देवा एकविंशेनादित्य स्वर्गाय लोकायोदयच्छन्त्स एप इत एकविंशस्तस्य दशावस्तादहानि दिवाकीर्त्यस्य भवन्ति दश परस्तान्मध्य एप एकविंश उभयतो विराजि प्रतिष्ठितस्तस्मादेषोन्तरेमा लोकान्यन् न व्यथते तस्य वै देवा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादवपाताद-विभयुस्त त्रिभि स्वर्गलोकैरवस्तात्प्रत्युत्तम्नुवन् स्तोमा वै त्रय स्वर्गा लोकास्तस्य पराचोतिपातादविभयुस्त त्रिभि स्वर्गलोकै परस्तात्प्रत्यस्तम्नुवस्तोमा वै त्रय स्वर्गा लोका स्तत्र योऽवस्तात्सप्तदशा भवन्ति त्रय. परस्तान्मध्य एप एकविंश ।।
>
> ऐ० ब्रा० १८।१८

अर्थ—सवत्सर के मध्य भाग में विषुव-दिन में एकविंशाह करते है। इस एकविंश द्वारा देवताओ ने सूर्य को स्वर्ग में चढाया। यहाँ वह एकविंश है। उस दिवाकीर्त्य के पूर्व १० दिन होते है, १० दिन पीछे होते है और बीच में यह एकविंश रहता है। इस प्रकार दोनो ओरसे दस-दस के बीच में होने के कारण यह [एकविंश अर्थात् आदित्य]

इस लोक में चलते समय व्यथा नहीं पाता। देवता डरे कि वह आदित्य कदाचित स्वर्ग में नीचे गिरेगा। [उन्होंने] इधर तीन स्वर्गलोकों का आधार देकर उसे सँभाल रखा। [विषुवादिवस के पूर्व तीन स्वरसाम दिवस होते हैं। उस दिन कहे जाने वाले तीन] स्तोम ही तीन स्वर्गलोक हैं। वह [सूर्य] उनकी उस ओर गिरेगा, इस भय से [देवता] डरे। उन्होंने उस ओर तीन स्वर्गलोक रखकर उसे तौल रखा। [विषुव के बाद के तीन दिनों के तीन] स्तोम ही तीन स्वर्ग हैं। उनमें इस ओर १७ और उस ओर तीन रहते हैं। बीच में यह एकविंश [२१ वां रहता है।]

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।२।४) में भी प्राय ऐसा ही वर्णन है। इसमें विषुव-संवत्सर के मध्यभाग में बतलाया है। इसके अतिरिक्त मालूम होता है यहां कुछ कल्पनाएं इस आधार पर भी की गई हैं कि सूर्य आकाश में कभी अधिक और कभी कम ऊँचाई पर रहता है।

यथा वै पुरुष एवं विषुवांस्तस्य यथा दक्षिणोर्ध एवं पूर्वार्धो विषुवतो यथोत्तरोर्ध एवमुत्तरोर्धो विषुवतस्तस्मादुत्तर इत्याचक्षते प्रबाहुक्सत शिर एव विषुवान्॥
ऐ० ब्रा० १८।२२

जैसा पुरुष वैसा विषुवान्। उस (पुरुष) का जैसा दक्षिणार्ध (दाहिना अङ्ग) वैसा इसका पूर्वार्ध। जैसा उसका उत्तरार्ध (बायां अङ्ग) वैसा इसका उत्तरार्ध। इसीलिए [विषुव के बाद छः मास तक सत्र होता रहता है। उसे] उत्तर [अर्ध] कहते हैं। [वाम-दक्षिण] भाग समान [करके बैठे] हुए [पुरुष] के शिर के समान विषुवान है। तैत्तिरीयब्राह्मण में भी इसी प्रकार का अग्रिम वर्णन है।

सन्ततिर्वा एते ग्रहा। यत्पर सामान। विषुवान् दिवा कीर्त्यं। यथा शालायै पक्षसी। एवं सवत्सरस्य पक्षसी। तै० ब्रा० १।२।३

इसमें संवत्सरसत्र का वर्णन है। कहा है—जिस प्रकार शाला अर्थात् घर के दो पक्ष होते हैं उसी प्रकार संवत्सर के भी दो पक्ष हैं और विषुवान् उसका मध्यभाग है। इसी प्रकार विषुवान् शब्द अनेकों स्थानों में आया है और बहुत से स्थलों में वह दिवस संवत्सर-सत्र या तदङ्गभूत पर सामन् इत्यादि अहों के मध्यभाग में बतलाया है।

जिस दिन दिनरात्रिमान समान होते हैं वह विषुवान् दिवस है—ऐसा स्पष्ट उल्लेख वेदों में नहीं है। सत्र अथवा षडह इत्यादि अहों के मध्य का इतिहास, इतना ही उसका अर्थ है, चाहे वह सत्र वर्ष भर होता रहे या कुछ ही दिनों तक (ताण्ड्यब्राह्मण १३।४।१६ और उसका सायणभाष्य देखिये)। जिनमें दिन-रात्रि समान होती हैं

गमे विषुवान् वर्ष में दो होते हैं। उनमें से प्रथम में सवत्सरसत्र का आरम्भ करने से दूसरा उनके मध्य मे आता है।

दिवस-विभाग

धर्मशास्त्रग्रन्थो मे दिन के अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त तक के काल के २, ३, ४, ५ और १५ विभाग किये गये हैं। दो विभाग पूर्वाह्‍ण और अपराह्‍ण नामक हैं। तीन विभाग पूर्वाह्‍ण, मध्याह्न और अपराह्ण हैं। चार पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्‍ण और सायाह्न हैं। ये दिन के चार प्रहर हैं। पाच विभाग प्रात, सगव, मध्याह्न, अपराह्‍ण और साय हैं। १५ विभाग मुहूर्त नामक हैं। प्रथम दो विभाग स्वाभाविक हैं। वे वेदकाल में थे। तीन विभाग निम्नलिखित दो वाक्यो में हैं।

ऋग्भि. पूर्वाह्‍णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्न। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य ॥ तै० ब्रा० ३।१२।९।१

पूर्वाह्‍णे वै देवाना मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्‍ण पितृणाम् ॥
शत० ब्रा० २।४।२।८

अग्रिम ऋचा में पाच विभागो मे से प्रात, सगव और मध्याह्न, इन तीन के नाम आये हैं। इससे अनुमान होता है कि उस समय पाच विभाग थे।

उतायात सगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य। दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानी पीतिरश्विना ततान ॥ ऋ० स० ५।७६।३

देवस्य सवितु प्रात प्रसव प्राण। वरुणस्य सायमासवोपान। यत्प्रतीचीन प्रातस्तनात्। प्राचीन ँ सगवात्। ततो देवा अग्निष्टोम निरमिमत। तत्तदात्तवीर्य निर्मार्गि। मित्रस्य सगव। तत्पुण्य तेजस्व्यह। तस्मात्तर्हि पशव. समायन्ति। यत्प्रतीचीन ँ सगवात्। प्राचीन मध्यन्दिनात्। ततो देवा उक्थ्य निरमिमत। तत्०। बृहस्पतेर्मध्यन्दिन। तत्पु०। तस्मात्तर्हि तेक्ष्णिष्ठ तपति। यत्प्रतीचीन मध्यन्दिनात्। प्राचीनमपराह्‍णात्। ततो देवा षोडशिन निरमिमत। तत्तदा०। भगस्यापराह्‍ण। तत्पु०। तस्मादपराह्‍णे कुमार्यो भगमिच्छमानाश्चरन्ति। यत्प्रतीचीनमपराह्‍णात्। प्राचीन ँ सायात्। ततो देवा अतिरात्र निरमिमत। तत्तदा०। वरुणस्य साय। तत्पु०। तस्मात्तर्हि नानृत वदेत् ॥
तै० ब्रा० १।५।३

यहा प्रात, सगव मध्याह्न, अपराह्ण और साय, ये पाच विभाग हैं।

आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतव । यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा सगवोथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोथ वर्षा यदापराह्णोथ शरद्यदैवास्तमेत्यथ हेमन्त ॥

शत० ब्रा० २।२।३।९

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति सगव प्रस्तौति मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्त यन्निधनम् ॥ अथ० स० ९।६।४६

यहा सगव, मध्यन्दिन और अपराह्ण तीन विभाग नही वल्कि दिन के चार विभागो (प्रहरो) की सन्धिया ज्ञात होती हैं।

माधवाचार्य ने कालमाधव मे दिवस के पञ्चधा विभाग के विषय मे तैत्तिरीय-ब्राह्मण का उपर्युक्त अनुवाक देकर लिखा है—इसमे प्रातरादि पाच विभागो की सन्धियो मे अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशि और अतिरात्र इन चार सोमसस्थाओ की निर्मिति का वर्णन है। सव विभागो के विषय मे उन्होने लिखा है, पञ्चधा विभाग श्रुति-स्मृतियो मे वहुत मिलता है। आश्वलायनसूत्र (श्रौतसूत्र ३।१२) मे लिखा है, 'प्रदोपान्तो होमकाल सगवान्त प्रात ।' इससे ज्ञात होता है कि सगव सन्धि नही प्रत्युत एक विभाग ही है।

१५ मुहूर्त

तैत्तिरीयब्राह्मण मे दिवस और रात्रि दोनो के मुहूर्त सज्ञक १५ विभाग बताये हैं।

अथ यदाह। चित्र केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताभिशास्तानुमन्तेति। एष एव तत्। एष ह्येव तेऽह्नो मुहूर्ता। एष रात्रे।

तै० ब्रा० ३।१०।९

उपर्युक्त अनुवाक उसी ब्राह्मण मे एक ही अनुवाक मे आये हैं। वे ये हैं—

चित्र केतु प्रभानाभान्त्सभान्। ज्योतिष्मा ँ्स्तेजस्वानातप ँ्स्तपन्निभितपन्। रोचनो रोचमान शोभन शोभमान कल्याण.॥ तै० ब्रा० ३।१०।१

यहा प्रत्येक वाक्य में पाच और सव मिलकर १५ मुहूर्त हैं। पूर्वापर सन्दर्भ से स्पष्ट है कि ये मुहूर्त शुक्लपक्ष के हैं और निम्नलिखित १५ मुहूर्त शुक्लपक्ष की रात्रि के हैं।

दाता प्रदाताऽनन्दो मोदः प्रमोद । आवेशन्निवेशयन् सवेशन स ँ्शान्त शान्त । आभवन् प्रभवन् सम्भवन् सम्भूतो भूत ॥

तै० ब्रा० ३।१०।१।१,२

सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमान । ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् सन्तपन् । रोचनो रोचमान शुभ्रू शुभमानो वाम ॥
तै० ब्रा० ३।१०।१।२

ये कृष्णपक्ष के दिन के १५ मुहूर्तो के नाम हैं।

अभिशास्तानुमन्तानन्दो मोद प्रमोद । आसादयन् निषादयन् सं सादन सं सन्न सन्न । आर्भूविभू प्रभू शभूर्भुव ॥ तै० ब्रा० ३।१०।१।३

ये कृष्णपक्ष की रात्रि के १५ मुहूर्तो के नाम हैं।

मास में ३० दिवस की भाँति अहोरात्र में ३० मुहूर्त माने गये होंगे। वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो मे मुहूर्त नामक ये विभाग तो है पर उपर्युक्त नाम नहीं हैं। मुहूर्तो के भिन्न-भिन्न अन्य भी बहुत से नाम हैं।

प्रतिमुहूर्त

एक मुहूर्त में १५ सूक्ष्म मुहूर्त माने गये हैं। कहा है—

अथ यदाह् । इदानी तदानीमिति । एष एव तत् । एषह्येव ते मुहूर्तानां मुहूर्ता ।
तै० ब्रा० ३।१०।९।९

वे प्रतिमुहूर्त ये हैं—

इदानी तदानीमेतर्हि क्षिप्रमजिर। आशुर्निमेष फणोद्रवन्नतिद्रवन्। त्वरं स्त्वरमाण आशुराशीयान् जव ॥ तै० ब्रा० ३।१०।१।४

कला-काष्ठा

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युत पुरुषादधि। कला मुहूर्ता काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वश ॥
नारायण उपनिषद् अनु० १

इस उपनिषद् वाक्य में मुहूर्त, कला और काष्ठ नामक कालमानो के नाम आये हैं, पर पता नही चलता इनका परस्पर या अन्य मानो से क्या सम्बन्ध है। घटी और पल नामक दिन के भाग-प्रभाग वेदो में नही है।

नक्षत्र

अव यहा ऋग्वेदसंहिता के कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत करते हैं जिनमें किसी नक्षत्र-विशेष का नही वल्कि आकाश में इतस्तत सर्वत्र फैले हुए तारो का वर्णन है। इनमें के

कुछ मन्त्र अथर्वसहिता मे भी है। निम्नलिखित मन्त्र मे कहा है कि विश्वदर्शी सूर्य के आते ही नक्षत्र और रात्रि चोर की तरह भाग जाती है।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि । सूराय विश्वचक्षसे ॥
ऋ० स० १।५०।२ अथ० स० १३।२।१७, २०।४७।१४

अभि श्याव न कृशनेभिरश्व नक्षत्रेभि पितरो द्यामपिशन् ॥
ऋ० स० १०।६८।११

इन दोनो वाक्यो मे तारो को नक्षत्र कहा है। "द्यौरिव स्मयमानो नभोभि" वाक्य मे तारका अर्थ मे नभ शब्द का प्रयोग किया गया है। कही-कही तारका अर्थ मे रोचना शब्द आया है। "द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त (ऋ० स० २।३४।२)" और "ऋतावान विचेतम पश्यन्तो द्यामिव स्तृभि (ऋ० स० ४।७।३)" इन दो मन्त्रो में तारा अर्थ मे 'स्तृ' शब्द आया हैं। यहा पहिली दो ऋचाओ मे नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्ग मे आनेवाले नक्षत्रो के लिए ही नही, सब तारो के लिए आया है। वेदोत्तर-कालीन सस्कृत ग्रन्थो में भी नक्षत्र सज्ञा चन्द्रमार्ग मे आये हुए नक्षत्रो के साथ-साथ सब तारो के लिए भी आयी है।

अथो नक्षत्राणामेपामुपस्थे सोम आहित ॥
ऋ० स० १०।८५।२ अथ० स० १४।१।२

इसमे लिखा है—नक्षत्रो मे सोम रखा है। मालूम होता है यहा नक्षत्र शब्द केवल चन्द्रमार्गान्तर्गत नक्षत्रो के लिए ही आया है। ऋक्सहिता मे चन्द्रमार्ग के सत्ताईसो नक्षत्रो के नही, पर कुछ के नाम है। ५।५४।१३ और १०।६४।८ मे तिष्य शब्द है। वह पुष्यनक्षत्रवाचक होगा। ४।५१।२ में चित्रा नक्षत्र है। ४।५१।४७ में रेवती शब्द है। वह रेवती नक्षत्र के ही अर्थ मे आया हुआ ज्ञात होता है। अग्रिम ऋचा मे क्रमश दो नक्षत्र है।

सूर्याया वहतु प्रागात् सवितायमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोर्जुन्यो पर्युह्यते ॥
ऋ० स० १०।८५।१३

सविता ने जो [दहेज] दिया वह दहेज सूर्या के पहिले ही आगे गया। अघा [मघा] नक्षत्र मे गायो को मारते[1] है। अर्जुनी (फल्गुनी) नक्षत्र मे [कन्या] ले जाते है।

सविता की कन्या सूर्या सोम को दी गयी। उस समय सूर्य ने दहेज में जो गाये दी

[1] यहा हन् धातु का अर्थ मार डालना नहीं, केवल ताडन मात्र है।

वे पहिले ही दिन अर्थात् मघा नक्षत्र में ही हांक कर ले जायी गयी और कन्या अर्जुनी नक्षत्र में गयी, इस कथा के उद्देश्य से यह ऋचा कही गयी है। यहा फल्गुनी के लिए अर्जुनी और मघा के लिए अघा शब्द आया है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिपग्रन्थों मे ये शब्द प्राय नही मिलते, पर ये उन नक्षत्रो के द्योतक हैं, इसमे सन्देह नही है क्योकि अथर्वसहिता (१४।१।१३) मे इसी ऋचा मे मघा और फल्गुनी ही शब्द हैं। वह ऋचा इस प्रकार है—

सूर्याया वहतु प्रागात् सवितायमवासृजत्।
मघासु हन्यन्ते गाव फल्गुनीपु व्युह्यते ॥
एता वा इन्द्रनक्षत्र यत्फल्गुन्योप्यस्य प्रतिनाम्न्योर्जुनो ह्वै
नामेन्द्रो यदस्य गुह्य नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता ॥

शत० ब्रा० २।१।२।११

इससे भी अर्जुनी का अर्थ फल्गुनी ही सिद्ध होता है। यजुर्वेद मे मघासु प्रयोग स्त्रीलिङ्ग—बहुवचन मे और फल्गुन्यो स्त्रीलिङ्ग-द्विवचन मे आता है। यहा भी अघासु और फल्गुन्यो प्रयोग उसी प्रकार हैं। मघा और फल्गुनी नक्षत्रो के क्रमानुसार ही क्रमश होनेवाली दो क्रियाए इनमेंव तलायी हैं।[1] यहा अघासु और फल्गुन्यो शब्दो के वचन, लिङ्ग और क्रम तैत्तिरीयवेद और वेदोत्तरकालीन ज्योतिपग्रन्थोक्त नक्षत्रो के अनुसार हैं, इसमे यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद की नक्षत्रपद्धति ऋग्वेदकाल मे पूर्ण प्रचलित थी।

ऋक्सहिता मे (७।५।२५) चन्द्रमार्गान्तर्गत और उनसे भिन्न तारो के लिए एक ही शब्द है परन्तु तैत्तिरीयसहिता मे एक स्थान पर दोनो में भेद किया है। मेध्य अश्व के विपय मे कहा है—

यो वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरो वेद शीर्पण्वान्मेध्यो भवत्युपा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर सूर्यश्चक्षुर्वात प्राणश्चन्द्रमा श्रोत्र दिश पादा अवान्तरदिश पर्शवोऽहोरात्रे निमेपोर्धमासा पर्वाणि मासा सन्धानान्यृतवोऽङ्गानि सवत्सर आत्मा रश्मय केशा नक्षत्राणि रूप तारका अस्थीनि नभो मा ँ सानि . . ॥

जो मेध्य अश्व का शिर जानता है वह शीर्पण्वान् और पवित्र होता है। उपा मेध्य अश्व का शिर है। सूर्य चक्षु, वात प्राण, चन्द्रमा कर्ण, दिशाए पैर, अवान्तर दिशाएँ पर्शु, अहोरात्र निमेप, अर्धमास पर्व, मास सन्धान, ऋतु अङ्ग, सवत्सर आत्मा, रश्मि केश, नक्षत्र रूप और तारे अस्थिया हैं।

[1] इस विषय में पृष्ठ के "अर्यम्ण पूर्वे फल्गुनी। जाया परस्ताद्वृषभोवस्तात्। भगस्योत्तरे वहतव. परस्ताद्वहमाना अवस्तात्।" वाक्य ध्यान देने योग्य है।

तैत्तिरीयश्रुति मे नक्षत्रसम्बन्धी बहुत सी बाते है। कही सब नक्षत्रो के नाम और उनके देवता पठित है, कही उनके विषय मे अन्य प्रकार के बहुत से वर्णन है, कही उनके नामो की व्युत्पत्ति बतायी है और कही कुछ बीच के ही नक्षत्रो के नाम प्रसगवशात् आये है। तैत्तिरीयसहिता के निम्नलिखित अनुवाक मे सब नक्षत्र है।

कृत्तिकानक्षत्रमग्निर्देवताग्नेरुचस्थ प्रजापतेर्धातु सोमस्यर्चे त्वा रुचे त्वा भामे त्वा ज्योतिषे त्वा रोहिणी नक्षत्र प्रजापतिर्देवता मृगशीर्षं नक्षत्र˚ सोमो देवतार्द्रानक्षत्र˚ रुद्रो देवता पुनर्वसूनक्षत्रमदितिर्देवता तिष्यो नक्षत्र बृहस्पतिर्देवताश्रेषा नक्षत्र सर्पा देवता मघा नक्षत्र पितरो देवता फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता फल्गुनी नक्षत्र भगो देवता हस्तो नक्षत्र˚ सवितादेवता चित्रानक्षत्रमिन्द्रो देवता स्वाती नक्षत्र वायुर्देवता विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नीदेवतानूराधा नक्षत्र मित्रो देवता रोहिणी नक्षत्रमिन्द्रो देवता विचृत्तौ नक्षत्र पितरो देवतापाढानक्षत्रमापो देवताषाढा नक्षत्र विश्वेदेवा देवता श्रोणा नक्षत्र विष्णुर्देवता श्रविष्ठा नक्षत्र वसवो देवता शतभिषङ्नक्षत्रमिन्द्रो देवता प्रोष्ठपदानक्षत्रमजएकपाद्देवता प्रोष्ठपदा नक्षत्रमहिर्बुध्नियो देवता रेवती नक्षत्र पूषा देवताऽश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवतापभरणीर्नक्षत्र यमो देवता पूर्णापश्चाद्यत्ते देवा अदधु.॥

तै० स० ४।४।१०

तैत्तिरीयब्राह्मण मे तीन स्थानो पर सब नक्षत्रो के नाम और उनके देवता पठित है। उनमे से अग्रिम अनुवाक मे बडा चमत्कारिक वर्णन है इसलिए उसे यहा उद्धृत करते है।

अग्ने कृत्तिका। शुक्र परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्। प्रजापते रोहिणी। आप परस्तादोपधयोवस्तात्। सोमस्येन्वका विततानि। परस्तात् वयन्तोवस्तात्। रुद्रस्य बाहू। मृगयव परस्ताद्विक्षारोऽवस्तात्। अदित्यै पुनर्वसू। वात परदार्द्रमवस्तात्। बृहस्पतेस्तिष्य। जुह्वत परस्ताद्यजमाना अवस्तात्। सर्पाणामाश्रेषा। अभ्यागच्छन्त परस्तादभ्यानृत्यन्तोवस्तात्। पितृणा मघा। रुदन्त परस्तादपभ्रशोवस्तात्। अर्यम्ण पूर्वेफल्गुनी। जाया परस्तादृपभोवस्तात्। भगस्योत्तरे। वहतव परस्ताद्वहमाना अवस्तात्। देवस्य सवितुर्हस्त। प्रसव परस्तात्सनिरवस्तात्। इन्द्रस्य चित्रा। ऋत परस्तात्सत्यमवस्तात्। वायोर्निष्ट्या व्रतति। परस्तादसिद्धिरवस्तात्। इन्द्राग्नियोर्विशाखे। युगानि परस्तात् कृपमाणा अवस्तात्। मित्रस्यानूराधा। अभ्यारोहत्परस्तादभ्यारूढमवस्तात्। इन्द्रस्य रोहिणी। श्रृणत्परस्तात्प्रतिश्रृणदवस्तात्। निर्ऋत्यै मूलवर्हणी। प्रति-

भञ्जन्त परस्तात्प्रतिशृणन्तोवस्तात्। अषा पूर्वा अषाढा। वर्न परस्ता-त्समितिरवस्तात्। विश्वेषा देवानामुत्तरा। अभिजयत्परस्तादभिजितमवस्तात्। विष्णो श्रोणा। पृच्छमाना परस्तात्पन्था अवस्तात्। वसूना श्रविष्ठा। भूत परस्ताद्भूतिरवस्तात्। इन्द्रस्य शतभिषक्। विश्वव्यचा परस्ताद्विश्वक्षितिरव-स्तात्। अजस्यैकपद. पूर्वे प्रोष्ठपदा। वैश्वानर परस्ताद्वैश्वावसवमवस्तात्। अहेर्बुध्नियस्योत्तरे। अभिषिञ्चन्त परस्तादभिषुण्वन्तोवस्तात्। पूष्णो रेवती गाव परस्तात् वत्सा अवस्तात्। अश्विनोरश्वयुजौ। ग्राम परस्तात्सेनावस्तात्। यमस्यापभरणी। अपकर्षन्त परस्तादपवहन्तोवस्तात्। पूर्णा पश्चाद्यत्ते देवा अदधु ॥

तै० ब्रा० १।५।१

यहा "अग्नि की कृत्तिकाए, शुक्र उस ओर और ज्योति इस ओर है"—इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र का वर्णन है। इस ओर अमुक और उस ओर अमुक है, यह कहने का हेतु और उसकी उपपत्ति पूर्णतया समझ मे नही आती। मालूम होता है, कुछ बाते नक्षत्र के शुभाशुभ फल के उद्देश्य से और कुछ उनकी आकृति इत्यादि के विषय में कही गयी है। फल्गुनी विषयक उपर्युक्त ऋग्वेद की ऋचा और यहा के फल्गुनी सम्बन्धी वाक्यो मे बहुत साम्य है। इसी प्रकार आगे एक वाक्य (मैत्रेण कृषन्ते) में कहा है—अनुराधा नक्षत्र मे हल चलाते है। अनुराधा के पूर्व नक्षत्र विशाखा के विषय मे कहा है कि इस ओर युग (हलो की जोडिया) और उस ओर कृषमाणा (हल जोतनेवाले) है। अनु-राधा में हल चलाने का कुछ न कुछ कारण इस कथन में है। युग और कृषमाण का आकृति सम्बन्धी सम्बन्ध ज्ञात होता है।

तैत्तिरीयब्राह्मण—तृतीयाष्टक के प्रपाठक १ के अनुवाक १ और २ मे सब नक्षत्र, उनके देवता और नक्षत्र विषयक कुछ चमत्कारिक और मनोरञ्जक वर्णन है। परन्तु ग्रन्थविस्तार होने के भय से वह अनुवाक यहा नही लिखा है। यद्यपि उसमें स्पष्टतया यह नही लिखा है कि अमुक नक्षत्र की अमुक देवता है पर "अग्निर्न पातु कृत्तिका, आर्द्रया रुद्र प्रथमान एति"—इस प्रकार किसी न किसी सम्बन्ध से नक्षत्र और उनके देवता पठित है। उस प्रपाठक के ४ और ५ अनुवाको में भी नक्षत्रो और देवताओ के नाम है। ये दोनो भी बहुत विस्तृत है। उनमें से एक नक्षत्र के वाक्य यहा उद्धृत करते है। अन्य नक्षत्रो के वाक्य भी प्राय इसी ढग के है।

बृहस्पतिर्वा अकामयत। ब्रह्मवर्चसी स्यामिति। स एत बृहस्पतये तिष्याय नैवार चरु पयसि निरवपत्। ततो वै स ब्रह्मवर्चस्य भवत्। ब्रह्मवर्चसी ह वै

भवति। य एतेन हविषा यजते। य उ चैनदेव वेद। सोत्र जुहोति। बृहस्पतये स्वाहा तिष्याय स्वाहा। ब्रह्मवर्चसाय स्वाहेति॥ तै० ब्रा० ३।१।४।६

बृहस्पति ने ब्रह्मवर्चसी होना चाहा। उसने बृहस्पति और तृष्य (पुष्य) को पय मे नीवार का चरू दिया। इस कारण वह ब्रह्मवर्चसी हुआ। जो इस हवि से यज्ञ करता है और इसे जानता है वह ब्रह्मवर्चसी होता है। वह हवन इस प्रकार करता है—बृहस्पतये स्वाहा, तिष्याय स्वाहा, ब्रह्मवर्चसाय स्वाहा।

इस प्रकार नक्षत्रो और देवताओ के नाम चार स्थानो मे आये है। अग्रिम पृष्ठ में नक्षत्रो और देवताओ के लिङ्ग—वचन एकत्र लिखे है। नक्षत्रो और देवताओ के नाम उन चारो स्थानो मे कही-कही भिन्न है, इसलिए उन स्थानो के लिए यहा क्रमश १, २, ३, ४, अङ्क लिखे है। जहा चारो की एकवाक्यता है वहा कोई अङ्क नही लिखा है। तैत्तिरीय-सहिता के अनुवाको के पदो को देखने से ज्ञात होता है कि तदन्तर्गत नक्षत्रो के लिङ्ग और वचन इतर तीन स्थलो के समान ही है। अथर्वसहिता मे नक्षत्रो के नाम इस प्रकार है—

चित्राणि साक दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
अष्टविंश सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भि सपर्यामि नाकम्॥१॥
सुहव में कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्र मृगशिर शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयन मघा मे॥२॥
पुण्य पूर्वाफल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधो विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्॥३॥
अन्न पूर्वा रासन्ता मे अषाढा ऊर्ज ये द्युत्तर आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासता पुण्यमेव श्रवण श्रविष्ठा कुर्वता सुपुष्टिम्॥४॥
आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भग म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥५॥

अथ० स० १९।७

यहा नक्षत्रो के देवता नही बतलाये है। प्रथम मन्त्र से ज्ञात होता है कि नक्षत्र २८ माने है। तैत्तिरीयश्रुति मे उन चारो स्थानो मे से दो स्थलो में अभिजित नक्षत्र का नाम आया है परन्तु स्पष्टतया कही भी यह नही बताया है कि नक्षत्र २७ है या २८। शतपथब्राह्मण मे एक स्थान (१०।५।४५) पर २७ नक्षत्र और २७ उपनक्षत्र बतलाये है। अथर्वसहिता के उपर्युक्त वाक्य मे कृत्तिका शब्द एकवचनान्त ज्ञात होता है, मृगशिर और पुष्य शब्द है, स्वाति शब्द ह्रस्वान्त और पुल्लिङ्गी ज्ञात होता है, अनु-

राधा शब्द एकवचनी है और उसके द्वितीय अक्षर नु मे उ ह्रस्व ज्ञात होता है, श्रवण और भरण्य शब्द हैं—यहा इतनी वाते तैत्तिरीयश्रुति से भिन्न हैं। शेष वातो में दोनो की एकवाक्यता है। कुछ नक्षत्रो के लिङ्ग-वचन अस्पष्ट हैं पर वे तैत्तिरीयश्रुति सरीखे ही होगे तथापि प्रोष्ठपदा के विषय में सन्देह है। कही-कही (२।८।१, ३।७।४) कहा है—'विचृतौ नाम तारके।' मालूम होता है यह मूल नक्षत्र के उद्देश्य मे कहा गया है।

तैत्तिरीयश्रुति के नक्षत्र

अङ्क	नक्षत्र-नाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१	कृत्तिका	अग्नि	स्त्री०	वहु०
२	रोहिणी	प्रजापति	स्त्री०	एक०
३	१,३,४ मृगशीर्ष	सोम	नपुसक	एक०
	२ इन्वका	सोम	स्त्री०	वहु०
४	१, ३, ४ आर्द्रा	रुद्र	स्त्री०	एक०
	२ वाहू	रुद्र	पु०	द्वि०
५	पुनर्वसु	अदिति	पु०	द्वि०
६	तिष्य	वृहस्पति	पु०	एक०
७	आश्लेषा	सर्प	स्त्री०	वहु०
८	मघा	पितृ०	स्त्री०	वहु०
९	१, ३, ४ फल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
	२ पूर्वफल्गुनी	अर्यमा	स्त्री०	द्वि०
१०	१, ३, ४ फल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
	२ उत्तरफल्गुनी	भग	स्त्री०	द्वि०
११	हस्त	सविता	पु०	एक०
१२	चित्रा	१, २ इन्द्र ३, ४ त्वष्टा	स्त्री०	एक०
१३	१ स्वाती २, ३, ४ निष्ट्या	वायु	स्त्री०	एक०
१४	विशाखा	इन्द्राग्नि	स्त्री०	द्वि०
१५	अनूराधा	मित्र	स्त्री०	वहु०

अङ्क	नक्षत्रनाम	देवता	लिङ्ग	वचन
१६	१,२ रोहिणी ३,४ ज्येष्ठा	इन्द्र	स्त्री०	एक०
१७	१ विचृतौ	पितृ	पु०	द्वि०
	२ मूलवर्हणी	निर्ऋति	स्त्री०	एक०
	३ मूल	निर्ऋति	नपु०	एक०
	४ मूल	प्रजापति	नपु०	एक०
१८	१,३,४ अषाढा	आप	स्त्री०	बहु०
	२ पूर्वाषाढा	आप	स्त्री०	बहु०
१९	१,३,४ अषाढा	विश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
	२ उत्तराषाढा	विश्वेदेव	स्त्री०	बहु०
×	३,४ अभिजित्	ब्रह्म	नपु०	एक०
२०	श्रोणा	विष्णु	स्त्री०	एक०
२१	श्रविष्ठा	वसु	स्त्री०	बहु०
२२	शतभिषक्	१,२ इन्द्र	पु०	एक०
		३,४ वरुण	पु०	एक०
२३	१,३,४ प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
	२ पूर्व प्रोष्ठपद	अजएकपाद्	पु०	बहु०
२४	१,३,४ प्रोष्ठपद	अहिर्बुध्निय	पु०	बहु०
	२ उत्तर प्रोष्ठपद	अहिर्बुध्निय	पु०	बहु०
२५	रेवती	पूषा	स्त्री०	एक०
२६	अश्वयुज	अश्विन्	स्त्री०	द्वि०
२७	अपभरणी	यम	स्त्री०	बहु०

तैत्तिरीयब्राह्मण में नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

> प्रवाहुर्वा अग्रे क्षत्राण्यातेपु । तेपामिन्द्र क्षत्राण्यादत्त ।
> न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति । तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ॥
>
> तै० ब्रा० २।७।१८।३

इसका तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि जो क्षत नहीं हैं वे नक्षत्र हैं। निरुक्त में नक्षत्र शब्द का "नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः" इस प्रकार निरूपण करते हुए आगे कहा है—

नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् ।

तैत्तिरीयब्राह्मण में अन्यत्र एक जगह लिखा है—

> सलिल वा इदमन्तरासीत् । यदतरन् । तत्तारकाणा तारकत्वम् । यो वा इह यजते । अमु ँ सलोक नक्षते । तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम् । देवगृहा वै नक्षत्राणि । य एव वेद । गृह्येव भवति । यानि वा इमानि पृथिव्याश्चित्राणि । तानि नक्षत्राणि । तस्मादश्लीलनाम ँ श्चित्रे नावस्येन्न यजेत । यथा पापाहे कुरुते । तादृगेव तत् ॥
>
> तै० ब्रा० १।५।२

बीच में जल था। चूँकि [उसे तैर गयीं] इसलिए तारकाओं को तारकत्व प्राप्त हुआ। जो यहा यज्ञ करता है वह उस लोक में जाता है, इसलिए नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। नक्षत्र देवताओं के गृह हैं। जो यह जानता है वह गृही होता है। ये जो पृथिवी के चित्र हैं वे नक्षत्र हैं। अत अशुभ नामवाले नक्षत्रो में [कोई कार्य] समाप्त नही करना चाहिए और न तो यज्ञ ही करना चाहिए। उसमें कार्य करना पापकारक दिन मे करने के समान ही है।

ये वाक्य बडे महत्व के हैं। तारका शब्द की व्युत्पत्ति केवल शाब्दिक कोटि ज्ञात होती है। दूसरी व्युत्पत्ति गत्यर्थक नक्ष धातु द्वारा बतलायी है। उसकी यह कल्पना कि इस लोक के पुण्यात्मा स्वर्ग में नक्षत्र हो जाया करते हैं, ध्यान देने योग्य है। आज भी ससार के बहुत से राष्ट्रो की यही धारणा होगी। नक्षत्र देवो के गृह हैं, यह वाक्य बडे महत्व का है। यहा नक्षत्रो में सञ्चार करनेवाले प्रत्यक्ष प्रकाशमान ग्रहों को ही देव कहा गया है। मालूम होता है "देवगृहा वै नक्षत्राणि" वाक्य के आधार पर ही "गृह्णातीति ग्रह" व्युत्पत्ति द्वारा शुक्रादि तेजोमय देवताओं को ग्रह कहने लगे होगे।

पृथ्वी के अर्थात् पृथ्वीस्थ पदार्थों के चित्र नक्षत्र हैं, इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि नक्षत्रो के नाम उनकी आकृतियो द्वारा पडे होंगे, पर इसके कुछ अन्य कारण भी ज्ञात होते हैं। अब यह देखना है कि प्रत्येक नक्षत्र की व्युत्पत्ति इत्यादि के विषय मे वेदो मे क्या कहा है। नक्षत्रवाचक शब्दो में से पुनर्वसु, चित्रा, मघा और रेवती शब्द ऋक्सहिता में नक्षत्र-भिन्न अर्थ में आये हैं। वे वाक्य ये हैं—

> अग्नीषोमा पुनर्वसू । अस्मे धारयत रयिम् ॥
>
> ऋ० स० १०।१९।१

सायणाचार्य ने यहां पुनर्वसु का अर्थ "पुन पुनर्वस्तारौ स्तोतॄणामाच्छादयितारौ (देवौ)' किया है। नक्षत्रवाचक पुनर्वसु शब्द द्विवचन मे आया करता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह यहा भी द्विवचन मे ही है।

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय इशे वसूनाम् ॥

ऋ० स० ७।७५।५

उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनुप्रभूता ॥

ऋ० स० ७।७७।३

यहा चित्रामघा का अर्थ विचित्रधना है। मघ शब्द के विषय में यास्क ने लिखा है—

मघमिति धननामधेय महतेर्दानकर्मण ।

निरुक्त १।७

स्वस्ति पथ्ये रेवती।

ऋ० स० ५।५१।१४

उपमास्वबृहती रेवतीरिषोधि स्तोत्रस्य पवमान नोगहि ।

ऋ० स० ९।७२।९

यहा रेवती का अर्थ धनवती है।

इन चारो मे से कुछ शब्द उपर्युक्त अथवा तत्सदृश अर्थ में कुछ अन्य स्थलो में भी आये है। इससे अनुमान होता है कि पुनर्वसु, मघा, चित्रा और रेवती शब्द भाषा मे पहिले ही से प्रचलित थे पर बाद मे तत्तत् नक्षत्रो के दर्शनीयत्व, धनदातृत्व इत्यादि प्रत्यक्ष, कल्पित या अनुभत गुणो के आधार पर उनका प्रयोग नक्षत्र अर्थ मे किया जाने लगा। कुछ अन्य नक्षत्रो के विषय मे भी ऐसा कहा जा सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण की रोहिणी, मृग और मृगव्याध सम्बन्धी निम्नलिखित कथा बडी चमत्कारिक है। उसमे इन सज्ञाओ के कारण भी बताये है।

> प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषस-मित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहित भूतामभ्यैत् त देवा अपश्यन्न-कृत वै प्रजापति करोतीति ते तमैच्छन्य एनमारिष्यत्येतमन्योन्य स्मिन्नाविदस्तेषा या एव घोरतमास्तन्व आसस्ता एकधा समभरस्ता सभृता एष देवो भवत्तदस्यै तद्भूतवन्नाम भवति वै स योस्यैतदेवन्नाम वेद तं देवा अब्रुवन्नय वै प्रजापतिरकृत-मकरिम विध्येति स तथेत्यब्रवीत्स वै वो वर वृणा इति वृणीष्वेति स

एतमेव वरमवृणीत पशूनामाधिपत्यं तदस्यैतत्पशुमन्नाम पशुमान्भवति योऽस्यै तदेव नाम वेद तमभ्यायत्याविध्यत्स विद्ध उर्ध्वउदप्रपत तमेत मृगइत्याचक्षते य उ एव मृगव्याध स उ एव स या रोहित् सा रोहिणी यो एवेषुस्त्रिकाण्डासो एवेषु त्रिकाण्डा तद्वा इद प्रजापतेरेतत् सिक्तमधावत्तत् सरोऽभवत् ॥

ऐ० ब्रा० १३।९

प्रजापति ने अपनी कन्या की अभिलाषा की। कोई कहता है उसने द्यु की अभिलाषा की और कोई कहता है उषा की। वह रोहित हो गयी। प्रजापति ऋष्य बनकर उसके पास गया। उसे देवताओं ने देखा [और वे कहने लगे कि] प्रजापति अकृत करता है। वे उसे मारनेवाला ढूंढने लगे, पर उनमें कोई वैसा न मिला तब उन्होंने अपने अत्यन्त घोर तनु एकत्र किये। उनसे भूतवत् नामक एक देव हुआ। जो उसके इस नाम को जानता है वही उत्पन्न हुआ। देवताओं ने उससे कहा कि इस प्रजापति ने अकृत किया है। इसे विद्ध करो। उसने कहा, अच्छा। उसने कहा, हम आप से वर मांगते हैं। उन्होंने कहा मांगो। उसने पशुओं का आधिपत्य मांगा, इसलिए उसका नाम पशुमान् [हुआ]। जो उसका यह नाम जानता है वह पशुमान होता है। [उसने] जाकर उसे वेधित किया। वह विद्ध होकर ऊपर गया। उसे मृग कहते हैं और मृगव्याध वह है [जिसने विद्ध किया]। जो रोहित [हुई थी] वह रोहिणी और जो तीन काण्डों का बाण था वही यह [आकाशस्थ] त्रिकाण्ड बाण है।
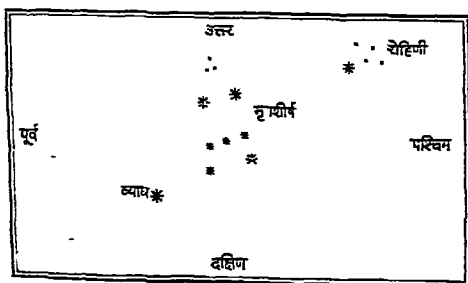
इस चित्र में मृगनक्षत्र में सब १० तारे दिखाये हैं। उनमें बीच में एक सीधी

रेखा मे जो तीन तारे है वह त्रिकाण्ड बाण है। उसके चारो ओर के चार तारे मृग के चार पैर है और इन सब के उत्तर पास-पास जो तीन तारे है वह मृग का शीर्ष है।[1] इन दस तारो के पास आकाश मे छोटे-छोटे कुछ और भी तारे दिखायी देते है। इन सबो के सयोग से एक पुञ्ज बनता है उसे यूरोपियन ज्योतिष मे ओरायन कहते है। चित्र के इन तारो को देखने से अनुमान होता है कि रोहिणी, मृग और मृगशीर्ष नाम आकृति द्वारा पडे होगे। जब ये तारे खमध्य मे आकर पश्चिम ओर लटकने लगते है उस समय रोहिणी को मृग और मृग को व्याध खदेडता हुआ ज्ञात होता है। रोहिणीप्रजापति-कथा की कल्पना सम्भवत इसी आधार पर हुई होगी।

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।१।१०) मे यह कथा कुछ भिन्न है। उसका साराश यह है कि "प्रजापति ने प्रजाए उत्पन्न की। उसके वीर्य से विराट् उत्पन्न हुई। देवासुरो ने उसका ग्रहण किया। प्रजापति ने कहा कि यह मेरी है। वह पूर्व दिशा मे गयी। प्रजापति उधर गया। इस प्रकार वह सरक्षण के लिये अनेको स्थानो मे घूमी"। अन्त मे कहा है कि—

> सा तत ऊर्ध्वारोहत्। सा रोहिण्यभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
> रोहिण्यामग्निमादधीत। स्व एवैन योनौ प्रतिष्ठितमाधत्ते।
> ऋध्नोत्येतेन ।।

तै० ब्रा० १।१।१०।६

आकाश मे आरोहण करने के कारण रोहिणी मे रोहिणीत्व आया। दूसरे स्थान मे रोहिणी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

> प्रजापति रोहिण्यामग्निमसृजत। त देवा रोहिण्यामादधत।
> ततो वै ते सर्वान् रोहानरोहन्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्।
> रोहिण्यामग्निमाधत्ते। ऋध्नोत्येव। सर्वान् रोहान् रोहति।।

तै० ब्रा० १।१।२

[1] मैने यहां उत्तर के छोटे-छोटे तीन तारो को ऐतरेयब्राह्मणानुसार शीर्ष कहा है और ज्योतिषसिद्धान्तो मे भी इन्ही को शीर्ष कहा है (आगे नक्षत्राधिकार देखिये)। श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने ओरायन (Orion) नामक इंगलिश ग्रन्थ मे बाण के तीन, उसके दक्षिण के दो तारो मे से पश्चिमस्थित एक और इस चित्र मे न दिखाये हुए इनके आस-पास के कुछ अन्य तारो को मिला कर मृगशीर्ष की आकृति बतलायी है।

तैत्तिरीयब्राह्मण में कुछ अन्य नक्षत्रों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

> देवा वै भद्रा सन्तोग्निमाधित्सन। तेषामनाहितोग्निरासीत्। अथैभ्यो वाम वस्वपाक्रामत्। ते पुनर्वस्वोरादधत। ततो वै तान् वाम वसूपावर्तत। य पुरा भद्र सन् पापीयान्त्स्यात्। सपुनर्वस्वोरग्निमादधीत। पुनरेवैन वाम वसूपावर्तते। भद्रो भवति॥

तै० ब्रा० १।१।२

"भद्र रहते हुए देवताओं ने अग्नि का आधान करने की इच्छा की [परन्तु] उनकी अग्नि अनाहित ही रह गयी। इस कारण उत्तम वसु उनके पास से निकल गये। उन्होंने पुनर्वसु [नक्षत्र] में आधान किया। उस समय उत्तम वसु पुन उनके पास आये"। पुनर्वसु शब्द के पुन और वसु द्वारा अन्य दो-तीन स्थानों में कुछ और कल्पनाएं की हुई हैं। अनुराधादि कुछ नक्षत्रसज्ञाओं की व्युत्पत्ति निम्नलिखित वाक्यों में है—

> अन्वेषामरात्स्मेति। तदनूराधा। ज्येष्ठमेषामवधिष्मेति। तत् ज्येष्ठघ्नी। मूलमेषामवृक्षामेति। तन्मूलबर्हणी। यन्नासहन्त। तदषाढा। यदश्रोणत्। तच्छ्रोणा। यदशृणोत् तच्छ्रविष्ठा। यच्छतमभिषज्यन्। तच्छतभिषक्। प्रोष्ठपदेषूदयच्छन्त। रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।

तै० ब्रा० १।५।२

इसके भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है कि देवासुरयुद्ध के विषय में देवताओं का कथन है कि "ज्येष्ठा नक्षत्र में हमने इनमें का ज्येष्ठ मारा, इसलिए ज्येष्ठघ्नी . " इत्यादि।

हस्त नक्षत्र के पाच तारों के सयोग से हाथ के पञ्जे सरीखी आकृति बनती है, इसलिए उसका नाम हस्त पड़ा। निम्नलिखित तैत्तिरीयब्राह्मणोक्त नक्षत्रीय प्रजापति की आकृति की कल्पना ध्यान देने योग्य है।

> यो वै नक्षत्रिय प्रजापतिं वेद। उभयोरेन लोकयोर्विदु। हस्त एवास्य हस्त.। चित्रा शिर। निष्टचा हृदय। ऊरू विशाखे। प्रतिष्ठानूराधा। एष वै नक्षत्रिय प्रजापति॥

तै० ब्रा० १।५।२।२

. हस्त (नक्षत्र) उसका हाथ, चित्रा शिर, निष्ट्या हृदय, विशाखा के दो तारे दो जघा और अनुराधा खडा रहने का स्थान है। यह नक्षत्रिय प्रजापति है।

यदि यह कल्पना करे कि इस पुरुष ने मस्तक की एक ओर हाथ उठाया है तो वर्तमान आकाशस्थिति से यह आकृति ठीक मिलती है, केवल स्वाती हृदयस्थान मे नही आती पर स्वाती तारा की निजगति Proper motion अन्य तारो की अपेक्षा वहुत अधिक है, अत वह प्राचीन काल मे किसी समय हृदयस्थान मे अवश्य रहा होगा।

नक्षत्र विषयक उपर्युक्त वचनो मे नक्षत्रो की तारासख्या जानने मे वडी सहायता मिलती है। मृग के शीर्षादि स्थानो मे स्थित सब तारो के सयोग से जो पुञ्ज वनता है उसका नाम मृग है और हस्त के पाच तारो के समूह का नाम हस्त है, इसलिए मृग और हस्त शब्दो के एकवचनीय होते हुए भी उनमे तारो की सख्या अधिक है। मृगशीर्ष की उपर्युक्त इन्वका सज्ञा वहुवचन मे ही है। शेष नक्षत्रो में से रोहिणी, आर्द्रा, तिष्य, चित्रा स्वाती, ज्येष्ठा, मूल, श्रोणा, शतभिषक् और रेवती, ये १० एकवचन में है। इससे उनकी तारासख्या एक-एक ही सिद्ध होती है। पुनर्वसु, पूर्वफल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, विशाखा और अश्वयुज, ये पाच द्विवचनी है, अत इनमें दो-दो तारे है। शेष कृत्तिका आश्लेषा, मघा, अनूराधा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रविष्ठा, पूर्वप्रोष्ठपद, उत्तरप्रोष्ठपद और अपभरणी, ये १० नाम वहुवचन मे है, अत इनके तारो की सख्या दो से अधिक होनी चाहिए। इनमें से निम्नलिखित वाक्य द्वारा कृत्तिका नक्षत्र के ७ तारे सिद्ध होते है।

> अम्वायै स्वाहा दुलायै स्वाहा। नितत्न्यै स्वाहा भ्रयन्त्यै स्वाहा।
> मेघयन्त्यै स्वाहा वर्षयन्त्यै स्वाहा। चुपुणीकायै स्वाहा॥
>
> तै० व्रा० ३।१।४

नक्षत्रेष्टि के कृत्तिकेष्टि मे ये वाक्य आये है। उन सातो के अम्वा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती और चुपुणीका, ये सात नाम है।

> चतस्रो देवीरजरा श्रविष्ठा॥
>
> तै० व्रा० ३।१।२

इससे श्रविष्ठा के चार तारे ज्ञात होते है। तैत्तिरीयव्राह्मण ३।१।२ के निम्नलिखित वाक्य से उत्तर प्रोष्ठपदा के चार तारे ज्ञात होते है।

> प्रोष्ठपदासो अभिरक्षन्ति सर्वे। चत्वार एकमभि कर्म देवा।
> प्रोष्ठादास इति यान् वदन्ति। ते वुध्निय परिषद्यँ स्तुवन्त।
> अहिँ रक्षन्ति नमसोपसद्य॥
>
> तै० व्रा० ३।१।२

शतपथब्राह्मण मे लिखा है कि अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन या चार है पर ये कृत्तिकाए बहुत है।

एक द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका ॥

शत० ब्रा० २।१।२।२

इससे सिद्ध होता है कि कृत्तिका को छोड अन्य किसी भी नक्षत्र के तारे चार से अधिक नही है, कम से कम कृत्तिका से अधिक तो नही ही है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-ग्रन्थोक्त और तैत्तिरीयश्रुति मे बतायी हुई तारो की सख्या और देवताओ की तुलना आगे द्वितीय भाग मे करेगे।

वेदो मे २७ नक्षत्रो के अतिरिक्त कुछ अन्य तारो का भी उल्लेख है।

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तन्ददृशे कुहचिद्दिवेयु ॥

ऋ० स० १।२४।१०

ये जो ऋक्ष¹ [आकाश के] उच्च प्रदेश में रखे हुए रात को दिखायी देते है वे दिन मे कही चले जाते है। शतपथब्राह्मण २।१।२।४ में लिखा है—

सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।

प्राचीनकाल मे सप्तर्पियो को ऋक्ष कहते थे। ताण्ड्यब्राह्मण (१।५।५) के निम्नलिखित वाक्य में भी सप्तर्पियो का उल्लेख है।

ऊर्ध्व सप्तऋषीनुपतिष्ठस्व।

तैत्तिरीयब्राह्मण मे एक स्थान पर कृत्तिकादि कुछ नक्षत्रो मे अग्न्याधान करने को कहा है और उसके बाद चित्रा नक्षत्र सम्बन्धी कुछ बाते है। वह इस प्रकार है—

कालकञ्जा वै नामासुरा आसन्। ते सुवर्गाय लोकायाग्नि-मचिन्वत। पुरुप इष्टकामुपादधात् पुरुप इष्टकाम्। स इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाण इष्टकामुपाधत्त। एपा मे चित्रानामेति। ते सुवर्ग लोकमाप्रारोहन्। स इन्द्र इष्ट-कामावृहत्। ते वाकीर्यन्त। ये वाकीर्यन्त। त ऊर्णाविभयोभवन् द्वावुदपतताम्। तौ दिव्यौ श्वानावभवताम्॥

तै० ब्रा० १।१।२

¹यूरोपिअन ज्योतिषमें सप्तर्षि नामक नक्षत्रपुञ्ज का ऋक्ष (रीछ) इस अर्थ काही नाम है।

स्पष्ट है कि यहा किसी दो तारो या तारकापुञ्जो के विषय मे कहा है कि दो ऊपर गये और वे दिव्य श्वान हो गये।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥२॥ ये त्रय कालकञ्जा दिवि देवा इव श्रिता । तान् सर्वानह्व ऊतये ॥

अथ० स० ६।८०

यहा एक दिव्य (आकाशीय) श्वा और आकाश मे देवताओ के समान तीन कालकञ्ज बताये है।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ॥

ऋ०स० १०।१४।११

यहा दो श्वानो का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसहिता (१८।२।१२) मे भी "यौ० पथिषदि नृचक्षसा"—इस प्रकार है।

मृग नक्षत्र के पूर्व मे आकाशगङ्गा की दोनो ओर दो तारकापुञ्ज है। यूरोपिअन ज्योतिष मे उन्हे Canis major (बृहल्लुब्धक) और Canis minor (लघु लुब्धक) कहते है। प्रथम मे लुब्धक (व्याध) और द्वितीय मे पुनर्वसु के चार तारो मे से दक्षिण के दो तारे बडे है। मालूम होता है ये ही दोनो पुञ्ज वेदोक्त दो श्वान है।

दैवी नाव स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारूहेमा स्वस्तये ॥

ऋ०स० १०।६३।१०

इस ऋचा मे आकाशनौका का उल्लेख है। यह मन्त्र अथर्वसहिता ७।६।३ में भी है।

हिरण्मयी नौचरद्धिरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवा कुष्टमवन्वत ॥

अथ० स० ५।४।४, ६।९५।२

अथर्वसहिता के इस मन्त्र मे भी आकाश की सुवर्णनौका का उल्लेख है। यहा पुष्प शब्द का सम्बन्ध पुष्य नक्षत्र से दिखायी देता है। यूरोपियन ज्योतिष में पुनर्वसु और पुष्य के दक्षिण ओर के पासवाले ही एक तारकापुञ्ज का नाम Navis (नौ) है। मालूम होता है यही वेदोक्त नौ है।

अब वेदों मे वर्णित ज्योतिष सम्बन्धी अन्य विषयो का विवेचन करेंगे। ऋक्-सहिता में ग्रहण के विषय मे लिखा है—

यत्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुर । अक्षेत्रविद्यथामुग्धो भुवनान्यदीधयु ।५।

ग्रहण

स्वर्भानोरधयीन्दद्र मायाऽअवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळ्ह सूर्य तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाऽविन्ददत्रि ।।६।।

मामामिम तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारित् । त्व मित्रो असि सत्य-राधास्तौ मेहावत वरुणश्च राजा ।।७।। ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजान सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् । अत्रि सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत।।८।। य वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विन्ध्यदासुर । अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।९।।

ऋ० स० ५।४०

हे सूर्य, जब आसुर स्वर्भानु ने तम से तुम्हें आच्छादित किया उस समय सब भुवन ऐसे दिखलायी पडे मानो [वहा का] सम्पूर्ण जनसमूह [अपना-अपना] स्थान भूलकर मुग्ध हो गया है ।।५।। हे इन्द्र ! तुम द्यू के नीचे रहनेवाली स्वर्भानु की मायाओं का नाश करते हो। अपव्रत तम से आच्छादित सूर्य को अत्रि ने तुरीय ब्रह्म द्वारा प्राप्त किया ।।६।। हे अत्रे ! अन्न की इच्छा से द्रोह करनेवाला वह आसुर इस [अवस्था को प्राप्त हुए] मुझे भयोत्पादक अन्धकार द्वारा निगल न जाय। तुम मित्र हो और सत्यधन हो। तुम और वरुण दोनो यहा मेरा रक्षण करो ।।७।। अत्रि ने ब्राह्मण ग्रावा की योजना करके [देवताओ के लिए सोम निकाल कर] और इस प्रकार स्तोत्रो से देवताओ की पूजा कर और नमस्कार कर स्वर्भानु की मायाए दूर की और सूर्य के प्रकाश के स्थान में [अपना] नेत्र रख दिया (उसने देखा कि सूर्य निस्तमस्क हो गया है)[१]। जिस सूर्य को स्वर्भानु ने अन्धकार से आच्छादित किया उसे अत्रि ने प्राप्त किया। दूसरा कोई प्राप्त न कर सका ।।९।।

इस वर्णन में दो तीन बातें बडे महत्व की है। पहिली यह कि ग्रहण का यह वर्णन अत्यन्त भीतिदर्शक नही है। सूर्यग्रहण यद्यपि बहुत होते है परन्तु एक स्थान में उनमें से कुछ ही दिखायी देते है और उसमें भी खग्रास बहुत कम होता है। इगलैण्ड में सन् ११४० की २० वी मार्च को खग्रास सूर्य ग्रहण हुआ था। उसके बाद पुन सन् १७१५ के अप्रैल की २२वी तारीख को हुआ अर्थात् बीच के ५७५ वर्षो में खग्रास नही हुआ। भारतवर्ष में खग्रास सूर्यग्रहण हुए बिना इतना समय बीतना असम्भव है तथापि यह प्रसङ्ग एक मनुष्य के जीवन में एक दो बार ही आता है। उपर्युक्त ऋचा में खग्रास सूर्यग्रहण का वर्णन है पर

[१] सायण ने तृतीय पद का एक अन्य अर्थ किया है। ऋचा के शेष भाग का भी उनका अर्थ कुछ भिन्न है।

वह अत्यन्त आश्चर्य या भीति दर्शक नही है। इससे ज्ञात होता है। कि उस समय लोग ग्रहण से पूर्ण परिचित हो चुके थे और उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार की भीति नही रह गयी थी। दूसरी बात यह है कि केवल अत्रि ने ही सूर्य को प्राप्त किया, अन्य कोई प्राप्त न कर सका, इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय केवल अत्रिकुल के पुरुषो को ही सूर्यग्रहण का ज्ञान था। अब यहा प्रश्न यह है कि ग्रहण लगने पर एक छोटा सा बच्चा भी जान सकता है कि ग्रहण लगा है, फिर अत्रि के अतिरिक्त अन्य कोई सूर्य को नही छुडा सका—इसका अर्थ क्या है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि ग्रहण-मोक्षकाल केवल अत्रि ही जानते थे अर्थात औरो की अपेक्षा उनका ग्रहणसम्बन्धी ज्ञान अधिक था। इससे ज्ञात होता है कि ग्रहण के स्पर्श-मोक्ष-काल का सूक्ष्मतर ज्ञान न रहा हो, पर जैसा कि प्राचीन खाल्डियन लोगो के विषय में कहा जाता है कि वे यह जानते थे कि ६५८६ दिनो मे अर्थात् २२३ चान्द्रमासो मे पहिले के ही ग्रहण पुन -पुन आते है, उसी प्रकार अत्रिकुल के पुरुषो को भी इतना ज्ञान अवश्य रहा होगा। तीसरी बात यह कि यद्यपि उपर्युक्त ऋचा मे एक बार कहा है कि स्वर्भानु सूर्य को न निगले तथापि उसने तम से सूर्य को आच्छादित किया, ऐसा तीन-चार बार कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्भानु तम से भिन्न है। अमावास्या को चन्द्रमा सूर्य मे प्रवेश करता है—इस अर्थका द्योतक ऐतरेयब्राह्मण का एक वाक्य ऊपर पृष्ठ मे लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय कदाचित् लोग ग्रहण का वास्तविक कारण न जानते रहे हो, पर उस ओर उनका झुकाव हो चुका था, इसमे सन्देह नही है। चन्द्रमा और सूर्य को स्वर्भानु निगल जाता है, यह कल्पना पीछे से प्रबल हुई होगी।

ताण्ड्यब्राह्मण मे ग्रहण का उल्लेख ४।५।२, ४।६।१३, ६।६।८, १४।११।१४, १५, २३।१६।२ इन पाच स्थानो में है। उनमें यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया। उन पाचो में से ६।६।८ और १४।११।१४,१५ इन दो स्थानो मे कहा है कि अत्रि ने भास (तेज) द्वारा अन्धकार का नाश किया और शेष तीन स्थानो मे देवो को अन्धकार का नाशक कहा है पर वहा भी देव शब्द का अर्थ सूर्यरश्मि ज्ञात होता है। गोपथब्राह्मण ८।१९ मे यह वर्णन है कि स्वर्भानु ने तम मे सूर्य को वेधित किया और अत्रि ने उसका अपनोद किया। शतपथब्राह्मण ५।३।२२ मे कहा है कि स्वर्भानु ने तम से सूर्य को वेधित किया और सोम तथा रुद्र ने उस तम का नाश किया।

ग्रह

नव ग्रहो में से सूर्य-चन्द्रमा का उल्लेख वेदो मे सैकडो स्थानो मे है और राहु-केतु

अदृश्य ही हैं, अवशिष्ट भौमादि पाच ग्रह ही वास्तविक सूर्यमाला के ग्रह हैं, परन्तु वेदो मे हमे इन पाचो अथवा इनमे से कुछ के विषय मे स्पष्ट उल्लेख कही नही मिला, फिर भी अनुमान करने योग्य स्थल बहुत से हैं। ऋक्संहिता १।१०५।१० मे लिखा है—

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिव । देवत्रा नु प्रवाच्य सध्रीचीनानि वावृतुर्वित्त मे अस्य रोदसी ।।

ये जो महाप्रबल पाच [देव] विस्तीर्ण द्युलोक के मध्य मे रहते हैं उनका मै स्तोत्र बना रहा हू। एक साथ आनेवाले होते हुए भी [आज] वे सब चले गये हैं।

यद्यपि यहा देव शब्द प्रत्यक्ष नही है तथापि पूर्वापर-सन्दर्भ मे ज्ञात होता है कि वह विवक्षित अवश्य है। यहाँ ये एक साथ आनेवाले कहे हैं, पर आकाश मे इन पाचो के एक साथ दिखायी देनेका प्रसङ्ग बहुत कम आता है और बुध-शुक्र तो आकाशके मध्य भाग में कभी भी दिखायी नही देते पर 'दिव मध्ये' का अर्थ "आकाशमे" भी हो सकता है और केवल उस स्थिति को छोड कर जब कि कोई ग्रह अस्त रहता है, रात भर मे किसी न किसी समय उन पाचो का दर्शन हो ही जाता है। सृष्टिचमत्कार और प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले तेजही वेदोक्त देव हैं और देव शब्दका धात्वर्थ भी 'प्रकाश करने वाला' ही है। जैसे दो देव कहने से अश्विनो का और ३३ देव कहने से द्वादश आदित्य इत्यादिको का ग्रहण होता है उस प्रकार कोई पाच देव प्रसिद्ध नही है। ऋक्संहिता में एक अन्य स्थान (१०।५५।३) मे भी पञ्चदेव शब्द आया है, अत पञ्चदेव का अर्थ ग्रह हो सकता है। उपर्युक्त "देवगृहा वै नक्षत्राणि" अर्थात् नक्षत्र देवो के गृह हैं, वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है और इसी वाक्य से यह भी ज्ञात होता है कि वेदकाल में ग्रहो का ज्ञान था।

हमारे यहा वृद्ध से बालक तक प्राय गुरु और शुक्र को और उसमें भी शुक्र को विशेषत पहचानते हैं। कभी तो वह प्रात काल पूर्व में बहुत दिनो तक दिखायी देता रहता है और कभी सायकाल मे पश्चिम ओर। वह लगभग प्रति २० मासो मे ९ मास पूर्व में प्रात काल दिखायी देता है। हमारे प्राचीन ऋषि जो कि उष काल के पहिले ही जागृत हो स्नानादि से निवृत्त हो कर यजन करने लग जाते थे उन्हे प्रत्येक २० मासो मे आठ नौ मास दिखायी देनेवाला और शेष महीनो मे दिखायी न देनेवाला तथा आकाश की ओर देखने से ध्यान को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेनेवाला शुक्र सरीखा तेज आश्चर्य और आनन्द दायक न हुआ होगा एवञ्च इतर तारो की अपेक्षा इसकी गति कुछ भिन्न है अर्थात् ज्योतिष-शास्त्र की भाषानुसार वह ग्रह है, यह बात उनके ध्यान मे नही आयी होगी—

यह सर्वथा असम्भव है। वस्तुत प्राचीनतम वेदसूक्तो के रचनाकाल मे ही इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने के वाद उन्होने गुरु और शुक्र मे देवत्व की कल्पना की[1]। वेदो मे अश्विनौ नाम के जो दो देवता प्रसिद्ध हे उनकी कल्पना गुरु और शुक्र द्वारा ही हुई है—यह मेरा मत है। शुक्र प्रत्येक २० मास मे ९ मास प्रात काल पूर्व मे दिखायी देता है और प्राय हर वार लगभग दो-तीन मास तक गुरु उसके साथ रहता है। उसमे भी कुछ दिनो तक तो वह वहुत ही पास रहता है। उसके वाद शुक्र की गति अधिक होने के कारण गुरु उसके पीछे अर्थात् पश्चिम ओर रह जाता है और उसका उदय क्रमश शुक्र के पहिले होने लगता है। कुछ दिनो मे यह परिस्थिति आ जाती है कि प्रात काल पूर्वक्षितिज में शुक्रोदय के समय गुरु पश्चिम-क्षितिज के पास तक पहुचा रहता है और उस समय ऐसा ज्ञात होता है कि मानो गुरु ने सम्पूर्ण आकाश पार कर लिया है। गुरु और शुक्र के आश्विनत्व की कल्पना उस समय हुई होगी जव कि वे एकत्र रहे होगे। कुछ दिनो वाद उनमे से एक (शुक्र) को सदा सूर्य के पास और दूसरे (गुरु) को सम्पूर्ण आकाश में भ्रमण करते हुए देखकर निम्नलिखित कल्पना हुई होगी।

ईमान्यद्वपुषे वपुश्चक्रं रथस्य येमथु।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजांसि दीयथ ॥

ऋ० सं० ५।७३।१

हे अश्विनो! आपने अपने रथका एक तेजस्वी चक्र सूर्य के पास उसकी शोभा के लिए नियमित कर रखा है [और] दूसरे चक्र से आप .लोको की प्रदक्षिणा करते है।

[1] पुस्तक का यह भाग मैने ३० दिसम्बर सन् १८८७ को लिखा है। यह टिप्पणी भी उसी समय की है। गत २६ सितम्बर को पूर्व में शुक्र का और २१ नवम्बर को गुरु का उदय हुआ अर्थात् २१ नवम्बर से वे दोनो प्रात.काल पूर्व में एक साथ दिखायी देने लगे। इधर दो-तीन दिनो से वे विलकुल पास-पास दिखायी दे रहे है। १८८८ की दूसरी जनवरी को उनका अन्तर परमाल्प होगा अर्थात् युति होगी। पहिली जून के लगभग पूर्व में शुक्र का उदय होने के समय गुरु पश्चिम में डूबता हुआ दिखायी देगा और उसी के आसपास शुक्र पूर्व में अस्त होगा। कल प्रात. एक ज्योतिषानभिज्ञ मनुष्य मुझसे कहने लगा कि देखिये ये दो ग्रह पास-पास दिखायी दे रहे है, अतः इस परिस्थिति में हमारे प्राचीन ऋषियो का ध्यान गुरु-शुक्र की ओर आकर्षित नहीं हुआ होगा, यह सर्वथा असम्भव है।

यहा सूर्य के पासवाले चक्र की शुक्र से और दूसरे चक्र की गुरु से वटी उत्तम सङ्गति लगती है।

निरुक्त में अश्विनो की गणना द्युस्थानीय देवो में है और उनका समय अर्थात् उनकी स्तुति इत्यादि का काल मध्यरात्रि के वाद वताया है। ऋग्वेद के आश्विनसूक्त में भी उषा का कुछ न कुछ सम्वन्ध आता है और हमारे ऋषि उप काल में जागृत होते थे। अत॰ उस समय उनका ध्यान आकाश की ओर अवश्य जाता रहा होगा। इससे भी उपर्युक्त कल्पना की पुष्टि होती है। इन हेतुओं से मुझे नि नचय प्रतीत होता है कि गुरु-शुक्र ही वेदोक्त अश्विनौ हैं।

वृहस्पति के ग्रहत्व के विषय में स्वतन्त्र कल्पना भी मिलती है।

वृहस्पति प्रथमञ्जायमानो महो ज्योतिष परमे व्योमन्।

ऋ० म० ४।५०।४ अथ० म० २०।८८।४

वृहस्पति प्रथम महान् प्रकाश के अत्यन्त उच्च स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। यह वाक्य तैत्तिरीयब्राह्मण (२।८।२) में भी है। मालूम होता है, इसमें वृहस्पति तारा रूपी देवता माना गया है। तैत्तिरीयब्राह्मण (३।१।१) के निम्नलिखित वाक्य में कहा है कि वृहस्पति प्रथम तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ।

वृहस्पति प्रथमञ्जायमानो तिष्य नक्षत्रमभिसम्बभूव ॥

वृहस्पति का परमशर लगभग १ अश ३० कला है अत उनकी निकटयुति २७ नक्षत्रो में से केवल पुष्य, मघा, विशाखा (आल्फालिव्रा), अनुराधा, शतभिषक् और रेवती, इन छ के साथ ही हो सकती है। वृहस्पति और पुष्य नक्षत्र के योगतारे की कभी-कभी इतनी निकटयुति हो जाती है कि वे दोनो मिलकर एक हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि गुरु जव पुष्य के योगतारा से इस प्रकार युति करके थोडा आगे वढा होगा और उससे भिन्न दिखायी देने लगा होगा उस समय लोगो ने यह कल्पना की होगी कि वृहस्पति तिष्य नक्षत्र के पास उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उसकी गति अर्थात् उसके ग्रहत्व का ज्ञान हुआ होगा। तिष्य नक्षत्र का देवता वृहस्पति है। आजकल भी गुरु-पुष्य-योग वडा उत्तम माना जाता है।

शुक्र

ऋक्सहिता १०।१२३ में लिखा है कि—यह वेन उदित हुआ है।

अय वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसोविमाने ॥

यह सूत्र वेनदेवतात्मक है। वर्णन के ढग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त आकाशस्थ किसी बृहत् ज्योति अर्थात् तारा या ग्रह के उद्देश्य से कहा गया है। वेद के कुछ अन्य वर्णनो से ज्ञात होता है कि यह सूक्त शुक्र विषयक है। यज्ञो मे जिन पात्रो मे सोमरस रखा जाता है उन्हे सोमरस ग्रहण करने के कारण ग्रह कहते है। यज्ञ के समय पहिले सोम को ग्रह मे रखते है और बाद मे उसकी आहुति देते है। उस आहुति को भी शायद ग्रह ही कहते है। अग्निष्टोम यज्ञ मे शुक्र और मन्थी नाम के दो ग्रह रहते है। शतपथब्राह्मण (४।२।१) मे उनके विषय मे कहा है—

चक्षुपी ह्वा अस्य शुक्रामन्थिनौ। तद्वा एष एव शुक्रो य एप तपति तद्यदेप एतत्तपति तेनैपशुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी ॥१॥ इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुच कुर्वन्ति। अय वेनश्चोदयात् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति तदेतस्य रूप कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायूरिति ॥८॥

शुक्र और मन्थी इसके चक्षु है। यह जो प्रकाशित होता है वही शुक्र है। यह प्रकाशित होता है इसलिए शुक्र है। चन्द्रमा ही मन्थी है। 'अय वेनश्चोदयत् .' ऋचा को ही कोई कोई शुक्र की पुरोरुच् करते है। 'ज्योतिर्जरायु' कहा है। 'य एप तपति' ऐसा इसका रूप करते है अर्थात् इसके रूप का वर्णन करते है। इससे सिद्ध होता है कि वेन और शुक्र एक ही पदार्थ है। यहा चन्द्रमा को मन्थिन कहा है परन्तु मन्थिन् शब्द से शनि का भी ग्रहण करने का सम्प्रदाय है।

लैटिन भापा मे शुक्र का एक नाम वीनस् Venus है। शुक्र का ग्रीक रूप Kupros था। ग्रीक लोग शुक्र देवता को स्त्रीलिङ्गी मानते थे इसलिए उनका रूप Kupris हुआ। इसका लैटिन रूप Cypris है। Venus और Kupris अथवा Cypris शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है और इनका वेन और शुक्र मे सादृश्य है[1] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे जिस समय यूरोपीय और भारतीय आर्य एकत्र रहते थे उसी समय उन्हें शुक्र के ग्रहत्व का ज्ञान हो चुका था।

वस्व्यसि रुद्रास्यदितिरस्यादित्यासि शुक्रासि चन्द्रासि बृहस्पतिस्त्वा सुम्ने रण्वतु ॥
तै० स० १।२।५

[हे सोमक्रयणि] तू वस्वी (वस्वादि देव रूप) है, रुद्रा है, अदिति है, आदित्या है, शुक्रा है, चन्द्रा है। बृहस्पति तुझे [इस] सुखप्रदेश मे रमण करावे।

[1] यह सादृश्य भी बाल गंगाधर तिलक ने सुझाया।

यह कथन उस गाय के विषय मे है जिसे देकर सोम मोल लेना पडता है। आदित्य सम्बन्धी गाय का नाम आदित्या है। गायो के विशेषण होने के कारण यहा आदित्या, शुक्रा और चन्द्रा प्रयोग स्त्रीलिंगी है। मालूम होता है यहा भी शुक्रा प्रयोग शुक्र ग्रह के ही उद्देश्य से किया गया है।

उत्पाता पार्थिवान्तरिक्षाछ नो दिविचरा ग्रहा ॥७॥ शन्नो भूमिर्वेपमाना शमुल्कानिर्हतञ्च यत् ॥८॥ नक्षत्रमुल्काभिहत शमस्तु ॥९॥ शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसा शमादित्याश्च राहुणा ॥ शन्नो मृत्युर्धूमकेतु श रुद्रास्तिग्म तेजस ॥१०॥
अथ० म० १९।९

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्वसहिताकाल मे कुछ आकाशस्थ पदार्थो के लिये ग्रह शब्द का प्रयोग किये जाने लगा था। राहुसहित चान्द्रमस ग्रह कल्याणकारण हो, यह वाक्य चन्द्रसूर्य ग्रहणकारक ग्रहो के उद्देश्य से और 'दिविचर ग्रह कल्याणकारक हो' वाक्य शुक्रादि ग्रहो के उद्देश्य से कहा गया होगा।

जर्मन प्रो० वेबर का कथन है कि हिन्दुओ ने नक्षत्र भी बाबिलोनिअन लोगो से लिये है पर उन्होने भी लिखा है कि—ग्रहो के नामो से ज्ञात होता है कि हिन्दुओ ने उनका अन्वेषण स्वय किया है।[1]

हम समझते है, वेदकाल मे भारतीयो को बृहस्पति और शुक्र ग्रहो का ज्ञान रहा होगा और यह यदि सत्य है तो उन्हे कभी-कभी बृहस्पति इतना ही तेजस्वी दिखाई देनेवाले मगल तथा सदा सूर्य के पास दिखाई देनेवाले बुध और मन्दगति शनि का भी ज्ञान अवश्य रहा होगा।

उल्का और धूमकेत

अथर्वसहिता के उपर्युक्त (१९।९) वाक्यो में उल्का और धूमकेतु का वर्णन है। उल्का से ताडित नक्षत्र का फल वराहमिहिर ने विस्तारपूर्वक लिखा है।

शुभकाल

मालूम होता है, वेदकाल में भी लोगो की यह धारणा थी कि प्रत्येक कर्म के लिए शुभ मुहूर्त्त आवश्यक है। ऋक्सहिता ७।८८।४ मे लिखा है—

स्तोतार विप्र सुदितत्वे आह्ना या यान्नुद्यावस्ततनन्यादुपास ।

[1] Weber's History of the Indian Literature p 251

विप्र (मेधावी) [वरुण] ने बीतनेवाले दिन और रात्रि को विस्तृत करते हुए स्तोता को दिवसो के सुदिनत्व मे [स्थापित किया]।

तैत्तिरीयश्रुति मे अग्न्याधान प्रभृति कर्मोपयोगी नक्षत्र सूचक अनेको वचन है, उनमें से कुछ प्रसङ्गवशात् ऊपर लिखे जा चुके है, कुछ यहा लिखते है।

उदितेषु नक्षत्रेषु व्रत कृणुतेति वाच विसृजति।

तै० स० ६।१।४।४

नक्षत्र उगने पर मौनत्याग करता है। धर्मशास्त्रग्रन्थो मे "अमुक व्रत नक्षत्रदर्शन पर्यन्त करना चाहिए, नक्षत्रदर्शन होने पर अमुक की शुद्धि होती है" इत्यादि विषय प्रसिद्ध है।

य कामयेत दानकामा मे प्रजा स्युरिति। स पूर्वयो फल्गुन्योरग्निमादधीत। अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रम्। यत्पूर्वे फल्गुनी। अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति। दानकामा अस्मै प्रजा भवन्ति॥ तै० ब्रा० १।१।२

यान्येव देवनक्षत्राणि। तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात्। पुण्याह एव कुरुते॥ तै० ब्रा० १।५।२

या कामयेत दुहितर प्रिया स्यादिति। ता निष्ट्याया दद्यात्। प्रियैव भवति॥ तै० ब्रा० १।५।२

यदि यह इच्छा हो कि कन्या [पति को] प्रिय हो तो निष्ट्या [स्वाती] नक्षत्र में उसका दान करना चाहिए। इससे वह प्रिय हो जाती है।

पौष्णेन व्यवस्यन्ति। मैत्रेण कृपन्ते। वारुणेन विधृता आसते। क्षैत्रपत्येन पाचयन्ते। आदित्येनादधते।

तै० ब्रा० १।८।४

'अश्लीलनाम ँ् श्चित्रे। नावस्येत् न यजेत। यथा पापाहे कुरुते। तादृगेव तत्।' ये वाक्य ऊपर पृष्ठ मे लिखे है। इससे ज्ञात होता है कि नक्षत्रो की भाँति दिवस के शुभत्वाशुभत्व की भी कल्पना की गयी थी। इन्ही वाक्यो से यह भी सिद्ध होता है कि नक्षत्रो का शुभत्वाशुभत्व उनके नाम इत्यादि के अनुसार माना जाता था, पर पता नही चलता, कि दिवस के शुभत्वाशुभत्व का क्या हेतु निश्चित किया गया था। नक्षत्रो के नाम उनकी आकृति, तेजस्विता और कल्पित या अनुभूत उनके शुभाशुभकारित्व के अनुसार पडे होगे (इसमे थोडा अन्योन्याश्रय आता है)। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष-

ग्रन्थो में भी वधू-वर के गणनासम्बन्धी तथा अन्यान्य बहुत से नियम मेष, सिंहादि नामोत्पन्न अर्थो के ही आधार पर बनाये गये है।

वर्ष का आरम्भ

ऋग्वेदसंहिता मे सब ऋतुओ के नाम एकत्र कही नही है और संवत्सर अर्थ में अनेको स्थानो में शरद् और हेमन्त शब्दो का ही प्रयोग किया गया है पर अन्य सभी वेदोमें जहा-जहा सब ऋतुओ के नाम आये है, सर्वत्र आरम्भ वसन्त से है। दोनो यजुर्वेदो में वसन्त संवत्सर का मुख कहा है, मास मध्वादि है और मधु-माधव वसन्त के मास बतलाये है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि यजुर्वेदसंहिताकाल में और तदनुसार आगे भी सभी वैदिक समयो में वर्ष का आरम्भ वसन्तारम्भ और मधुमास के आरम्भ मे मानते थे। व्यवहारार्थ क्वचित् अन्य ऋतुओ मे भी मानते रहे हो, पर मुख्यत वर्षारम्भ वसन्त के ही साथ होता था। चूंकि उस समय मास चान्द्र थे और ऋतुएं मुख्यत. सौरवर्षानुसार होती है, अत एक बार यदि सौर चान्द्र वर्षो का आरम्भ एक साथ हुआ तो आगे दोनो मे लगभग ११ दिन का अन्तर पड जाने के कारण प्रतिवर्ष चान्द्रवर्षारम्भ मे वसन्तारम्भ नही होता रहा होगा तथापि अधिकमास प्रक्षेपण की पद्धति के कारण मधुमास मे ही किसी समय वसन्तारम्भ होता रहा होगा। मधुमासारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति यजुर्वेदसंहिताकाल में और उसके बाद भी थी, इसमें सन्देह नही है। वैदिककालीन कुछ अन्य विषयो का विवेचन इस (प्रथम) भाग के उपसंहार मे करेंगे।

ज्योतिषशास्त्र

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि वेदकाल में ज्योतिषशास्त्र ने बहुत कुछ स्वरूप प्राप्त कर लिया था। वाजसनेयिसंहिता में लिखा है—

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनम्। वा० सं० ३०।१०, तै० ब्रा० ३।४।१

यादसे गणकम्। वा० सं० ३०।२०

इन वाक्यो में नक्षत्रदर्श और गणक शब्द आये है। इसी प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण में कुछ ऋषियो के भी नाम आये है जो कि इस विद्या मे प्रवीण थे। एक स्थान (१।५।२) मे लिखा है कि मात्स्य नामक ऋषि ने एक शुभ समय में एक कार्य किसी द्वारा कराया और वह श्रेयस्कर हुआ। वर्षान्तर्गत मास, मासो के दिन, रात्रि, मुहूर्त और प्रतिमुहूर्तो के नाम ऊपर लिखे है। वे जिस अनुवाक में है उसी के अन्त में लिखा है —

जनको ह वैदेह । अहोरात्रै समाजगाम। त ँ होचु । यो वा अस्मान् वेद। विजरुत्पाप्मानमेति ।।९।। अभिस्वर्गं लोक जयति। अहीनाहाश्वत्थ्य । सावित्र विदाञ्चकार।।१०।। स ह ह ँ सो भूत्वा। स्वर्गं लोकमियाय। देवभागो ह श्रौतर्प । सावित्र विदाञ्चकार।।११।। शूपो ह वार्ष्णेय आदित्येन समाजगाम।।

तै० ब्रा० ३।१०।९

वैदेह जनक अहोरात्रो के साथ गया। उन्होने उससे कहा। जो हमें जानता है वह पापरहित होता है। स्वर्गलोक में जाता है। अश्वत्थ के पुत्र अहीन ने सावित्र विद्या जानी। वह हस होकर स्वर्ग गया। श्रौतर्ष देवभाग ने सावित्र विद्या जानी। वार्ष्णेय शूप आदित्य से सङ्गत हुआ।

यह वर्णन वेदान्तविषयक ज्ञात होता है पर पूर्वापरसन्दर्भ से यह भी स्पष्ट है कि इसमें ज्योतिषशास्त्र का भी कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इससे अनुमान होता है कि वेदकाल में ज्योतिष एक स्वतन्त्र शास्त्र बन चुका था।

यद्यपि ऊपर सब वेदवाक्यो का विवेचन एकत्र किया गया है तथापि वे लोक में साथ ही नही, बल्कि क्रमश. प्रकट हुए होगे अर्थात् उनमे वर्णित ज्योतिषज्ञान कालक्रमानुसार क्रमश बढा होगा। और भी एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन पदार्थो का वर्णन वेदो मे नही है उनके विषय में यह नही कहा जा सकता कि उस समय लोग उन्हें जानते ही नही रहे होगे। ऐसा अनुमान करना अनुचित होगा। ऋक्सहिता मे ग्रहण का उल्लेख है, पर सब नक्षत्रो के नाम नही है और तैत्तिरीयश्रुति मे नक्षत्रो का उल्लेख अनेको स्थानो में है, पर ग्रहण का नाम तक नही है अत. केवल इसी आधार पर यह कह देना कि उस समय ग्रहण का ज्ञान नही था, अविवेकपूर्ण होगा। अब अन्त मे एक महत्वपूर्ण वाक्य दिखाकर यह प्रकरण समाप्त करते है।

[देवदिन] एक वा एतद्देवानामह । यत्सवत्सर ।।

तै० ब्रा० ३।९।२२

इसमें सवत्सर, को देवताओ का एक दिवस कहा है। वेदोत्तरकालीन ज्योतिष में यह प्रसिद्ध है कि देवता उत्तरध्रुवस्थान में मेरु पर रहते है और वहा ६ मास का दिन और ६ मास की रात्रि होती है। पता नही चलता, यहां उपपत्ति समझकर सवत्सर को देवो का दिवस कहा है या विना समझे। कुछ भी हो, वेदोत्तरकालीन ग्रन्थो में युगमान जिस वर्ष द्वारा बताया है उसकी बहुत कुछ उपपत्ति इस वाक्य में है। इसका अधिक विवेचन आगे करेगे।

द्वितीय विभाग

वेदाङ्गकाल

प्रथम प्रकरण-वेदाङ्ग

१ ज्योतिष

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द शास्त्र वेद के छ अङ्ग माने जाते है। सम्प्रति प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् केवल सूत्र (कल्प) उपलब्ध है और तत्तत् शाखाओ के वैदिक ब्राह्मण उन्हें पढते है। शेष पाच अङ्ग सबके एक ही है और उनके पठन-पाठन का प्रचार केवल ऋग्वेदियो मे है। अन्य वेदोवाले उन्हे नही पढते। इन छ अङ्गो में ज्योतिष का ग्रन्थ, जिसे कि आजकल वैदिक ब्राह्मण पढते है, ३६ श्लोकात्मक है, परन्तु इसके अतिरिक्त एक और भी वेदाङ्गज्योतिष नाम का ग्रन्थ उपलब्ध है जिस पर कि सोमाकर की टीका है। सोमाकर कृत टीका के अन्त में 'शेषकृत यजुर्वेदाङ्गज्योतिष' इस अर्थ के कुछ शब्द लिखे है। इन दोनो ग्रन्थो मे कुछ पाठभेद भी है। इनसे भिन्न तीसरा एक अथर्वज्योतिष नाम का ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। आरभ मे ये तीनो तीन वेदो के भिन्न-भिन्न ज्योतिष चाहे न रहे हो, पर पारस्परिक भेद समझने में सौकर्य होने के लिए इनका पृथक्-पृथक् तीन नाम रखना आवश्यक है। अत जिसे ऋग्वेदी पढते है उसे यहा ऋग्वेदज्योतिष कहेंगे और जिस पर सोमाकर की टीका है उसे यजुर्वेदज्योतिष कहेगे। अथर्ववेदज्योतिष तो बिलकुल भिन्न ही है। पहिले दोनो मे बडा साम्य है। ऋग्ज्योतिष के ३६ श्लोको में से ३० श्लोक यजुर्वेदज्योतिष में आये है और इसके अतिरिक्त १३ श्लोक और भी है। इस प्रकार दोनो ग्रन्थो मे सब (३६+१३=)४९ श्लोक है। समान बतलाये हुए श्लोको में से एक श्लोक अर्थ की दृष्टि से उभयत्र समान होते हुए भी शब्द रचना और छन्द मे बिलकुल भिन्न है।

टीकाकार सोमाकर के उत्पत्तिकाल इत्यादि का कुछ भी पता नही चलता। अन्य किसी भी ग्रन्थ या टीका मे उनका नाम नही है। उनकी विस्तृत और सक्षिप्त दो टीकाए है। विस्तृत टीका के आरम्भ में उनका नाम है और अन्त मे लिखा है 'शेष-

कृत वेदाङ्गज्योतिष, समाप्त'। दूसरी टीका पहिली का ही सक्षिप्त स्वरूप है। उसमे सोमाकर का नाम या शेषकृत इत्यादि शब्द विलकुल नही है। सोमाकर की टीका केवल नाम मात्र की टीका है। जो श्लोक विलकुल सरल है और जिनका गणित से कोई सम्बन्ध नही हैं उनको छोड शेष श्लोको का अर्थ सोमाकर को विलकुल नही लगा है। अन्य किसी ज्योतिषी ने गणित दृष्टचा वेदाङ्गज्योतिष का विचार नही किया है। ज्योतिष के अन्य ग्रन्थो से प्राय भिन्न होने के कारण इसका वर्णन अन्यत्र कही नही मिलता। जो कुछ मिला वह यथाप्रसंङ्ग आगे लिखा है। प्राचीन होने के कारण ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे इस ग्रन्थ की योग्यता वहुत वडी है। अत इसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

सन् १८७९ के लगभग प्रो० थीवो ने यजुर्वेदज्योतिष पर विचार किया। उन्होने उसका अनुवाद भी किया जिसकी एक छोटी-सी किताब छपी है। सोमाकर से अधिक लगभग ६ श्लोको का अर्थ उन्होने लगाया है। जितने श्लोको का अर्थ लग चुका था उन सबका मैने सन् १८८१ मे मराठी अनुवाद किया था। कैलसवासी कृष्णशास्त्री गोडवोले ने इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया था, पर वे भी थीवो साहव की अपेक्षा अधिक श्लोक नही लगा सके। कै० वा० जनार्दन वालाजी मोडक वी० ए० ने सन् १८८५ मे ऋग्वेदज्योतिष और यजुर्वेदज्योतिष का मराठी अनुवाद छपवाया। उन्होने और भी दो तीन श्लोको की व्याख्या की जिनका अर्थ थीवो साहव को नही लगा था। साराश यह कि अव तक दोनो ग्रन्थो के ४९ श्लोको मे से २८ की व्याख्या हो चुकी थी पर अव मैने ३६ श्लोक लगा लिये है।

आजकल ब्राह्मण केवल ऋग्वेदज्योतिष पढते है। यजुर्वेदज्योतिष भारत के प्राय किसी भी प्रान्त मे नही पढा जाता। पहिले भी इसका अध्ययन होता था या नही, इसका ठीक पता नही लगता। आजकल जो वेदाङ्गज्योतिष प्रचलित है उसके वहुत से श्लोक अर्थ की दृष्टि से अशुद्ध मालूम होते है, पर विचित्रता यह है कि अशुद्ध होते हुए भी भारत के सभी प्रान्तो मे ब्राह्मणो का पाठ एक है और वैदिक लोग इसे साक्षात् वेद से कम नही समझते है। उनसे यदि कहा जाय कि अमुक पाठ अशुद्ध है, उसके स्थान मे अमुक शुद्ध प्रयोग किया कीजिए तो वे इस वात को मानने के लिए कभी भी तैयार न होगे। इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ आरभ मे शुद्ध ही रहा होगा और अशुद्धिया इसमे वाद मे आयी होगी पर पता नही लगता, ये कव और कैसे आई। इसका अन्वेषण करना वेद और वेदाङ्ग के इतिहास का एक महत्वशाली कार्य होगा। हम तो समझते है, मूल वेदाङ्गज्योतिष किसी समय लुप्त हो गया होगा और वाद मे किसी के सग्रह मे रखी हुई अशुद्ध अथवा पढने मे कठिन हस्तलिखित पुस्तक द्वारा किसी

अर्थानभिज्ञ ने सर्व प्रथम उसका अध्ययन आरम्भ किया होगा और तत्पश्चात् सर्व
उसीका प्रचार हो गया होगा। अन्य किसी भी वेद-वेदाङ्ग की ऐसी स्थिति नही
अतः संस्कृतवाङमय के इतिहास-शोधको को इसका विचार करना चाहिए। मैंने दृ
श्लोको का विचार किया है और उनके सम्बन्ध मे जो कुछ ज्ञात हुआ है आगे लि
है। वेदाङ्गो में जैसे व्याकरण के आचार्य पाणिनि और छन्द शास्त्र के पिङ्गल है उ
प्रकार ऋग्वेदज्योतिष के आचार्य लगध है। इसके द्वितीय श्लोक में लिखा भी
'कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन'। अष्टाध्यायी आरम्भ करने के पहिले
श्लोक पढे जाते है जिनमें पाणिनि की वन्दना की है। यह कथन भी वैसा ही ज्ञा
होता है। सम्भव है सम्पूर्ण वेदागज्योतिष लगध ने न बनाया हो। उनके ट
अन्य किसी ने उनके मतानुसार शेष भाग की रचना की हो। यूरोपियन ल
लगध को लगड या लगढ कहते है, परन्तु मै समझता हू रोमनलिपि मे 'ध' ठीक
लिखा जाने के कारण यह गडबडी हुई होगी। मालूम होता है इसी कारण प्र
वेवर को सन्देह हुआ है कि 'लगड' यदि 'लाट' है तो उसका समय ईसवी सन्
पाचवी शताब्दी होगी, पर बात ऐसी नही है। हमारे वैदिको का पाठ नि:स
लगध ही है।[1]

दोनो ज्योतिष ग्रन्थो के जिन श्लोको का अर्थ लग चुका है उनमें कुछ बडे म
के है। आगे उनका अर्थ लिखा है। पहिले ऋग्ज्योतिष का वह पाठ लिखा है जो
सम्प्रति वैदिक समाज में प्रचलित है। वही श्लोक यदि यजुर्वेदज्योतिष में भी है
सोमाकर पाठ भिन्न होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से उपयोगी है तो वह पाठान्तर
लिखा है। आवश्यकतानुसार कही-कही उसमें भी पाठभेद किया गया है। यजु
ज्योतिष में जो अधिक श्लोक है उनमें से जिनका अर्थ लगा है वे भी यहा लिखे
ऋग्वेदज्योतिष की व्याख्या करते समय जहा तक बन पडा वैदिकपाठ ज्यो का
रखने का प्रयत्न किया है।

[1] डाक्टर केर्न ने आर्यभटीय सिद्धान्त छपाया है। उसकी प्रस्तावना में उ
उस सिद्धान्त की 'भट प्रकाशिका' टीका का कुछ उद्धरण मूल की मलयालम लिपि
पुस्तक के अनुसार दिया है। उसमें टीकाकार ने एक जगह 'तथा च लगडाचार्य:'
हुए वेदाङ्ग ज्योतिष के दो श्लोक लिखे है। उसमें लगड शब्द आया है। देखना च
उस प्रान्त में वैदिक ब्राह्मण ऋग्वेदज्योतिष पढते समय लगड कहते है या और
कदाचित् मलाबारी लिपि में 'ड' और 'ध' का अत्यन्त साम्य होने के कारण
गडबड हुई हो।

खोजने में सुभीता होने के लिए ऋक्पाठ और यजु पाठ के श्लोक क्रमश लिखकर अङ्को द्वारा दिखा दिया है कि एक पाठ का प्रत्येक श्लोक दूसरे पाठ का कौन-सा श्लोक पड़ता है।

ऋक्	यजु	ऋक्	यजु	ऋक्	यजु
१	१	१३	०	२५	३२
२	०	१४	१८	२६	३३
३	२	१५	१७	२७	३४
४	१३	१६	३८	२८	३५
५	६	१७	२४	२९	०
६	७	१८	३९	३०	४३
७	८	१९	०	३१	२३
८	९	२०	२२	३२	५
९	१०	२१	२१	३३	०
१०	१५	२२	४०	३४	०
११	१९	२३	४१	३५	४
१२	२७	२४	४२	३६	३

यजु	ऋक्	यजु	ऋक्	यजु	ऋक्
१	१	१५	१०	३०	०
२	३	१६	०	३१	०
३	३६	१७	१५	३२	२५
४	३५	१८	१४	३३	२६
५	३२	१९	११	३४	२७
६	५	२०	०	३५	२८
७	६	२१	२१	३६	०
८	७	२२	२०	३७	०
९	८	२३	३१	३८	१६
१०	९	२४	१७	३९	१८
		२५	०		
११	०	२६	०	४०	२२
१२	०	२७	१२	४१	२३
१३	४	२८	०	४२	२४
१४	०	२९	०	४३	३०

ऋग्वेदज्योतिष—

पञ्चसवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापतिम् ।
दिनर्त्वयनमासाङ्ग प्रणम्य शिरसा शुचि ॥१॥
प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम् ।
कालज्ञान प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन ॥२॥

अर्थ—दिवस, ऋतु, अयन, और मास जिसके अङ्ग है ऐसे पञ्चसवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को शिरसा नमस्कार कर शुद्ध होता हुआ [मैं] काल को नमस्कार कर और सरस्वती का अभिवादन कर महात्मा लगध के वतलाये हुए कालज्ञान का वर्णन करता हूँ।

वेदाङ्गज्योतिष मे पञ्चवर्षात्मक युग के पाचो सवत्सरो का नाम न होना थोडा आश्चर्यजनक मालूम होता है, परन्तु आगे ८वें श्लोक की व्याख्या मे प्रसङ्गवशात् सोमाकर द्वारा उद्धृत कुछ गर्ग के वचन लिखे है, उनमें पञ्चसवत्सरात्मक युग के स्वरूप का थोडा सा वर्णन आया है और वह वेदाङ्गज्योतिष सरीखा ही है। उसमें पाचो सवत्सरो के नाम है। वराहमिहिर ने बृहत्सहिता मे सवत्सरो के नाम और उनके अधिप लिखे है। उनके कुछ अधिप गर्गोक्त अधिपो से भिन्न है। ऊपर पृष्ठ   में लिखे हुए तैत्तिरीयब्राह्मण के 'अग्निर्वाव सवत्सर   ' मन्त्र मे अग्नि आदित्य इत्यादि शब्द सवत्सरो के अधिप सरीखे मालूम होते है, पर वे चार ही है और उनके नाम भी कुछ भिन्न है। उन सबो को यहा एकत्र लिखते है।

सवत्सरनाम	स्वामी		
	(तै० ब्रा०)	(गर्ग)	(वराह)
१ सवत्सर	अग्नि	अग्नि	अग्नि
२. परिवत्सर	आदित्य	आदित्य	आदित्य
३ इदावत्सर	चन्द्रमा	वायु	चन्द्रमा
४ अनुवत्सर	वायु	चन्द्रमा	प्रजापति
५ इद्वत्सर	×	मृत्यु	रुद्र

निरेक द्वादशार्धाब्द द्विगुण गतमञ्जिकम् ।
षष्ट्या षष्ट्या युत द्वाभ्या पर्वणा राशिरुच्यते ॥४॥

यहा ऋक्पाठोक्त 'द्वादशार्धाब्द' और 'मञ्जिक' के स्थान मे यजु पाठोक्त क्रमश 'द्वादशाभ्यस्त' और 'मयुत' लेने से ठीक अर्थ लगता है।

अर्थ—[पञ्चसवत्सरात्मक युग की वर्तमान सवत्सरसख्या मे मे] एक निकाल दो। शेष मे १२ का गुणा करो। गत [मास] जोड दो। योग को द्विगुणित करो। ६० के प्रत्येक पर्यय मे दो-दो जोडते जाओ। [योग को] पर्वों की राशि कहते हैं।

उदाहरण—युग के द्वितीय वर्ष के आरम्भ में पर्वसख्या लानी है, अत यहा गत सवत्सर हुआ एक। इसलिए पर्वसख्या हुई १ × १२ × २ = २४। इसी प्रकार तृतीय वर्ष के सप्तम मास के अन्त मे पर्वसख्या (२ × १२+७) × २+२ = ६४ होगी।

करण ग्रन्थो के आरम्भ मे जैसे अहर्गण लाना पडता है उसी प्रकार यहा पर्वगण लाये हैं।

इस श्लोक मे सिद्ध होता है कि ६० पर्व अर्थात् ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। ऋक्पाठ के कुछ अन्य श्लोको द्वारा भी ऐसा अनुमान होता है। यजु -पाठ के ३७ वे श्लोक मे तो इसका स्पष्ट उल्लेख है।

स्वरार्कमेके सोमार्कौ यदा साक मवासवौ।
स्यात्तदादियुग माघस्तप शुक्लो दिनत्यज ॥५॥

यहा निम्नलिखित यजु पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है।

स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साक सवासवौ।
स्यात्तदादियुग माघस्तप शुक्लोऽयन ह्युदक् ॥

अर्थ—जब कि चन्द्रमा और सूर्य एकत्र वासव (धनिष्ठा) नक्षत्र मे प्राप्त होकर आकाश मे आक्रमण करते है उस समय युग, माघ [मास], तपस् [ऋतु], शुक्ल [पक्ष और] उदगयन का आरम्भ होता है।

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचान्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयो सदा ॥६॥

'चान्द्रमसौ' के स्थान मे यजु पाठ 'चन्द्रमसौ' है और वही शुद्ध भी है।

अर्थ—श्रविष्ठा के आरम्भ मे सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर मुडते है और आश्लेषा के आधे पर दक्षिण की ओर। सूर्य सर्वदा माघ और श्रावण [मासो मे] [क्रमश उत्तर और दक्षिण की ओर मुडता है] ॥६॥

इस अयनस्थिति का समय निश्चित किया जा सकता है। अन्त में इसका सविस्तर विवेचन किया है।

> घर्मवृद्धिरपां प्रस्थः क्षपाह्रास उदग्गतौ।
> दक्षिणे तौ विपर्यस्तौ षण्मुहूर्त्यंयनेन तु ॥७॥

(सूर्य के) उत्तरायण मे उदक के एक प्रस्थ इतना दिन बढता है और रात्रि घटती है। दक्षिणायन की स्थिति इसके विपरीत होती है। अयन में ६ मुहूर्त [वृद्धि होती है] ।७॥

एक प्रस्थ दिनमान वृद्धि का अर्थ है $\frac{4}{61}$ नाडी वृद्धि। आगे १७ वे श्लोक में इसका विचार किया गया है। ६ मूहूर्त दिनमानवृद्धि किस स्थान मे होती है, इसका विचार अन्त में किया है।

> द्विगुणं सप्तमं चाहुरयनाद्यं त्रयोदश।
> चतुर्थं दशमञ्चैव द्विर्युग्माद्यं बहुलेप्यृतौ ॥८॥

यजु पाठ—प्रथम सप्तम चाहुरयनाद्यं त्रयोदशम्।

यहा अर्थ की दृष्टि से यजु पाठ ही ठीक मालूम होता है।

अर्थ—प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी, चतुर्थी और दशमी (तिथिया) दो बार अयनादि (होती थी। वे क्रमश) दो-दो (अयनो की) आदि (होती थीं)। कृष्णपक्ष में भी (अयन होता था) ॥८॥

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी और त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी एव पुन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी और दशमी ये १० तिथिया पाच सवत्सरो में होनेवाले सूर्य के १० अयनो की आद्य तिथिया है। ऊपर बतला चुके है कि अयन माघ और श्रावण में होते है। अत. ये क्रमश. माघ और श्रावण की तिथिया है अर्थात् पहिली माघ की और दूसरी श्रावण की है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

वेदाङ्गज्योतिष-पद्धति[1] के अनुसार इस श्लोक का यही अर्थ ठीक मालूम होता है। अग्रिम गर्ग के वचनो से भी यही अर्थ निकलता है।

यहा प्रथम, सप्तम इत्यादि प्रयोग नपुसकलिङ्गी है। यह बडी अडचन है क्योकि तिथि शब्द का प्रयोग नपुसकलिङ्ग में कही नही मिलता। प्राय स्त्रीलिङ्ग में और

[1] जहाँ केवल 'वेदाङ्गज्योतिष' लिखा हो अर्थात् ऋग्ज्योतिष या यजु-ज्योतिष का स्पष्ट नाम न हो वहाँ ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिष समझना चाहिए।

सर्वनिद् पुल्लिङ्ग में पाया जाता है। यदि उसका यह अर्थ करें कि 'प्रथम इत्यादि शब्द नपुंसकलिङ्गी हैं अतः उन्हें दिन का विशेषण मान कर यह बतलाया है कि मास में अमुक सावन दिन में अयन होता है, तो यह पद्धति के विरुद्ध मालूम होता है। अतः उन्हें तिथि ही मानना पड़ता है।

वसुस्त्वष्टाभगोऽजश्च मित्र सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्याश्चार्धपञ्चमभस्त्वृतु ॥९॥
यजु पाठ—वसुस्त्वष्टाभवोऽजश्च मित्र सर्पाश्विनौ जलम्।
धाता कश्चायनाद्या स्यर्धपञ्चमभस्त्वृतु ॥

यजु. पाठ द्वारा ठीक अर्थ लगता है। वह इस प्रकार है—

वसु, त्वष्टा, भव, अज मित्र, सर्प, अश्विनी, जल, धाता और ब्रह्मा (जिनके स्वामी हैं वे नक्षत्र धनिष्ठा, चित्रा, आर्द्रा, पूर्वाभाद्रपदा, अनुराधा, आश्लेषा, अश्वयुज्, पूर्वाषाढा, उत्तरफल्गुनी और रोहिणी) अयनादि थे। साढे चार नक्षत्रों की ऋतु होती है ॥९॥

पाचवे सवत्सर में प्रथम अयनारम्भ के दिन उत्तरफल्गुनी नक्षत्र आता है और वेदाङ्गज्योतिष में उसका देवता अर्यमा बतलाया है, इसलिए यहा धाता शब्द का अर्थ अर्यमा करना पडता है, यह एक अडचन है। इसमे बतलाये हुए नक्षत्र चन्द्रमा के नक्षत्र है।

उपर्युक्त दोनों श्लोको का अर्थ सोमाकर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गर्गवचनो से स्पष्ट हो जाता है।

अयनान्यृतवो मासा पक्षास्त्वृक्ष तिथिर्दिनम्।
तत्वतो नाधिगम्यन्ते यदाब्दो नाधिगम्यते ॥१॥
यदा तु तत्त्वतोऽब्दस्य क्रियतेऽधिगमो बुधै।
तदैवैषाममोह स्यात्क्रियाणाञ्चापि सर्वश ॥२॥
तस्मात्सवत्सराणान्तु पञ्चाना लक्षणानि च।
कर्माणि च पृथक्त्वेन दैवतानि च वक्ष्यति ॥३॥
यदा माघस्य शुक्लस्य प्रतिपद्युत्तरायणम्।
सहोदय श्रविष्ठाभि सोमार्कौ प्रतिपद्यत ॥४॥
तदात्र नभस शुक्लसप्तम्या दक्षिणायनम्।
सार्पार्धे कुरुते युक्ति चित्राया च निशाकरे ॥५॥
प्रथम सोऽग्निदैवत्यो नाम्ना सवत्सर स्मृत।
यदा माघस्य शुक्लस्य त्रयोदश्यामुदग्रवि ॥६॥

युक्ते चन्द्रमसा रौद्रे वासव प्रतिपद्यते।
चतुर्थ्यां नभस कृष्णे तदार्को दक्षिणायनम् ॥७॥
सार्पार्धे कुरुते सूर्यस्त्वजयुक्ते निशाकरे।
द्वितीयश्चार्कदैवत्य स नाम्ना परिवत्सर ॥८॥
कृष्णे माघस्य दशमी वासवादौ दिवाकर।
उदीची दिशमातिष्ठन् मैत्रस्थेऽनुष्णतेजसि ॥९॥
नभसश्च निवर्तेत शुक्लस्य प्रथमे तिथौ।
चन्द्रार्काभ्यां सुयुक्ताभ्यां सार्पार्धे वायुदैवतम् ॥१०॥
तदा तृतीयस्त्व त प्राहुरिदासवत्सर जना।
सप्तम्यां माघशुक्लस्य वासवादौ दिवाकर ॥११॥
अश्विनीसहिते सोमे यदाशामुत्तर व्रजेत्।
सोमे चाप्येनसयुक्ते सार्पार्धस्थो दिवाकर ॥१२॥
व्रजेद् याम्यां शुक्लस्य श्रावणस्य त्रयोदशीम्।
चतुर्थमिन्दुदैवत्यमाहुश्चायानुवत्सरम् ॥१३॥
फल्गुनीमुत्तरा प्राप्ते सोमे सूर्ये च वासवे।
यद्युत्तरायण कृष्णचतुर्थ्यां तपसो भवेत् ॥१४॥
श्रावणस्य च कृष्णस्य सार्पार्धे दशमी पुन।
रोहिणीसहिते सोमे रवे स्याद्दक्षिणायनम् ॥१५॥
इद्वत्सर स विज्ञेय पञ्चमो मृत्युदैवत।
एवमेतद्विजानीयात् पञ्चवर्षस्य लक्षणम् ॥१६॥

इन गर्गवचनो द्वारा तथा वेदाङ्गज्योतिष के उपर्युक्त दो श्लोको द्वारा निष्पन्न अर्थ नीचे के कोष्ठक में लिखा है।

२० स्वा=स्वाती। २४ ष्य=पुष्य।
२१ प=आप=पूर्वाषाढा। २५ ह=हस्त।
२२ अज=अजएकपाद=पूर्वभाद्रपदा। २६ ज्ये=ज्येष्ठा।
२३ कृ=कृत्तिका। २७ ष्ठा=श्रविष्ठा।

यहा संकेत के लिए कुछ नक्षत्रो के आद्य और कुछ के अन्त्य अक्षर और किसी-किसी के देवताओ के अन्त्य अक्षर लिये है। अश्विनी से आरम्भ कर पाच-पाच नक्षत्रो के अन्तर मे आगे के नक्षत्र लिये है। अश्विनी के बाद उससे छठा नक्षत्र आर्द्रा और तत्पश्चात् आर्द्रा से छठा नक्षत्र पूर्वाफाल्गुनी लिया है। अग्रिम नक्षत्रो में भी यही क्रम है। इस नियम की उपपत्ति इस प्रकार है—

युग मे पर्व १२४ होते है। इसीलिए वेदाङ्गज्योतिष में नक्षत्रो के १२४ अश माने गये है[1]। यह श्लोक और यजु पाठ का २५ वा श्लोक इस कल्पना के आधार है। युग में तिथिया १८६० होती है और सूर्य नक्षत्रो की ५ परिक्रमा करता है (यजु-पाठ का श्लोक २८ और ३१ देखिए) अर्थात् एक तिथि में नक्षत्र का $\frac{२७ \times ५}{१८६०} = \frac{१}{१२४}$ भाग भोगता है। आगे के कोष्टक मे इसी नियम के अनुसार दिखाया गया है कि सूर्य प्रत्येक पर्व के अन्त मे किस नक्षत्र के किस अश पर रहता है। उससे विदित होता है कि उपर्युक्त श्लोक में जो नक्षत्र (अश्विनी) सर्वप्रथम लिया गया है उसमे सूर्य जब-जब (५, ३०, ५५, ७९, १०४ पर्वो के अन्त में) आता है तब-तब या तो अश्विनी के प्रथम अश मे रहता है या किसी सख्या में २७ का गुणा कर गुणनफल में १ जोडने से जो सख्या आती है, तत्तुल्य अश पर रहता है। इसी प्रकार जो नक्षत्र (आर्द्रा) दूसरी बार आया है, पर्वान्त में सूर्य उसके द्वितीय अश पर अथवा किसी सख्या से गुणित २७ मे २ जोड देने से जो सख्या आती है (२९, ५६, ८३, ११० इत्यादि) तत्तुल्य अश पर आता है। नक्षत्र के अश मे २७ का भाग देने से जो शेष बचता है वही अङ्क कोष्टक के अन्तिम खाने में लिखा है। इसके तुल्य ही उपर्युक्त श्लोक में उस नक्षत्र का क्रमाङ्क भी है। वेदाङ्गज्योतिष के सब श्लोकों का ठीक अर्थ न लगने के कारण इस पद्धति की योजना का ठीक हेतु समझ में नही आता। हम समझते है, इससे सम्बन्ध रखने-वाले कुछ श्लोक लुप्त भी हो गये होंगे।

[1] ऋक्पाठ के १८ वें और २१ वें श्लोको मे जो कलाए मानी गयी है उनका सम्बन्ध चन्द्रमा की गति से है।

[2] यहा नक्षत्र का १२४वा भाग अंश समझना चाहिए।

पञ्चवर्षात्मक युग में पर्वान्त के समय सूर्य की स्थिति

संवत्सर

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र			मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भाग शेष				अंश	नाम	२७भाग शेष
माघ	१	१	११	शतभिषक्	११	श्रावण	१३	१४	१९	मघा	१९
"	२	२	२२	पू० भाद्रपदा	२२	"	१४	१५	३०	पू० फल्गुनी	३
फाल्गुन	३	३	३३	उ० भाद्रपदा	६	भाद्रपद	१५	१६	४१	उ० फल्गुनी	१४
"	४	४	४४	रेवती	१७	"	१६	१७	५२	हस्त	२५
चैत्र	५	५	५५	अश्वयुज	१	आश्विन	१७	१८	६३	चित्रा	९
"	६	६	६६	भरणी	१२	"	१८	१९	७४	स्वाती	२०
वैशाख	७	७	७७	कृत्तिका	२३	कार्तिक	१९	२०	८५	विशाखा	४
"	८	८	८८	रोहिणी	७	"	२०	२१	९६	अनुराधा	१५
ज्येष्ठ	९	९	९९	मृग	१८	मार्गशीर्ष	२१	२२	१०७	ज्येष्ठा	२६
"	१०	१०	११०	आर्द्रा	२	"	२२	२३	११८	मूल	१०
आषाढ	११	११	१२१	पुनर्वसू	१३	पौष	२३	२५	५	उ० अषाढा	५
"	१२	१३	८	आश्लेषा	८	"	२४	२६	१६	श्रवण	१६

परिवत्सर

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र अंश	नाम	२७ भा शेष
माघ	२५	२७	२७	श्रविष्ठा	२७
"	२६	१	३८	शतभिषक्	११
फाल्गुन	२७	२	४९	पू० भाद्रपदा	२२
"	२८	३	६०	उ० "	६
चैत्र	२९	४	७१	रेवती	१७
"	३०	५	८२	अश्वयुज	१
वैशाख	३१	६	९३	भरणी	१२
"	३२	७	१०४	कृत्तिका	२३
ज्येष्ठ	३३	८	११५	रोहिणी	७
"	३४	१०	२	आर्द्रा	२
आषाढ	३५	११	१३	पुनर्वसु	१३
"	३६	१२	२४	पुष्य	२४
श्राव	३७	१३	३५	आश्लेषा	८
"	३८	१४	४६	मघा	१९
भाद्रपद	३९	१५	५७	पूर्वाफाल्गुनी	३
"	४०	१६	६८	उ० "	१४
आश्विन	४१	१७	७९	हस्त	२५
"	४२	१८	९०	चित्रा	९
कार्तिक	४३	१९	१०१	स्वाती	२०
"	४४	२०	११२	विशाखा	४
मार्गशीर्ष	४५	२१	१२३	अनुराधा	१५
"	४६	२३	१०	मूल	१०
माघ	४७	२४	२१	पूर्वाषाढा	२१
"	४८	२५	३२	उत्तराषाढा	५

(इद्वावत्सर)

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			क्रम	नाम	२७भा शेष
माघ	४९	२६	४३	श्रवण	१६
,,	५०	०	५४	श्रविष्ठा	२७
फाल्गुन	५१	१	६५	शतभिषक्	११
,,	५२	२	७६	पूर्वाभाद्रपदा	२२
चैत्र	५३	३	८७	उ भाद्रपदा	६
,,	५४	४	९८	रेवती	१७
वैशाख	५५	५	१०९	अश्वयुज्	१
,,	५६	६	१२०	भरणी	१२
ज्येष्ठ	५७	८	७	रोहिणी	७
,,	५८	९	१८	मृग	१८
आषाढ	५९	१०	२९	आर्द्रा	२
,,	६०	११	४०	पुनर्वसू	१३
अ श्रावण	६१	१२	५१	पुष्य	२४
,,	६२	१३	६२	आश्लेषा	८

मास	पर्वक्रम	गतनक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			क्रम	नाम	२७भा शेष
श्रावण	६३	१४	७३	मघा	१९
,,	६४	१५	८४	पू फल्गुनी	३
भाद्रपद	६५	१६	९५	उ फल्गुनी	१४
,,	६६	१७	१०६	हस्त	२५
आश्विन	६७	१८	११७	चित्रा	९
,,	६८	२०	४	विशाखा	४
कार्तिक	६९	२१	१५	अनुराधा	१५
,,	७०	२२	२६	ज्येष्ठा	२६
मार्गशीर्ष	७१	२३	३७	मूल	१०
,,	७२	२४	४८	पूर्वाषाढा	२१
पौष	७३	२५	५९	उत्तराषाढा	५
,,	७४	२६	७०	श्रवण	१६

(अनुवत्सर)

मास	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भा शेष
माघ	७५	०	८१	श्रविष्ठा	२७
"	७६	१	९२	शतभिषक्	११
फाल्गुन	७७	२	१०३	पूर्वा भाद्रपदा	२२
"	७८	३	११४	उत्तरा० "	६
चैत्र	७९	५	१	अश्वयुज्	१
"	८०	६	१२	भरणी	१२
वैशाख	८१	७	२३	कृत्तिका	२३
"	८२	८	३४	रोहिणी	७
ज्येष्ठ	८३	९	४५	मृग	१८
"	८४	१०	५६	आर्द्रा	२
आषाढ	८५	११	६७	पुनर्वसू	१३
"	८६	१२	७८	पुष्य	२४
श्रावण	८७	१३	८९	आश्लेषा	८
"	८८	१४	१००	मघा	१९
भाद्रपद	८९	१५	१११	पूर्व फल्गुनी	३
"	९०	१६	१२२	उत्तर फल्गुनी	१४
आश्विन	९१	१८	९	चित्रा	९
"	९२	१९	२०	स्वाती	२०
कार्तिक	९३	२०	३१	विशाखा	४
"	९४	२१	४२	अनुराधा	१५
मार्गशीर्ष	९५	२२	५३	ज्येष्ठा	२६
"	९६	२३	६४	मूल	१०
पौष	९७	२४	७५	पूर्वाषाढा	२१
"	९८	२५	८६	उत्तराषाढा	५

(इद्वत्सर)

मासनाम	पर्व-क्रम	गत-नक्षत्र	वर्तमान नक्षत्र		
			अंश	नाम	२७भाग शेष
माघ	९९	२६	९७	श्रवण	
„	१००	०	१०८	श्रविष्ठा	
फाल्गुन	१०१	१	११९	शतभिषक्	
„	१०२	३	६	उ० भाद्रपदा	
चैत्र	१०३	४	१७	रेवती	
„	१०४	५	२८	अश्वयुज्	
वैशाख	१०५	६	३९	भरणी	
„	१०६	७	५०	कृत्तिका	
ज्येष्ठ	१०७	८	६१	रोहिणी	
„	१०८	९	७२	मृग	
आषाढ	१०९	१०	८३	आर्द्रा	
„	११०	११	९४	पुनर्वसु	
श्रावण	१११	१२	१०५	पुष्य	
„	११२	१३	११६	आश्लेषा	
भाद्रपद	११३	१५	३	पूर्वा फाल्गुनी	
„	११४	१६	१४	उत्तरा फाल्गुनी	
आश्विन	११५	१७	२५	हस्त	
„	११६	१८	३६	चित्रा	
कार्तिक	११७	१९	४७	स्वाती	
„	११८	२०	५८	विशाखा	
मार्गशीर्ष	११९	२१	६९	अनुराधा	
„	१२०	२२	८०	ज्येष्ठा	
पौष	१२१	२३	९१	मूल	
„	१२२	२४	१०२	पूर्वाषाढा	
अ० माघ	१२३	२५	११३	उत्तराषाढा	
„	१२४	२६	१२४	श्रवण	

कला दश च विशा स्याद् द्विमुहूर्तस्तु नाडिके।
द्वित्रिशस्तत् कलाना तु पट्शती न्यधिक भवेत् ॥१६॥

यजु पाठ—कला दश सविंशा । द्यत्रिशत् तत् ॥
अर्थ—नाडी=१० + $\frac{१}{२०}$ कला। मुहूर्त=२ नाडी।
दिन=३० मुहूर्त=६०३ कला।

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमापकम्।
मापकात् कुम्भको द्रोण कुटपैर्वर्धते त्रिभि ॥१७॥

द्रोण कितने आढको का होता है, यह वात यहा नही वतायी है और इसके विना श्लोक का कोई उपयोग नही है। यजु पाठ के २४ वे श्लोक की शब्दरचना इससे कुछ भिन्न है, पर उसका भी अर्थ इस श्लोक सरीखा ही है। उसमे भी द्रोण का कोई मान नही वताया है। वराहमिहिर ने वृहत्सहिता के वर्षणाध्याय में लिखा है—

'पञ्चाशत्पलमाढकमनेन मिनुयाज्जल पतितम्।'
वृहत्सहिता २३।२

मालूम होता है यह श्लोक लिखते समय वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक उनके ध्यान में था। इसके आगे के श्लोक में उन्होने द्रोण शब्द का प्रयोग किया है, पर द्रोण और आढक के पारस्परिक सम्वन्ध के विषय में कुछ नही लिखा है। आर्या के चारो चरण समाप्त हो जाने के कारण कदाचित् उन्हें यह लिखने का अवसर न मिला हो, पर टीकाकार भटोत्पल ने लिखा है—

'यत उक्त पञ्चाशत्पलमाढक, चतुर्भिराढकैर्द्रोण'

इन दोनो चरणो का उपर्युक्त श्लोक के द्वितीय और तृतीय चरणो से वडा साम्य है और नि सशय प्रतीत होता है कि भटोत्पल ने ये वेदाङ्गज्योतिष से ही लिये हैं। भास्कराचार्यादिको ने भी ४ आढक का द्रोण वतलाया है। अत भटोत्पल के लेखानुसार वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त श्लोक इस प्रकार होना चाहिए—

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाढकम्।
चतुर्भिराढकैर्द्रोण कुटपैर्वर्धते त्रिभि ॥१७॥

यही पाठ पूर्वापर सगत भी है।

अर्थ—दो नाडिका का मुहूर्त, ५० पलो का आढक और ४ आढको का द्रोण होता है। [यह नाडी से] ३ कुडव वडा होता है॥१७॥

यहा 'यह नाडी मे' शब्द ऊपर से लेने पडते है, परन्तु प्रथम पाद मे नाडिका शब्द आ चुका है अत ऐसा करने मे कोई अडचन नही है। यजु पाठ के निम्नलिखित श्लोक मे यह अर्थ विलकुल स्पष्ट है।

पलानि पञ्चाशदपा वृतानि तदाढक द्रोणमत प्रमेयम्।
त्रिभिर्विहीन कुडवैस्तु कार्यं तन्नाडिकायास्तु भवेत्प्रमाणम् ।।२४।।

अर्थ—५० पल पानी का जितना वजन होता है उसे आढक कहते है। उससे एक द्रोण पानी नापो। द्रोण मे से ३ कुडव निकाल दो। शेप पानी को [घटिका पात्र के छिद्र द्वारा वाहर निकलने मे जितना समय लगता है उसे] नाडिका कहते है।

इस श्लोक का कुटप (कुडव) नामक माप जानना आवश्यक है। इसी प्रकार ऊपर सातवे श्लोक में प्रस्थ शब्द भी कालमान का ही द्योतक है, परन्तु वेदाङ्गज्योतिष में उसका नाडिका से कोई सम्वन्ध नही दिखलाया है, अत. यहा इसका विचार करेंगे।

भास्कराचार्य ने लिखा है—

द्रोणस्तु खार्या खलु पोडशाश स्यादाढको द्रोणचतुर्थभाग ।
प्रस्थश्चतुर्थाश इहाढकस्य प्रस्थाङ्घ्रिराद्यै कुडव प्रदिष्ट ।।८।।
लीलावती।

अर्थ— ४ कुडव=प्रस्थ
४ प्रस्थ=आढक
४ आढक=द्रोण

वेदाङ्गज्योतिप मे ५० पलो का आढक वतलाया है, अत

द्रोण=२०० पल=६४ कुडव। आढक=५० पल

प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल। कुडव=३$\frac{१}{८}$ पल।

वेदाङ्गज्योतिपपद्धति के अनुसार द्रोण में से ३ कुडव निकाल देने से नाडिका होती है, अत.—

नाडिका=६१ कुडव=२०० पल=३$\frac{१}{८}$ × ३ पल
=१९०$\frac{५}{८}$ पल

प्रस्थ=१२$\frac{१}{२}$ पल=१२$\frac{१}{२}$ — १९०$\frac{५}{८}$ नाडिका
=$\frac{४}{६१}$ नाडिका।

ऊपर सातवे श्लोक मे दिनमान की वृद्धि १ प्रस्थ वतलायी है। यहा प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ घडी सिद्ध किया है और वह विलकुल शुद्ध है क्योकि आगे २२वे श्लोक मे वतलायी हुई दिनमान लाने की रीति से भी इसकी ठीक सगति लगती है। घटिका पात्र मे १९०$\frac{५}{८}$

पल पानी आने में जो समय लगता है वह एक नाडी का मान सिद्ध हुआ, परन्तु कुछ नियमित पलो मे पानी आने के लिए पात्र के छिद्र के विषय मे भी कोई नियम बतलाना चाहिए था। मालूम होता है पात्र का विशेष प्रचार होने के कारण छिद्र के विषय मे कुछ नही लिखा है। अमरकोष और लीलावती इत्यादि ग्रन्थो मे पल ४ कर्ष अर्थात् ४ तोले के बराबर बताया है। अत घटिका पात्र में $१९०\frac{५}{८}$ पल × ४=$७६२\frac{१}{२}$ तोले अर्थात् ९ सेर से कुछ अधिक पानी अटना चाहिए, परन्तु आजकल की प्रचलित घटिकाओ मे १॥ सेर से अधिक पानी नही समा सकता। पात्र बडा होना अच्छा है क्योकि पात्र जितना बडा होगा उतना ही सूक्ष्म कालज्ञान होगा।

कालवाचक पल शब्द पानी के पल से ही निकला होगा। जितने समय में घटिका पात्र मे एक पल पानी आता है उसे कालात्मक पल कहते रहे होंगे। ज्योतिष ग्रन्थो में अनेको जगह कालात्मक पल के लिए 'पानीयपल' शब्द का प्रयोग किया गया है (सिद्धान्त शिरोमणि देखिये)। वेदाङ्गज्योतिष में '६० पल=१ घटी' यह मान नही है, बल्कि नाडी में $१९०\frac{५}{८}$ पानीय पल बतलाये है। यह मान गणित के लिए अनुकूल नही है अत इसका विशेष उपयोग नही करते रहे होंगे, परन्तु दिन मे ६० नाडिया बतलायी है, अत उसीके अनुसार आगे नाडी मे ६० पल मान लिये होंगे और जैसे $१९०\frac{५}{८}$ पल सम्बन्धी काल को घटिका कहते थे उसी प्रकार घटिका पात्र मे छिद्र द्वारा ६० पल पानी आने मे जितना समय लगता था उसे घटिका कहने लगे होंगे। नाडी में पल चाहे जितने मानिए उसके मान मे कोई परिवर्तन नही होगा। पल ही छोटे बडे हुआ करेंगे। साराश यह कि पात्र का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिससे एक घटी में ६० पल पानी आवे। आजकल भी घटिकापात्र के विषय मे केवल इतना ही विचार किया जाता है कि उसका छिद्र ऐसा हो जिससे एक घटी में पात्र भर जाय। पानी के वजन का कोई विचार नही किया जाता। वेदाङ्गज्योतिष-काल के बाद भी ऐसा ही करने लगे होंगे। वेदाङ्गज्योतिषोक्त नाडीमान थोडा असुविधाजनक मालूम होता है, पर वस्तुत वह सयुक्तिक और अनुकूल है (२२वा श्लोक देखिए)।

ससप्तकुम्भयुक्स्योन सूर्याघोनि त्रयोदश।
नवमानि च पञ्चाह्न काष्ठा पञ्चाक्षरा. स्मृता ॥१८॥
यजु पाठ—ससप्तम भयुक् सोम. सूर्यो घूनि त्रयोदश।

ऋक्पाठ के पूर्वार्ध में 'स्योन' शब्द है। उसके स्थान में चन्द्रवाचक स्येन शब्द रखने से बहुत थोडा पाठभेद होता है।

अर्थ—[कलाओ के] एक सप्तक [और एक सावन दिन] तुल्य (समय तक) चन्द्रमा एक नक्षत्र मे रहता है। सूर्य १३ दिन और दिन के $\frac{५}{९}$ भाग (अर्थात् १३$\frac{५}{९}$ दिन) [तक एक नक्षत्र मे रहता है]। ५ अक्षरो की एक काष्ठा होती है ॥१८॥

सौरवर्ष मे ३६६ और एक युग मे ३६६ × ५=१८३० सावन दिन होते है (यजु पाठ श्लो २८)। एक युग मे चन्द्रमा सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है (यजु पाठ श्लो ३१) अर्थात् ६७ × २७ नक्षत्र चलता है। एक दिन मे ६०३ कलाए होती है (उपर्युक्त १६ वा श्लोक देखिए) अत युग मे १८३० × ६०३ कलाए होगी और चन्द्रमा को एक नक्षत्र भोगने मे (१८३० × ६०३) ÷ (२७ × ६७)= ६१० कला अर्थात् १ दिन ७ कला तुल्य समय लगेगा। सूर्य ३६६ दिनो में २७ नक्षत्रो की एक प्रदक्षिणा करता है। इसलिए उसे एक नक्षत्र भोगने मे ३६६ ÷ २७=१३$\frac{५}{९}$ दिन लगेंगे।

श्रविष्ठाभ्या गुणाभ्यस्तान्प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।
सूर्यान् मासान् षळभ्यस्तान् विद्याच्चान्द्रमसानृतून् ॥१९॥

[इस श्लोक का पूर्वार्ध दुर्बोध है] उत्तरार्ध का अर्थ है—सौरमास की ६ गुनी चान्द्र ऋतुए होती है।

जैसे सूर्य की एक परिक्रमा अर्थात् एक वर्ष मे ६ ऋतुए होती है उसी प्रकार चन्द्रमा की भी एक परिक्रमा मे उसकी ६ ऋतुए मानी जा सकती है। उसे नक्षत्रो की एक परिक्रमा करने में एक सौर मास तुल्य समय लगता है, अत ऋतुए सौर मास से ६ गुनी होगी। यह मान कुछ स्थूल है क्योकि वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा ६० सौर मासो मे नक्षत्र-मण्डल की ६७ प्रदक्षिणा करता है। इसलिये एक सौरमास मे वास्तव चान्द्र-ऋतुसख्या $\frac{६७ \times ६}{६०}$=६$\frac{७}{१०}$ होगी।

या. पर्वभादानकलास्तासु सप्तगुणा तिथिम्।
प्रक्षिपेत् कलासमूहस्तु विद्यादादानकी कला ॥२१॥

पर्वान्तकालीन भ (नक्षत्र) की आदान (भोग्य) कलाओ मे तिथि का सातगुना मिलाने से [उस दिन के अन्त की] आदान कलाए आती है।

प्रत्येक सावन दिन मे ६०३ कलाएँ होती है। एक नक्षत्र मे ६१० कला मानने से सावन दिन मे चन्द्रमा के ६०३ कला भोगने के बाद दिन के अन्त मे ७ कलाए शेष रह जायगी। इसी प्रकार दूसरे दिन के अन्त मे १४ शेष रहेंगी अर्थात् क्रमश.

सात-सात बढती जायगी। इसीलिए कहा है 'सप्तगुणा तिथिम्।' यहा एक अडचन यह है कि तिथि शब्द से सावन दिन का ग्रहण करना पडता है।

यदुत्तरस्यायनतोयन स्याच्छेप तु यद्दक्षिणतोयनस्य।
तदेव पष्टया द्विगुण विभक्त मद्वादश स्याद्दिवसप्रमाणम् ॥२२॥

यजु पाठ

यदुत्तरस्यायनतो गत स्याच्छेप तथा दक्षिणतोयनस्य।
तदेव पष्टया द्विगुण विभक्त सद्वादश स्याद्दिवसप्रमाणम् ॥

१. दोनो पाठो मे तदेवपष्टया के स्थान मे तदेकपष्टया करना ही पडेगा।

अर्थ—उत्तरायण होने के बाद जितने दिन व्यतीत हुए हो अथवा दक्षिणायन के बाद [अयन की समाप्ति होने मे] जितने दिन शेप रह गये हो उनमे दो का गुणा कर गुणनफल मे ६१ का भाग दे। जो लब्धि आवे उसमे १२ जोड देने मे एक दिन का [मुहूर्तात्मक] मान आता है ॥२२॥

उपपत्ति—वर्ष मे ३६६ दिन होते है, इसलिए एक अयन मे १८३ दिन होगे। १८३ दिनो मे दिनमान ६ मुहूर्त बढता है, इसलिए एक दिन मे (१२ मुहूर्त से) $\frac{६}{१८३}=\frac{२}{६१}$ मुहूर्त बढेगा।

उदाहरण—उत्तरायणारम्भ के एक दिन बाद दिनमान $१२+\frac{१\times २}{६१}=१२\frac{२}{६१}$ मुहूर्त $=२४\frac{४}{६१}$ नाडी होगा।

सातवें श्लोक मे एक दिन में एक प्रस्थ वृद्धि बतलायी है और १७ वे श्लोक मे प्रस्थ का मान $\frac{४}{६१}$ नाडी तुल्य सिद्ध किया है। यहा भी वही $\frac{४}{६१}$ नाडी वृद्धि आती है। गुणन-भजनादि में सुभीता होने के लिए यहा ६१ कुडव की एक नाडी मानी गयी है, अत यह सख्या अनुकूल ही है।

तदर्घ दिनभागाना सदा पर्वणि पर्वणि।
ऋतुशेप तु तद्विद्यात् सख्याय सह पर्वणाम् ॥२३॥

यजु पाठ—यदर्घ दिनभागाना । ऋतु सख्याय . ॥

'यदर्घ' पाठ द्वारा यह अर्थ होता है—

प्रत्येक पर्व मे दिनभाग में से जो [तिथि का] आधा शेष रह जाता है वह [सब पर्वो का शेप] एकत्र होने पर ऋतुशेप होता है।

एक पर्व मे दूसरे पर्व पर्यन्त आधा चान्द्रमास होता है। एक युग में १८३० सावन दिन, १२० अर्ध-सौरमास और १२४ पर्व होते है। अर्ध-चान्द्रमास का मान १८३०—

१२४=$१४\frac{९४}{१२४}$ सावन दिन और अर्ध-सौरमास का मान १८३० — १२० =$१५\frac{१}{४}$ =$१५\frac{३१}{१२४}$ सावन दिन होता है। अत प्रत्येक पर्व मे $१५\frac{३१}{१२४}$ = $१४\frac{१५५}{१२४}$ = $\frac{६१}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् आधी तिथि शेष रह जाती है। ऋतुए सौरमास के अनुसार होती है अत इसे अर्ध-चान्द्रमास का शेष मानते हैं। अन्य ज्योतिषग्रन्थो मे इसे अधिमास-शेष कहा है। यह ३० चान्द्रमासो मे $\frac{६१ \times ६०}{१२४}$ = $२९\frac{६४}{१२४}$ सावन दिन अर्थात् ठीक एक चन्द्रमास के बराबर हो जाता है। इसीलिए ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता है। यही उपर्युक्त श्लोक और अधिमास की उपपत्ति है।

अग्नि प्रजापति सोमो रुद्रोदितिबृहस्पति ।
सर्पाश्च पितरश्चैव भगश्चैवार्यमापि च ।।२५।।
सविता त्वष्टाथ वायुश्चेन्द्राग्नी मित्र एव च।
इन्द्रो निर्ऋतिरापो वै विश्वेदेवास्तथैव च ।।२६।।
विष्णुर्वरुणो वसवोऽजएकपात्तथैव च।
अहिर्बुध्न्यस्तथा पूषाश्विनौ यम एव च ।।२७।।

इसमे २७ नक्षत्रो के देवताओ के नाम बतलाये है। नक्षत्रो के नाम यद्यपि नही है तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि देवताओ का आरम्भ कृत्तिका से है। २७ वे श्लोक के 'विष्णुर्वरुणो वसवो' लेखानुसार श्रविष्ठा का देवता वरुण और शतभिषक् का वसु सिद्ध होता है, पर तैत्तिरीयश्रुति और अन्य ज्योतिष ग्रन्थो मे इसके ठीक विपरीत अर्थात् श्रविष्ठा का देवता वसु और शतभिषक् का वरुण बतलाया है। यहा यजु पाठ 'विष्णुर्वसवो वरुणो' ठीक मालूम होता है अत उसका ग्रहण करना ही पडेगा।

नक्षत्र और उनके देवता आगे कोष्ठक मे लिखे है।

श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता	श्रविष्ठादि	कृत्तिकादि	नाम	देवता
८	१	कृत्तिका	अग्नि	२२	१५	अनुराधा	मित्र
९	२	रोहिणी	प्रजापति	२३	१६	ज्येष्ठा	इन्द्र
१०	३	मृगशीर्ष	सोम	२४	१७	मूल	निर्ऋति
११	४	आर्द्रा	रुद्र	२५	१८	पूर्वाषाढा	आप
१२	५	पुनर्वसु	अदिति	२६	१९	उत्तराषाढा	विश्वेदेव
१३	६	पुष्य	बृहस्पति	२७	२०	श्रवण	विष्णु
१४	७	आश्लेषा	सर्प	१	२१	श्रविष्ठा	वसु
१५	८	मघा	पितर	२	२२	शतभिषक्	वरुण
१६	९	पूर्वफल्गुनी	भग	३	२३	पूर्वभाद्रपदा	अजएकपाद
१७	१०	उत्तरफल्गु०	अर्यमा	४	२४	उत्तरभाद्रपदा	अहिर्बुध्न्य
१८	११	हस्त	सविता	५	२५	रेवती	पूषा
१९	१२	चित्रा	त्वष्टा	६	२६	अश्वयुज्	अश्विनौ
२०	१३	स्वाती	वायु	७	२७	भरणी	यम
२१	१४	विशाखा	इन्द्राग्नी				

नक्षत्रदेवता एता एताभिर्यज्ञकर्मणि ।
यजमानस्य शास्त्रज्ञैर्नाम नक्षत्रज स्मृतम् ॥२८॥

अर्थ—[ये नक्षत्रो के देवता [हैं]। शास्त्रज्ञो ने कहा है कि यज्ञ-कर्म मे इनके द्वारा यजमान का नक्षत्र-नाम [रखना चाहिए]।

जिस नक्षत्र में मनुष्य का जन्म होता है उसके चरण के अनुसार नाम रखने की रीति इतर ज्योतिष-ग्रन्थो में है और सम्प्रति उसका प्रचार भी है।

विषुव तद्गुण द्वाभ्या रूपहीन तु षड्गुणम् ।
यल्लब्ध तानि पर्वाणि तथोर्ध्वं सा तिथिर्भवेत् ॥३१॥

अर्थ—[प्रथम विषुव से आरम्भ कर अन्य किसी विषुव पर्यन्त पर्व और तिथि सख्या लानी हो तो] विषुवसख्या में से एक निकाल कर शेष को पृथक्-पृथक् दो और एक मे गुणा करो। फिर दोनो मे ६ का गुणा करो। पहिले ६ गुने तुल्य पर्व और दूसरे ६ गुने तुल्य तिथिया होगी अर्थात् इतना समय व्यतीत होने पर वह विषुव आवेगा।

उदाहरणार्थ मान लीजिए १० वा विषुव लाना है तो विषुवसख्या मे से एक घटा देने से शेष बचा ९। अत पर्वसख्या हुई ९ × २ × ६ = १०८ और तिथिया हुई ९ × १ × ६ = ५४। इन दोनो का योग हुआ १०८ पर्व ५४ तिथि या १११ पर्व ९ तिथि। इसमे युगादि से प्रथम विषुव पर्यन्त के ६ पर्व और ३ तिथिया जोड देने से फल हुआ ११७ पर्व १२ तिथि। अत युगारम्भ के बाद ११७ पर्व १२ तिथि बीत जाने पर अर्थात् पाचवे सवत्सर की कार्तिक-कृष्ण-द्वादशी के अन्त में दसवा विषुव होगा।

इस श्लोक का यजु पाठ है—

विषुवन्त द्विरभ्यस्त रूपोन षड्गुणी कृतम् ।
पक्षा यदर्ध पक्षाणा तिथि स विषुवान् स्मृत ॥

यहा बिना खीचातानी किये ही उपर्युक्त अर्थ ज्यो का त्यो निकल आता है। वह इस प्रकार है—

विषुवसख्या मे से एक निकाल कर [शेष को] द्विगुणित कर पुन ६ का गुणा करने से पक्षसख्या [आती है]। पक्षो की आधी तिथिया होती है। वही तिथि विषु-वान् होती है।

माघशुक्लप्रवृत्तस्तु पौषकृष्णसमापिन. ।
युगस्च पञ्चवर्षाणि कालज्ञान प्रचक्षते ॥३२॥

यजु पाठ

माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्णसमापिन ।
युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञान प्रचक्षते ।।

यहा 'प्रपन्न' के स्थान मे ऋक्पाठ 'प्रवृत्त' और शेष स्थान मे यजु पाठ लेने से अर्थ इस प्रकार होता है—

माघशुक्ल मे प्रवृत्त और पौषकृष्ण मे समाप्त होनेवाले पञ्चवर्षात्मक युग को कालज्ञान कहते है ।

तृतीया नवमीञ्चैव पौर्णमासी त्रयोदशीम् ।
षष्ठीञ्च विषुवान् प्रोक्तो द्वादश्या च सम भवेत् ।।३३।।

तृतीया, नवमी, पूर्णिमा, षष्ठी और द्वादशी तिथियो मे [और फिर क्रमश इन्ही तिथियो मे] विषुवान् होता है ।

वेदो मे विषुवान् दिवस का नाम आया है और पहिले इसका कुछ विचार कर चुके है। एक विषुवान् उत्तरायणारम्भ के ३ सौरमास बाद और दूसरा उसके ६ मास बाद आता है। इस प्रकार वर्ष में २ विषुव होते है । वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति के अनुसार ३ सौरमासो में ९३ तिथिया होती है और युगप्रवृत्ति माघारम्भ में होती है, अत माघ, फाल्गुन और चैत्र, तीनो महीनो के व्यतीत हो जाने पर वैशाखशुक्ल तृतीया के अन्त मे प्रथम विषुवान् होता है। तत्पश्चात् ६ सौरमास अर्थात् ६ चान्द्रमास और ६ तिथियो के व्यतीत होने पर द्वितीय विषुवान् आता है। युग के सब विषुवान् आगे कोष्टक में एकत्र लिखे है।

यहा मूलोक्त 'त्रयोदशी' शब्द का अर्थ नही लगता । शेष श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ठीक है ।

चतुर्दशीमुपवसथ तस्तथा भवेद्यथोदितो दिनमुपैति चन्द्रमा ।
माघशुक्लाह्निको युक्ते श्रविष्ठायाञ्च वार्षिकीम् ।।३४।।

इसमें से नवे अक्षर 'थ' को निकाल देने से निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(कृष्ण) चतुर्दशी के दिन (सूर्य और चन्द्रमा) पास पास रहते है । चन्द्रमा उदित होने पर दिन के पास चला आता है । माघशुक्ल [प्रतिपदा] के दिन श्रविष्ठा नक्षत्र में सूर्य से सयुक्त होता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु का [आरम्भ होने के पूर्व-वाली अमावस्या के अन्त में सयुक्त होता है]।।३४।।

चन्द्रमा का दिन के पास चले आने का अर्थ यह है कि उसका उदय होने के बाद शीघ्र ही सूर्योदय होता है अर्थात् दिन का आरम्भ हो जाता है। यहा माघशुक्ल प्रति-

पदा शब्द से अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि का ग्रहण करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रमा का योग प्रत्येक अमावास्या मे होते हुए भी यहा दो ही अमावास्याओ के निर्देश का कारण यह है कि अमान्त मे उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होने का प्रसग युग मे दो ही वार आता है। प्रथम सवत्सर के प्रथम मास माघ के आरम्भ मे उत्तरायण की प्रवृत्ति होती है और तृतीय सवत्सर के श्रावणारम्भ मे दक्षिणायन प्रारम्भ होता है।

२. (यजुर्वेदज्योतिष)

एकान्तरेह्नि मासे च पूर्वादृत्वादिरुत्तर ॥११॥

पूर्व ऋतु का आरम्भ होने के वाद एकदिन और एकमास के अन्तर मे अर्थात् वीच मे एकमास और एक तिथि छोडकर उत्तर ऋतु का आरम्भ [होता है]। दो सौरमासो की एक ऋतु होती है। आगे कोष्टक मे पाचो सवत्सरो की ऋतुओ के आरम्भमास और तिथिया लिखी है। उनसे पता चलता है कि मूलोक्त 'एकान्तरेह्नि' (एक दिन का अन्तर) शब्द तिथि से सम्वन्ध रखता है।

एकादशभिरभ्यस्य पर्वाणि नवभिस्तिथिम्।
युगलब्ध सपर्व स्यात् वर्तमानार्कभ क्रमात् ॥२५॥

गतपर्वसख्या मे ११ का गुणा कर, उसमे ९ से गुणित तिथिसख्या जोडकर, योगफल मे १२४ का भाग दे। लब्धि में गतपर्वसख्या जोड दे तो [इष्ट तिथि के अन्त मे] वर्तमान सूर्यनक्षत्र आवेगा। यह क्रमश आता है। युग मे १२४ पर्व होने के कारण यहा युग शब्द का अर्थ १२४ किया गया है। नक्षत्र के १२४ विभाग माने गये हैं। कुछ अन्य श्लोको द्वारा भी नक्षत्र के १२४ विभागो की कल्पना सिद्ध होती है। सूर्य एक तिथि मे इस प्रकार के ९ भागो को भोगता है।

उदाहरण—

प्रथमसवत्सर की माघशुक्ल १५ के अन्त मे सूर्यनक्षत्र लाना है, अत यहा तिथि ×९=१५×९=१३५ मे १२४ का भाग दिया। लब्धि आयी १। गतपर्व शून्य है, इसलिए एक नक्षत्र वीतने के पश्चात् दूसरे के ११ भाग वीते हैं। यदि तीसरे पर्व के अन्त का नक्षत्र लाना है तो गतपर्व ३ मे ११ का गुणा किया। फल हुआ ३३। इसमें १२४ का भाग दिया। भजनफल मे ३ जोड दिया। योगफल हुआ ३$\frac{३३}{१२४}$। अत तीन नक्षत्र समाप्त हो जाने के वाद चतुर्थ के ३३ भाग वीते हैं।

त्रिंशत्यह्ना सषट् षष्ठिरब्द षड् ऋतवोऽयने।
मासा द्वादश सूर्या स्युरेतत्पञ्चगुण युगम् ॥२७॥

अर्थ—वर्ष में ३६६ दिन, ६ ऋतुए, दो अयन [और] १२ सौरमास [होते हैं]। युग इसका पञ्चगुणित होता है।

उदया वासवस्य स्युर्दिनराशि स्वपञ्चक ।
ऋषेर्द्विषष्टिहीन स्यात् विंशत्या चैकया स्तृणाम् ॥२९॥

अर्थ—[युग मे वर्ष की] दिन सख्या के पञ्चगुणित (१८३०) वासव (सूर्य) के उदय होते हैं। ऋषि (चन्द्रमा) के उमसे ६२ कम होते हैं।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय पर्यन्त जितना समय होता है, उसे सावनदिन कहते है, इसलिए एक सौरवर्ष में जितने सावनदिन होगे उतने ही सूर्योदय होगे और युग मे उसके पाच गुने अर्थात् १८३० होगे।

यदि सूर्य नक्षत्रो की भाँति स्थिर होता तो उसके भी उदय उतने ही होते जितने कि नक्षत्रो के होते है, परन्तु वह प्रतिदिन थोडा थोडा नक्षत्रो से पूर्व की ओर हटता जाता है, अत आज सूर्य जिस नक्षत्र के साथ उगा है, कल उसके साथ नही उगता वल्कि उसका उदय नक्षत्रोदय के कुछ देर वाद होता है। वर्ष भर में वह एक वार सभी नक्षत्रो में घूम आता है। इसी कारण एक वर्ष मे सूर्योदय की अपेक्षा नक्षत्रोदय १ अधिक अर्थात् ३६७ होते है। अत युग में सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होगे। एक युग मे चन्द्रमा नक्षत्रो की ६७ प्रदक्षिणा करता है (आगे ३१ वा श्लोक देखिए) इसलिए युग मे नक्षत्रोदय की अपेक्षा चन्द्रोदय ६७ कम होते है, अत सूर्योदय से ६२ कम होगे। इस श्लोक के चतुर्थ चरण का अर्थ नही लगता। कदाचित् मूलपाठ मे "सूर्योदय से नक्षत्रोदय ५ अधिक होते हैं" इस अर्थ के सूचक कुछ शब्द रहे हो।

पञ्चत्रिंशच्छत १३५ पौष्णमेकोनमयनान्यृषे ।
पर्वणा स्याच्चतुष्पादी काष्ठाना चैव ता कला ॥३०॥

[एक युग मे] चन्द्रमा के १३४ अयन और १२४ पर्व होते है। १२४ काष्ठाओ की एक कला होती हैं।

मूलोक्त 'पौष्ण' शब्द का ठीक अर्थ नही लगता परन्तु श्लोक का इससे भिन्न अर्थ होने की भी सम्भावना नही है। युग मे चन्द्रमा के ६७ पर्याय होते है, अत ६७×२=१३४ अयनो का होना स्पष्ट ही है। १२ वें श्लोक के अनुसार पाद का अर्थ ३१ होता है, अत चतुष्पदी ३१×४ अर्थात् १२४ के वरावर होगी।

सावनेन्दुस्तृमासाना षष्टि सैका द्विसप्तिका ।
द्युस्त्रिंशत् सावन- सार्ध सूर्य स्तृणा सपर्यय ॥३१॥

[युग में] सावनमास ६१, चान्द्रमास ६२ और (स्तृमास) नाक्षत्रमास (षष्टि सम-

त्मिका) ६७ होते हैं। ३० दिनों का सावन [मास] और ३०½ दिनों का सौरमास होता है। [नक्षत्रमण्डल में चन्द्रमा के एक] पर्याय को नाक्षत्रमास कहते हैं।

एक वर्ष में १२ और एक युग में ६० सौरमास होते हैं। (यजु पाठ २८ वा श्लोक देखिए)। युग की सावनदिन संख्या १८३० में युग की सावन मास संख्या ६१ का भाग देने में लब्धि ३० आती है। इसलिए सावन मास में ३० दिन होते हैं। इसी प्रकार १८३० में युगसौरमास ६० का भाग देने से एक सौरमास में सावनदिन ३०½ आते हैं।

> उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणाश्वयुक्।
> क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूलं यमस्य यत् ॥३३॥

आर्द्रा, चित्रा, विशाखा, श्रवण और अश्वयुज् [नक्षत्र] उग्र हैं। मघा, स्वाती, ज्येष्ठा मूल और यमनक्षत्र (भरणी) क्रूर हैं।

आधुनिक मुहूर्तग्रन्थों में उग्रनक्षत्रों को ही क्रूर भी कहा है। उपर्युक्त नक्षत्रों में से आजकल केवल मघा और भरणी की गणना उग्र या क्रूर में की जाती है। आर्द्रा, मूल और ज्येष्ठा को तीक्ष्ण या दारुण कहते हैं। पर इन्हें उग्र या क्रूर भी कह सकते हैं। शेष नक्षत्रों में से चित्रा को मृदु, विशाखा को मिश्र, श्रवण और स्वाती को चल तथा अश्विनी को लघु या क्षिप्र कहते हैं।

> द्यूनं द्विषष्टिभागेन ह्येयं सूर्यात् सपार्वणम्।
> यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ ॥३७॥

इस पाठ द्वारा यह अर्थ निष्पन्न होता है—

[सावन] दिन में से उसका ६२ वा भाग घटा देने पर जो शेष रहता है उसे चान्द्र [दिन अर्थात् तिथि] कहते हैं। [६० वा भाग जोड देने से सौरदिन होता है[1]] सौरदिन से तिथि छोटी होने के कारण [युग के] मध्य और अन्त में अधिमास आते हैं ॥३७॥

[1] युगीयसावनदिनसंख्या = १८३०। युगीयचान्द्रमाससंख्या = ६२

$$\therefore १\ \text{तिथि} = \frac{१८३०}{६२ \times ३०}\ \text{सावनदिन} = \frac{६१}{६२} = १ - \frac{१}{६२}\ \text{सावनदिन।}$$

$$१\ \text{सौरमास} = ३०\frac{१}{२}\text{सावनदिन।} \therefore १\ \text{सौरदिन} = ३०\frac{१}{२} \div ३०\ \text{सा०दि०}$$

$$= \frac{६१}{६०}\ \text{सावनदिन} = १ + \frac{१}{६०}\ \text{सावनदिन।}\ (\text{अनुवादक})$$

सोमाकर ने गर्ग के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। उनमे वेदाङ्गज्योतिषोक्त पञ्च-संवत्सरात्मक युगपद्धति का पूर्ण वर्णन है। गर्ग ने लव नाम के एक नवीन दिवसभाग की कल्पना की है। उससे समझने में बडा सुभीता होता है। वे गर्ग के वचन ये हैं—

सावनञ्चापि सौरञ्च चान्द्र नाक्षत्रमेव च।
चत्वार्येतानि मानानि यैर्युग प्रविभज्यते ॥१॥
अहोरात्रात्मक लोक्य मानञ्च सावन स्मृतम्।
अतश्चैतानि मानानि प्राकृतानीह सावनात् ॥२॥
तत सिद्धान्यहोरात्राण्युदयाश्चाप्यथार्कजा।
त्रिशञ्चाष्टादशशत १८३० दिनानाञ्च युग स्मृतम् ॥३॥
मासस्त्रिशदहोरात्र पक्षोर्ध सावन स्मृतम्।
अहोरात्र लवानान्तु चतुर्विंशशतात्मकम् ॥४॥
सौर्य तु सूर्यसभूत परिसर्पति भास्करे
यावता ह्युत्तरा काष्ठा गत्वा गच्छति दक्षिणाम् ॥५॥
कालेन सोब्दस्तस्यार्ध अयनन्तु त्रयोर्त्तव।
ऋतोरर्ध भवेन्मासस्त्रिशद्भाग दिनोऽर्कज ॥६॥
तस्यार्धमर्कज पक्षस्तस्मात्पञ्चदश दिनम्।
शत लवाना षड्विंश १२६ लवा पञ्चदश ¹⁵ स्तथा ॥७॥
[1]त्रिशच्चाष्टादशशत १८३० युगमार्कदिनै स्मृतम्।
वृद्धिक्षयाभ्या सभूत चान्द्र मान हि चन्द्रत ॥८॥
लव लवमथोनेन सावनेन निशाकर।
क्षयवृद्धिमवाप्नोति स चान्द्रो मास उच्यते ॥९॥
तस्यार्ध पार्वण पक्षस्तस्मात्पञ्चदशी तिथि।
प्रमाणेन लवानान्तु द्वाविंश शत १२२ मुच्यते ॥१०॥
सोमस्याष्टादशशती युगे षष्ट्याधिका १८६० स्मृता।
यावतात्वेव कालेन भवर्ग त्रिणवात्मकम् ॥११॥
भुक्ते चन्द्र स आर्क्षो मासस्तस्यार्ध पक्ष उच्यते।
आर्क्षात्पक्षात्पञ्चदश नाक्षत्र दिनमुच्यते ॥१२॥
प्रमाणेन लवानान्तु द्वादश शत ११२ मुच्यते।

[1] यह पाठ कुछ अशुद्ध है। १८३० के स्थान में १८०० होना चाहिए।

पष्ट्या तु सप्तपष्टचशो ६६ ६७ नाधिकोऽस्मिन् परोलव ॥१३॥
दशोत्तरैर्द्विसहस्त्रै २०१० युगमार्क्षैदिनै स्मृतम् ॥

ऋग्यजुर्वेदाङ्गज्योतिषविचार

रचनाकाल

अब वेदाङ्गज्योतिष के रचनाकाल का विचार करेगे। ऋक्पाठ के छठे श्लोक मे कहा है कि आश्लेषा के आधे से सूर्य की दक्षिणायन-प्रवृत्ति और श्रविष्ठा के आरम्भ से उत्तरायणप्रवृत्ति होती है। आजकल सूर्य और चन्द्रमा का उत्तरायण तब होता है जब कि वे पूर्वाषाढा के तारो के पास आते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अयनारम्भ उत्तरोत्तर पीछे हटता आ रहा है। इसी को अयनचलन कहते है। आजकल सूक्ष्म अयनचलन या सम्पातगति ज्ञात हो चुकी है। उसके द्वारा वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयन-स्थिति का समय लाया जा सकता है।

कोलब्रूक इत्यादि युरोपियन विद्वानो ने वेदाङ्गज्योतिष का समय इस आधार पर निश्चित किया है कि 'रेवती तारा से नक्षत्रचक्र का आरम्भ मानने से धनिष्ठा का जो विभागात्मक स्थान होता है उसके आरम्भ मे सूर्य और चन्द्रमा के आने पर वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल मे उत्तरायण मानते थे।' इससे आधुनिक धनिष्ठा विभाग के आरम्भ मे ही धनिष्ठा तारा मानना सिद्ध हुआ, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। विभागात्मक धनिष्ठा के आरम्भस्थान से धनिष्ठा की योगतारा ४ अश ११ कला आगे है। ४ अश ११ कला सम्पातगति होने मे ३०० वर्ष लगते है, अत उनका निश्चित किया हुआ समय लगभग ३०० वर्ष आगे आ जाता है। धनिष्ठा के आरम्भ मे उत्तरायण होने का अभिप्राय यह कैसे मान लिया जाय कि धनिष्ठा के किसी कल्पित स्थान के पास चन्द्रमा के आने पर उत्तरायणारम्भ मान लेते थे क्योकि विभागात्मक धनिष्ठा का आरम्भ स्थान कल्पित ही है।

दूसरी मुख्य बात यह है कि वेदाङ्गज्योतिष चाहे जब बना हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके रचनाकाल मे अश्विन्यादि गणना का प्रचार नही हुआ था, अत यह भी स्पष्ट है कि अश्विन्यादि गणना के अनुसार कल्पित आजकल के विभागात्मक धनिष्ठारम्भस्थान को भी वे नही जानते रहे होगे, अत गणितज्ञो को यह स्वीकार करना चाहिए कि विभागात्मक धनिष्ठारम्भ में सूर्य के आने पर उत्तरायणारम्भ मान-कर वेदाङ्गज्योतिष का समय निश्चित करना भूल है। प्रत्यक्ष दिखलायी देनेवाले धनिष्ठा के चार या पाच तारो के पास चन्द्र और सूर्य के आने पर ही उत्तरायणारम्भ मानना उचित होगा। सूर्य चन्द्र का सायनभोग ९ राशि होने पर उत्तरायण होता

है। चूँकि उत्तरायण धनिष्ठारम्भ मे होता था इसलिए धनिष्ठा का सायन भोग ९ राशि होना चाहिए। केरोपन्त धनिष्ठा के तारो में आल्फा डेल्फिनी को योगतारा मानते है। कोलब्रूक के मत मे भी योगतारा[1] यही है। ईसवी सन् १८८७ में मैंने इसका सूक्ष्मभोग निकाला था। वह १० राशि १५ अश ४८ कला २९ विकला आता है[2] अर्थात् ९ राशि से ४५ अश ४८ कला बढ जाता है। सम्पातगति यदि प्रतिवर्ष ५० विकला मानें तो इतनी वृद्धि होने में ३२९७ वर्ष लगेगे। इसमे से १८८७ घटा देने से ईसवी सन् पूर्व १४१० मे धनिष्ठा का भोग ९ राशि आता है। इससे सिद्ध हुआ कि उस वर्ष धनिष्ठा के आरम्भ मे उत्तरायण हुआ था। इस प्रकार वेदाङ्गज्योतिष का यही समय निश्चित होता है। प्रो० ह्विटनी के मतानुसार योगतारा बीटाडेल्फिनी मान लेने से ७२ वर्ष आगे आना पडेगा, अर्थात् वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल ई० स० पूर्व १३३८ मानना होगा। धनिष्ठा नक्षत्र के सब तारे एक अश के भीतर है अत यह समय न्यून या अधिक नही किया जा सकता। सामान्यत ई० स० पूर्व १४०० मानना ठीक होगा। कोलब्रूक इत्यादि लिखते है कि "सन् ५७२ के लगभग रेवती तारा सम्पात में था, अर्थात् उस समय विभागात्मक उत्तराषाढा के प्रथम चरण के अन्त में उत्तरायण होता था। वेदाङ्गज्योतिष में धनिष्ठा के आरम्भ मे बताया है अत दोनो मे २३ अश २० कला अन्तर पडा। सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने में इतना अन्तर पडने में १६८० वर्ष लगेंगे अत ई० स० पूर्व (१६८०-५७२=) ११०८ के लगभग धनिष्ठारम्भ मे उत्तरायण होता था" परन्तु विभागात्मक धनिष्ठारम्भ में उत्तरायणारम्भ मानकर लाया हुआ यह समय वास्तव समय मे ३०० वर्ष आगे चला आया। वस्तुत धनिष्ठा के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले तारो से गणना करनी चाहिए।[3]

[1] पण्डित बापूदेव शास्त्री ने सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद में इसी को योगतारा माना है (Bibliothika Indica New series No I 1860) परन्तु मालूम होता है अपने पञ्चाङ्ग में वे बीटाडेल्फिनी को मानते हैं। उनका यह मतभेद पीछे शायद ह्विटनी के अनुकरण से हुआ होगा। प्रो० ह्विटनी बीटाडेल्फिनी को ही योगतारा मानते हैं (सूर्यसिद्धान्त का बर्जेसकृत अनुवाद पृ० २११ देखिए)। इसका भोग आल्फा-डेल्फिनी से १ अंश कम है।

[2] केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्टक में सन् १८५० का भोग १०।२१।१७ लिखा है पर वह अशुद्ध है। उसके स्थान में १०।१५।१७ होना चाहिए।

[3] सम्पातगति क्रमशः थोड़ी-थोड़ी बढ रही है। ई० स० पूर्व १४०० के आसपास कदाचित् ५० विकला से कम रही होगी। ४८ विकला मानने से उपर्युक्त सभी समय

गणित द्वारा निश्चित किया हुआ वेदाङ्गज्योतिष का उपर्युक्त रचनाकाल बिलकुल निःसंशय है परन्तु कुछ यूरोपियन पण्डित कहते हैं कि भाषासरणी इत्यादि का अवलोकन करने से वह इतना प्राचीन नहीं मालूम होता। जहाँ तक हो सकता है ये लोग हमारे ग्रन्थों को नवीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मोक्षमूलर ने एक जगह इसे ई० स० पूर्व तृतीय शताब्दी का बताया है और प्रो० वेबर को तो यहाँ तक सन्देह है कि यह ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में बना है, अतः इसका थोड़ा विचार करेंगे।

वराहमिहिर लिखते हैं—

आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठाद्यम्।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥१॥
साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत्।
उक्ताभावो विकृतिः प्रत्यक्षपरीक्षणैर्व्यक्तिः ॥२॥
बृहत्संहिता ३ अध्याय
आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य।
युक्तमयनं तदासीत् साम्प्रतमयनं पुनर्वसुतः ॥
पञ्चसिद्धान्तिका।

यहाँ वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वराहमिहिर लिखते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में ऐसा कहा है। इससे मालूम होता है कि उनके समय (शके ४२७) वेदाङ्गज्योतिष बहुत प्राचीन समझा जाता था।

वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में पितामहसिद्धान्त का कुछ गणित लिखा है। लेखनशैली से ज्ञात होता है कि उनके समय वह अत्यन्त प्राचीन हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने भी लिखा है—

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम् ॥
ब्रह्मसिद्धान्त, १ अध्याय, २ आर्या

इससे सिद्ध होता है कि पितामहसिद्धान्त वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के बहुत पहिले बना था। मैंने द्वितीय भाग में दिखलाया है कि पितामहसिद्धान्त का

लगभग १३५ वर्ष पीछे चले जायेंगे। कोलब्रुक इत्यादिकों की रीति से लाया हुआ इस समय (ई० स० पूर्व ११०८) उनके निश्चित किये हुए समय से किञ्चित् भिन्न है। सम्पातगति न्यूनाधिक मानने से तथा रेवतीतारा सम्पातस्थ होने के समय में मतभेद होने के कारण यह अन्तर पड़ा है।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से कुछ साम्य है, अत वेदाङ्गज्योतिष भी अत्यन्त प्राचीन होना चाहिए।

ऊपर गर्गाचार्य के कुछ श्लोक लिखे है। उनमे ज्ञात होता है कि गर्ग के समय वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का बडा महत्व था।

पराशर का वचन है—

श्रविष्ठाद्यात् पौष्णार्धं चरत शिशिरो वसन्त ।

बृहत्संहिता ३ १ भटोत्पलटीका।

इसमे भी वेदाङ्गज्योतिषोक्त अयनप्रवृत्ति का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि वेदाङ्गज्योतिष गर्ग और पराशर से प्राचीन है। उनकी संहिताओ मे वेदाङ्ग-ज्योतिषपद्धति मिलती अवश्य है, परन्तु मालूम होता है उस समय उत्तरायण ठीक धनिष्ठारम्भ मे नही होता था। उसमे कुछ अन्तर पड गया था।

भटोत्पल ने बृहत्संहिता के तृतीयाध्याय में "अप्राप्तमकर" श्लोक की टोका मे गर्ग का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

यदा निवर्ततेऽप्राप्त श्रविष्ठामुत्तरायणे ।
आश्लेषा दक्षिणेऽप्राप्तस्तदा विन्द्यान्महद्भयम् ।।

इसी प्रकार पराशर का भी वचन लिखा है। इससे विदित होता है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष गर्ग और पराशर से बहुत पहिले बन चुका था। इन गर्ग और पराशर का समय निश्चित करना बडा कठिन है, परन्तु महाभारत मे गर्ग नाम के ज्योतिषी बडे प्रसिद्ध है (गदापर्व, अध्याय ८, श्लोक १४ तथा आगे के श्लोको को देखिए)। पातञ्जलिमहाभाष्य मे भी गर्ग का नाम अनेको बार आया है। पाणिनीय मे भी गर्ग और पराशर के नाम आये है (४।३।११०, ४।१०।१०५)। इससे सिद्ध हुआ कि गर्ग और पराशर पाणिनि से प्राचीन है और वेदाङ्गज्योतिष उनसे भी प्राचीन है। डा० भाण्डारकर के मतानुसार पाणिनि का समय ई० स० पूर्व सातवी शताब्दी का आरम्भ काल है। कैलासवासी कुटे ने ई०स० पूर्व नवी शताब्दी का आरम्भ बताया है। पाणिनीय मे संवत्सर और परिवत्सर शब्द आये है (५।१।९२)। वेदाङ्गज्योतिषोक्त आढक और तत्कालीन खारी इत्यादि मान भी पाणिनि के समय प्रचलित थे (५।१।५३ इत्यादि)। इन सब हेतुओ से भी यही अनुमान होता है कि वेदाङ्गज्योतिष पाणिनि से प्राचीन है।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि ऐतरेयब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता ब्राह्मणोक्त विषुवान् दिवस जो कि बडा महत्वशाली पदार्थ है, उसे लाने की रीति वेदाङ्ग-

ज्योतिष की भांति अन्य किसी ज्योतिषग्रन्थ मे जानबूझ कर नही बतायी है। दूसरी बात यह कि वेदाङ्गज्योतिष का मुख्य उद्देश्य पर्वज्ञान करना है, अत वह उस समय बना होगा जब कि भारत मे वेदोक्त यज्ञमार्ग पूर्ण प्रचलित था। भाषा की दृष्टि से 'यथा शिखा मयूराणा' इत्यादि कुछ श्लोक कदाचित् अर्वाचीन हो परन्तु सब श्लोको के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता।

मार्टिन हौ ने अपने वेद विषयक व्याख्यान मे लिखा है कि "वेदाङ्गज्योतिष (ऋ० श्लो० ७) में घर्म शब्द दिवस अर्थ मे आया है परन्तु घर्म शब्द का इस भांति प्रयोग पाणिनि के पूर्व यास्काचार्य के समय भी बन्द था। श्रौतस्मार्त सूत्र ईसवी सन् पूर्व १२०० से ६०० पर्यन्त बने। वेदाङ्गज्योतिष भी उसी समय बना होगा।" ज्योतिष की परिभाषाओं का विचार करने से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिष को अर्वाचीन कहना निराधार है। 'वेद चार है' इस प्रकार सख्या इत्यादि का निर्देश करने के विषय में उसकी भाषा अन्य ज्योतिष ग्रन्थो से बिलकुल भिन्न है।

प्रो० वेबर का कथन है कि "वेदाङ्गज्योतिष मे नक्षत्रो के नाम अर्वाचीन ग्रन्थो के है और मेषादि राशियो के नाम भी आये है।" राशि शब्द जिस श्लोक मे आया है उसका अर्थ मैने ऊपर लिखा है। वेदाङ्गज्योतिष मे राशियो के नाम तो नही ही है पर नक्षत्रो के भी अर्वाचीन नाम नही है। नक्षत्रो मे से स्पष्टतया ऋक्पाठ मे केवल श्रविष्ठा का नाम आया है। वह भी अर्वाचीन ग्रन्थोक्त धनिष्ठा नही है। यजु पाठ के ३२ वें श्लोक मे नक्षत्रो के ९ नाम है। उनमे अश्वयुक् प्राचीन है। नवीन अश्विनी शब्द नही आया है। शेष प्राचीन और नवीन नाम समान ही है। ऋक्पाठ के १४ वें श्लोक मे नक्षत्र चिह्नो द्वारा बतलाये है। उनमे अश्वयुक् और शतभिषक् दो नाम ऐसे है जिनमे प्राचीन और नवीन का भेद पहिचाना जा सकता है। ये दोनो प्राचीन है। एक नाम श्रवण भी है। यद्यपि तैत्तिरीयब्राह्मण की भाँति यहा श्रोणा शब्द नही आया है तथापि श्रवण नाम अथर्वसहिताकाल और पाणिनिकाल मे भी प्रचलित था (पाणिनीय ४।२।५, ४।२।२३)। अत वेबर का कथन बिलकुल हेय है और गणित द्वारा जो समय लाया गया है वही वेदाङ्गज्योतिष का ठीक रचनाकाल है।

रचनास्थल

अब वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान के स्थान का विचार करेगे। ऋक्पाठ के ७ वे और २२ वे श्लोको से दिनमान की दैनन्दिन वृद्धि $\frac{४}{६१}$ घटी और अयनान्त के समय दिनमान २४ या ३६ घटी आता है। इस प्रकार रवि की परमक्रान्ति के समय दिनार्ध १२ या १८ घटी और चरसस्कार ३ घटी हुआ। ई० स० पूर्व १४०० के लगभग

रवि की परम क्रान्ति २३ अंश ५३ कला थी (केरोपन्ती ग्रहसाधनकोष्टक का पृ० ५५ देखिए)। हमारे ज्योतिष ग्रन्थकार परम क्रान्ति २४ अंश मानते हैं। यहां दोनों के अनुसार अक्षांश लावेंगे। उसकी रीति इस प्रकार है—

चरभुजज्या × क्रान्तिकोस्पर्शरेखा।
= अक्षांशस्पर्शरेखा।
चर ३ घटी = १८ अंश।
१८° भुजज्या लाग्रयम् ९ ४८९९८२
२४° को स्प० रे० लाग्रयम् १० ३५१४१७
३४°। ४५°८ स्प० रे० = ९ ८४१३९९

१८° भुजज्या लाग्रयम् ९ ४८९९८२
२३°।५३′ कोस्प० ला० १० ३५३८०१
३४°।५४′६ स्प० रे० = ९ ८४३७८३

इससे मालूम होता है कि वेदाङ्गज्योतिषोक्त दिनमान ३४।४६ या ३४।५५ अक्षांशवाले स्थल के आसपास का है। दिनमान की वृद्धि सर्वदा एक रूप मानकर ऊपर उसकी दैनन्दिन वृद्धि $\frac{४}{६१}$ घडी बतायी है, पर वस्तुतः ऐसा नहीं होता। अयनसन्धि के पास दिनमान की वृद्धि बहुत कम और विषुवसन्धि के पास बहुत अधिक होती है। ३५ अक्षांश वाले प्रदेश में अयनसन्धि के समय दिनमान दो दिनों में अधिकाधिक $\frac{१}{६१}$ घटी बढ़ता है पर विषुवसन्धि के समय एक ही दिन में लगभग $\frac{५१}{६१}$ घटी बढ़ जाता है।

(अयनचलन)

वेदाङ्गज्योतिष में युगारम्भ उत्तरायणारम्भ में बतलाया है और धनिष्ठारम्भ में भी। इससे विदित होता है कि उस समय अयनचलन का ज्ञान नहीं था।

वेदाङ्गज्योतिषोक्त वर्षादिकों के मान आगे कोष्टक में लिखे हैं।

युग मे	मवत्सर	विपुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
		वैशाख	माघ शुक्ल १	चैत्र शुक्ल २
सौरमास	सवत्सर	शुक्ल ३	चैत्र शुक्ल ३	ज्येष्ठ शु० ४
६०	३५५	कार्तिक	ज्येष्ठ शु० ५	श्रावण शु० ६
चान्द्रमास	दिन	शुक्ल ९		
६२				
अधिमास			श्रावण शु० ७	आश्विन शु ८
२				
सावनदिन			आश्विन शु० ९	मार्गशी शु १०
१८३०				
			मार्गशी शु ११	
तिथि			माघ शु० १३	माघ शुक्ल १२
१८६०	परिवत्सर	वैशाख		
क्षयतिथि			चैत्र शु० १५	चैत्र शु० १४
३०	३५४	शुक्ल १५		
			ज्येष्ठ कृ० २	ज्येष्ठ कृ० १
नाक्षत्रमास	दिन	पूर्णिमा		
६७			श्रावण कृ० ४	श्रावण कृ० ३
नक्षत्र				
१८०९		कार्तिक	आश्विन कृ० ६	आश्विन कृ ५
वृद्धिनक्षत्र		कृष्ण ६		
२१			मार्गशी कृ ८	मार्गशी कृ ७

सवत्सर	विपुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
इदावत्सर ३८४	वैशाख कृष्ण १२ कार्तिक शु० तृतीया	माघ कृ० १० चैत्र कृ० १२ ज्येष्ठ कृ० १४ श्रावण शु० १ आश्विन शु० ३ मार्गशीर्ष शु० ५	माघ कृ० ९ चैत्र कृ० ११ ज्येष्ठ कृ० १३ अ० श्राव० ३० आश्विन शु० २ मार्गशीर्ष शु० ४
अनुवत्सर ३५४	वैशाख शुक्ल ९ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा १५	माघ शु० ७ चैत्र शुक्ल ९ ज्येष्ठ शुक्ल ११ श्रावण शुक्ल १३ आश्विन शु० १५ मार्गशीर्ष कृ० २	माघ शुक्ल ६ चैत्र शु० ८ ज्येष्ठ शुक्ल १० श्रावण शु० १२ आश्विन शु० १४ मार्ग कृ० १

सवत्सर	विपुवान्	ऋत्वारम्भ	क्षयतिथि
इद्वत्सर ३८३	वैशाख कृष्ण ६ कार्तिक कृष्ण १२	माघ कृष्ण ४ चैत्र कृ० ६ ज्येष्ठ कृ० ८ श्रावण कृ० १० आश्विन कृ० १२ मार्गशीर्ष कृ० १४	माघ कृ० ३ चैत्र कृ० ५ ज्येष्ठ कृष्ण ७ श्रावण कृ० ९ आश्विन कृ० ११ मार्गशीर्ष कृ० १३ अधि० माघ कृ० ३०
१८३०	१०	३०	३०

युगान्तर्गत अयनो के आरम्भकाल पीछे पृष्ठ मे लिखे है। इस कोष्टक मे युग की ३० ऋतुओ के आरम्भ दिन लिखे है। इनमें से प्रत्येक दो-दो ऋत्वारम्भ कालो के बीच मे एक सौरमास आरम्भ होता है। इस प्रकार ६० मासारम्भ होते है। यही पाच वर्षो की ६० सूर्य सक्रान्तिया है। युगादि से ३० चान्द्रमास वीतने पर तृतीय वर्ष के आपाढ और श्रावण के मध्य मे एक अधिमास होता है और इसके बाद पुन ३० चान्द्र-मास व्यतीत होने पर पाचवे वर्ष मे पौप के बाद दूसरा अधिमास आता है। इस प्रकार प्रत्येक युग मे श्रावण और माघ अधिमास होते है। एक युग मे १८३० सावन दिन और १८६० तिथिया होती है, इसलिए क्षयतिथिया ३० मानी जाती है। युग मे चन्द्रमा की ६७ प्रदक्षिणा होती है, इसलिए नक्षत्र (६७ × २७) १८०९ होते है अर्थात् १८३० सावनदिनो मे २१ नक्षत्रो की वृद्धि होती है। नक्षत्रो का आरम्भ श्रविष्ठा से होता है, उनके नाम ऊपर ऋग्वेदज्योतिप के २५-२७ श्लोको मे लिखे है। वेदाङ्गज्योतिपपद्धति मे सूर्य और चन्द्रमा की गति सर्वदा एक रूप मानी गयी है। इसीको अन्य ज्योतिप ग्रन्थो मे मध्यम गति कहते है। मध्यमतिथि का मान सावन दिन से छोटा होने के कारण तिथि की वृद्धि कभी नही होती और मध्यम नक्षत्र का मान सावन दिन से बडा होने के कारण नक्षत्र का क्षय भी कभी नही होता।

उपर्युक्त विचारो से यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिपपद्धति के अनुसार एक वार यदि पाच वर्ष का पञ्चाङ्ग बना लिया जाय तो वही प्रत्येक युग मे काम दे सकेगा। ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से यहा पञ्चाङ्ग नही बनाया, पर उसकी मुख्य बाते ऊपर बतला दी है।

अब यह विचार करेंगे कि वेदाङ्गज्योतिपोक्त वर्षादि मानो में त्रुटि कितनी है।

	वेदाङ्गज्योतिप	सूर्यसिद्धान्त	आधुनिकयूरोपियन मान
युगीय सावनदिन	१८३०	१८२६ २९३८	१८२६ २८१९ (नाक्षत्रसौर)
६२ चान्द्रमासो के दिन	१८३०	१८३० ८९६१	१८३० ८९६४
९५ वर्षो मे सावन दिन	३४७७०	३४६९९ ५८	३४६९९ ३६ (नाक्षत्र सौरवर्ष) ३४६९८ ०३ (सायन सौरवर्ष)[1]
११७८ चान्द्रमासोमे दिन	३४७७०	३४७८७ ०३	३४७८७ ०२

[1] ई० स० पूर्व लगभग १४०० के सायन वर्षमान द्वारा यह संख्या लायी गयी है।

इससे विदित होता है कि चान्द्रमास के मान में बहुत थोडी और सौरवर्ष के मान मे अधिक[1] अशुद्धि है। अत अयनारम्भ यदि एक वार माघ शुक्ल प्रतिपदा को हुआ तो द्वितीय युग के आरम्भ मे लगभग ४ दिन पहिले होगा और ९५ वर्षो मे लगभग ७२ दिन पहिले होने लगेगा। यद्यपि चान्द्रमास मे अशुद्धि कम है, तो भी ५ वर्षो मे लगभग ५४ घटी की कमी पड जाती है। अत वेदाङ्गज्योतिपपद्धति के अनुमार अमावास्या और पूर्णिमा मानने से उनमे ५ वर्षो मे लगभग एक दिन का अन्तर पड जायगा। अयन सम्बन्धी अशुद्धि शीघ्र ध्यान में नही आती परन्तु अमावस्या और पूर्णिमा की स्थिति ऐसी नहीं है। अत गणित मे सौकर्य होने के लिए युगमे १८३० मानते हुए भी उस समय पूर्णिमा का ज्ञान चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति द्वारा ही करते रहे होंगे। यह पद्धति भी १८३१ दिन मानने के समान ही हुई। ९५ वर्षो मे ३८ अधिमास मिला कर ११७८ चान्द्रमास ग्रहण करने से वास्तविक दिनसख्या ३४७८७ होगी। वेदाङ्गज्योतिपानुमार भी कम से कम ३४७७० अवश्य ही होगी अर्थात् पहिली माघ शुक्ल प्रतिपदा के इतने दिनो वाद ९६वें वर्ष की माघ शुक्ल प्रतिपदा आवेगी। अत ९५ वर्षो का वास्तव सायन सौरमास ३४६९८ दिन होने के कारण वेदाङ्गज्योतिपपद्धति के अनुसार ९६ वे वर्ष की जो माघशुक्ल प्रतिपदा होगी उसके लगभग ८९ दिन या कम से कम ७२ दिन पहिले उत्तरायण होगा। इस प्रकार यहा लगभग ३ या २½ चान्द्रमासो का अन्तर पडता है। वेदाङ्गज्योतिपपद्धति से ९५ वर्षो[2] में ३८ अधिमास होते है। उसके स्थान में ३५ मान लेने से यह अन्तर नही पडेगा। यदि ऐसा नही करेंगे तो ३०० वर्षो में ३ ऋतुओ का अन्तर पड जायगा। यह वहुत अधिक है।

जिस पद्धति मे इतनी अशुद्धि है उसका वहुत समय तक सर्वत्र प्रचलित रहना असम्भव है। अत यह अनुमान करना ही पडता है कि वेदाङ्गज्योतिपपद्धति वहुत समय तक सर्वत्र प्रचलित नहीं रही होगी। इस पद्धति से अधिक मास, क्षयतिथि और नक्षत्र-

[1] श्री विसाजी रघुनाथ लेले का कथन यह है कि 'यूरोपियन ज्योतिषी भी यह स्वीकार करते हैं कि वर्षमान उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है।' अत सम्पात के इसके पहिलेवाले चक्र में अर्थात् २८ सहस्र वर्ष पूर्व वेदाङ्गज्योतिष वना होगा और उस समय वर्षमान सचमुच ३६६ दिनो का रहा होगा।

[2] यहाँ वर्षसख्या ९५ मानने का कारण यह है कि इससे कम दूसरी कोई ऐसी सख्या नहीं है जिसमें वेदाङ्गज्योतिषपद्धति और आधुनिक सूक्ष्मपद्धति दोनो से अधिक मास सख्या पूर्ण आती हो। वेदाङ्गज्योतिपपद्धति से ९५ वर्षो में अधिमास ३८ आते हैं और आधुनिक सूक्ष्मपद्धति से लगभग ३५।

वृद्धिया सर्वदा एक ही होती है और इन वातो का धार्मिक कृत्यो मे वडा महत्व है। अधिमास तो वेदो मे भी निन्द्य माना हुआ दीखता है, अत वेदाङ्गज्योतिप-पञ्चाङ्ग सर्वत्र अथवा अधिकाश प्रदेशो मे वहुत समय तक प्रचलित रहा होता तो उसके नियमित अधिमासादिको का उल्लेख सूत्रादि ग्रन्थो मे कुछ-न-कुछ अवश्य होता परन्तु ऐसा नही है। इससे अनुमान होता है कि इसका प्रचार देश के कुछ ही भागो मे कुछ समय तक रहा होगा। इस वात का पोपक एक और भी प्रमाण यह है कि वेदाङ्गज्योतिपोक्त दिनमानवृद्धि लगभग ३४ अक्षाशवाले प्रदेशो ही मे लागू होती है। परन्तु इन सव वातो से यह न समझना चाहिए कि वेदाङ्गज्योतिप का रचनाकाल ई० स० पूर्व १४०० से भिन्न होगा। तैत्तिरीयश्रुति मे सवत्सरो के नाम कही चार कही पाच और कही छ है। इसका कारण हमे यह मालूम होता है कि उस समय वेदाङ्गज्योतिप की पञ्च-सवत्सरात्मक पद्धति का पूर्ण प्रचार नही हुआ था। पाच वर्पो के वाद उन्हे सामान्यत यह दिखलाई पडा होगा कि पहिले जिन चान्द्रमासो मे अयनारम्भ होता था उन्ही मे अव भी हो रहा है। उस समय पाच सवत्सरो के नाम पडे होगे परन्तु आगे चलकर जव उसमे अन्तर दिखलाई पडा होगा तव कभी चार और कभी छ सवत्सरो का युग माना गया होगा। कुछ दिनो तक व्यवहार मे किसी भी युग का प्रचार न रहा होगा। उसके कुछ समय वाद वर्प मे ३६६ दिन मानने से पञ्चवर्षात्मक युग के गणित मे सरलता देखकर वेदाङ्गज्योतिपकार ने उसका प्रचार किया होगा और उसकी पद्धति वनायी होगी परन्तु आगे चलकर वह पद्धति वहुत शीघ्र ही छोड देनी पडी होगी अथवा विलकुल न छोड कर योग्य स्थान मे अधिमास मिलाकर अर्थात् लगभग ९५ वर्पो मे ३८ नही वल्कि ३५ अधिमास मान कर पूर्वापर सगति लगाते हुए उक्त पद्धति स्वीकार की गयी होगी। धर्मकृत्यो का विधान प्राय चान्द्रमास के अनुसार होने के कारण हमारे यहा अनादिकाल से ही सर्वदा उसका प्रचार रहा है और इस पद्धति मे एक वडा सुभीता यह है कि चान्द्रमासो मे अधिक मास का उचित स्थान मे प्रक्षेपण करते हुए सौरमासो से उनका मेल रखा जा सकता है। मैने अपना यह अनुमान प्रथम विभाग मे लिखा ही है कि वेदकाल मे भी यही पद्धति प्रचलित रही होगी। लगभग १००० वर्पो तक उत्तरा-यण धनिष्ठा मे ही रहा होगा। अधिक मास मिलाने का नियम वदलने, युगारम्भ कालीन माघारम्भ मे धनिष्ठा में उत्तरायण लाने और पाच सवत्सरो के नाम स्थिर रखने की पद्धति कई शताब्दियो तक प्रचलित रहने में कोई अडचन नही दिखलाई देती। साराश यह कि वेदाङ्गज्योतिपपद्धति अपने मूल स्वरूप से च्युत हो जाने पर भी कुछ भिन्न रूप में वहुत दिनो तक चलती रही होगी। यही कारण है कि गर्गादिको के लेखो मे इसके उल्लेख मिलते है। साठ सवत्सरो का वार्हस्पत्यसवत्सरचक्र पञ्चवर्पात्मक

युगपद्धति के अनुकरण द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। इसका अधिक विवेचन दूसरे विभाग में किया जायगा। मालूम होता है वेदाङ्गत्व प्राप्त होने के कारण इस पद्धति का महत्व बहुत बढ गया था। इसे वेदाङ्गत्व कब प्राप्त हुआ यह निश्चित रूप मे तो नही बतलाया जा सकता परन्तु अनुमानत इसकी उत्पत्ति के बाद २०० वर्षो के भीतर अर्थात् धार्मिक और व्यावहारिक कार्यो मे इसके मूल स्वरूप का निरुपयोगित्व दिखाई देने के पहिले ही ऐसा हुआ होगा। वराहमिहिर ने यद्यपि इसे कही वेदाङ्ग नही कहा है तथापि अपने समय में यह (वेदाङ्गज्योतिषपद्धति) वेदाङ्ग अवश्य रही होगी।

ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) ने एक जगह लिखा है—

युगमाहु पञ्चाब्द रविशशिनो महिताङ्गकारा ये।
अधिमासावमरात्रस्फुटतिथ्यज्ञानतस्तदसत् ॥२॥
ब्र० सि० अ० ११।

यहा अङ्ग शब्द वेदाङ्गज्योतिष के ही उद्देश्य से कहा हुआ जान पडता है। आजकल भी इसे वेदाङ्ग मानते ही है।

अपपाठ

निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि वेदाङ्गज्योतिष के ऋक्पाठ में अशुद्धियो का प्रवेश कब हुआ परन्तु वराहमिहिर के 'पञ्चाशत्पलमाढक' तथा भटोत्पल के 'चतुर्भिराढकैर्द्रोण' वाक्य से प्रतीत होता है कि उनके समय तक (शके ४२७ और ८८८) अशुद्धिया प्रविष्ट नही हुई थी। भटोत्पल ने बृहत्सहिता के ८ वें अध्याय के उपान्त्य श्लोक की टीका में ऋक्पाठ के ३२ वें श्लोक का उत्तरार्ध लिखा है। मेरे पास की हस्तलिखित प्रति में वह इस प्रकार है—

युगस्य पञ्चमस्येह कालज्ञान निबोधत ॥

इसमे 'पञ्चमस्य' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान में 'पञ्चवर्षस्य' होना ही चाहिए। आधुनिक वैदिक पाठ मे 'निबोधत' के स्थान मे 'प्रचक्षते' है। यजु पाठ मे भी 'निबोधत' नही है। यदि भटोत्पल का मूल शब्द 'निबोधत' ही हो तो कहना पडेगा कि सम्प्रति बिलकुल निश्चित समझा जानेवाला वैदिक पाठ शके ८८८ पर्यन्त निश्चित नही हुआ था। परन्तु कुछ और प्रमाण मिले बिना यह अनुमान नि सन्देह नही कहा जा सकता।

प्रधान पाठ

वराहमिहिर और भटोत्पल द्वारा उद्धृत उपर्युक्त वाक्य ऋक्पाठ के १७ वे श्लोक मे है। इन्ही अर्थो का सूचक यजु पाठ का २४ वा श्लोक भी ऊपर लिखा है,

परन्तु उसकी शब्दरचना बिलकुल भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक लोग आजकल जो ऋग्ज्योतिष पढते है वही वराहमिहिर और भटोत्पल के समय भी शुद्ध रूप मे प्रचलित रहा होगा। यजु पाठ का प्रचार नही रहा होगा। कम से कम ऋक्पाठ का उस समय प्राधान्य तो अवश्य रहा होगा। आर्यभटीय के टीकाकार सूर्यदेव यज्वन् ने वेदाङ्गज्योतिष के दो श्लोक टीका मे लिखे है (डा० केर्न के आर्यभटीय की प्रस्तावना देखिए)। ये ऋग्ज्योतिष के ३५ वे और ३६ वे श्लोक है। इनका क्रम भी ऋक्पाठ के अनुसार ही है। यजु पाठ मे ये क्रमश चतुर्थ और तृतीय श्लोक है। टीका के पूर्वापर सन्दर्भ से मालूम होता है कि वहा प्रथम या अन्तिम श्लोक अभीष्ट था। इससे सूर्यदेव के समय भी ऋक्पाठ का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। सूर्यदेव यज्वन् का समय ज्ञात नही है, पर वे भटोत्पल से नवीन होगे।

सूर्यदेव के इसी उल्लेख मे ३५ वे श्लोक के उत्तरार्ध मे 'तद्वत्' के स्थान मे 'तथा' पाठ है, परन्तु वह ऋक् और यजु दोनो मे भी नही मिलता। अत यह पाठ यदि मूलत सूर्यदेव का ही है तो कहना पडेगा कि सूर्यदेव के समय कम से कम उनके प्रान्त मे आजकल की तरह वैदिक पाठ निश्चित नही हुआ था।

वराहमिहिर भटोत्पल और सूर्यदेव यज्वन् को यजु पाठ मालूम था या नही, इसके विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता परन्तु यजु पाठ प्राचीन अवश्य है क्योकि उसमें ऋक्पाठ के ६ ही श्लोक नही है और उसमें भी महत्व के केवल तीन ही श्लोक १३, १९ और ३३ नही है। दूसरी बात यह कि ऋक्पाठ की अपेक्षा उसमे १३ श्लोक अधिक है। तदन्तर्गत विषयो से बिलकुल स्पष्ट है कि ये श्लोक तभी के है जब कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति प्रचलित थी। हो सकता है लगध के ही हो। यजु पाठ के ३६ वे श्लोक मे बतलाये हुए उग्र और क्रूर नक्षत्र अन्य ज्योतिष ग्रन्थो से बिलकुल भिन्न है। इससे भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। परन्तु लगध के मूल श्लोको के अतिरिक्त कुछ नवीन श्लोक उसमें पीछे से मिश्रित हो गये होगे क्योकि इसके २४ वें श्लोक की शब्दरचना ऋक्पाठ से बिलकुल भिन्न है। २१ वा श्लोक भी बहुत भिन्न है। दूसरी बात यह कि दोनो पाठो मे जिन श्लोको का अर्थ नही लगा है उनमे से कुछ समानार्थक होगे और मेरी समझ मे कुछ कदाचित् परस्पर विरुद्ध अर्थ के भी होगे।

वेदाङ्गज्योतिष के दोनो पाठो मे श्लोको का क्रम सुसगत नही है। सब श्लोक विषयो की सगति के अनुसार रखे जाय तो उनका क्रम बहुत बदल जायगा। इससे अनुमान होता है कि आधुनिक क्रम की रचना पीछे मे हुई होगी और सम्भवत रचना के समय कुछ श्लोक बिलकुल छूट गये होगे। इस कथन की पुष्टि करनेवाला एक दृढ प्रमाण यह है कि काष्ठा और अक्षर नामक परिमाण केवल एक ही श्लोक मे लिखे है

और उनका इतर परिमाणो से सम्बन्ध कही भी नही दिखाया है। उनका प्रयोग भी कही नही किया है। यह तो स्पष्ट है कि ये शब्द निष्प्रयोजन नही लिखे होगे, अत मानना पडता है कि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ श्लोक लुप्त हो गये होगे।

ग्रहगति

वेदाङ्गज्योतिष मे केवल सूर्य और चन्द्रमा की गतिया बतायी है। ग्रहो के विषय मे कुछ नही लिखा है। कुछ श्लोको का अर्थ नहीं लगा है परन्तु हम निश्चयपूर्वक कहते है कि जिन श्लोको का अर्थ लग चुका उनकी अपेक्षा अधिक महत्व का कोई विषय न लगे हुए श्लोको में नहीं है।

मध्यमगति

सूर्य और चन्द्रमा की सर्वदा एक रूप रहनेवाली अर्थात् मध्यम गतिया बतायी है। वस्तुत ये क्षण-क्षण मे न्यूनाधिक हुआ करती है। इस कारण सूर्य की स्पष्टस्थिति लगभग २ अश और चन्द्रमा की लगभग ८ अश आगे पीछे हो जाती है। स्पष्टस्थिति और मध्यम स्थिति के भिन्नत्व (अन्तर)को ही फल संस्कार कहते है। इसका आनयन ज्योतिष का एक बडा महत्वशाली विषय है। मालूम नही, वेदाङ्गज्योतिषकाल मे उसका ज्ञान था या नही। ब्रह्मगुप्त की पृ० १३४ मे लिखी हुई आर्या मे उनका कथन ऐसा मालूम होता है कि उस समय स्पष्टस्थिति का ज्ञान नही था।

सूर्य चन्द्र की गतिस्थिति का सर्वदा सूक्ष्म अवलोकन और विचार किये विना उनकी मध्यम और स्पष्टस्थिति का भेद समझ मे नही आ सकता। स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान न होते हुए भी वेदाङ्गज्योतिषकाल मे मध्यमस्थिति का ज्ञान था,यह वात भी भूषणास्पद ही है। ग्रहण पर्वान्त के आसपास होते है, यह मालूम रहने पर ही ग्रहण के समय उनके अन्तर का निरीक्षण किया जा सकता है। सूर्य या चन्द्रमा की एक प्रदक्षिणा आरम्भ होने के वाद कुछ प्रदक्षिणाए समाप्त होने मे जो समय लगता है उसकी गणना किये विना उनकी एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी काल तथा दैनिक मध्यमगति का ज्ञान नही हो सकता। अत यह स्पष्ट है कि वेदाङ्गज्योतिष की रचना से पहिले लोगो ने इतना अनुभव अवश्य किया था। सूर्यदर्शन के समय उसके पास के नक्षत्र नही दिखाई देते। शायद इसी कारण सौरवर्ष के मान में अधिक अशुद्धि रही।

मध्यम गति से लाया वेदाङ्गज्योतिष के अयनो और विषुव दिनो में १८३ का

और अयनदिन से विषुव दिन पर्यन्त ९१$\frac{5}{16}$ दिन का अन्तर है परन्तु ई० स० पूर्व १४०० के लगभग वे निम्नलिखित अन्तर से हुआ करते थे—

	दिन	घटी
उत्तरायण से प्रथम विषुव पर्यन्त	९१	५
प्रथम विषुव से दक्षिणायन पर्यन्त	९४	५
दक्षिणायन से द्वितीय विषुव पर्यन्त	९१	३०
द्वितीय विषुव से उत्तरायण पर्यन्त	८८	३५
	३६५	१५

ऋग्वेदज्योतिष मे वर्ष अर्थ मे केवल दो शब्द सवत्सर और वर्ष आये है। यजुर्वेदज्योतिष मे इन दोनो के अतिरिक्त एक अब्द-शब्द भी है (श्लोक २८)। वेदो मे केवल शतपथ ब्राह्मण मे इसके वर्ष और अब्द नाम आये है।

अमान्त मास

एक विशेष बात यह है कि इसमे मास अमान्त माना है।

आदिनक्षत्र

वेदाङ्गज्योतिष मे आदि नक्षत्र धनिष्ठा है। ऋक्पाठ के २५, २६ और २७ श्लोको मे नक्षत्रो के देवता बतलाये है। वेद की भाँति यहा भी उनका आरम्भ कृत्तिका से ही है। महाभारत मे धनिष्ठादि गणना का उल्लेख है। ६० और १२ वर्ष के बार्हस्पत्यसवत्सरचक्रो का आरम्भ धनिष्ठा मे है।

अङ्कगणित

वेदाङ्गज्योतिषकाल मे पूर्णाङ्को के परिकर्मचतुष्टय (योग, अन्तर, गुणा और भाग) तथा त्रैराशिक का ज्ञान था। इतना ही नही, ऋक्पाठ के श्लोक ७, १७, २२, १४, १६, १८ और यजु पाठ के ३७ वे श्लोक मे ज्ञात होता है कि भिन्नपरिकर्मचतुष्टय का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था। अपवर्तन (सक्षिप्त करना) की युक्तियो मे मालूम होता है कि लोगो ने अङ्कगणित मे अच्छा परिश्रम किया था।

लग्न

ऋक्पाठ के १९ वे श्लोक मे कहा है 'श्रविष्ठाभ्या गुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्'। अन्य ज्योतिष ग्रन्थो में क्रान्तिवृत्त के क्षितिज मे लगे हुए (प्राग्वि-

लग्न) भाग को तत्कालीन लग्न कहते हैं। इस श्लोक का भी यदि कुछ ऐसा ही अर्थ हो तो वह बड़े महत्व का होगा।

मेषादि राशियां

इसमें मेषादि १२ राशियां नहीं हैं। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मान कर तदनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी नहीं है। सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति नाक्षत्रिक विभाग के अनुसार बतायी है।

सौरमास

मेषादि राशियों के न होते हुए भी सौरमास हैं। प्रत्यक्ष 'सूर्यमास' शब्द भी आया है। अनेकों जगह सौरमास और चान्द्रमास का सम्बन्ध स्पष्टतया दिखलाया है। ४½ सूर्यनक्षत्र अर्थात् दो सौरमासों की ऋतु बतलायी है। साथ ही साथ प्रत्येक ऋतु का आरम्भ चान्द्रमास को किस तिथि को होता है, यह भी बताया है। सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों में चान्द्र और सौर मास के सम्बन्ध से अधिमासशेष लाने की जैसी रीति है वैसी ही इसमें भी है (ऋक्‌पाठ श्लोक २३)। सौरमासों के अलग नाम नहीं हैं अतः चैत्रादि नामों का ही प्रयोग उनके लिए भी होता रहा होगा। सम्प्रति बंगाल प्रान्त में सौरमास का प्रचार है, पर उनके नाम चैत्रादि ही हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों के अहर्गण की भांति इसमें पर्वगण लाने की रीति बतायी है।

अब यहां एक और महत्व की बात बताकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। वह बात यह है कि क्षेत्र विभाग सरीखे काल विभाग मानने की पद्धति वेदाङ्गज्योतिषकाल में स्थापित हुई थी। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थों में कालविभाग और क्षेत्रविभाग (वृत्त के विभाग) का साम्य इस प्रकार है—

६० पल = घटी।	६० विकला = कला।
६० घटी = दिन।	६० कला = अंश।
३० दिन = मास।	३० अंश = राशि।
१२ मास = वर्ष।	१२ राशि = वृत्तपरिधि।
३६० दिन = वर्ष।	३६० अंश = वृत्तपरिधि।

इसमें कालविभाग और क्षेत्रविभाग एक ही पद्धति के या यों कहिए कि एक ही हैं। इसी प्रकार वेदाङ्गज्योतिष में नक्षत्र में ६१० कलाएं मानी गयी हैं। चन्द्रमा दिन भर में इनमें से ६०३ कलाएं चलता है। ये दिन की कलाएं मानी हैं। (ऋक्‌पाठ

का १८ वा और २१ वा श्लोक देखिए) दिन की ६०३ कलाए गणित मे थोडी असुविधे की-सी दीखती है, पर नक्षत्र के सम्बन्ध से इनमे वडा सुभीता है। यह क्षेत्रानुरूप कालविभाग हुआ। १२४ पर्वो द्वारा नक्षत्र के १२४ अशो की कल्पना की गयी है। यह कालविभागानुरूप क्षेत्रविभाग हुआ। यह पद्धति यदि वेदाङ्गज्योतिष मे है और वेदकाल से लगातार प्रचलित वर्ष के ३६० दिन का भी वर्णन उसमे है तथा वर्ष के समान १२ विभाग अर्थात् १२ सौरमास, मास मे ३० दिन, दिन मे ६० घटी, ये कालमान भी है, तो क्या यह अनुमान नही होता कि इनके द्वारा सहज सूचित होनेवाली वृत्त के राश्यशादि विभाग निश्चित करने की कल्पना भी उन्ही भारतीय आर्यो की होनी चाहिए जिनके विषय मे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उन्होने वेदाङ्गज्योतिषपद्धति की स्थापना स्वत की है?

(३) अथर्वज्योतिष

अथर्वज्योतिष मे १६२ श्लोक और १४ प्रकरण है। इसे पितामह ने काश्यप से कहा है। इसमे आये हुए विषयो का यहा सक्षेप मे वर्णन करेगे।

सर्वप्रथम निम्नलिखित कालपरिमाण वताये है।

१२ निमेष=लव। ३० लव=कला। ३० कला=त्रुटि।

३० त्रुटि=मुहूर्त और ३० मुहूर्त=अहोरात्र।

इसके वाद १५ मुहूर्तो के नाम वतलाये है। द्वादशाङ्गुल[1] अङ्क की छाया के भिन्न-भिन्न प्रमाण ही उन मुहूर्तो की अवधिया है।

मुहूर्त	छायाङ्गुल	मुहूर्त	छायाङ्गुल
१ रौद्र	९६ परम	५ सावित्र	५
२ श्वेत	६०	६ वैराज	४
३ मैत्र	१२	७ विश्वावसु	३
४ सारभट	६	८ अभिजित्	

'यस्मिश्छाया प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिसमे छाया स्थिर हो जाती है, उसे अभिजित् मुहूर्त कहा है। मध्याह्न के वाद के मुहूर्तो की छाया ऊपर लिखी हुई छाया के विपरीत अर्थात् उत्क्रम से होती है। मध्याह्न की छाया शून्य नही कही जा सकती पर वह तीन अगुल से कम होगी। छाया द्वारा स्थलज्ञान करने का प्रयत्न किया जा सकता है, पर

[1] यह एक बात ध्यान में रखन योग्य है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो में छाया के लिए सर्वत्र द्वादशाङ्गुलशङ्कु ही लिया गया है और इस ज्योतिष में भी यही स्थिति है।

विश्वास नही होता कि ये अङ्गुलमान सूक्ष्मतया अवलोकन करके ही लिखे गये होगे और दूसरी वात यह कि वर्ष-भर सर्वदा छाया भी समान नही रहती। और भी बहुत सी अडचनें है, अत गणित मे परिश्रम करने के वाद तदनुरूप कोई महत्त्व की वात निकलने की आशा नही है, इसलिए अथर्वज्योतिष के स्थलनिर्णय का विचार नही करते।

आगे वतलाया है कि रौद्र मुहूर्त में रौद्रकर्म और मैत्र मे मैत्र कर्म करना चाहिए। चतुर्थ प्रकरण में तिथियो के करण वतलाये है। उनकी पद्धति वर्तमान सरीखी ही है। नाम भी ये ही है, पर स्थिर करणो मे किंस्तुघ्न के स्थान में कौस्तुभ नाम है। हो सकता है, यह लेखक का प्रमाद हो। इसके वाद करणो के शुभाशुभत्व का विचार किया गया है अर्थात् अमुक करण मे अमुक कर्म करने मे शुभ फल होगा और अमुक कर्म करने से अशुभ। आजकल की भाँति उसमें विष्टि के मुखपुच्छादि का भी विचार किया है और उसी प्रसग मे घटिका नामक कालमान का भी वर्णन आया है। इसके वाद करणो के देवता वतलाये है। कौस्तुभ का देवता धनाधिप और वाणिज का मणिभद्र है। शेष देवताओ के नाम वेदोक्त ही है। इसके वाद तिथियो के शुभाशुभत्व का वर्णन है अर्थात् अमुकामुक तिथियो में अमुकामुक कर्म करने से अमुक-अमुक शुभ या अशुभ फल होते है। उस प्रसग मे तिथियो के नन्दा, भद्रा इत्यादि पाच नाम भी आये है।

चतुर्भि कारयेत्कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षण।
तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तैरिति निश्चय ॥

इस श्लोक में तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त, इन चार ही अङ्गो के नाम आये है। योग का नाम नही है परन्तु आगे कहा है—

तिथिरेक गुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुण प्रोक्त करण षोडशान्वितम् ॥९०॥
द्वात्रिंशद् योगस्तारा षष्टिसमन्विता।
चन्द्र शतगुण प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रवलावलम् ॥९१॥
समीक्ष्य चन्द्रस्य वला वलानि, ग्रहा प्रयच्छन्ति शुभाशुभानि।

उपर्युक्त वाक्यो के पहिले कहा है 'न कृष्णपक्षे शशिन प्रभाव'। इससे मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोक में चन्द्रमा के वलावल का विचार केवल उसकी कलाओ द्वारा ही किया है।

आदित्य सोमो भौमश्च तथा वुधवृहस्पती।
भार्गव शनैश्चरश्चैव एते सप्तदिनाधिपा ॥९३॥

ये सात वारो के नाम है। अन्य श्लोको मे वारप्रसग मे ग्रहो के कुछ और नाम भी आये है। वे है सूर्य, लोहिताङ्ग, सोमसुत, देवगुरु, गुरु, भृगु, शुक्र और सूर्यसुत। १०० श्लोको के वाद लिखा है।

अल्पग्रन्थ महार्थञ्च प्रवक्ष्यामि भृगोर्मतम्।

इसके वाद शेप ६२ श्लोक है। उनमे ज्योतिप की जातकशाखा का वीज है। अत वह भाग वडे महत्व का है। उनमे से कुछ श्लोक यहा उद्धृत करते है। पहिले नक्षत्रो के ९ विभाग किये है। वे है—

जन्म सम्पद्विपत्क्षेम्य प्रत्वर साधकस्तथा।
नैधनो मित्रवर्गञ्च परमो मैत्र एव च ॥१०३॥
दशम जन्मनक्षत्रात्कर्मनक्षत्रमुच्यते।
एकोनविंशतिञ्चैव गर्भाधानकमुच्यते ॥१०४॥
द्वितीयमेकादश विंशमेप सम्पत्करो गण।
तृतीयमेकविंश तु द्वादश तु विपत्करम् ॥१०५॥
क्षेम्य चतुर्थ द्वाविंश तथा यच्च त्रयोदशम्।
प्रत्वर पञ्चम विद्यात् त्रयोविंश चतुर्दशम् ॥१०६॥
साधक तु चतुर्विंश पष्ठ पञ्चदशञ्च यत्।
नैधन पञ्चविंश तु पोडश सप्तम तथा ॥१०७॥
मैत्रे सप्तदश विद्यात् पड्विंशमिति चाष्टमम्।
सप्तविंश पर मैत्र नवमष्टादशञ्च यत् ॥१०८॥

वर्गक्रम

१	१ जन्मनक्षत्र	१० कर्मनक्षत्र	१९ आधाननक्षत्र।
२	२	११	२० सम्पत्करनक्षत्र।
३	३	१२	२१ विपत्कर।
४	४	१३	२२ क्षेम्य।
५	५	१४	२३ प्रत्वर।
६	६	१५	२४ साधक।
७	७	१६	२५ नैधन।
८	८	१७	२६ मैत्र।
९	९	१८	२७ परममैत्र।

प्रत्येक वर्ग में तीन तीन नक्षत्र हैं और उनमें ९ का अन्तर है। १०४ श्लोक द्वारा यह स्पष्ट है कि इनकी गणना जन्मनक्षत्र से करनी है। इसके बाद यह विचार किया है कि अमुक नक्षत्र में अमुकामुक कर्म करने चाहिए या नहीं। इसके बाद ग्रह, उल्का और विद्युत् इत्यादिकों द्वारा नक्षत्रों के पीडित होने से प्रत्येक वर्ग में होनेवाले भय इत्यादि का वर्णन कहा है—

ग्रहोल्काशनिनिर्घातैः कर्म्मदहैश्च पीड्यते।
यद्यद्भयं भवति तत् तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१२२॥

यहां ग्रह शब्द से सूर्यादि ग्रह ही अभीष्ट मालूम होते हैं। इसके आगे गर्भधारण का थोडा सा वर्णन करते हुए अन्त मे कहा है—

आत्मज्योतिषमित्युक्तं स्वयमुक्तं स्वयंभुवा।
तत्वतः पृच्छमानस्य काश्यपस्य महात्मनः ॥१६१॥
य इदं पठते विप्रो विधिवच्च समाहितः।
यथोक्तं लभते सर्वमाम्नायविधिदर्शनात् ॥१६२॥

ग्रन्थ में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि यह अथर्वज्योतिष है, परन्तु इसे अथर्व-वेद ज्योतिष कहते अवश्य हैं और अन्तिम श्लोक के 'आम्नायविधिदर्शनात्' वाक्य से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

इसमें लिखे हुए विषयों के विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ ऋग्यजु-र्वेदाङ्गज्योतिष या वेद के अन्य किसी भी अङ्ग इतना प्राचीन नहीं है। फिर भी बहुत प्राचीन होना चाहिए क्योंकि इसमें मेषादि द्वादश राशियों के नाम नहीं हैं। यदि मेषादि राशियां ग्रन्थकार के समय प्रचलित रही होतीं तो वे उनके नाम इसमें अवश्य लिखते। इसका नाम अथर्ववेदज्योतिष है, इसलिए इसी प्रसंग में इसका भी विचार किया गया।

मेषादि राशियों का नाम न होते हुए भी इसमें सात वारों के नाम आये हैं, यह एक बडी महत्वशाली तथा ध्यान में रखने योग्य बात है। इसका आगे विशेष विवेचन किया जायगा।

मेषादि राशियों से सम्बन्ध रखनेवाली जिस जातकपद्धति का आरम्भ इस देश में हुआ उससे विरुद्ध नहीं बल्कि बहुत अंशों में साम्य रखनेवाली जातकपद्धति इस ग्रन्थ में है और वह स्वतन्त्रतया इसी देश में उत्पन्न हुई है। इसमें सन्देह करने का स्थान बिलकुल नहीं है। हिन्दुओं ने मेषादि राशियां परदेश से ली हों तो भी उसके पहिले

केवल नक्षत्रो से सम्बन्ध रखनेवाली जो जातकपद्धति उनके यहा प्रचलित थी उसीके आधार पर उन्होने स्वय उसका विस्तार किया होगा।

(२) कल्पसूत्र

आश्वलायनसूत्र

आश्वलायनसूत्र के 'श्रावण्या पौर्णमास्या श्रवणकर्म' (गृह्यसूत्र २।१।१) इत्यादि वाक्य मे मासो के नक्षत्रप्रयुक्त नाम आये है और श्रौतसूत्र (४।१२) में मधु माधव मासनाम भी है। एक जगह (श्रौतसूत्र ४।१२) ऋतुओ का भी उल्लेख है। उसमें आरम्भ वसन्त से किया है। तिथि शब्द नही आया है, परन्तु 'मार्गशीर्ष्यां प्रत्यवरोहण चतुर्दश्याम्' (गृह्यसूत्र २।३।१), 'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका' (गृह्यसूत्र २।४।१), 'अध्यायोपाकरण श्रावणस्य पञ्चम्या' (३।५) इत्यादि वाक्यो मे चतुर्दशी इत्यादि शब्द तिथिवाचक जान पडते है। अयन और विषुव का उल्लेख अनेको स्थलो मे है। नक्षत्रो के नाम भी है। श्रौतसूत्र के 'उत्तरयो प्रोष्ठपदयो' (श्रौतसूत्र २।१) वाक्य मे प्रोष्ठपदा का प्रयोग द्विवचन मे और 'उत्तरै प्रोष्ठपदै' (गृह्यसूत्र २।१०।३) में पुलिङ्ग के बहुवचन मे है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे दोनो प्रोष्ठपदाओ का प्रयोग पुलिङ्ग के बहुवचन मे है। गृह्यसूत्र के 'ध्रुवमरुन्धती सप्तर्षीनिति दृष्ट्वा वाच विसृजेत' (गृह्यसूत्र १।७।२२) वाक्य में ध्रुव अरुन्धती और सप्तर्षि ताराओ के नाम आये है। गृह्यसूत्र २।१०।३ मे अग्न्याधान के लिए नक्षत्र बताये है। उत्तरप्रोष्ठपद, फल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रो मे खेत जोतने को कहा है। गृह्यसूत्र १।४।१ मे लिखा है कि उपनयनादि कर्म कल्याणकारक नक्षत्रो में करने चाहिए। सीमन्तोन्नयन के लिए कहा है, 'सीमन्तोन्नयन . यदा पुसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्त स्यात्' (गृ० १।१४)। पता नही चलता, यहा कल्याणकारक और पुरुष-नक्षत्र कौन-कौन-से माने गये है। ज्योतिष के आधुनिक मुहूर्तग्रन्थो मे जो पुरुष और स्त्री भेद बतलाये है वे पृष्ठोक्त नक्षत्रो के लिगानुसार ही है। हम समझते है सूत्रकाल मे भी यही नियम रहा होगा।

पारस्करसूत्र

पारस्करसूत्र आश्वलायनसूत्र से नवीन मालूम होता है। इसमें आश्वलायन-सूत्रोक्त बहुत से विषय आ गये है, पर इसका आग्रहायणी कर्म सम्बन्धी वाक्य "मार्ग-शीर्ष्या पौर्णमास्यामाग्रहायणीकर्म (३।१२)" आश्वलायनसूत्र में नही है। विवाह-नक्षत्रो के विषय मे कहा है "त्रिषु त्रिषु उत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्याम्"।

इसकी व्याख्या मे हरदत्त ने 'त्रिपु त्रिपु उत्तरादिपु' का अर्थ 'उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, उत्तरापाढा, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती और अश्विनी' किया है। वर्तमान मुहूर्त ग्रन्थो में चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा और अश्विनी की गणना विवाह नक्षत्रो में नही है। २।१६ सूत्र मे ज्येष्ठानक्षत्र मे खेत जोतने के लिए कहा है। सब सूत्रो के विवाहादि नक्षत्र परस्पर समान नही है। उनमे कुछ भेद है। १।२१ सूत्र "मूलाशे प्रथमे पितुर्नेष्टो द्वितोये मातुस्तृतीये धनधान्यस्य चतुर्थे कुलशोकावह स्वय पुण्यभागी स्यात्" में मूल नक्षत्र मे उत्पन्न हुए मनुष्य का फल बताया है। इसमे नक्षत्र के ४ अश माने है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने से नक्षत्र के ४ अश मानने ही पडते है। मूल नक्षत्र सम्बन्धी अशुभ फल के विषय मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न मत है। तैत्तिरीयश्रुति मे तो मालूम होता है, जन्मकाल मे मूल का होना अच्छा समझा गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।२)। ज्योतिपग्रन्थो में बतलाया हुआ आश्लेपा का नक्षत्रगण्डान्त भी पारस्करसूत्र (१।२१) मे है। आश्वलायन और पारस्कर दोनो सूत्रो में अधिमास, तिथि, नक्षत्र और क्षय-वृद्धि का वर्णन नही है। सात वार, मेपादि राशियां, योग और करण भी नही है।

अन्यसूत्र

उपर्युक्त सूत्रो मे बतलायी हुई ज्योतिपसम्बन्धी बहुत सी बातें हिरण्यकेशी और आपस्तम्ब सूत्रों में भी आयी है, पर उनमे मेपादि राशियो और वारो के नाम नही है।

उपर्युक्त सभी सूत्रो मे चैत्र और वैशाख अथवा मधु और माधव वसन्त के मास माने गये है।

बौधायनसूत्र का एक वचन है 'मीनमेषयोर्मेपवृपभयोर्वसन्त।' इसमे मेषादि राशियो के नाम आये है। मैत्रेयसूत्र के एक वाक्य मे जो कि ऊपर पृष्ठ मे लिखा है, सूर्य का राशिसक्रमण शब्द भी आया है।

सभी वेदशाखाओ के सूत्र देखे जायें तो उनमें ज्योतिपविपयक महत्व की और भी बहुत सी बातें मिलेंगी, परन्तु हमे अधिक सूत्रग्रन्थ नही मिले।

३ निरुक्त

निरुक्त के द्वितीयाध्याय के २५ वे खण्ड में मुहूर्त और क्षण नामक काल-परिमाणो के नाम आये है। इसके ज्योतिप विपयक कुछ अन्य लेख प्रथम विभाग में दिखला दिये गये है।

'सप्तऋपीणानि ज्योतींपि' (१०।२६) वाक्य में सप्तर्पियो का उल्लेख है।

निम्नलिखित वाक्यो मे दिन, रात्रि, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन नाम आये है। इनके विषय मे कुछ चमत्कारिक बाते भी बतायी है।[1]

'अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्दक्षिणायनं दक्षिणायनात् पितृलोकं प्रतिपद्यन्ते ।।८।। अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद्देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान्मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसंभवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशूका यत इदं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यमथाप्याह ।।९।। अध्याय १४

ये महत्त्वपूर्ण वाक्य देखिए—

आकाशगुणः शब्द आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेनाद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमास्तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिष ज्योतिर्वायुं वायुराकाशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिस्तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते स कालस्तदेतदहर्भवति युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदू रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जना इति ।।४।।

अध्याय १४

इसमे ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण बताया है। सहस्रयुगो का ब्रह्मा का दिन होता है। इसमे सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय होते है। इसके पश्चात् एक सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रकृति या ब्रह्मा सुप्त रहता है। यही ब्रह्मदेव की रात्रि है। इस प्रकार अहोरात्रो के पर्याय नित्य हुआ करते है। इसी काल को सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थो ने कल्प कहा है। इन वाक्यो मे कल्प शब्द नही आया है और यह भी नही बताया है कि युग कितने वर्षो का होता है। शेष पद्धति ज्योतिषग्रन्थ तथा मनुस्मृति इत्यादि अन्य ग्रन्थो की युगपद्धति के समान ही है। यह अथवा इस प्रकार की दूसरी युगपद्धति जिन-जिन ग्रन्थो में मिलती है उनमे निरुक्त सबसे प्राचीन है। यद्यपि यहा युग का वर्षात्मक मान नही बताया है, पर वाक्यो के सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि यह युग पञ्चवर्षात्मक युग नही बल्कि किसी दीर्घकाल का बोधक है।

[1] याज्ञवल्क्यस्मृति और भगवद्गीता में भी इनका वर्णन है।

४ पाणिनीय व्याकरण

वेदो में कही-कही सवत्सर अर्थ मे आये हुए वर्ष (५।१।८८, ७।३।१६) और हायन (४।१।२७, ५।१।१३०) शब्द पाणिनीय व्याकरण में है। मासो के नक्षत्र-प्रयुक्त चैत्रादि नाम भी है। (४।२।२१) दिन के विभागो में से मुहूर्त शब्द आया है (३।३।९)। नाडी शब्द शरीर की नाडी के अतिरिक्त अन्य एक या कई अर्थो मे आया है (५।४।१५९)। इससे मालूम होता है, कालवाचक नाडी शब्द भी होगा। तिथि शब्द यद्यपि नही है तथापि यह नही कहा जा सकता कि वह पाणिनि के समय रहा ही नही होगा। पाणिनीय व्याकरण ज्योतिप विषयक ग्रन्थ नही है। अमुकामुक नक्षत्रो मे अमुक-अमुक कर्म करने चाहिए, ऐसा विधान करनेवाला धर्मशास्त्रग्रन्थ भी नही है। अत ज्योतिप विषयक जो पारिभाषिक शब्द उसमे नही है उनके विपय में यह कहना अनुचित होगा कि वे पाणिनि के समय थे ही नही। कृतादि सज्ञाओ में से उसमे केवल एक कलि शब्द आया है (४।२।२८) और वह भी युग विपयक नही है। इससे यह नही कहा जा सकता कि पाणिनिकाल मे कृतादि युग सज्ञाए नही थी। वस, यही स्थिति ज्योतिष सम्वन्धी तिथ्यादि पारिभाषिक शब्दो की भी है।

नक्षत्रो के विषय में 'तिष्य' अर्थ मे पुष्य और सिध्य शब्द आये है (३।१।११६)। 'श्रोणा' अर्थ मे केवल अथर्ववेद में आया हुआ श्रवण शब्द आया है (४।२।२३)। १।२।६१ और १।२।६२ सूत्रो में कहा है 'छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम्' 'विशाखयोश्च' परन्तु मुझे श्रुति मे पुनर्वसु और विशाखा शब्द एक वचन में कही नही मिले। हो सकता है, मेरे न पढे हुए किसी वेद मे हो। प्रोष्ठपदा शब्द द्विवचन और बहुवचन दोनो में पठित है (१।२।६०)। 'विभाषा ग्रह' (३।१।१४३) सूत्र द्वारा यह अनुमान कर सकते है कि पाणिनि के समय तारारूप ग्रह के अर्थ में ग्रह शब्द का प्रयोग होता रहा होगा।

द्वितीय प्रकरण

स्मृति महाभारत इत्यादि

स्मृति

युगपद्धति

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय मे जिस युगपद्धति का वर्णन है वही पुराण ज्योतिष इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयो के प्राय सभी ग्रन्थो मे पायी जाती है अत वह पूर्ण पद्धति यहा एक वार लिख देते है।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाण समासत ।
एकैकशो युगाना तु क्रमशस्तन्निबोधत ।।६८।।
चत्वार्याहु सहस्राणि वर्षाणा तत्कृत युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्याशश्च तथाविध ।।६९।।
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्याशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ।।७०।।
यदेतत् परिसख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद्द्वादशसाहस्र देवाना युगमुच्यते ।।७१।।
दैविकाना युगानान्तु सहस्रपरिसख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेय तावती रात्रिमेव च ।।७२।।
तद्वै युगसहस्रान्त ब्राह्म पुण्यमहर्विदु ।
रात्रिञ्च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदोजना ।।७३।।
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्त. प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनस्सदसदात्मकम् ।।७४।।
मन सृष्टि विकुरुते चोद्यमान सिसृक्षया।
आकाश जायते तस्मात्तस्य शब्द गुण विदु ।।७५।।
आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवह. शुचि ।
वलवाञ्जायते वायु स वै स्पर्शगुणो मतः ।।७६।।
वायोरपि विकुर्वाणात् विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ।।७७।।
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणा स्मृता.।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादित ।।७८।।
यत्प्राक् द्वादशसाहस्रमुदित दैविकं युगम् ।

तदेक सप्ततिगुण मन्वन्तरमिहोच्यते ।।७९।।
मन्वन्तराण्यसख्यानि सर्ग सहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुन पुन ।।८०।।
चतुष्पात् सकलो धर्म सत्यञ्चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागम कश्चित् मनुष्यान्प्रतिवर्तते ।।८१।।
इतरेष्वागमाद्धर्म पादशस्त्ववरोपित ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादश ।।८२।।
अरोगा सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुष ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादश ।।८३।।
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुग लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ।।८४।।
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेताया द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणा युगह्रासानुरूपत ।।८५।।
तप पर कृतयुगे त्रेताया ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेक कलौ युगे ।।८६।।

इसमें कृतादि युगो के नाम वतलाये हैं।

युग	वर्ष	युग	वर्ष
कृत	सन्ध्या ४००	द्वापर	सन्ध्या २००
	मुख्यभाग ४०००		मुख्यभाग २०००
	सन्ध्याश ४००		सन्ध्याश २००
त्रेता	सन्ध्या ३००	कलि	सन्ध्या १००
	मुख्यभाग ३०००		मुख्यभाग १०००
	सन्ध्याश ३००		सन्ध्याश १००

सब मिलकर १२०००=चतुर्युग=दैवयुग।

१००० दैवयुग=१२०००००० वर्ष=ब्राह्म दिन।

यहा १२००० वर्षो का एक दैवयुग तो माना है, पर यह स्पष्ट नही वतलाया है कि ये युग देवताओ के हैं। देवताओ का वर्ष यदि ३६० मनुष्यवर्षो के वरावर मान लिया जाय तो एक देवयुग में मनुष्यवर्ष (३६०×१२०००=) ४३२०००० होगे। प्रो० ह्विट्ने कहते है कि इन १२००० वर्षो को देववर्ष मानने की कल्पना मनु को[1] नही है। इसकी उत्पत्ति उनके बहुत दिनो वाद हुई है। परन्तु उनका यह

[1] बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का दशम पृष्ठ देखिए।

कथन ठीक नही मालूम होता, क्योकि मनु के बहुत पहिले ही इस बात का निश्चय हो चुका था कि देवताओ का दिन मनुष्यदिन से बडा होता है। तैत्तिरीयसहिता के ऊपर लिखे हुए[1] एक वाक्य मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्यो का एक सवत्सर (अर्थात् ३६० दिन) देवताओ के एक दिन के बराबर होता है। अत मनुष्यो के ३६० वर्ष देवताओ के एक वर्ष के बराबर होगे ही। यद्यपि मनु के वाक्य में 'देववर्ष' शब्द स्पष्टतया नही आया है, पर यह स्पष्ट है कि युग देवताओ का ही है, अत वर्ष भी देवताओ का ही होना चाहिए। इससे यह बात नि सशय सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यो के (१२००० X ३६०=) ४३२०००० वर्ष तुल्य देवताओ के युग का परिमाण मनुकालीन ही है। मनु ने ही यह भी कहा है कि इस प्रकार के सहस्र युगो का ब्रह्मा का एक दिन होता है, परन्तु उनके वाक्यो में ब्रह्मदिन के अर्थ मे कल्पशब्द नही आया है। ज्योतिषग्रन्थो मे ब्रह्मदिन को ही कल्प कहा है। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिषग्रन्थो मे बतलाये हुए कृतादि युग, महायुग और कल्प के मान मनु के समय ही निश्चित हो चुके थे। इतना ही नही, मै तो समझता हूँ, निरुक्तकार यास्क के समय ही इनके प्रमाणो का निश्चय हो चुका था क्योकि मनुस्मृति के उपर्युक्त ७२ वे और ७३ वे श्लोको का ब्रह्मा के अहोरात्र के सम्बन्ध मे ऊपर (पृ० १४५ में) लिखे हुए निरुक्तवचनो के अन्तिम भाग से बडा सादृश्य है। निरुक्त मे स्पष्ट बताया है कि ब्राह्मदिन सहस्र वर्षो का होता है परन्तु उसमे यह नही लिखा है कि ये सहस्र वर्ष देवताओ के है और प्रत्येक युग का मान १२००० वर्ष है, परन्तु कृतादि चार युगो का वर्णन वेदो मे भी है अत यह मानना पडता है कि युगकल्पना निरुक्त से भी प्राचीन है। यह भी स्पष्ट ही है कि निरुक्त के युग किसी दीर्घकाल के द्योतक है। इससे हमे ऐसा मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थो मे बतलायी हुई युग और कल्पपद्धति का प्रचार निरुक्तकाल मे भी था। मनुस्मृतिकाल में उसका प्रचलित होना तो बिलकुल निर्विवाद है। महाभारतोक्त युगपद्धति मनुस्मृति सरीखी ही है। उसका विचार आगे किया जायगा।

यूरोपियन विद्वान कहते है कि महाभारत मनुस्मृति के बाद बना है। यदि मनुस्मृति के पहिले बना होगा तो मेरे इस कथन की कि 'मनु के बहुत पहिले ही युगपद्धति का प्रचार हो चुका था' पुष्टि होगी।

उपर्युक्त मनु के श्लोको मे युगो के लक्षण धर्मस्थिति के सम्बन्ध मे बतलाये है। अन्य सभी पुराणो में युगलक्षण इसी प्रकार है। मन्वन्तरो के मान भी सूर्यसिद्धान्तादि सरीखे ही है।

[1] एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्सरः॥

मनुस्मृति में ग्रह और मेषादि राशिया नही है। ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्ध रखने-वाली दूसरी भी कोई उल्लेखनीय बात नही है।

वार

यानवल्क्यस्मृति में एक स्थान मे ग्रहयज्ञ का वर्णन है। उसमें ग्रहो के नाम इस प्रकार है —

> सूर्य सोमो महीपुत्र सोमपुत्रो बृहस्पति ।
> शुक्र शनैश्चरो राहु केतुश्चैते ग्रहा स्मृता ॥२९५॥
>
> आचाराध्याय

सात वार और उनके सूर्यादि सात अधिपो का उल्लेख कही नही है परन्तु इस श्लोक में ग्रहो के नाम वारक्रमानुसार ही है अत याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल में सात वारो का प्रचार रहा होगा। अथर्वज्योतिष में सात वारो के सम्बन्ध मे केवल सात ग्रहो का निर्देश है। राहु और केतु के नाम नही है। याज्ञवल्क्यस्मृति में ग्रह ९ बतलाये है। उनके मन्त्र भी वही है जिनका आजकल प्रचार है (आचाराध्याय के श्लोक २९९-३०१ देखिये)। अन्य बातो के आलोचन द्वारा विद्वानो ने निश्चय किया है कि याज्ञ-वल्क्यस्मृति मनुस्मृति से नवीन है। उनका यह कथन वार और ग्रहो के उल्लेखानुसार ठीक मालूम होता है।

युगपद्धति

यानवल्क्यस्मृति मे कृतादि युगो के नाम और मान नही है परन्तु (३।१७३ में) लिखा है 'मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या'। इससे मालूम होता है, मनुस्मृति की युगपद्धति उस समय प्रचलित थी।

क्रान्तिवृत्त के १२ भाग

निम्नलिखित श्लोक मे श्राद्धकाल बताया है—

> अमावास्याष्टका वृद्धि कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
> द्रव्य ब्राह्मणसम्पत्तिर्विषुवत्सूर्यसक्रम ॥२१७॥
> व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहण चन्द्रसूर्ययो ।
>
> आचाराध्याय

इसमें सूर्यसंक्रम शब्द आया है परन्तु इसके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि उस समय मेषादि राशियो का प्रचार था ही क्योकि यानवल्क्यस्मृति में मेषादि राशियों का स्पष्ट नाम कहीं भी नही मिलता और (१।२६७ के) 'कृत्तिकादि भरण्यन्तम्' वाक्य में कृत्तिकादि नक्षत्रों का उल्लेख है। मेषादि विभाग के साथ अश्विन्यादि नक्षत्रो के

नाम होने चाहिए थे न कि कृत्तिकादि के। परन्तु पहिले बता चुके है कि वेदाङ्गज्योतिष-काल मे मेषादि द्वादश नामो का प्रचार न होते हुए भी क्रान्तिवृत्त के द्वादश भाग प्रचलित थे अत याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल मे भी क्रान्तिवृत्त के १२ भागो का ज्ञान रहा होगा। इसमे सात वारो के नाम आये है। यूरोपियन विद्वान कहते है कि हिन्दुओ ने सात वार और १२ राशिया यूरोपियन लोगो से ली है। उनके इस कथनानुसार सहज ही यह बात ध्यान मे आती है कि जिन सस्कृतग्रथो मे सात वारो के नाम है उनमे मेषादि १२ राशिया भी होनी चाहिए परन्तु पहिले बता चुके है कि अथर्वज्योतिष मे वारो के होते हुए भी राशियो के नाम नही है। यही स्थिति यहा भी है। आगे महाभारत के विवेचन मे यह स्पष्ट हो जायगा कि वार और मेषादि १२ राशियां प्रचलित होने के पहिले ही कम से कम सूर्य की गति के सम्बन्ध में ही भारतीयो ने क्रान्तिवृत्त के १२ भाग कल्पित कर लिये थे। क्रान्तिवृत्त के १२ अथवा अथर्वज्योतिषानुसार यदि ९ ही भाग मान लिये जाय तो भी सूर्य के एक भाग से दूसरे भाग मे गमन को सक्रमण कह सकते है। याज्ञवल्क्यस्मृति के उपर्युक्त वाक्य में दो अयन तथा विषुवत् शब्द के साथ सक्रम शब्द भी आया है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति प्रचलित थी।

अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा यह सिद्ध होता है कि सात वार और मेषादि नामो का प्रचार एक ही काल मे नही हुआ बल्कि सात वार मेषादि सज्ञाओ के पहिले ही प्रचलित हो चुके थे।

योग

उपर्युक्त श्राद्धकाल सम्बन्धी वाक्य मे वृद्धि शब्द आया है। उसके विषय मे यह नही कह सकते कि वह ज्योतिष सम्बन्धी ही अर्थात् २७ योगो मे का वृद्धि शब्द है। हम समझते है, जैसे द्रव्य और सम्पत्ति शब्द आये है उसी प्रकर धान्यादि की वृद्धि के अर्थ मे वृद्धि शब्द आया होगा।

अन्य बातें

उपर्युक्त वाक्य का व्यतीपात शब्द नि सशय ज्योतिष-सम्बन्धी ही मालूम होता है। प्रायश्चित्ताध्याय के १७१ वे श्लोक के 'ग्रहसयोगजै फलै' वाक्य से प्रकट होता है कि उस समय लोगो का ध्यान ग्रहयुति की ओर जा चुका था और उसके अनुसार शुभाशुभ फल का भी विचार करने लगे थे। यहा मेरा कथन इतना ही है कि भारतीयो को मेषादि सज्ञाओ का प्रचार होने के पहिले ही राहु, केतु सातवारो का क्रम, व्यतीपात और ग्रहयुति का ज्ञान था। यह बात बडे महत्त्व की है। इसका विशेष विचार आगे

करेंगे। यदि याज्ञवल्क्यस्मृति का समय अन्य प्रमाणों द्वारा निश्चित हुआ होता तो इन बातों द्वारा और भी महत्वशाली अनुमान किये जाते। अस्तु।

> पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्।
> तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥१८४॥
> तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः।
> सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिता ॥१८७॥

प्रायश्चित्ताध्याय

इसमें सप्तर्षि और अगस्त्य तारों का उल्लेख है। गर्गादिकों की संहिताओं में बतलायी हुई नक्षत्रवीथियों में से यहाँ अज और नाग नाम की दो वीथियाँ आयी हैं। वीथी और वीथ्यन्तर्गत नक्षत्रों के विषय में मतभेद है। किसी-किसी के मत में वीथियाँ ९ हैं और किसी-किसी के मत में तीन। इनके विषय में भटोत्पल ने बृहत्संहिता के शुक्रचार की टीका में गर्ग पराशरादि के मत विस्तारपूर्वक लिखे हैं। ग्रह नक्षत्रों की भिन्न-भिन्न दिशाओं से होते हुए जाते हैं। उसी के अनुसार वीथियों की कल्पना की गयी है। चूँकि उपर्युक्त श्लोकों में वीथी का वर्णन है इसलिए मानना पड़ता है कि याज्ञवल्क्यस्मृतिकाल में भारतीयों का ग्रहगति की ओर पूरा ध्यान था।

मालूम होता है, उपर्युक्त श्लोकों में आकाश के उत्तरगोलार्ध में देवलोक और दक्षिण गोलार्ध में पितृयाण माना है। शतपथब्राह्मण की कल्पना से इसका साम्य है।

निरुक्त का अयनसम्बन्धी एक चमत्कारिक वर्णन ऊपर (पृ० १४५में) लिखा है। उस सरीखा ही वर्णन याज्ञवल्क्यस्मृति के तृतीयाध्याय के १९२ से १९७ श्लोक पर्यन्त है। १।१८० इत्यादि में बताया है कि चन्द्रमा जब अच्छे नक्षत्रों में रहे उस समय अमुकामुक कर्म करने चाहिए। अमुक नक्षत्र में अमुक-अमुक कर्मकृत्य करने चाहिए, इत्यादि भी बताया है। १।३०८ में लिखा है कि 'यस्य यश्च ग्रहो दुष्टः स तं यत्नेन पूजयेत्'। राहुसूतक, तिथि और मुहूर्त भी आये हैं। ज्योतिर्विद् के पूज्यत्व का वर्णन है (१।३१२, ३३२)।

महाभारत

महाभारत में ज्योतिष विषयक लेख इतने अधिक हैं कि उन सब का विचार करने से ग्रन्थ बड़ा विस्तृत हो जायगा। अतः यहाँ उन्हीं वचनों का विवेचन करेंगे जो कि इस ग्रन्थ के विषयों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

रचनाकाल

सर्वप्रथम महाभारत के रचनाकाल का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि काल निश्चित हो जाने से उसके ज्योतिष विषयक वचनो के महत्व में विशेषता आ जायगी। रचनाकाल का नि सन्देह निर्णय करना तो बडा कठिन है परन्तु अनुमान द्वारा आसन्न समय लाया जा सकता है। महाभारतोक्त लेखो के अनुसार विचार किया जाय तो उसे व्यास ने बनाया, वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा, इत्यादि बातो से ऐसा प्रतीत होता है कि वह पाण्डवकाल में या उसके थोडे ही दिनो बाद बना। मालूम होता है पाणिनि के समय महाभारत था[1] क्योकि आश्वलायन सूत्र मे उसका उल्लेख प्रत्यक्ष ही है और भाषा के इतिहास से यह सिद्ध हो चुका है कि आश्वलायन पाणिनि से प्राचीन हैं। साराश यह कि महाभारत अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। हा, यह सत्य है कि आजकल के प्रचलित महाभारत का बहुत सा भाग अर्वाचीन होगा। ज्योतिष प्रमाणो द्वारा भी उसके कुछ भाग भिन्न-भिन्न समयो के दीखते हैं। परन्तु यहा प्रक्षिप्त भागो के विषय मे एक महत्व की बात यह कहनी है कि 'महाभारत की ग्रन्थसख्या एक लक्ष है' यह लोगो की धारणा आज की नही है। Inscriptionum Indicarum नाम की पुस्तकमाला मे भारत सरकार की आज्ञा से प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख इत्यादि छप रहे हैं। उसकी तीसरी पुस्तक मे गुप्त राजाओ के लेख है। उसमें उच्च-कल्प के महाराज सर्वनाथ का सवत् १९७ का एक लेख है (ग्रन्थ का १३४ वा पृष्ठ देखिए)। उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासकृत महाभारत की ग्रन्थसख्या एक लाख है। सम्प्रति यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि इस ग्रन्थ का सवत् चेदि (कलचुरी) नामक सवत् है(Indian Antiquary, xix 227 of, xvii 215 देखिए)। चेदि सवत् १९७=शके (१९७+१७०=) ३६७ अथवा ईसवी सन् ४४५ होता है (मूलग्रन्थ देखिए)। अत यह कथन अनुचित न होगा कि शककाल की चतुर्थ शताब्दी के बाद महाभारत मे कोई नवीन प्रक्षेपण नही हुआ है। हमे तो उसका कुछ भाग पाण्डवो के समय का भी मालूम होता है, पाण्डवो का समय चाहे जो हो। उपाख्यान तथा युद्धादिको के लम्बे चौडे वर्णन कदाचित् पीछे से मिला दिये गये हो परन्तु पाण्डवो की मूलकथा और युद्ध के समय ग्रह अमुक-अमुक नक्षत्रो के पास थे, इत्यादि महत्वपूर्ण बाते कपोलकल्पना मात्र होते हुए महाभारत मे मिला ली गयी होगी, यह प्राय असम्भव है। सम्प्रति महाभारत में ज्योतिष सम्बन्धी जो बाते मिलती है उनके विषय

[1] प्रो० कुटे का मत है कि पाणिनि को महाभारत मालूम था। (Vicissitudes of Aryan Civilization P 448) देखिए।

में यह भी कहा जा सकता है कि वे पाण्डवो के ही समय से इसी रूप में नही चली आ रही होगी। प्रचलित दन्त-कथाए किसी ने पीछे से मिला दी होगी। मेरे मत मे विशेप महत्व की कुछ न कुछ बातें तो पाण्डवकाल से ही अविच्छिन्न चली आ रही है और कुछ उतनी प्राचीन न होने पर भी आश्वलायन और पाणिनि इत्यादिको की समकालीन है।

दूसरी एक महत्व की बात यह है कि मैंने ज्योतिप की दृष्टि से स्वत सम्पूर्ण महाभारत पढा है। उसमे मुझे सात बार और मेपादि राशियो के नाम कही नही मिले, अत नि सशय कहा जा सकता है कि भारतवर्प मे सात वार और मेपादि राशियो का प्रचार चाहे जब हुआ हो पर महाभारत मे बतलायी हुई ज्योतिप विपयक बातें उसके पहिले की है'। यूरोपियन विद्वान कहते है कि भारतीयो ने ज्योतिप शास्त्र ग्रीक लोगो से लिया है। उनका यह कथन ठीक हो तो भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन्होने टाल्मी (सन् १५०) से नही बल्कि उसके पहिले ही लिया है। यूरोपियन विद्वान भी इसे स्वीकार करते है। कोई भी यूरोपियन निश्चयपूर्वक यह नही सिद्ध करता कि भारतीयो ने ज्योतिप शास्त्र ग्रीको से अमुक समय लिया परन्तु उनका आशय ऐसा मालूम होता है कि प्रसिद्ध ग्रीक ज्योतिपी हिपार्कस के समय अर्थात् ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व लिया अत यूरोपियन लोगो को भी यह स्वीकार करना चाहिए

' निर्णयामृत नामक धर्मशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें चातुर्मास्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन आये हैं और उन्हें ग्रन्थकार ने महाभारतोक्त बताया है।

वार्पिकांश्चतुरो मासान् व्रत किञ्चित् समाचरेत् ॥
असम्भवे तुलार्के तु कन्यायान्तु विशेपत. ॥

यह श्लोक हमें महाभारत में कहीं नहीं मिला। घटिकापात्र के विषय में कुछ वाक्य महाभारत के नाम पर लिखे हैं पर वे भी उसमें नहीं मिलते। इसी प्रकार निर्णयसिन्धु के द्वितीय परिच्छेद के महालय प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक महाभारत के नाम पर लिखा है जो कि उसमें नहीं मिलता।

यावच्च कन्या तुलयो क्रमादास्ते दिवाकर॰।
शून्य प्रेतपुरं तावद्वृश्चिक यावदागत. ॥

गणपत जी के छापेखाने में मुद्रित पुस्तक के आधार पर मैंने ये श्लोक लिखे हैं। रा० रा० वामनशास्त्री इसलामपुरकर को कुछ ऐसे प्रकरण मिले हैं जो कि इस महाभारत में नहीं हैं। उन्होंने यह बात प्रकाशित की है।

कि महाभारतोक्त ज्योतिष सम्बन्धी बाते ई० स० पूर्व १५० के बाद प्रक्षिप्त नही हुई है।

ग्रहगति के कारणो का और ग्रहो की स्पष्टस्थिति के आनयन का ज्ञान होना तथा केवल मेषादि सज्ञा और वारपद्धति की कल्पना करना, इन दोनो बातो के महत्व मे बडा अन्तर है। पहिली बात का महत्व बहुत अधिक है। यूरोपियन विद्वान भी स्वीकार करते है कि ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस (ई० स० पूर्व १५०) के पहिले यह यूरोप में किसी को मालूम नही थी। इसके सम्बन्ध मे यदि भारतीयो को ग्रीको की सहायता मिली भी हो तो वह बहुत थोडी होनी चाहिए। दूसरी बात उतने महत्व की नही है।

अब महाभारत के ज्योतिष विषयक उल्लेखो का विचार करेगे।

युगपद्धति

महाभारत मे युगमान मनुस्मृति सरीखे ही है (वनपर्व अध्याय १४९, १८८ भगवद्गीता ८, १७ शान्तिपर्व अध्याय २३२, २३३ इत्यादि देखिए)। कृतादि युगो के नाम तथा उनमे होनेवाली घटनाएँ इत्यादि प्रसगवशात् अनेको स्थलो मे आयी है। कल्प नामक कालमान भी (शान्तिपर्व अध्याय १८३ इत्यादि) अनेको जगह आया है।

वेदाङ्गज्योतिषपद्धति

पाच सवत्सरो का अथवा पञ्चसवत्सरात्मक युगपद्धति का उल्लेख कुछ स्थलोमें है। पाचो पाण्डवो का जन्म क्रमश एक-एक वर्ष के अन्तर से हुआ था। उसके विषय मे लिखा है—

अनुसवत्सर जाता अपि ते कुरुसत्तमा।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसवत्सरा इव ॥२२॥

आदिपर्व अध्याय १२४।

पाण्डवो को वन गये कितने दिन हुए, इसके विषय मे गोग्रहण के समय भीष्म दुर्योधन से कहते है—

तेषा कालातिरेकेण ज्योतिषाञ्च व्यतिक्रमात्।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासानुपजायत ॥३॥
एषामभ्यधिका. मासा पञ्च च द्वादशक्षपा.।
त्रयोदशाना वर्षाणामिति मे वर्तते मति ॥४॥

विराटपर्व अध्याय ५२।

यहा पाच वर्षो मे दो अधिमास वतलाये हैं। यह वेदाङ्ग-ज्योतिष की पद्धति है। वेदाङ्गज्योतिष मे नक्षत्रारम्भ धनिष्ठा से किया है अर्थात् ग्रहस्थिति वतलाने के लिए आरम्भस्थान धनिष्ठा माना है। उसके पहिले एक वार आदि नक्षत्र कृत्तिका थी। धनिष्ठादि गणना के विषय में महाभारत में निम्नलिखित एक वडी विचित्र कथा है।

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या कन्यसी स्वसा।
इच्छन्ती ज्येष्ठता देवी तपस्तप्तु वन गता ॥८॥
तत्र मूढोऽस्मि भद्र ते नक्षत्र गगनात् च्युतम्।
काल त्विम पर स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ॥९॥
धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पित ।
रोहिणी ह्यभवत्पूर्वमेव सख्या समाभवत् ॥१०॥
एवमुक्ते तु शक्रेण कृत्तिकास्त्रिदिव गता ।
नक्षत्र सप्तशीर्षाभ भाति तद्वह्निदैवतम् ॥११॥

वनपर्व अध्याय २३०।

ये श्लोक स्कन्दाख्यान के हैं। सव वाक्यो का भावार्थ ठीक समझ में नही आता। अभिजित्, धनिष्ठा, रोहिणी और कृत्तिका नक्षत्रो से सम्वन्ध रखनेवाली भिन्न-भिन्न प्रचलित कथाए यहा गुँथी हुई-सी दिखाई देती हैं। इससे उनके पारस्परिक सम्वन्ध का ठीक पता नही लगता। कहा है 'धनिष्ठादि काल की कल्पना ब्रह्मा ने की'। इसकी उपपत्ति स्पष्ट ही है। अग्रिम वाक्य मे है 'पहिले रोहिणी थी'। पता नही चलता, किसी समय रोहिण्यादि गणना प्रचलित थी उसी के अनुसार ऐसा कहा है या और कोई वात है। रोहिण्यादि गणना कृत्तिकादिगणना के पहिले रही होगी। अभिजित् नक्षत्र के आकाश मे गिरने की कथा वडे महत्व की है। उसका शर लगभग ६१ अश उत्तर है। अत नक्षत्र-मण्डल के भ्रमण में जो कि सम्पातगति के कारण हुआ करता है वह कभी-कभी ध्रुवस्थान मे आ ही जाया करेगा। यूरोपियन ज्योतिष में यह वात प्रसिद्ध है कि लगभग १२ सहस्र वर्षो में वह ध्रुव होनेवाला है[1]। ध्रुवस्थान में आ जाने से वह अत्यन्त नीचे आ जायगा और कभी-कभी क्षितिज पर्यन्त भी आ सकेगा। पता नही चलता, अभिजित् नक्षत्र के आकाश से गिरने की कथा इसी प्रकार की किसी प्रत्यक्ष घटना या अनुभव होने के वाद प्रचलित हुई है या इसमें और कोई रहस्य है। लगभग

[1] Newcomb's Popular Astronomy नामक पुस्तक में एक नक्शे में यह दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न समयों में कौन-कौन से नक्षत्र ध्रुवस्थान में आयेंगे।

१३ सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा होने की सभावना है। 'कृत्तिकाए आकाश मे चली गयी' इसका अभिप्राय समझ मे नही आता।

वेदाङ्गज्योतिषकाल मे उत्तरायण धनिष्ठारम्भ में होता था और आजकल पूर्वाषाढा के लगभग होता है। कुछ काल पहिले उत्तराषाढा मे होता था अत बीच मे कभी श्रवण मे भी होता रहा होगा। इसका प्रमाण महाभारत मे मिलता है। अत वह अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। विश्वामित्र की प्रतिसृष्टि के विषय मे लिखा है—

चकारान्यञ्च लोक वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार य ॥३४॥

आदिपर्व, अध्याय ७१।

इसी प्रकार अग्रिम वाक्य मे कहा है—

अह पूर्वं ततो रात्रिर्मासा शुक्लादय स्मृता ।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतव॰ शिशिरादय ॥२॥

अश्वमेधपर्व, अध्याय ४४।

यद्यपि यहा उत्तरायण श्रवणारम्भ मे नही बताया है तथापि श्रवणादि नक्षत्र कहने का दूसरा कोई अभिप्राय नही है। वेदाङ्गज्योतिष मे जैसे धनिष्ठादि नक्षत्रो के साथ मास शुक्लादि है उसी प्रकार की स्थिति इसकी भी है, अत यह अनुमान कर सकते है कि वेदाङ्गज्योतिषपद्धति का मूल स्वरूप कुछ परिवर्तित हो कर आगे भी चलता रहा। वेदाङ्गज्योतिषविचार मे यह बतला चुके है कि ईसवी सन् पूर्व १४०० के लगभग धनिष्ठारम्भ मे उत्तरायण होता था। आगे चलकर ई० स० पूर्व ४५० के आसपास श्रवणारम्भ मे होने लगा।

अन्य बातें

महाभारत में ऋतु, अयन, मध्वादिमास और तिथियो का उल्लेख अनेको स्थलो में है। उसे यहा लिखने की कोई आवश्यकता नही है। ऊपर के ही श्लोक मे कहा है 'ऋतव शिशिरादय'। 'वसन्तादि ऋतु' का भी उल्लेख अन्य अनेको स्थलो में है। वर्षारम्भ यदि उत्तरायणारम्भ मे माने तो ऋतुए हेमन्तादि या शिशिरादि माननी पड़ेंगी। निम्नलिखित श्लोको द्वारा तथा अन्य भी अनेक स्थलो के वर्णनो से सिद्ध होता है कि उस समय चैत्र और वैशाख को ही वसन्त ऋतु मानने की पद्धति प्रचलित थी।

कौमुदे मासि रेवत्या शरदन्ते हिमागमे।
स्फीतसस्यसुखे काले ॥७॥

उद्योगपर्व, अध्याय ८३।

तेषा पुण्यतमा रात्रि पर्वसन्धौ स्म शारदी।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ।।१६।।
वनपर्व, अध्याय १८२।

अनुशासन पर्व के १०६ और १०९ अध्यायो मे दो जगह सब मासो के नाम बतलाये है। उनमे आरम्भ मास मार्गशीर्ष है।

उपर्युक्त श्रवण सम्बन्धी श्लोक मे मास शुक्लादि माने है पर कृष्णादि (पूर्णिमान्त) मास का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयाया यो वसेन्नर ।।९६।।
वनपर्व, अध्याय ८४।

दिन के विभागो के विषय मे अग्रिम वाक्य देखिए।

काष्ठा कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवा ।।२१।।
शान्तिपर्व, आपद्ध, अध्याय ७।

दिन के विभागो में से यहा काष्ठा, कला, मुहूर्त और लव नामक मान आये है।

सवत्सरान् ऋतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान् ।।१४।।
शान्तिपर्व, आप, अध्याय १६।

इसमें क्षण का भी नाम है, पर इन सब का परस्पर सम्बन्ध कही नही बताया है। मुहूर्त का नाम तो सैकडो जगह आया है।

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।।१७।।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु
उद्योगपर्व, अध्याय ६।

इस श्लोक में जय नामक मुहूर्त का उल्लेख है। अथर्वज्योतिष में दिन के ११ वें मुहूर्त का नाम विजय है।

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेभिजितेष्टमे।
दिवा मध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेतिपूजिते ।।६।।
समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवर सुतम्।
आदिपर्व, अध्याय १२३।

यहा दिन के आठवें मुहूर्त का नाम अभिजित् बतलाया है। अथर्वज्योतिष तथा अन्य सभी ज्योतिषग्रन्थो में दिन का आठवां मुहूर्त अभिजित् प्रसिद्ध है। यहा तिथि

शब्द पुलिङ्गी है। घटी और पल नामक मान कही नही मिले परन्तु निश्चित नही कहते बनता कि वे उसमे नही ही होगे क्योकि इस विषय का अन्वेषण मैने ध्यानपूर्वक नही किया है।

वार

सात वारो के नाम तो कही नही मिले, पर वार शब्द भी केवल एक ही स्थान मे मिला। द्रौपदी-स्वयम्वर के पहिले पाण्डव कुछ दिन तक एकचक्रा नामक नगरीमे एक ब्राह्मण के यहा रहते थे। उस नगरी मे एक राक्षस रहता था। उसे प्रतिदिन एक मनुष्य दिया जाता था। एक दिन ब्राह्मण के यहा भी वारी आयी। उसके विषय मे कहा है—

एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥७॥
आदिपर्व, अध्याय १६०।

'आज का वार एक के यहा, कल का दूसरे के यहा' इस अर्थ मे यहा वार शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद मे वासर शब्द आया है, यह पहिले ही बता चुके है। इससे ज्ञात होता है कि सात वारो का प्रचार होने के पहिले ही दिन अर्थ मे वार या वासर शब्द का प्रयोग होने लगा था।

नक्षत्र

अनुशासन पर्व मे दो जगह (अध्याय ६४, ६९) सत्ताईसो नक्षत्रो के नाम एकत्र लिखे है। उनका आरम्भ कृत्तिका से है। भिन्न-भिन्न नक्षत्रो के नाम अनेको स्थलो मे आये है। उन सव को यहा लिखने की कोई आवश्यकता नही है। केवल कुछ विशेप ध्यान देने योग्य श्लोक यहा लिखते है।

इस वैदिक कथा का कि तारारूप मृग के पीछे रुद्र दौडा, उल्लेख अनेको स्थलो में है। उदाहरणार्थ—

अन्वधावन्मृग रामो रुद्रस्तारामृग यथा ॥२०॥
वनपर्व, अध्याय २७८।

अन्य सस्कृत ग्रन्थो मे भी इस बात का उल्लेख अनेको जगह है कि रुद्र मृग के पीछे लगा था। सौप्तिक पर्व मे इस कथा का स्वरूप कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार—

ततो दैवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन्।
यज्ञ वेदप्रमाणेन विधिवद्यष्टुमीप्सव ॥१॥

इसके बाद वहा रुद्र आया और—

तत स यज्ञ विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावक ॥१३॥
स तु तेनैव रूपेण दिव प्राप्य व्यराजत।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभ स्थले ॥१४॥

अध्याय १८

शान्तिपर्व, अध्याय २८३, मोक्षपर्व में भी यह कथा इसी प्रकार है।

पुनर्वसु के विषय में लिखा है—

तावुभौ धर्मराजस्य प्रवीरौ परिवारर्वत ।
रथाभ्यासे चकाशेते चन्द्रस्येव पुनर्वसू ॥२८॥
कर्णपर्व, अध्याय ४९।

अर्थात् दोनो पुनर्वसुए चन्द्रमा के दोनो ओर शोभित है।

पञ्चभिर्भ्रातृभि पार्थैर्द्रोण परिवृतो वभौ।
पञ्चतारेण सयुक्त सावित्रेणेव चन्द्रमा ॥३०॥
आदिपर्व, अध्याय १३५।

इसमें हस्त के पाच तारो का वर्णन है।

सितावपि भ्राजति तत् (कस्यचिद्राज्ञो मुख) सकुण्डल
विशाखयोर्मध्यगत शशी यथा ॥४८॥
कर्णपर्व, अध्याय २१।

इसमे विशाखा के दो तारे[1] वतलाये है।

अन्य तारे

२७ नक्षत्रो के अतिरिक्त अन्य तारो में से व्याध का नाम ऊपर मृग के साथ आया है।

[1] कुछ ज्योतिषग्रन्थों में विशाखा के ४ तारे बतलाये हैं। वस्तुत. इनमें पूर्ण तेजस्वी दो ही (आल्फा और बीटा लिब्रा) हैं। पूर्ण चन्द्रमा पास रहने पर वे भी पूर्ण तेजस्वी नहीं दिखाई देते परन्तु शुक्ल पञ्चमी के पहिले और कृष्ण दशमी के बाद जब चन्द्रमा उनके मध्य में आता है उस समय का दृश्य सचमुच बड़ा ही मनोहर होता है। (ज्योतिर्विलास, आवृत्ति २, पृ० ३७ देखिए)

सप्तर्षीन् पृष्ठत कृत्वा युद्धयेयुरचला इव ।।१९।।
शान्तिपर्व, राजधर्म, अध्याय १०० ।
अत्र ते ऋषय सप्त देवी चारुन्धती तथा ।।१४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १११ ।

यहा द्वितीय वाक्य मे अरुन्धति सहित सप्तर्षियो का उल्लेख है।

अगस्त्यशास्ता च दिश प्रयाता स्म जनार्दन ।।४४।।
उद्योगपर्व, अध्याय १४३ ।

इसमे अगस्त्य का नाम आया है।

योग और करण

योग और करणो का उल्लेख कही नही है।

मेषादि नाम

महाभारत मे मेषादि नाम कही नही है। जिसने सम्पूर्ण महाभारत पढा है उसे इस बात का निश्चय अवश्य हो जायगा कि उसके किसी भी भाग के रचनाकाल मे यदि मेषादि सज्ञाए प्रचलित रही होती तो उनके नाम उसमे अवश्य आते। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत के रचनाकाल मे मेषादि द्वादश राशियो का प्रचार नही था। क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानकर उसके अनुसार ग्रहस्थिति लाने की पद्धति भी महाभारत मे नही है। ग्रहो और चन्द्रमा की स्थिति सर्वत्र नक्षत्रो द्वारा बतलायी है।

सौरमास

सूर्यस्थिति का कही विशेष वर्णन नही है तथापि वेदाङ्गज्योतिष की भाँति उस समय सौरमास का प्रचार अवश्य रहा होगा। इतना ही नहीं—

पर्वसु द्विगुण दानमृतौ दशगुण भवेत् ।।२४।।
अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ।।२५।।
वनपर्व, अध्याय २०० ।

इन श्लोको मे भिन्न-भिन्न पुण्यकालो में दान देने का माहात्म्य बतलाने के प्रसंग में आठ संक्रान्तियो का वर्णन भी आया है। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिष ग्रन्थो में दोनो अयनों के नाम कर्क और मकर है। दोनो विषुवो के नाम मेष और तुला है। षडशीति संज्ञा भी उनमें है और उससे मिथुन, कन्या, धन और मीन चार राशियो का ग्रहण

किया गया है। उपर्युक्त श्लोक में 'षडशीतिमुखेषु' प्रयोग बहुवचनात्मक है। इससे ज्ञात होता है कि मिथुनादि चार नामों से बोधित होनेवाले क्रान्तिवृत्त के चार भागों को षडशीति कहते थे। अतः सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल में कम से कम सूर्य के ही सम्बन्ध से क्रान्तिवृत्त के १२ भागों की कल्पना हो चुकी थी।

ग्रहण

चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणों का सामान्य वर्णन अनेकों स्थलों में है। ग्रहण के समय और विशेषतः सूर्यग्रहण के समय श्राद्ध करने और भूम्यादि दान देने का फल अनेकों जगह लिखा है। ऐसे भी उल्लेख बहुत से हैं जिनमें बताया है कि अमुक समय ग्रहण लगा, जैसे पाण्डवों के वनवास के समय सूर्य-ग्रहण हुआ था। उसके विषय में लिखा है—

राहुग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ॥१९॥

सभापर्व, अध्याय ७९।

कौरव-पाण्डवों के युद्ध के पूर्व धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए व्यास जी आये थे। उनके भाषण में निम्नलिखित वाक्य आये हैं—

अलक्ष्य प्रभया हीन पौर्णमासीञ्च कार्तिकीम्।
चन्द्रोभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णे नभस्तले॥

भीष्मपर्व, अध्याय २।

चतुर्दशी पञ्चदशी भूतपूर्वा तु षोडशीम्।
इमां तु नाभिजानेहममावास्यां त्रयोदशीम्॥
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तौ एकमासी त्रयोदशीम् ॥३२॥

भीष्मपर्व, अध्याय ३।

इन वाक्यों से और पूर्वापर सन्दर्भ द्वारा ज्ञात होता है कि युद्ध के पूर्व कार्तिकी पूर्णिमा में चन्द्रग्रहण और उसके आगेवाली अमावास्या में सूर्यग्रहण हुआ था। एक मास में दो ग्रहण होते हैं, पर उन दोनों को एक स्थान में दिखलाई देने की सभावना कम होती है, इसीलिए ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों में यह बड़ा भारी उत्पात माना गया है। इसके विषय में भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका (राहुचार) में महाभारतोक्त इन ग्रहणों का विचार किया है।

विश्वघस्र-पक्ष

उपर्युक्त वाक्यों में १३ दिन के पक्ष का वर्णन आया है। १३ दिन का पक्ष होने का प्रसंग क्वचित् ही आता है और उसे भी उत्पात सरीखा ही मानते हैं। उसे क्षयपक्ष

कहते हैं। सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थो द्वारा चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करके तिथि लाने से १३ दिन का पक्ष आता हैं परन्तु वेदाङ्गज्योतिपोक्त मध्यम मान द्वारा या अन्य किसी भी सूक्ष्म मध्यम मान मे पक्ष में १३ दिन कभी भी नही आते। वेदाङ्गज्योतिपानुसार अर्धचान्द्रमास (पक्ष) का मान १४ दिन ४५ घटी २९ १/३१ पल और सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थ तथा यूरोपियन सूक्ष्म मानो द्वारा पक्ष का मध्यम मान १४ दिन ४५ घटी ५५ ३/६० पल आता है। मध्यम मान से पक्ष मे दिन १४ से कम कभी नही आते। इसलिए १३ दिन का पक्ष होना असम्भव है पर स्पष्टमान से हो सकता हैं। उदाहरणार्थ, शके १७९३ फाल्गुन कृष्ण पक्ष तेरह दिनो का था। शके १८००का ज्येष्ठ-शुक्लपक्ष भी १३ दिन का था। इन दोनो मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार और इगलिश नाटिकल आलमनाक द्वारा बनाये हुए सूक्ष्म केरोपन्तीय पञ्चाङ्गानुसार भी पक्ष १४ दिन से कुछ घटी कम था। ऐसा प्रसग बहुत कम आता है और इस स्थिति मे भी पक्ष सर्वदा १३ दिन का ही नही हुआ करता। उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी मेपमास के प्रथम दिन सूर्योदय के ४ घटी बाद अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त हुई है और स्पष्ट तिथिमान से अर्धमास का मान १३ दिन ५५ घटी हैं तो उस मास के १४ वे दिन सूर्योदय से ५९ घटी पर अग्रिम अमावास्या या पूर्णिमा समाप्त होगी। प्रथम दिन सूर्योदय के बाद पर्वान्त होने के कारण उस दिन की गणना पिछले पक्ष मे होगी और वर्तमान पक्ष मे केवल १३ दिन रह जायगे। इसी उदाहरण में मेपमास के प्रथम दिन सूर्योदय के १० घटी बाद पर्वान्त मान लेने से अग्रिम पर्वान्त मेप के १५ वे दिन सूर्योदय के ५ घटी बाद होगा अर्थात् पक्ष मे १३ के बदले १४ दिन हो जायगे। इससे ज्ञात होता है कि स्पष्टमान से पक्ष में १३ दिन हो सकते है, पर मध्यम मान से कभी भी नही होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि महाभारत-काल मे हमारे देश के लोग स्पष्ट-तिथि का गणित जानते थे अर्थात् उन्हे सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का ज्ञान था। यह बात बडे महत्व की है।

महाभारतोक्त १३ दिन का पक्ष स्पष्ट या मध्यम तिथि द्वारा न लाया गया हो बल्कि केवल चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति देख कर दिन गिनकर लिख दिये गये हो, यह भी असम्भव है क्योकि अमावास्या को चन्द्रमा दिखाई नही देता और १३ दिन का पक्ष उसी स्थिति मे होता है जब कि तिथियो की घटिया उपर्युक्त उदाहरण सरीखी हो परन्तु पूर्णिमा और अमावास्या के पास की चन्द्र-स्थिति का थोडा विचार करने मे अथवा उसका प्रत्यक्ष अवलोकन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना गणित किये चन्द्रमा की प्रत्यक्ष स्थिति के अवलोकनमात्र से १३ दिन के पक्ष का ज्ञान होना अशक्य है। इस विपय का यहा थोडे मे विवेचन करना कठिन है।

उपर्युक्त वचनो से ज्ञात होता है कि कार्तिकी पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और उससे आगेवाली अमावास्या मे सूर्य-ग्रहण हुआ था और यही पक्ष १३ दिनो का था। शुक्ल-पक्ष १३ दिन का हो तो उसके आरम्भ मे सूर्यग्रहण और अन्त मे चन्द्रग्रहण हो सकता है। यह बात शके १८१७ के निरयण वैशाख-शुक्लपक्ष की तिथियों का अवलोकन करने से समझ में आ जाती है परन्तु कृष्णपक्ष १३ दिनो का होने पर उसके आरम्भ में चन्द्रग्रहण और समाप्ति में सूर्यग्रहण होना असम्भव है। पञ्चाङ्ग में कोई १३ दिन का कृष्ण-पक्ष निकाल कर देखिए, इसकी स्पष्ट प्रतीति हो जायगी। यदि ऐसा मान भी लें तो दोनो पर्वान्तो का अन्तर अधिकाधिक लगभग १३ दिन ३० घटी होगा, पर पक्ष का स्पष्टमान १३ दिन ५० घटी से कम कभी होता ही नही। अत यह स्थिति सर्वथा असम्भव ही है। आधुनिक स्पष्टमान मे १३ दिन का ऐसा कृष्णपक्ष कभी नही आता जिसके आरम्भ में चन्द्रग्रहण और अन्त मे सूर्यग्रहण लगता हो और मध्यम मान से तो १३ दिन का पक्ष ही नहीं होता परन्तु महाभारत में इसका वर्णन आया है अत मानना पडता है कि पाण्डवो के समय चन्द्रमा और सूर्य की स्पष्ट गति का गणित था तो अवश्य, पर वह आधुनिक पद्धति से भिन्न अर्थात् कम सूक्ष्म था।

दुर्योधन-वध के समय सूर्यग्रहण हुआ था। उसके विषय मे लिखा है—

राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशापते ।।१०।।

गदापर्व, अध्याय २७।

यह अतिशयोक्ति मालूम होती है क्योकि युद्ध के एक मास पूर्व सूर्यग्रहण का वर्णन आ चुका है, अत उसके एक मास बाद तुरन्त दूसरा सूर्यग्रहण होना असम्भव है। इस श्लोक मे भी यही कहा है कि पर्व के अभाव में ही ग्रहण हुआ। १३ वे दिन अमावास्या हुई और उस दिन सूर्यग्रहण लगा, यह कथन भी अतिशयोक्ति हो सकता है परन्तु वह वचन हमें बतलाता है कि उस समय लोग १३ दिन के पक्ष से परिचित नही थे, यह नही कहा जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त कथन बिलकुल ठीक है।

ग्रह-ज्ञान

अब हमे यह विचार करना है कि महाभारत मे ग्रहो के विषय में क्या लिखा है। वनपर्व में एक जगह सूर्य का वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

सोमो बृहस्पति शुक्रो बुधोङ्गारक एव च ।।१७।।
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशु शुचि शौरि शनैश्चर ।।

वनपर्व, अध्याय ३।

इसमें बुधादि पाच ग्रहो के नाम आये हैं।

निम्नलिखित श्लोक मे बतलाया हैं कि ग्रह पाच है।

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेया प्रहारिण ।
राक्षस दुद्रुवु सख्ये ग्रहा पञ्च रविं यथा ।।३७।।
भीष्मपर्व, अध्याय १०० ।

नीचे के श्लोक मे सात ग्रहो का वर्णन है।

प्रजासहरणे राजन् सोम सप्तग्रहा इव ।।२२।।
द्रोणपर्व, अध्याय ३७ ।

यहा पूर्व सन्दर्भ यह है कि सात ग्रह चन्द्रमा को कष्ट देते है।

नि सरन्तो व्यदृश्यन्त सूर्यात्सप्त महाग्रहा ।।४।।
कर्णपर्व, अध्याय ३७ ।

इसमें सात ग्रहो का उल्लेख है। ऐसे वर्णन और भी कई जगह आये है। इन सात ग्रहो मे राहु और केतु की भी गणना है। वस्तुत राहु और केतु दृश्य ग्रह नही है। उनका ज्ञान ग्रहण या चन्द्रमा के शर द्वारा होना सम्भव है। इससे मालूम होता है कि लोग उस समय ग्रहण की वास्तविक उपपत्ति जानते थे।

कहा जाता है कि हमारे ज्योतिष ग्रन्थो मे बतलाये हुए ग्रहो के कुछ नाम अन्य भाषाओ के है, मूलत सस्कृत के नही है परन्तु महाभारतोक्त सब नाम सस्कृत के ही है।

वक्रगति

महाभारत मे ग्रहो के वक्रत्व का वर्णन अनेको स्थलो मे है। यथा—

लोकत्रासकरावास्ता (द्रोण्यर्जुनौ) विमार्गस्थौ ग्रहाविव ।।२।।
कर्णपर्व, अध्याय १८ ।

प्रत्यागत्य पुनिजिष्णुर्जघ्ने ससप्तकान् बहून् ।
वक्रातिवक्रगमनादगारक इव ग्रह ।।१।।
कर्णपर्व, अध्याय २० ।

त्रेता द्वापरयो सन्धौ तदा दैवविधिक्रमात् ।।१३।।
न ववर्ष सहस्राक्ष प्रतिलोमोभवद्गुरु ।।१५।।
शान्तिपर्व, आपद्धर्म, अध्याय ११ ।

ग्रहयुति

ग्रहो के युद्ध अर्थात् अत्यन्त निकट योग का वर्णन भी अनेको स्थानो मे है। यथा—

तत समभवद्युद्ध शुक्रागिरसवर्चसो (द्रौण्यर्जुनयो)।
नक्षत्रमभितो व्योम्नि शुक्रागिरसयोरिव ।।१।।
कर्णपर्व, अध्याय १८।

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ।।१८।।
शल्यपर्व, अध्याय ११।

युद्धकालीन-ग्रहस्थिति

महाभारतीय—युद्धकालीन और उससे एक दो मास पूर्व या पश्चात् की ग्रहस्थिति का वर्णन महाभारत में है। कार्तिक शुक्ला १२ के लगभग भगवान् श्रीकृष्ण कौरवो के यहा शिष्टाचार के लिए गये थे। अग्रिम अमावास्या के पूर्व सातवे दिन उधर से लौटते समय कर्ण ने उनसे कहा था—

प्राजापत्य हि नक्षत्र ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युति ।
शनैश्चर पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ।।८।।
कृत्वा चागारको वक्र ज्येष्ठाया मधुसूदन।
अनुराधा प्रार्थयते मैत्र सगमयन्निव ।।९।।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रा पीडयते ग्रह ।
सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्त राहुरर्कमुपैति च ।।१०।।
उद्योगपर्व, अध्याय १४३।

कर्ण के कथन का अभिप्राय यह है कि ये सब बहुत बडे दुश्चिह्न दिखाई दे रहे है। अत लोकसहार होने की सभावना है।

युद्ध के पूर्व व्यास जी धृतराष्ट्र से कहते है—

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रा समतिक्रम्य तिष्ठति ।।१२।।
धूमकेतुर्महाघोर पुष्य चाक्रम्य तिष्ठति ।।१३।।
मघास्वगारको वक्र श्रवणे च बृहस्पति ।
भग नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीडयते ।।१४।।
शुक्र प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ।।१५।।
रोहिणी पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्टित परुषो ग्रह ।।१७।।
वक्रानुवक्र कृत्वा च श्रवण पावकप्रभ ।
ब्रह्मराशि समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थित ।।१८।।

सवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ।
विशाखाया समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ।।२७।।
भीष्मपर्व, अध्याय ३।

व्यास ने इन चिह्नो को लोकसहार-दर्शक बतलाया है।

ग्रहज्ञान

पहिले बता चुके है कि उपर्युक्त व्यास और कर्ण के भापणो मे जिस ग्रहस्थिति का वर्णन किया गया है वह ठीक पाण्डवो के समय की है। इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवो का समय चाहे जो हो पर उस समय लोगो को ग्रहो का ज्ञान था और ग्रहस्थिति का निर्देश नक्षत्रो द्वारा किया जाता था।

पाण्डव-काल

महाभारत के कुछ वचनो से सिद्ध होता है कि पाण्डवो का समय द्वापर और कलियुग की सन्धि है। यथा—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपञ्चके युद्ध कुरुपाण्डवसेनयो ।।१३।।
आदिपर्व, अध्याय २।

मारुति ने भीम से कहा है—

एतत्कलियुग नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते ।।३८।।
वनपर्व, अध्याय १४९।

वनपर्व के १८८ वे अध्याय मे युगो के मान बतलाये है। उसमे कलियुग के विपय में भविष्य रूप में बहुत सी बातें बतायी है। वनवास के समय धर्मराज ने कहा है—

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुन कौतूहल मम।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।।९०।।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।।९१।।
वनपर्व, अध्याय १९०।

दुर्योधन का वध होने के बाद श्रीकृष्ण ने बलराम से कहा है—

प्राप्त कलियुग विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च।
आनृण्य यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डव : ।।२३।।
गदापर्व, अध्याय ३१।

इन वचनों से सिद्ध होता है कि पाण्डव द्वापर और कलियुग की सन्धि में हुए। हमारे सभी ज्योतिषग्रन्थ शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ मानते हैं अतः उनके मतानुसार शके १८१७ में पाण्डवों को हुए ४९९६ अर्थात् लगभग ५००० वर्ष बीत चुके। कलियुगारम्भ के विषय में हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थों का मत एक है परन्तु ये सभी ग्रन्थ कलियुग का आरम्भ होने के लगभग ३६०० वर्ष बाद बने हैं। उनसे प्राचीन वैदिककाल[1] और वेदाङ्गकाल में बने हुए अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं परन्तु उनमें कलियुग का आरम्भकाल निश्चित करने का कोई साधन नहीं मिलता। यूरोपियन विद्वानों का कथन है कि ज्योतिष ग्रन्थों में केवल ग्रहस्थिति के आधार पर कल्पना द्वारा कलियुग का आरम्भकाल निश्चित किया गया है और उनका यह कथन विचारणीय है। इनका विचार आगे करेंगे। ज्योतिष-ग्रन्थोक्त कलियुगारम्भ-काल यदि ठीक है और पाण्डव यदि सचमुच द्वापर के अन्त में हुए हैं तो उनका समय शकपूर्व लगभग ३२०० वर्ष होगा।

प्रसिद्ध ज्योतिषी प्रथम आर्यभट (शके ४२१) ने स्पष्ट कहा है कि महाभारतीय युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ (द्वितीय भाग में आर्यभट का वर्णन देखिए) और उनके ग्रन्थ से सिद्ध होता है कि शकारम्भ के ३१७९ वर्ष पूर्व कलियुग का आरम्भ हुआ है।

वराहमिहिर शके (४२७) ने लिखा है—

> आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
> षड्द्विकपञ्चद्वि २५२६ युतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥
>
> बृहत्संहिता, सप्तर्षिचार।

जब कि पृथ्वी पर युधिष्ठिर राजा का राज्य था मुनि (सप्तर्षि) मघा में थे। शककाल में २५२६ जोड़ देने से उस राजा (युधिष्ठिर) का (समय) आता है।

इससे वराहमिहिर का मत ऐसा मालूम होता है कि शक के २५२६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ से ६५३ वर्ष बाद पाण्डव हुए। वराह ने सप्तर्षिचार वृद्धगर्ग के मतानुसार लिखा है अतः उनका भी मत यही होना चाहिए। राजतरङ्गिणी नामक काश्मीर का इतिहास कल्हण ने वराहमिहिर के लगभग सात-आठ सौ वर्ष बाद लिखा है। उसके प्रथम उल्लास में गर्ग और वराह के मतानुसार पाण्डवों का काल गतकलि ६५३ ही लिखा है।

गर्गवराहोक्त यह काल कल्पित मात्र है। वराहमिहिर ने सप्तर्षिचार में लिखा है कि सप्तर्षि गतिमान् हैं और वे प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं। इसीके अनुसार

[1] वैदिक काल की अवधि इस भाग के उपसंहार में निश्चित की गयी है।

उन्होने यह काल भी निश्चित किया है, परन्तु हम समझते है सप्तर्पियो मे गति विलकुल नही है। वे युधिष्ठिर के समय मघा मे थे और अब भी मघा मे ही है। यदि यह कथन ठीक मान लिया जाय कि वे प्रत्येक नक्षत्र मे १०० वर्ष रहते है तो उन्हे सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे २७०० वर्ष लगेंगे और उससे यह निष्पन्न होगा कि युधिष्ठिर को हुए २७०० या ५४०० अथवा किसी सख्या से गुणित २७०० तुल्य वर्ष वीते है परन्तु वस्तुत सप्तर्षि गतिमान् नही है और यह सब व्यर्थ की कल्पना है। इसी प्रकार गर्ग और वराहोक्त काल भी निरर्थक है। इन गर्ग का समय शक की प्रथम या द्वितीय शताब्दी होनी चाहिए। उन्हे सप्तर्पि मघा के आसपास दिखलाई पडे, इसलिए उन्होने निश्चय किया कि शकारम्भ के समय युधिष्ठिर को हुए २५२६ वर्ष वीत चुके थे। आकाश मे सप्तर्पि जिस प्रदेश मे है वह वहुत वडा है। सम्प्रति सप्तर्पियो को मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त और चित्रा मे से चाहे जिस नक्षत्र मे कह सकते है। यही स्थिति गर्ग और वराह के समय भी थी। हम समझते है, इमी कारण उन्हें ऐसा मालूम हुआ होगा कि सप्तर्पि गतिमान् है। पहिले उनकी स्थिति किसी ने मघा मे वतलायी है और इस समय पूर्वाफाल्गुनी मे दिखाई दे रहे है तो हम उन्हे गतिमान् अवश्य कहेंगे। वराहमिहिर गर्ग के लगभग दो-तीन सौ वर्ष वाद हुए। उन्हे भी यह काल उचित मालूम पडा, परन्तु वस्तुत है कल्पित ही।

महाभारत मे पाण्डवो का प्रादुर्भावकाल द्वापर के अन्त मे वतलाया है और वराहमिहिर के ममय भी लोगो की यह धारणा अवश्य रही होगी। वराहमिहिर के समकालीन अथवा उनमे थोडे ही प्राचीन आर्यभट ने यह वात स्वीकार की है परन्तु गर्ग और वराह सरीखे ज्योतिपियो ने नही मानी है। इससे महाभारत का यह कथन कि पाण्डव द्वापर के अन्त मे हुए सशयग्रस्त मालूम होने लगता है।

महाभारतीय युद्धकालीन उपर्युक्त ग्रहस्थिति के आधार पर रा० रा० विसाजी रघुनाथ लेले ने गणित द्वारा पाण्डवो का समय निश्चित कर उसे शके १८०३ में समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था। यहा उसका विचार करेगे।

लेले के कथन का साराश यह है—

कर्ण और व्यास के वार्तालाप सम्वन्धी ग्रहस्थिति मे कुछ ग्रह दो नक्षत्रो मे वतलाये है। चन्द्रमा भी दो नक्षत्रो मे वताया है। युद्ध के आरम्भ दिन की चन्द्रस्थिति के विपय मे लिखा है—

मघाविपयग सोमस्तद्दिन प्रत्यपद्यत ॥२॥
भीष्मपर्व, अध्याय १७।

युद्ध के अन्तिम अर्थात् १८ वे दिन बलराम तीर्थयात्रा कर के लौटे। उस समय का उनका कथन है—

> चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे नि मृतस्य वै।
> पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागत ॥६॥

गदापर्व, अध्याय ५

इससे युद्ध के प्रथम दिन रोहिणी या मृगशीर्ष नक्षत्र सिद्ध होता है। इस प्रकार महाभारत मे युद्धकाल के आसपास ग्रहो की स्थिति दो दो नक्षत्रो मे दिखाई देती है। चन्द्रमा रोहिणी या मृगशीर्ष और मघा में, मगल मघा और अनुराधा या ज्येष्ठा मे तथा गुरु विशाखा के समीप और श्रवण में बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि इन दो नक्षत्रो मे से एक सायन विभागात्मक और दूसरा तारारूप अर्थात् निरयण है। इन दोनो मे सात या आठ नक्षत्रो का अन्तर है। गणितानुसार सायन और निरयण नक्षत्रो में इतना अन्तर शकारम्भ के ५३०६ वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुग का आरम्भ होने के २१२७ वर्ष पूर्व आता है। उस वर्ष सायन मार्गशीर्ष में युद्ध हुआ। उसके लगभग २२ दिन पूर्व की स्थिति व्यास और कर्ण के भाषण मे है। कार्तिक की अमावास्या के ग्रह केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक द्वारा स्पष्ट किये के रोपन्त ने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का लिया है। उसके ग्रन्थानुसार मेष सक्रान्ति उसी मान की चैत्र शुक्ल एकादशी शनिवार को १२ घटी २७ पल पर आती है। उस समय का राश्यादि स्पष्ट सायन रवि ८।२५।१ है अर्थात् वह चैत्र सावनमास से पौष होता है। उस वर्ष अयनाश ३ राशि ४ अश ५९ कला आता है अर्थात् सायन ग्रह मे ३।४।५९ अयनाश जोड देने से निरयण ग्रह आते है। उस वर्ष का सायन कार्तिक निरयण माघ था। मेष सक्रान्ति के ३१३ दिन बाद निरयण माघ की अमावास्या हुई। उस दिन के बम्बई के मध्यम सूर्योदय से १२ घटी २७ पल के सायन ग्रह नीचे लिखे है।

	रा०	अ०	क०	सायन-नक्षत्र	निरयण-नक्षत्र
सूर्य	७	३	१६	विशाखा	शतभिषक्
चन्द्रमा	७	३	२७	अनुराधा	शतभिषक्
बुध	७	१	८	विशाखा	धनिष्ठा
शुक्र	७	२१	१	ज्येष्ठा	पूर्वभाद्रपदा
मगल	४	६	३४	मघा	अनुराधा
गुरु	६	१७	४७	स्वाती	श्रवण
शनि	६	१	८	चित्रा	उत्तराभाद्रपदा
राहु	७	१०	४३	अनुराधा	शतभिषक्

चन्द्रमा इसके आगेवाली पूर्णिमा के दिन लगभग १ राशि १८ अश अर्थात् सायन रोहिणी और निरयण पूर्वाफाल्गुनी मे था।

अङ्गारक (मगल) मघा मे वतलाया है और तदनुसार वह सायन मघा मे आता है। गुरु और शनि विशाखा के समीप वतलाये है। तदनुसार गणित द्वारा गुरु विशाखा के पास सायन स्वाती में और शनि उसके पास सायन चित्रा मे आता है। पाण्डवकाल मे निरयण मान की प्रवृत्ति ही नही थी। ग्रह के विषय मे केवल इतना ही कहा जाता था कि वह अमुक सायन नक्षत्र मे और अमुक तारा के पास है। उसी पद्धति के अनुसार मगल ज्येष्ठा तारा के पास वतलाया है। आजकल की भाँति ही उस समय भी नक्षत्रो के तारे निरयण-विभागात्मक नक्षत्र के पास ही थोडा आगे या पीछे रहते थे। तदनुसार ज्येष्ठा का तारा निरयण अनुराधाविभाग[1] मे था और उससे मगल का योग हुआ था। 'अङ्गारक ज्येष्ठाया वक्र कृत्वा' वाक्य मे वक्र का अर्थ विलोम-गति नही है वल्कि उसका अभिप्राय यह है कि मगल ज्येष्ठा से शर तुल्य अन्तर पर था अर्थात् दूर गया था। वृहस्पति श्रवण मे वतलाया है और गणित से श्रवण तारा के पास आता भी है। युद्धारम्भ के दिन चन्द्रमा रोहिणी मे वतलाया है और गणित से भी रोहिणी ही मे आता है। मघा के पास भी वतलाया है। तदनुसार पूर्वाफाल्गुनीविभाग में मघा तारा के पास आता है। शुक्र पूर्वभाद्रपदा के पास वतलाया है और गणित से वह पूर्वाभाद्रपदा मे आता है। 'राहु अर्क उपैति' मे राहु सूर्य के पास वतलाया है और वह भी सूर्य के पास आता है। साराश यह कि महाभारत मे ग्रहस्थिति के सम्वन्ध मे ग्रहो के सायन नक्षत्र और उनके पास के तारे वतलाये है। उसके अनुसार युद्ध का समय शकपूर्व ५३०६वा वर्ष आता है।

यह लेले के कथन का साराश हुआ। उनके गणित पर निम्नलिखित वहुत वडे वडे आक्षेप है।

उन्होने महाभारत की ग्रहस्थिति सायन वतलायी है, पर वस्तुत वह सायन नही है। आधुनिक ज्योतिप ग्रन्थो मे नक्षत्रचक्र का आरम्भ अश्विनी से माना है। उसके अनुसार उन्होने वसन्तसम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानकर महाभारतोक्त सायनग्रहस्थिति की सगति लगायी है, पर यहा प्रश्न यह है कि सम्पात से प्रथम नक्षत्र को अश्विनी मानने का नियम आया कहा से ? दूसरी वात यह कि नक्षत्रो के अश्विन्यादि

[1] उपर्युक्त निरयण विभागात्मक नक्षत्र लेले ने नहीं लिखे है। उनका यह कथन कि ग्रह अमुक तारा के पास है, शीघ्र समझ में आने के लिए उनके गणितानुसार ये मैंने लिखे है।

नाम दृश्य तारो के ही है, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। सायन अश्विनी नक्षत्र कोई दृश्य तारा नही है, अत लेले को यह स्वीकार करना चाहिए कि उनकी बतलायी हुई सायन गणना जब प्रचलित थी उस समय सम्पात जिस तारात्मक नक्षत्र में था उसी का नाम सम्पात से आगेवाले प्रथम नक्षत्र का भी रहा होगा और उनके मत मे महाभारत के सायन नक्षत्र अश्विन्यादि है। अत सायन अश्विन्यादि गणना का प्रचार उस समय हुआ होगा जब कि सम्पात अश्विनी तारा के पास था। शकपूर्व ८०० से ५००वर्ष पर्यन्त सम्पात अश्विनी नक्षत्र के किसी न किसी तारे के पास था परन्तु पाण्डवो का समय इससे प्राचीन है, अत लेले के कथनानुसार सायन अश्विन्यादि गणना का आरम्भकाल शकपूर्व लगभग २६ सहस्र वर्ष (अथवा किसी पूर्णांक से गुणित २६००० वर्ष) सिद्ध होता है परन्तु महाभारत मे अश्विन्यादि गणना कही नही है। नक्षत्रो का आरम्भ कृत्तिका से है। धनिष्ठादि और श्रवणादि गणना का उल्लेख भी कई जगह है (पृष्ठ १५७ देखिए)। इतना ही नही, अश्विन्यादि गणना वेदो मे भी कही नही है। वेदाङ्गज्योतिष में भी नक्षत्रो का आरम्भ धनिष्ठा से है और उनके देवता वेदानुसार कृत्तिकादि है। ऋक्पाठ के १४ वें श्लोक मे प्रथम नक्षत्र अश्विनी है परन्तु उसका कारण दूसरा है। वह वही लिखा है। शकपूर्व ५०० वर्ष के पहिले अश्विनी आरम्भ नक्षत्र नही था। सूर्यसिद्धान्तादि जिन ग्रन्थो में अश्विन्यादि गणना है उनमे से कोई भी शकपूर्व ५०० से प्राचीन नही है। इस बात को आगे सिद्ध करेगे। आधुनिक सभी ज्योतिष ग्रन्थो मे नक्षत्र अश्विन्यादि ही है। वैदिक काल और वेदाङ्गकाल के जिन ग्रन्थो मे मेषादि सज्ञाए नही है उनमें अश्विन्यादि गणना बिलकुल नही है।

सायन गणना उस समय आरम्भ हुई जब कि सम्पात कृत्तिका तारा के पास था, सम्पात स्थान से ही सायन कृत्तिका नक्षत्र आरम्भ होता है और महाभारतोक्त ग्रहस्थिति सायन है, ये तीन बाते मान कर पाण्डवो का समय निश्चित किया जा सकता है। महाभारत में ग्रहो के जो दो-दो नक्षत्र बतलाये है उनमें लगभग सात या आठ का अन्तर है। इसलिए अश्विन्यादि गणना द्वारा पाण्डवो के समय सम्पात लगभग पुनर्वसु मे आता है। शक के लगभग ५३०६ वर्ष पूर्व पुनर्वसु में सम्पात था। कृत्तिकादि गणना द्वारा मघा के लगभग सम्पात मानकर महाभारत की ग्रहस्थिति मिलायी जा सकती है पर ऐसा करने से पाण्डवो का समय और भी लगभग दो सहस्र वर्ष पीछे चला जायगा अर्थात् शकपूर्व लगभग ७३०० वर्ष होगा। शकपूर्व २४०० के लगभग सम्पात कृत्तिका तारा मे था। पाण्डवो का समय इससे भी प्राचीन है। अत लेले को यह स्वीकार करना ही पडेगा कि शकपूर्व २४०० के २६ सहस्र वर्ष पहिले अर्थात् शक के लगभग २८ सहस्र वर्ष पूर्व जब कि सम्पात कृत्तिका में था सायन कृत्तिकादि गणना आरम्भ हुई

और उनके बाद पाण्डवों के समय तक अर्थात् लगभग २१ सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रचलित रही। परन्तु शक के २६ या २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन गणना का आरम्भ निश्चित करना गणित के कितने आडम्बरों से व्याप्त है, इसका ज्ञान उसी को होगा जो कि पञ्चाङ्ग के गणित से भली भाँति परिचित है। कम से कम मुझे तो विश्वास नहीं होता कि आज के २८ सहस्र वर्ष पूर्व हमारे देश के लोग इतना ज्योतिष गणित जानते रहे होंगे। लेले का कथन है[1] कि भारतीयों को गत २६ सहस्र वर्षों से ही नहीं बल्कि उसके भी पहिले से ज्योतिष गणित का अच्छा ज्ञान है और प्राचीन लोग वेध करना अच्छी तरह जानते थे। उस समय के ग्रन्थ सम्प्रति लुप्त हो गये हैं।

मुझे इस बात का कारण मालूम नहीं होता कि जो पद्धति २५ सहस्र वर्षों तक प्रचलित थी उसका एकाएक समूल लोप कैसे हो गया। उस समय का गणित ज्ञान और ग्रन्थ समुदाय एकबारगी कैसे नष्ट हो गया। आज लगभग गत दो सहस्र वर्ष के सैकड़ो ज्योतिष ग्रन्थों का इतिहास ज्ञात है। इतना ही नहीं, बिलकुल सूक्ष्मतया यह भी मालूम है कि एक के बाद दूसरा ग्रन्थ किस प्रकार बना।[2] इतना होते हुए भी सम्प्रति प्राचीन पद्धति का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और प्राचीन गणित का नामशेष तक नहीं रहा है। शकपूर्व ५०० वर्ष से प्राचीन अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए भी उनमें इस सूक्ष्म गणित पद्धति की चर्चा बिलकुल नहीं है। लेले को यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि वेद और वेदाङ्गज्योतिष पाण्डवों से प्राचीन है। वेद, वेदाङ्गज्योतिष और पाण्डवों के बाद के ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए बीच का ज्योतिष ज्ञान और ज्योतिष ग्रन्थ लुप्त हो गये, इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आता।

साराश यह कि वैदिक कालीन किसी भी ग्रन्थ में अश्विनी प्रथम नक्षत्र नहीं है और अनेक प्रमाणों द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि २८ सहस्र वर्ष पूर्व सायन और निरयण का सूक्ष्म भेद समझकर उसका प्रचार होने योग्य ज्योतिष गणित का ज्ञान हमारे देश में नहीं था। इन दो कारणों से सिद्ध होता है कि महाभारत में बतलायी हुई ग्रहस्थिति सायन नहीं है। अत उसके आधार पर लाया हुआ समय भी शुद्ध नहीं है।

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति के सायनत्व पर इन दो बड़े आक्षेपों के अतिरिक्त निम्नलिखित कुछ फुटकर आक्षेप भी हैं।

(३) महाभारत में बृहस्पति और शनि विशाखा के समीप बतलाये हैं। गणित द्वारा गुरु सायन स्वाती में और शनि चित्रा में आता है। लेले ने दोनों को सायन

[1] उन्होने अपने ये मत मुझे २१ मई सन् १८९५ के अपने पत्रो द्वारा बतलाये हैं।
[2] इन सबका विवेचन द्वितीय भाग में किया है।

विशाखा के समीप माना है। वस्तुतः सायन विशाखा कोई दूसरा तारा नहीं है। अतः महाभारतकार को चित्रा और स्वाती में स्थित ग्रहों को विशाखा के समीप बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। स्पष्टतया यही कहना चाहिए था कि गुरु स्वाती में और शनि चित्रा में था।

(४) कर्णवध के समय की स्थिति बतायी है—

वृहस्पति सपरिवार्य रोहिणी बभव चन्द्राकसमो विशाम्पते ॥६॥

यहाँ वृहस्पति रोहिणी में बतलाया है। लेले के गणितानुसार वह स्वाती या श्रवण में आता है अर्थात् रोहिणी की कोई व्यवस्था नहीं लगती। (५) एक जगह लिखा है—'शनि रोहिणी को पीड़ित करता है और सूर्यपुत्र भग (फल्गुनी) नक्षत्र पर आक्रमण कर उसे पीडित करता है'। यहा शनि के नक्षत्र चित्रा और उत्तराभाद्रपदा से भिन्न है। लेले ने इसका विचार नही किया है। किसी न किसी तरह समाधान करना ही हो तो कह सकते है कि 'ग्रह जिस नक्षत्र मे बैठा है उससे भिन्न नक्षत्र को पीडा दे सकता है। इसलिए शनि चित्रा मे रहते हुए रोहिणी को पीड़ित कर सकता है और भग को पीड़ित करनेवाला यह सूर्यपुत्र शनि नही है बल्कि आकाश मे ग्रहो के पुत्र जो बहुत से धूमकेतु घूमा करते हैं उन्ही मे से एक यह भी है' परन्तु इससे ठीक समाधान नही होता। (६) 'वक्रानुवक्र कृत्वा च श्रवण पावकप्रभ' श्लोक में पावकप्रभ लोहिताङ्ग श्रवण में बतलाया है। लेले को इसका विचार नही करते आया। उन्हे पावकप्रभ लोहिताङ्ग कोई धूमकेतु मानना पडता है। उसका अर्थ मगल करने मे सगति नही लगती क्योकि गणित द्वारा मगल सायन मघा या निरयण अनुराधा मे आता है। साराश यह कि जिन ग्रहो की स्थिति दो से अधिक नक्षत्रो में बतलायी है उनकी लेले के गणितानुसार ठीक व्यवस्था नही लगती। (७) 'मघास्वङ्गारको वक्र श्रवणे च वृहस्पति' श्लोक मे मघा और श्रवण नक्षत्र एक जाति के होने चाहिए अर्थात् यदि मघा सायन है तो श्रवण भी सायन ही होना चाहिए। परन्तु लेले को मघा सायन और श्रवण तारात्मक मानना पडता है। दूसरी विचित्रता यह है कि सायन होते हुए यहा मघा का प्रयोग बहुवचनान्त है। वस्तुत सायन नक्षत्रो का प्रयोग बहुवचनान्त नहीं होना चाहिए क्योकि उनका तारो से कोई सम्बन्ध नही होता। (८) जिस दिन शल्य का वध हुआ उसके प्रातःकाल का वर्णन है—

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ ॥१८॥

शल्यपर्व, अध्याय ११।

इसमें शुक्र, मगल और बुध एकत्र बतलाये है। लेले ने इसका विचार बिलकुल

नही किया है। (९) 'कृत्वा चाङ्गारको वक्र ' मे कहा है कि मगल ज्येष्ठा मे वक्री होकर अनुराधा की प्रार्थना कर रहा है। लेले के गणित मे मगल वक्री नही आता इसलिए उन्हे वक्र शब्द का दूसरा अर्थ करना पडता है। (१०) उनका कथन है कि मेरे अयनाश और सायन ग्रहो द्वारा ग्रहो के निरयण नक्षत्र लाने से चन्द्रमा पूर्वाफाल्गुनी मे आता है। महाभारत में वह मघा के पास वतलाया है। मगल अनुराधा मे आता है। महाभारत मे वह ज्येष्ठा के पास वतलाया है। वे यह भी कहते है कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति मे निरयण विभागात्मक नक्षत्र है ही नही। ग्रह तारो के पास वतलाये है। यदि ऐसा है तो इस वात का पता लगाना चाहिए कि उनके निश्चित किये हुए समय मे उन तारो की स्थिति कहा थी। अयन गति प्रति वर्ष ५० विकला मानने से शकपूर्व ५३०६ वे वर्ष मे पूर्वाभाद्रपदा-योगतारा का राश्यादि सायन भोग ८।१३।५ आता है। शुक्र इससे २२ अश कम है अर्थात् वह शतभिषक् तारा के भी पीछे चला जाता है। अत उसे पूर्वाभाद्रपदा के पास कहना शोभा नही देता। ज्येष्ठा का भोग ४।२९।२७ आता है। मगल उससे २३ अश पीछे अर्थात् विशाखा तारा के पास है। अत उसे भी ज्येष्ठा के पास वतलाना उचित नही प्रतीत होता। सम्पातगति ५० विकला से कुछ न्यून या अधिक माने, तारो की निज गति की भी गणना करे और ग्रहस्थिति भोग द्वारा न लेते हुए विषुवाश द्वारा ले तो भी इन दो ग्रहो की स्थिति महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से नही मिलेगी। लेले के निश्चित किये हुए काल से थोडा आगे या पीछे कदाचित् ऐसी स्थिति हो सकती है जिसमे अन्तिम दो तीन आक्षेप लागू न हो परन्तु शेष ज्यो के त्यो वने रहेगे।

साराश यह कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति मे सायन और निरयण दोनो पद्धतियो का सम्मिश्रण नही है और लेले का निश्चित किया हुआ समय अशुद्ध है।[1]

रा० रा० व्यकटेश बापू जी केतकर ने उपर्युक्त सप्तर्षि सम्बन्धी 'आसन्मघासु मुनय शासति पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ' श्लोक का अर्थ यह किया है कि विक्रम के २५२६ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर शक प्रचलित था और तदनुसार उन्होने पाण्डवो का समय शकपूर्व (२५२६+१३५=) २६६१ वा वर्ष माना है। शकपूर्व २६६२ वें वर्ष के मार्गशीर्ष मास मे अर्थात् ई० पू० २५८५वे वर्ष के नवम्बर की ८ वी तारीख को युद्धारम्भ और २५ वी को युद्ध की समाप्ति वतलायी है। केरोपन्तीय 'ग्रहसाधन कोष्ठक' नामक

[1] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मुझे सायन गणना मान्य नहीं है। मेरा कथन केवल इतना ही है कि महाभारतोक्त ग्रहस्थिति सायन नहीं है। महाभारत से अत्यन्त प्राचीन वेदो को सायन गणना मान्य है। आगे इसका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

पुस्तक द्वारा कार्तिक कृष्ण अमावास्या गुरुवार के प्रातःकाल के ग्रह ला कर उनमें १।१३।५७ अयनांश का संस्कार कर निम्नलिखित राश्यादि निरयण ग्रह लाये हैं।

ग्रह	रा० अं० क०	नक्षत्र	ग्रह	रा० अं० क०	नक्षत्र
सूर्य	७।२४।०		शुक्र	८।१०।३३	अनुराधा।
मंगल	३।८।३०	पुष्य	शनि	६।७।५१	स्वाती।
गुरु	७।२४।४८	ज्येष्ठा	राहु	८।१०।३०	

मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा शुक्रवार का चन्द्रमा १ राशि २७ अंश ३० कला अर्थात् मृगशीर्ष नक्षत्र में लाया है। वे कहते हैं कि शुक्र की स्थिति महाभारतोक्त 'श्वेतो ग्रह प्रज्वलितो ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति' श्लोक के अनुसार है। गणित द्वारा युद्धारम्भ और युद्ध समाप्ति दोनों समयों में ग्रहण दिखलाये हैं और अन्तिम ग्रहण के समय जयद्रथ का वध बतलाया है।

यह कथन महाभारत के विरुद्ध है और उपर्युक्त ग्रहस्थिति उसमें नहीं मिलती अतः केतकर का निश्चित किया हुआ यह समय त्याज्य है।[1]

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति द्वारा अभी तक पाण्डवों का समय निश्चित नहीं हो सका है परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह ग्रहस्थिति ही झूठी है। कर्ण और व्यास के भाषणों में वर्णित ग्रहस्थिति सत्य है और मैं समझता हूं वह पाण्डवों के समय से लेकर आज तक के सभी महाभारतों में बराबर चली आ रही है। मुझे तो यही कहना उचित जान पड़ता है कि हम लोगों को उसकी संगति ही लगाने नहीं आती। रा०रा० जनार्दन हरी आठले ने लेले के मत का खण्डन किया है और निरयण मान से ही फल-ज्योतिष के अनुसार उस स्थिति की संगति लगाने का प्रयत्न किया है पर मुझे वह बहुत कुछ सिद्ध हुआ-सा नहीं मालूम होता। जिसकी जैसी इच्छा हो वैसा अर्थ लगावे।

पाण्डवों के समय चैत्रादि नाम प्रचलित थे और उनका शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष[2] से प्राचीन होना बिलकुल असम्भव है। यह बात आगे सिद्ध की है, अतः पाण्डवों का समय शकपूर्व ४ सहस्र वर्ष से प्राचीन कभी भी नहीं हो सकता।

[1]सन् १८८४ के मई और जून मासों के इन्दुप्रकाश और पुणें-वैभव पत्रों में केतकर का गणित और उस पर किये हुए आक्षेप विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उन्हें वहीं देखिए।

[2]शक और ईसवी सन् में ७८ वर्ष का अन्तर है। ज्योतिष गणितद्वारा यदि किसी स्थिति विशेष का समय शकारम्भ के कुछ वर्ष पूर्व निश्चित होता है तो उसमें ७८ वर्षों का अन्तर पड़ना असम्भव नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। अतः मैंने जहाँ शकपूर्व कोई वर्षसंख्या लिखी है वहाँ ईसवी पूर्व उतने वर्ष भी कह सकते हैं।

विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत द्वारा भी पाण्डवों के समय का कुछ पता लगता है। प्रसंगवशात् इन ग्रन्थों के वाक्य लिखते हैं।

महानन्दिसुतः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धो महापद्मो नन्द. परशुराम इवापरोऽखिल-क्षत्रान्तकारी भविता ॥४॥ ततश्चाष्टौ सुता सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति। महापद्मस्तत्पुत्राश्च एक वर्षशतमवनीपतयो भवि-ष्यन्ति। नवैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति ॥६॥ तेषामभावे मौर्याश्च पृथ्वीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्त राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥७॥

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेय पञ्चदशोत्तरम् ॥३२॥

विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २४।

यहां भविष्य रूप में बतलाया है कि युधिष्ठिर के पौत्र परीक्षित के जन्म से १०१५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् नव नन्दों ने १०० वर्ष राज्य किया। उनके बाद चाणक्य का शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा। भागवत द्वादश स्कन्ध के प्रथम और द्वितीय अध्यायों में भी यही कथा है। 'यावत् परीक्षितो जन्म ' श्लोक भी उसमें है। वहां ज्ञेय के स्थान में शत पाठ है। इस प्रकार परीक्षित से नन्द पर्यन्त ११९५ वर्ष होते हैं। जब अलेक्जेण्डर हिन्दुस्तान में आया उस समय चन्द्र-गुप्त उससे मिलने गया था। ई० पू० ३१६ में वह पाटलीपुत्र में गद्दी पर बैठा। अलेक्जे-ण्डर के बाद जब उसका सरदार सिल्यूकस प्रबल हो गया था चन्द्रगुप्त हिन्दुस्तान का अत्यन्त शक्तिशाली राजा समझा जाता था। अशोक उसका पौत्र था। ये बातें इतिहास-प्रसिद्ध और निर्विवाद सिद्ध हैं। अलेक्जेण्डर और सिल्यूकस इत्यादिकों के समय द्वारा चन्द्रगुप्त का उपर्युक्त समय बिलकुल निश्चित हो चुका है। यदि भागवत और विष्णुपुराण का यह वर्णन कि परीक्षित के जन्म के १०१५ या ११९५ वर्ष बाद नन्द का राज्याभिषेक हुआ सत्य है तो पाण्डवों का समय ई० पू० लगभग १४३१ या १५३१ है। यूरोपियन विद्वान भी प्राय यही समय मानते हैं।

मेरे मतानुसार पाण्डवों का समय शकपूर्व १५०० और ३००० के मध्य में है। इससे प्राचीन नहीं हो सकता।

ग्रहगतिज्ञान

महाभारतोक्त ग्रहस्थिति से ज्ञात होता है कि उसके रचनाकाल में लोगों को ग्रहगति का अच्छा ज्ञान था। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक देखिए।

क्षय सवत्सराणाञ्च मासानाञ्च क्षय तथा ।।४६।।
पक्षक्षय तथा दृष्ट्वा दिवसानाञ्च सक्षयम् ।।
शान्तिपर्व, अध्याय ३०१, मोक्षधर्म।

इसमे सवत्सर, मास, पक्ष और दिवस क्षय के नाम आये है। दिवसक्षय वेदाङ्ग-ज्योतिष मे भी है। महाभारत मे पक्षक्षय का वर्णन दूसरी जगह भी आया है। ऊपर विश्ववस्यपक्ष के प्रसग में उसका विवेचन कर चुके है। सवत्सर का क्षय लगभग ८५ वर्षों के बादहोता है (द्वितीय भाग केपञ्चाङ्ग विचारान्तर्गत सवत्सरविचार मे उदय-पद्धति और मध्यमराशि पद्धति देखिए) परन्तु उसमें ऐसी पद्धति की आवश्यकता है जिसमे गुरुगति की गणना राशि के अनुसार हो। महाभारत में मेषादि राशियो के नाम अथवा क्रान्तिवृत्त के १२ भागो के अनुसार ग्रहस्थिति वतलाने की पद्धति नही है अत उस समय मध्यमराशि-भोग द्वारा सवत्सर निश्चित करने की पद्धति भी नही रही होगी। द्वादशसवत्सरपद्धति इससे प्राचीन है। वह गुरु के उदयास्त पर अव-लम्बित है। उसमे सवत्सर का क्षय बार-बार होता है। अनुमानत महाभारत-काल में उसका प्रचार रहा होगा। मध्यमराशि पद्धति यदि थी तो गुरु की सूक्ष्म मध्यमगति का भी ज्ञान रहा होगा। सम्प्रति सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्टगति का सूक्ष्म ज्ञान हुए बिना क्षयमास नही लाया जा सकता। नक्षत्रो द्वारा महीनो का नाम रखने की पद्धति द्वितीय भाग में वतलायी है (पञ्चाङ्ग चारमे मासनामविचार देखिए)। उसमे मासक्षय बार-बार आता है अत महाभारतकाल मे उसका प्रचार रहा होगा। उपर्युक्त पक्षक्षय के विवेचन से ज्ञात होता है कि उस समय आजकल की तरह सूर्य-चन्द्र की स्पष्टगति का सूक्ष्म ज्ञान नही था। मासक्षय, पक्षक्षय और दिवसक्षय यदि आजकल से ही थे तो सूर्य और चन्द्रमा के फलसस्कार तथा स्पष्टगति का ज्ञान भी आजकल सरीखा ही रहा होगा।

सृष्टिचमत्कार

महाभारत में धूमकेतु और उल्कापातादि का वर्णन अनेको जगह है। निम्नलि-खित श्लोक में स्पष्ट कहा है कि वर्षा का कारण सूर्य है।

त्वमादायाशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम्।
सर्वौषधिरसानाञ्च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ।।४१।।
वनपर्व, अध्याय ३।

कही-कही ज्वारभाटे का सम्बन्ध चन्द्रमा से वतलाया है। कई जगह पृथ्वी के

गोलत्व का भी वर्णन है। निम्नलिखित श्लोक में कहा है कि चन्द्रमा का पृष्ठ कभी भी दिखाई नही देता।

यथा हिमवत पार्श्वं पृष्ठ चन्द्रमसो यथा।
न दृष्टपूर्वं मनुजै ॥

शान्तिपर्व, अध्याय २०३, मोक्षधर्म।

साराश यह कि उस समय लोगो की प्रवृत्ति आकाश और पृथ्वी के चमत्कारो का कारण जानने की थी।

संहिता-स्कन्ध

महाभारत मे ऐसी बाते बहुत-सी है जिनका सम्बन्ध ज्योतिप के सहिता-स्कन्धान्तर्गत मुहूर्त ग्रन्थो मे वतलाये हुए फलादिको मे है। युद्ध के समय की सम्पूर्ण ग्रहादि-स्थिति फल के उद्देश्य से ही कही गयी है। भीष्म ने धर्मराज से कहा है—

यतो वायुर्यत सूर्यो यत शुक्रस्ततो जय ॥२०॥
एव सचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजित ॥२५॥
विजय लभते नित्य सेना सम्यक् प्रयोजयन्॥

शान्तिपर्व, अध्याय १००।

युद्धादि यात्रा के लिए पुष्य-योग का शुभत्व तो अनेको जगह वतलाया है। एक जगह भगदेवताक नक्षत्र को विवाह नक्षत्र कहा है। केवल वेद मे भग उत्तराफाल्गुनी का देवता है। अन्य सभी ग्रन्थो मे वह पूर्वाफाल्गुनी का देवता माना गया है परन्तु मुहूर्तग्रन्थो मे पूर्वाफाल्गुनी की गणना विवाह नक्षत्रो मे नही है।

द्रौपदी के विवाह के विषय मे कहा है—

अद्य पौष्य योगमुपैति चन्द्रमा पाणि कृष्णा-
यास्त्व (धर्मराज) गृहाणाद्य पूर्वम् ॥५॥

आदिपर्व, अध्याय १९८।

पुष्य विवाहनक्षत्र न होने के कारण टीकाकार चतुर्धर ने लिखा है 'पुष्यत्यनेनेति त, न तु पुष्यम्। पौष्यमिति पाठे पुष्याय हितम्' परन्तु यह ठीक नही मालूम होता। आगे वतलाया है कि पाचो पाण्डवो ने क्रमश पाच दिन द्रौपदी का पाणिग्रहण किया परन्तु आधुनिक विवाह नक्षत्रो मे कोई भी पाच नक्षत्र क्रमश- नही है।

सारांश

महाभारत की ज्योतिप सम्बन्धी बाते सामान्यत वतला दी गयी। कुछ लोगो का

कथन है कि उसमें वारो और मेषादि राशियो के नाम नही है, अत. भारतीयो ने ग्रीक इत्यादिको से लिये है। इस सशय को दूर करने के लिए यहा महाभारत की कुछ विशेष महत्व की बाते लिखते है।

(१) पाण्डवो का समय किसी भी मत मे शकपूर्व १५०० वर्ष से अर्वाचीन नही है। इसमे चाहे जितना प्राचीन हो पर यह निश्चित है कि पाण्डव-काल में ग्रहो का ज्ञान था। मेषादि सज्ञाओ और सात वारो का प्रचार होने के पहिले अर्थात् ग्रीक ज्योतिष का हमारे ज्योतिष से यदि कुछ सम्बन्ध है तो वह होने के पूर्व (२) क्रान्तिवृत्त के १२ भाग मानने की पद्धति कम से कम सूर्य के सम्बन्ध से तो अवश्य ही थी। (३) १३ दिन के पक्ष से ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य था। (४) पक्ष, मास और सवत्सर के क्षय का भी उल्लेख है। यदि वे आजकल सरीखे थे तो मानना पडेगा कि सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्ट गतिस्थिति का आजकल जैसा ही सूक्ष्म ज्ञान था और गुरु प्रभृति ग्रहो की मध्यम गति भी जानते थे। (५) आकाश के अन्य चमत्कारो का अवलोकन होता था। इतना ही नही, स्पष्टगति-ज्ञान में उपयोगी पडनेवाले ग्रहोदयास्त और वक्रगति इत्यादि का भी अवलोकन और विचार करते थे।

महाभारत की भाँति पुराणो द्वारा उपर्युक्त बातो का निश्चित विधान नही किया जा सकता क्योकि उनका समय निश्चित नही है और सब पुराणो को पढने के लिए दीर्घकाल की आवश्यकता भी है। इसलिए मैंने उसका विवेचन नही किया। रामायण का कुछ भाग वैदिककाल और वेदाङ्गकाल से अर्वाचीन है क्योकि उसमे मेषादि राशियों के नाम आये है। कुछ महाभारत मे प्राचीन भी हो सकता है परन्तु उसे पृथक् कर दिखाना कठिन है, इसलिए रामायण का भी विवेचन नही किया।

प्रथम भाग का उपसंहार

शतपथब्राह्मणकाल

यहा प्रसङ्गानुसार कुछ और कथनीय विषयो तथा महत्व के अनुमानो का वर्णन करते हुए प्रथम भाग का उपसहार करेंगे।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

एक द्वे त्रीणि चत्वारिति वा अन्यानि नक्षत्राण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिका-स्तद्भूमानमेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो

न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्प्राच्यामे-वास्यैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥३॥

शतपथब्राह्मण २।१।२।

अर्थ—अन्य नक्षत्र एक, दो, तीन या चार है, पर ये कृत्तिकाए बहुत सी है। (जो इनमे अग्न्याधान करता है वह) इनका बहुत्व प्राप्त करता है अत कृत्तिका मे आधान करना चाहिए। ये पूर्व दिशा से विचलित नही होती पर अन्य सब नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत हो जाते है। (जो इनमे आधान करता है) उसकी दो अग्निया पूर्व मे आहित हो जाती है। अत कृत्तिका मे आधान करना चाहिए।

कृत्तिकाओ के पूर्व दिशा से च्युत न होने का अर्थ यह है कि उनका सर्वदा पूर्व मे उदय होना है अर्थात् वे विषुववृत्त में है और उनकी क्रान्ति शून्य है। सम्प्रति उनका उदय ठीक पूर्व मे नही बल्कि पूर्वबिन्दु से किञ्चित् उत्तर की ओर हटकर होता है। इस परिवर्तन का कारण अयनगति है। अयनगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से कृत्तिकायोगतारा की क्रान्ति शून्य होनेका समय शकपूर्व ३०६८ वा वर्ष और ४८ विकला मानने से उससे भी लगभग १५० वर्ष पूर्व अर्थात् कलियुगारम्भ के पास का समय आता है। इस समय के अन्य नक्षत्रो की क्रान्ति का विचार करने से रोहिणी का सबसे उत्तरवाला तारा, हस्त के दक्षिण ओर के तीन तारे, अनुराधा का एक, ज्येष्ठा का एक और अश्विनी का एक तारा विषुववृत्त के पास आता है। ठीक विषुववृत्त पर कदाचित् हस्त का कोई तारा रहा हो, पर अन्य कोई नही था।

उपर्युक्त वाक्य मे 'कृत्तिकाए पूर्व मे उगती है' यह वर्तमानकालिक प्रयोग है परन्तु अयनचलन के कारण उनका सर्वदा पूर्व मे उदय होना असम्भव है। आजकल उत्तर मे उगती है। शकपूर्व ३१०० वर्ष के पहिले दक्षिण मे उगती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि शतपथब्राह्मण के जिस भाग मे ये वाक्य आये है उसका रचनाकाल शक-पूर्व ३१०० वर्ष के आसपास होगा।

कृत्तिकादिगणनाकाल

वेदो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया है। बेटली इत्यादि यूरोपियन विद्वान कहते है कि वेदाङ्गज्योतिषकाल मे सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण मे था अत उसके पहिले कृत्तिका में रहा होगा, इसलिए नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से किया गया और वे कृत्तिका में सम्पात होने का समय ईसवी सन् पूर्व १५ वीं शताब्दी बतलाते है, परन्तु उनका यह कथन ठीक नही है। वेदाङ्गज्योतिष का समय लाने में जो त्रुटि हुई वही इसमे भी है। कृत्तिका मे सम्पात होने के कारण उसका सायन भोग शून्य होना चाहिए। सन्

१८५० में ५७ अंश ५४कला था, अत ईसवी सन् के लगभग (५७।५४×७२-१८५०=४१७०-१८५०=)२३२०[1] वर्ष पूर्व सम्पात कृत्तिका मे रहा होगा। चीन मे भी किसी समय नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से होता था। बायो ने उनकी इस पद्धति का समय लगभग इतना ही अर्थात् ई० स० पूर्व २३५७ वतलाया है।[2] स्पष्ट है कि बायो ने हमारी ही रीति से यह समय निश्चित किया है। मैंने बायो के मूल लेख नही पढे है पर आश्चर्य है कि उन्होंने चीनी नक्षत्रो के विषय मे इस रीति का उपयोग किया और हिन्दुओ के विषय में इसका कुछ भी विचार नही किया।

वेवर महोदय लिखते है कि इसमें कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना है, अत इसका समय ईसवी सन् पूर्व २७८० और १८२० के मध्य मे है। डा० थीवो भारतीय ज्योतिष के अच्छे जानकार है। उनका मत अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उसका साराश यह है कि "कृत्तिका को प्रथम नक्षत्र मानने का कारण जो कृत्तिका मे सम्पात होना वतलाया जाता है, वह विलकुल निराधार है। वेदाङ्गज्योतिष मे वतलायी हुई अयन-स्थिति द्वारा जो समय आता है उससे प्राचीनकाल दिखलानेवाली आकाशस्थिति वेदो में आजतक कही भी नही पायी गयी। वेदाङ्गज्योतिषोक्त धनिष्ठारम्भ में उत्तरायण होना भी बिलकुल अस्पष्ट ही है। धनिष्ठा का शर बहुत उत्तर है और सूर्य जिस नक्षत्र में रहता है वह दिखाई नही देता इत्यादि अनेक कारणो से यह बात निश्चित रूप से समझ मे नही आती कि क्रान्तिवृत्त के किस बिन्दु मे सूर्य के रहने पर वेदाङ्ग-ज्योतिष का उत्तरायण होता था। अत उसके अनुसार लाये हुए समय मे १००० वर्षों की त्रुटि हो सकती है।"[3]

मैंने ऊपर जो शतपथब्राह्मण का वाक्य लिखा है वह अभी तक यूरोपियन लोगो के ध्यान में नही आया है। कृत्तिकाए वर्ष में कम से कम १०, ११ मास दिखाई देती है। उनका उदय जब पूर्व मे होता है उस समय उदयकाल मे वे पृथ्वी के प्रत्येक भाग पर पूर्व मे ही दिखाई देती है। इसमे कोई बात शकास्पद नही है। ठीक पूर्व जानने में यदि एक अश की त्रुटि हुई तो निर्णीत समय मे लगभग २०० वर्षो का अन्तर पड जायगा। इससे अधिक अशुद्धि होने की सभावना नही है। साराश यह कि कृत्तिकाओ का पूर्व

[1] सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षो में १ अश होती है।

[2] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद देखिए।

[3] Indian Antiquary XXIV

सन् १८९५ के अप्रैल का अक देखिए।

मे उदय होना ही कृत्तिकादि गणना का हेतु है और इस परिस्थिति का काल शकपूर्व लगभग ३००० वर्ष निर्विवाद सिद्ध है।

वेदकाल

तैत्तिरीयसहिता शतपथब्राह्मण से प्राचीन होनी चाहिए। उसमे नक्षत्रो का आरम्भ कृत्तिका से है अत उसके भी उस भाग का रचनाकाल यही अथवा इससे सौ दो सौ वर्ष पूर्व होगा। शतपथब्राह्मण का उपर्युक्त वाक्य प्रत्यक्ष ही है, अत वह भी इतना ही प्राचीन अथवा इससे १००, २०० वर्ष नवीन होगा। सामान्यत यह कथन असगत न होगा कि वेदो की जिन-जिन सहिताओ और ब्राह्मणो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है उनके तत्तद् भागो का रचनाकाल शकपूर्व लगभग ३००० वर्ष अथवा उसके १००-२०० वर्ष आगे या पीछे होगा। ऋग्वेदसहिता शतपथब्राह्मण मे प्राचीन है। उसमे कृत्तिकादि नक्षत्र नही है अत उसका समय शकपूर्व ३००० वर्ष से प्राचीन है। वेदकाल का विशेष विचार आगे किया जायगा।

नक्षत्रपद्धति

कुछ यूरोपियन कहते है कि वेदो मे कथित नक्षत्रपद्धति का मूल भारतीयो का नही है। हम तो समझते है पृथ्वीतल पर एक भी ऐसी जाति नही है जिसमे नक्षत्रो के कुछ न कुछ नाम न हो और जिसे इस बात का ज्ञान न हो कि चन्द्रमा का नक्षत्रो से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। जगली से जगली जातिया भी इसे जानती है।

चन्द्रमा रोहिणी को आच्छादित करता है। इसी आधार से उत्पन्न हुई एक कथा वेद मे है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है इत्यादि।[1] वेदो मे बतलायी हुई नक्षत्रपद्धति मूलत भारतीयो की ही है। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हो तो भी यह कथा इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिन यूरोपियन लोगो का यह कथन है कि हिन्दुओ ने नक्षत्र चीन, बाबिलोन या अन्य किसी अज्ञात राष्ट्र से लिये है उनमें से कुछ के मत मे इसका समय ई० स० पूर्व ११०० से प्राचीन नही है। वेबर ने स्पष्ट नही बताया है परन्तु उनके मत मे इसका समय ई० स० पूर्व २७८० से प्राचीन कदापि न होगा। ऊपर सिद्ध कर चुके है कि ईसा के ३००० वर्ष पूर्व भारतीयो को नक्षत्रज्ञान था और उससे भी प्राचीन ऋग्वेदसहिता मे नक्षत्रो के नाम है, अत यह कहने का अवसर ही नही प्राप्त होता कि भारतीयो ने नक्षत्र दूसरो से लिये। निष्पक्षपात

[1] तैत्तिरीयसंहिता २।३।५ ज्योतिर्विलास आ० २ पृ० ५५ (रजनीवल्लभ देखिए)।

बुद्धि से विचार करनेवाले को मालूम होना चाहिए कि यदि चीनी लोगो ने नक्षत्रपद्धति की स्थापना स्वत की है तो भारतीय भी ऐसा कर सकते है।

चैत्रादिनाम

ऊपर चैत्रादि सज्ञाओ के विषय में लिखा है कि वे वेदो में कही नही मिलती। पर बाद में कुछ ग्रन्थो में मिली।

शतपथब्राह्मण मे लिखा है—

'योऽसौ वैशाखस्यामावास्या तस्यामादधीत
आत्मन्येवैतत् प्रजाया पशुषु प्रतितिष्ठति'
शतपथब्राह्मण ११।१।१।७।

शतपथब्राह्मण में १४ काण्ड है। आरम्भ के १० काण्डो को पूर्वशतपथ और शेष चार को उत्तरशतपथ कहते है। पूर्वशतपथ में ६६ और उत्तर में ३४ अध्याय है। उपर्युक्त वाक्य ११ वें काण्ड मे है। इसके पूर्व

'तस्मान्न नक्षत्र आदधीत'
शत० ब्रा० ११।१।१।३।

मे कहा है कि नक्षत्र में आधान नही करना चाहिए। परन्तु पूर्वशतपथ में नक्षत्र में ही आधान करना कहा है। एकादश काण्ड मे वेदान्त नामक वेदभाग का जिसमें कि उपनिषद् होते है दो तीन जगह उल्लेख है। चतुर्दश काण्ड तो वेदान्तप्रतिपादक ही है। वह बृहदारण्यक नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे यह बात सहज ही सिद्ध होती है कि शतपथब्राह्मण का उत्तरभाग पूर्वभाग से नवीन है। यह कथन भी असंगत न होगा कि चैत्रादि सज्ञाओ का प्रचार ब्राह्मणकाल के बिलकुल उत्तरभाग मे हुआ। उसके पूर्व नही था।

कौषीतकी (साख्यायन) ब्राह्मण में लिखा है—

'तैषस्यामावास्याया एकाह उपरिष्टाद्दीक्षेरन् माघस्य वेत्याहु.'
कौ० ब्रा० १९।२।३।

यहा तैष (पौष) और माघ नाम आये है। इसी के आगेवाले वाक्य में कहा है कि माघ के आरम्भ में उत्तरायण होता है, अत कौषीतकी ब्राह्मण के इस भाग का रचनाकाल वेदाङ्गज्योतिष इतना ही अर्थात् शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है।

पञ्चविंश ब्राह्मण में लिखा है —

'मुख वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुन.'

पञ्चविंशब्राह्मण ५।९।९।

इस वाक्य में फाल्गुन शब्द आया है।

सारांश यह कि वेद की संहिताओं में चैत्रादि नाम बिलकुल नहीं हैं। ब्राह्मणों में भी बहुत कम हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार इनका प्रचार ब्राह्मणकाल के अन्त में हुआ होगा।

चैत्रादि संज्ञाओं का प्रचारकाल

सायन सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५० पल बड़ा होता है। ऋतुएं सायन सौरवर्ष पर अवलम्बित हैं। सूर्य सम्पात में रहने पर आज जो ऋतु होगी वही सहस्रों वर्ष बाद भी होगी परन्तु नाक्षत्र सौरवर्ष की स्थिति ऐसी नहीं है। किसी नक्षत्र में सूर्य के स्थित रहने पर आज जो ऋतु है वही उस नक्षत्र में प्रत्येक बार सूर्य के आने पर नहीं होगी अपितु लगभग ४३०० वर्षों में दो मास (एक ऋतु) का और २००० वर्षों में एक मास का अन्तर पड़ जायगा[1] अर्थात् अश्विनी नक्षत्र में सूर्य के रहने पर एक बार यदि वसन्त हुआ तो सवा चार सहस्र वर्षों के बाद ग्रीष्म और ८½ सहस्र वर्षों के बाद वर्षा ऋतु होगी। सूर्य को अश्विनी से आरम्भ कर पुनः अश्विनी तक आने में जो समय लगता है उसे नाक्षत्र सौरवर्ष कहते हैं। सूर्य जब अश्विनी में रहता है उस समय चन्द्रमा पूर्णिमा के दिन लगभग चित्रा में रहता है और उस चान्द्रमास को चैत्र कहते हैं। नक्षत्र के सम्बन्ध से जिसे चैत्र कहते हैं उसमें यदि एक बार वसन्त ऋतु आयी तो सवा चार सहस्र वर्षों के बाद ग्रीष्म ऋतु होने लगेगी। सारांश यह कि वसन्तारम्भ एक बार चैत्र में होने के बाद लगभग २१५० वर्षों तक चैत्र ही में होता रहेगा। तत्पश्चात् फाल्गुन में होगा और उसके २१५० वर्षों बाद माघ में आ जायगा अर्थात् चैत्र में वसन्तारम्भ होने के सवा चार सहस्र वर्षों बाद ग्रीष्मारम्भ होने लगेगा। अतः सिद्ध हुआ कि लगभग २००० वर्षों तक ही चैत्र वसन्त का प्रथम मास रह सकेगा।

सभी ग्रन्थों में चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने गये हैं। यह पद्धति स्थापित होने के बहुत दिनों बाद ऋत्वारम्भ पीछे खिसक आया। इसी कारण कुछ ग्रन्थों में मीन और मेष अर्थात् फाल्गुन और चैत्र को वसन्तमास माना है। आजकल कुछ

[1] अयनचलन और सायन गणना का सविस्तर विवेचन द्वितीय भाग में किया जायगा। इस प्रकरण का विचार सम्पात की पूर्व प्रदक्षिणा मान कर किया गया है। उसे पूर्ण होने में लगभग २६००० वर्ष लगते हैं।

पञ्चाङ्गो में ऋतुएं इसी पद्धति के अनुसार लिखी जाती है। सम्प्रति वसन्त माघ और फाल्गुन में होते हुए भी प्राय चैत्र और वैशाख ही वसन्तमास माने जाते हैं। इस पद्धति का प्राचीन काल से ही इतना प्राबल्य है कि चैत्र का ही नाम मधु पड गया। सचमुच मधु और माधव नाम नक्षत्र मासों के नही है बल्कि इनका सम्बन्ध ऋतुओ से है। वसन्त का आरम्भ मास मधु और द्वितीय मास माधव कहलाता है। कुछ दिनो तक वसन्तारम्भ चैत्र मे होता था। उसी समय से चैत्र को ही मधु कहने लगे। जब वसन्तारम्भ चैत्र से पीछे खिसका उस समय कुछ ग्रन्थो मे फाल्गुन और चैत्र वासन्तिक मास लिखे गये। किसी भी ग्रन्थकार ने वैशाख और ज्येष्ठ को वसन्तमास तथा चैत्र को शिशिरमास नही लिखा है। इन सब बातो का विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि चैत्रादि सज्ञाए उस समय प्रचलित हुई जब कि वसन्तारम्भ चैत्रमें होता था। अत उसका प्रवृत्तिकाल निश्चित किया जा सकता है। वह इस प्रकार--

वसन्तसम्पात में सूर्य आने के लगभग १ मास पूर्व अर्थात् सायनसूर्य का भोग ११ राशि होने पर वसन्तारम्भ होता है। उस समय चित्रा नक्षत्र का सायनभोग सूर्य से ६ राशि अधिक अर्थात् ५ राशि होने से निरयण[1] चैत्र मास होगा। चित्रा का सायन भोग सन् १८५० में ६ राशि २१ अंश था अर्थात् ५१ अंश बढ गया था अत सिद्ध हुआ कि ई० स० पूर्व (५१×७२-१८५०=) १८२२[2] के लगभग चैत्र मे वसन्तारम्भ होने लगा था। अनुमानत चैत्रादि सज्ञाए उसी समय प्रचलित हुई होगी। किसी प्रान्त में वसन्तारम्भ देर से होता है और कही जल्दी। देरवाले पक्ष में उपर्युक्त समय थोडा आगे चला जायेगा। किसी-किसी प्रान्त मे वसन्त सम्पात में सूर्य आने के लगभग १॥ मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। इससे पहिले प्राय- नही होता। १॥ मास पूर्व मानने मे चैत्रादि सज्ञाओ का प्रवृत्ति काल ई० पू० २९०० होगा।

वसन्तारम्भकाल नि सशय नहीं है और जिन नक्षत्रो के नाम पर मासो के नाम पडे है उनके भोगो में सर्वत्र समान अन्तर नहीं है। और भी कुछ ऐसी बातें है जिनसे उपर्युक्त काल के विषय में सशय होता है पर सभी सन्देहात्मक विषयो का विचार करने मे भी प्रवृत्तिकाल अधिकाधिक शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होगा। इससे प्राचीन होना सर्वथा असम्भव है। वेदाङ्गज्योतिष में चैत्रादि नाम है और उसका समय शकपूर्व लगभग

[1] साम्पातिक या सायन सौरवर्ष के मासों को सायनमास तथा नाक्षत्र सौरवर्ष के मासों को निरयणमास कहने में कोई आपत्ति नहीं है अतः सुभीते के लिए यहाँ इन्हीं नामों का प्रयोग किया है।

[2] सम्पातगति प्रतिवर्ष ५० विकला मानने से ७२ वर्षों में १ अंश होती है।

१४०० वर्ष है। तैत्तिरीयसहिता मे ये नाम नही है और ऊपर यह सिद्ध कर चुके है कि उसका कुछ भाग शकपूर्व ३००० वर्ष के आसपास बना है। तैत्तिरीयसहिता की यज्ञ-क्रिया तथा ऋतु और मासादि कालावयवो का विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि यदि उस समय चैत्रादिक सज्ञाओ का प्रचार होता तो उनका वर्णन इस सहिता मे अवश्य होता। अत यह कथन असगत न होगा कि शकपूर्व ३००० वर्ष के पहिले चैत्रादि नामो का प्रचार नही था। ऐसे बहुत से (कम से कम चार) बडे-बडे ब्राह्मण ग्रन्थ है जिनमे चैत्रादि सज्ञाए नही मिलती और यह भी स्पष्ट है कि वे तैत्तिरीयसहिता से नवीन है। अत मुझे इनका प्रवृत्तिकाल सामान्यत शकपूर्व २००० वर्ष उचित मालूम होता है। कौषीतकी, शतपथ और पञ्चविंश ब्राह्मणो के जिन भागो मे चैत्रादि सज्ञाओ का उल्लेख है उनका रचनाकाल शकपूर्व २००० और १५०० के मध्य मे है।

वर्षारम्भ

ऋग्वेदसहिता मे प्रत्यक्ष कही नही बतलाया है कि प्रथम ऋतु अमुक है और इस बात का ज्ञापक वचन भी उसमे कही नही मिलता। ऋतुवाचक शरद् हेमन्त और वसन्त शब्द अनेको जगह सवत्सर अर्थ मे आये है, अत यह कह सकते है कि ऋग्वेद-सहिताकाल मे इन ऋतुओ मे वर्षारम्भ होता था। ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर शब्द सवत्सर अर्थ मे प्राय कही भी नही आये है।

पहिले पृष्ठ मे बता चुके है कि यजुर्वेदसहिताकाल मे और तदनुसार सामान्यत आगे के भी सभी वैदिक समयो मे वर्ष का आरम्भ वसन्तऋतु और मधुमास मे होता था। अन्य ऋतुओ मे होने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो वेदो मे नही ही है, पर मेरे मत मे उत्त-रायण के साथ वर्षारम्भ होने का सूचक भी कोई वाक्य नही है। प्रो० तिलक इत्यादिको का मत है कि वर्ष का आरम्भ उत्तरायण के साथ होता था। उनके मत का विचार आगे किया है। वेदाङ्गज्योतिष में भी उत्तरायणारम्भ ही में बताया है, पर महाभारत और सूत्रादिको मे प्रथम ऋतु वसन्त मानी है और चैत्र तथा वैशाख वसन्त के मास बतलाये गये है। अत वैदिक काल के बाद दोनो पद्धतियो का प्रचार रहा होगा और वसन्तारम्भ मे वर्षारम्भ माननेवाली पद्धति का प्राधान्य रहा होगा क्योकि वेदाङ्ग-ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ मे उत्तरायण मे वर्षारम्भ होने का उल्लेख नही है। ज्योतिष के भी सभी सिद्धान्त ग्रन्थो मे चैत्र ही में माना गया है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उन ग्रन्थो की रचना के पूर्व जो पद्धति प्रचलित थी वह ग्रन्थकारो को बाध्य हो कर स्वीकार करनी पडी।

ऊपर पृष्ठ मे बतला चुके है कि महाभारत मे दो जगह मासो का आरम्भ

मार्गशीर्ष से किया है। महमूद गजनवी के साथ अलबीरूनी नाम का एक यात्री आया था। उसने लिखा है कि सिंध इत्यादि प्रान्तो मे वर्षारम्भ मार्गशीर्ष से होता है।[१] इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि कुछ समय तक किसी-किसी प्रान्त मे मार्गशीर्ष ही में वर्षारम्भ माना जाता था। इस बात का यहा थोडा विचार करेगे।

शकपूर्व ३००० के लगभग कृत्तिकादि गणना प्रचलित हुई। मालूम होता है उसके कुछ दिनो बाद किसी-किसी प्रान्त मे मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास मानने लगे। मृगनक्षत्र का नाम आग्रहायणी है। जिसके (जिस नक्षत्र की रात्रि के) अग्रभाग में हायन अर्थात् वर्ष हो उसे आग्रहायणी कहते है। वेद में 'पूर्वाफाल्गुनी सवत्सर की अन्तिम रात्रि है और उत्तरा-फाल्गुनी प्रथम रात्रि है' इस अर्थ के सूचक वाक्य पाये जाते है[२]। बस यही स्थिति आग्रहायणी की है। वेदकाल मे मास चान्द्र होने के कारण वर्षारम्भ चान्द्रमास के आरम्भ मे होता था अत यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य मे पूर्वाफाल्गुनी चान्द्रमास का अन्तिम नक्षत्र है और उत्तराफाल्गुनी उसके आगेवाले मास का प्रथम नक्षत्र है। ये दोनो दैनन्दिन (चन्द्रमा सम्बन्धी) नक्षत्र है। मास के अन्त मे जिस दिन चन्द्रमा मृगशीर्ष नक्षत्र मे आता था उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ होने के कारण उस नक्षत्र का नाम आग्रहायणी पडा होगा और यह पद्धति उस समय प्रचलित रही होगी जब कि मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता था। इसी प्रकार जब प्रथम नक्षत्र कृत्तिका रही होगी उस समय जिस दिन चन्द्रमा कृत्तिका मे आता रहा होगा उसके दूसरे दिन मार्गशीर्ष मे वर्षारम्भ होता रहा होगा। इस प्रकार यह मास पूर्णिमान्त सिद्ध होता है। कृत्तिका नक्षत्र में चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर दूसरे दिन जो पूर्णिमान्त मास आरम्भ होता है उसे आजकल मार्गशीर्ष कहते है। यही पद्धति उस समय भी रही होगी। जैसे एक समय वर्षारम्भ कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन होता था उसी प्रकार उसके पहिले किसी समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन भी होता रहा होगा। यहा यह प्रश्न हो सकता है कि मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन जो मास आरम्भ होगा उसे आजकल की पद्धति के अनुसार पौष कहना चाहिए परन्तु पौष मे वर्षारम्भ होने का प्रमाण कही नही मिलता, इसका कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि कृत्तिका के पहिले प्रथम नक्षत्र मृगशीर्ष होने का कारण मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होने के अतिरिक्त कोई अन्य नही दिखाई देता। शक के लगभग ४००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष मे वसन्तसम्पात था। उस समय मासो के नक्षत्रप्रयुक्त नाम ही नही पडे थे। इस कारण नक्षत्र का नाम तो आग्रहायण या

[१] AlBeruni India vol ii p 8

[२] ये वाक्य आगे लिखे है (तै० ब्रा० १।१।२)।

आग्रहायणी पड़ गया परन्तु पौष में वर्षारम्भ नहीं बतलाया गया। कभी-कभी यह भी कल्पना होती है कि कदाचित् कृत्तिकायुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन प्रारम्भ होनेवाले मास को कार्तिक और मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन आरम्भ होनेवाले मास को मार्गशीर्ष कहते रहे हो, परन्तु सम्प्रति यह पद्धति प्रचलित नहीं है और प्राचीनकाल मे भी इसका प्रचार सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। पूर्णिमा पूर्णिमान्तमास या शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि मानी जाती है पर उसे उत्तरमास या उत्तरपक्ष की तिथि नहीं कहते। यह बात अनेक वैदिक प्रमाणो द्वारा सिद्ध होती है और सम्प्रति प्रचार भी ऐसा ही है। अत पाणिनि के ४।२।२१ सूत्र 'सास्मिन्पौर्णमासीति सज्ञायाम्' द्वारा भी यही परिभाषा सिद्ध होती है कि जिस मास में पूर्णिमा कृत्तिका युक्त हो वह कार्तिक है और उसके दूसरे दिन आरम्भ होने वाले मास की पूर्णिमा मृगशीर्ष युक्त होती है, इसलिए वह मार्गशीर्ष है। साराश यह कि कृत्तिकादि गणना आरम्भ होने के बाद अर्थात् शकपूर्व ३००० वर्ष के पश्चात् कुछ प्रान्तो में वर्षारम्भ मार्गशीर्ष में माना जाने लगा।

प्रो० तिलक का कथन यह है कि (Orion ch IV) मार्गशीर्ष का नाम आग्रहायणिक इसलिए नहीं है कि वह वर्ष का आरम्भ है बल्कि अग्रहायण नक्षत्र के नाम पर उसका यह नाम पडा है। अग्रहायण के अर्थ के विषय में वे लिखते हैं कि 'जिसके आगे वर्षारम्भ होता है अर्थात् सूर्य जिस नक्षत्र मे आने पर सम्पात में रहता है और वर्ष का आरम्भ होता है उसे अग्रहायण कहते हैं।' इस अर्थ मे मेरा कोई विरोध नहीं, पर वे कहते हैं कि मार्गशीर्ष मे वर्षारम्भ करने का प्रचार नहीं था और मार्गशीर्ष पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्ष का आरम्भ नहीं होता था। स्पष्टतया यो न भी कहें, पर उनके प्रतिपादन में ये बाते गर्भित अवश्य हैं। इन दोनो बातो को न मानने से भी उपर्युक्त अर्थ बाधित नहीं होता। मार्गशीर्ष को वर्षारम्भ मास मानने के विषय मे प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं अत इसे अमान्य नहीं कर सकते। मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन वर्षारम्भ होना भी असम्भव नहीं है। ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि पहिले ऐसा होता था।

मृगशीर्षादि गणना

अमरकोष मे आग्रहायणी नाम मृगशीर्ष नक्षत्र का है। पाणिनीय मे भी यह शब्द तीन जगह (४।२।२२, ४।३।५०, ५।४।११०) आया है। उसमें आग्रहायणी शब्द द्वारा मार्गशीर्ष का आग्रहायणिक नाम सिद्ध किया है (४।२।२२)। वैयाकरण प्राय आग्रहायणी का अर्थ मार्गशीर्षी पौर्णमासी करते हैं। इस अर्थ मे भी आग्रहायणिक नाम मार्गशीर्ष का ही होता है। इस प्रकार आग्रहायणी पूर्णिमा मे मृगशीर्ष नक्षत्र अपने आप सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह जिसके कि दूसरे दिन वर्षारम्भ होता है उसे सर्वदा

से आग्रहायणी कहते आ रहे हैं। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि मार्गशीर्ष की पूर्णिमा मे आग्रहायणी (मृगशीर्ष) नक्षत्र आने पर उसके दूसरे दिन वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। ऊपर बता चुके हैं कि आधुनिक ज्योतिष पद्धति और पाणिनीय पद्धति दोनो से उस वर्ष के प्रथम मास का नाम पौष होना चाहिए। यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि शकपूर्व ३००० वर्ष के बाद मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ होने लगा था, अत यह मानना ही पडता है कि पौष मे वर्षारम्भ होने की पद्धति उससे प्राचीन होनी चाहिए। उस समय विपुववृत्त पर मृगशीर्ष नक्षत्र होना असम्भव है। शकपूर्व ४००० मे वसन्तसम्पात मृगशीर्ष मे था। मृगशीर्षादि गणना का इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही दिखाई देता।

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने सन् १८९३ में इगलिश मे ओरायन (Orion) नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होने ऋग्वेदसहिता के अनेक प्रमाणो द्वारा विशेषत १।१६३।३ ऋचा और १०।८६ सूक्त द्वारा सिद्ध किया है कि उस समय वसन्तसम्पात मृगशीर्ष में था और यह भी दिखलाया है कि इस बात को स्वीकार करने से भारत, ईरान और ग्रीस इत्यादि देशो की अनेक पौराणिक तथा अन्यान्य कथाओ का अर्थ ठीक लगता है। इस मृगादि गणना द्वारा ऋग्वेदसहिता के कुछ सूक्तो का रचनाकाल शकपूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होता है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से भी यही बात सिद्ध होती है।

श्री तिलक ने यह भी लिखा है कि 'पुनर्वसु मे सम्पात रहा होगा, ऐसा वेद से ज्ञात होता है।' इस बात को सिद्ध करने के लिए मृगशीर्ष सरीखे स्पष्ट और अधिक प्रमाण तो नही है परन्तु यह असम्भव भी नही है। गणित द्वारा पुनर्वसु में सम्पात होने का समय शकपूर्व ६००० वर्ष आता है। ऋग्वेद के कुछ सूक्त इस समय के हो सकते हैं।

सवत्सरसत्र का अनुवाक ऊपर पृष्ठ में लिखा है। उसके आधार पर प्रो० तिलक ने लिखा है कि "फल्गुनी पूर्णमासी और चित्रा पूर्णमासी में उत्तरायण होता था। ये दोनो समय क्रमश मृग और पुनर्वसु में वसन्तसम्पात होने के समय से मिलते है।" वस्तुत ऋक्सहिताकाल में मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होना स्वतन्त्र रूप से सिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त अनुवाक का यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नही है कि फाल्गुन मे उत्तरायण होता था। ऐसा अर्थ करने में अडचने भी है। पहिली बात तो यह है कि उसमे स्पष्टतया फाल्गुन में उत्तरायण होने का उल्लेख बिलकुल नही है। दूसरे फल्गुनी पूर्णमास को सवत्सर का मुख कहा है। तैत्तिरीयश्रुति में भी इस प्रकार के निम्नलिखित वाक्य आये है।

> "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तु। मुख वा एतदृतूनाम् ॥६६॥ यद्वसन्त। यो वसन्तेऽग्निमाधत्ते। मुख्य एव भवति।

न पूर्वयो. फल्गुन्योराग्निमादधीत। एषा वै जघन्या रात्रि संवत्सरस्य। यत् पूर्वे फल्गुनी। उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रि संवत्सरस्य। यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव संवत्सरस्याग्निम।धाय। वसीयान् भवति। ॥८॥" तै० ब्रा० १।१।२

यहा फल्गुनी शब्द से फल्गुनी नक्षत्र युक्त पूर्णमासी का ग्रहण करना है। जैसे आजकल फाल्गुनी पूर्णिमा के अन्त मे पूर्णिमान्त मान का फाल्गुन समाप्त हो जाता है और उसके बाद चैत्र लगता है, उसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य में पूर्वफल्गुनी युक्त पूर्णिमा को वर्ष का अन्तिम दिन और उसके आगेवाली रात्रि को वर्ष का मुख बताया है। वर्ष का मुख होने के कारण उसमे आधान करने के लिए कहा है और ऋतुओ का मुख वसन्त होने के कारण पूर्व वाक्य मे वसन्त में आधान करने के लिए कहा है। ये वाक्य एक ही अनुवाक मे है। अत इनमे एकवाक्यता अवश्य होनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि फल्गुनी पूर्णमास का सम्बन्ध वसन्त से है।

संवत्सरसत्र के विषय मे आश्वलायन श्रौतसूत्र (१।२।१४।३) में कहा है —

"अत ऊर्ध्वमिष्टययनानि सांवत्सरिकाणि तेषा।
फाल्गुन्या पौर्णमास्या चैत्र्या वा प्रयोग"

और आश्वलायन सूत्र मे फागुन और चैत्र महीनो का सम्बन्ध शिशिर और वसन्त मे दिखलाया है। इनमें उत्तरायणारम्भ मानने से उस समय हेमन्त ऋतु आ जायगी परन्तु आश्वलायन सूत्र मे फाल्गुन का सम्बन्ध हेमन्त ऋतु मे कही नही मिलता। कुछ प्रान्तो मे सम्पात में सूर्य आने के लगभग २ मास पूर्व वसन्तारम्भ होता है। ऐसा मानने से सिद्ध होता है कि ईसा के लगभग ४००० वर्ष पूर्व चित्रापूर्णमास मे वसन्तारम्भ होने लगा था। लगभग २००० वर्षो तक वसन्तारम्भ एक ही मास मे होता रहता है, अत. ई० पू० २००० के लगभग फल्गुनीपूर्णमास के साथ वसन्तारम्भ और संवत्सरारम्भ मानने का विचार स्वभावत उत्पन्न होता है और इस रीति से किसी प्रकार की असम्बद्धता भी नही दिखाई देती। संवत्सर के मध्यभाग मे विषुवान् दिवस आता था परन्तु उसका अर्थ यह नही मालूम होता कि उस दिन, दिन और रात्रि के मान तुल्य ही होने चाहिए। पूर्णिमा के दिन संवत्सरसत्र आरम्भ करने के लिए कहा है। यदि उसके मध्य मे ऐसा विषुवान् दिन आता है जिसके दिन और रात्रि समान है तो सत्र का आरम्भ भी उसी अर्थ के विषुवान् दिन मे या उससे एक दो दिन आगे या पीछे होना चाहिए। परन्तु ऐसा करने से सत्रारम्भ सर्वदा पूर्णिमा में ही नही हो सकेगा क्योंकि यदि इस वर्ष पूर्णिमा के दिन, दिन और रात्रि समान है तो अग्रिम वर्ष में पूर्णिमा के ११

दिन बाद और उससे आगेवाले वर्ष में ७२ दिनों बाद ऐसा होगा। अतः संवत्सरसत्र सम्बन्धी विषुवान् दिवस का अर्थ कम से कम तैत्तिरीयसंहिता के विषुवान् दिवस का अर्थ 'संवत्सरसत्र या किसी भी सत्र का मध्यदिन' इतना ही था। बाद में जिस दिन दिनरात्रि-मान समान होते हैं उसे विषुव दिवस कहने लगे होंगे और तदनुसार संवत्सरसत्र का आरम्भ भी होने लगा होगा। इसलिए वेदाङ्गज्योतिष में विषुवदिन लाने की रीति बतायी है। प्रो० तिलक के कथनानुसार भी ३० घटिकात्मक दिनमान का विषुवदिन संवत्सरसत्र के मध्यभाग में नहीं बल्कि तृतीय और नवम मासों के अन्त में आता है। ऐसी दशा में हम यह नहीं कह सकते कि 'संवत्सरारम्भ सम्बन्धी तैत्तिरीयसंहितोक्त अनुवाक के रचनाकाल में फाल्गुन में ऐसा विषुवान दिन आता रहा होगा जिसके दिनरात्रि-मान समान हों। ऊपर यह बात लिख चुके हैं।

वैदिककाल की मर्यादा

सूत्रकाल और ई० पू० ८०० से १००० पर्यन्त ब्राह्मणकाल हैं। इसके पूर्व ऋग्वेद के सब मण्डलो का सग्रह हो चुका था। इसका कोई निर्णय नही कर सकता कि ऋग्वेदसूत्रो की प्रत्यक्ष रचना ई० पू० १००० में हुई या १५०० मे या २००० मे या ३००० मे अथवा किसी अन्य समय मे हुई"[1]। मैक्समूलर का यह मत वहुत से यूरोपियन विद्वानो को मान्य हैं। ये अनुमान केवल इतिहास और भापाशास्त्र के आधार पर किये गये हैं। इस मत से यह भी विदित होता ही हैं कि ऋग्वेद की प्राचीनता का निर्णय नही किया जा सकता। सूत्रादि तीन कालो के मध्य में दो-दो सौ वर्ष का अन्तर भी वहुत थोडा हैं। इन दोनो वातो का विचार करने से गणित द्वारा निश्चित की हुई वैदिक काल की उपर्युक्त मर्यादा ही ठीक मालूम होती हैं।

वेदाङ्गकालमर्यादा

शकपूर्व १५०० वर्ष वेदाङ्गकाल की पूर्वसीमा हैं। सातवार और मेपादि राशियो का विचार करने से उसकी उत्तरसीमा निश्चित हो सकती हैं। सात वार और मेपादि राशिया वेदो मे नही हैं। शेप जिन ग्रन्थो का विचार इस भाग में किया गया है उनमें से अथर्वज्योतिप और याज्ञवल्क्यस्मृति के अतिरिक्त, वार किसी मे भी नही हैं। मेपादि राशिया वौधायन सूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ मे नही हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो मे इन दोनो का अस्तित्व स्पप्ट ही है। यदि ये दोनो वातें मूलत हमारी ही हो तो यह निर्विवाद सिद्ध हैं कि ये वैदिककाल की नहीं हैं।

सात वारो के क्रम की उपपत्ति इस प्रकार है —

ग्रह पृथ्वी के चारो ओर घूमते हैं। सव से ऊपर शनि और उसके नीचे क्रमश गुरु, मगल, सूर्य, शुक्र, वुध और चन्द्रमा हैं। अहोरात्र के होरा नामक २४ विभाग माने हैं। ये सातो ग्रह क्रमश उनके अधिप हैं। अहोरात्र मे इनकी तीन आवृत्ति समाप्त हो जाने के वाद ३ होराए वच जाती हैं। इस प्रकार चतुर्थ ग्रह द्वितीय दिन की प्रथम होरा का स्वामी होता हैं। प्रथम दिन प्रथम होरा का स्वामी यदि शनि है तो द्वितीय दिन प्रथम होरा का स्वमो रवि और तृतोय दिन चन्द्रमा होता हैं। दिन की प्रथम होरा का स्वामी ही उस वार का स्वामी माना जाता है। इस प्रकार शनि, रवि, चन्द्र, मगल, वुध, गुरु और शुक्र क्रमश वार होते हैं अर्थात् पृथ्वी के चारो ओर घूमनेवाले ग्रहो मे सवसे ऊपर का ग्रह वाराधिप होने के वाद उसके नीचे का चतुर्थ ग्रह वाराधिप होता हैं। इसी प्रकार आगे भी चतुर्थ ग्रह वाराधिप हुआ करते हैं। इसके विपयमे सूर्यसिद्धान्त में लिखा है.—

[1] Physical Religion, pp 91–96 (सन् १८९१ ई०)।

मन्दादध क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपा ॥७८॥
होरेशा सूर्यतनयादधोऽध क्रमगस्तथा ॥७९॥

भूगोलाध्याय।

प्रथम आर्यभट ने भी ऐसा ही लिखा है—

'शीघ्रक्रमात् चतुर्था दिनपा'

कालक्रिया १६।

ज्योतिष ग्रन्थो मे दिन के होरात्मक २४ भाग मानने की पद्धति केवल वारोत्पत्ति और फलज्योतिष के सम्बन्ध मे है। होरा नामक कालमान ज्योतिष के सिद्धान्तग्रन्थो में बतलाये हुए कालमानो में नही है। वैदिककालीन तथा वेदाङ्गकालीन भी किसी ग्रन्थ मे नही है। यह शब्द भी मूलत संस्कृत का नही है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय मे वराहमिहिर ने लिखा है कि अहोरात्र शब्द के आदि और अन्त्य अक्षरो को छोड देने से होरा शब्द बना है, परन्तु इससे समाधान नही होता। खाल्डियन लोगो में होरा नामक काल विभाग बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित था और मालूम होता है सात वार भी इसी प्रकार थे जैसे कि सम्प्रति हमारे यहा है। इन सब बातो का विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि सात वार मूलत हमारे नही है बल्कि खाल्डियन लोगो द्वारा हमारे यहा आये है।

मेषादि नाम संस्कृत भाषा के है। वेदाङ्गज्योतिष और महाभारत के विवेचन में बतला चुके है कि क्रान्तिवृत्त के १२ भागो के विषय मे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे मूलत हमारे नही है। तारासमूहो की आकृति द्वारा उनका नाम रखने की कल्पना वेदो मे भी है, परन्तु ये नाम वैदिक काल के नही है। वेदाङ्गज्योतिष में भी नही मिलते, अत शकपूर्व १५०० वर्ष तक हमारे देश मे इनका प्रचार नही था। अन्य राष्ट्रों के इतिहास के आधार पर कोई-कोई कहते है कि ई० पू० २१६० के लगभग ईजिप्ट के लोगों को मेषादि राशियो का ज्ञान था। कोई-कोई ई० पू० ३२८५ का आसन्नकाल बतलाते है। किसी-किसी का मत है कि खाल्डियन लोगो को ई० पू० ३८०० के लगभग राशि और वार ज्ञात थे। ई० पू० १००० के पूर्व राशिपद्धति दोनो को मालूम थी, यह बात बिल्कुल नि सन्देह है[1]। लेग ने निश्चयपूर्वक लिखा है कि खाल्डियन लोगो को ई० पू० ३८०० के पूर्व ही वारो का ज्ञान हो चुका था।

[1] प्राक्टर, लाकियर का इगलिश ग्रन्थ Nınteenth Century, जुलाई १८९२ का लाकियर का लेख पृ० ३४ और S Laıng's Human Orıgıns, Chap V PP 144-158 देखिए।

वेदाङ्गज्योतिष से ज्ञात होता है कि हमारे देश में ये दोनो शकपूर्व १५०० वर्ष पर्यन्त बिलकुल नही थे।

पता नही, मेषादि नाम सर्व प्रथम तारापुजो की कुछ विशेष आकृतियो द्वारा पड़े या किसी अन्य कारणवशात्। यह विषय वादग्रस्त है। हमारे देश मे चाहे ये बाहर से आये हो, चाहे मूलत यही के हो, पर आकृतियो से इनका कोई सम्बन्ध नही दिखाई देता। अश्विनी, भरणी और कृत्तिका के कुछ तारो के सयोग मे मेष (भेडे) की आकृति नही बनती। मेष प्रथम राशि है और उसका आरम्भ अश्विनी से होता है। जैसे अश्विन्यादि गणना प्रचलित होने के पूर्व कृत्तिकादि गणना प्रचलित थी उस प्रकार मेष के अतिरिक्त अन्य किसी राशि से राशिगणना करने और अश्विनी के अतिरिक्त अन्य किसी नक्षत्र से मेषारम्भ होने का प्रमाण कही नही मिलता। मेषादि नाम वेदाङ्गज्योतिष के पहिले नही थे, यह बात बिलकुल नि सन्देह है। इससे सहज ही प्रतीत होता है कि मेषारम्भ और अश्विनी के आरम्भ मे वसन्तसम्पात आने के बाद इनका प्रचार हुआ है। सन् १८५० में अश्विनी के बीटा एरिस नामक तारा का सायन भोग ३१°।५३' और आल्फा एरिस का ३५°। ३४' था अर्थात् प्रथम तारा का सम्पात तुल्य (शून्य) भोग ई० पू० (३१।५३×७२–१८५०) ४४६ मे था और दूसरे का ई० पू० (३५। ३४×७२–१८५०)७११ मे। इसके पूर्व हमारे देश मे मेषादि सज्ञाओ का प्रचार होने की सभावना नही है। दोनो समयो का मध्यम मान ई० पू० ५७९ आता है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि महाभारतोक्त श्रवणादि गणना का समय ई० पू० लगभग ४५० निश्चित किया है और महाभारत मे राशिया नही है। इससे सिद्ध होता है कि शकपूर्व लगभग ५०० वर्ष पर्यन्त हमारे देश मे मेषादि सज्ञाओ का प्रचार नही हुआ था। द्वितीय भाग मे दिखलाया है कि सूर्यसिद्धान्तादि कुछ सिद्धान्त-ग्रन्थो मे, जो कि कम से कम ई० पू० २०० मे नवीन नही है, मेषादि सज्ञाए है। यह भी नि सशय है कि ज्योतिष के कुछ सहिता ग्रन्थ इनसे भी प्राचीन है और उनमे ये सज्ञाए है। इन सब बातो का विचार करने से सिद्ध होता है कि हमारे यहा मेषादि सज्ञाओ का प्रचार शकपूर्व ५०० के लगभग हुआ। वारो का प्रचार इसमे भी लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। पहिले भी बता चुके है कि वारपद्धति और मेषादि राशियो की कल्पना करना कोई विशेष महत्वशाली बात नही है। महत्व की बात है ग्रहो की स्पष्ट गतिस्थिति का आनयन।

साराश यह कि शकपूर्व ५०० वा वर्ष वेदाङ्गकाल की उत्तर मर्यादा है।

किसी भी ग्रन्थ के रचनाकाल मे यदि वारो और मेषादि राशियो के नाम प्रचलित है तो उनका उल्लेख उसमें अवश्य रहेगा। अत. जिनमे ये दोनो नही है और चैत्रादि

मझाए हैं वे सब ग्रन्थ वेदाङ्गकालीन हैं। ज्योतिष और धर्मशास्त्र ग्रन्थ इसी श्रेणी में आते हैं अर्थात् कल्पसूत्रों और स्मृतिग्रन्थो की भी गणना इन्ही में है। प्रथम भाग मे जिन ग्रन्थो का वर्णन किया गया है उनमे बौधायन सूत्र को छोडकर वेद के बाद के अन्य सभी ग्रन्थ वेदाङ्गकालीन है। उनमे से जिनमें वार नही है वे शकपूर्व १००० से भी प्राचीन होंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो का कालनिर्णय उनका पृथक्-पृथक् विशेष विचार करके करना चाहिए। महाभारत की श्रवणादि गणना से ज्ञात होता है कि उसमें शकपूर्व ५०० पर्यन्त नयी-नयी बातें प्रक्षिप्त होती रही होगी। कदाचित् इसके बाद भी कुछ प्रक्षेपण हुआ होगा, परन्तु उसके कुछ भाग अत्यन्त प्राचीन है। ज्योतिष के विचार से मुझे उसमें बतलायी हुई ग्रहस्थिति पाण्डवो के समय की मालूम होती है।

वेदाङ्गकाल की उत्तरमर्यादा ही ज्योतिषसिद्धान्तकाल की पूर्वमर्यादा है।

स्पष्ट है कि वैदिककाल और वेदाङ्गकाल की मैने जो अवधिया निश्चित की है वे बिलकुल सूक्ष्म नही है। प्राचीन ग्रन्थो का और प्राचीन इतिहास का अभी बहुत अन्वेषण बाकी है। उसके बाद इन अवधियो में कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना है परन्तु मेरा यह निश्चय है कि वेदकाल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व १५०० से और वेदाङ्ग-काल की उत्तर मर्यादा शकपूर्व २०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं हो सकती।

सायनवर्ष

अब तक के विवेचन द्वारा सहज ही ध्यान मे आ गया होगा कि बिलकुल अन्त की कुछ शताब्दियो को छोडकर शेष सम्पूर्ण वैदिक काल मे वर्ष आर्तव (सायन) सौर माना जाता था। मास चान्द्र थे और अधिमास मानने की भी पद्धति थी। इससे चान्द्रमासो का ऋतुओं से मेल रखने का उद्देश्य स्पष्ट विदित होता है। ऋग्वेदसहिता मे शरद्, हेमन्त इत्यादि ऋतुवाचक शब्द ही सवत्सरवाचक भी है। इससे विदित होता है कि ऋग्वेदसहिताकाल में ऋतुओं का एक पर्यय समाप्त होने पर वर्ष की पूर्ति समझी जाती थी। शतपथब्राह्मण में लिखा है —

'ऋतुभिर्हि सवत्सर शक्नोति स्थातुम्'
श० ब्रा० ६।७।१।१८

अर्थात् ऋतुओं द्वारा सवत्सर खडा रह सकता है। सवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति है 'सवसन्ति ऋतवो यत्र' अर्थात् जिसमें ऋतुए वास करती हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋतुओं के एक पर्यय को ही सवत्सर मानते थे।

मधु और माधव सवत्सर के मास है। ये शब्द ऋतुदर्शक है अर्थात् इनका सम्बन्ध नक्षत्रो से नही है। यजुर्वेदसहिता तथा सभी ब्राह्मण ग्रन्थो में इन मासो का माहात्म्य

कितना अधिक है, यह इसी से ज्ञात हो जायगा कि उनमे ये देवता माने गये है। अरुणादि जो अन्य मास नाम प्रचलित थे उनका भी सम्बन्ध नक्षत्रो से नही बल्कि ऋतुओ से है। यह बात उन ग्रन्थो मे बतलाये हुए कुछ नामो से स्पष्ट हो जाती है। वैदिककाल मे प्राय मधु इत्यादि मासो का ही प्रचार था। चैत्रादि मास उसके बिलकुल उत्तर भाग मे प्रचलित हुए है। चैत्रादि नाम नक्षत्रो द्वारा पडे है और इस प्रकार के मासो से सम्बन्ध रखनेवाला वर्ष नाक्षत्र वर्ष कहलाता है, इत्यादि बाते पहिले बता चुके है। इससे सिद्ध होता है कि नक्षत्रप्रयुक्त चैत्रादि मास प्रचार मे आने के समय ही अर्थात् शकपूर्व २००० के लगभग नाक्षत्र सौरवर्ष भी प्रचलित हुआ। उसके पूर्व सैकडो वर्ष तक मध्वादि नामो का ही व्यवहार होता था। अर्थात् वर्ष आर्तव (सायन) था। ऊपर बतला चुके है कि नक्षत्रो के नाम पडने के बाद, बहुत-सी अडचने होने के कारण चैत्रादि सनाए बहुत काल व्यतीत होने पर प्रचलित हुई। अत यह सन्देह नही किया जा सकता कि मध्वादिको के थोडे ही दिनो बाद चैत्रादि नामो का प्रचार हुआ होगा। इस बात को सिद्ध करनेवाले अन्य प्रमाण न हो तो भी केवल इतना ही पर्याप्त है कि वेदो मे चैत्रादिको को कही भी देवता नही कहा है, पर मध्वादिको को देवतात्व प्राप्त है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नही देते, अत किसी नक्षत्र मे सूर्य के आने के बाद पुन उस नक्षत्र मे सूर्य के आने तक का समय 'नाक्षत्रवर्ष' प्रचलित होने के पूर्व आर्तव (ऋतु-पर्ययात्मक) वर्ष का प्रचार होना बिलकुल स्वाभाविक है। मेरे इस कथन का कि 'पहिले सायन वर्ष बहुत दिनो तक प्रचलित था और नाक्षत्र वर्ष नही था' यह अर्थ नही समझना चाहिए कि प्राचीन काल में आजकल की भाँति सम्पातगति और दोनो वर्षो के भेद का ज्ञान रखते हुए सूक्ष्म सायन वर्ष का व्यवहार करते थे। मेरा अभिप्राय यह है कि ऋग्वेदसहिताकाल मे ही अधिकमास की पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। उसी समय से योग्यस्थान मे अधिमास डालकर चान्द्रमासो से ऋतुओ का मेल रखते रहे होगे अर्थात् वसन्त के मास मधु-माधव सर्वदा वसन्त ही मे आने की व्यवस्था करते रहे होगे। वैदिककाल के उत्तर भाग मे यद्यपि निरयण वर्ष का प्रचार हुआ तथापि उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ होना वेदाङ्गज्योतिष में स्पष्ट है। अन्य ग्रन्थो मे भी वसन्तारम्भ मे बताया है। इन सब हेतुओ का विचार करने से ज्ञात होता है कि उस समय आर्तव वर्ष ही सर्वमान्य था। जैसे आजकल किसी के मन मे स्वप्न मे भी ऐसी कल्पना नही होती कि हमारा व्यवहार आर्तव वर्ष के अनुसार नही चल रहा है, यही स्थिति उस समय भी थी। लो० तिलक के कथनानुसार वैदिककाल में उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति थी। इस प्रकार अयनारम्भ मे वर्षारम्भ मानने से भी वर्ष आर्तव अर्थात् सायन ही सिद्ध होता है न कि निरयण।

साराश यह कि आर्तव वर्ष नाक्षत्र वर्ष के पूर्व बहुत काल पर्यन्त प्रचलित था, अत ऐतिहासिक दृष्ट्या वह श्रुतिसम्मत है। साथ ही साथ नैसर्गिक भी है। वसन्त को सवत्सर का मुख कहा है। मास मध्वादि बतलाये है। मधु माधव को वासन्तिक मास कहा है। इन सब बातो की सगति आर्तव वर्ष बिना नही लगती। ऋतुए नाक्षत्र मासो मे नही सध सकती। उनमे कितना अन्तर पडता है, यह पहिले पृष्ठ मे बता चुके है। इससे सिद्ध होता है कि आर्तव सौरवर्ष श्रुति विहित है।

युगपद्धति

उपोद्घात मे युगपद्धति का बहुत कुछ वर्णन कर चुके है। द्वितीय आर्यभट के मतानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में बुध सूर्य से लगभग ९ अश पीछे था। सूर्य-सिद्धान्त और प्रथम आर्यभट के मत मे चन्द्रोच्च ३ राशि और चन्द्रपात (राहु) ६ राशि था। ब्रह्मगुप्त और द्वितीय आर्यभट के मतानुसार चन्द्रोच्च और चन्द्रपात इनसे न्यूनाधिक थे।

मनुस्मृति और महाभारत के विवेचन मे बतला चुके है कि ज्योतिषसिद्धान्त-ग्रन्थोक्त युगमान उन ग्रन्थो की रचना के पहिले ही निश्चित हो चुके थे, परन्तु ज्योतिष-ग्रन्थो में बतलाया हुआ युगारम्भ का यह लक्षण कि 'कलियुग और प्रत्येक महायुग के आरम्भ में सब ग्रह अश्विनी के आरम्भ में एकत्र हो जाते है (कुछ ग्रन्थो के अनुसार कल्पारम्भ में एकत्र होते है और युग के आरम्भ में पास-पास रहते है)' उनमे नही मिलता। पहिले जिन ग्रन्थो का विचार किया गया है उनमे से एक मे भी यह लक्षण नही है बल्कि इसके विरुद्ध महाभारत में एक जगह (वनपर्व० अ० १९०, श्लोक ९०,९१) लिखा है कि सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति और तिष्य (पुष्य) जब एक राशि में आते है तब कृतयुग होता है। ज्योतिषग्रन्थानुसार कलियुग का आरम्भकाल शकपूर्व ३१७९ वा वर्ष है। इसके बाद के बहुत से ग्रन्थो का विवेचन पीछे कर चुके है परन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से यह कलियुगारम्भकाल किसी में भी नही मिलता। यह काल और युग का उपर्युक्त लक्षण कदाचित् किसी पुराण मे हो, पर वह प्रसिद्ध नही है।

वर्तमान शकवर्ष १८१७ कलियुग का ४९९६ वा वर्ष है। सूर्यसिद्धान्तानुसार कलियुग का आरम्भ काल मध्यम मान की फाल्गुन कृष्ण ३० के अन्त में गुरुवार की मध्यरात्रि को आता है। कुछ अन्य सिद्धान्तो के अनुसार इसके १५ घटी बाद अर्थात् शुक्रवार के सूर्योदयकाल में आता है। प्रो० ह्विट्ने ने सूर्यसिद्धान्त के इगलिश अनुवाद में यूरोपियन सूक्ष्म गणित द्वारा कलियुगारम्भकालीन अर्थात् जुलिअन पीरिअड १७

फरवरी ई० पू० ३१०२ गुरुवार की मध्यरात्रि के मध्यम ग्रह लिखे हैं। मैंने भी प्रो० केरोपन्त छत्रे के 'ग्रहसाधनकोष्टक' नामक ग्रन्थ द्वारा ग्रह स्पष्ट किये हैं। दोनों नीचे के कोष्टक में लिखे हैं। ग्र०सा०को० ग्रन्थ भी यूरोपियन सूक्ष्म पुस्तकों के आधार पर ही बना है। ह्विटने ने ग्रह यूरोपियन ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट किये हैं। नीचे के कोष्टक में सूर्य-सिद्धान्त द्वारा लाये हुए कलियुगारम्भकालीन स्पष्टग्रह भी लिखे हैं। ह्विटने के मध्यमग्रह और केरोपन्त के उच्च और पातों द्वारा मैंने यह ग्रह स्पष्ट किये हैं। वे भी नीचे लिखे हैं। वर्तमान समय के लिए यूरोपियन कोष्टक अत्यन्त शुद्ध हैं। उनसे आकाशस्थिति ठीक मिलती है। इसी कोष्टक द्वारा ५ सहस्र वर्ष पूर्व के भी ग्रह, यदि बिलकुल शुद्ध नहीं तो, बहुत शुद्ध आने चाहिए।

कलियुगारम्भकालीन ग्रह

	मध्यमसायन						स्पष्ट					
	विटनी			ग्र०सा०को० के अनुसार			यूरोपियन सायन			सूर्यसिद्धान्त		
	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	वि०
सूर्य	३०१	४५	४३	३०१	१३	४२	३०३	३५	४२	२	७	२७
चन्द्र	३०८	३	५०	३०१	३६	१८	३१२	१५	३०	५	२	४६
चन्द्रोच्च	४४	५६	४२	६७	३२	४२				९०	०	०
राहु	१४८	२	१६	१४५	०	०	१४७	५३	३४	१८०	०	०
बुध	२६८	३४	५	२६७	३६	४२	२८८	३	५४	३५८	७	२७
शुक्र	३३४	३६	३०	३३३	४५	२४	३१६	१२	६	०	५२	१२
मंगल	२८९	४८	५	२८९	११	१८	३००	३४	१८	५	४२	३०
गुरु	३१८	१६	७	३१८	४	६	३१७	४५	५४	०	४२	०
शनि	२८१	३६	१८	२८०	२	१८	२७८	०	१८	३५३	२४	५७

मैंने केरोपन्त के ग्रन्थ द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहों में कालान्तर संस्कार नहीं दिया है। केरोपन्त ने केवल सूर्य, चन्द्र, चन्द्रोच्च और राहु का कालान्तरसंस्कार लिखा है। इनके संस्कारयुक्त भोग ह्विटने के ग्रहों से प्रायः मिलते हैं। केरोपन्तीय शेष ग्रहों में

कालान्तर संस्कार न देने से भी वे ह्विटनी के ग्रहों से मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ह्विटनी के बुधादि पाच ग्रहों में कालान्तरसंस्कार नहीं दिया गया है।

सूर्यसिद्धान्तानुसार राहु के अतिरिक्त सभी ग्रहों का मध्यम भोग शून्य आता है। यूरोपियन ग्रह सायन हैं और सूर्यसिद्धान्त के निरयण, अत उपर्युक्त यूरोपियन सायन ग्रहों में रवि और किसी इष्ट ग्रह का अन्तर सूर्यसिद्धान्तागंत रवि और इष्ट ग्रह के अन्तर से जितना न्यून या अधिक हो उतनी हमारे ग्रन्थो की अशुद्धि कही जा सकती है। ह्विटनी के ग्रहों में बुध सूर्य से लगभग ३३ अंश पीछे और शुक्र ३२ अंश आगे है। यूरोपियन कोष्टक यदि शुद्ध हो तो हमारे ग्रन्थों द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहो में इतनी अशुद्धि समझनी चाहिए।

आकाश में ग्रह मध्यम भोगानुसार नहीं बल्कि स्पष्ट भोग द्वारा निश्चित किये हुए स्थान में दिखाई देते हैं। उपर्युक्त यूरोपियन स्पष्ट ग्रहो मे सूर्य से, सबसे अधिक अन्तरित ग्रह, शनि और गुरु है। शनि सूर्य से २५ अंश पीछे है और गुरु १४ अंश आगे। सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए सभी स्पष्ट ग्रह सूर्य से ९ अंश के भीतर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार सब ग्रह अस्तगत है और गुरुवार को अमावस्या में सूर्यग्रहण लगता है। यूरोपियन गणितानुसार केवल मगल अस्तगत होता है। ह्विटनी का राहु १५ अंश कम कर देने से सूर्यग्रहण आता है। बुध १० अंश अधिक, शुक्र ९ अंश कम, गुरु ४ अंश कम और शनि ११ अंश अधिक मानकर गणित करने से स्पष्ट ग्रह इस प्रकार आते हैं —

सूर्य ३०३।३५।४२ शुक्र ३१२।२८।४८

बुध २९०।४०। ६ गुरु ३१४। ६।३६ शनि २८८।१७।३०

अर्थात् सब ग्रह अस्तगत आते हैं।

हमारे ग्रन्थो के अनुसार कलियुगारम्भ में सब ग्रह एक स्थान में आते हैं, परन्तु उस समय वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। सब ग्रहों के अस्तगत होने की भी संभावना हो सकती है, पर महाभारतादि में इसका भी वर्णन नहीं है। सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थ कलियुगारम्भ के कम से कम २६०० वर्षों बाद बने हैं। इनके पूर्व मनुस्मृति की युगपद्धति प्रचलित थी, परन्तु मालूम होता है, कलियुग का आरम्भकाल निश्चित नही हुआ था। ऊपर पृष्ठ मे "पहिले के तीन युगो में उत्पन्न वनस्पतियाँ" इस अर्थ के द्योतक ऋग्वेद और यजुर्वेद के वाक्य लिखे हैं। उनसे भी नहीं प्रतीत होता कि वेदवेदाङ्गकाल में यह निश्चित हो चुका था कि शकपूर्व ३१७९ वें वर्ष में कलियुग लगा। अत. यह सन्देह नही किया जा सकता कि ज्योतिषग्रन्थकारो ने ग्रन्थरचनाकाल की गति द्वारा गणित करने पर पीछे जहा ग्रहो को एकत्र होते देखा होगा उसी को कलियुगारम्भकाल कह दिया होगा।

रोहिणीशकटभेद

रोहिणी नक्षत्र में पांच तारे हैं। पांचों के संयोग से गाडी सरीखी आकृति बनती है। इसलिए इसे रोहिणीशकट कहते हैं। पांचों में सबसे उत्तर वाले तारे (एपसिलान टारि) का दक्षिण शर २ अंश ३४ कला ४३ विकला[1] और योगतारा का दक्षिण शर ५ अंश २८ कला है। जब कोई ग्रह इन तारों के पास रहता है और उसका शर इन दोनों शरों के मध्य में होता है उस समय वह इन पांचों तारों के बीच में आ जाता है और लोग कहते हैं कि अमुक ग्रह ने रोहिणीशकट का भेदन किया। ग्रहों का इतना शर होना उनके पात की स्थिति पर अवलम्बित है। चन्द्रपात की परिक्रमा लगभग १८ वर्षों मे पूर्ण होती है परन्तु इतने समय में चन्द्रमा लगभग ५ या ६ वर्ष ही शकट का भेदन करता है। पूर्व पृष्ठों में लिख चुके हैं कि सन् १८८४ के सितम्बर से १८८८ के मार्च तक वह प्रत्येक परिक्रमा में रोहिणी के योग तारे को आच्छादित कर लेता था। रोहिणी और चन्द्रमा के इस समागम की ओर भारतीयों का ध्यान बहुत प्राचीन काल में ही जा चुका था। पुराणों में यह कथा प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा की रोहिणी पर अत्यन्त प्रीति है। तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय अष्टक में तृतीय पाठ के सम्पूर्ण पाचवे अनुवाक में यही कहा है कि प्रजापति की ३३ कन्याएं थीं। उन्होंने वे सब चन्द्रमा को दी थीं। उनमे रोहिणी से वह विशेष प्रेम करता था, इत्यादि[2]। २७ नक्षत्रों के २७ और कृत्तिका के ६ तारे मिलकर ३३ होते हैं। यही ३३ कन्याएं हैं। स्पष्ट है कि आकाश में रोहिणी से चन्द्रमा का निकट समागम दिखाई देने के बाद ही इस कथा का प्रचार हुआ है। गर्गादिकों की संहिताओं में इस योग का विस्तृत वर्णन है। बृहत्संहिता का तो सम्पूर्ण २४ वां अध्याय रोहिणी-चन्द्रमा-योग विषयक ही है।

ज्योतिष के संहिता ग्रन्थों में यह बात प्रसिद्ध है कि शनि और मंगल यदि रोहिणी-शकट का भेदन करें तो स्थिति बडी भयावह होती है। वराहमिहिर ने लिखा है —

> रोहिणीशकटमर्कनन्दनो यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी।
> किं वदामि यदि नष्टसागरे जगदशेषमुपयाति सक्षयम् ॥३५॥
>
> बृहत्संहिता, ३४।

[1] नाटिकल ग्रालमनाक में लिखी हुई उसकी विषुवांशक्रान्ति द्वारा मैंने यह सूक्ष्म शर निकाला है।

[2] ज्योतिर्विलास ग्रन्थ के रजनीवल्लभ प्रकरण में इस योग का वर्णन विस्तार-पूर्वक है। उसमें इस अनुवाक का अर्थ भी लिखा है। (द्वितीयावृत्ति का पृष्ठ ५५ देखिए)।

कृत्तिकादिगणना

कृत्तिका प्रथमम् । विशाखे उत्तमम् ।
तानि देवनक्षत्राणि । अनूराधा प्रथमम् ।
अपभरणीरुत्तमम् । तानि यमनक्षत्राणि ।
यानि देवनक्षत्राणि । तानि दक्षिणेन परियन्ति ।
यानि यमनक्षत्राणि ॥७॥ तान्युत्तरेण ।
तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।२ ।

कृत्तिकाएं प्रथम और विशाखाएं अन्तिम हैं। ये देवनक्षत्र हैं। अनुराधाएं प्रथम और अपभरणिया अन्तिम हैं। ये यम नक्षत्र हैं। देवनक्षत्र दक्षिण से [उत्तर की ओर] और यम नक्षत्र उत्तर से [दक्षिण की ओर] घूमते हैं।

कोष्ट में लिखे हुए शब्द मूल में नही है, परन्तु तैत्तिरीयसंहिता के 'तस्मादादित्य षण्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण' (तैं० स० ६।५।३) वाक्य में वेदभाष्यकार माधवाचार्य ने दक्षिणेन का अर्थ 'दक्षिण की ओर से उत्तर की ओर' किया है। 'दक्षिणेन' का अर्थ 'किसी पदार्थ के दक्षिण' भी हो सकता है परन्तु उस वाक्य मे दूसरा कोई पदार्थ नही दिखाई देता। देवनक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और शेष उत्तर भी नही माने जा सकते क्योकि कृत्तिका क्रान्तिवृत्त से उत्तर है। उससे तीन नक्षत्र क्रान्तिवृत्त के दक्षिण और उसके आगे के दो उत्तर ओर है। इस प्रकार सभी नक्षत्र अव्यवस्थित हैं। नक्षत्रो के शर कभी नही बदल सकते। बदले भी तो उनमे सहस्रो वर्षों मे एकाध कला का अन्तर पडेगा, अत यह वर्णन क्रान्तिवृत्तविषयक नही कहा जा सकता। कृत्तिकादि नक्षत्र विषुववृत्त से दक्षिण और शेष उत्तर हो, यह भी असंभव है। सम्पातभ्रमण के कारण नक्षत्रो की क्रान्तिया अर्थात् विषुववृत्तसम्बन्धी स्थान सर्वदा बदलते रहते है परन्तु स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा और उत्तराभाद्रपदा का शर २४ अंश से अधिक उत्तर होने के कारण ये नक्षत्र विषुववृत्त के दक्षिण भाग मे कभी भी नही आ सकते[1]। अत लगातार कोई भी १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक पार्श्व मे कभी नही आ सकेंगे। भूतल के किसी भी स्थान मे किसी भी समय ऐसी स्थिति नही आ सकती कि आधे नक्षत्र द्रष्टा के एक पार्श्व से चले जाय और आवे दूसरी ओर से। अत उपर्युक्त वेदवाक्य के

[1] मैंने ई० पू० २३५०, १४६२ और सन् ५७०, १८७ की नक्षत्रस्थिति का विचार किया। तदनुसार कोई भी लगातार १३ नक्षत्र विषुववृत्त के एक ओर आने का प्रसङ्ग कभी नहीं आता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से वे सब अङ्क यहाँ नहीं लिखे हैं।

'दक्षिणेन परियन्ति' का अर्थ 'अमुक के दक्षिण पार्श्व में' होना असम्भव है। यदि इस प्रकार अर्थ किया जाय कि कृत्तिकादि देवनक्षत्र दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हैं तो उसका फलितार्थ यह होगा कि वे दक्षिण से उत्तर की ओर हैं अर्थात् सूर्य के दक्षिण से उत्तर ओर जाने के मार्ग में हैं, अतः इस वाक्य से सिद्ध हुआ कि उत्तरायण कृत्तिकारम्भ में होता था। कृत्तिकारम्भ में उत्तरायण होने का समय ई० पू० ८७५० आता है, परन्तु ऐसा अर्थ करने में बहुत सी अड़चनें हैं। ऊपर शतपथब्राह्मण का एक वाक्य लिखा है जिसका अर्थ यह है कि 'कृत्तिकाओं का उदय पूर्व में होता है।' उसमें कृत्तिकाओं की स्थिति का जैसा स्पष्ट वर्णन है वैसा इस वाक्य में नहीं है। यह अर्थ ठीक मानने से शतपथ और तैत्तिरीयब्राह्मणों के समय में लगभग ६००० वर्षों का अन्तर पड़ जाता है जो कि असंभव है। दूसरी बात यह कि वेदाङ्गज्योतिष में उत्तरायण धनिष्ठा नक्षत्र में बतलाया है अतः धनिष्ठा और कृत्तिका के मध्यवर्ती ६ नक्षत्रों में भी कभी न कभी अवश्य होना चाहिए था, परन्तु इसका उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता। उपर्युक्त वेदवाक्यों का अर्थ चाहे जो हो पर रोहिणीशकट-भेद के विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि इतने प्राचीन समय में हम लोगों को नक्षत्रज्ञान होना असम्भव नहीं था।

सारांश[1]

यहां तक वेदाङ्गकालीन ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। ग्रीक ज्योतिष का हमारे ज्योतिष से यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इस काल के बाद का है। इस भाग में बतलायी हुई सभी बातें हमारे देश का निजी ज्ञान हैं। अब यहां ग्रहस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली इस भाग की विशेष महत्व की बातें थोड़े में लिखेंगे। शेष अनेक महत्वशाली बातें पीछे लिखी हैं। उन्हें वहीं देखिए।

भारतीयों को शकपूर्व ५ सहस्र वर्ष के पहिले ही नक्षत्रों का ज्ञान हुआ। अधिमास प्रक्षेपण की रीति का प्रचार भी उसी काल के आसपास हुआ होगा। मासगणना सर्वदा चान्द्रात्मिका रही है। शकारम्भ के पांच सहस्र वर्ष पूर्व ग्रहों का ज्ञान हो चुका था। यद्यपि उस समय ग्रहों की भविष्यकालीन स्थिति का निश्चय नहीं कर सकते थे तथापि इतना जानते थे कि वे गतिमान् हैं और नक्षत्रों के सम्बन्ध से उनकी गति का निरीक्षण करने लगे थे। मध्वादि मासनामों का प्रचार भी उसी समय के आसपास हुआ होगा। शक के लगभग २००० वर्ष पूर्व चैत्रादि नाम पड़े। उस समय तक वर्ष साम्पातिक

[1] इस प्रकार बड़े अक्षरों में ऊपर दिये हुए शब्द सूची में देखिए। उनसे सामान्यतः पता लग जायगा कि इस ग्रन्थ में कौन-कौन से विषय हैं।

(सायन) सौर ही था। बाद मे चैत्रादि नामो के कारण नाक्षत्र (निरयण) सौर का प्रचार हुआ फिर भी उपपत्ति-दृष्ट्या वर्ष सायन ही था।

शतपथब्राह्मण के कृत्तिका-स्थिति-सूचक वाक्य द्वारा उस स्थिति का समय शकपूर्व ३००० वर्ष निश्चित होता है। वेदो की सहिताए इससे भी प्राचीन है। इसमे सन्देह का स्थान बिलकुल नही है।

वेदाङ्गज्योतिष का रचनाकाल शकपूर्व लगभग १५०० वर्ष है। उस समय दिन के ६० घटिकात्मक मान का प्रचार था। सूर्य और चन्द्रमा की मध्यम गतियो का बहुत सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था। सौरवर्ष-मान अशुद्ध होते हुए भी प्रचलित था, परन्तु केवल अधिमास प्रक्षेपण द्वारा सौर और चान्द्र वर्षों का मेल रखने की एक मात्र स्थूल रीति ही वह नही जानते थे, बल्कि उसका विशेष ज्ञान रखते थे। वर्ष के १२ सौरमासो का व्यवहार मे उपयोग किया जाता था अर्थात् क्रान्तिवृत्त के १२ भाग और उनमे से प्रत्येक के अशात्मक ३० विभाग तथा उनके कलात्मक ६० भाग मानने की पद्धति का बीज भी उत्पन्न हो चुका था। कालविभाग और क्षेत्रविभाग के सादृश्य का जो कि एक महत्वशाली पदार्थ है, प्रत्यक्ष प्रचार था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वृत्त के राश्यशादि विभागो की कल्पना सर्व प्रथम हिन्दुओ ने ही की। ग्रहो की भी मध्यम गतिस्थिति का ज्ञान वेदाङ्गकाल के अन्त मे हुआ होगा।

दूसरी महत्व की सीढी है स्पष्टगतिस्थिति। १३ दिनात्मक पक्ष के विवेचन मे बतला चुके है कि सूर्य-चन्द्र की स्पष्ट गतिस्थिति का कुछ ज्ञान हुआ था। ग्रहो की स्पष्ट गतिस्थिति समझना और उसके आनयन की रीति जानना सूर्य और चन्द्रमा की स्पष्टस्थिति की अपेक्षा अधिक कठिन है। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि प्राचीन काल मे उसका ज्ञान था, परन्तु इतना जानते थे कि ग्रहो की मध्यम गति की अपेक्षा स्पष्टगति अनियमित है क्योकि उस समय ग्रहो के वक्रत्व और मार्गित्व का विचार होता था। इससे अनुमान होता है कि ग्रहो की स्पष्टगति का भी विचार आरम्भ हो गया रहा होगा। वेदाङ्गज्योतिष के सौरमास और महाभारत के सक्रान्तियो के अयन, विषुव और षडशीति नामो से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गज्योतिषकाल मे ही अथवा उसके बाद थोडे ही दिनो के भीतर क्रान्तिवृत्त के १२ भागो का प्रचार हुआ, परन्तु ग्रहस्थिति नक्षत्रो के अनुसार बतलायी है। अत १२ राशियो के अनुसार ग्रहस्थिति बतलाने की पद्धति का आरम्भ नही हुआ रहा होगा।

मेषादि सज्ञाए शकपूर्व १५०० के लगभग प्रचलित हुई। वारो का प्रचार इससे पहिले हुआ। वार भारत मे परदेश से आये है।

४३२०००० वर्षों का महायुग मानने की पद्धति यास्काचार्य के पहिले की होगी।

अथर्वज्योतिष से ज्ञात होता है कि जातकपद्धति हमारे देश मे स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई थी अर्थात् हमने जातकपद्धति दूसरो मे नही ली है।

साराश यह कि ग्रहो की स्पष्टस्थिति के गणित और जातक का बीज वेदाङ्गकाल के अन्त मे उत्पन्न हुआ था। वह ग्रन्थ रूप मे किस भाँति परिणत हुआ, इसका विचार आगे द्वितीय भाग मे किया जायगा।

द्वितीयभाग

ज्योतिषसिद्धान्तकालीन ज्योतिषशास्त्र का इतिहास

गणितस्कन्ध

मध्यमाधिकार

प्रथम प्रकरण

ज्योतिषग्रन्थो का इतिहास और मध्यमगति इत्यादि

विषयोपक्रम

उपोद्घात मे बतलाये हुए क्रम के अनुसार अब इस द्वितीय भाग मे ज्योतिपसिद्धान्त-कालीन अर्थात् शकपूर्व लगभग ५०० वर्ष से लेकर आजतक के ज्योतिपशास्त्र का इतिहास लिखा जायगा। उसमे सर्वप्रथम गणितस्कन्व के मध्यमाधिकार के प्रथम प्रकरण में ग्रहगणितसम्बन्धी ग्रन्थो के इतिहास और मध्यमगति स्थिति इत्यादि का विवेचन करेंगे।

प्रथम विभाग में बतलाया हुआ वैदिककालीन और वेदाङ्गकालीन ज्योतिषज्ञान उस समय की दृष्टि से बहुत है, परन्तु ग्रहो की स्पष्टगतिस्थिति का ज्ञान कराने के लिए वह अपर्याप्त है। कुछ ग्रन्थ इन दोनो के मध्यवर्ती काल के भी होने चाहिए। कुछ सहिताग्रन्थ ऐसे होगे भी, परन्तु वे सम्प्रति उपलब्ध नही है। हो तो भी मैंने नही देखे हैं। ज्योतिषसिद्धान्तकाल और उससे प्राचीन काल के ज्योतिपज्ञान का कुछ पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है। आगे उसका विवेचन किया भी जायगा, परन्तु इस बात का पता नही लगता कि ग्रहो की स्पष्टगतिस्थिति लाने की उच्चस्थिति तक ज्योतिपज्ञान क्रमश. कैसे आया। प्राचीन लोगो ने वेध कैसे किये और प्रत्येक वेध का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए उन्होने गतिमान किस भाँति निश्चित किये। ज्योतिप के प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थो में यह ज्ञान एकाएक अत्यन्त उच्चस्थिति मे पहुँचा हुआ दिखाई देता है। उसे जिन्होने यहा तक पहुँचाया उन पुरुपो के विपय में एक प्रकार की अलौकिकता मालूम होना बिलकुल स्वाभाविक है और सचमुच इसी कारण ग्रहगणित के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय समझे जाते हैं। अलौकिक मानने के कारण उन ग्रन्थो में वेधादि का वर्णन न होना सयुक्तिक ही है, उसका एक और भी प्रवल कारण यह है कि, उस समय, जहा तक हो सकता था, लोग सक्षिप्त ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न करते थे क्योकि ऐसा करने से ग्रन्थो को ध्यान मे रखना सुगम होता है। इसीलिए गणितग्रन्थो

में केवल ग्रहगति के सिद्धान्त ही लिखे है। ग्रन्थ का विस्तार होने के भय मे उन सिद्धातो की उपपत्ति नही लिखी है।

इस मध्यमाधिकार में कालक्रम के अनुसार सब ग्रहगणितग्रन्थो का विचार करेंगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न अधिकारो मे यदि कुछ विशेष बाते होगी तो वह सब उन-उन अधिकारो मे लिखी जायँगी, पर उस ग्रन्थ की और सब सामान्य बातो का विवेचन इसी अधिकार में किया जायगा। गणित के कुछ ग्रन्थ अपौरुषेय माने जाते हैं। कुछ ग्रन्थकर्ताओ के एक से अधिक ग्रन्थ है। इसलिए इस प्रकरण में कही ग्रन्थो के नाम आवेंगे और कही ग्रन्थकारो के।

ज्योतिषगणित के सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि पाच सिद्धान्त है। वे अपौरुषेय माने जाते है। उनमे दो भेद है। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में जिन सौरादि पाच सिद्धान्तो का वर्णन है वे सम्प्रति उपलब्ध नही है। उन ग्रन्थो मे आये हुए मानो का पता पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा चलता है। इन पाचो को हम 'प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक' कहेंगे। आजकल जो सौरादि पाच सिद्धान्त उपलब्ध है, उन्हे 'वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक' कहेंगे। पहिले प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक का विचार किया जायगा। ये सिद्धान्त शकपूर्व पाचवी शताब्दी मे बने है। उनमें से एक-दो शायद इससे भी प्राचीन होगे।

प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में पाच सिद्धान्तो का वर्णन है। कहा है—

पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तु पञ्चसिद्धान्ता ।

पञ्चसिद्धान्तिका में बतलाए हुए पाचो सिद्धान्तो के भगणादि मानो द्वारा वे वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्तो से भिन्न मालूम होते है। वे ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है। इतना ही नही, इस प्रान्त में पञ्चसिद्धान्तिका भी प्राय कही नही मिलती। उसे जाननेवाले बहुत कम है। डेक्कन कॉलेज के सरकारी पुस्तकसग्रह में कश्मीर से डाक्टर बुल्हर द्वारा लायी हुई पञ्चसिद्धान्तिका की दो प्रतिया है (सन् १८७४-७५ न० ३७। सन् १८७९-८० न० ३३८)। वे दोनो बडी अशुद्ध और अपूर्ण है। कही-कही तो एक आर्या की समाप्ति के बाद पता नही चलता दूसरी का आरम्भ कहा से हुआ है। उसके आधार पर मैंने एक स्वतन्त्र प्रति तैयार की है। तदनुसार गणित करने से पता चला कि उसमें जिन सूर्यादि सिद्धान्तो का वर्णन है, वे वर्तमान सिद्धान्तो से भिन्न है। उन दोनो में भेद प्राय. वर्षमान और ग्रहगतिमान में है। वर्तमान ज्योतिषग्रन्थो को देखने से यह नही मालूम होता कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से भिन्न किसी अन्य

सूर्यसिद्धान्त का गत ८०० वर्षो के भीतर किसी को पता रहा होगा। सन् १८८७ ई० मे मुझे यह बात मालूम हुई। चूंकि गणित से तथा अन्य प्रमाणो द्वारा यह बात उपपन्न होती है, अत इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता। पञ्चसिद्धान्तिका पुस्तक के अत्यन्त अशुद्ध होने से तथा उस पर कोई टीका न होने के कारण उसके बहुत से श्लोको का अर्थ नही लगता। फिर भी जिन बहुत सी महत्वशाली बातो का पता लगा है[1] उनके आधार पर हमे उन सिद्धान्तो का जो समय उचित मालूम हुआ है, तदनुसार क्रमश यहा पाचो का सक्षिप्त वर्णन कर रहे है।

पञ्चसिद्धान्तिका के प्रथम अध्याय में ही वराहमिहिर ने कहा है —

पौलशति[2] विस्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमक प्रोक्त ।
स्पष्टतर सावित्र परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ ।।

इससे मालूम होता है कि पञ्चसिद्धान्तिका-काल मे पौलिशसिद्धान्त बहुत स्पष्ट था अर्थात् उससे दृक्प्रतीति होती थी और रोमक उसके पास-पास था। सूर्यसिद्धान्त उन दोनो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था और शेष वासिष्ठ तथा पैतामह सिद्धान्तो मे बहुत अन्तर पड गया था अर्थात् उनके गणित द्वारा लायी हुई स्थिति आकाशस्थिति से नही मिलती थी। मेरे मतानुसार इन पाचो में पितामह और वासिष्ठ सिद्धान्त औरो की अपेक्षा अधिक प्राचीन और पितामहसिद्धान्त सबसे प्राचीन होना चाहिए। इस कथन के हेतु आगे बतलाये जायगे। अब यहा सर्व प्रथम पितामहसिद्धान्त का विचार करेगे।

पितामहसिद्धान्त

पितामहसिद्धान्त के मूलतत्वो का वर्णन पञ्चसिद्धान्तिका के १२वें अध्याय मे है। इस अध्याय मे केवल पाच आर्याए है। पञ्चसिद्धान्तिका मे इस सिद्धान्त की दूसरी बाते और कही भी नही आयी है। पाचो मे से प्रथम दो आर्याएँ यह है —

रविशशिनो पञ्चयुग वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासस्त्रिशद्भिर्मासैरवमस्त्रिषष्टयाह्लाम् ।।१।।

[1] डा० थीबो ने सन् १८८९ में डेक्कन कालेज की प्रति के आधार पर पञ्चसिद्धान्तिका छपवायी है। पं० सुधाकर द्विवेदी ने उस पर नवीन टीका लिखी है। हमें उसे देखने का अवसर अभी तक नहीं मिला। ऊपर पञ्चसिद्धान्तिका की जो महत्त्व की बातें बतलायी है वे सब मैंने स्वत. निकाली है।

[2] हमारी पुस्तक में पञ्चसिद्धान्तिका की आर्याओ का जो पाठ है, यहाँ वही लिखा है। योग्य मालूम होने पर डाक्टर थीबो के कल्पित पाठो से भी कहीं-कहीं कुछ लिया है।

द्व्यून शकेन्द्रकाल पञ्चभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम् ।
द्युगण माघसिताद्य कुर्याद्द्युगणस्तदह्न्युदयात् ।।

अर्थ—पितामह के कथनानुसार चन्द्रमा और सूर्य के पाच वर्षो का एक युग, तीस महीनो के बाद एक अधिमास और ६३ दिनो के बाद एक क्षयदिवस (होता है)। शकेन्द्रकाल मे से दो घटाकर शेप में पाच का भाग दे। अवशिष्ट वर्षो का अहर्गण माघशुक्लादि से बनावे (तो) उस (इष्ट) दिन(जो अहर्गण होगा वह) उदयकाल मे (होगा)।

पाचवी आर्या में दिनमान लाने की रीति बतायी है—

द्विघ्न शशिरस ६१ भक्त द्वादशहीन दिवसमानम् ।।[1]

[उत्तरायण के जितने दिन व्यतीत हो गये हो अथवा दक्षिणायन मे जितने दिन शेप रह गये हो उनमें] दो का गुणा कर, ६१ का भाग दो। उसमें १२ (मुहूर्त्त) जोड दो। दिनमान हो जायगा।

दूसरी आर्या में नक्षत्र लाने की रीति बतलायी है। उसमें धनिष्ठा से नक्षत्रारम्भ किया है। इन दोनो बातो से पितामहसिद्धान्त का वेदाङ्गज्योतिषपद्धति से बहुत साम्य मालूम होता है।

रचनाकाल

वराहमिहिर ने पितामहसिद्धान्त की गणितपद्धति शककाल के हिसाब से लिखी है, पर उन्होंने अहर्गणसाधन के लिए ऐसा किया है। अन्य सिद्धान्तो की पद्धतियो में भी अहर्गण की गणना शके ४२७ से की है। जैसे शके ४२७ में अहर्गण लाने के कारण यह नही सिद्ध किया जा सकता कि वे ग्रन्थ शके ४२७ मे बने है (या वे वराह रचित है) उसी प्रकार पितामहसिद्धान्त का भी रचनाकाल शकारम्भ के पश्चात् होना असम्भव है। वेदाङ्गज्योतिप की पद्धति से साम्य होने के कारण उसका निर्माणकाल शकारम्भ मे बहुत प्राचीन होना चाहिए, पर उसे ठीक निश्चित करने का कोई साधन नहीं दिखाई देता।

प्रथम आर्यभट ने दशगीतिका के आरम्भ में निम्नलिखित मङ्गलाचरण किया है।

[1] यहाँ 'हीन' पाठ अशुद्ध है। उसके स्थान में 'युक्त' होना चाहिए। अशुद्ध होने के कारण आर्या का पूर्वार्ध यहाँ नहीं लिखा है, पर कोष्ठक में लिखे हुए अर्थ की अपेक्षा उसमें कोई अधिक वैशिष्ट्य नहीं है।

प्रणिपत्यैकमनेकं क सत्या देवता पर ब्रह्म।
आर्यभटस्त्रीणि गदति गणित कालक्रिया गोलम् ।।

यहा 'क' अक्षर द्वारा पितामह और परब्रह्म की वन्दना की गयी है और अन्त की "आर्यभटीय नाम्ना पूर्व स्वायभुव सदा सद्यत्" इस आर्या मे तो आर्यभटीय को साक्षात् स्वायभुव (ब्रह्मा) का शास्त्र कहा है। इससे आर्यभटकाल (शके ४२०) की अपेक्षा पितामहसिद्धान्त का अत्यधिक प्राचीनत्व सिद्ध होता है।

ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) ने अपने सिद्धान्त मे लिखा है—

ब्रह्मोक्त ग्रहगणित महता कालेन यत् खिलीभूतम्।
अभिधीयते स्फुट तत् जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ।।२।।

अध्याय १।

बहुत समय व्यतीत हो जाने के कारण ब्रह्मोक्त ग्रहगणित शिथिल हो गया है। उसे जिष्णुसुत ब्रह्मगुप्त स्पष्ट कर रहे है।

आजकल तीन ब्रह्मसिद्धान्त प्रसिद्ध है। एक ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त, दूसरा शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त और तीसरा विष्णुधर्मोत्तरपुराणान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त। विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त से प्राचीन नही है। मेरे मत मे वे दोनो इसकी अपेक्षा नवीन है। आगे इसका विचार किया जायगा। इन दोनो को ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त से प्राचीन मान ले तो भी यह निश्चित है कि उपर्युक्त आर्या मे ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मोक्त ग्रहगणित के विषय मे जिस ब्रह्मसिद्धान्त को खिल (अशुद्ध) कहा है वह इन दोनो से भिन्न है क्योकि शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त के मूलतत्त्व सर्वात्मना आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के समान है अर्थात् उसके विषय मे कहा जा सकता है कि वह अभी भी खिल नही हुआ है और आगे चलकर यह सिद्ध करेंगे कि विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त का ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से साम्य नही है। अत मानना पडता है कि वह खिल सिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त ही होना चाहिए। वेदाङ्गज्योतिष मे सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह का गणित नही है और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त मे भी केवल सूर्य और चन्द्रमा का ही गणित है। सब ग्रहो का गणित वराहमिहिर ने पाचो सिद्धान्तो में से सूर्यसिद्धान्तोक्त ही लिखा है। पितामहसिद्धान्तोक्त ग्रहगणित के विषय में कुछ भी नही लिखा है तथापि ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार उसमें ग्रहगणित होना चाहिए। अधिक काल व्यतीत हो जाने से दृक्प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण वराहमिहिर ने उसे नही लिखा होगा। ब्रह्मगुप्त के पूर्व पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त से भिन्न अन्य कोई पितामह होने की सभा-

बना नहीं है, अत सिद्ध हुआ कि ब्रह्मगुप्त ने पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त के ही उद्देश्य से 'ब्रह्मोक्त ग्रहगणितम्' इत्यादि लिखा है। उनके कथनानुसार उसे बने बहुत दिन बीत चुके। अत उसका रचनाकाल शककाल से बहुत प्राचीन होना चाहिए।

आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने पितामहसिद्धान्त का जो इतना आदर किया है, वह औपचारिक मालूम होता है क्योकि उनके सिद्धान्तो का पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामह-सिद्धान्त मे कुछ भी साम्य नही है। ब्रह्मगुप्त ने तो एक जगह पञ्चवर्षात्मक युगपद्धति में स्पष्टतया दोष दिखलाया है जो कि वेदाङ्गज्योतिषविचार मे लिखा जा चुका है, परन्तु यह कथन इस बात का कि 'इन दोनो के पहिले पितामहसिद्धान्त नाम का कोई सिद्धान्तग्रन्थ था' बाधक नही होगा।

पद्धति

ऊपर पितामहसिद्धान्त सम्बन्धी पञ्चसिद्धान्तिका की जो दो आर्याए लिखी है उनमे प्रथम में कहा है—

'अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैः'।

वेदाङ्गज्योतिषविचार में पहिले बता चुके है कि ३० मास के बाद अधिमास मानना बहुत बडी अशुद्धि है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता के अष्टमाध्याय के 'एकैकमब्देषु. ' श्लोक की टीका मे इस श्लोक का पाठ 'अधिमासो द्व्यग्निसमैर्मासैः' लिखा है। इस पाठ से ३२ मास के बाद अधिमास होना सिद्ध होता है। श्रीपतिकृत रत्नमाला की महादेवीटीका मे भी यही पाठ है। उन्होने प्रथमाध्याय की टीका मे यह श्लोक लिखा है। ऐसे महत्त्व के स्थानो मे संशययुक्त पाठ बडी अडचन डालता है।

यह कथन भी कि 'ग्रन्थ का मूलपाठ त्रिंशद्भिर्मासैः ही था पर उत्पल और महादेव ने उसे बदलकर द्व्यग्निसमैर्मासैः कर दिया', ठीक नही मालूम होता क्योकि अधिमास ३२½ मास से कुछ अधिक समय बाद आता है। अत उन्हें यदि पाठभेद करना ही अभीष्ट होता तो ३२½ या ३३ कर देते, पर ऐसा नही किया है। अत मूलपाठ 'द्व्यग्नि-समैः' ही रहा होगा। वेदाङ्गज्योतिष की पद्धति के अनुसार क्षयदिवस ६२ दिनो के बाद आता है, पर यहा उपर्युक्त आर्या में ६३ दिनो के बाद बतलाया है, अत पितामहसिद्धान्त का वेदाङ्गज्योतिष से सभी अंशो में साम्य नही सिद्ध होता। इससे भी 'द्व्यग्निसमैः' पाठ ही की पुष्टि होती है। यदि दोनो का सर्वात्मना साम्य होता तो यहा भी 'अधि-मासस्त्रिंशद्भिर्मासैः' मानना पडता है।

३२ मास के बाद अधिमास मानने से ८ वर्षों में ३ अधिमास होंगे। अत चान्द्र-मास ९९ और [illegible] २९७० होंगी। ६३ तिथियों में एक क्षयदिवस मानने से

इतनी तिथियो मे ४७$\frac{१}{३}$ क्षय तिथिया और २९२२$\frac{६}{७}$ सावनदिवस होगे। इस प्रकार वर्षमान ३६५ दिन २१$\frac{३}{७}$ घटिका का होगा। वेदाङ्गज्योतिपोक्त वर्षमान की अपेक्षा यह वहुत शुद्ध है।

आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त के पहिले भी पितामहसिद्धान्त था और वह उन लोगो के समय निरुपयोगी हो गया था। अत उसका रचनाकाल आर्यभटादिको से वहुत प्राचीन होना चाहिए। यद्यपि वेदाङ्गज्योतिप से उसका वहुत अशो में साम्य है तथापि दोनो मे भेद भी कम नही है। वेदाङ्गज्योतिप मे भौमादि ग्रहो का गणित नही है, परन्तु ब्रह्मगुप्त के कथन से पितामहसिद्धान्त मे उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, अत वेदाङ्गज्योतिप के कुछ काल वाद उससे शुद्ध पितामहसिद्धान्त वना होगा। यह वात सिद्ध है और वडे महत्व की है। यदि पितामहसिद्धान्तोक्त भौमादि ग्रहो का गणित ज्ञात होता तो भारतीय ज्योतिपशास्त्र की वृद्धि क्रमश कैसे हुई, यह जानने में उससे वडी सहायता मिलती, पर अव उस पितामहसिद्धान्त के मूलस्वरूप की उपलब्धि की आशा करना व्यर्थ है।

वसिष्ठसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका मे वासिष्ठसिद्धान्त सम्बन्धी सब १३ आर्याएँ है। उनमें वर्णित पद्धति आधुनिक सिद्धान्तग्रन्थो की पद्धति से भिन्न है। वराहमिहिर ने भी उसे 'दूर-विभ्रष्ट' कहा है, अत पितामहसिद्धान्त को छोडकर शेप तीनो से वह प्राचीन होगा।

उन १३ श्लोको मे सूर्य और चन्द्रमा को छोडकर शेप ग्रहो के विपय में कुछ नही कहा है। आधुनिक पद्धति से भिन्न तिथिनक्षत्रानयनपद्धति और राशि, अश, कला के मान उनमे है। छाया का विचार विशेप और दिनमान का वहुत थोडा-सा है। लग्न शव्द का सम्प्रति जिस अर्थ मे प्रयोग होता है तत्समान ही किसी अर्थ मे वहा भी हुआ है। आधुनिक वसिष्ठसिद्धान्त का वराहमिहिर के पूर्व के वसिष्ठसिद्धान्त से कुछ भी साम्य नही है और वह वराह के समय तक नही वना था। आगे इस विपय का विशेप विवेचन किया जायगा।

भिन्न-भिन्न वासिष्ठ और रोमकसिद्धान्त

ब्रह्मगुप्त के समय (शके ५५०) वासिष्ठ और रोमक सिद्धान्त दो-दो थे। दो वसिष्ठसिद्धान्त जिन आधारो से सिद्ध होते है, उन्ही द्वारा रोमकसिद्धान्त का भी विवेचन हो जाता है, अत यही उसका भी विचार करेंगे।

ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त के १४ वे अध्याय में एक जगह लिखा है—

पौलिशरोमक वासिष्ठसौरपैतामहेषु यत्प्रोक्तम् ।
तन्नक्षत्रानयन नार्यभटोक्त तदुक्तिरत· ।।४६।।

अर्थ—पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह [सिद्धान्तो] में बतलाया हुआ नक्षत्रानयन आर्यभट ने नही लिखा, अत. उसे मैं लिखता हू।

२४ वें अध्याय के तीसरे श्लोक मे लिखा है—

'अयमेव कृत सूर्येन्दुपुलिशरोमकवसिष्ठयवनाद्यै'

अर्थात् सूर्य, इन्दु, पुलिश, रोमक, वसिष्ठ और यवनादिको ने यही (युगारम्भ) किया है।

इन दोनों स्थलो मे ब्रह्मगुप्त ने स्वानुकूल होने के कारण सूर्यादि सिद्धान्तो को प्रमाण माना है। ब्रह्मगुप्त का सिद्धान्त देखने से मालूम होता है कि उन्होंने आर्यभटादिको पर मानो दोपो की वृष्टि की है, पर सूर्यादि सिद्धान्तो में रोमक को छोडकर अन्य किसी के ऊपर प्रत्यक्ष दोषारोपण नही किया है। रोमकसिद्धान्त में भी केवल एक ही बार दोप दिखलाया है। वह यह है—

युगमन्वन्तरकल्पा कालपरिच्छेदका. स्मृतावुक्ता ।
यस्मान्न रोमके ते स्मृतिवाह्यो रोमकस्तस्मात् ।।१३।।

. प्रथमाध्याय

स्मृतिग्रन्थो मे युग, मन्वन्तर और कल्प कालपरिच्छेदक कहे गये हैं और रोमक में उनका वर्णन नही है, अत. रोमक स्मृतिवाह्य है।

एकादशाध्याय में लिखा है—

लाटात्सूर्यशशाकौ मध्याविन्दूच्चचन्द्रपातौ च।
कुजवुधशीघ्रवृहस्पतिसितशीघ्रशनैश्चरान् मध्यान् ।।४८।।
युगयातवर्षभगणान् वासिष्ठान् विजयनन्दिकृतपादान् ।
मन्दोच्चपरिधिपातस्पष्टीकरणाद्यमार्यभटात् ।।४९।।
श्रीषेणेन गृहीत्वा रत्नोच्चयरोमक कृत. कन्था।
एतान्येव गृहीत्वा वासिष्ठो विष्णुचन्द्रेण ।।५०।।

लाटकृत ग्रन्थ से मध्यमरवि चन्द्र, चन्द्रोच्च, चन्द्रपात, मगल, वुध, गुरु, शुक्र और शनि, वासिष्ठसिद्धान्त से युगयातवर्ष और भगण, विजयनन्दिकृत ग्रन्थ से पाद और आर्यभटीय से मन्दोच्च, परिधि, पात और स्पष्टीकरण लेकर श्रीषेण ने रोमक की

मानो एक कन्या बनायी है। विष्णुचन्द्र ने उन्ही मानो द्वारा वासिष्ठसिद्धान्त बनाया है।

यहा यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न ग्रन्थो से जिन मानो को लेकर श्रीषेण ने रोमक-सिद्धान्त बनाया, विष्णुचन्द्र ने उन्ही मानो द्वारा वासिष्ठसिद्धान्त की रचना की और श्रीषेण ने युगयातवर्ष तथा भगणमान वासिष्ठसिद्धान्त से लिये है। अत सिद्ध हुआ कि विष्णुचन्द्र ने वसिष्ठ सिद्धान्त से युगयातादि और अन्य ग्रन्थो से कुछ अन्य विषय लेकर नवीन वसिष्ठसिद्धान्त बनाया। साराश यह कि ब्रह्मगुप्त के समय दो वसिष्ठसिद्धान्त प्रचलित थे और ब्रह्मगुप्त उन दोनो को जानते थे। एक मूलवसिष्ठसिद्धान्त और दूसरा उसमे से कुछ मूलतत्त्व लेकर विष्णुचन्द्र का बनाया हुआ।

पहिले बता चुके है कि रोमकसिद्धान्त में युग, मन्वन्तर और कल्पमान न होने का हेतु दिखलाते हुए ब्रह्मगुप्त ने उसे स्मृतिबाह्य कहा है और वही फिर श्रीषेण ने वसिष्ठ-सिद्धान्त से युगयातादि लेकर रोमकसिद्धान्त बनाया कहते हुए उसमे युगपद्धति होने का समर्थन कर रहे है। और भी लिखा है—

तद्युगवर्षो महायुगमुक्त श्रीषेणविष्णुचन्द्राद्यै ।

अध्याय ११ आर्या ५५।

मेषादित प्रवृत्ता नार्यभटस्य स्फुटा युगस्यादौ।
श्रीषेणस्य कुजाद्या ।

अध्याय २ आर्या ४६।

इसलिए ब्रह्मगुप्त के कथन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रोमकसिद्धान्त मे युग-पद्धति है। अत मानना पडता है कि ब्रह्मगुप्त के समय दो रोमकसिद्धान्त थे। एक मूल रोमकसिद्धान्त और दूसरा श्रीषेणकृत।

ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त मे उनसे प्राचीन जिन ज्योतिषियो के नाम आये है, प्राय. वे सभी पञ्चसिद्धान्तिका में भी है, पर उसमें श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के नाम नही है। वासिष्ठ और रोमक सिद्धान्त भी एक-एक ही है। इससे मालूम होता है कि शके ४२७ के पहिले केवल मूल रोमकसिद्धान्त और वासिष्ठसिद्धान्त ही थे। श्रीषेण का रोमक और विष्णुचन्द्र का वासिष्ठ दोनो नही थे। पञ्चसिद्धान्तिका मे मूल रोमक और वासिष्ठसिद्धान्तो का साराश लिखा है। ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार श्रीषेण और विष्णु-चन्द्र ने स्पष्टीकरण इत्यादि विषय आर्यभटीय से लिये है। इससे भी उनके सिद्धान्तो का रचनाकाल शके ४२१ के बाद ही सिद्ध होता है और पञ्चसिद्धान्तिकानुसार शके ४२७ के बाद।

रोमकसिद्धान्त

ऊपर वतलाये हुए दो प्रकार के रोमकसिद्धान्तो मे से केवल मूल रोमकसिद्धान्त का ही पञ्चसिद्धान्तिकाकाल मे प्रचार था। यहा उसी का विचार किया जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिका का बहुत-सा भाग रोमकसिद्धान्त सम्बन्धी वातो से व्याप्त है। प्रथमाध्याय की अष्टम, नवम और दशम आर्याओ में उसके अनुसार अहर्गणसाधन वतलाया है और १५ वी मे अधिमास और तिथिक्षय का वर्णन है। आठवें अध्याय मे सब १८ श्लोक है। सारे अध्याय में रोमकसिद्धान्त सम्बन्धी ही बातें है। उसमे सूर्य और चन्द्रमा का साधन, उनका स्पष्टीकरण और सूर्यचन्द्र के ग्रहणो का आनयन है। रोमकसिद्धान्तानुसार अहर्गण लानेकी जो रीति वतलायी है,उसमें पहिली आर्या यह है—

> सप्ताश्विवेद ४२७ सख्य शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
> अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे भौमदिवसाद्य ॥८॥
>
> .अध्याय १।

इससे मालूम होता है चैत्र शुक्ल प्रतिपदा मगलवार को थी।

प्रत्येक करणग्रन्थ मे ग्रहस्थिति लाने के लिए करणारम्भकालीन ग्रहस्थिति लिखनी पडती है। उन ग्रहादिको को क्षेपक कहते है। शके ४२७ को गतवर्ष मानकर आधुनिक पद्धति के अनुसार गणित करने से उस वर्ष मध्यममेषसक्रान्ति के दिन अर्थात् शके ४२७ अमान्त चैत्रकृष्ण १४ रविवार तदनुसार तारीख २० मार्च सन् ५०५ ईसवी के दिन जो स्पष्टग्रहादिक आते है वे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त क्षेपक के तुल्य है। उनमे कुछ मध्याह्नकालिक है और कुछ मध्यरात्रिकालिक। यह बात बिलकुल निःसन्देह है। आगे सूर्यसिद्धान्त के विवेचन में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया जायगा। इस चैत्रकृष्ण चतुर्दशी के आगे वाली शुक्ल प्रतिपदा अर्थात् वैशाख शुक्ल प्रतिपदा भौमवार को आती है। मालूम होता है वराहमिहिर ने इसी को चैत्र शुक्ल प्रतिपदा कहा है और उसी दिन से अहर्गण का आरम्भ किया है। अन्य किसी भी पद्धति द्वारा शके ४२७ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन मगलवार नही आता। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से अहर्गण लाने मे सुभीता होता है, इसीलिए वराहमिहिर ने ऐसा किया है। किसी भी करण ग्रन्थ से अहर्गण लाइए, उसमें कभी कभी एक का अन्तर पड जाया करता है और वार की सगति लगाते हुए उस त्रुटि का संशोधन किया जाता है, यह बात गणित समाज में सर्वत्र प्रसिद्ध है, पर यहा सन्देह यह होता है कि पूर्वोक्त वैशाख शुक्ल-प्रतिपदा को वराहमिहिर ने चैत्रशुक्ल प्रतिपदा कैसे कहा। क्षेपक के आगेवाली शुक्ल-प्रतिपदा, शके ४२७ के अमान्त वैशाखशुक्ल की प्रतिपदा है। इस बात में तिलमात्र

भी सन्देह नहीं किया जा सकता। "रवि के मेषराशि मे स्थित रहने पर जिस चान्द्र-मान की समाप्ति होती है उसे चैत्र कहते है[1]।" इस परिभाषा द्वारा क्षेपक के दूसरे दिन समाप्त होनेवाला चान्द्रमास चैत्र ही सिद्ध होता है, क्योकि मध्यम मेष लीजिए या स्पष्टमेष, दोनो स्थितियो मे क्षेपक के आगे वाली अमावास्या के अन्त मे रवि मेष राशि ही मे रहता है। इसके बाद अग्रिम भौमवार से वैशाख का आरम्भ हो जाता है। यदि पूर्णिमान्त मास ले तो क्षेपक के पश्चात् जिस शुक्लपक्ष का आरम्भ होता है उसकी पूर्णिमा समाप्त हो जाने पर मास की समाप्ति समझी जायगी क्योकि पूर्णिमान्त चान्द्र-मास की समाप्ति पूर्णिमा मे होती है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त क्षेपको द्वारा गणित करने से उस पूर्णिमा के अन्त मे भी रवि मेष राशि ही मे आता है, अत उस मास को चैत्र कह सकते है। इसके अतिरक्त हमे और कोई ऐसी उपपत्ति नही दिखाई देती जिसके अनुसार उस मास को चैत्र सिद्ध कर सके। उत्तर भारत मे पूर्णिमान्त मास मानने की प्रथा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है, पर आजकल पूर्णिमान्त मान का प्रचार होते हुए भी वहा मासो के नाम उपर्युक्त रीति से नही रखे जाते। वराहमिहिर के समय शायद शुद्ध रीति का प्रचार रहा होगा।

अष्टम अध्याय की निम्नलिखित प्रथम आर्या मे रोमकसिद्धान्तानुसार सूर्यसाधन बतलाया है।

रोमकसूर्यो द्युगणात् खतिथिघ्नात् १५० पञ्चकर्तु ६५ परिहीनात्।
सप्ताष्टकसप्तकृतेन्द्रियोद्धृतात् ५४७८७ मध्यमार्क स ॥

अहर्गण मे १५० का गुणाकर, उसमे से ६५ घटाकर शेष में ५४७८७ का भाग देने से सूर्य आता है। यहा क्षेपक के लिए ६५ घटाने को कहा है। इस प्रकार से लाया हुआ सूर्य भगणादि होता है। यद्यपि यह बात श्लोक मे नही बतायी है, फिर भी इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। ५४७८७ दिनो मे सूर्य के १५० भगण पूर्ण होते है, अत एक भगण भोगने मे उसे ठीक-ठीक ३६५ दिन १४ घटी ४८ पल लगेगे। यही रोमकसिद्धान्तीय वर्षमान है। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३१ ४ विपल है। ब्रह्मगुप्त ने रोमक सिद्धान्त मे यह दोष दिखलाया है कि उसमे अन्य सिद्धान्तो की भाँति युगादिमान नही है और निम्नलिखित विवेचन

[1] मेषादिस्थे सवितरि यो यो मास प्रपूर्यते चान्द्र.।
चैत्रादि' स ज्ञेय' ॥
स्पष्टाधिकार में इस परिभाषा का विशेष विचार किया जायगा।

द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका यह कथन ठीक भी है। अन्य सिद्धान्तो से तुलना करने मे सौकर्य होने के लिए रोमकसिद्धान्त के एक महायुगसम्बन्धी भगणादिमान नीचे लिखे जाते हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका के निम्नलिखित श्लोको के आधार पर वे मान निश्चित किये गये है।

रोमकयुगमर्केन्दोर्वर्षाण्याकाशपञ्चवसुपक्ष २८५० ।

खेन्द्रियदिशो १०५० अधिमासा स्वरकृतविषयाष्टय १६५४७ प्रलया ।।१५।।

प्रथमाध्याय ।

२८५० वर्षो का एक रोमक-युग होता है। उसमें १०५० अधिमास और १६५४७ प्रलय अर्थात् तिथिक्षय होते हैं।

> शून्यैकैकाम्यस्ताखवशून्यरसा ६०९ न्विताद्दिनसमूहात्।
> रूपत्रिखगुण ३०३१ भक्तात् केन्द्र शशिनोस्तगमवन्त्याम् ।।५।।
> त्र्यष्टक २४ गुणिते दद्याद्रसर्तुयमषट्कपञ्चकान् ५६२६६ राहो ।
> भवरूपाग्न्यष्टि १६३१११ हृते .।।८।।

अध्याय ८ ।

इन श्लोको द्वारा, उपर्युक्त सूर्यसाधन की आर्या द्वारा और अहर्गणानयनोपयोगी श्लोको द्वारा निम्नलिखित मान आते हैं—

महायुग (४३२०००० वर्षो) मे।		२८५० वर्षात्मक युग में
नक्षत्रभ्रम	१५८२१८५६००	१०४३८०३
रविभगण	४३२००००	२८५०
सावनदिवस	१५७७८६५६००	१०४०९५३
चन्द्रभगण	५७७५१५७८ $\frac{१८}{१९}$	३८१००
चन्द्रोच्चभगण	४८८२२२८ $\frac{१३७०८}{५७५८१}$	३२२ $\frac{२२८}{१०३१}$
चन्द्रपात (राहु) भगण	२३२१६५ $\frac{१०९१८५}{१६३१११}$	१५३ $\frac{२६८८९}{१६३१११}$
सौरमास	५१८४००००	३४२००
अधिमास	१५९१५७८ $\frac{१८}{१९}$	१०५०
चान्द्रमास	५३४३१५७८ $\frac{१८}{१९}$	३५२५०
तिथि	१६०२९४७३६८ $\frac{८}{१९}$	१०५७५००
तिथिक्षय	२५०८१७६८ $\frac{८}{१९}$	१६५४७

यहा चन्द्रादिको के महायुगीय भगण पूर्ण नही है, अत अन्य सिद्धान्तो की तरह कलियुगारम्भ मे या किसी महायुग के आरम्भ मे रोमकसिद्धान्त के सूर्य और चन्द्रमा एकत्र नही होगे। इसी प्रकार चान्द्रमास भी पूर्ण नही हो सकेगा। इन सब बातो द्वारा और रोमकसिद्धान्त मे युग २८५० वर्षो का होने के कारण मालूम होता है कि उसमे ४३२०००० वर्षो का महायुग मानने की पद्धति नही है।

जिस आर्या मे चन्द्रसाधन की रीति है वह अत्यन्त अशुद्ध है। उससे चन्द्रभगण-सख्या नही लायी जा सकी। अन्य रीति से लायी गयी है। गणित द्वारा लाये हुए करणारम्भकालीन राश्यादि क्षेपक ये है—

	राशि	अश	कला	विकला
सूर्य	११	२९	३४	२३
चन्द्रमा	११	२९	१८	५०
चन्द्रकेन्द्र	२	१२	१९	५७
राहु	७	२५	४९	३

ये क्षेपक चैत्र कृष्ण १४ रविवार, शके ४२७ तदनुसार २० मार्च सन् ५०५ ई० के उज्जयिनी के सूर्यास्तकाल के है।

ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस का समय ईसा के लगभग १५० वर्ष पूर्व है। उनका वर्षमान बिलकुल रोमकसिद्धान्त के वर्षमान (३६५ दिन १४ घटी ४८ पल) सरीखा है। सम्प्रति हिपार्कस का ग्रन्थ उपलब्ध नही है, पर मान्य यूरोपियन ज्योतिषियो का कथन है कि उन्होने केवल सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति लाने के कोष्ठक बनाये थे, ग्रहसाधन के नही। बाद मे टालमी ने उनके मूलतत्त्वो का अनुसरण करते हुए ग्रह-साधन के कोष्ठक बनाये और वे यह भी स्वीकार करते है[1] कि ग्रीकज्योतिषपद्धति के मूलतत्त्व टालमी के पहिले ही भारतवर्ष मे आ चुके थे। रोमक सिद्धान्त मे केवल सूर्य और चन्द्रमा का गणित है, उसका वर्षमान अन्य किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ से नही मिलता, सर्वमान्य युगपद्धति उसमे नही है और उसका यह नाम भी पाश्चात्य ढग का है। अत इन सब कारणो का विचार करने से विदित होता है कि मूल रोमक सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थानुसार बना होगा और उसका रचनाकाल ईसवी सन् पूर्व १५० के पश्चात् और टालमी के समय (ईसवी सन् १५०) के पूर्व होगा।

[1] Grant's History of Physical Astronomy Introduction. P iii and P. 439 देखिए। Burgess के सूर्यसिद्धान्त का इंगलिश अनुवाद पृ० ३३० देखिए।

पैतामह और वासिष्ठसिद्धान्त रोमक से प्राचीन है, यह तो पहिले बता ही चुके हैं, पर हमें पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और पुलिशसिद्धान्त भी रोमक से प्राचीन मालूम होते है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मगुप्त की दृष्टि में रोमक की अपेक्षा अन्य चार सिद्धान्त अधिक पूज्य हैं क्योकि उन्होने अपने ग्रन्थ में उन चारो में कही भी दोष नही दिखलाया है। ब्रह्मगुप्त के बाद तो मालूम होता है रोमकसिद्धान्त बिलकुल निरुपयोगी हो गया था, चाहे वह मूल रोमकसिद्धान्त हो या श्रीषेणकृत। बृहत्संहिता की टीका मे भटोत्पल ने पुलिशसिद्धान्त, सूर्यसिद्धान्त, प्रथमार्यभटसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त का आश्रय लिया है, पर ग्रहगणित के किसी भी प्रसग मे रोमकसिद्धान्त के वचन उद्धृत नही किये है। इससे मालूम होता है कि उत्पल के समय मूल रोमकसिद्धान्त लुप्त हो गया होगा। इस समय भी एक रोमकसिद्धान्त उपलब्ध है, पर उसके मान सूर्यसिद्धान्त सरीखे ही है और वह भी विशेष प्रचलित नही है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्य चारो सिद्धान्तो के पूज्यत्व का कारण है रोमक से उनका प्राचीन होना।

निम्नलिखित एक और भी महत्वशाली प्रमाण है जिसमे रोमक का औरो की अपेक्षा नवीनत्व सिद्ध होता है [नीचे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के वर्षमान लिखे है। उनके अङ्क क्रमश दिन, घटी, पल, विपल और प्रतिविपल के द्योतक है]

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त
- पितामहसिद्धान्त ३६५।२१।२५।०।० — वेदाङ्गज्योतिष ३६६।०।०।०।०
- वासिष्ठसिद्धान्त ०।०।०।०।०
- पुलिशसिद्धान्त ३६५।१५।३०।०।०
- सूर्यसिद्धान्त ३६५।१५।३१।३०।०
- रोमकसिद्धान्त ३६५।१४।४८।०।०

आधुनिक सूर्य, वसिष्ठ, शाकल्य, रोमक और सोमसिद्धान्त ३६५।१५।३१।३१।२४
द्वितीय आर्यसिद्धान्त ३६५।१५।३१।१७।६
राजमृगाङ्क, करणकुतूहल इत्यादि ३६५।१५।३१।१७।१७ $\frac{१}{३}$

इनमें रोमक को छोडकर अन्य किसी भी सिद्धान्त का वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३० पल से कम नही है और वेदाङ्गज्योतिष तथा पितामहसिद्धान्त के अतिरिक्त किसी का भी ३६५।१५।३२ से अधिक नही है। साराश यह कि वेदाङ्गज्योतिष और पितामहसिद्धान्तो को छोडकर अन्य किसी भी दो सिद्धान्तो के वर्षमान में २ पल से अधिक अन्तर नही है, पर रोमकसिद्धान्त की स्थिति इसके विपरीत है। यदि रोमकसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिश और सौरसिद्धान्तो से प्राचीन होता तो सब ने उसी का वर्षमान ज्यो का त्यो या उसमें कुछ नवीन सस्कार करके लिया होता, अन्य

सिद्धान्त उससे बहुत दूर कभी भी न जाते। इससे यह बात निःसंशय सिद्ध होती है कि पुलिश और सौरसिद्धान्त रोमक से प्राचीन हैं। इस प्रकार यह बात उपपन्न हो जाती है कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पाचो सिद्धान्त शककाल से प्राचीन हैं।

डा० थीबो के मतानुसार पञ्चसिद्धान्तिका के रोमक और पौलिश सिद्धान्त ईसवी सन् ४०० से प्राचीन हैं। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि रोमक सिद्धान्त और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त अन्य सिद्धान्तो का भी निर्माणकाल सन् ४०० ईसवी के आसपास ही है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मत युक्तिशून्य है।

सम्प्रति जो रोमकसिद्धान्त प्रसिद्ध है उसके भगणादिमान आगे लिखे हैं और वे उपर्युक्त रोमकसिद्धान्त के मानो से बिलकुल भिन्न हैं, अत आधुनिक रोमकसिद्धान्त शके ४२७ से प्राचीन नही सिद्ध होता।

आधुनिक रोमकसिद्धान्त और वसिष्ठसिद्धान्तो के रचयिता श्रीषेण और विष्णुचन्द्र हैं या अन्य कोई, इसका विवेचन आगे किया जायगा।

पुलिशसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका का बहुत-सा भाग पुलिशसिद्धान्त के वर्णन से सम्बन्ध रखता है। प्रथमाध्याय की १० वी आर्या मे कहा है कि रोमकसिद्धान्त का अहर्गण पौलिश अहर्गण के पास-पास होता है। इसके बाद तदुक्त सूर्यादिसाधन और चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण का आनयन है।

पुलिशसिद्धान्तानुसार भौमादि ग्रहो की गतिस्थिति बिलकुल नही बतायी है, परन्तु मालूम होता है अन्त की लगभग १६ आर्याओ में ग्रहो के वक्रत्व, मार्गीत्व, उदय और अस्त इत्यादि का कुछ विवेचन किया है क्योकि अन्तिम श्लोक मे कहा है "पौलिश-सिद्धान्ते तारा ग्रहा एवम्।"

पुलिशसिद्धान्तोक्त निम्नलिखित मान ज्ञात हैं—

> खार्क १२०घ्नेऽग्निहुताशन ३३ सपास्य रूपाग्निवसु-
> हुताशकृतै ४३८३१। हृत्वा क्रमाद्दिनेशो मध्य ॥१४॥
> अष्टगुणे दिनराशौ रूपेन्द्रियशीतरश्मि १५१ भिर्भक्ते।
> लब्धा राहोरंशा भगणसमाश्च क्षिपेल्लिप्ता ॥४१॥
> वृश्चिकभागा राहो षड्विंशतिरेकलिप्तिकालुप्ता ॥४२॥

सर्वप्रथम एक २५ श्लोको का प्रकरण है। उपर्युक्त श्लोक उसके आगेवाले

प्रकरण मे है। इनकी गणना पुलिशसिद्धान्तोक्त श्लोको मे है। इनमे निम्नलिखित मान ज्ञात होते है—

वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३० पल।

महायुगीयसावनदिवस १५७७९१६०००।

महायुगीयराहुभगण २३२२२७ $\frac{६५७०३९१५}{६७९४६८५५}$।

राहु के एक भगण का काल ६७९४ दिन ४१ घटी १८ पल है।

यह वर्षमान अन्य सिद्धान्तो के वर्षमान से भिन्न है और राहुभगणकाल में भी कुछ अन्तर है।

पञ्चसिद्धान्तिका मे पुलिशसिद्धान्तसम्बन्धी अन्य भी बहुत-सी बाते है। सूर्य और चन्द्रमा का स्पष्टीकरण तथा पलभा से चरखण्ड और चरखण्ड मे दिनमान का आनयन बतलाया है। देशान्तर का विचार किया है। उसमें वर्तमान पद्धति सरीखी ही तिथि और नक्षत्रानयन पद्धति है। करण लाये है। सूर्य और चन्द्रमा के क्रान्तिसाम्य अर्थात् महापात का विवेचन किया है। ग्रहणो का आनयन प्राय आधुनिक इतर सिद्धान्तो के समान ही है। ग्रहो के वक्रत्व और मार्गीत्व का विचार खण्डखाद्य के अनुसार है। अग्रिम श्लोक मे चर का विचार किया है।

यवनाच्चरजा नाड्य सप्तावन्त्यास्त्रिभागसयुक्ता।
वाराणस्या त्रिकृति ९ साधनमन्यत्र वक्ष्यामि।।

यहा अवन्ती (उज्जयिनी) का चर ७ घटी २० पल और वाराणसी का ९ घटी बतलाया है। मालूम होता है वेदाङ्गज्योतिष की भाँति यहाँ दक्षिणायन समाप्तिकालीन दिनमान की अपेक्षा उत्तरायणसमाप्तिकालीन दिनमान का अधिकत्व बतलाया है।

सायन पञ्चाङ्ग में उज्जयिनी का परमाल्पदिनमान २६ घटी २६ पल और परमाधिक दिनमान ३३ घटी ३४ पल है। इस प्रकार दोनो का अन्तर ७ घटी ८ पल होता है। ग्रहलाघव द्वारा उज्जयिनी का परमाल्पदिनमान २६ घटी २१ पल और परमाधिक दिनमान ३३ घटी ३९ पल होता है अर्थात् दोनो का अन्तर ७ घटी १८ पल है। उज्जयिनी की पलभा ५।८ मानने से यह स्थिति होती है। पण्डित बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्गानुसार काशी की पलभा ५।४० मानने से परमाल्प दिनमान २६।४ और परमाधिक दिनमान ३३।५६ तथा दोनो का अन्तर ७।५२ होता है। इसी पलभा से ग्रहलाघव द्वारा दोनो का अन्तर ८।४ होता है। ६।१५ पलभा मानने से पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिशचरखण्डो द्वारा लगभग ९ घटी अन्तर आता है।

पञ्चसिद्धान्तिका की तीसरी आर्या से मालूम होता है कि लाटदेव ने पौलिश-सिद्धान्त की व्याख्या की है।

सम्प्रति उपलब्ध किसी प्रकार का भी पुलिशसिद्धान्त न तो मैंने देखा है, न सुना ही है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका मे प्रसगवशात् लगभग २५ श्लोक पुलिश-सिद्धान्त के नाम पर लिखे है, उनमें पुलिशसिद्धान्तोक्त भगणमान प्रभृति कुछ महत्त्व की बातें आयी है। अत उन्हें यहा उद्धृत करते है—

अष्टाचत्वारिंशत्पादविहीना क्रमात् कृतादीनाम्। अशास्ते शतगुणिता ग्रहतुल्ययुग तदेकत्वम् ।। सावनमकृत १५५५२००००० चान्द्र सूर्येन्दुसगमान् दिनीकृत्य १६०३०००००८०। सौर भूदिनराशि १५७७९१७८०० शशिभगणदिनानि १७३२६०००८० नाक्षत्रम्। परिवर्तैर्युतगुणैर्द्वित्रिकृतै ४३२०००० भास्करो युग भुङ्क्ते। रसदहनहुतवहानलशरमुन्यद्रीपवश्चन्द्र. ।। ५७७५३३३६ ।। अविमासका पडग्नित्रिकदहनछिद्रशररूपा. १५९३३३६। भगणान्तरशेष यत् समागमास्ते द्वयोर्ग्रहयो ।। तिथिलोपा खवसुद्विकदस्राष्टकशून्यशरपक्षा २५०८२२८० ।। दस्रार्थवार्णतिथयो लक्षहृता १५५५२००००० सावनेन ते दिवसा ।। विषया (?)ष्टौ खचतुष्क विश्व पोडशचान्द्रमानेन। वसुसप्त रूपनवमुनिनगतिथय १५७७९१७८०० गतगुणाश्च सौरेण। आर्क्षेण खाष्टरवत्रयरसदन्तगुणानिल (?) शशाका ।। १७३२६०००८० ।। पट् प्राणास्तु विनाडी, तत्पष्ट्या नाडिका, दिन पष्ट्या। एतासा तु त्रिंशन्मासस्तैर्द्वादशभिरब्द ।। पष्ट्या तु तत्पराणा विकला, तत्पष्टिरपि कला, तासाम् ।। पष्ट्याशस्ते त्रिंशद्राशिस्ते द्वादश भचक्रम् ।। चान्द्रै सावनवियुतै प्र ४७८०००८० चयस्तैरपचयोर्कदिनै. २५०८२२८० ।। युगवत्सरै प्रयच्छन्ति यदि मानचतुष्टय किमेकेन ।। यदवाप्त ते दिवसा. विज्ञेया सावनादीनाम् ।। वेदाश्विवसुरसान्तरलोचनदन्तै २२९६८२४ रवनिसूनु ।। अम्बरगगनवियन्मुनिगुणविवरनगेन्दुभि: १७९३७००० शशिसुतस्य ।। आकाशलोचनेक्षणसमुद्रपट्कानलै ३६४२२० जीव ।। अष्टवसु-

हुतवहानल (?) यमखनगै ७०२२३८८ भार्गवस्यापि ॥
कृतरसशरर्तुमनुभि १४६५६४ सौरो बुधभार्गवौ दिवाकरवत् ॥

अथ कक्षामानानि

आकाशशून्यतिथिगुणदहनसमुद्रैर्बुधार्कशुक्राणाम् ४३३१५०० ।
इन्दो सहस्रगुणितै समुद्रनेत्राग्निभिश्च ३२४००० स्यात्-
भूसूनोर्मुनिरामच्छिद्रर्तुसमुद्रशशिवमुभि ८१४६९३७ ॥ रुद्र-
यमाग्निचतुष्कव्योमशशाङ्कै १०४३२११ बुधोच्चस्य ॥ जीव-
स्यवेदपट्कस्वरविषयनगाग्निशीतकिरणार्थ ५१३७५७६४ ॥
शुक्रोच्चस्य यमानलपट्कसमुद्रर्तुरसदस्रै २६६४६३२ ॥
भगणोर्कजस्य नवशिखिमुनीन्दुनगपट्कमुनिसूर्यै
१२७६७१७३९ ॥ रविखवियन्नववसुनवविपयेक्षण
२५९८९००१२ योजनैर्भकक्षाया. ॥ इष्टग्रहकक्षाभ्यो
यल्लब्ध चन्द्रकक्षया भक्त्वा । ता मध्यमा ग्रहाणा सौरा-
दीना कलाश्चान्द्रा ॥ पञ्चदशाहृतयोजनसख्या तत्स-
गुणोर्धविष्कम्म । योजनकर्णार्धस्याद्भूयोजनकर्णविधिना-
वा ॥ वसुमुनिगुणान्तराष्टकपट्के ६८९३७८ दिन-
नाथशुक्रसौम्यानाम् । द्वादशदलपट्केन्द्रियशशाङ्कभूतै-
५१५६६ रजनिकर्तु ॥ दस्राब्धिपट्करसनवलोचनचन्द्रैर-
१२९६६४२ वनिसूनो । रूपाग्निशून्यपट्काष्टिसम्मित
१६६०३१ स्याद् बुधोच्चस्य । अष्टकवसुरसपण्मु-
निशशाङ्कवसुभिस्तु ८१७६६८८ जीवस्य ॥ वसुवसु-
शून्याष्टद्विकवेदैरपि ४२८०८८ भार्गवोच्चस्य । एकार्णवार्थ-
नवशशिदहनखदस्रै २०३१९५४१ रविसुतस्य ॥ त्रिवसुरस-
द्विरसानलशशिवेदैरार्क्षपरिधिकर्णार्धम् ॥ ४१३६२६८३ ॥
वृत्ता चक्रवदवनिस्तमसस्पारे विनिर्मिताधात्रा ।
पञ्चमहाभूतमया तन्मध्ये मेरुरमराणाम् ॥ तस्यो-
परि ध्रुव खे न द्वन्द्वे पवनरश्मिभिश्चक्रम् ।
पवनाक्षिप्त भानामुदयास्तमय परिभ्रमति ॥ सर्वे
जयिन उदक्स्था दक्षिणदिक्स्थो जयी शुक्र ॥

यद्यपि पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा तदन्तर्गत पुलिशसिद्धान्त में युगपद्धति का अस्तित्व

सिद्ध नही होता, परन्तु उन श्लोको को देखने से जिनमे कि अधिमास और तिथिक्षय का वर्णन है, उसमें युगपद्धति का अभाव भी नही मालूम होता। ब्रह्मगुप्त ने भी इस विषय मे रोमक के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त पर दोषारोपण नही किया है, अत पञ्च-सिद्धान्तिकोक्त पुलिशसिद्धान्त मे युगपद्धति होनी चाहिए और भटोत्पल द्वारा उद्धृत पुलिशसिद्धान्त के वचनो मे है ही। उन वचनो मे जिसे सावन कहा है उसे अन्य सिद्धान्तो मे सौर कहते है और उसका सौर अन्य सिद्धान्तो का सावन है। सावन शब्द का अन्य ग्रन्थोक्त अर्थ स्वीकार करने से उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्त के भगणादि मानये आते है—

नक्षत्रभ्रम १५८२२३७८००। रविभगण ४३२००००।
सावन दिन १५७७९१७८००। चन्द्रभगण ५७७५३३३६।
चन्द्रोच्च ४८८२१९। राहु २३२२२६। मगल २२९६८२४।
बुधशीघ्र १७९३७०००। गुरु३६४२२०। शुक्रशीघ्र
७०२२३८८। शनि १४६५६४। सौरमास ५१८४००००।
अधिमास १५९३३३६। चान्द्रमास ५३४३३३३६।
तिथि१६०३०००८०। क्षयाह २५०८२२८०। वर्षमान
३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल।

इससे पञ्चसिद्धांतकोक्त तथा उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्तो के वर्षमान एक दूसरे से भिन्न मालूम होते है। अत वे दोनो पुलिशसिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। दूसरी एक विचित्र बात यह है कि भटोत्पल ने निम्नलिखित श्लोक को मूल-पुलिशसिद्धान्तोक्त कहते हुए उद्धृत किया है—

खखाष्टमुनिरामाश्विनेत्राष्ट १५८२२३७८०० शर-
रात्रिपा। भाना चतुर्युगेनैते परिवर्ता प्रकीर्तिता ॥

इसमे महायुगीय नक्षत्रभ्रमसख्या बतायी है और वह उपर्युक्त आर्या मे बतलायी हुई नक्षत्रभ्रमसख्या से मिलती है। ऐसा होते हुए भी उत्पल ने इसे मूल पुलिशसिद्धा-न्तोक्त कहा है और इसका छन्द भी अनुष्टुप् है, अत उत्पल के समय (शके ८८८) पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिशसिद्धान्त के अतिरिक्त दो और पुलिशसिद्धान्त रहे होगे। इस प्रकार सब मिलकर तीन हुए। उत्पलोद्धृत आर्याओ के अन्त की ढाई आर्याओ मे से पहिली दो मे सृष्टिसस्था का वर्णन है, जो कि आधुनिक सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो के सृष्टिवर्णन सरीखा ही है और अन्त की आधी आर्या मे ग्रहयुति का विचार है। इससे ज्ञात होता है कि उत्पलकालीन आर्याबद्ध पुलिशसिद्धान्त अन्य सिद्धान्तो की भाँति पूर्ण था और उपर्युक्त हेतुओ से पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिश-सिद्धान्त भी पूर्ण मालूम होता है।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के मान आगे लिखे हैं। उत्पलोद्धृत पुलिश-सिद्धान्त के भगणादि मान उससे ठीक-ठीक मिलते हैं। युगीय सावनदिवस और उस पर अवलम्बित रहने वाले अन्य क्षयाहादि विषय तथा बुध और गुरु के भगणमान को छोडकर उसकी अन्य सभी बाते प्रथम आर्यभट के मानो से मिलती हैं।

अलबेरुणी नामक एक प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् यात्री गजनी के महमूद के साथ हिन्दुस्तान में आया था। वह ई० सन् १०१७ से १०३० तक यहा रहा। उसने यहा के शास्त्रो का और विशेषत ज्योतिषशास्त्र का बडी मार्मिकता पूर्वक अन्वेषण किया। वह लिखता है कि पौलस यूनानी (अर्थात् पौलस ग्रीक) ने पुलिशसिद्धान्त बनाया अर्थात् तत्पश्चात् उसके ग्रन्थानुसार हिन्दुओ ने बनाया। प्रो० वेबर के कथनानुसार अलबेरुणी को भारतवर्ष में ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त और पुलिशसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य कोई भी सिद्धान्त ग्रन्थ नही मिला था।

ऊपर बतलाये हुए तीन प्रकार के पुलिशसिद्धान्तो मे से अलबेरुणी को कौन-सा मिला था और पौलस ग्रीक के ग्रन्थ में बतलाये हुए मान (यदि उनका ग्रन्थ उपलब्ध हो तो) उन तीनो में से किसी एक के साथ कहा तक मिलते हैं, इत्यादि बातो का विचार किये बिना अलबेरुणी के लेख के विषय मे विशेष रूप से कुछ नही कहा जा सकता। प्रो० वेबर का कथन यह है कि "पौलस आलेक्जान्ड्रिकस (Paulus Alexandricus) का ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, पर वह ग्रहगणित ग्रन्थ नही है बल्कि उसमें फलज्योतिष का विषय है। अत पुलिशसिद्धान्तोक्त मान उसमे नही मिलते परन्तु उसमें हिन्दू ग्रह-गणित से सम्बन्ध रखने वाले कुछ पारिभाषिक शब्द अवश्य हैं", परन्तु वेबर के लेख से यह स्पष्ट नही होता कि वे शब्द कौन-से है और किस प्रकार आये है। पौलस का गणित ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही मालूम होता और उसे प्रत्यक्ष देखे बिना कुछ अनुमान करना ठीक नही है।

शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त में तीन-चार जगह पुलिशसिद्धान्त का उल्लेख है। अत. शाकल्य के समय पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था, पर पता नही चलता कि वह कौन-सा था। ब्रह्मसिद्धान्त की पृथूदकटीका (शके ९००) के प्रथमाध्याय की टीका मे एक जगह लिखा है 'देशान्तररेखा च पौलिशे पठ्यते।' इससे विदित होता है कि उस समय कोई आर्याबद्ध पुलिशसिद्धान्त उपलब्ध था।

सूर्यसिद्धान्त

पञ्चसिद्धान्तिका में पाचो सिद्धान्तो का सूर्यचन्द्रानयन पृथक्-पृथक् दिखलाया

हैं, परन्तु शेष ग्रह केवल सूर्यसिद्धान्त के ही है। इससे मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्त को औरो की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया हैं। आरम्भ की ही चतुर्थ आर्या मे सावित्र को सब से स्पष्ट कहा हैं। उसे सब से अधिक महत्व देने का कारण दृक्प्रतीति मे आनेवाली स्पष्टता ही मालूम होती हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका की १४ वी आर्या मे सूर्यसिद्धान्तानुसार अधिमास इत्यादि बताये है। नवमाध्याय की २६ और दशमाध्याय की सब ७ आर्याओ में सूर्यचन्द्रानयन और ग्रहणादि का उल्लेख है। ११ वे अध्याय के सब ६ श्लोको मे ग्रहण का ही विचार हैं। और वह भी सूर्यसिद्धान्तानुसार ही मालूम होता हैं। १६ वे अध्याय मे सब २७ श्लोक है। उनमे भौमादि सब मध्यम ग्रहो का आनयन, उनका स्पष्टीकरण और उनके वक्रत्व, मार्गित्व, उदय तथा अस्तादि का गणित है।

जिन श्लोको में सूर्यसिद्धान्तानुसार अधिमास इत्यादि के मान, सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहो के भगण और करणकालीन क्षेपको का वर्णन है उन्हें यहा लिखते हैं। उनमे उत्पन्न मान आगे लिखेगे।[1]

> वर्षायुतेधृतिघ्ने १८००० नववसुगुणरसरसा ६६३८९
> स्युरधिमासा। सावित्रे शरनवखेन्द्रियार्णवाशा १०४५०९५
> स्तिथिप्रलया ॥१४॥ द्युगणेऽर्कोऽष्टशतघ्ने ८०० विषयवेदा-
> र्णवे ४४२ऽर्कसिद्धान्ते। स्वरखाग्निद्विनवयमो २९२२०७ द्धृते
> क्रमाद्दिनदलेऽवन्त्याम् ॥१॥ नवशतसहस्र ९००००० गुणिते
> स्वरैकपक्षाम्बरस्वरतू ६७०२१७ ने। षड्व्योमेन्द्रियनववसु-
> विषयजिनै २४५८९५०६ र्भाजिते चन्द्र ॥२॥ नवशत ९००
> गुणिते द्याद्रसविषयगुणाम्बरर्तुयमपक्षान् २२६०३५६।
> नववसुसप्ताष्टाम्बरनवाग्नि ३९०८७८९ भक्ते शशाङ्कोच्चम् ॥
> शशिविषय ५१ घ्नानीन्दो खार्काग्नि ३१२० हृतानि मण्डलानि
> ऋणम्। स्वोच्चे दिग्घ्नानि धन स्वरदत्रयमोद्धृते २२७ विकला ॥४॥
> अध्याय ९
>
> एष निशार्धेऽवन्त्या ताराग्रहणेऽर्कसिद्धान्ते। तत्रेन्दुपुत्रभृ-
> गू तुल्यगतौ मध्यमार्केण ॥१॥ जीवस्य शताभ्यस्त १००

[1] पञ्चसिद्धान्तिका की मूल पुस्तक बड़ी अशुद्ध है। उपपत्ति की दृष्टि से श्लोको का जो स्वरूप शुद्ध मालूम हुआ है, वही यहां लिखा है।

> द्विग्नियमाग्निनिसागरै ४३३२३२ विभजेत्। द्युगण कुज-
> स्य चन्द्रा १ हृतन्तु सप्ताष्टपड् ६८७ भक्तम् ।।२।। सौरस्य
> सहस्रगुण ऋतुरसशून्यर्तुषट्कमुनिरवैकै १०७६६०६६। य-
> ल्लव्ध ते भगणा शेषा मध्या ग्रहा क्रमेणैव ।।३।। राशिचतुष्ट-
> यमशद्वयकलाविंशतिर्वसुसमेता ४।२।२८। नववेदाश्च ४९
> विलिप्ता शनेर्वन मध्यमस्यैवम् ।।५।। अष्टौ भागा
> लिप्तैव खमक्षी गुरौ विलिप्ताश्च। क्षेप कुजस्य
> यमतिथिपञ्चत्रिंशच्च राश्याद्य ।।२।१५।३५।। शतगुणि-,
> त बुधशीघ्र स्वरनवसप्ताष्टभाजिते ८७९७ क्रमश । अ-
> श्वार्धपञ्चमा ४।३०स्तत्पराश्च भगणा हृता क्षेप्या ।।७।।
> सितशीघ्र दशगुणिते द्युगणे भक्ते स्वरार्णवाश्वियमै
> २२४७। अर्थैकादश देया विलिप्तिका भगणसगुणिता।
> सिंहस्य वसुयमागा २८ स्वरेन्दवो १७ लिप्तिका ज्ञशीघ्र-
> धनम्। शोध्या सितस्य विकला शशिरसनवपक्षगुणदह-
> ना ३३२९६१ ।।९।।
>
> अध्याय १६।

इनमें आरम्भ की दो आर्याओं द्वारा वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल सिद्ध होता है। कलियुग का आरम्भ यदि गुरुवार की मध्यरात्रि से मानें (अर्थात् उस समय सूर्य और चन्द्रमा का भोग पूर्ण स्वीकार कर लें) तो इस वर्षमान द्वारा शके ४२७ में मध्यम मेष सक्रान्ति चैत्र कृष्ण १४ रविवार को ४८ घटी ९ पल पर आवेगी (अर्थात् उस समय मध्यम रवि शून्य होगा)। 'द्युगणेऽर्कोष्टशतघ्ने ' श्लोक द्वारा रविक्षेपक ११ राशि २९ अंश २७ कला २० विकला आता है। यह अवन्ती के मध्याह्न काल का है, परन्तु श्लोक में यह नहीं बताया कि यह क्षेपक किस दिन का है। चैत्र कृष्ण १४ रविवार का मध्याह्नकालिक अर्थात् मध्यम मेषसक्रान्ति काल से ३३ घटी ९ पल पहिले का गणितागत मध्यम रवि क्षेपक से ठीक मिलता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त में युगारम्भ मध्यरात्रि से माना गया है और उसमें युगपद्धति है। मध्यरात्रि में युगारम्भ मानने से आगे बतलाये हुए भगणों की क्षेपकों में ठीक संगति लगती है। यह बात भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करती है।[1]

[1] पहिले गुरुवार की मध्यरात्रि में युगारम्भ मानकर गतिस्थिति की संगति लगा लेने के बाद संगति लगने का हेतु दिखलाते हुए पहिले की कल्पित बात को सिद्ध करने

उपर्युक्त श्लोको द्वारा निम्नलिखित मान ज्ञात होते हैं —

वर्षमान=३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल।

महायुग मे (४३२०००० वर्षो मे)

नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७८००	चन्द्रभगण	५७७५३३३६
रविभगण	४३२००००	चन्द्रोच्चभगण	४८८२१९
सावनदिन	१५७७९१७८००	मगल	२२९६८२४
राहु	×	×	
बुध	१७९३७०००	सौरमास	५१८४००००
गुरु	३६४२२०	अधिमास	१५९३३३६
शुक्र	७०२२३८८	चान्द्रमास	५३४३३३३६
शनि	१४६५६४	तिथि	१६०३०००८०
क्षयाह	२५०८२२८०		

में अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है, परन्तु ज्योतिषगणित में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से कुछ मालूम न होने के कारण इसी पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है। उपर्युक्त श्लोको में बताये हुए सब विषयो के विचार द्वारा निश्चित किये हुए फल ऊपर लिखें हैं। उन्हें सिद्ध करने में मुझे कितना श्रम हुआ, कितना विचार करना पड़ा, कितनी भिन्न-भिन्न रीतियो द्वारा तथा भिन्न-भिन्न बातो को प्रमाण मान कर उनके अन्तरो का निरीक्षण करना पडा, इसे तज्ज्ञ लोग ही समझ सकते हैं। पहिले पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ ही १४०० वर्ष पुराना है, उसमें भी उसकी कोई टीका नहीं, तिसपर भी हमें जो ग्रन्थ मिला वह बिलकुल अशुद्ध। पुस्तक अशुद्ध होने के कारण ऊपर लिखे हुए श्लोको में जिन शब्दों के सामने तद्बोधक अङ्क लिखे हैं, उनकी सत्यता के विषय में प्रत्येक स्थान में सन्देह होता था और इस पुस्तक में लिखे हुए भगणादिमान और वर्षमान आजकल के प्रचलित किसी भी सिद्धान्त से सर्वात्मना नहीं मिलते थे। इन सब अडचनो के होते हुए भी गणित द्वारा (सन् १८८७ के अगस्त और १८८८ के फरवरी महीनो के बीच में) गुणक, भाजक और क्षेपको की सगति लग गयी। विशेषतः भास्वतीकरण और खण्डखाद्य ग्रन्थो की ग्रहस्थिति का पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्य-सिद्धान्त की ग्रहस्थिति से बहुत अशो में साम्य दिखलाई पड़ा। इसी कारण तीनो के विषय में जो सन्देह था, वह जाता रहा और उनकी सत्यता के विषय में निश्चय हो गया। उस समय हमें जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है, परन्तु यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि ऐतिहासिक दृष्ट्या इस कार्य का कुछ महत्त्व होने के अतिरिक्त इसमें और कोई

उपर्युक्त श्लोको द्वारा निष्पन्न क्षेपक अर्थात् पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त द्वारा लायी हुई करणारम्भकालीन ग्रहस्थिति यहा लिखी जाती हैं। इसमे सूर्य, चन्द्र और चन्द्रोच्च के क्षेपक शके ४२७ चैत्र कृष्ण १४ रविवार के मध्याह्नकाल के हैं और शेप भौमादिको के क्षेपक मध्यरात्रि के हैं। इनमें राहु नही हैं। क्षेपक राश्यादि हैं।

सूर्य	११।२९।२७।२०	बुध	४।२८।१७।७
चन्द्र	११।२०।११।१६	गुरु	०।८।६।२०
चन्द्रोच्च	९।९।४४।५३	शुक्र	८।२७।३०।३५
मगल	२।१५।३५।४	शनि	४।२।२८।४९

नवम अध्याय की पाचवी आर्या मे राहु की गतिस्थिति का वर्णन है, परन्तु उसका अर्थ नही लगता। १६ वे अध्याय की प्रथम आर्या मे स्पष्ट कहा है कि क्षेपक मध्यरात्रि के है, पर उसमें यह नही बतलाया है कि वे किस दिन के है। उपर्युक्त भगणो द्वारा लाये हुए चैत्र कृष्ण १४ रविवार की मध्यरात्रि के अर्थात् उस दिन होनेवाली मध्यम मेप मक्रान्ति से ३ घटी ९ पल पहिले के ग्रह इन श्लोकों मे लिखे हुए क्षेपको से मिलते हैं। छठी आर्या मे मगल का क्षेपक है। मालूम होता है उसकी विकलाए छोड दी गयी है। नवें श्लोक में बुधक्षेपक की विकलाए भी छोड दी गयी है और शुक्र का क्षेपक ४ विकला कम है। मैं समझता हूँ, इन त्यक्त विकलाओ का कोई विशेप मूल्य नही है। इन्हे छोड देने से कोई हानि न होगी।

उपर्युक्त भगणादिको की सख्या और वर्पमान आगे लिखे हुए वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के भगणादिमान और वर्पमान से नही मिलते। इससे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त भगणादि मूलतत्त्वो के विषय में एक दूसरे मे भिन्न मालूम होते हैं। इनमें से दूसरा पहिले की अपेक्षा नवीन है क्योंकि वराहमिहिर ने केवल पहिले का ही सग्रह किया है। द्वितीय सूर्यसिद्धान्त के रचनाकाल का विचार आगे किया जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त भगणादिमान उत्पलोद्धृत पुलिश सिद्धान्त के मानो मे, जो कि पहिले लिखे जा चुके हैं, ठीक-ठीक मिलते हैं। आगे चलकर दिखायेंगे कि ब्रह्मगुप्त ने चन्द्रोच्च और राहु को छोडकर इसके शेप सभी मान 'खण्डखाद्य' मे लिये है। वर्पमान तथा बुध और गुरु के भगणो को छोडकर इसके अवशिष्ट सभी मान आगे लिखे हुए आर्यभटोक्त मानो मे मिलते हैं। गुरु के अतिरिक्त अन्य मानो में वराहमिहिर द्वारा आविष्कृत, पञ्चसिद्धान्तिका के १६ वें अध्याय की दशम और एकादश विशेपता नहीं है। यह ग्रन्थ लिखते समय इस प्रकार के और भी कई आनन्ददायक प्रसग आये।

आर्याओ में बतलाये हुए बीज का सस्कार कर भास्वतीकरणोक्त मध्यमग्रहो के क्षेपक लाये गये है। आगे इन सब बातो का विशेष विवेचन किया जायगा।[1]

अलबेरुणी का कथन है कि 'सूर्यसिद्धान्त लाटकृत है'[2] परन्तु पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त लाटकृत नही है। प्रो० वेबर[3] के कथनानुसार सूर्यसिद्धान्त का टालमी से सम्बन्ध होना चाहिए। आगे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का विवेचन करते समय इन दोनो का भी विचार किया जायगा।

यहा तक पाचो सिद्धान्तो का विचार किया गया। उसमे उनके रचनाकाल का भी निर्णय हो चुका। रचनाकाल के अनुसार इन पाचो का क्रम यह है—पैतामह, वासिष्ठ, पौलिश, सौर और रोमक। मेरे मतानुसार इनमे रोमक शकारम्भ के पहिले का है और शेष चार उससे भी प्राचीन है।

शके ४२० से पूर्व के पौरुष ज्योतिष ग्रन्थकार

पञ्चसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शके ४२० से प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थकारो के नाम जानने का अन्य कोई भी साधन नही है। उसमे कुछ ग्रन्थकारो के नाम बताये है। कहा है —

> पञ्चभ्यो द्वावाद्यौ (पौलिशरोमकसिद्धान्तौ)
> व्याख्यातौ लाटदेवेन ।।३।। अध्याय १।

[1] गुरुभगण ३६४२२० मानने से भास्वतीकरणोक्त क्षपक नहीं आता। ३६४२२४ मानने से आता है, परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका के १६वें अध्याय की द्वितीय आर्या के पूर्वार्ध में बतलाये हुए गुणकभाजको द्वारा गुरुभगण ३६४२२० ही सिद्ध होते है। भगणसख्या ३६४२२४ मानने से ४३३२७ दिनो में १०० भगण पूर्ण होगे। उत्पलोद्धृत पुलिश-सिद्धान्त और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त म गुरुभगण ३६४२२० ही है। इसी सख्या द्वारा खण्डखाद्योक्त गुरुक्षेपक मिलता है। प्रथम आर्यभट के सिद्धान्त में गुरुभगण ३६४२२४ है। वराहमिहिर ने बृहत्सहिता के अष्टम अध्याय में इष्ट शक में बार्हस्पत्यसवत्सर लाने की रीति लिखी है। उसमें बतलाया हुआ क्षेपक गुरुभगण ३६४२२४ मानने से मिलता है।

[2] डा० केर्न की बृहत्संहिता-प्रस्तावना और बर्जेस क सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का द्वितीय पृष्ठ देखिए।

[3] बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृ० ३ देखिए।

लाटाचार्येणोक्तो यवनपुरे चास्तगे सूर्ये।
रव्युदये लङ्कायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहित. ।।४४।।
यवनानां निशि दशभिर्गतैर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा।
लङ्कार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभट ।।४५।।
भूय स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लङ्कायाम्। अध्याय १४

१४वे अध्याय के ये श्लोक बडे महत्त्व के हैं। इनका तात्पर्य यह है कि लाटाचार्य के कथनानुसार अहर्गणारम्भ यवनपुर के सूर्यास्तकाल से होना चाहिए। (यवनपुर का सूर्यास्त लङ्का की अर्धरात्रि के समय होता है) सिंहाचार्य ने लङ्का के सूर्योदय से और उनके गुरु ने यवनो के देश मे रात्रि के १० मुहूर्त (=२० घटी) बीत जाने के बाद अहर्गण का आरम्भ किया है। आर्यभट ने एक बार लङ्का की आधी रात से और दूसरी बार वही के सूर्योदयकाल से दिनप्रवृत्ति बतायी है।[१] यहा पता नही चलता कि सिंहाचार्य के गुरु का नाम क्या है ?

अन्तिम अध्याय में कहा है—

प्रद्युम्नो भूतनये जीवो सौरे च विजयनन्दी।

पञ्चसिद्धान्तिका मे बतलाये हुए ये नाम ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त मे भी आये हैं। उन्होने इनके गुणो का वर्णन कही भी नही किया है। सब मे कुछ न कुछ दोष ही दिखलाये है। इनमें से आर्यभट का वर्णन आगे लिखा है। श्रीषेण ने भी रोमक मे कुछ मान लाट द्वारा लिये हैं, यह पहिले बता चुके है। वराहमिहिर का कथन है कि लाट ने पुलिश और रोमक सिद्धान्तो की व्याख्या की है। व्याख्या मे प्राय लाट के स्वतन्त्र मत नही होगे, अत उनका अन्य कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ होना चाहिए। निम्नलिखित ब्रह्मगुप्त के श्लोक से भी इस बात की पुष्टि होती है—

श्रीषेणविष्णुचन्द्रप्रद्युम्नार्यभटलाटसिंहानाम्।
ग्रहणादि विसंवादात् प्रतिदिवस सिद्धमक्षतत्वम् ।।४६।।
अङ्कचितिविजयनन्दि प्रद्युम्नादीनि पादकरणानि।
यस्मात्तस्मात्तेषा न दूषणान्यत्र लिखितानि ।।५८।।
अध्याय ११

[१] लङ्कोदय से दिनप्रवृत्ति बतलानेवाला आर्यभट का वचन आगे लिखा जायगा, पर आर्यभटीय में लङ्का की अर्धरात्रि से दिनप्रवृत्ति सूचित करनेवाला वचन कहीं भी नहीं मिलता।

[२] अङ्कचिति भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम जान पडता है।

मालूम होता है कि पहिले सिंहाचार्य का भी कोई ग्रन्थ था। ऊपर लिखी हुई एक आर्या में वराहमिहिर ने कहा है कि मगल के विषय मे प्रद्युम्न और गुरु तथा शनि के विषय में विजयनन्दी भग्न हो गया। ब्रह्मगुप्त ने इन दोनो के ग्रन्थो को पादकरण कहा है। पूर्वोक्त "युगयातवर्षभगणान् . श्रीषेणेन गृहीत्वा " आर्या मे भी ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि 'विजयनन्दी कृत पाद श्रीषेण ने लिया।' इसका अभिप्राय कुछ समझ मे नही आता। मालूम नही, पाद शब्द का अर्थ युगपाद है या और कुछ।

अस्तु, यह सिद्ध हो गया कि लाट[1] सिंह, प्रद्युम्न और विजयनन्दी शके ४२० से प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थकार है।

वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक

सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, वसिष्ठसिद्धान्त, रोमशसिद्धान्त और शाकल्यसंहितोक्त ब्रह्मसिद्धान्त

इन पाचो मे से एक सोमसिद्धान्त को छोडकर शेष चार नाम के सिद्धान्तो का वर्णन पञ्चसिद्धान्तिका में आया है। पहिले बता चुके है और अग्रिम विवेचन द्वारा भी यह विदित हो जायगा कि इस समय जिन सूर्यादि सिद्धान्तो का वर्णन करने जा रहे हैं वे पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तो से भिन्न है। ये सम्प्रति उपलब्ध है और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तो से भिन्न है, अत इन्हे वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक कहेगे। यद्यपि सोमसिद्धान्त भी दो प्रकार का है या था, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता परन्तु वह अन्य चारो से पूर्णतया साम्य रखता है, अत उसका भी यही विचार करना अच्छा होगा। पहिले पाचो का सामूहिक रूप से थोडा विचार करने के बाद प्रत्येक का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

इन पाचो सिद्धान्तो मे लिखा है कि ये अपौरुषेय है और लोग ऐसा ही मानते भी है। ये पाच सिद्धान्त, पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पाच सिद्धान्तो मे से कुछ या सब और विष्णुधर्मोत्तरसिद्धान्तो को छोडकर आजकल अन्य कोई भी सिद्धान्त अपौरुषेय नही माना जाता। कदाचित् पहिले किसी अन्य ग्रन्थ को भी अपौरुष मानते रहे हो, पर अब वह उपलब्ध नही है। व्याससिद्धान्त, गर्गसिद्धान्त, पराशरसिद्धान्त और नारदसिद्धान्त भी

[1] वेदाङ्गज्योतिष का अवलोकन करने से तथा उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० वेबर की यह शङ्का कि 'लाट ही लगध होगा' बिलकुल भ्रमपूर्ण है।

अपौरुषेय ही हैं, पर उन्हे सिद्धान्त कहने की अपेक्षा संहिता कहना अच्छा होगा। इस समय इन व्यासादिको के नाम का किसी ऐसे सिद्धान्तग्रन्थ का उपलब्ध होना, जिसमे विषयक्रम सिद्धान्तग्रन्थो की भाँति हो, हमे असम्भव मालूम होता है। हो तो भी अभी तक हमें ऐसा ग्रन्थ देखने का अवसर नही प्राप्त हुआ है। यूरोपियन विद्वानो ने पाराशरसिद्धान्त के भगणादि मानो का उल्लेख किया है, पर वे मान वही हैं जो कि द्वितीय आर्यभट ने पाराशरसिद्धान्तोक्त बतलाते हुए अपने सिद्धान्त के एक अध्याय में लिखे हैं। स्वतन्त्र पाराशरसिद्धान्त उपलब्ध नही है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त का विचार करते समय इस विषय का विशेष विवेचन किया जायगा। विष्णुधर्मोत्तरब्रह्मसिद्धान्त का भी आगे थोडा विचार करेंगे। पौरुष सिद्धान्तो में सबसे प्राचीन प्रथम आर्यभट का सिद्धान्त है। उसका रचनाकाल शके ४२१ है। उपर्युक्त पाचो सिद्धान्त इससे प्राचीन ही होंगे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, पर हम समझते हैं, इनमें से कोई न कोई इससे प्राचीन अवश्य होगा। ये सभी सिद्धान्त समान हैं और अपौरुषेय माने जाते हैं, अत पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तो के बाद इनका विचार करना क्रमप्राप्त और योग्य है। पहिले इन (सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, वसिष्ठसिद्धान्त, रोमक और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त) पाचो के भगणादि मान लिखते हैं। ये सब में समान हैं।

सृष्टयुत्पत्तिवर्षसंख्या १७०६४०००।

एक महायुग में

नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७८२८	गुरु	३६४२२०
रविभगण	४३२००००	शुक्र	७०२२३७६
सावनदिवस	१५७७९१७८२८	शनि	१४६५६८
चन्द्रभगण	५७७५३३३६	चान्द्रमास	५३४३३३३६
चन्द्रोच्च	४८८२०३	चान्द्रतिथि	१६०३००००८०
चन्द्रकेन्द्र	५७२६५१३३	सौरमास	५१८४००००
चन्द्रपात	२३२२३८	अधिमास	१५९३३३६
मंगल	२२९६८३२	क्षयाह	२५०८२२५२
बुध	१७९३७०६०		

कल्प में

	उच्चभगण	पातभगण
सूर्य	३८७	×
मंगल	२०४	२१४
बुध	३६८	४८८

गुरु	९००	१७४
शुक्र	५३५	९०३
शनि	३९	६०

युगपद्धति

उपोद्घात में युगपद्धति का सामान्य वर्णन कर चुके है। यहा सृष्ट्युत्पत्ति की वर्षसख्या १७०६४००० बतायी है। इसका थोडा विचार करना होगा। ब्रह्मगुप्त और उनके अनुयायियो का मत यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मदिन अर्थात् कल्प के आरम्भ मे ही हुई। उस समय सब ग्रह, उनके उच्च और पात मेषारम्भ मे एकत्र थे। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त और उसके अनुयायी अन्य सिद्धान्त कल्पारम्भ मे सृष्टि का आरम्भ नही मानते। वे कहते है कि ब्रह्मा को सृष्टि रचने मे दिव्य ४७४०० वर्ष अर्थात् कलियुग ऐसे ३९½ युग लगे। कल्पारम्भ के इतने समय बाद सब ग्रह उनके उच्च और पात एकत्र थे और तत्पश्चात् ग्रहो की गति आरम्भ हुई। द्वितीय आर्यभट का भी प्राय यही मत है, पर उनकी सृष्टियुत्पत्ति की वर्षसख्या इससे भिन्न है। उसका वर्णन आगे करेंगे। प्रथम आर्यभट का मत भी आगे दिखलायेंगे। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यादि सिद्धान्तो का मत जानने का कोई मार्ग नही है।

आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में मध्यम मान से सब ग्रह एक स्थान मे आते है। इसी प्रकार कृतयुग के अन्त मे भी जब कि सूर्यसिद्धान्त बना, सब ग्रह एकत्र थे। ग्रहो की महायुगीय भगणसख्या ४ से नि शेष हो जाती है अत (महायुग − ४ =) २½ कलियुग मे सब के भगण पूर्ण हो जाते है अर्थात् २½ कलियुग तुल्य समय के बाद सब ग्रह एकत्र हो जाया करते है। ब्रह्मदिन के आरम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त (७१×६×१०+७×४+२७×१०+९ =) ४५६७ कलियुग तुल्य समय बीत चुका है। यह सख्या २½ से नही कटती। यदि इसमे से कुछ वर्ष सृष्टियुत्पत्ति सम्बन्धी न माने तो कल्पारम्भ मे सब ग्रह एक स्थान मे नही आते। इसमें से सृष्टिरचना का ३९½ कलियुग तुल्य समय निकाल देने से ४५२७½ कलियुग शेष रह जाते है। यह सख्या २½ से नि शेष हो जाती है। इस प्रकार सृष्ट्यारम्भ मे सब ग्रह एकत्र मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे और उसके पूर्व कृतयुग के अन्त मे भी सब एक स्थान में आते है। इसी प्रकार ग्रहो के उच्च तथा पातो की एक कल्प सम्बन्धी उपर्युक्त भगणसख्या के अनुसार वे सृष्ट्यारम्भ के अतिरिक्त अन्य किसी भी समय एकत्र नही होते है।

सामान्य वर्णन

इन पाचो सिद्धान्तो में सूर्यसिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। उस पर कई टीकाए हुई है और वह मुद्रित भी हो चुका है। शेष चार सिद्धान्तो की विशेष प्रसिद्धि नही है। इनमें वसिष्ठसिद्धान्त काशी में विन्ध्येश्वरीप्रसाद शर्मा ने छपाया है। इसमें ४ अध्याय और ९४ श्लोक है। अन्य कोई भी सिद्धान्त मैंने मुद्रित रूप में नही देखा है। इन चारो सिद्धान्तो की पुस्तक मुझे बडे परिश्रम से प्राप्त हुई है। वसिष्ठसिद्धान्त भूगोलाध्याय नाम की एक पुस्तक डेक्कन कॉलेज के सग्रह मे है (न० ७८ सन् १८६९-७०)। इसकी शब्दरचना काशी में छपे हुए वसिष्टसिद्धान्त से भिन्न है। इसमे दो अध्याय और सब १३३ श्लोक है। प्रथमाध्याय के १२१ श्लोको मे सृष्टिसस्था का वर्णन है। वह अन्य सिद्धान्तो सरीखा ही है। द्वितीयाध्याय में केवल ग्रहो के कक्षामान है। इन दोनो वसिष्ठसिद्धान्तो के भगणादि मान बिलकुल समान है। अत दो वसिष्ठसिद्धान्त न कहकर एक ही कहना अच्छा होगा। आगे इसका थोडा विशेष विवेचन करेगे।

पाचो सिद्धान्तो के भगणादि मान यद्यपि समान है तथापि उनमें थोडी भिन्नता भी पायी जाती है। उसका भी विचार करना आवश्यक है। इस छपे हुए वसिष्ठसिद्धान्त की ही एक हस्तलिखित प्रति डेक्कनकॉलेज के सग्रह मे है (न० ३६ सन् १८७०-७१)। उसके प्रथमाध्याय मे निम्नलिखित श्लोक मिला है—

> नृपेपुमस्तवह्न्य[1] शिव (?) यमेभेपुवरोन्मिता १५८२२३७५१६।
> भभ्रमा पश्चिमायाञ्च दिशि स्युर्वै महायुगे ॥१७॥

इस श्लोक में नक्षत्र भ्रम बतलाया है। इसके अनुसार महायुग में १५७७९१७५१६ सावन दिवस आते है अर्थात् वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल १५ विपल ४८ प्रतिविपल होता है। यह वर्षमान अन्य सभी सिद्धान्तो से भिन्न है। काशी की छपी हुई पुस्तक में यह श्लोक नही है। वसिष्ठसिद्धान्त की उपर्युक्त दूसरे प्रकार की प्रति (डे० का० स० नम्बर ७८ सन् १८६९-७०) में भी नक्षत्रभ्रम नही लिखा है और दूसरी बात यह कि सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर (शके १५८०) ने सूर्यसिद्धान्त मे सर्वात्मना साम्य रखनेवाले जो सिद्धान्त बताये है[2] उनमें यही वसिष्ठसिद्धान्त भी है। इससे डे० का० स० की प्रति का उपर्युक्त श्लोक प्रक्षिप्त मालूम होता है।

[1] मूल पुस्तक में आठवां अक्षर नहीं है। वहां कोई ऐसा अक्षर होना चाहिए जिसका अर्थ २ हो, इसलिए मैंने उसके स्थान में 'शिव' रखा है।

[2] भगणमानाध्याय श्लोक ६५।

इसीलिए मैंने ऊपर वसिष्ठसिद्धान्त के भगणादि मान अन्य सिद्धान्तो के समान ही लिखे हैं।

रचनाकाल

अब इन पाचो सिद्धान्तो के रचनाकाल का थोडा सा विचार करेंगे।

बेंटली ने ज्योतिष सिद्धान्तो का रचनाकाल जानने के लिए एक नियम बनाया है। उसके अनुसार उन्होंने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल सन् १०९१ ई० (शके १०१३) निश्चित किया है। वह नियम यह है —

जिस सिद्धान्त का रचनाकाल निश्चित करना हो उसके द्वारा सूर्य के सम्बन्ध मे मध्यम ग्रहो की जो स्थिति आती हो उसका आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाई हुई सूर्यसम्बन्धी मध्यम ग्रहस्थिति से तुलना करते हुए यह देखना चाहिए कि उसका कौन सा ग्रह किस शक मे शुद्ध आता है। इसके बाद उन समयो की भगति लगाते हुए ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित करना चाहिए।

सामान्यत यह पद्धति ठीक मालूम होती है और बेंटली ने जो बाते पहिले कल्पित कर ली है उन्हे भी मान लेने मे कोई त्रुटि नही है परन्तु सब प्रकार विचार करने से इस रीति का उपयोग करना अनुचित प्रतीत होता है, अत इस रीति द्वारा निश्चित किये हुए काल विश्वसनीय नही होगे। इसके कई कारण है। एक तो बेंटली का सबसे बडा दोष यह है कि उन्होंने हिन्दू-ग्रहगणित-ग्रन्थ और यूरोपियन शुद्ध कोष्टको द्वारा लाये हुये मध्यम ग्रहो की तुलना की है। वस्तुत आकाश मे मध्यम ग्रह नही दिखाई देते अर्थात् गणित द्वारा जो मध्यम भोग आता है तदनुसार आकाश मे उनका दर्शन नही होता। वहा उनके स्पष्टभोग दिखाई देते है। भारतीय ज्योतिषियो ने जब जब अपने मूल ग्रन्थ बनाये अथवा मूलग्रन्थोक्त ग्रहस्थिति का आकाश की प्रत्यक्ष स्थिति से विरोध देखकर जब जब उनमे बीजसस्कार कर उन्हे स्वकालानुसार शुद्ध किया तब तब उन्होंने वेध द्वारा आकाश में स्पष्ट ग्रहो का ही निरीक्षण किया होगा, न कि मध्यम ग्रहो का। मध्यम और स्पष्ट ग्रहो के अन्तर को सामान्यत फलसस्कार कह सकते है। यदि यूरोपियन और भारतीय ग्रन्थो के फलसस्कार तथा उनका सस्कार करने की रीति, ये दोनो बाते समान हो तो मध्यम ग्रहो की तुलना द्वारा ग्रन्थ का रचना-काल निश्चित करना असगत न होगा परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। किसी भी भारतीय ग्रन्थ द्वारा सूर्य का फलसस्कार २ अश १० कला से कम नही आता परन्तु यूरोपियन ग्रन्थो के अनुसार वह इस समय १ अश ५५ कला है। यूरोपियन ग्रन्थकार कहते है कि यह सस्कार सर्वदा एकरूप नही रहता। शक के ३००० वर्ष पहिले इसका

मान २ अश १० कला था और उसके बाद से क्रमश कम होता जा रहा है। चन्द्रमा का फलसस्कार हिन्दू ग्रन्थो के अनुसार लगभग ५ अश है परन्तु यूरोपियन ग्रन्थानुसार कभी कभी ८ अश तक चला जाता है। हिन्दुओ के फलसस्कार मे अशुद्धि बहुत अधिक है। इसी प्रकार अन्य ग्रहो के फलसस्कार भी कुछ कुछ भिन्न है। मध्यम ग्रह द्वारा स्पष्टग्रह लाने की रीति और उसके मन्दोच्च शीघ्रोच्चादि उपकरण भी दोनो के किञ्चित् भिन्न है, अत भारतीय ग्रन्थ और यूरोपियन ग्रन्थो के मध्यम ग्रह समान हो तो भी यह नही कहा जा सकता कि दोनो के स्पष्टग्रह भी समान ही होगे अथवा यदि दोनो के स्पष्टग्रह समान हो तो उनके द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रह भी समान ही आवेंगे, इसका कोई निश्चय नही है। इसी प्रकार उन दोनो का अन्तर भी सर्वदा नियमित नही रहेगा। किसी विवक्षित स्थिति मे यदि दोनो के मध्यम ग्रह और साथ ही साथ स्पष्टग्रह भी समान हो तो किसी अन्य परिस्थिति में वे भिन्न भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, शनि सिंह राशि में हो और उस समय यदि दोनो के मध्यम और स्पष्ट परस्पर समान हो जाय तो शनि के वृश्चिक राशि में रहने पर भी वे समान ही होगे, यह नही कहा जा सकता। इस प्रकार फलसस्कार के मान तथा उसे लाने की रीति में विभिन्नता होने के कारण दोनो ग्रन्थो के फलो मे किसी समय थोडा अन्तर होते हुए भी उसके अनुसार रचनाकाल निश्चित करने में शताब्दियो का अन्तर पड सकता है। उदाहरण के लिये बेंटली की बतलाई हुई आधुनिक सूर्यसिद्धान्त की अशुद्धिया नीचे लिखी जाती है।

[1]	सन् ५३८ में अ० क० वि०	सन् १०९१ मे अ० क० वि०	अशुद्धिरहित ईसवी सन्
चन्द्रमा	— ० १८ ३०	— ० ० ११	१०९७
मगल	+ २ २६ ३०	+ ० ५८ २९	१४५८
गुरु	— १ २१ ४७	+ ० ४१ १४	९०६
शनि	+ १ ५० १०	— १ ४ २५	८८७

इससे मालूम होता है कि ईसवी सन् ५३८ में मगल की अशुद्धि लगभग २½ अश और अन्य ग्रहो की २ अश से कम थी। चन्द्रमा की तो बहुत ही कम थी। सम्भवत उस समय एक भगण की पूर्ति होने के मध्यवर्ती काल में स्पष्टमान से ये सब ग्रह कभी

[1] यूरोपियन कोष्टको द्वारा लाये हुए ग्रहो की अपेक्षा सूर्यसिद्धान्तीय ग्रह जहाँ अधिक है वहाँ धन चिह्न (+) और जहाँ न्यून है वहाँ ऋण चिह्न (−) बनाया है। सन् ५३८ ई० में बुध और शुक्र में ३ अंश से अधिक अशुद्धि थी, इसलिए यहाँ उन्हें नहीं लिखा है।

न कभी यूरोपियन कोष्टको द्वारा लाये हुए स्पष्ट ग्रहो के समान अर्थात् शुद्ध रहे होगे। इस प्रकार सन् ५३८ के आसपास दस-पाच वर्ष आगे या पीछे के सूर्यसिद्धान्तीय[1] ग्रह यदि यूरोपियन ग्रहों के समान सिद्ध हो जाय तो सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल सन् ५३८ कहा जा सकता है। भारतीयो के मूलग्रन्थ अथवा उनमे दिये हुए सस्कारो की रचना कम मे कम २५, ३० वर्षो के अनुभव के बाद हुई होगी। इतने समय के बीच मे उन्होने किस ग्रह का वेध किस दिन किस प्रकार किया, इसे जानने का कोई साधन नही है, अत बेटली की इस रीति द्वारा ग्रन्थरचना का समय निश्चित करना निर्दोष नही है। प्रो० विटने ने बेटली की रीति मे कुछ दोष दिखलाये है, परन्तु उनमे उपर्युक्त मुख्य महत्वशाली दोष नही है। स्वत बेटली ने भी साधक-बाधक विषयो का विचार किया है, परन्तु इस आक्षेप के सम्बन्ध में कुछ नही लिखा है।

दूसरी बात यह कि भारतीय और यूरोपियन ग्रहो की तुलना करते समय बेटली ने सब ग्रहो का सूर्य से अन्तर तो लाया है, परन्तु इस बात का विचार नही किया है कि भारतीय ग्रन्थो का निरयण वर्षमान किञ्चित् अशुद्ध होने के कारण उनकी सूर्य की ही स्थिति अशुद्ध है। इसका विचार करते हुए प्रो० विटने ने बतलाया है कि सूर्यसिद्धान्त का सूर्य सन् २५० मे शुद्ध था। भारतीय ग्रन्थो के बीजसस्कार[2] मे दो भेद होने की संभावना है। एक बीजसस्कार उन्होने ग्रह और नक्षत्रो की युति का अवलोकन कर किया होगा और दूसरा नलिकावेध द्वारा। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान निरयण वर्षमान के पास-पास होते हुए भी उससे लगभग ८ पल अधिक है। इस कारण नक्षत्रो के भोग उत्तरोत्तर अशुद्ध होते जा रहे है। इस समय वह अशुद्धि लगभग ४½ अश हो गयी है (पटवर्धनीय तथा अन्य निरयण पञ्चाङ्गो मे अन्तर पडने का कारण यही है)। इसलिए यदि युति द्वारा बीजसस्कार लाया होगा तो जिस तारा से ग्रहयुति का विचार किया स्वत उसीका स्थान अशुद्ध होने के कारण बीज अशुद्ध होने की सभावना है, अत उसके द्वारा लाया हुआ रचनाकाल भी अशुद्ध ही होगा। दूसरी रीति है ग्रहो का नलिकावेध। इसमे ग्रह सायन करने पडते है। यद्यपि सम्पातगति थोडी अशुद्ध है तो भी सूर्य या

[1] इस बात का मुझे पूर्ण निश्चय है कि दोनो ग्रन्थो के गणित द्वारा भिन्न-भिन्न दिनो के सब ग्रह लाकर यह दिखलाया जा सकता है कि दस-पाँच या कदाचित् ३० वर्षो में दोनो के ग्रह अमुक दिन समान होगे, परन्तु इतना गणित करने के लिए अत्यधिक परि-श्रम और समय की आवश्यकता है। इसलिए मैने नहीं किया।

[2] जब किसी सिद्धान्त के गणितागत ग्रह वेध से नहीं मिलते तब उनकी गतिस्थिति में कोई संस्कार किया जाता है। उसे बीजसंस्कार कहते है।

अन्य किसी ग्रह का सम्पात में आने का समय उतना अशुद्ध नही है, अत बीज मे अधिक अशुद्धि की सभावना नही है। इसलिए इस रीति से लाये हुए बीजसस्कार द्वारा बेटली की भाँति केवल सूर्य के सम्बन्ध से लायी हुई ग्रह की अशुद्धि द्वारा ग्रन्थरचनाकाल लावे तो भी कोई हानि नही है, परन्तु हमारे ग्रन्थो में बतलाया हुआ सूर्य के सम्पात में आने का समय थोडा अशुद्ध ही है और वेध जितने स्थूल होगे बीज भी उतने ही अशुद्ध होगे, अत इनके द्वारा निश्चित किया हुआ ग्रन्थरचना काल भी अशुद्ध ही होगा।

तीसरी बात यह कि बेंटली की रीति यदि ठीक मान लें तो भी उसके अनुसार किसी ग्रन्थ का रचनाकाल लाना उसी स्थिति मे योग्य होगा जब कि ग्रन्थकार ने स्वत वेध करके ग्रहो की गतिस्थिति बतलायी हो। यदि ग्रन्थकार ने किसी अन्य ग्रन्थ के ग्रह ज्यो के त्यो उद्धृत कर दिये हो तो वहा इस रीति का उपयोग करना अनुचित होगा। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में बतलाया हुआ बीजसस्कार यदि अलग रखे तो उसके भगणादिमान ब्रह्मगुप्त के मानो से बिलकुल समान होने के कारण दोनो का रचनाकाल समान मानना पडेगा, परन्तु वस्तुत ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के ५२२ वर्ष बाद भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि बनाया है। जो बीजसस्कार भास्कराचार्य के ग्रन्थ मे है वही शके ९६४ में बने हुए राजमृगाङ्क ग्रन्थ मे भी है (आगे चल कर इसका विशेष विवेचन किया जायगा)। इस प्रकार बेटली की रीति के अनुसार राजमृगाङ्क (शके ९६४) सिद्धान्तशिरोमणि (शके १०७२) या करणकुतूहल (शके ११०५) का रचनाकाल एक ही आवेगा।

बेटली की रीति द्वारा लाये हुए काल की वास्तविक काल से तुलना करने पर भी उनकी रीति निरुपयोगी ही ठहरती है। मैंने पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यसिद्धान्त मे उसका उपयोग करके देखा। तदनुसार निम्नलिखित वर्षो में उनके ग्रह शुद्ध आते है।

	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त	प्रथम आर्यसिद्धान्त
	शक	शक
चन्द्रमा	५२०	४६८
चन्द्रोच्च	४८२	४८२
राहु	×	५२३
मगल	४५७	४५७
बुध	९२	७३४
गुरु	७७२	४८०

शुक्र	४०९	४०९
शनि	५७४	५७४
	३३०७–७=४७२	४१२७–८=५१६

इससे सिद्ध होता है कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त शके ४७२ मे और प्रथम आर्यसिद्धान्त शके ५१६ मे बना, परन्तु प्रथम आर्यसिद्धान्त का रचनाकाल शके ४२१ निर्विवाद सिद्ध है[1] और पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के विषय मे भी ऊपर बता चुके है कि वह शके ४२१ मे बहुत प्राचीन होना चाहिए। बेंटली ने १८ अध्यायो के आर्यसिद्धान्त अर्थात् द्वितीय आर्यसिद्धान्त का समय सन् १२८८ (शके १२१०) और पाराशरसिद्धान्त का रचनाकाल सन् १३८४ (शके १३०६) बताया है[2], परन्तु द्वितीय आर्यसिद्धान्त शके १०७२ से पहिले का है क्योकि उसकी कुछ बातो का उल्लेख सिद्धान्तशिरोमणि मे आया है और पाराशरसिद्धान्त का उल्लेख द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे है, अत वह उससे भी प्राचीन होना चाहिए (आगे इसका विशेष विवेचन किया जायगा)।

इससे यह स्पष्ट है कि बेंटली के निश्चित किये हुए काल बिलकुल अविश्वसनीय है। अत उनका बतलाया हुआ सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल (शके १०१३) भी उपेक्षणीय है।

अब इन पाचो सिद्धान्तो के रचनाकाल का स्वतन्त्रतया विचार करेगे।

ब्रह्मगुप्त ने कहा है —

अयमेव कृत सूर्येन्दुपुलिशरोमकवसिष्ठयवनाद्यै ॥३॥

अध्याय २४।

यहा इन्दुसिद्धान्त सोमसिद्धान्त को कहा है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी एक सोमसिद्धान्त था। प्रचलित सोमसिद्धान्त से भिन्न सोमसिद्धान्त का पहिले किसी समय प्रचार था, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। इस समय भी ऐसा कोई सिद्धान्त उपलब्ध नही है और न तो उसकी उपलब्धि का कोई प्रमाण ही मिलता

[1] वस्तुत ये ग्रह यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाने चाहिए थे, परन्तु मैने केरोपन्तीय ग्रह साधनकोष्टको द्वारा लाये है। उससे सूक्ष्म अन्य किसी ग्रन्थ द्वारा गणित करने से कदाचित् दस-पांच वर्षो का अन्तर पड़ेगा।

[2] बेंटली का ग्रन्थ (सन् १८२३ ई०) Part II, Section III देखिए।

है। अत यह निश्चित है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी वही सोमसिद्धान्त था जो कि इस समय उपलब्ध है। हो सकता है, ब्रह्मगुप्त के समय का सोमसिद्धान्त कदाचित् आधुनिक सोमसिद्धान्त से कुछ भिन्न अथवा विस्तार में कुछ न्यून या अधिक रहा हो पर दोनो के भगणादि मान तुल्य होने चाहिए।

ऊपर बता चुके हैं कि ब्रह्मगुप्त के समय पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमक और वासिष्ठ से भिन्न श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ उपलब्ध थे और यह भी बता चुके हैं कि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमक और वासिष्ठ से आधुनिक रोमक और वासिष्ठ भिन्न है। भगणादि मानो द्वारा भी इस कथन की पुष्टि होती है। अत यह सहज ही ध्यान मे आ जाता है कि ब्रह्मगुप्तकालीन श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ ही आधुनिक रोमक और वासिष्ठ होने चाहिए क्योकि पञ्चसिद्धान्तिकोक्त तथा आधुनिक रोमक और वासिष्ठ सिद्धान्तो से भिन्न तीसरे प्रकार के कोई रोमक और वासिष्ठसिद्धान्त पहिले कभी प्रचलित थे, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। इस समय भी ऐसा कोई सिद्धान्त उपलब्ध नही है और दूसरी बात यह कि श्रीषेण और विष्णुचन्द्र ने अपने रोमक और वासिष्ठसिद्धान्त जिन ग्रन्थो के आधार पर बनाये उनके सम्बन्ध में ब्रह्मगुप्त की "लाटात् सूर्यशशाङ्कौ विष्णुचन्द्रेण" ये ३ आर्याए ऊपर लिखी है। इनसे ज्ञात होता है कि वे दोनो ग्रन्थ एक ही प्रकार के होने चाहिए अर्थात् उनके भगणादि मान समान होने चाहिए जैसे कि वर्तमान रोमक और वासिष्ठसिद्धान्तो के हैं। तीसरी बात यह कि ब्रह्मगुप्त ने कहा है कि विष्णुचन्द्र ने दूसरा वसिष्ठसिद्धान्त बनाया। आधुनिक वसिष्ठसिद्धान्त में (काशी की छपी हुई प्रति मे) निम्नलिखित श्लोक[1] है—

इत्थ माण्डव्य सक्षेपादुक्त शास्त्र मयोदितम्।
विस्तृतिर्विष्णुचन्द्राद्यैर्भविष्यति युगे युगे ॥८०॥

यह माण्डव्य के प्रति वसिष्ठ का कथन है। यहा इस सिद्धान्त से विष्णुचन्द्र का सम्बन्ध स्पष्ट है। श्लोक में विष्णुचन्द्र का नाम गौणरूप में आया है, अत यह सिद्धान्त साक्षात् विष्णुचन्द्र रचित न हो तो भी यह स्पष्ट है कि अन्य किसी ने विष्णुचन्द्र के ही मानो द्वारा इसे बनाया है। रोमकसिद्धान्तसम्बन्धी उपर्युक्त ब्रह्मगुप्त की आर्याओ मे कहा है कि वह लाट, वसिष्ठ और विजयनन्दी के आधार पर बना है और आधुनिक रोमकसिद्धान्त के आरम्भ मे ये श्लोक है—

[1] डे० का० संग्रह की प्रति में भी यह श्लोक है। उसमें उत्तरार्द्ध का आरम्भ 'विस्मृतिश्चेन्न चन्द्राद्यं.' इस प्रकार है, परन्तु यह अशुद्ध मालूम होता है।

वसिष्ठो रोमशमुनि[1] कालज्ञानाय तत्त्वत ।
उपवास ब्रह्मचर्यं प्रागेक विष्णुतत्परौ ।।२।।
वसिष्ठसदभिप्राय ज्ञात्वापि मधुसूदन ।
अर्पयामास तत्सिद्धयै तावच्छास्त्रार्थपारग ।।३।।
उभाभ्या तोषितो विष्णुर्योगीय तन्मुखद्वयात् ।
उच्चारयामास ।।४।।

यद्यपि ये श्लोक कुछ अशुद्ध है तथापि आधुनिक रोमकसिद्धान्त से रोमक और वसिष्ठ दोनो का सम्बन्ध इनमे स्पष्ट है और ब्रह्मगुप्तकालीन रोमकसिद्धान्त को भी वसिष्ठ का आधार था ही। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मगुप्तकालीन श्रीषेणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ तथा आधुनिक रोमश और वासिष्ठसिद्धान्त एक ही है। आधुनिक लोमशसिद्धान्त मे श्रीषेण का नाम नही है, पर सिद्धान्त का नाम वही है। उसमें रोमश को एक मुनि माना है। सम्भव है श्रीषेणकृत रोमक की शब्द रचना आधुनिक रोमक से कुछ भिन्न रही हो, पर दोनो के भगणादिमान एक होने चाहिए।

आधुनिक सोम, रोमश और वासिष्ठ सिद्धान्तो के सर्वथा समान अथवा केवल भगणादिमानो में साम्य रखनेवाले इन्ही नामो के सिद्धान्त यदि ब्रह्मगुप्त (शके ५५०) के पूर्व भी थे तो फिर भगणादि मानो के विषय मे इनके विलकुल समान, परन्तु सम्प्रति इन तीनो से अत्यन्त अधिक महत्वशाली तथा पूज्य माना जानेवाला आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के पहिले नही रहा होगा, यह कैसे कह सकते है? आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त अथवा सोम, रोमक या वासिष्ठसिद्धान्तो के भगणादि मान ब्रह्मगुप्त से पूर्व के प्रथम आर्यसिद्धान्त अथवा उससे भी प्राचीन पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पाच सिद्धान्तो के समान नही है। पहिले बता चुके है कि लाटाचार्य का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था। ब्रह्म-गुप्त के कथनानुसार श्रीषेण के रोमक और विष्णुचन्द्र के वासिष्ठ मे सब मध्यम ग्रह[2] लाट के ग्रन्थ से लिये गये है, अत ब्रह्मगुप्त से प्राचीन ग्रन्थो मे आधुनिक रोमक वासिष्ठ और सोम सिद्धान्तो से साम्य रखनेवाला केवल एक लाटाचार्य का ही ग्रन्थ दिखाई देता है। यह बात और ऊपर लिखे हुए अन्य विचार एव अलबेरुणी का यह कथन

[1] रोमश के स्थान में लोमश और 'सदभिप्राय' के स्थान में 'तदभि०' पाठ भी मिलते है। सिद्धान्त के भी 'रोमक' और 'रोमश' दो नाम पाये जाते है।

[2] कोलब्रूक इसका अर्थ लगाते है कि कुजादि ग्रह वासिष्ठ से लिये, परन्तु सब बातो के पूर्वापर सन्दर्भ का विचार करने से मुझे अपना ही अर्थ ठीक मालूम होता है।

कि सूर्यसिद्धान्त लाटकृत है, इन सबका एकत्र विचार करने से मुझे यही अनुमान होता है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के मध्यमग्रह (भगणादि मान) लाटाचार्य के ग्रन्थ के है और लाटाचार्य का समय वराहमिहिर से पूर्व है। अत मेरे मतानुसार वर्तमान सूर्य-सिद्धान्त के भगणादि मूलतत्त्व शके ४२७ से प्राचीन है। आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत न हो तो भी आधुनिक सोम, रोमक और वासिष्ठ सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त के पहिले के है और उन तीनो से अत्यधिक पूज्य तथा महत्वशाली होने के कारण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त उनसे भी प्राचीन है, अत उसका रचनाकाल शक की पाचवी शताब्दी से अर्वाचीन नही हो सकता।

अब पाचो सिद्धान्तो का पृथक्-पृथक् विशेष विचार करेंगे।

सूर्यसिद्धान्त (आधुनिक)

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त मे १४ अधिकार और सब मिलकर अनुष्टुप् छन्द के ५०० श्लोक है। इसके भगणादि मान ऊपर लिखे है। आरम्भ के श्लोको से मालूम होता है कि कृतयुग के अन्त मे सूर्य की आज्ञा से सूर्याशभूत पुरुष ने इसे मय नामक असुर से कहा अर्थात् शके १८१७ के आरम्भ में इसे बने २१६४९९६ वर्ष हुए।

यद्यपि ऊपर यह अनुमान किया है कि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत होगा। अत उसका रचनाकाल शके ४२७ से बहुत प्राचीन होना चाहिए तथापि वराहमिहिर के समय तक उसका यह नाम नही पडा रहा होगा क्योकि पञ्चसिद्धान्तिका में एक ही सूर्यसिद्धान्त का वर्णन है और वह इससे भिन्न है। ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त मे सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख दो स्थानो में आया है। वे दोनो श्लोक ऊपर वसिष्ठसिद्धान्त के वर्णन मे लिखे ही है। उनमे ऐसा कोई प्रमाण नही दिखाई देता जिसके आधार पर कह सकें कि ब्रह्मगुप्त के समय दो सूर्यसिद्धान्त थे, अत उस समय भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का नाम सूर्यसिद्धान्त पड चुका था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पड चुका रहा हो तो भी यह स्पष्ट है कि उसे प्राधान्य नही प्राप्त हुआ था क्योकि उन्होने खण्डखाद्य मे स्वकीयसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त या वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के मान न लेते हुए पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के लिये है, अत वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के विषय में निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि इसका यह नाम कब पडा और यह कब से पूज्य माना जाने लगा। हा, अनुमान कर सकते है।

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटकृत हो तो भी उसके सब श्लोक लाटकृत नही होगे। मध्यमाधिकार के भगणादि मानो को छोडकर बचे हुए श्लोको में से अधिकतर या कुछ मूलग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के ही होगे अथवा यह भी सम्भव है कि

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का यह स्वरूप लाटकृत न हो वल्कि पञ्चसिद्धान्तिका के थोडे ही दिनो वाद किसी ने भगणादि मान लाट के तथा शेप श्लोक मूल सूर्यसिद्धान्त के लेकर इसे वनाया हो और उसके दो तीन वर्ष वाद ग्रन्थकर्ता का पता न लगने के कारण उसका विस्मरण हो जाने के वाद लोग उसे पूज्य मानने लगे हो।

ब्रह्मगुप्त कहते है कि रोमक और वासिष्ठ सिद्धान्तो मे ग्रहो का स्पष्टीकरण आर्यभटीय से लिया गया है, परन्तु वर्तमान सूर्य, रोमकादि सिद्धान्तो के परिव्यश जो कि ग्रहस्पष्टीकरण के एक मुख्य उपकरण है, आर्यभटीय से नही मिलते। मूल सूर्यसिद्धान्त से प्राय मिलते है (आगे स्पष्टाधिकार के प्रथम प्रकरण में वे सब एकत्र लिखे है)। इससे अनुमान होता है कि लाटाचार्य ने अथवा सूर्यसिद्धान्त के कर्ता अन्य किसी व्यक्ति ने इस ग्रन्थ में केवल भगणादि मान अन्य ग्रन्थ से लिये है, पर शेप वाते मूल सूर्यसिद्धान्त की है अथवा यो कहिए कि शेप सभी वातें अक्षरश मूल सूर्यसिद्धान्त की ही रखी है।

इसी प्रकार श्रीपणकृत रोमक और विष्णुचन्द्रकृत वासिष्ठ के विषय मे ब्रह्मगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि उनके भगणादि मान लाट के है। मालूम होता है, शेप विपयो मे से जितनी वाते प्रथम आर्यभट के सिद्धान्त मे वतलायी है उन्हे छोडकर अवशिष्ट सभी मूलतत्व सूर्यसिद्धान्त के समान रखते हुए किसी ने पीछे से आधुनिक वासिष्ठ और रोमक सिद्धान्त वनाये है। उत्पल ने वृहत्सहिता के १८ वे अध्याय की टीका मे "तथा च आचार्य विष्णुचन्द्र" कहकर अग्रिम श्लोक लिखा है---

> दिवसकरेणास्तमय समागम शीतरश्मिसहितानाम्।
> कुसुतादीना युद्ध निगद्यतेऽन्योन्ययुक्तानाम्।।

यह श्लोक आर्या छन्द का है, परन्तु आधुनिक दोनो प्रकार के वासिष्ठसिद्धान्त अनुष्टुप् छन्द के है। इससे भी यही अनुमान होता है कि विष्णुचन्द्रोक्त वासिष्ठ-सिद्धान्त के आधार पर अन्य किसी ने आधुनिक वसिष्ठसिद्धान्त वनाया है। यही स्थिति आधुनिक रोमकसिद्धान्त की भी होगी।

पूने के आनन्दाश्रम में सूर्यसिद्धान्त की कुछ सटीक तथा कुछ केवल मूल मात्र की प्रतिया है। उनमें एक टीकारहित पुस्तक (न० २९०९) के प्रथम (मध्यम) अधि-कार का सातवा श्लोक सटीक पुस्तको में नही है। पूर्वापर सन्दर्भ का ज्ञान होने के लिए यहा उसे आगे पीछे के श्लोक भाग सहित लिखते है।

न मे तेज सह कश्चिदाख्यातु नास्ति मे क्षण ।
मदश पुरुषोऽय ते नि शेष कथयिष्यति ॥६॥
तस्मात् त्व स्वा पुरी गच्छ तत्र ज्ञान ददामि ते ।
रोमके नगरे ब्रह्मशापान्म्लेच्छावतारधृक् ॥७॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे देव ।

अर्थ—(हे मय !) मेरे तेज को कोई सहन नही कर सकता (और) मुझे बतलाने के लिये समय (भी) नही है। मेरा अशभूत यह पुरुष तुझमे सब कुछ कहेगा ॥६॥ इसलिए तू अपने नगर को जा। ब्रह्मशाप के कारण मै म्लेच्छ का अवतार धारणकर वहा रोमक नगर मे तुझे ज्ञान दूँगा ॥७॥ इतना कह कर (सूर्य) देव अदृश्य हो गये।

यहा का सातवा श्लोक सटीक पुस्तको के छठे और सातवे श्लोको के मध्य मे है। पूर्वापर सन्दर्भ का विचार करने से सातवा श्लोक बीच में बिल्कुल असगत मालूम होता है। सूर्यसिद्धान्त के अग्रेजी अनुवादकर्ता रे० बर्जेस के पास की टीकारहित दो पुस्तको मे यह श्लोक था, पर सटीक पुस्तको मे नही था। उपर्युक्त अनुवाद की टिप्पणी मे विटने ने इस श्लोक के सम्बन्ध मे अपना निम्नलिखित मत प्रदर्शित किया है।

'यद्यपि यह कथन ठीक है कि वर्तमान छठे और सातवें श्लोको के बीच मे यह श्लोक असगत मालूम होता है तथापि यह बहुत-सी पुस्तको में मिलता है और यह भी सम्भव नही है कि किसी ने जानबूझकर नवीन श्लोक बना कर प्रक्षिप्त कर दिया हो, अत आधुनिक सटीक पुस्तको के आरम्भ के सात-आठ श्लोक जिनमें कि मय को सूर्य-सिद्धान्त की प्राप्ति का वर्णन है किसी ने नवीन बना कर किसी समय प्रक्षिप्त कर दिये होंगे। उनके स्थान मे उपर्युक्त श्लोक अथवा उसके साथ साथ उसी सरीखे कुछ और श्लोक होने चाहिए। इससे मालूम होता है कि सूर्यसिद्धान्त का यवनो मे कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। किं बहुना, यह शास्त्र हिन्दुओं को यवनो से ही मिला होगा। सूर्यसिद्धान्त मयासुर को मिला, यह बात वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी लिखी ही है। तो फिर सूर्योपदेश के लिए पात्र असुर ही मानने का कारण क्या है? इस बात से भी यवनो से उसका सम्बन्ध दिखाई देता है।"

टालमी

वेबर महोदय लिखते हैं कि 'ईजिप्ट के राजा तालमयस (Ptolemaias) का नाम हिन्दुस्तान के खुदे हुए लेखो में तुरुमय पाया जाता है, अत असुरमय तुरुमय

सलिलात्मकस्य नित्यं भागगत रवि ।
[illegible] समाविम्बस्य न [illegible] ॥
तस्मात् सोऽर्कः सूर्यो [illegible] ।
प्रभासो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मिविदीपिता ॥
[illegible] यथा यान्ति [illegible] चन्द्रमा रवे ।
तथा तथा च शुक्लमम भागगते रवि ॥

अध्याय ८, चन्द्रचार

भूछाया पश्चिमाशाया (?) स्तत्र स्थिते ।
तत्र विमर्दविक्षिप्तश्चन्द्र स्यात्तद्ग्रहस्तदा ॥
इन्दुना छादितं सूर्यमधोविक्षिप्तगामिना ।
न पश्यन्ति यदा लोका तदा स्याद् भास्करग्रह ॥
तमोमयस्य तमसो रविरश्मिपलायिन ।
भूछाया चन्द्रबिम्बस्यार्द्ध[2] परिकलितः ॥

अध्याय ५, राहुचार

ये श्लोक आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं। पता नहीं चलता ये मूल सूर्यसिद्धान्त के हैं या अन्य किसी ग्रन्थ के, यदि मूलसूर्यसिद्धान्त के होंगे तो कहना पडेगा कि भटोत्पल के समय (शके ८८८) आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का पूज्यत्व नहीं था।

भटोत्पल ने बृहत्संहिता के गुरुचार की टीका में महाकार्तिकादि संवत्सरों के विचार में लिखा है कि —

[1] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का तृतीय पृष्ठ देखिए। ऊपर वेबर के लेख का केवल सारांश लिया है।

[2] एक हस्तलिखित पुस्तक में ये श्लोक जैसे थे, वैसे ही यहाँ लिखे हैं।

'केचित् कृत्तिकादियुक्ते गुरौ यच्चन्द्रयुक्तं नक्षत्र चैत्रमासादितो भवति ततो महाकार्तिकादीनि संवत्सराणि प्रभवादीनि च गणयन्ति।'

आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में महाकार्तिकादि संवत्सरों का नाम रखने की रीति इस प्रकार है :—

वैशाखादिषु कृष्णे च योगे पञ्चदशे तिथौ।
कार्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात् तथा।।१७।।
मानाध्याय।

इन दोनों रीतियों का बहुत कुछ साम्य है और महाकार्तिकादि संवत्सरों का नाम रखने की यह रीति सूर्यसिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलती। मूल सूर्यसिद्धान्त में थी या नहीं, इसका पता पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा नहीं चलता और इसे जानने का दूसरा भी कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। यदि भटोत्पल का लेख मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार होगा तो इससे यह बात सिद्ध करने में अच्छी सहायता मिलेगी कि मूल सूर्यसिद्धान्त के श्लोक आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में हैं।

लाट

अल्बेरूनी (लगभग शके ९५२) सूर्यसिद्धान्त को लाटकृत बतलाते हैं, परन्तु इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि मूल सूर्यसिद्धान्त (पञ्चसिद्धान्तिकोक्त) लाटकृत नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो वराहमिहिर ने लिखा होता कि यह लाटकृत है और पञ्चसिद्धान्तों में उसका समावेश न किया होता। ब्रह्मगुप्त के कथन से तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि लाट का ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त से भिन्न है और उन्होंने लाट के ग्रन्थ में दो-तीन जगह दोष भी दिखाये हैं, पर सूर्यसिद्धान्त में कहीं दोषारोपण नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि अल्बेरूनी जिस सिद्धान्त को लाटकृत बतला रहे हैं वह मूल सूर्यसिद्धान्त नहीं बल्कि आधुनिक है। अतः सिद्ध हुआ कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का प्रचार शके ९५२ से पहिले स्थापित हुआ था।

भास्वतीकरणकार ने आरम्भ ही में लिखा है —

'अथ प्रवक्ष्ये मिहिरोपदेशात् तत्सूर्यसिद्धान्तसम समासात्।।३।।'

सिद्धान्तशिरोमणि के स्वयं भास्कराचार्यकृत वासनाभाष्य में सूर्यसिद्धान्त के ये श्लोक हैं —

अदृश्यरूपा कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिता ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणा गतिहेतव ॥१॥
तद्वातरश्मिभिर्वद्धास्तै सव्येतरपाणिभि ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्न स्वदिङ्मुखम् ॥२॥

ये श्लोक वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में हैं (स्पष्टाधिकार, श्लो० १–२)। गोलबन्धाधिकार में भास्कराचार्य सम्पातगति के विषय में लिखते हैं —

विषुवत्क्रान्तिवलययो सम्पात क्रान्तिपात स्यात् ।
तद्भगणा सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रय कल्पे ॥१७॥

इसके भाष्य मे उन्होने लिखा है —

'क्रान्तिपातस्य भगणा कल्पेऽयुतत्रय तावत् सूर्यसिद्धान्तोक्ता'

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे बतलाये हुए भचक्रभ्रमण के उद्देश्य से ही यहा ऐसा कहा है। इसी प्रकार सूर्यग्रहणाधिकार के अन्त मे लिखा है 'तस्मान्नेद पूर्वैरर्काशाद्यैस्तथा कृत कर्म'। इसमें अर्काश शब्द मालूम होता है वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्देश्य से कहा है।

इससे सिद्ध होता है कि अलबेरुणी, भास्वतीकार और भास्कराचार्य के पूर्व अर्थात् शक की दसवी शताब्दी के आदि के पहिले आधुनिक सूर्यसिद्धान्त को मान्यत्व और पूज्यत्व प्राप्त हो चुका था। सम्प्रति ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे जाना जाय कि शके ५५० (ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तकाल) और ९५० के मध्य मे उसे पूज्यत्व कब प्राप्त हुआ?

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी ग्रन्थ

तैलगण के वाविलाल कोच्चन का शके १२२० का करण ग्रन्थ सभी अगो मे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार है। इसके पहले के सूर्यसिद्धान्तानुयायी करणग्रन्थ मुझे देखने मे नही आये। शके १३३९ के भटतुल्यकरण की अयनगति वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है। शके १४४५ या उसके आसपास का 'ताजकसार' नाम का एक ग्रन्थ मैंने देखा है। उसमे ग्रहानयन के विषय मे लिखा है—

'श्रीसूर्यतुल्यात् करणोत्तमाद्वा स्पष्टा ग्रहा राजमृगाङ्कतो वा।'

इससे सिद्ध होता है कि शके १४४५ के पहिले सूर्यतुल्य नाम का एक करणग्रन्थ था अर्थात् उसमे ग्रह सूर्यसिद्धान्त के लिये गये थे। वह सूर्यसिद्धान्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त

ही रहा होगा। शके १४१८ में बने हुए ग्रहकौतुककरण में ग्रन्थकार ने लिखा है कि इनके वर्षमानादि सूर्यसिद्धान्त के है। ये मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव के मध्यमाधिकार मे लिखा है :—

'सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्ककलिकोनाब्ज ।'

अर्थात् मैने सूर्यसिद्धान्त से सूर्य, चन्द्रोच्च और ९ कला न्यून चन्द्रमा लिया है। ग्रहलाघव के ये मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के ही है। तिथिचिन्तामणि की सारिणियां भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के रव्यादिको द्वारा ही बनायी गयी है (आगे ग्रहलाघव का विचार करते समय इसका विशेष विवेचन किया जायगा)। भास्वतीकरण की माधवकृत टीका शके १४४२ की अर्थात् जिस वर्ष ग्रहलाघव बना उसी वर्ष की है। उसमें लिखे हुए सूर्य चन्द्रादिको की अथवा राहु को छोडकर शेष ग्रहो की भगणसख्या के श्लोक या उनमें बतलायी हुई भगणसंख्या आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के श्लोको और भगणमानो मे पूर्णतया मिलती है।

मकरन्द नाम का एक पञ्चाङ्गसाधक ग्रन्थ है। उत्तर हिन्दुस्तान के बहुत से प्रदेशो मे आजकल उसके अनुसार पञ्चाङ्ग बनाये जाते है। उसमें वर्षमान तथा सब ग्रहो के भगणादि मान आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के है। काशी के छपे हुए मकरन्द मे उसका रचनाकाल शके १४०० लिखा है, पर शक पद्यबद्ध नहीं है। पुस्तक मे इसके सत्यत्व की प्रतीति दिलानेवाला अन्य कोई साधन न होने के कारण इसके विषय मे थोडा सन्देह होता है, परन्तु विश्वनाथ इत्यादि गणको ने मकरन्द का उल्लेख किया है, अत उपर्युक्त काल विश्वसनीय हो सकता है। आर्यभटीय की परमादीश्वरकृत टीका में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के भिन्न-भिन्न अधिकारो के १२ श्लोक आये है।[1] उनमे मध्यमाधिकार के ४ श्लोक विशेष महत्व के है। उनमे सब ग्रहो के मन्दोच्च और पातो के भगण पठित है। इन परमादीश्वर का समय ज्ञात नही है। इन्होने जहा-जहा सूर्यसिद्धान्त के वचन उद्धृत किये है वहा-वहा पहिले 'तथा च मय' लिखा है।

गोदा नदी के पास पार्थपुर (पाथरी) नामक ग्राम के निवासी ढुण्ढिराज के पुत्र गणेश दैवज्ञ का शके १४८० के आसपास का एक ताजिकभूषण नामक ग्रन्थ है। उसमें उन्होने वर्षमान मूल सूर्यसिद्धान्त का लिया है। मूल सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान (३६५। १५।३१।३०) आधुनिक सूर्यसिद्धान्तोक्त वर्षमान (३६५।१५।३१।३१।२४) की अपेक्षा

[1] मध्यमाधिकार ४१ से ४४ तक। पात० २। भूगोलाध्याय ३५ से ४० तक। मानाधि० १।

गणित के लिए सरल होने के कारण मालूम होता है शक की १५ वी शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा है।

'ज्योतिषदर्पण' नाम का एक शके १४७९ का मुहूर्त ग्रन्थ है। उसमे प्रसगवशात् उदाहरण के लिए सृष्टयारम्भ से कलियुगारम्भ पर्यन्त का अहर्गण दिया है और कल्यारम्भकालीन गुरुवार की मध्यरात्रि के मध्यमग्रहादि भी बतलाये है। वे सब आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार है।

'रामविनोद' नाम का शके १५१२ का एक करणग्रन्थ है। उसका वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर (शके १५८०) तो वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अत्यन्त अभिमानी है। 'वार्षिकतन्त्र' नाम का एक ग्रन्थ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार शके १४०० और १६३४ के मध्य मे बना है।

टीकाएँ

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पर रङ्गनाथकृत गूढार्थप्रकाशिका नाम की शके १५२५ की एक टीका है। काशी और कलकत्ता मे इसके सहित सूर्यसिद्धान्त छपा है। दूसरी नृसिहदैवज्ञ की सौरभाष्य नाम्नी शके १५४२ की टीका है। तीसरी गहनार्थप्रकाशिका नाम की विश्वनाथ दैवज्ञकृत उदाहरणात्मक टीका है। यह शके १५५० के आसपास बनी है। चौथी दादाभाई की शके १६४१ की किरणावली टीका है। इन चारो मे रङ्गनाथ की टीका अधिक विस्तृत है। उसकी उपपत्ति भी अच्छी है। रङ्गनाथ की टीका मे दो-तीन जगह लिखा है 'इति साम्प्रदायिक व्याख्यानम्'[1]। दो-तीन स्थलो मे 'केचित्तु' लिखकर दूसरो के मत दिये है[2]। एक जगह[3] लिखा है 'नव्यास्तु इत्यर्थं कुर्वन्ति'। इससे विदित होता है कि रङ्गनाथ के पहिले की कुछ टीकाए उनके समय उपलब्ध थी। उन्होने 'पर्वत' नाम के टीकाकार का उल्लेख चार स्थलो मे किया है। एक जगह नार्मदोक्त बतलाते हुए एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है।[4] अत नार्मद का कोई ऐसा गणितग्रन्थ होना चाहिए जिसमे सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख या आधार हो। मेरे मतानुसार नार्मद का समय लगभग शके १३०० होना चाहिए।[5] कोलब्रूक ने सूर्य-

[1] काशी की छपी हुई पुस्तक का पृष्ठ १५६, १६३, २०१ देखिए।

[2] काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ ४८, ६५, १४७ देखिए।

[3] काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ २०१ देखिए।

[4] काशी की मुद्रित पुस्तक का पृष्ठ २१२ देखिए।

[5] इसी प्रकरण में आगे नार्मद का वर्णन पढ़िए।

सिद्धान्त की एक भूधरकृत टीका का उल्लेख किया है। प्रो० विटने ने विलसन के कैटलाग के आधार पर लिखा है[1] कि मैकेंजीसग्रह में सम्पूर्ण सूर्यसिद्धान्त या उसके कुछ भाग पर मल्लिकार्जुन, येल्लया, आर्यभट, मम्मट और तम्मया की टीकाए थी। सिद्धान्तकार दोनो आर्यभटो में से एक की भी किसी भी सूर्यसिद्धान्त पर टीका होना असम्भव प्रतीत होता है। अत ये टीकाकार आर्यभट उन दोनो से भिन्न कोई तृतीय व्यक्ति होगे।

बापूदेव शास्त्री ने सन् १८६० में सूर्यसिद्धान्त का इगलिश अनुवाद किया था। वह बिब्लिओथिका इन्डिका में छपा है (न्यू सीरीज नम्बर १)। उसमे केवल मूल श्लोको का अनुवाद और कही-कही टिप्पणिया है। सूर्यसिद्धान्त का रेवरेन्ड बर्जेस (Rev Ebenzer Burjess) कृत अग्रेजी अनुवाद अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी की पुस्तक ६ सन् १८६० में छपा है और वह अलग छपा है। पहिले बर्जेस ने यह अनुवाद किया है और उस पर कुछ टिप्पणिया लिखी है। बाद मे प्रो० विटने ने विस्तृत टिप्पणिया की है। इस पुस्तक की टिप्पणियो से सम्बन्ध रखने-वाले तथा अन्य प्रकार के सब मतो का उत्तरदायित्व प्रो० विटने ने अपने ऊपर लिया है। हिन्दुओ ने ज्योतिष ग्रीक लोगो से लिया है, यह विटने का मत है[2] और बर्जेस के मतानुसार ग्रीको ने ज्योतिष हिन्दुओ से लिया है। उन्होने अपना मत ग्रन्थ के अन्त में अलग लिखा है।

प्रक्षेप

रङ्गनाथ ने ग्रहयुत्यधिकार के २३ वें श्लोक के आगे टीका मे एक श्लोकार्ध लिखा है। उसे वे प्रक्षिप्त बताते है। लिखते है कि यह श्लोकार्ध सब पुस्तको में नही मिलता, इसलिए मैंने इसकी टीका नही की है। इसी प्रकार शृङ्गोन्नति अधिकार के १३ श्लोको के बाद आगे के दो श्लोकों की टीका तो की है, परन्तु उनके विषय में लिखा है कि ये दोनों श्लोक असगत है, इनमें बतलायी हुई रीति अशुद्ध है और लल्ल के 'धीवृद्धिद-तन्त्र' पर विश्वास रखनेवाले किसी सुबुद्धिमन्यने इन्हें प्रक्षिप्त कर दिया है। त्रिप्रश्ना-धिकार के पाचवें, छठे, सातवे और आठवें श्लोको के विषय मे लिखा है कि इन्हें कोई प्रक्षिप्त कहे, यह नही हो सकता। इससे ज्ञात होता है कि उस समय इन चारो श्लोको को प्रक्षिप्त कहनेवाला समुदाय या टीकाए थी। 'ज्योतिष्दर्पण' नाम के मुहूर्तग्रन्थ में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के मध्यमाधिकार और मानाध्याय के लगभग १९ श्लोक है।

[1] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २७८ देखिए।

[2] विटने का मरणकाल ई० स० १८९४ है।

वे आधुनिक ग्रन्थ से मिलते हैं परन्तु उनमें आगे-पीछे के श्लोक रहते हुए बीच मे ३ श्लोक ऐसे हैं जो कि आधुनिक रङ्गनाथीय टीका की पुस्तक में नही मिलते और उनमे कोई पूर्वापर विरोध नही है।

प्रसार

सूर्यसिद्धान्तोक्त भगणादि मानो को स्वीकार करनेवाले करणादि ग्रन्थ तथा उनकी जो टीकाए ऊपर बतलायी गयी उनके रचयिताओ मे ग्रहलाघवकार और उनके पिता केशव कोकण प्रान्त के हैं। भास्वतीटीकाकार माधव कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौज के निवासी हैं। मकरन्दकार काशीस्थ हैं। आर्यभटीय के टीकाकार परमादीश्वर मलाबार प्रान्त के मालूम होते हैं। ज्योतिषदर्पणकार कोडपल्ली के हैं। यह ग्राम कही कर्नाटक प्रान्त में है। ग्रन्थ द्वारा इसका उत्तर अक्षाश १६।४३ आता है। वार्षिकतन्त्रकार विद्दण कार्नाटक हैं। दाविलाल तैलगण के हैं। येल्लया इत्यादि टीकाकार तैलगण मालूम होते हैं। रङ्गनाथ और विश्वनाथ दोनो की टीकाए काशी में बनी हैं। दादाभाई दक्षिण कोकण के हैं। रामविनोद ग्रन्थ अकबर के समय दिल्ली मे बना है। इससे मालूम होता है कि शक की १३ वी शताब्दी से १५ वी पर्यन्त सूर्यसिद्धान्त का प्रसार प्राय भारतवर्ष के सभी प्रान्तो में था। यद्यपि यह समय बहुत प्राचीन नही है, तथापि सूर्यसिद्धान्त भास्कराचार्य के समय और उसके पहिले भी सर्वमान्य था। दूसरी बात यह कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, नवीन करणग्रन्थ बनते जाते हैं और प्राचीन करण गणित मे सर्वदा उपयुक्त न होने के कारण लुप्त हो जाया करते हैं। इसलिए शके १२२० के पूर्व भी आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार बने हुए करणग्रन्थ रहे होगे, पर उनका लोप हो गया होगा।

शब्दयोजना

ज्योतिषग्रन्थो में तीन के अर्थ में राम, नव के अर्थ में नन्द और चौबीस के अर्थ मे जिन या सिद्ध शब्द अनेको स्थानो मे मिलते हैं, परन्तु सूर्यसिद्धान्त के विषय मे यह एक बडी आश्चर्यजनक बात है कि उसका रचनाकाल कृतयुग का अन्त बतलाया है, तदनुसार कृतयुग के बाद राम, नन्द और जिन के वाचक शब्द सख्या का बोध कराने के लिए उसमे कही भी नही आये हैं और ग्रहोके जो नाम यावनी भाषा के माने जाते हैं उनमे से उसमे एक भी नही आया है, परन्तु लिप्ता या लिप्तिका (स्पष्टाधिकार ४५, ६४, ६५, ६६) होरा (भूगोलाध्याय १९) और केन्द्र (स्पष्टाधिकार २९, ४५) शब्द जो कि ग्रीक भाषा के समझे जाते हैं उसमें हैं। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त मूल सूर्यसिद्धान्त और अन्य चार सिद्धान्तो में ये शब्द थे या नही, यह जानने का कोई साधन नही है क्योकि वराहमिहिर ने उन सिद्धान्तो का मूलस्वरूप नही लिखा है।

बीज

मकरन्द मे सूर्यसिद्धान्तोक्त ग्रहादिको मे निम्नलिखित बीजसंस्कार दिया गया है।

ग्रह इत्यादि	महायुग मे			ग्रह इत्यादि	महायुग मे	
	भगणो मे बीजसंस्कार	बीजसंस्कृत-भगण			भगणो मे बीजसंस्कार	बीजसंस्कृत-भगण
सूर्य	० भगण	४३२००००		बुध	−१६ भगण	१७९३७०४४
चन्द्र	० ,,	५७७५३३३६		गुरु	−८ ,,	६३४२१२
चन्द्रोच्च	−४ ,,	४८८१९९		शुक्र	−१२ ,,	७०२२३६४
चन्द्रपात	+४ ,,	२३२२४२		शनि	+१२ ,,	१४६५८०
मंगल	० ,,	२२९६८३२				

सूर्य के सम्बन्ध मे अन्य ग्रहो के स्थान लाकर उनकी तुलना करने की बेंटली की रीति द्वारा प्रो० विटनी ने इस बीज का समय सन् १५४१ (शके १४६३) निश्चित किया है[1] परन्तु यह स्पष्ट है कि इसका समय शके १४०० से पूर्व है। रङ्गनाथ, नृसिहदैवज्ञ और विश्वनाथ ने अपनी टीकाओ में इसकी चर्चा नही की है, पर उन्हें यह मालूम अवश्य रहा होगा, क्योकि उनके समय मकरन्द सर्वत्र प्रसिद्ध था। मूलग्रन्थ में न होने के कारण उन्होने नही लिखा होगा। रामविनोद (शके १५१२) करण में यह सस्कार दिया हुआ है। उसमें भगणसख्याएँ उपर्युक्त ही है, परन्तु चन्द्रोच्च और बुध के सस्कार धनात्मक है। मेरी देखी हुई पुस्तक (डे० का० स० न० २०४ सन् १८८३।४) के लेखक का यह कदाचित् प्रमाद हो सकता है। शेष बातें समान है। वार्षिकतन्त्र नामक ग्रन्थ में भी प्राय इसके समान ही बीजसस्कार है। वह आगे उस ग्रन्थ के वर्णन मे लिखा जायगा।

रङ्गनाथ ने लिखा है कि कुछ पुस्तको के मानाध्याय (अन्तिम अध्याय) मे आधुनिक ग्रन्थ का २२ वा श्लोक नही है। उसके आगे के श्लोक है। मानाध्याय की समाप्ति के बाद बीजोपनयन नाम का अध्याय है। उसमें २१ श्लोको के बाद उपर्युक्त मानाध्याय का २२ वा श्लोक है। इसके बाद मानाध्याय के ४ श्लोक लिखकर ग्रन्थसमाप्ति की गयी है। रङ्गनाथ ने २१ श्लोको के बीजोपनयनाध्याय को प्रक्षिप्त कहा है और उसकी टीका नही की है। केवल मूल श्लोक लिखे है। वे श्लोक विश्वनाथी टीका मे भी है। उनमे ग्रहो और मन्दशीघ्रपरिध्यशो के लिए बीजसस्कार बताया है।[2] बीज लाने की रीति से सिद्ध होता है कि वह कलियुगारम्भ मे शून्य था। उसके बाद ९०००० वर्षो तक क्रमश बढता जाता है और फिर उतने ही वर्ष पर्यन्त घटता रहता है अर्थात् आरम्भ से १८०००० वर्षो बाद फिर शून्य हो जाता है। एक वर्ष मे मध्यमग्रहो में निम्नलिखित विकलात्मक बीजसस्कार आता है।

सूर्य	+	$\frac{१}{७५०}$	गुरु	—	$\frac{३०}{७५०}$
चन्द्र	—	$\frac{३}{७५०}$	शुक्रशीघ्र	—	$\frac{१०}{७५०}$
मगल	+	$\frac{२४}{७५०}$	शनि	+	$\frac{९}{७५०}$
बुधशीघ्र	—	$\frac{२२}{७५०}$			

इसमे रवि का बीज $\frac{१}{७५०}$ विकला धन होने के कारण वर्षमान लगभग ५ प्रतिविपल कम हो जायगा अर्थात् असस्कृत वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ बीज से सस्कृत

[1] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २० देखिए।

[2] इन श्लोको में संख्या बतलाने के लिए 'राम' और 'जिन' शब्द आये है।

होने पर ३६५।१५।३१।३१।१९ हो जायगा। यह बीज मुझे किसी भी करणग्रन्थ में नहीं मिला।

प्रमेय

हमारे ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थों में बतलाया हुआ ज्ञान सब तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में भुवनसंस्था और आकाशस्थ ज्योतियों की गति के कारण इत्यादि होंगे। द्वितीय में किसी विशिष्टकाल में ग्रहों की मध्यमगति और किसी इष्ट समय उनकी मध्यमस्थिति तथा तृतीयभाग में उनकी स्पष्टगति और स्पष्ट-स्थिति अर्थात् मध्यममान से जो स्थिति आती है उसमें कुछ अन्तर पड जाने के कारण आकाश में उससे भिन्न दिखाई देनेवाली प्रत्यक्ष स्थिति होगी। अन्तर पडने के कारण और किसी इष्ट समय उस अन्तर का प्रमाण लाने के उपकरण और गणित तृतीय भाग में ही आवेगी। इस प्रकार तीन भागों में सब प्रमेय आ जायगे। इसलिए मैं ज्योतिषशास्त्र की जिस शाखा को Physical Astronomy कहते हैं उसके बहुत से विषयों की गणना हम प्रथम विभाग अर्थात् भुवनकोश में करते हैं। इस शाखा का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उपर्युक्त तीन भेदों में से दूसरे और तीसरे प्रकार के उसमें भी विशेषत तीसरे प्रकार के ज्ञानों की वृद्धि होती जाती है, परन्तु यूरोपियन ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में जैसे कोपर्निकस के समय से अनेकों महत्त्व-शाली आविष्कार होते गये वैसे हमारे देश में कुछ भी नहीं हुआ। इसलिए सृष्टि-संस्थातत्त्व का इतिहास जैसे यूरोपियन ज्योतिष में एक महत्त्व का विषय समझा जाता है वैसे भारतीय ज्योतिष में नहीं। यहा के सब ग्रन्थों के मत प्राय समान हैं और उनमें कोई संशोधन नहीं हुआ है, अत उपर्युक्त प्रथम प्रकार के हमारे ग्रन्थों के प्रमेयों को एक ही जगह लिखना ठीक होगा। उनमें से कुछ बातें उपोद्घात में लिखी जा चुकी हैं, कुछ आगे लिखी जायगी। दूसरे भेद के विषय प्रत्येक सिद्धान्त में भिन्न-भिन्न हैं। उनका विवेचन वे जहा के हैं उसी प्रकरण में किया गया है। तीसरे भेद की कुछ बातें सृष्टिसंस्था के विवेचन में और शेष स्पष्टाधिकार में लिखी जायगी। वे भी सब सिद्धान्तों में प्राय सरीखी ही हैं, अत उन सबका स्पष्टाधिकार में एकत्र विचार करना ठीक होगा। जहा सिद्धान्तों में कोई मतभेद है वहा तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना अच्छा होगा। इस प्रकार सब सिद्धान्तो के प्रमेयो का विवेचन हो जायगा।

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्त और इस प्रकरण के पाच सिद्धान्तो के भगणादि मान ऊपर लिखे हैं। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सिद्धान्तो द्वारा लायी हुई मध्यम ग्रहो की स्थिति की यूरोपियनग्रन्थागत ग्रहस्थिति से तुलना भी पहिले कर चुके हैं।

सूर्यसिद्धान्तादि वर्तमान पाच सिद्धान्तो द्वारा लाये हुए मध्यमग्रहो की यूरोपियन ग्रन्थो से लाये हुए ग्रहो से तुलना आगे आर्यभट के वर्णन मे करेगे।

सोमसिद्धान्त

चन्द्रमा ने शौनकऋषि को जो सिद्धान्त सिखलाया उसे सोमसिद्धान्त कहते है। इस सिद्धान्त के अहर्गणानयन मे पहिले सृष्ट्यारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त वर्षसख्या लायी गयी है। उसमे वर्तमान कलियुग के आरम्भ से इष्टवर्ष पर्यन्त की वर्ष-सख्या मिलानी पडती है। इमसे मालूम होता है, यह सिद्धान्त कलियुग मे बना है। इसका वास्तव समय ऊपर निश्चित किये हुए सूर्यसिद्धान्तकाल के तुल्य या उससे कुछ अर्वाचीन है। इसमे १० अध्याय और ३३५ अनुष्टुप् श्लोक है।

उपर्युक्त 'ज्योतिपदर्पण' नामक ग्रन्थ मे सोमसिद्धान्त का एक श्लोक मिलता है और एक श्लोक सूर्यसिद्धान्त की रङ्गनाथकृत टीका मे भी है। सिद्धान्ततत्वविवेककार कमलाकर ने निम्नलिखित श्लोक में सोमसिद्धान्त का उल्लेख किया है।

> ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगुर्यच्छौनकायामलम्।
> माण्डव्याय वसिष्ठसज्ञकमुनि सूर्यो मयायाह यत् ॥६५॥
>
> भगणमानाध्याय।

इसके मध्यमाधिकार मे 'गार्ग्यश्लोकौ' कहकर अग्रिम श्लोक लिखे है—

> अथ माहेश्वरायुष्ये .....ब्रह्मणोऽधुना।
> सप्तमस्य मनोर्याता द्वापरान्ते गजाश्विन ॥२८॥
> खचतुष्केभनागार्थशररन्ध्रनिशाकरा. १९५५८८०००० ।
> सृष्टेरतीता सूर्याब्दा वर्तमानात्कलेरथ॥

ये ही श्लोक रोमशसिद्धान्त मे भी 'गर्ग' कहकर लिखे है। उसमे प्रथम श्लोक का पूर्वार्ध 'परार्धप्रथमाहेस्मिन्नायुषोब्रह्मणोधुना' इस प्रकार है।

इस सिद्धान्त मे 'नन्द' शब्द एक जगह आया है। पहिले बता चुके है कि यह वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के बिलकुल समान है।

वसिष्ठसिद्धान्त

सम्प्रति दो वसिष्ठसिद्धान्त उपलब्ध है। मूलतत्त्वो मे किसी प्रकार का भेद न होते हुए भी दोनो के स्वरूप भिन्न है। उनमे से एक काशी मे छपा है। उसमे ५ अध्याय और सब मिलाकर अनुष्टुप् छन्द के ९४ श्लोक है। उसके आदि और अन्त में लिखा है

कि वसिष्ठ ने माण्डव्य ऋषि से यह सिद्धान्त कहा था। यह ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में भगणादि मानों के रहते हुए भी ग्रहों के कक्षामान अलग लिखे रहते हैं, पर इसमें केवल कक्षामान ही लिखे हैं। उनके द्वारा युगीय ग्रहभगणसंख्या लानी पडती है और वह सूर्यसिद्धान्तोक्त भगणसंख्या में मिलती है। कुछ विषयों का अभाव होने के कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण भी है। इसमें युगीय सावनदिवससंख्या[1] नहीं बताया है। अहर्गण का आरम्भकाल भी नहीं बताया है। उत्क्रमज्याओं का उपयोग तो बतलाया है, पर उनके मान नहीं लिखे हैं।[2] मन्दोच्च और पातों के विषय में केवल इतना ही लिखा है कि—

> मन्दोच्चपातभगणाननुपपत्यानयेद्युगे।
> यत्र मन्दफलं शून्यं मन्दोच्चस्थानमुच्यते ॥२१॥
> याम्यकेन्द्रफलं शून्यं पातस्तत्र विनिर्दिशेत् ॥—मध्यमाधिकार।

अर्थात् गणित करनेवाले को उच्च और पात वेध द्वारा लाने चाहिए। इसका अभिप्राय तो इस कथन सरीखा ही होता है कि "उसे नवीन सिद्धान्तग्रन्थ बनाना चाहिए।" कर्ण लाने की रीति बतलायी है, पर वह अपूर्ण है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, छायाधिकार (त्रिप्रश्न), प्रकीर्ण और भूगोल ये केवल पांच अध्याय हैं। प्रकीर्णाध्याय में ग्रहों का दिग्दर्शनमात्र कराया है। छायाधिकार भी संक्षिप्त ही है। स्पष्टाधिकार में आधुनिक सूर्यसिद्धान्त का एक श्लोक है। उसमें अहर्गणारम्भ लङ्का की आधीरात से बताया है। इस बात से भी इसका सूर्यसिद्धान्त से साम्य सिद्ध होता है। इसमें राम, नन्द और सिद्ध शब्द आये हैं।

भिन्न-भिन्न वसिष्ठसिद्धान्त

रङ्गनाथ ने इसका एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है और उसे लघुवसिष्ठसिद्धान्त का बतलाया है। इसी प्रकार ग्रहण के सम्बन्ध में एक श्लोक वृद्धवसिष्ठसिद्धान्त के नाम से लिखा है। पता नहीं चलता, रङ्गनाथ के समय वसिष्ठसिद्धान्त से भिन्न कोई वृद्धवसिष्ठसिद्धान्त भी था या नहीं। उन्होंने ग्रहण विषयक जो श्लोक उद्धृत किया है, वह अनुष्टुप् नहीं बल्कि उपजाति छन्द का है। कमलाकर ने जिस वसिष्ठसिद्धान्त का उल्लेख किया है वह लघुवसिष्ठसिद्धान्त ही ज्ञात होता है।

[1] डे० का० स० की प्रति में नक्षत्रभ्रमसंख्या लिखी है। उसके द्वारा लाये हुए सावन दिन भिन्न आते हैं।

[2] क्रमज्याओं के मान लिखे हैं। उनके द्वारा उत्क्रमज्याएं लायी जा सकती हैं।

दूसरे वसिष्ठसिद्धान्त मे जो कि डेक्कन कॉलेज के सग्रह में है केवल सृष्टिसस्था और ग्रहो की कक्षाए लिखी है अर्थात् उसमें केवल मध्यमाधिकार ही है। सिद्धान्तग्रन्थो के अन्य अधिकार उसमे बिलकुल नही है। श्लोक सभी अनुष्टुप् छन्द के है। अन्त मे लिखा है 'वृद्धवसिष्ठप्रणीतगणितस्कन्धे विश्वप्रकाशे'। इसके आगे लिखा है 'कक्षाध्यायश्चतुर्थ'। पता नही चलता अन्य तीन अध्याय कहा समाप्त हुए है। इससे यह ग्रन्थ अपूर्ण सिद्ध होता है। आरम्भ में लिखा है कि 'वसिष्ठ ने यह सिद्धान्त वामदेव से कहा।' माण्डव्य का नाम नही है।

रोमशसिद्धान्त

विष्णु ने वसिष्ठ और रोमश से इस सिद्धान्त का वर्णन किया था। पहिले इस अर्थ के सूचक श्लोक लिखे जा चुके है। इसमे ११ अध्याय और सब मिलकर अनुष्टुप् छन्द के ३७४ श्लोक है। भगणमानादि विषयो मे इसका सूर्यसिद्धान्त से पूर्ण साम्य है। इस सिद्धान्त के श्लोको का उल्लेख हमे अन्य किसी ग्रन्थ मे नही मिला। इसमें 'नन्द' और 'सिद्ध' शब्द आये है। मगल के लिए 'आर' शब्द केवल एक बार आया है। नदियो के नामो मे 'कृष्णवेण्या' नाम आये है। अत: इसका रचयिता कदाचित् दाक्षिणात्य हो सकता है।

शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त

इसमें ६ अध्याय और ७६४ श्लोक है। ब्रह्मा ने नारद से इसका वर्णन किया था। इसके मूल श्लोको में शाकल्य का नाम कही नही है, पर प्रत्येक अध्याय केअन्त मे लिखा है 'शाकल्यसहिताया द्वितीयप्रश्ने ब्रह्मसिद्धान्ते'। यह बात हमारे सुनने में नही आयी है कि शाकल्यसहिता के अन्य प्रश्न भी सम्प्रति उपलब्ध है। रङ्गनाथ की टीका मे इस ग्रन्थ के अनेको वाक्य भिन्न-भिन्न प्रसगो मे आये है। वाक्य लिखते समय उन्होने कही 'शाकल्योक्ते' और कही-कही 'ब्रह्मसिद्धान्ते' लिखा है। सिद्धान्ततत्त्वविवेक मे भी 'ब्रह्मा प्राह च नारदाय हिमगु इत्यादि' श्लोक में इस सिद्धान्त का उल्लेख है। उसमें इसके कुछ अन्य श्लोक भी आये है।

इसके भगणादि मान सर्वथा सूर्यसिद्धान्त सरीखे है और वे पहिले ही लिख दिये गये है। अन्य सिद्धान्तो की भाँति इसमे मध्यम स्पष्ट और त्रिप्रश्न प्रभृति अधिकार पृथक्-पृथक् नही है। कई अधिकारो के विषय एक ही एक अध्यायो मे है और ६ अध्यायो मे सिद्धान्त के प्राय सभी विषय आ गये है। इतना ही नही, धर्मशास्त्रसम्बन्धी भी कुछ बातें जो कि अन्य सिद्धान्तग्रन्थो मे नही पायी जाती, इसमें है। तृतीयाध्याय में सूर्य और चन्द्रमा के क्रान्तिसाम्य (महापात) का विचार किया है। वही तत्कालीन

स्नानदानादि का माहात्म्य वतलाते हुए प्रसगवशात् धर्मशास्त्रसम्बन्धी विपयो का आरम्भ हुआ है जो कि ३४ वें श्लोक से अध्यायसमाप्ति पर्यन्त है अर्थात् १३८ श्लोको में केवल इसी विपय का विवेचन किया है। उसमे सक्रान्तिपुण्यकाल, तिथिगण्डान्त तथा प्रदोषव्यापिनी, मध्याह्न-व्यापिनी और पूर्वविद्धा तिथिया कहा-कहा लेनी चाहिए इत्यादि विपयो का विचार किया है और एकादशी, श्राद्ध, याग, उपाकर्मादि कर्म-विशेप तथा गणेशचतुर्थी प्रभृति तिथिविशेप का कालनिर्णय है।

प्रथमाध्याय मे ज्योतिपशास्त्र के निम्नलिखित उत्पादक वतलाये हे—

'एतच्च मत्त शीताशो पुलस्त्याच्च विवस्वत ।
रोमकाच्च वसिष्ठाच्च गर्गादपि वृहस्पते ॥९॥
अष्टधा निर्गत शास्त्र ..'

यहा 'मत्त' शब्द का प्रयोग इस ब्रह्मसिद्धान्त के उद्देश्य से ही किया गया है। गर्ग और वृहस्पति के केवल सहिताग्रन्थ प्रसिद्ध है। शेप सोम, पुलस्त्य, सूर्य, रोमक और वसिष्ठ के सिद्धान्तग्रन्थ प्रसिद्ध ही है। पौलिशसिद्धान्त ही पुलस्त्य का सिद्धान्त है। इस ग्रन्थ मे 'पौलिश' नाम से भी दो-तीन जगह उसका उल्लेख है। प्रथमाध्याय मे एक स्थान मे लिखा है—

तस्मात्पञ्चसु सिद्धान्तेपूक्तमार्गोवधार्यताम् ॥९०॥

सूर्य, सोम, रोमश और पौलिश नामो का उल्लेख और भी दो-तीन जगह मिलता है, अत यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त सूर्य, सोमादि सिद्धान्तो के बाद वना है। इसका ठीक समय वताना तो कठिन है, परन्तु निम्नलिखित आधार पर अनुमान होता है कि यह शके ७४३ के पश्चात् वना होगा।

इसके प्रथमाध्याय में लिखा है—

'प्रमाथि प्रथम वर्प सौर कल्पस्य सर्वदा ॥३७॥'

वार्हस्पत्य मान से प्रभवादि ६० सवत्सरो की गणना वहुत से ज्योतिप ग्रन्थों में मिलती है, परन्तु सौरमान की पद्धति का उल्लेख केवल इसमे, रोमश-सिद्धान्त मे तथा भटोत्पल की टीका मे ही है। उसमें भी सौरमान से कल्प का प्रथम वर्प प्रमाथी केवल इसी सिद्धान्त मे माना है। इस प्रकार सर्वदा शक में १२ जोडने से सवत्सर आता है। आजकल नर्मदा के दक्षिण देशो मे सवत्सर वार्हस्पत्यमान से नही मानते। वहा सौरमान का ही प्रचार है। सौरमान से शक मे १२ जोडने पर सवत्सर आता है, परन्तु वार्हस्पत्यमान मे लगभग ८५ वर्पो में एक सवत्सर का लोप होता है, अत शक मे हमेशा नियमित अङ्क जोडने से वार्हस्पत्यसवत्सर नही आवेगा। शके ७४३ के पहिले १२ से

कम जोडना पडता था। शके ७४३ से ८२७ पर्यन्त १२ जोडते थे। प्रत्येक ८५ वर्ष के पर्यय मे एक-एक अङ्क बढाते जाना चाहिए अर्थात् १३, १४ इत्यादि जोड़ते जाना चाहिए। कुछ ताम्रपट्टादि प्राचीन लेखो द्वारा पता चलता है कि शके ७४३ के पूर्व उत्तर भारत की भाँति दक्षिण मे भी बार्हस्पत्यसवत्सर मानने की पद्धति थी, परन्तु शके ७४३ से ८२७ पर्यन्त १२ ही जोडते थे। हम समझते है तभी से दक्षिण में सौरसवत्सर का प्रचार हुआ होगा। आगे सवत्सरविचार मे इस विषय का सविस्तर विवेचन किया जायगा।

चूँकि इस सिद्धान्त में कल्प का प्रथमवर्ष प्रमाथी माना गया है अर्थात् शक मे १२ जोडकर सवत्सर लाया गया है, अत इसका रचनाकाल शके ७४३ के पश्चात् होगा। इससे प्राचीन नही हो सकता। यह बात बिलकुल नि सन्देह है।

इस ग्रन्थ में एक विशेष बात सप्तर्षियो का शरभोग है जो कि अन्य सिद्धान्तो मे नही पाया जाता।

प्रथम आर्यभट

नाम

इन्होने 'आर्यभटीय' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। उपलब्ध ज्योतिषग्रन्थो मे यह सबसे प्राचीन है। ये स्वय तो अपने ग्रन्थ को आर्यभटीय ही कहते है, पर अन्य बहुत से ज्योतिषियो ने उसे 'आर्यसिद्धान्त' कहा है और ऐसा कहना ठीक भी है। एक और आर्यभट इनके बाद हुए है। उनके भी ग्रन्थ का नाम आर्यसिद्धान्त ही है, इसलिए मैंने समझने मे सुभीता होने के लिए इन्हे प्रथम आर्यभट और इनके सिद्धान्त को प्रथम आर्यसिद्धान्त कहा है[1]।

इस सिद्धान्त के मुख्य दो भाग है। प्रथम मे गीति छन्द के १० पद्य है। अन्य सिद्धान्तो के मध्यमाधिकार मे बतलायी जानेवाली प्राय सभी बाते अर्थात् ग्रहभगण-सख्या इत्यादि मान इन १० पद्यो मे पठित है। इस भाग को दशगीतिक कहते है।

द्वितीय भाग मे तीन प्रकरण है। उसमे अन्य सिद्धान्तो के अन्यान्य विषय है। उसमे आर्या छन्द के १०८ पद्य है, इसलिए उसे आर्याष्टशत कहते है। कोई-कोई इन दो भागो को दो ग्रन्थ मानते है। इसके टीकाकार सूर्ययज्वन् ने दोनो को दो प्रबन्ध कहा है। दोनो के आरम्भ मे दो भिन्न-भिन्न मगलाचरण है। कदाचित् इसी कारण किसी ने

[1] आगे यदि कहीं प्रथम या द्वितीय विशेषण बिना आर्यभट या आर्यसिद्धान्त का नाम आये तो उसे प्रथम ही समझना चाहिए।

इन्हे दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ मान लिया हो, परन्तु ये अन्योन्याश्रित है और एक के विना दूसरा विलकुल निरुपयोगी कहा जा सकता है। अत इन्हें एक ही ग्रन्थ मानना ठीक होगा। आर्यभट का उद्देश्य भी ऐसा ही दिखाई देता है। उन्होने प्रथम भाग का कोई भिन्न नाम नही रखा है और न तो उसके अन्त में उपसहार किया है। उपसहार केवल ग्रन्थ की समाप्ति में है और वहा आर्यभटीय नाम लिखा है। ग्रन्थ में सब मिलकर चार प्रकरण है। ग्रन्थकार स्वय उन चारो को पाद नही कहते, पर उन्हें पाद कहने की रूढि है। दशगीतिक को यदि भिन्न ग्रन्थ मानते है तो एक पाद उसमे चला जाता है और शेष तीन बच जाते है। उन्हे द्वितीय भाग का पाद (चतुर्थांश) कहना ठीक नही है। साराश यह कि दशगीतिक और आर्याष्टाशत दोनों को एक ही ग्रन्थ मानना उचित है। दशगीतिक मे १० के अतिरिक्त दो पद्य और है। एक मे मगलाचरण और दूसरे मे सख्या-परिभाषा है। इस प्रकार ग्रन्थ मे सब १२० पद्य है। आर्याष्टाशत शब्द भ्रामक है। इसके विषय में कुछ यूरोपियन विद्वानो की यह धारणा हो गयी थी कि इसमें ८०० आर्याए है। सन् १८७४ में हालैण्ड के लेडेन नामक स्थान मे डा० केर्न ने परमादीश्वरकृत भटदीपिका टीकासहित यह आर्यसिद्धान्त छपवाया है। इसके पहिले यूरोपियन विद्वानो को इसकी जानकारी कम थी।

तीन पक्ष

आजकल हमारे देश मे ग्रहगणितग्रन्थो के सौर, आर्य और ब्रह्म ये मुख्य तीन पक्ष माने जाते है। प्रथम पक्ष का मूलग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त, द्वितीय का आर्यसिद्धान्त और तृतीय का ब्रह्मसिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न तीन पक्ष होने का कारण यह है कि इनके वर्ष-मान एक दूसरे से कुछ भिन्न है और किसी कालसम्बन्धी—उदाहरणार्थ कल्प या महा-युगसम्बन्धी ग्रहादिको की गति प्रत्येक मे भिन्न है। तीनो पक्षो की और उनके अनु-यायी सब ग्रन्थो की शेष सभी बातें समान कही जा सकती है। पक्षविशेष का अभि-मान कब उत्पन्न हुआ, यह आगे यथाप्रसग बतलाया जायगा।

आर्यसिद्धान्त और आर्यपक्ष शब्द तो हमारे देश में प्रसिद्ध है, पर आज प्रत्यक्ष आर्यसिद्धान्त ग्रन्थ विशेषत किसी को ज्ञात नही है। हम समझते है महाराष्ट्र मे किसी भी प्राचीन ज्योतिषी के पास इसकी प्रति नही होगी। सम्प्रति आर्यपक्ष प्रचलित है और उसके अभिमानी भी बहुत है, पर मूल आर्यसिद्धान्त द्वारा उसका स्वरूप जानने वाले बहुत थोडे है।

अङ्कसंज्ञा

अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में एक के लिए भू, तीन के लिए राम और उसी प्रकार अन्य

भी बहुत से नामो का प्रयोग सख्याओ के लिए किया गया है, पर आर्यभट ने ऐसा न करके सख्याएँ अक्षरो द्वारा बतलायी है। उसका प्रकार यह है —

अ =	१	ए =	१००००००००००
इ =	१००	ऐ =	१००००००००००००
उ =	१००००	ओ =	१००००००००००००००
ऋ =	१००००००	औ =	१००००००००००००००००
लृ =	१००००००००		

क = १	च = ६	ट = ११	त = १६	प = २१
ख = २	छ = ७	ठ = १२	थ = १७	फ = २२
ग = ३	ज = ८	ड = १३	द = १८	ब = २३
घ = ४	झ = ९	ढ = १४	ध = १९	भ = २४
ङ = ५	ञ = १०	ण = १५	न = २०	म = २५

य = ३०	श = ७०
र = ४०	ष = ८०
ल = ५०	स = ९०
व = ६०	ह = १००

वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका मे सख्याएँ दिखलाने के लिए अन्य सिद्धान्तो की परिभाषा का ही ग्रहण किया है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यभट के पहिले भी वह प्रचलित थी और होनी ही चाहिए। आर्यभट ने सख्याएँ थोडे मे बतलाने के लिए इस पद्धति का उपयोग किया होगा और इसकी कल्पना भी उन्होंने ही की होगी क्योंकि यह अन्य किसी भी ग्रन्थ मे नही मिलती। इससे बहुत थोडे मे काम चल जाता है। सब ग्रहो के भगण बतलाने मे अन्य सिद्धान्तो मे प्राय ९ या १० श्लोक लगते है पर इसमे वे दो ही आर्याओ मे बतला दिये गये है। इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तो के मध्यमाधिकार मे प्राय ५० से ७० पर्यन्त श्लोक रहते है। इसमे वे प्राय सभी विषय यहा १० गीतिपद्यो मे ही पठित है। अत इस पद्धति द्वारा लिखे हुए दशगीतिक सूत्र कण्ठस्थ करने के लिए बडे सुभीते के है, परन्तु इसमे हित की अपेक्षा अनहित अधिक है। यहा इसका एक उदाहरण देते है। इससे इस पद्धति के स्वरूप और इससे होने वाली असुविधा का थोडे मे ज्ञान होगा। ग्रहभगणसम्बन्धी प्रथम आर्या का पूर्वार्ध इस प्रकार है —

"युगरविभगणा ख्युघृ शशिचयगियिङुशुछ्लृ [illegible]"

इसका अर्थ यह होता है कि महायुग में कु (पृथिवी) के १५८२२३७५०० परिवर्त होते है।[१] डा० केर्न की पुस्तक में 'वु' के स्थान में 'पु' पाठ है। पु का अर्थ होता है ८००००० जो कि वास्तविक सख्या से ५७०००० अधिक है। यहा 'वु' के स्थान में 'पु' आ जाने से इतनी अशुद्धि हुई।

ङि =	५००	ण्लृ =	१५०००००००००
शि =	७०००	ख्यृ =	८२००००००
वु =	२३००००	ङिशिवुण्लृख्यृ =	१५८२२३७५००

यह अशुद्धि है अत्यन्त ध्यानपूर्वक सशोधन करके छपायी हुई मुद्रित पुस्तक की[२] तो फिर हस्तलिखित पुस्तको में कितनी अशुद्धिया हो सकती है और वे परम्परया किस प्रकार बढती जाती है, इसे वही समझ सकेगा जिसे लिखित पुस्तको के अवलोकन के पर्याप्त प्रसग आये होगे। परम्परया प्रचलित व्याख्याए तथा अन्य ग्रन्थो की सगति प्रभृति साधन न होते तो यह ग्रन्थ कुछ समय बाद बिलकुल निरुपयोगी हो जाता।

ग्रहगतिभगण

अब यहा ग्रहभगणादिमान सम्बन्धी दोनो आर्याए और उनके अनुसार महायुगीय भगणादि सख्याए लिखते है।

युगरविभगणा ख्युघृ शशि चयगियिङु—
शुछ्लृ कु ङिशिवुण्लृख्यृप्राक्।
शनि ढुङ्विघ्व गुरुखिच्युभ कुजभद्लि—
झनुखृ भृगुवुधसौरा ॥१॥

चन्द्रोच्चज्रुष्खिध बुधसुगुशियन
भृगुजषबिखुछृ शेषार्का।
बुफिनच पातविलोमा बुधाह्लुध—
जार्कोदयाच्च लङ्कायाम् ॥२॥

[१] आर्यभट पृथ्वी में दैनन्दिन गति मानते है। इसलिए उन्होने भूभ्रमसख्या लिखी है। अन्य सिद्धान्तो में इसके स्थान में नक्षत्रभ्रमसख्या लिखी रहती है।

[२] यह अशुद्धि टीका द्वारा तो नहीं, पर उपपत्ति तथा अन्य ग्रन्थो के मेल इत्यादि का विचार करने से सहज ही ध्यान में आ जाती है, फिर भी डॉ० केर्न की भूल बहुत से विद्वानो को भ्रम उत्पन्न कर देगी।

भूभ्रम	१५८२२३७५००	गुरुभगण	३६४२२४
रविभगण	४३२००००	शुक्रभगण	७०२२३८८
सावनदिन	१५७७९१७५००	शनिभगण	१४६५६४
चन्द्रभगण	५७७५३३३६	सौरमास	५१८४००००
चन्द्रोच्चभगण	४८८२१९	अधिमास	१५९३३३६
चन्द्रपातभगण	२३२२२६	चान्द्रमास	५३४३३३३६
मगलभगण	२२९६८२४	तिथि	१६०३००००८०
बुधभगण	१७९३७०२०	क्षयाह	२५०८२५८०

वर्षमान—३६५ दिन १५ घटी ३१ पल १५ विपल

गुरु और बुध के भगणो को छोडकर इस आर्यसिद्धान्त के शेप सब भगण ऊपर लिखे हुए मूल सूर्यसिद्धान्तोक्त भगणो के जिनमे कि राहुभगण पठित नही है, समान है। ऊपर सिद्ध कर चुके है कि मूलसूर्यसिद्धान्त आर्यभट से प्राचीन है, अत आर्यभट ने गुरु और बुध को छोडकर शेप ग्रहो के भगण मूलसूर्यसिद्धान्त से लिये होगे और गुरुबुध के भगण अपने अनुभव द्वारा दृक्प्रतीति के अनुसार निश्चित किये होगे।

युगपद्धति

आर्यभट की युगपद्धति अन्यसिद्धान्तो से कुछ भिन्न है। दशगीतिका मे वे लिखते है —

> "काहो मनवो ढ १४ मनुयुगश्ख, ७२ गतास्तेच ६
> मनुयुगछ्ना २७ च। कल्पादेर्युगपादा ग ३ च गुरु—
> दिवसाच्च भारतात्पूर्वम् ॥३॥"

यहा एक मनु मे ७२ युग बतलाये है। अन्य सिद्धान्तो की तरह ७१ नही है। प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ मे सन्धि नही बतलायी है। इसमे कल्पादि से आरम्भ कर भारतीय गुरुवार[1] के पूर्व तक का समय बतलाया है। इससे और उपर्युक्त द्वितीय आर्या से ज्ञात होता है कि आर्यभट कलियुग का आरम्भ शुक्रवार को और उसके पहिले दिन गुरुवार मानते है, परन्तु उपर्युक्त द्वितीय आर्या मे उन्होने महायुगारम्भ[2] बुधवार

[1] भारतीय का अर्थ है महाभारतीय युद्ध। यहाँ इस शब्द का प्रयोग कलियुगारम्भ अर्थ में किया गया है।

[2] स्पष्ट महायुगारम्भ शब्द नहीं लिखा है, पर पूर्वापर सन्दर्भ और उपपत्ति द्वारा यही सिद्ध होता है।

के सूर्योदय में बतलाया है। महायुगारम्भ बुधवार को मानने से कलियुगारम्भ शुक्रवार को नहीं आता, परन्तु सब युगपाद समान मानने से इसकी ठीक संगति लगती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट 'कलियुग का दूना द्वापर' इत्यादि परिभाषा नहीं मानते थे, अपितु उनके मत में सब युगपाद समान थे। इस प्रकार उनके मतानुसार कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त १९८६१२०००० गतवर्ष होते हैं और कल्पारम्भ में गुरुवार आता है। अन्य सब सिद्धान्त द्वारा कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त १९७२९४४००० गतवर्ष[1] आते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि कुछ वर्ष कल्प का आरम्भ या सृष्टि की उत्पत्ति होने में लगे, उनके मतानुसार ग्रहप्रचार के आरम्भ में रविवार आता है। आर्यभट का यह जो अन्य सिद्धान्तों से मतभेद है उसके विषय में ब्रह्मगुप्त ने उनमें दोष दिखलाये हैं।[2]

न समा युगमनुकल्पा कल्पादिगतं कृतादि यातञ्च।
स्मृत्युक्तैरार्यभटो नातो जानाति मध्यगतिम् ॥१०॥

ब्रह्मगुप्त-सिद्धान्त, अ० ११।

इसमें ब्रह्मगुप्त ने यह भी कहा है कि आर्यभट के युग, मनु और कल्प स्मृतियों के अनुसार नहीं हैं। उनके और अन्य आचार्यों के महायुग समान हैं। उपर्युक्त सब ग्रहों की भगणसंख्याएं चार से कट जाती हैं, द्वितीय आर्या में महायुगारम्भ में सब ग्रह एकत्र बतलाये हैं, उनके मत में चारों युगपाद समान हैं और कल्पादि से आरम्भकर इस कृतादि पर्यन्त महायुगों की पूर्ण संख्याएं व्यतीत हुई हैं। अतः आर्यभट के मतानुसार कल्पारम्भ, प्रत्येक महायुगारम्भ और प्रत्येक युगपाद के आरम्भ में सब ग्रह एकत्र सिद्ध होते हैं। चूँकि इनके मत में कल्पारम्भ में सब ग्रह एकत्र आते हैं, इसलिए इन्हें 'सृष्टि की उत्पत्ति होने में कुछ वर्ष लगें', यह कल्पना नहीं करनी पड़ी। सब ग्रहों के उच्च और पातों के भगण इन्होंने नहीं लिखे, पर यदि लिखते तो कल्पारम्भ को ही ग्रहप्रचार का आरम्भ मान कर लिखते।

समय

इन्होंने अपने समय के विषय में लिखा है —

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥ —कालक्रियापाद।

[1] सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी वर्ष भी इसमें सम्मिलित हैं।

[2] उपर्युक्त प्रायः सभी बातें ब्रह्मगुप्त ने बतलायी हैं, पर मैंने केवल उन्हीं पर भरोसा न रखकर स्वयं गणित करके उन्हें जाँच लिया है।

इससे सिद्ध होता है कि तीन युगपाद और ३६०० वर्ष बीतने पर अर्थात् कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर अर्थात् शक ४२१ मे आर्यभट के वय के २३ वर्ष बीत चुके थे अर्थात् इनका जन्म शके ३९८ में हुआ। निम्नलिखित वर्षमान द्वारा भी जन्मशक यही निश्चित होता है और उससे उनके समय के विषय मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

वर्षमान

पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त मे वर्षमान ३६५।१५।३१।३० है और आर्य-सिद्धान्त मे ३६५।१५।३१।१५ अर्थात् उससे १५ विपल कम है। यह कमी ३६०० वर्षो मे १५ घटी तुल्य हो जाती है, परन्तु मूल (पञ्चसिद्धान्तिकोक्त) सूर्यसिद्धान्त मे कलियुगारम्भ गुरुवार की मध्यरात्रि को माना है और आर्यभट ने उससे १५ घटी बाद अर्थात् शुक्रवार के सूर्योदय मे माना है। अत कलियुग के ३६०० वर्ष बीतने पर अर्थात् शक ४२१ मे दोनो के अनुसार मध्यम मेषसक्रान्ति अर्थात् वर्षारम्भ एक ही समय होता है। इससे प्रकट होता है कि सूर्योदय मे युगारम्भ मानने के कारण जो १५ घटी का अन्तर पडा था उसी को दूर करने के लिए आर्यभट ने वर्षमान १५ विपल कम माना है।

स्थान

गणितपाद की प्रथम आर्या मे इन्होने लिखा है —

'आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चित ज्ञानम्।'

इससे इनका वसतिस्थान कुसुमपुर सिद्ध होता है। आजकल का विहार का पटना कुसुमपुर माना जाता है।

विषय

इस आर्यसिद्धान्त मे दशगीतिक, गणित, कालक्रिया और गोल नामक चार पाद है। दशगीतिक पाद मे ग्रहभगणादि मान है। गणितपाद मे अङ्कगणित (पाटीगणित), बीजगणित, भूमिति और त्रिकोणमिति सम्बन्धी कुछ विषय है। शेष दो पाद केवल ज्योतिष विषयक है। आजकल ज्योतिषशास्त्र प्रयुक्त-गणित (Applied mathematics) का विषय समझा जाता है। अत ज्योतिषशास्त्र विषयक ग्रन्थ मे शुद्धगणित (Pure mathematics) की सख्या गणित इत्यादि शाखाओ का समावेश असगत सा मालूम होता है, परन्तु ज्योतिषशास्त्र मे शुद्ध गणित की भी बार-बार आवश्यकता पडती है, अत इतने प्राचीन ग्रन्थ मे इन दोनो का समिश्रण अस्वाभाविक नही कहा जा सकता और यह सम्मिश्रण कुछ ही ग्रन्थो मे पाया भी जाता है। मूल

सूर्यादि सिद्धान्तों में था या नही, इसे निश्चित करने का सम्प्रति कोई साधन नहीं है, परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका मे नही है। वर्तमान सूर्य, सोमादि सिद्धान्तो मे भी नही है। इस आर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त और द्वितीय आर्यसिद्धान्त मे शुद्ध गणित भी है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्त मे व्यक्त (अङ्क) और अव्यक्त (बीज) गणितो का भी समावेश किया है और तदनुसार अपने 'लीलावती' और बीजगणित ग्रन्थो को उन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि का ही भाग कहा है तथापि वे दोनो स्वतन्त्र ग्रन्थ सदृश ही हैं। उनके कुछ लेखो से भी ज्ञात होता है कि उनके पहिले ही केवल बीज-गणित के स्वतन्त्र ग्रन्थ बन चुके थे। दोनों आर्यभट और ब्रह्मगुप्त ने यद्यपि बीजादि-गणितो का सग्रह सिद्धान्त में ही किया है, तथापि उन विषयों के अध्याय पृथक् हैं।

अब आर्यसिद्धान्त के गणितपाद के विषय थोडे मे बतलाता हूँ। गणितपाद की प्रथम आर्या मे मगलाचरण है। इसके अतिरिक्त इसमे ३२ आर्याएं और हैं। उनमे दशगुणोत्तर सख्याओ के नाम, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज, वृत्त और अन्य क्षेत्र, इनके क्षेत्रफल, घन, गोल, इनके घनफल, भुजज्यासाधन और भुजज्या सम्बन्धी कुछ विचार, श्रेढी, त्रैराशिक, भिन्नकर्म (अपूर्णांक), त्रैराशिक अथवा बीजगणित सम्बन्धी दो-एक चमत्कारिक उदाहरण और 'कुट्टक' इतने विषय हैं। टालमी और उनसे प्राचीन ग्रीक ज्योतिषियो को भुजज्या (Sines) का ज्ञान नही था। वे ज्या (Chords) का उपयोग करते थे। भारतीय ज्योतिष मे परिचित होने के पूर्व यूरो-पियन लोगो की यह धारणा थी कि ज्या को छोडकर भुजज्या (ज्यार्ध) का उपयोग सर्वप्रथम ईसवी सन् की नवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे प्रादुर्भूत अरब-ज्योतिषी अल-बटानी ने किया[1] परन्तु आर्यभट के इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि शक ४२१ मे हमे अर्ध-ज्याओ का ज्ञान था। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी अर्धज्याएं हैं। और भी एक उल्लेख-नीय बात यह है कि आर्यभट ने वृत्त के व्यास और परिधि का अत्यन्त सूक्ष्म गुणोत्तर बतलाया है। वह यह है —

> चतुरधिक शतमष्टगुण द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्।
> अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाह ॥१०॥
>
> गणितपाद।

इसमें २०००० व्यास के वृत्त की परिधि ६२८३२ बतलायी है अर्थात् व्यास से परिधि ३ १४१६ गुणित है और इसको भी इन्होने आसन्न (पास-पास) कहा है।

[1] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृ० ५६ देखिए।

पृथ्वी की दैनन्दिन गति

हमारे देश मे "पृथ्वी प्रतिदिन अपनी चारो ओर घूमती है अर्थात् उसमे दैनन्दिन गति है" इस सिद्धान्त को माननेवाले ज्योतिपी एक ये आर्यभट मात्र है। इन्होने लिखा है —

अनुलोमगतिर्नौस्थ· पश्यत्यचल विलोमग यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ।।

गोलपाद ।

भटप्रकाशिकाटीकाकार ने 'भानि कर्तृभूतानि अचलानि भूमिगतानि वस्तूनि कर्मभूतानि विलोमगानीव प्राची दिश गच्छन्तीव पश्यन्ति' कहते हुए आर्यभट के मत मे पृथ्वी का अचलत्व ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु आर्यभट ने भगणादि मानो मे नक्षत्रभ्रम न लिखकर भूभ्रम लिखे है और दशगीतिक की चतुर्थ आर्या मे लिखा है 'प्राणेनैति कला भू'। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी प्राण नामक काल परिमाण (पल का पष्ठाश) मे एक कला चलती है। इससे उनके मतानुसार पृथ्वी चल ही सिद्ध होती है। ब्रह्मगुप्तादिको ने भी उनके इस मत का खण्डन किया है। ब्रह्मगुप्त लिखते है :—

प्राणेनैति कला भूर्यदि तर्हि कुतो व्रजेत् कमध्वानम् ।
आवर्तनमुर्व्याश्चेन्न पतन्ति समृच्छ्र्या कस्मात् ।।

ब्रह्मसिद्धान्त, अध्याय ११।

भटप्रकाशिकाटीकाकार ने 'प्राणेनैति कला भू' के 'भू' के स्थान मे 'भ' (भमण्डल) पाठ मानकर टीका की है। 'अनुलोमगतिर्नौस्थ ' के बाद की आर्यभट की आर्या इस प्रकार है—

उदयास्तमयनिमित्त नित्य प्रवहेण वायुना क्षिप्त ।
लङ्कासमपश्चिमगो भपञ्जर सग्रहो भ्रमति ।।१०।।

गोलपाद ।

तथापि सब वचनो की सगति लगाते हुए विचार करने से यही निष्पन्न होता है कि आर्यभट पृथ्वी को चल मानते थे। वे पृथ्वी की केवल दैनन्दिन गति मानते थे। 'पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है' यह उनका सिद्धान्त नही मालूम होता[1]।

इस आर्यभटसिद्धान्त मे अन्य ग्रन्थो की भाँति अधिकार नही है, परन्तु उन अधि-

[1] Grant's History of Physical Astronomy (पृष्ठ २) में लिखा है—

कारो के बहुत से विषय हैं। चन्द्रशृङ्गोन्नति और भग्रहयुति अविकारो के विषय इसमे नही हैं। ब्रह्मगुप्त ने कहा भी है कि आर्यभटीय द्वारा चन्द्रशृङ्गोन्नति और छायादि का ज्ञान नही हो सकता। एक और भी बडी भारी न्यूनता यह है कि योगताराओ के भोग और शर जो कि अन्य सिद्धान्तों में हैं इसमे नही हैं। यदि वे होते तो आर्यभट का निश्चित समय ज्ञात होने के कारण ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे उनका बडा उपयोग हुआ होता, परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि आर्यभट के समय अथवा उनके पहिले यह विषय बिलकुल अज्ञात था। पञ्चसिद्धान्तिका मे नक्षत्रयोगताराओं के शरभोग का थोडा वर्णन है। अयनगति के सम्बन्ध मे जो कि अत्यन्त महत्व का विषय है, इसमे कुछ नही लिखा है।

यह आर्यसिद्धान्त अति संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त दुर्बोध नही है। इसमें प्रतिपादित विषय स्पष्ट समझ मे आने योग्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने उसे ज्योतिष के नित्य व्यवहार में उपयोगी बनाने की दृष्टि मे नही, बल्कि केवल सिद्धान्तभूत महत्त्व के विषयो का संग्रह करने के उद्देश्य से लिखा है। यद्यपि यह सत्य है कि नित्य व्यवहार में सिद्धान्त ग्रन्थो का नही, प्रत्युत करणग्रन्थो का उपयोग होता है परन्तु यह अन्य सिद्धान्तो की भाँति विस्तृत और सर्वविषयसम्पन्न भी नही है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त या सिद्धान्तशिरोमणि द्वारा गणित करने में करणग्रन्थो की अपेक्षा अधिक समय लगेगा, यह यद्यपि सत्य है, तथापि इनमें से किसी भी एक ग्रन्थ द्वारा काम चल सकता है। दूसरे के अभाव मे किसी प्रकार की अडचन नही होगी, परन्तु आर्यसिद्धान्त की ऐसी स्थिति नही है। उदाहरणार्थ—तिथि, नक्षत्र और करण लाने की रीति इसमें नही है। महापात का गणित बिलकुल नही है, परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि आर्यभट को महापात ज्ञात ही नही था। आर्यसिद्धान्त मे उसका उल्लेख है और यह निश्चित है कि आर्यभट तिथि, नक्षत्र, महापात इत्यादि सब कुछ जानते थे। इसी प्रकार कुछ अन्य भी ऐसे विषय हैं जो कि अन्य सिद्धान्तो में हैं और इसमे नही हैं।

"कहा जाता है कि साराक्यूज के निसिटस (Nicetas of Syracuse) का मत था कि पृथ्वी केवल अपने अक्ष पर घूमती है और ग्रीक देश के तत्वज्ञानी पिथ्यागोरस (Pythagoras) का मत था कि सूर्य विश्व का मध्य है और पृथिवी उसके चारो ओर घूमती है परन्तु उन्होंने अपने ये मत वेधादि द्वारा निश्चित किये थे और तदनुसार ग्रहस्थिति का गणित करने की कुछ रीतियाँ बनायी थीं, ऐसा नहीं मालूम होता। कदाचित् ये केवल उनकी कल्पनाएँ रही होगी।"

आर्यभटकरण

इससे अनुमान होता है कि आर्यभट का कोई करणग्रन्थ होना चाहिए। उपरोक्त दशगीतिकपाद की द्वितीय आर्या में उन्होंने दिनप्रवृत्ति सूर्योदय मे बतलाई है परन्तु वराहमिहिर का कथन है कि आर्यभट ने लकार्धरात्रि में भी दिनप्रवृत्ति बतलायी है। आर्यभटीय मे इस दिनप्रवृत्ति का उल्लेख कही नही है। ब्रह्मगुप्त ने भी आर्यभट के दोष-वर्णन के प्रसग मे इसकी चर्चा नही की है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय भी आर्यभटीय मे कोई ऐसी आर्या नही थी जिससे उक्त अर्थ निकलता हो। ब्रह्मगुप्त ने आर्यभटीय के दोनो भागो का उल्लेख भी 'दशगीतिक' और 'आर्याष्टाशत' शब्दो द्वारा ही किया है जिनमे उनकी श्लोकसख्याये स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले से जो आर्यसिद्धान्त प्रचलित है उसे किसी ने न्यूनाधिक नही किया है अत वराहमिहिर के लेखानुसार आर्यभट का अन्य कोई ग्रन्थ होना चाहिए जिसमे लका की अर्धरात्रि मे दिनप्रवृत्ति बतलायी हो। ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य और उसकी अरुणकृत टीका से भी यह अनुमान होता है कि आर्यभट का कोई करणग्रन्थ होना चाहिए परन्तु आज वह उपलब्ध नही है।

दोष

ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट में बहुत से दोष दिखलाये है। भिन्न भिन्न प्रकार के दोषो का वर्णन करते हुए वे अन्त मे लिखते है —

स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य।
सिद्ध तदस्फुटत्वं ग्रहणादीना विसवदति ।।४२।।
जानात्येक मपि यतो नार्यभटो गणितकालगोलानाम्।
न मया प्रोक्तानि तत पृथक् पृथग्दूषणान्येषाम् ।।४३।।
आर्यभटदूषणाना सख्या वक्तु न शक्यते. ।।

ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त, अध्याय ११

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय आर्यभट के ग्रन्थ द्वारा ग्रहणादिको का विसंवाद होता था अर्थात् उनका ठीक समय नही आता था। यह एक विचारणीय विषय है। यद्यपि ब्रह्मगुप्तकथित कुछ दोष सत्य है तथापि उनके लेखो में दुराग्रह का अश अधिक है।

ग्रन्थलोप

वे लिखते है—

"कालान्तरेण दोषा येऽन्यै. प्रोक्ता न ते मयाभिहिता.।"

परन्तु ब्रह्मगुप्त के पहिले के इस समय जो ग्रन्थ उपलब्ध है उनमें से एक में भी आर्यभट के दोषो का वर्णन नही मिलता। पञ्चसिद्धान्तिका मे केवल उनका नाम है। इससे ज्ञात होता है कि उनके पहिले के कुछ ग्रन्थ लुप्त हो गये होगे। उपरोक्त शक ४२० के पूर्व के ग्रन्थकारो के ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नही है।

योग्यता

ज्योतिषसिद्धान्तकारो की योग्यता जानने का एक मुख्य साधन उनके गन्थोद्वारा होने वाली दृक्प्रतीति है। ब्रह्मगुप्त ने लिखा है कि श्रीषेण और विष्णुचन्द्र ने मन्दोच्च, पात, परिधि और स्पष्टीकरण आर्यभटीय से लिये। लाटादिको के ग्रन्थ और मूल सूर्यादि पाच सिद्धातो के रहते हुये आर्यभटीय का सर्वत्र प्राधान्य स्थापित हो जाना तथा श्रीषेण और विष्णुचन्द्र का स्पष्टीकरण उसी से लेना स्पष्ट बतला रहा है कि उस समय औरो की अपेक्षा उससे अधिक दृक्प्रतीति होती थी। आर्यभट ने पूर्वाचार्यो से भिन्न बुध और गुरु के भगणो की स्वय कल्पना की, उनका मन्दशीघ्र वृत्तो का परिव्यश जो कि ग्रहस्पष्टीकरण का एक मुख्य अग है—पञ्चसिद्धान्तिका से भिन्न है (आगे स्पष्टाधिकार देखिये), वे स्वय लिखते है—

> क्षितिरवियोगाद्दिनकृद्रवीन्दुयोगात् प्रसाधितश्चन्द्र ।
> शशितारग्रहयोगात्तथैव ताराग्रहा सर्वे ॥४८॥
> सदसज्ज्ञानसमुद्रात् समुद्धृत देवताप्रसादेन ।
> सज्ज्ञानोत्तमरत्न मया निमग्न स्वमतिना वा ॥४९॥

अर्थ—पृथ्वी और सूर्य के योग द्वारा सूर्य का, सूर्य और चन्द्रमा के योग द्वारा[1] चन्द्रमा का तथा चन्द्रमा, तारो और ग्रहो के योग द्वारा सब ग्रहो का साधन किया है। देवता की कृपा से अथवा स्वबुद्धि द्वारा मैंने शुभाशुभ-ज्ञान के समुद्र से डूबा हुआ सत्य-ज्ञानरूपी रत्न निकाला। (ग्रहण, युति इत्यादिको द्वारा मध्यमगति भी लायी जा सकती है परन्तु मुख्यत स्पष्टग्रहस्थिति का ज्ञान होता है।) इन सब हेतुओ से ज्ञात होता है कि उन्होंने ग्रहस्पष्टीकरण पद्धति में सुधार किया और प्राचीन ग्रन्थो के सारासार-विचार द्वारा तथा अपनी बुद्धि और वेध द्वारा बहुत सी नयी बातो की खोज की। इससे उनकी योग्यता का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

[1] यहाँ प्रथम वाक्य चन्द्रग्रहण के उद्देश्य से कहा गया है और द्वितीय सूर्यग्रहण विषयक है।

छिद्रान्वेषण-पटु ब्रह्मगुप्त उनके दोषो को अगणित बतलाते हुए भी खण्डखाद्य की प्रथम आर्या मे लिखते है—

"वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्या-
र्यभटतुल्यफलम् ।"

स्वकीय सिद्धान्त का अत्यन्ताभिमान छोड कर अपने बहुत बडे प्रतिस्पर्धी आर्यभट के प्रति उनका यह कथन कि मै आचार्य आर्यभट के ग्रन्थ तुल्य[1] ग्रन्थ बना रहा हू—स्पष्ट कर देता है कि आर्यभट की योग्यता बहुत बडी थी। निम्नलिखित श्लोक से इसकी और भी पुष्टि होती है—

सिद्धान्तपञ्चकविधावपिदृग्विरुद्धमौढ्योपरागमुखखेचरचारक्लृप्तौ।
सूर्य स्वय कुसुमपुर्यभवन् कलौ तु भूगोलवित् कुलप आर्यभटाभिधान ॥

यह श्लोक किसका है, कब का है, इत्यादि बाते ज्ञात नही होती है। डा० केर्न ने इसे प्रस्तावना मे लिखा है। इसमे पद्यकार का कथन है कि पञ्चसिद्धान्त पद्धति के रहते हुए भी ग्रहो के अस्त और ग्रहणादि विषयो में दृग्विरोध होते देखकर ग्रहो के चार (गति) की कल्पना करने के लिए सूर्य कुसुमपुर मे आयभट नाम से स्वय अवतीर्ण हुए। 'सिद्धान्तपञ्चक के अनुसार दृक्प्रतीति नही होती' कथन से ज्ञात होता है कि आर्यभट के थोडे ही दिनो बाद किसी ने यह श्लोक लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आर्यभट की योग्यता अत्यधिक समझी जाती थी और वस्तुत. कालमान की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नि सन्देह वह वैसी ही थी भी।

प्रचार और अनुयायी

बृहत्सहिता की टीका में उत्पल ने आर्यभटीय की बहुत सी आर्याये उद्धृत की है और उसके बाद के बहुत से ग्रन्थो मे उसके वचन मिलते है। प्रसिद्ध ज्योतिषी लल्ल आर्यभट के अनुयायी थे। उन्होने आर्यभटोक्त ग्रहगति मे बीजसंस्कार दिया। आर्यभटोक्त भगणो द्वारा लायी हुई ग्रहगतिस्थिति में लल्लोक्त बीजसस्कार देकर शके १०१४ मे करणप्रकाश नामक आर्यपक्षीय करणग्रन्थ बना। (आगे इसका विस्तृत विवरण लिखेंगे)। शके १३३९ का दामोदरकृत भटतुल्य नामक करणग्रन्थ भी ऐसा ही है। करणप्रकाश द्वारा अभी भी कुछ लोग गणित करते है और उसके अभिमानी तो बहुत है। ग्रहलाघव मे—जो कि इस समय भी भारतवर्ष के तृतीयाश मे अधिक

[1] यह तुल्यता सर्वाङ्गीण नहीं है। कितनी है——यह आगे ब्रह्मगुप्त के वर्णन में बतलाया जायगा।

भाग में प्रचलित है—गुरु मगल और राहु करण प्रकाश द्वारा लिये गये है। इस प्रकार आर्यसिद्धान्त मूलरूप मे नही पर बीजसस्कृत रूप में आज भी प्रचलित है।

स्थान

शके १४०० के बाद महाराष्ट्र और काशी मे बने हुए ज्योतिषग्रन्थो मे इस आर्य-सिद्धान्त के वचन नही मिलते। सम्प्रति इस प्रान्त (महाराष्ट्र) में आर्यसिद्धान्त प्राय मूल-स्वरूप में प्रचलित नही है। डा० केर्न ने जिन प्रतियो के आधार पर इसे छपाया है वे तीनो मलयालम लिपि में थीं। इससे ज्ञात होता है कि सुदूर दक्षिण भारत में और विशेषत मलाबार प्रान्त मे अभी भी इसका प्रचार है। उधर जिन प्रान्तो मे तामिल और मल्याली लिपियो का व्यवहार होता है उनमें सौरमानका पञ्चाङ्ग चलता है और वह आर्यपक्षीय है अर्थात् उसका वर्षमान आर्यसिद्धान्तानुसार है। वैष्णव लोग आर्यपक्ष के अभिमानी है। वे विशेषत कर्नाटक और मैसूर प्रान्तो में रहते है। इससे अनुमान होता है कि आर्यभट का कुसुमपुर कदाचित् दक्षिण में होगा। आजकल बिहार का पटना कुसुमपुर माना जाता है परन्तु मुझे इसमे सन्देह है क्योकि उस प्रान्त में आर्यसिद्धान्त का प्रचार बिलकुल नही है तथापि इस विषय मे निश्चय-पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता।

ग्रहशुद्धि

आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह किन वर्षो मे यूरोपियन कोष्ठको द्वारा लाये हुए ग्रहो के तुल्य होते है, यह ऊपर बतला चुके है तथापि उसका विशेष स्पष्टीकरण होने के लिए यहा आर्यभटीय-काल शके ४२१ (सन् ४९९ ई०) के मध्यम मेषसक्रान्ति-काल के पास के आर्यसिद्धान्त और यूरोपियन कोष्ठको द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रह आगे एकत्र लिखे है। साथ ही साथ सबो की तुलना करने में सुविधा होने के लिए मूल सूर्यसिद्धान्त, वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के भी उस समय के ग्रह लिखे है। मूल सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्तो के अनुसार शक-गतवर्ष ४२१ में मध्यम मेष-सक्रान्ति अमान्त चैत्र कृष्ण ९ रविवार (२१ मार्च) को उज्जयिनी के मध्यमोदय से क्रमश १५ घटी ० पल, १५ घटी ० पल और १६ घटी २४ पल पर आती है और ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त द्वारा चैत्र-कृष्ण ८ शनि-वार को मध्यमोदय से २२ घटी ३० पल पर आती है।

शक ४२१ चैत्र कृष्ण ९ रविवार के सूर्योदय से १५ घटी के मध्यमभोग

ग्रहादि	मूल सूर्यसिद्धान्त				१२वे कोष्ठक मे ±				प्रथम आर्यसिद्धान्त				१२वे कोष्ठक से ±				वर्तमानसूर्यादि५गि.				१२वे कोष्ठमे ±			
	१				२				३				४				५				६			
	रा	अ	क.	वि		अं	क.	वि	रा	अ	क	वि.		अ	क.	वि	रा.	अ	क	वि		अं	क.	वि.
सूर्य	०	०	०	०		०	०	०	०	०	०	०		०	०	०	११	२९	५८	३७	−	०	१	२३
चन्द्रमा	९	१०	४८	०	−	०	४	४८	९	१०	४८	०	−	०	४	४८	९	१०	२९	३३	−	०	२३	१५
चन्द्रोच्च	१	५	४२	०	−	०	२८	३०	१	५	४२	०	−	०	२८	३०	१	०	५३	५१	−	४	१६	३९
राहु									११	२२	१२	०	−	०	४२	१८	११	१८	३६	४	−	४	१८	१४
मंगल	०	७	१२	०	+	०	७	०	०	७	१२	०	+	०	७	०	०	९	२३	१६	+	२	१८	१६
बुध	६	०	०	०	−	३	२२	१२	६	६	०	०	−	२	३७	४८	६	१७	५४	१६	+	१४	३२	४
गुरु	६	६	०	०	−	१	२९	५४	६	७	१२	०	−	०	१७	५४	६	५	५९	५३	−	१	३०	१
शुक्र	११	२६	२४	०	+	०	६	२४	११	२६	२४	०	+	०	६	२४	११	२२	४५	४५	−	३	३१	५१
शनि	१	१९	१२	०	+	०	५१	५४	१	१९	१२	०	+	०	५१	५४	१	२०	२३	५७	+	३	२	५१

ग्रहादि	१२वें से ± सूर्यान्तर			ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				१२वें कोष्ठक से ±			१२ वें कोष्ठक से ± सूर्यान्तर			केरोपन्तीय सायन				केरोप० निरयण			
	७			८				९			१०			११				१२			
	अ	क	वि	रा	अ	क	वि	अ	क	वि	अ	क	वि	रा	अ	क	वि	रा	अ	क	वि
सूर्य	०	०	०	०	०	५१	४५	+ ०	५१	४५	०	०	०	११	२९	४३	६	०	०	०	०
चन्द्रमा	− ०	२१	५२	९	११	३१	४६	+ ०	३८	५८	− ०	१२	४७	९	१०	३५	५४	९	१०	५२	४८
चन्द्रोच्च	− ४	१५	१६	१	७	२१	३	+ १	१०	३३	+ ०	१८	४८	१	५	५३	३६	१	६	१०	३०
राहु	− ४	१६	५१	११	२३	२३	१४	+ ०	२८	५६	− ०	२२	४९	११	२२	३७	२४	११	२२	५४	१८
मंगल	+ २	१९	३९	०	८	४	४५	+ ०	५९	४५	+ ०	८	०	०	६	४८	६	०	७	५	०
बुध	+ १४	३३	२७	६	०	४१	२	− २	४१	१०	− ३	३२	५१	६	३	५	१८	६	३	२२	१२
गुरु	− १	२८	३८	६	७	२८	९	− ०	१	४५	− ०	५३	३०	६	७	१३	०	६	७	२९	५४
शुक्र	− ३	३०	२८	११	२६	५७	१२	+ ०	३९	३६	− ०	१२	९	११	२६	०	४२	११	२६	१७	३६
शनि	+ २	५	१४	१	१९	०	१	+ ०	३९	५५	− ०	११	५०	१	१८	३	१२	१	१८	२०	६

सारणी के ११ वे कोष्ठक मे केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा लाये हुए ग्रह हैं। ये ही यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाये हुए सूक्ष्म ग्रह हैं। ये सायन हैं। इनमे से केवल चन्द्र, चन्द्रोच्च और राहु मे कालान्तर सस्कार दिया गया हैं। शके ४२१ मे १६ कला ५४ विकला अयनाश मानकर इस कोष्ठक के ग्रहो मे उसका सस्कार करके १२ वे कोष्ठक मे निरयण ग्रह लिखे हैं और मूल सूर्यसिद्धान्तादि द्वारा लाये हुए ग्रहो की इन्ही से तुलना की है। १६ कला ५४ विकला अयनगति होने में लगभग २० वर्ष लगते हैं, अत शके ४२१ में १६।५४ अयनाश मानने मे शके ४४१ मे अयनाश शून्य आता हैं। यह शके ४४४ के पास ही हैं। कहा जाता है कि शके ४९६ के लगभग रेवती-योगतारा सम्पात मे था, अत- उसी वर्ष शून्य अयनाश मानना उचित हैं। यद्यपि यह कथन सत्य है तथापि मैंने आगे अयनचलन-विचार में बतलाया हैं कि भारतीयो ने शके ४४५ के आसपास शून्य अयनाश माना है और उनकी पद्धति के अनुसार वही ठीक है। उपर्युक्त तुलना मे १६ कला ५४ विकला अयनाश मानने का कारण केवल इतना ही हैं कि ऐसा करने से सूर्य का निरयण भोग शून्य आता है जिससे सूर्यसम्वन्धी तुलना करने में बडी सुविधा होती है और इसमें ४ कला से अधिक अशुद्धि भी नही होती। तुलना करते समय सर्वत्र विकलाए छोड देने से भी कोई हानि न होगी क्योकि इस तुलना मे उनका कोई महत्त्व नही हैं।

प्रथम कोष्ठक मे मूल सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह लिखे हैं। वारहवे कोष्ठक के केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक द्वारा लाये हुए निरयण ग्रहो से वे जितने न्यून या अधिक हैं, वे अन्तर द्वितीय कोष्ठक में हैं। तृतीय-चतुर्थ, पञ्चम-षष्ठ और अष्टम-नवम कोष्ठक भी इसी प्रकार लिखे गये है। द्वादश कोष्ठक का प्रत्येक ग्रह उस कोष्ठक के सूर्य से जितना आगे है वह उसका सूर्यसम्वन्धी अन्तर हैं। यही स्थिति पञ्चम कोष्ठक की भी हैं। दोनो कोष्ठको के सूर्यान्तरो के अन्तर सातवे कोष्ठक मे लिखे हैं। इसी प्रकार अष्टम और द्वादश कोष्ठको के सूर्यान्तरो के अन्तर दशम कोष्ठक मे लिखे हैं। उदाहरणार्थ—द्वादश कोष्ठक का शनि उसके सूर्य से १।१८।२०।६ आगे है और पञ्चम कोष्ठक का शनि उसके सूर्य से १।२०।२३।५७–११।२९।५८।३७=१।२०।२५।२० आगे है। इन दोनो शनि सम्वन्धी सूर्यान्तरो का अन्तर १।२०।२५।२०–१।१८। २०।६=०।२।५।१४ सातवें कोष्ठक मे शनि के सामने लिखा हैं। द्वादश कोष्ठक के सूर्यान्तर से पञ्चम कोष्ठक का सूर्यान्तर अधिक होने के कारण धन है। प्रथम, तृतीय और द्वादश कोष्ठको के सूर्य समान होने के कारण प्रथम और तृतीय कोष्ठक सम्बन्धी ग्रहान्तर ही सूर्यसम्वन्धी अन्तर भी कहे जा सकते हैं। इसलिए वहा दो और कोष्ठक नही बनाने पडे।

मूल सूर्यसिद्धान्त के ग्रहो में केवल बुध और गुरु का अन्तर एक अंश से अधिक है। शेष सबका इससे कम है। प्रथम आर्यसिद्धान्त के ग्रहो मे केवल बुध का अन्तर २ अंश से अधिक है, शेष सबका ५२ कला से कम है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे चन्द्रमा को छोड कर सबका अन्तर अधिक है। ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के ग्रहो के दशम कोष्ठकस्थ सूर्य-सम्बन्धी अन्तरो मे बुध का अन्तर अधिक है। गुरु का ५३ कला है और शेष सबका २२ कला के भीतर ही है।

इससे ज्ञात होता है कि शके ४२१ के लगभग वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को छोड करशेष ग्रन्थो द्वारा लाये हुए ग्रह शुद्ध होते थे। चन्द्रमा तो सब का अत्यन्त सूक्ष्म है। ब्रह्म-गुप्त को छोडकर सबके चन्द्रभगण समान है परन्तु वर्षमान भिन्न होने के कारण उपर्युक्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का चन्द्रमा औरो से कुछ भिन्न है। बुधान्तर सबका अधिक है। बुध सदा सूर्य के पास रहता है, इसलिए उसका वेध करने का अवसर कम मिलता है। मालूम होता है इसी कारण उसमें अधिक अन्तर पडा है।

यूरोपियन और भारतीय ग्रन्थो द्वारा लाये हुए मध्यम ग्रहो की तुलना द्वारा हमारे ग्रन्थो की शुद्धि-अशुद्धि निश्चित करने की पद्धति सभी अशो में और सर्वत्र प्रशस्त नहीं हो सकती। यह पहले बेटली की ग्रन्थकाल निर्णयपद्धति के विवेचन में बतला चुके हैं तथापि हमारे ग्रन्थो द्वारा कहा तक दृक्प्रतीति होती थी, इसे जानने का इससे सुन्दर अन्य मार्ग न होने के कारण यहा उसी का ग्रहण करना पडा है।

हमारे भिन्न भिन्न ग्रन्थो के कुछ भगणादि मान पहिले लिखे जा चुके है और कुछ आगे लिखे जायगे तथापि आधुनिक यूरोपियन मानो से तुलना करने में सुविधा होने के लिए भारतीय और यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाये हुए नक्षत्रो की एक प्रदक्षिणा (एक भगण) सम्बन्धी काल यहा अगले पृष्ठ में एकत्र लिखे है।

इसमे टाल्मी के मान बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद से लिये है। सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (अथवा सिद्धान्तशिरोमणि) के मान भी उसी से लिये है। मेरी गणित करने की पद्धति भिन्न होने के कारण मुझे ये मान निकालने नही पडे, इसलिए मैंने इन्हें जाचा नही है तथापि प्राय इनमे अशुद्धि नही है। हो तो भी इस ग्रन्थ में कही भी इन मानो द्वारा गणित नही किया हैं। आधुनिक यूरोपियन मान लूमिस के Practical astronomy ग्रन्थ द्वारा मैंने स्वय निकाले हैं।

नक्षत्रप्रदक्षिणा-काल

ग्रह	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त				ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				टालमी				आधुनिक यूरोपियन			
	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०	दिन	घ०	प०	वि०
सूर्य	३६५	१५	३१	३१ ४	३६५	१५	३०	२२ ५	३६५	१५	२४	३१ ५	३६५	१५	२२	५६ ८७
चन्द्र	२७	१९	१८	१ ६	२७	१९	१८	० २५	२७	१९	१८	०.२	२७	१९	१७	५८.८६६
चन्द्रोच्च	३२३२	५	३७	१३ ६	३२३२	४४	२	४५	३२३२	२४	४०	३४	३२३२	३४	३३	१४ ०८८
राहु	६७९४	२३	५९	२३ ५	६७९२	१५	१४	१४ ७	६७९९	५८	३६	३८ ५	६७९८	१६	४४	२४.००
बुध	८७	५८	१०	५५ ७	८७	५८	११	४३ ७	८७	५८	११	४७ २	८७	५८	९	२४ ९९८
शुक्र	२२४	४१	५४	५० ६	२२४	४१	५२	३४ ७	२२४	४२	९	५२	२२४	४२	२	४७ ४८६
मंगल	६८६	५९	५०	५ ८०	६८६	५२	५२	३३ ७	६८६	५८	४९	५०.२	६८६	५८	४६	२ ५१८
गुरु	४३३२	११	१४	२० ९	४३३२	१४	२४	१९ २	४३३२	४५	२२	५६ २	४३३२	३५	५	१७ ४९
शनि	१०७५९	५२	२२	४ २	१०७५९	४८	५४	५१ २	१०७५८	४४	३०	३७ २	१०७५९	१३	१०	५७ ४९

आधुनिक यूरोपियन मानों को देखने से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान लगभग ८ पल ३४.५ विपल अधिक है और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त का वर्षमान ७ पल २५.६ विपल अधिक है। चन्द्रमा की गति अधिक होने पर भी प्रायः अशुद्ध नहीं है। राहुभगणकाल में ४ दिन का और शनिभगणकाल में ६ दिन का अन्तर है। शेष अन्तर एक दिन से कम है।

टालमी

प्रो० ह्विटने का कथन है कि टालमी-कथित दिनगति और सम्पातगति (प्रतिवर्ष ३६ विकला) के अनुसार टालमी के मान लाये गये हैं। हमारे सिद्धान्तों के मानों से उनका साम्य बिलकुल नहीं है इससे सिद्ध होता है कि टालमी के ग्रन्थ की ग्रहगति-स्थिति हमारे सिद्धान्तों में नहीं ली गयी है।

कलियुगारम्भ के मन्दोच्च और पात

	ग्रह	वर्तमानसूर्यादि ५ सि				ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त				द्वितीय आर्यसिद्धान्त				पाराशरसिद्धान्त				केरोपन्तीय सायन			
		रा०	अ०	क०	वि०	रा०	अ०	क०	वि०	रा०	अ०	क०	वि०	रा०	अ०	क०	वि०	रा०	अ०	क०	वि०
मन्दोच्च	सूर्य	२	१७	७	४८	२	१७	४५	३६	२	१७	४५	३६	२	१७	४५	३६	०	१५	१२	६
	मंगल	४	९	५७	३६	४	८	१८	१४	४	३	५०	२४	४	२	४३	३६	२	१	११	०
	बुध	७	१०	११	१२	७	१४	४७	२	७	०	१४	२४	७	०	४०	१९	५	२७	४६	१८
	गुरु	५	२१	०	०	५	२२	१५	३६	५	२२	४८	०	५	२२	३५	२	३	२३	५४	४२
	शुक्र	२	१९	३९	०	२	२१	२	१०	२	२०	३८	२४	२	२०	४२	४३	८	२	२६	३०
	शनि	७	२६	३६	३६	८	२०	५३	३१	७	२३	९	३६	७	२८	१४	५३	५	२९	७	३६
पात	मंगल	१	१०	८	२४	०	२१	५९	४६	१	१०	१९	१२	१	९	३	३६	०	१०	४९	०
	बुध	०	२०	५२	४८	०	२१	२०	५३	०	२०	९	३६	०	२१	१	२६	११	१७	०	०
	गुरु	२	१९	४४	२४	२	२२	२	३८	२	२०	३८	२४	२	२१	४३	१२	१	१९	४८	६
	शुक्र	२	०	१	४८	२	०	५	२	२	०	२८	४८	२	०	५	२	१	२	३९	५४
	शनि	३	१०	३७	१२	३	१३	२३	३१	३	१०	४८	०	३	१०	२६	२४	२	९	०	०

शक ४२१ (गतकलि ३६००) के मन्दोच्च और पात

	ग्रह	केरोपन्तीय द्वारा	प्रथम आर्यसिद्धान्त		वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त	
			स्थिति	केरो० से ±	स्थिति	केरो० से ±	स्थिति	केरो० से ±
	१	२	३	४	५	६	७	८
		रा अ क	रा अ	अ क	रा अ क	अ क	रा अ क	अ क
उच्च	सूर्य	२ १७ ७	२ १८	+ ० ५३	२ १७ १५	+ ० ८	२ १७ ५४	+ ० ४७
	मंगल	४ ८ ११	३ २८	− १० ११	४ १० १	+ १ ५०	४ ८ २३	+ ० १२
	बुध	७ २४ १	७ ०	− २४ ०	७ १० २६	− १३ ३५	७ १४ ५३	− ९ ८
	गुरु	५ २० ३८	६ ०	+ ९ २२	५ २१ १६	+ ० ३८	५ २२ ३१	+ १ ५३
	शुक्र	९ २१ ३	३ ०	−२०१ ३	२ १९ ४९	−२११ १४	२ २१ १४	−२०९ ५९
	शनि	८ ५ १२	७ २६	− ९ १२	७ २६ ३७	− ८ ३५	८ २० ५४	+ १५ ४२
पात	मंगल	१ ८ ९	१ १०	+ १ ५१	१ १० ५	+ १ ५६	० २१ ५५	− १६ १४
	बुध	१ ० १८	० २०	− १० १८	० २० ४४	− ९ ३४	० २१ १२	− ९ ६
	गुरु	२ २५ ३०	२ २०	− ५ ३०	२ १९ ४१	− ५ ४९	२ २२ २	− ३ २८
	शुक्र	२ ३ ४०	२ ०	− ३ ४०	१ २९ ४६	− ३ ५४	१ २९ ४९	− ३ ५१
	शनि	३ १० १३	३ १०	− ० १३	३ १० २५	+ ० १२	३ १३ १३	+ ३ ०

उच्च और पात

कलियुगारम्भकालीन और शके ४२१ (गतकलि ३६०० वर्ष) के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के सब ग्रहों के मन्दोच्च और पात पूर्व पृष्ठों में लिखे हैं। प्रो० ह्विटने ने टालमी और सूर्यसिद्धान्त के उच्च और पातों की तुलना करते हुए लिखा है कि 'हिन्दुओं ने ये टालमी से अथवा उसके पहिले के ग्रीक ग्रन्थों से लिये होंगे।' उनका कथन गलत है, यह दिखलाने के लिए मैंने निम्नलिखित कोष्ठक में आधुनिक यूरोपियन मान (केरोपन्तीय ग्रह-साधनकोष्टक) द्वारा लाये हुए टालमीकालीन (शके ७०, सन् १४८ ई०) उच्च और पातों से टालमी के उच्च और पातों की तुलना की है।

टाल्मी कालीन (शक ७०) उच्च और पात

ग्रह	उच्च									पात							
	केरोपन्तीय सायन			टाल्मी के स्थिति			टाल्मी के केरो० से ±			केरोपन्तीय सायन			टाल्मी के स्थिति			टाल्मी के केरो० से ±	
	रा०	अ०	क०	रा०	अ०	क०		अ०	क०	रा०	अ०	क०	रा०	अ०	क०	अ०	क०
सूर्य	२	११	५	२	५	३०	−	५	३५								
मंगल	४	१	३९	३	२५	३०	−	६	९	१	५	२९	०	२५	३०	− ९	५९
बुध	७	१८	३२	६	१०	०	−	३८	३२	०	२६	५	०	१०	०	− १६	५
गुरु	५	१५	७	५	११	०	−	४	७	२	२२	१	१	२१	०	− ३१	१
शुक्र	९	१६	१८	१	२५	०	−२३१		१८	२	०	३९	१	२५	०	− ५	३९
शनि	७	२८	४५	७	२३	०	−	५	४५	३	७	२८	६	३०	०	+ ८५	३२

हमारे सिद्धान्तो द्वारा लाये हुए उपरोक्त कलियुगारम्भकालीन और शके ४२१ के मन्दोच्च और पातो को देखने से ज्ञात होगा कि ३६०० वर्षो मे उनमे बहुत थोडा अन्तर पड़ा है। इसका कारण यह है कि उनकी गति बहुत कम है। हमारे सिद्धान्तो मे किसी भी ग्रह के मन्दोच्च या पात की गति १३ सहस्र वर्षो में एक अश से अधिक नही है। इन दोनो कोष्ठको के केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लाये हुए अको को देखने से ज्ञात होगा कि सम्पात का आरम्भ-स्थान मानने से अर्थात् सायन मान से गति कम नही आती पर नक्षत्र भगणमान से अर्थात् निरयण मान से बहुत कम आती है।

पहले के कोष्ठक में मन्दोच्च और पातो की आधुनिक यूरोपियन मान द्वारा लायी हुई सूक्ष्म सायन और वास्तविक निरयण वार्षिक गतिया लिखी है। ये Practical astronomy by Loomis से ली गयी है। ये सम्पातगति ५०.२ विकला मानकर लायी गयी है। हमारे ज्योतिषग्रन्थो में सम्पातगति ६० विकला मानी गयी है। उसके अनुसार वस्तुत. जो वार्षिक निरयण गतिया आनी चाहिए वे उपर्युक्त कोष्ठक के चौथे खाने मे लिखी है। यूरोपियन गतियो से भारतीय ग्रन्थो की गतियो की तुलना करनी हो तो इन्ही से करनी चाहिए। इस प्रकार तुलना करने पर भी सूर्यसिद्धान्त की गतिया बहुत अशुद्ध ज्ञात होती है और अन्य सिद्धान्तो की भी दशा प्राय ऐसी ही है। हमारे ग्रन्थो में किसी भी उच्च या पात की वार्षिक गति, विकला के एक तृतीयाश से अधिक नही है। इस विषय मे प्राचीनो को दोष देना तो बहुत सरल है, परन्तु मैं समझता हूँ कि वर्तमान सूक्ष्म यन्त्रो द्वारा भी आकाश मे एक विकला नापने में कितनी कठिनाई होती है, यह जिसे ज्ञात है वह उन्हे दोष कभी भी नही देगा। कुछ नक्षत्रग्रह-युतियो के अवलोकन मे मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि कभी-कभी दो ग्रहादिको मे दूरबीन से लगभग ५ कला (३०० विकला) अथवा इससे भी अधिक अन्तर दिखाई देता है, पर केवल नेत्रो से देखने पर वे दोनो सटे हुए से प्रतीत होते है अर्थात् उनमे अन्तर बिलकुल नही दिखाई देता, इसलिए हमे प्राचीन ग्रन्थो के किसी भी मान की यूरोपियन सूक्ष्म मान से तुलना करते समय केवल इतना ही देखना चाहिए कि वे कहा तक सूक्ष्म है और तदनुसार उच्च और पातो के सम्बन्ध में प्राचीनो को दोष न देकर उलटी उनकी प्रशसा ही करनी चाहिए। यह बात हमारे ग्रन्थकारो के ध्यान में आ चुकी थी कि उच्च और पातो की गतिया अत्यन्त सूक्ष्म है। उनके ग्रन्थो द्वारा लायी हुई शके ४२१ की उच्चपातस्थिति तथा केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लायी हुई स्थिति से उसके अन्तर ऊपर के पृष्ठ में लिखे है। उनसे ज्ञात होता है कि उनके सिद्धान्तो द्वारा लायी हुई स्थिति वास्तविक स्थिति के बिलकुल पास है। सूर्य के उच्च में तो बहुत ही कम अशुद्धि है। शुक्र का उच्च अधिक अशुद्ध है। पता नही लगता इसका कारण क्या है। यह एक विचारणीय विषय है।

आर्यभटीय के बुध का उच्च २४ अंश न्यून है और शेप १० अंश से कम ही न्यून या अधिक हैं। सूर्यसिद्धान्त के उच्च इससे शुद्ध हैं। उसमे बुध का १३ अंश और शनि का ८ अंश न्यून है। उसके मगल और गुरु में बहुत थोडी अशुद्धि है। ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के उच्च सूर्यसिद्धान्त जितने ही अथवा उससे भी अधिक शुद्ध हैं। केरोपन्तीय ग्रन्थ द्वारा लायी हुई स्थिति सायन है, परन्तु उसे निरयण मानकर तुलना करने में कोई हानि नही है क्योकि शके ४२१ मे अयनांश २० कला मात्र था।

मन्दोच्च और पातो की वार्षिक गतिया

	ग्रह	यूरोपियन सूक्ष्म मान द्वारा लायी हुई			सूर्यसिद्धान्तानुसार
		सायन	वास्तविक निरयण	हमारे निरयण मान से जो आनी चाहिए	
	१	२	३	४	५
		विकला	विकला	विकला	विकला
उच्च	सूर्य	+ ६१ ५	+ ११ २४	+ १ ५	+ ० ११६१
	मगल	+ ६५ ७	+ १५ ४६	+ ५ ७	+ ०६१२
	बुध	+ ५६ १	+ ५ ८१	− ३ ९	+ ११०४
	गुरु	+ ५६ ९	+ ९ ६५	− ३ १	+ २७
	शुक्र	+ ४७ ०	− ३ २४	− १३ ०	+ १६०५
	शनि	+ ६९ ६	+ १९ ३१	+ ९ ६	+ ०११७
पात	मगल	+ २५ ०	− २५ २२	− ३५ ०	− ०६४२
	बुध	+ ४० २	− १० ०७	− १९ ८	− ·१४६४
	गुरु	+ ३४ ३	− १५ ९०	− २५ ७	− ·०५२२
	शुक्र	+ २९ ७	− २० ५०	− ३० ३	− २७०९
	शनि	+ ३० ७	− १९ ५४	− २९ ३	− १९८६

पृष्ठ २८६ में टालमी कालीन टालमी और केरोपन्तीय उच्चो की तुलना की है। टालमी के अन्य मान सायन हैं, अत उच्च भी सायन ही होगे। सूर्य के उच्च से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है, इस कारण केरोपन्तीय सायन मानो से ही उनकी तुलना की है। उससे ज्ञात होता है कि टालमी का भी शुक्रोच्च बहुत अशुद्ध है और उनके शेष उच्चों में भी सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त से अधिक अशुद्धि है। उपर्युक्त पृष्ठ के आर्यभटीय और सूर्यसिद्धान्त के पातों में अशुद्धि का औसत मान ४ अंश और ब्रह्म-

गुप्तसिद्धान्त मे ७ अश है, परन्तु पृष्ठ २८६ के टालमी के पात औसतन् ३० अश अशुद्ध है। उनके शनि और गुरु के पात अत्यन्त अशुद्ध है।

टालमी का सूर्योच्च ६५ अश ३० कला है और टालमी कालीन अर्थात् सन् १५० के लगभग का वास्तविक सायन सूर्योच्च ७१ अश है। ६५ अश ३० कला अन्य किसी भी रीति से नही आता। हमारे किसी भी सिद्धान्त का सूर्योच्च १ अश से अधिक अशुद्ध नही है, पर यहा टालमी की आश्चर्यजनक ५॥ अश अशुद्धि स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि—'हिन्दुओने उच्च और पात टालमी से अथवा उसके पूर्वके ग्रीक ग्रन्थो मे लिये' यह व्हिटने का कथन भ्रमपूर्ण है। उन्होने आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा टालमीकालीन या शके ४२१ के अथवा किसी अन्य समय के उच्च और पात स्वय लाकर तुलना नही की है। वे इस गणित को बडा क्लिष्ट' और श्रमसाध्य बतलाते है, परन्तु वस्तुत वह विशेष कठिन नही है। उनकी योग्यता का विचार करने से ज्ञात होता है कि उनके लिए यह गणित करना कठिन नही था। इससे यही निश्चित होता है कि उन्होने इसका विचार नही किया और पर्याप्त विवेचनसे विहीन अनुमानो का अशुद्ध होना स्पष्ट ही है। टालमी और हमारे सिद्धान्तो के उच्च और पातो के अक ही, जिनमे कि ३ से ८२ अश पर्यन्त अन्तर है, स्पष्ट बतला रहे है कि दोनो मे कोई सम्बन्ध नही है। अधिक क्या, केवल सूर्य के उच्च से ही यह बात सिद्ध हो जाती है। शके ४२१ से आज तक के हमारे सब ग्रन्थकारो ने सूर्योच्च ७८ अश के आसपास माना है। इसके कितने दिनो पूर्व तक ७८ ही मानते थे, यह ज्ञात नही है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के अन्य उच्चो मे अधिक अशो का अन्तर है परन्तु सूर्योच्च की स्थिति ऐसी नही है। हमारे ग्रन्थकार किसी अन्य ग्रन्थ से ग्रहादि लेते समय उनमें एक विकला का भी अन्तर नही पडने देते। इस ग्रन्थ मे ही आगे इसके अनेको उदाहरण मिलेगे, अत हिन्दुओ ने उच्च यदि टालमी से लिये होते तो निश्चित है कि वे सूर्योच्च के ६५ अश को ७८ कभी भी न कर देते। हमारे भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के उच्चपातो मे भी बहुत अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि उन्होने आपस मे भी एक दूसरे के मान नही लिये है बल्कि स्वकीय अनुभव द्वारा सब ने अपने-अपने स्वतन्त्र मान लाये है।

ह्विटने का कथन है कि 'उच्च और पात सरीखे कठिन विषयो का ज्ञान स्वय सम्पादन करने की अथवा यदि ये दूसरो मे लिये हो तो कालान्तर मान के अनुसार इनमे सुधार करने की योग्यता हिन्दुओ में नही है।' यह कथन हिन्दुओ में तो लागू नही होता, पर

' Intricate and labourics a calculation बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २८३ देखिए।

टालमी से इसकी ठीक संगति लगती है। टालमी-कथित ६५।३० सूर्योच्च टालमी के पूर्व हिपार्कस के समय (ई० पू० १५० में) था, अतः टालमी ने उसीको अपने काल के अनुसार उचित परिवर्तन किये बिना वैसा ही लिखा होगा। गणित द्वारा टालमी के अन्य ग्रहों के उच्च और पातों को भी हिपार्कस-काल में ठीक बताया जाता है, अतः कह सकते हैं कि टालमी ने उचित संशोधन न करते हुए उन्हें हिपार्कस से ही लिये हैं परन्तु हिपार्कस कालीन अथवा उसके पूर्व की उच्चपात-स्थिति जो कि उस समय मानी जाती थी सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, इसलिए इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। टालमी की उच्चपातस्थिति असत्य होते हुए, हिन्दू-ग्रन्थों द्वारा लायी हुई स्थिति से उसका साम्य न होते हुए तथा टालमी से पहिले की उच्चपातस्थिति का ज्ञान न होते हुए भी (ह्विटने ने स्वयं ऐसा लिखा है) ह्विटनी का यह कहना कि 'हिन्दुओं ने उच्च और पात टालमी से अथवा उससे पहिले के ग्रीकों से लिये' कहाँ तक ठीक है, इसका विचार पाठक स्वयं करें।

टालमी के उच्च और पातों की—जो कि उन्होंने सम्भवतः हिपार्कस से लिये हैं—हमारे ग्रन्थों द्वारा लाये हुए उच्च और पातों से तुलना करने से ज्ञात होता है कि उच्चों में ३ से ३० अंश तक और पातों में ८ से ८२ अंश तक अन्तर है। यदि हिन्दुओं ने हिपार्कस काल से शके ४२१ पर्यन्त ६५० वर्षों में उच्च और पातों की इतनी गति लाकर उनके संस्कृत उच्च और पात अपने ग्रन्थों में लिखे होते तो दोनों के अन्तरों में कुछ नियमित अन्तर दिखाई देते परन्तु ऐसा नहीं है। साथ ही साथ ६५० वर्षों में यदि उन्होंने इतनी अधिक गति मानी होती तो वे अपने ग्रन्थों में १३ सहस्र वर्षों में एक अंश से भी कम उच्चपात-गति कभी भी न लिखते। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुओं ने टालमी के पहिले के ग्रन्थों से भी उच्च और पात नहीं लिये हैं। हमारे सिद्धान्तकारों ने अपने-अपने समय की उच्चपात-स्थिति स्वयं निश्चय की है, इसके और भी प्रमाण हैं।

मूल सूर्यसिद्धान्त में उच्च और पातों के कल्पीय भगण थे या नहीं, इसे जानने का कोई उपाय नहीं है, पर पञ्चसिद्धान्तिका में वे नहीं हैं। आर्यभट ने भी केवल अपने समय की उच्चपात-स्थिति लिखी है। उनके भगण नहीं लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने उच्चपात-भगण यह समझ कर नहीं लिखे होंगे कि यदि उनमें गति है तो बहुत थोड़ी है और वह अल्पकाल में ध्यान में आने योग्य नहीं है। इष्टकाल में सूर्योच्च लाने की रीति बतलाते हुए भास्कराचार्य उसकी गति के विषय में लिखते हैं—

"उच्चस्य चलनं वर्षशतेनापि नोपलक्ष्यते किन्त्वाचार्यैश्चन्द्रमन्दोच्चवदनुमानात्

कल्पिता गति । सा चैव—यैर्भगणैः साम्प्रताहर्गणाद्वर्षगणाद्वा एतावदुच्च भवति ते भगणा युत्त्या कुट्टकेन वा कल्पिता ।"

इसका तात्पर्य यह है कि उच्च-गति का अनुभव सैकडो वर्षो में भी नही होता, पर चन्द्रोच्च-गति की प्रतीति होती देखकर आचार्यो ने अनुमान किया कि सूर्योच्च में भी गति होगी और तदनुसार उन्होने कल्प के आरम्भ मे उसकी स्थिति मेषारम्भ मे मान कर युक्ति द्वारा उसके भगणो की इस प्रकार कल्पना की जिससे गणित द्वारा उसकी इष्टकालीन ठीक स्थिति लायी जा सके। इसके बाद उन्होने लिखा है कि अन्य ग्रहो के उच्चो और पातो के विषय मे भी ऐसा ही समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि हमारे सिद्धान्तकार उच्च और पातो की इष्टकालीन स्थिति लाना जानते थे और उन्होंने उनके भगणो की स्वय कल्पना करके तदनुसार अपने-अपने समय के उच्चपात अपने ग्रन्थो मे लिखे हे, **टालमी या उसके पूर्व के ग्रीको से नहीं लिये है।**[1]

बेरुनी का कथन है कि आर्यभट दो थे। एक कुसुमपुरनिवासी और दूसरे उनसे प्राचीन। उसने लिखा है कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नही मिला, पर कुसुमपुर-निवासी आर्यभट उनके अनुयायी थे। बेरुनी के ग्रन्थ मे इन दोनो का उल्लेख ३० स्थानो में है। उन सब मे वर्णित बातें इन प्रथम आर्यभट में पूर्णतया लागू होती हैं। ग्रहभगणसख्या इत्यादि बेरुनी-लिखित जिन बातो मे दोनो का भेद स्पष्ट दिखाई देता है वे बातें द्वितीय आर्यभट मे किसी प्रकार भी लागू नही होती और चूंकि वे प्रथम आर्यभट के अनुयायी नही थे, इसलिए बेरुनी-कथित दोनो आर्यभट वस्तुत एक ही है। यह बात प्रोफेसर साचो के भी ध्यान मे नही आयी। इस ग्रन्थ मे वर्णित द्वितीय आर्यभट जिनका समय शके ८७५ के आसपास निश्चित किया गया है, बेरुनी के पहिले हुए होगे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि उनका ग्रन्थ बेरुनी ने नही देखा था तथापि उसे उपर्युक्त भ्रम दो आर्य-भटो की चर्चा सुनने के कारण ही हुआ होगा—ऐसा ज्ञात होता है। इससे अनुमान होता है कि द्वितीय आर्यभट बेरुनी के सौ पचास ही वर्ष पूर्व हुए होगे अर्थात् मैंने उनका जो समय निश्चित किया है वह ठीक है।

[1] बेरुनी ने अबुलहसन के ग्रन्थ की भगणसंख्याएं लिखी है (भाग २ पृष्ठ १९)। उनमें से बहुत सी प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ से मिलती है। कुछ नहीं मिलतीं—वे लेखक के प्रमादादि के कारण अशुद्ध हो गई होगी। बेरुनी के पास आर्यभट के ग्रन्थ का कुछ भाग और उसका अरबी अनुवाद था (भाग १ पृष्ठ २४६ और आर्यभटीय-चतुर्थपाद की ११ वीं आर्या देखिए)। यह अनुवाद खलीफ मनसूर के शासनकाल में हुआ होगा।

वराहमिहिर

काल

ये एक प्रख्यात ज्योतिषी हो गये हैं। ज्योतिष की तीनो शाखाओ के इनके ग्रन्थ है। इन्होने स्वय स्पष्टतया अपने काल का उल्लेख कही नही किया है पर अपने करण-ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' मे गणितारम्भ वर्ष शके ४२७ माना है। यदि पञ्चसिद्धान्तिका ४२७ में ही बनाई हो तो इनका जन्म शके ४०७ से पूर्व होना चाहिए क्योकि २० वर्ष से कम अवस्था मे ऐसा ग्रन्थ बनाना असम्भव है। इनके मृत्युकाल के विषय मे एक वाक्य प्रचलित है —

नवाधिकपञ्चशतसख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिव गत ।

पता नही चलता यह गद्य है या पद्य। यदि गद्य है तो—प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको के शुद्धत्वाशुद्धत्व का विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से अब तक इसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ होगा—इसमे सन्देह है और यदि पद्य है तो अत्यन्त अशुद्ध है। किसी-किसी का कथन है कि इसे ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के टीकाकार पृथूदक स्वामी ने लिखा है। मैंने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायो की पृथूदक-टीका पढी है। उसमे यह नही है। हो सकता है, उसके अवशिष्ट भाग में अथवा खण्डखाद्य की पृथूदक-टीका मे हो। पृथूदकस्वामी का समय शक ९०० के आसपास है, अत पृथूदक का होने पर भी वराहमिहिर के ४०० वर्ष बाद का होने के कारण इसका विश्वास विचारपूर्वक ही करना होगा। प्रो० वेबर का कथन है कि (वेबर के ग्रन्थ की पृष्ठ २९३ की टिप्पणी देखिए) ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज ने वराहमिहिर की मृत्यु शक ५०९ में बतायी है। उन्होने आमराज का वचन नही लिखा है, पर वह प्राय यही होगा अत पहिले यही निश्चित नही होता कि यह वाक्य पृथूदक का है या आमराज का। वेबर ने आमराज का एक और कथन यह लिखा है कि शतानन्द का जन्मकाल शके ९१७ है। शतानन्द के 'भास्वती' नामक करण ग्रन्थ मे आरम्भ वर्ष शके १०२१ है और अन्य कोई शतानन्द प्रसिद्ध नही है। इससे सिद्ध होता है कि शतानन्द के विषय में आमराज का यह कथन बिलकुल गलत है। यदि उपर्युक्त वाक्य भी उन्ही का है तो उसकी भी योग्यता इतनी ही समझनी चाहिए। दूसरी बात यह कि आमराज का भी समय (शके ९१७) वराहमिहिर के लगभग चार, पाच शताब्दी बाद में है, अत उनके कथन का भी कोई विशेष महत्त्व नही है, इसलिए इस नाना-सशय-ग्रस्त वचन के आधार पर वराह का मृत्युकाल शक ५०९ मान कर उनका समय निश्चित करने की अपेक्षा उनकी पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा—जिसका कि गणितारम्भ-

वर्ष शके ४२७ उसमे दी हुई ग्रहस्थिति द्वारा नि संशय शुद्ध सिद्ध होता है—विचार करना उचित और विश्वसनीय होगा।

करणग्रन्थ का गणितारम्भ वर्ष ही उसका पूर्तिकाल नही होता। केरोपन्त के ग्रन्थ मे शके १७७२ के उदाहरण है, पर वह शके १७८२ मे छपा है,अत सभव है पञ्च-सिद्धान्तिका भी ४२७ के वाद पूर्ण हुई हो तथापि उसकी रचना का आरम्भ शके ४२७ के पास ही दो एक वर्ष के भीतर हुआ होगा, अन्यथा वह आरम्भ वर्ष न माना जाता। ४२७ तक वराह का जन्म ही न हुआ रहा हो—यह विलकुल असम्भव है। इतना ही नही, मै तो समझता हू उस समय वे कम से कम १५, १६ वर्ष के अवश्य रहे होगे और उन्होने यह शक उदाहरण के लिए लिया होगा। इसके अतिरिक्त इसका अन्य कोई समुचित कारण नही दिखाई देता। शके ४२७ मे चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा के लगभग मध्यम मेष-सक्रान्ति हुई थी। सम्भव है, उस समय की मध्यम ग्रहस्थिति लाने मे तथा शुक्ल प्रतिपदा से अहर्गण लाने मे सुविधा देखकर उन्होने यह शक लिया हो और ग्रन्थ वस्तुत वाद मे बना हो परन्तु ४२७ के पहिले शके ४१९ मे और उसके वाद ४३८ मे भी मध्यम मेषसक्रान्ति शुक्ल प्रतिपदा के पास आती है। ४१९ का तो विचार ही नही करना है, पर उन्होने ४३८ भी नही लिया है। इससे सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ का रचना-काल शके ४३८ के पूर्व ही है।

पञ्चसिद्धान्तिका मे आर्यभट का नाम आया है और उनका ग्रन्थ शके ४२१ का है, इससे यहा एक शका होती है कि छ ही वर्षो मे आर्यभट का ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध कैसे हो गया कि वह वराहमिहिर तक पहुचा और उन्हे अपने ग्रन्थ मे उसकी चर्चा करनी पडी, परन्तु यह शका निरर्थक है। अवन्ती ऐसी प्रसिद्ध राजधानी मे इसी कार्य के लिए नियुक्त वराहमिहिर सरीखे प्रख्यात ज्योतिषी को आर्यभट के मत ज्ञात होना अथवा उनका ग्रन्थ देखने का अवसर प्राप्त होना असम्भव नही है और दूसरी वात यह कि वराह का ग्रन्थ शके ४२७ के चार, छ वर्ष वाद समाप्त हुआ होगा, यह भी सम्भव है। शके ४२७ मे वे स्वय गणना करने के लिए सर्वथा योग्य थे, इसमे कोई सन्देह नही है। उस समय उनकी अवस्था यदि १५ वर्ष मानते है तो जन्मशक ४१२ आता है और मृत्यु-काल शके ५०९ मानने से उस समय उनकी अवस्था ९७ वर्ष आती है। यह वात असम्भव नही कही जा सकती। यह भी कह सकते है कि उनका जन्म शके ४२७ मे हुआ होगा और इसलिए उन्होने इसे उदाहरणार्थ लिया होगा पर इसके वाद नही हुआ था—यह विलकुल नि सन्देह है। इससे सिद्ध होता है कि उनका जन्म शके ४२७ के पहिले शके ४१२ के आसपास हुआ था।

ज्योतिर्विदाभरण में एक श्लोक है—

> धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्ट-
> घटखर्परकालिदासा । ख्यातो वराहमिहिरो
> नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

इसमें विक्रमादित्य के नवरत्नो में वराहमिहिर का नाम आया है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम-शकारम्भ के आसपास एक वराहमिहिर थे। ज्योतिर्विदाभरण मे ग्रन्थकार ने अपने को रघुवश कुमारसम्भव इत्यादि का कर्ता प्रसिद्ध कवि कालिदास लिखा है और—

> वर्षे सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणै ३०६८ र्याते कलौ समिते
> मासे माधवसज्ञिते च विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रम ।।

श्लोक में ग्रन्थारम्भ-काल गतकलि ३०६८ वर्ष अर्थात् विक्रम सवत् २४ बताया है परन्तु यह ग्रन्थ विश्वसनीय नही है क्योकि इसमे—

"शाक शराम्भोधियुगो ४४५ नितो हृतो मान खतर्करयनाशका स्यु ।"
यह अयनाश लाने की रीति बतलायी है और प्रथमाध्याय मे लिखा है—'मत्वा वराह-मिहिरादिमतै'। इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रम सवत्सर के आरम्भ के लगभग यदि वस्तुत कोई वराहमिहिर रहे हो तो वे पञ्चसिद्धान्तिका इत्यादि ग्रन्थो के रचयिता वराहमिहिर से भिन्न होने चाहिए।[1]

[1] पूनानिवासी कैलासवासी श्री रघुनाथशास्त्री टेंभूकर नामक एक ज्योतिषी ने वराहमिहिर के समय के विषय में मुझे एक श्लोक बतलाया है। वह यह है—

> स्वस्तिश्रीनृपसूर्यसूनुजशके याते द्विवेदाम्बरत्रै
> ३०४२ मानाब्दमिते त्वनेहसि जये वर्षे वसन्तादिके।
> चैत्रे श्वेतदले शुभे वसुतिथावादित्यदासादभू-
> द्वेदाङ्गे निपुणो वराहमिहिरो विप्रो खेराशिभि.।।

इसमें युधिष्ठिर-शक ३०४२ में सूर्य के आशीर्वाद से आदित्यदास के पुत्र वराहमिहिर की उत्पत्ति बतलायी है। पञ्चसिद्धान्तिकाकार वराहमिहिर भी 'आदित्यदासतनय' और 'सवितृलब्धवरप्रसाद' थे परन्तु इस श्लोक में बतलाए हुए सवत्सर की किसी भी पद्धति से गणित से सगति नहीं लगती अत यह विश्वसनीय नहीं है।

कुल, स्थल इत्यादि

वराहमिहिर ने बृहज्जातक के उपसहाराध्याय मे लिखा है—

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोध ,
कापित्थके सवितृलब्ध-वरप्रसाद ।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्यसम्यग्-
घोरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार ॥९॥

इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम आदित्यदास था और इन्होने ज्ञान उन्ही से प्राप्त किया था। कापित्थक मे इन्हे सूर्य का वर-प्रसाद प्राप्त हुआ था और ये अवन्ती के निवासी थे। अवन्ती के पास कापित्थक नाम का कोई गाँव होगा और वहाँ ये कुछ दिन रहे होगे। सब ग्रन्थो के आरम्भ मे इन्होने मङ्गलाचरण मे मुख्यत सूर्य की वन्दना की है, इससे ज्ञात होता है कि ये सूर्य के भक्त थे। पञ्चसिद्धान्तिका के प्रथमाध्याय की निम्नलिखित आर्या से ज्ञात होता है कि इनके ज्योतिषशास्त्र के गुरु इनके पिता से भिन्न थे।

दिनकरवसिष्ठपूर्वान् विविधमुनीन् भावत प्रणम्यादौ।
जनक गुरुञ्च शास्त्रे येनास्मिन् न कृतो बोध ॥१॥

दूसरे स्थलो के अन्य चार पाँच उल्लेखो से भी ज्ञात होता है कि ये अवन्ती अर्थात् उज्जयिनी के निवासी थे।

परदेशगमन

कुछ लोग ऐसा समझते है कि भास्कराचार्य ने यवन देशो में जाकर ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था, परन्तु भास्कराचार्य के और उनके पूर्व के ग्रन्थो को देखने मे ज्ञात होता है कि यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वराहमिहिर के विषय मे भी कोई-कोई ऐसा ही कहते है, परन्तु वराह के ग्रन्थ और उनकी भटोत्पल-कृत टीकाओ को देखने से ज्ञात होता है कि वराह के ग्रन्थो मे जिन विषयो का वर्णन है उन सब के वराह के पूर्व ही इस देश मे अनेको ग्रन्थ बन चुके थे, अत उन्हें विदेश जाने की कोई आवश्यकता नही थी।

ग्रन्थ

इन्होने यात्रा, विवाह, गणित (करण), होरा और सहिता विषयो के ग्रन्थ बनाये है। सहिता शाखा के इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्सहिता के निम्नलिखित श्लोक मे ज्ञात होता है कि वह सब के अन्त मे बना है।

वक्रानुवक्रास्तमयोदयाद्यास्ताराग्रहाणां करणे मयोक्ता ।
होरागतं विस्तरतश्च जन्मयात्राविवाहैः सह पूर्वमुक्तम् ।।१०।।

अध्याय १।

इस श्लोक मे बतलाया हुआ होरा शाखा का ग्रन्थ बृहज्जातक ही है। इसके निम्नलिखित श्लोको से ज्ञात होता है कि विवाह और करणग्रन्थ इसके पहिले बन चुके थे और यात्रा विषयक ग्रन्थ इसके बाद बना।

अध्यायानां विंशतिः पञ्चयुक्ता जन्मन्येतद्यात्रिकं चाभिधास्ये ।।३।।
विवाहकालः करणं ग्रहाणां प्रोक्तं पृथक् तद्विपुला च शाखा ।।६।।

बृहज्जातक—उपसंहाराध्याय।

इसमे बतलाया हुआ करण ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका ही है। पञ्चसिद्धान्तिका में ऐसा कोई उल्लेख नही है जिससे यह सिद्ध होता हो कि वराह ने इसके पहिले कोई ग्रन्थ बनाया था। इससे और वराहमिहिर की अवस्था का विचार करने से पञ्चसिद्धान्तिका ही उनका प्रथम ग्रन्थ ज्ञात होता है। बृहत्संहिता की भटोत्पलकृत प्रथमाध्याय की टीका से ज्ञात होता है कि वराह के विवाह विषयक ग्रन्थ का नाम 'बृहद्विवाहपटल' था। वह और उनका यात्रा विषयक ग्रन्थ, ये दोनो इस समय उपलब्ध नही है। होरा शाखा का बृहज्जातक के अतिरिक्त उनका एक और ग्रन्थ लघुजातक नाम का है। उसमे लिखा है—

होराशास्त्रं वृत्तैर्मया निबद्धं निरीक्ष्य शास्त्राणि ।
यत्तस्याप्यार्याभिः सारमहं सम्प्रवक्ष्यामि ।।१।।

इससे ज्ञात होता है कि लघुजातक बृहज्जातक का ही संक्षिप्त स्वरूप है। रचनाकाल के अनुसार इनके ग्रन्थो का क्रम यह है—पञ्चसिद्धान्तिका, विवाहपटल, बृहज्जातक, लघुजातक, यात्रा और बृहत्संहिता। लघुजातक का रचनाकाल यात्रा-ग्रन्थ और बृहत्संहिता के बाद भी हो सकता है।

ग्रन्थ प्रचार

इनमे से बृहज्जातक और लघुजातक का इस समय भी ज्योतिषियो मे पर्याप्त प्रचार है और ये बम्बई पूना, काशी इत्यादि स्थानों मे छप चुके है। अन्य भी अनेक स्थानों मे अनेक लिपियो मे छपे होंगे। डा० केर्न ने मूल मात्र बृहत्संहिता छपायी है और उसका इंगलिश में अनुवाद करके उसे रायल एशियाटिक सोसायटी की पाचवी पुस्तक मे छपाया है। इसके सिवा बिब्लिओथिका इंडिका मे बृहत्संहिता मूलमात्र छपी

हैं। रत्नागिरि के जगन्मित्र छापाखाने मे वृहत्संहिता का मूल और उसका मराठी अनुवाद छपा है।

टीकाएं

भटोत्पल वराहमिहिर के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। यद्यपि यह सत्य है कि वृहत्संहिता और वृहज्जातक ग्रन्थ स्वय उपयुक्त होने के कारण आज तक प्रचलित है तथापि उनके प्रचार का प्रमुख कारण उत्पलटीका है, ऐसा कह सकते हैं। वृहत्संहिता की टीका में नीराजनविधि विषय मे उत्पल ने लिखा है "यात्रायां व्याख्यातम्"। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने यात्रा-ग्रन्थ की भी टीका की थी। उत्पल ने लघुजातक की भी टीका की है। उन्होंने वराह के शेष ग्रन्थो की भी टीका की थी, इसका प्रमाण नही मिलता। उत्पलटीकाकाल लगभग शके ८८८ अर्थात् वराह के लगभग ४०० वर्ष बाद है। उन्होंने राहुचार की टीका मे और दो-तीन अन्य स्थानो मे भी लिखा है "अन्ये एव व्याचक्षते", इससे ज्ञात होता है कि उनके पहिले भी वृहत्संहिता की कुछ टीकाए थी। वृहज्जातक की महीदास और महीधर कृत टीकाए डेक्कनकालेजसंग्रह (न० ३४१, ३४३ सन् १८८२-८३) में[1] हैं।

ग्रन्थवर्णन

इनके वृहत्संहिता, वृहज्जातक और लघुजातक ग्रन्थो का विवेचन आगे करेंगे। गणित-स्कन्ध सम्बन्धी ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका का बहुत कुछ विवेचन पहिले कर चुके है, शेष यहा करते हैं।

उपर्युक्त 'वक्रानुवक्रास्तमय ' आर्या मे इन्होंने लिखा है कि ग्रहो के वक्र, अनुवक्र, अस्त और उदय इत्यादि का वर्णन मैंने करणग्रन्थ मे किया है। ऐसी ही एक और आर्या है—

युद्धं यदा यथा वा भविष्यमादिश्यते त्रिकालज्ञैः।
तद्विज्ञानं करणे मया कृतं सूर्यसिद्धान्तात्॥
—वृहत्संहिता, अध्याय १७।

[1] बेरुनी ने भी वराह का समय शके ४२७ ही लिखा है। उसने इनके वृहत्संहिता और लघुजातक ग्रन्थो का अरबी में अनुवाद किया था। वृहज्जातक की बलभद्रकृत टीका का उल्लेख उसने किया है। सुधाकर द्विवेदी लिखते है कि वराह के योगयात्रा और विवाहपटल ग्रन्थ काशी में हैं। वराह का समाससंहिता नामक ग्रन्थ था—ऐसा उत्पल ने लिखा है। मेरी समझ से वह वृहत्संहिता का संक्षेप होगा।

पञ्चसिद्धान्तिका में इन सब बातो का वर्णन है। इससे और अन्य प्रमाणो से भी सिद्ध होता है कि इनका करण-ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका ही है परन्तु इन्होंने स्वय उसका पञ्चसिद्धान्तिका नाम कहीं नहीं लिखा है।

अष्टादशभिर्वध्वा ताराग्रहतन्त्रमेतदध्याये ।
भजते वराहमिहिरो ददाति निर्मत्सर करणम् ॥६५॥
—पञ्चसिद्धान्तिका—अध्याय १८।

यहा उसे करण और तन्त्र कहा है। पञ्चसिद्धान्तिका में और भी एक स्थान में उसे करण या तन्त्र कहा है परन्तु उत्पल ने उसे पञ्चसिद्धान्तिका कहा है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थकार ने उसमें पाच सिद्धान्तो का अनुवाद किया है। सूर्यसिद्धान्तोक्त मध्यम ग्रहो मे वराह ने अपना एक बीजसस्कार दिया है। वह यह है—

क्षेप्या शरेन्दु १५ विकला प्रतिवर्षं मध्यमक्षितिजे।
दशदश गुरोर्विशोध्या शनैश्चरे सार्धसप्तयुता ॥१०॥
पञ्चद्वया २५ विशोध्या सिते बुधे खाश्विचन्द्र १२० युता ॥

पहिले बता चुके है कि पञ्चसिद्धान्तिका का कोई भी सिद्धान्त वराहकृत नहीं है और इस बीजसस्कार से वह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। यदि पञ्चसिद्धान्तिका के ही किसी सिद्धान्त की ग्रहगतिस्थिति वराह की होती तो उन्हें पृथक् यह बीजसस्कार बतलाने की आवश्यकता कभी भी न पडती। पहिले बता चुके है कि इन बीजसस्कार से सस्कृत ग्रहस्थिति से भास्वती करण के क्षेपक मिलते है।

वराह ने भिन्न भिन्न सिद्धान्तो के मध्यम ग्रह तथा ग्रहण-विचारो का उल्लेख करते हुए उनके विषय मे कहा है—

यत्नतर रहस्य भ्रमति मतिर्यत्र तन्त्रकाराणाम् ।
तदहमपहाय मत्सरमिस्मन् वक्ष्ये ग्रह भानो ॥५॥
दिक्स्थितिविमर्दकर्णप्रमाणवेलाग्रहाग्रहाविन्दो ।
ताराग्रहसयोग देशान्तरसाधन चास्मिन् ॥६॥
ससमण्डलचन्द्रोदय—यन्त्रच्छेद्यानि ताण्डवच्छाया ।
उपकरणाद्यभ्याकस्वकापनमाद्यानि ॥७॥

अध्याय १।

इसी प्रकार

प्रद्युम्नो भूतनये जीवे सौरे च विजयनन्दी ॥५९॥
...स्फुटमिदं करण दृष्ट वराहमिहिरेण ॥

यहा उनके कथन का उद्देश्य यह मालूम होता है कि प्राचीन तन्त्रकार जिन बातो को ठीक न जान सके वे मैने इस ग्रन्थ मे सिद्ध की है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने अपने ग्रन्थ मे प्राचीन ग्रन्थो से कुछ विशेष लिखा है। उपर्युक्त मध्यमग्रह-सस्कार के अतिरिक्त उन्होने विशेप क्या लिखा है, इसे जानने का कोई उपाय नही है तथापि मूल मे विशेप परिवर्तन किया होगा, यह सम्भव नही है। हम समझते है, पाचो सिद्धान्तो की जिन बातो का ठीक अनुभव हुआ होगा और जो उपपत्ति द्वारा शुद्ध जान पडी होगी वे उन्होने ग्रन्थ मे रखी होगी और शेष छोड दी होगी, और सम्भव है देशान्तर, छायासाधन, ग्रहण और छेद्यक सम्बन्धी कुछ स्वय बनायी हुई रीतिया लिखी होगी।

वराह ने सर्व प्रथम करण ग्रन्थ बनाया, परन्तु उनकी बृहत्सहिता से ज्ञात होता है कि बाद मे उनका ध्यान फलज्योतिष की ओर और विशेषत नाना प्रकार के सृष्टि-चमत्कार, पदार्थों के गुण, धर्म का ज्ञान और उनका व्यवहार मे उपयोग करने की ओर अधिक आकृष्ट हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने प्राचीन ज्योतिषियो मे बहुत से दोप दिखलाये है, परन्तु वराहमिहिर को कही भी दोप नही दिया है[1]। भास्कराचार्य ने उनकी स्तुति की है और अन्य भी अनेको ग्रन्थकारो ने उनके वचन प्रमाण रूप मे उद्धृत किये है। सृष्टिशास्त्र की इस एक शाखा ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थ बहुतो ने बनाये है, पर उसकी अनेक शाखाओ का विचार करनेवाला ज्योतिषी वराह के बाद दूसरा नही हुआ, ऐसा कह सकते है। इतने प्राचीन काल मे हमारे देश मे ऐसे मनुष्य का उत्पन्न होना सचमुच हमारे लिए भूपण है। दु ख के साथ कहना पडता है कि उनके जातक ग्रन्थ का आज तक पर्याप्त उपयोग होता चला आ रहा है, पर सहिता ग्रन्थ का विचार और उपयोग प्राय किसी ने भी नही किया। उनकी बतलायी हुई दिशा के अनुसार सृष्टि-पदार्थो के गुण-धर्म का विचार यदि उसी प्रकार अव्याहत चलता रहा होता तो आज यूरोपियन इस विषय में हमसे आगे न बढ पाते, परन्तु हमारे देश के दुर्भाग्यवश वह परम्परा आगे न चल सकी।

श्रीषेण और विष्णुचन्द्र

इन ज्योतिषियो का समय वराहमिहिर के बाद और ब्रह्मगुप्त के पहिले अर्थात् शके ४२७ और ५५० के मध्य मे है। इनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही है।

[1] वराहमिहिर ग्रहण का कारण भूछाया और चन्द्रमा में प्रविष्ट राहु नहीं बतलाते इसलिए ब्रह्मगुप्त ने उन्हें दोष दिया है पर वह वास्तविक दोप नहीं है और ब्रह्मगुप्त का भी उद्देश्य वस्तुत- दोष देने का नहीं है।

आधुनिक रोमक और वसिष्ठ सिद्धान्त इन्ही के होगे अथवा इनके ग्रन्थो के आधार पर बने होगे— इत्यादि विचार पहिले कर चुके है।

ब्रह्मगुप्त

काल

इन्होने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त मे लिखा है —

> श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।
> पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पञ्चभि ५५० रतीतैः ॥७॥
> ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै।
> त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥८॥

इससे ज्ञात होता है कि इन्होने यह ग्रन्थ चापवंशीय व्याघ्रमुख नामक राजा के राज्यकाल में शके ५५० मे ३० वर्ष की अवस्था में बनाया अर्थात् इनका जन्म शक ५२० है। इनके पिता का नाम जिष्णु था।

स्थान

ये भिनमाल के निवासी थे। यह गाव आबू पर्वत और लूणी नदी के बीच मे आबू से ४० मील वायव्य मे गुजरात के उत्तरी सरहद पर दक्षिण मारवाड मे है। इस समय यह एक छोटा सा गाव है। पहिले इसका नाम भीलमाल या श्रीमाल था। यह माघ कवि की जन्मभूमि है। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी मे जब कि ह्वेनसाग नामक चीनी यात्री यहा आया था, यह उत्तर गुजरात की राजधानी था। ब्रह्मगुप्त ने अपना सिद्धान्त चापवंशीय व्याघ्रमुख राजा के समय में लिखा है और वे भिल्लमालकाचार्य[1] कहलाते है। चावडे अथवा चापोत्कट वंश का राज्य सन् ७५६ से ९४१ पर्यन्त अन्हिलवाड मे था और इस समय भी उत्तर गुजरात मे छोटी-छोटी रियासतें उसके अधिकार मे है अतः यह चावडे वंश ही ब्रह्मगुप्त-कथित चापवंश होना चाहिए। ह्वेनसाग ने ब्रह्मगुप्त-काल के लगभग गुजरात की राजधानी भिलमाल लिखी है और अभी भी गुजराती ज्योतिषियो मे यह कथा प्रचलित है कि ब्रह्मगुप्त भिनमाल के निवासी थे अतः इनका निवासस्थान भिनमाल ही होना चाहिए।

[1] खण्डखाद्य के टीकाकार वरुण ने इनके लिए 'भिल्लमालकाचार्य' सदृश एक नाम का प्रयोग किया है और वह कुछ हस्तलिखित पुस्तकों के अन्त में मिलता है। Indian Antiquary, XVII p 192 July 1888

ग्रन्थ

इस समय इनके ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त और खण्डखाद्यकरण नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध है। खण्डखाद्य मे आरम्भ वर्ष शके ५८७ है। इससे ज्ञात होता है कि उसे इन्होने ६७ वर्ष की अवस्था मे बनाया था। ब्रह्मसिद्धान्त के २४ वे अध्याय का एक श्लोक है —

गणितेन फल सिद्ध ब्राह्मे ध्यानग्रहे यतोऽध्याये।
ध्यानग्रहो द्विसप्तत्यार्याणा न लिखितोऽत्र मया ॥

इससे ज्ञात होता है कि इन्होने ध्यानग्रह नामक ७२ आर्याओ का एक अध्याय अनुमानत फलादेश विषयक बनाया था और उसे इस ग्रन्थ मे नही लिखा था। इस समय वह उपलब्ध भी नही है। पता नही चलता, उसमे जातक सम्बन्धी फल थे या सहिता ग्रन्थो सरीखे, परन्तु उपर्युक्त आर्या से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि मे वह बडा महत्वपूर्ण और शिष्यो को गुप्त रीति से बताने योग्य था।

बेरुनी के ग्रन्थ के आधार पर प्रोफेसर साचो लिखत हे—"प्राच्य-सुधार के इतिहास मे ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। अरबनिवासियो को टालमी के ग्रन्थ का पता लगने के पहिले उन्हे ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिषशास्त्र सिखाया क्योकि अरबी भाषा के साहित्य मे 'सिन्धिद' और 'अल अरकन्द' ग्रन्थो के नाम बार-बार आते है और वे दोनो ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त और खण्डखाद्य के अनुवाद है" (भाग २ पृष्ठ ३०४)। ये अनुवाद खलीफ मनसूर के समय मे हुए होग। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सिन्ध प्रान्त मे ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थो का अधिक प्रचार था। खण्डखाद्य की बलभद्रकृत टीका का उल्लेख बेरुनी ने बार-बार किया है। उसने ब्रह्मसिद्धान्त और खण्डखाद्य का अरबी मे अनुवाद किया था (भाग २ पृष्ठ ३०३, ३३९)। उसके पहिले के अनुवाद अच्छे नही थे—ऐसा बेरुनी ने उनमे दोष दिखलाया है। ये अनुवाद अभी तक उपलब्ध नही हो सके है। बेरुनी सिन्ध प्रान्त में बहुत दिनो तक रहा था। उसके लेखो के अनेको स्थलो से प्रकट होता है कि उस समय सिन्ध में ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थो का प्राधान्य था।

अन्य ब्रह्म सिद्धान्त

ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के अतिरिक्त तीन और ब्रह्मसिद्धान्त हैं। एक वह है जिसे इन्होने ब्रह्मोक्त ग्रहगणित कहा है। वह वस्तुत पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पितामहसिद्धान्त ही है और उसकी रचना शकारम्भ के बहुत पहिले हुई है दूसरा वह है जिसे ब्रह्मा ने नारद को बतलाया था। वह शाकल्योक्त-ब्रह्मसिद्धान्त नाम से प्रसिद्ध है। मेरे मत में वह शके ७४३ के बाद का है। भगणादि मान या अन्य किसी भी विषय में साम्य न होने के कारण उसका ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से भिन्न होना स्पष्ट है। तीसरा ब्रह्म-

सिद्धान्त विष्णुधर्मोत्तर नामक[1] पुराण में है। भटोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका में ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त की बहुत सी आर्याएँ उद्धृत की हैं। उनके विषय में उन्होंने अधिकतर 'ब्रह्मसिद्धान्ते' और कहीं-कहीं 'तथा च ब्रह्मगुप्तः' लिखा है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त या विष्णुधर्मोत्तरपुराणान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त का नाम कहीं नहीं लिया है। इससे ज्ञात होता है कि वे दोनों उस समय रहे हों तो भी विशेष प्रसिद्ध नहीं थे, कम से कम उत्पल तो ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को ही ब्रह्मसिद्धान्त समझते थे। ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त को सर्वत्र 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' या 'ब्रह्मसिद्धान्त' कहा है। मैं भी सुविधा के लिए आगे इसे ब्रह्मसिद्धान्त ही कहूँगा।

ब्रह्मसिद्धान्त के कल्पीय भगणादि मान

	भोगभगण	मन्दोच्च भगण	पात-भगण		भोगभगण	मन्दोच्च भगण	पात-भगण
सूर्य	४३२००००००००	४८०		बुध	१७९३६९९८९८४	३३२	५२१
चन्द्र	५७७५३३०००००			गुरु	३६४२२६४५५	८५५	६३
चन्द्रोच्च	४८८१०५८५८			शुक्र	७०२२३८९४९२	६५३	८९३
राहु	२३२३१११६८			शनि	१४६५६७२९८	४१	५८४
मंगल	२२९६८२८५२२	२९२	२६७				

नक्षत्रभ्रम	१५८२४३६४५००००	चान्द्रमास	५३४३३३०००००
सावनदिन	१५७७९१६४५००००	तिथि	१६०२९९९००००००
सौरमास	५१८४०००००००	क्षयाह	२५०८२५५००००
अधिमास	१५९३३०००००	वर्षमान	३६५।१५।३०।२२।३०

ये सब मान कल्पीय हैं। इनमें सब ग्रहों की भगणसंख्याएं किसी भी एक संख्या से नहीं कटतीं, अतः इस ब्रह्मसिद्धान्तानुसार कल्पारम्भ के अनन्तर काल में किसी

[1] इसकी एक प्रति डेक्कन कालेज पूना में है।

भी समय सब मध्यम ग्रह एक स्थान मे नही आते। प्रथम आर्यसिद्धान्त और दोनो सूर्यसिद्धान्तो के अनुसार कलियुगारम्भ मे सब मध्यम ग्रह एकत्र होते है, पर इसमे ऐसा नही है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे लिखा है कि कल्पारम्भ के बाद कुछ वर्षो तक ब्रह्मा सृष्टि बनाते है और उनके बाद ग्रहो का चलना आरम्भ होता है, पर इसमे कल्पारम्भ ही ग्रहचारारम्भ माना गया है।

वर्षमान

उपर्युक्त मानो के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि इस ग्रन्थ का वर्षमान पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पुलिश और रोमक सिद्धान्तो को छोडकर भारतीय प्रत्येक सिद्धान्त के वर्षमान मे न्यून है, पर वे दोनो ब्रह्मगुप्त के समय प्रचलित ही नही थे, यह प्राचीन और वर्तमान सिद्धान्तपञ्चक के विवेचन मे सिद्ध कर चुके है। उस समय आर्यसिद्धान्त और मूल सूर्यसिद्धान्त का प्रचार था। ब्रह्मसिद्धान्त का वर्तमान प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्षमान मे ५२ १/२ विपल और मूल सूर्यसिद्धान्त से ६७ १/२ विपल कम है। यद्यपि ये अन्तर बहुत थोडे दिखाई देते है, पर इनके कारण शके ५४० मे ब्रह्मसिद्धान्त की मेषसक्रान्ति प्रथम आर्यसिद्धान्त मे ५४ घटी १४ १/८ पल पूर्व और मूल सूर्यसिद्धान्त की मेषसक्रान्ति मे ५४ घटी ४३ ७/८ पल पूर्व हुई थी। इसका मुझे एक मात्र कारण यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने मेषसक्रान्ति विषुवदिन मे मानी है जब कि रात और दिन समान होते है और सूर्योदय क्षितिज के ठीक पूर्व विन्दु में होता है। ऐसी मेषसक्रान्ति सायनरवि की होती है। गणित द्वारा ब्रह्मगुप्त-काल के आसपास के किसी इष्ट शक की सायन स्पष्टरवि की सक्रान्ति का जो काल आता है,ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त से भी लगभग वही आता है। शके ५०९ में ब्रह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसक्रान्ति चैत्र शुक्ल ३ भौमवार ता० १८ मार्च सन् ५८७ को उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से ५६ घटी ४० पल पर आती है और उस वर्ष मे सायन स्पष्टरवि की सक्रान्ति भी उसी दिन उसी समय आती है [1]। ब्रह्मगुप्त का जन्म शके ५२० मे हुआ था। उन्होने शके ५४० के लगभग वेध करना आरम्भ किया होगा। शके ५४० में ब्रह्मसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसक्रान्ति चैत्र कृष्ण १ शनिवार को ५७ घटी २२ पल पर आती है और उस समय सायन स्पष्टरवि शून्य राशि शून्य अश ३० कला आता है अर्थात् ब्रह्मगुप्त की मेषसक्रान्ति के लगभग

[1] सायनरवि का गणित केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा किया है। यह ग्रन्थ बहुत सूक्ष्म नहीं है इसलिए यह घटना एक वर्ष आगे या पीछे भी हो सकती है। उपर्युक्त गणित में सूर्य में कालान्तर सस्कार नहीं दिया है। वह उस समय के आसपास लगभग २ कला है। इस कारण भी एक दो वर्ष का अन्तर पड़ेगा।

३० घटी पूर्व सायन मेषसक्रान्ति होती है। मेषसक्रान्ति के समय ३० घटी मे सूर्य की क्रान्ति लगभग १२ कला बढती है, अत शके ५४० मे ब्रह्मसिद्धान्तीय मेषसक्रान्ति के समय सूर्य विषुववृत्त से केवल १२ कला उत्तर रहा होगा। यदि उस दिन सूर्योदय के समय ही ब्रह्मसिद्धान्त की मेषसक्रान्ति हुई होती तो उस समय पूर्व विन्दु से १२ कला उत्तर की ओर सूर्यमध्यविन्दु दिखाई दिया होता परन्तु मेषसक्रान्ति सूर्योदय मे ही नहीं हुआ करती। एक बात यह और दूसरी यह कि दिक्साधन करने मे भी कुछ कलाओ की अशुद्धि होने की सभावना है, तीसरे वेध के साधन स्थूल थे। इन बातो का विचार करने मे अनुभवी मनुष्य सहज ही समझ जायगा कि १२ कलाओ की अशुद्धि होना असम्भव नही है। इससे मुझे निश्चित रूप से यही ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने सायन-रवि के मेषसक्रमण को ही मेषसक्रमण माना था। अपने सिद्धान्त के २४ वे अध्याय मे उन्होने लिखा है —

यदि भिन्ना सिद्धान्ता भास्करसक्रान्तयोऽपि भेदसमा।
स स्पष्ट पूर्वस्या विषुवत्यर्कोदयो यस्य ॥४॥

यदि सिद्धान्त भिन्न है तो सूर्य की सक्रान्तिया भी उस भेदानुसार ही होनी चाहिए, परन्तु वह सूर्य तो विषुवदिन मे उदय के समय पूर्व में स्पष्ट दिखाई देता है।

इसका तात्पर्य इतना ही है कि आकाश मे सूर्य की सक्रान्तिया भिन्न-भिन्न समयो में नहीं दिखाई देगी[1]। यहा विषुवदिन के सूर्योदयकालीन सूर्य का उल्लेख है, अत वह सायन ही है और यह भी स्पष्ट है कि ब्रह्मगुप्त ने यह बात वेध के आधार पर लिखी है। उन्हें अयनगति का ज्ञान नही था और उनके पहिले यदि वह ज्ञात रही हो तो भी उन्होने उसका विचार नही किया, इसमें कोई सन्देह नही है, अत उनकी दृष्टि में सायन सूर्य और ग्रन्थागत (निरयण) सूर्य दो पदार्थ नही थे। उन्होने अपना सिद्धान्त इस प्रकार बनाया कि उससे सायन ही सूर्य आवे, परन्तु यह व्यवस्था उन्ही के समयतक रही। इसका कारण यह है कि उनके समय सक्रान्ति लगभग ५४ घटी पहिले हुई परन्तु यह जो परम्परागत दृढ ग्रह चला आ रहा था कि कलियुगारम्भ में (उनके मतानुसार शुक्रवार के सूर्योदय के समय) मध्यम सूर्य मेषारम्भ में था, इसके बाहर वे न जा सके। इसलिए उन्होने वह ५४ घटी अशुद्धि कलियुगारम्भ मे ब्रह्मसिद्धान्त-रचनाकाल पर्यन्त

[1] इस विसवाद के कारण ही इन्होंने एक ब्रह्मसिद्धान्त को ही सिद्धान्त और शेष ग्रन्थों को केवल ग्रन्थरचना कहा है और उनमें अनेकों दोष दिखलाए है। अन्य ग्रन्थों की सक्रान्ति उनकी सक्रान्ति से लगभग एक दिन बाद होती है!

लगभग ३८३० वर्षों में विभक्त कर दी और अपना सिद्धान्त इस प्रकार बनाया कि उसमें मेषसंक्रान्ति उस समय आवे जब कि आकाश में सूर्य ठीक पूर्व में उगे अर्थात् सायनमेष में आवे। ऐसा करने से वर्षमान कुछ विपल कम हो गया। यदि इस अशुद्धि को ३८३० वर्षों में विभक्त करने का प्रपञ्च उनके पीछे न लगा होता और उन्होंने यदि उसका विचार किया होता कि संक्रान्ति अमुक काल से आज तक इतना पीछे जाती है तो वे वर्षमान सायन अर्थात् ३६५।१४।३२ लिखते अथवा वर्षमान पहिले का ही रखकर सम्पात में गति मानते। सिद्धान्त के ३७ वर्ष बाद उन्होंने खण्डखाद्य करण बनाया और उसमें वर्षमान मूल सूर्यसिद्धान्त का रखा। इससे ज्ञात होता है कि वर्षमान प्राचीन ही रख कर अयनगति मानने की ओर उनका झुकाव हुआ रहा होगा अथवा सायनवर्ष का वास्तव मान जानते हुए और उसी को ग्रहण करना उचित है, ऐसा दृढ निश्चय रखते हुए भी उन्हे परम्परागत वर्षमान छोडने या अपने सिद्धान्त में गृहीत वर्षमान को पुन बदलने का साहस नही हुआ होगा। भास्कराचार्य ने सिद्धान्त-शिरोमणि के गोलबन्धाधिकार (आर्या १७-१९ की टीका) में लिखा है —'कथ ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुर्णैरपि (क्रान्तिपात) नोक्त।' इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ मे अयनगति के विषय मे कुछ भी नही लिखा था।

सायन

पञ्चाङ्ग सायन होना चाहिये या निरयण, इस विषय में सम्प्रति विवाद है। उपर्युक्त विवेचन द्वारा सायनगणना की पोषक यह एक बात ज्ञात हुई कि ब्रह्मगुप्त के मत मे सायनरविसंक्रमण ही वास्तविक सक्रमण था। उसके अनुसार उनका उद्देश्य वर्षमान बदलने का था और उन्होंने बदला भी। यदि वे यावज्जीवन वेध करके उसकी तुलना करते तो उनके सरीखे अन्वेषक को सायनवर्ष का वास्तव मान ज्ञात होना कठिन नही था। सम्भव है, सायनवर्ष का शुद्ध मान जानते हुए भी उन्हें परम्परागत वर्षमान छोडने का साहस न हुआ हो। उनका वर्षमान औरो से कम है, इसका मैंने जो कारण दिखाया है उसके विषय में विद्वानो को यह न सोचना चाहिए कि सायनमताभिमानी होने के कारण मैंने यह हेतु ढूंढ निकाला है। मै तो समझता हू, निरयणमत के पूर्ण अभिमानियो को भी यह बात मान्य होगी।

ग्रहशुद्धि और वेध

ब्रह्मसिद्धान्त की उपर्युक्त ग्रहभगणसख्याए अन्य सिद्धान्तो से कुछ भिन्न है, पर ब्रह्मसिद्धान्त और आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाये हुए शके ४२१ के मध्यम ग्रहो में विशेष अन्तर नही है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त ने

अपने समय में वेधानुकूल ग्रह लाने के लिए उनके भगणो की स्वय कल्पना की है, उक्त मन्दोच्च और पातो की तुलना से भी उनका तद्विषयक अन्वेषण ज्ञात होता है। इस प्रकार वर्षमान, ग्रहभगणसख्या और उच्च-पातभगणो से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त स्वय वेध करनेवाले अन्वेषक थे और ज्योतिषशास्त्र मे यही सबसे अधिक महत्त्व की बात है। ऐसे पुरुष मे जो स्वाभाविक तेज और उचित स्वाभिमान होना चाहिए वह उनके ग्रन्थ मे अनेको स्थानो मे व्यक्त हुआ है। स्पष्टाधिकार के द्वितीय अध्याय में उन्होने लिखा है कि 'ब्रह्मोक्त रविशशि और उनके द्वारा लायी हुई ही तिथि शुद्ध है और अन्य तन्त्रो द्वारा लायी हुई दूरभ्रष्ट है।' इसके आगे लिखा है—'ब्रह्मसिद्धान्तीय मध्यमग्रह, मन्दोच्च और शीघ्रपरिधि द्वारा भौमादि स्पष्टग्रह शुद्ध आते है, आर्यभटीय से नही।'

> ब्रह्मोक्तमध्यरविशशितदुच्चतत्परिधिभि स्फुटीकरणम् ।
> कृत्वैव स्पष्टतिथिर्दूरभ्रष्टान्यतन्त्रोक्तै ।।३१।।
> आर्यभटस्याज्ञानान्मध्यममन्दोच्च शीघ्रपरिधीनाम् ।
> न स्पष्टा भौमाद्या स्पष्टा ब्रह्मोक्तमध्याद्यै ।।३३।।

ऐसे अन्य भी बहुत से उदाहरण है, पर कहे बिना नही रहा जाता, उनके इस अभिमान ने मात्रा से अधिक होने के कारण कही-कही दुरभिमान का रूप धारण कर लिया है। उन्होने अपने सिद्धान्त मे दूषणाध्याय नामक ६३ आर्याओ का एक (११ वा) स्वतन्त्र अध्याय लिखा है। उसमें आर्यभट में कुछ ऐसे दोष दिखलाये है जिन्हे केवल दुराग्रह ही कहा जा सकता है।

ब्राह्मसिद्धान्तविषय

उपोद्घात में बतलाये हुए ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थो के मुख्य अधिकार इस सिद्धान्त में आरम्भ के १० अध्यायो में है, पर आगे के १४ अध्यायो में अन्य भी बहुत से विषय है और वे बडे महत्व के है। उनमें से दूषणाध्याय, अकगणित, बीजगणित और यन्त्र सम्बन्धी चार अध्यायो को छोड शेष मे मुख्यत पूर्वार्ध में वर्णित विषयो की उपपत्ति है। १२ वा अध्याय अकगणित और क्षेत्रफलादि विषयक है। उसमें ५६ आर्याओं मे भास्कराचार्य की लीलावती के बहुत से विषय है। १८ वे में विशेषत बीजगणित है। उसमें ७२ आर्याए है। बीजगणित शब्द उसमें कही नही है। उसका नाम कुट्टकाध्याय है। उसमें भास्करीय बीजगणित के बहुत से विषय है। एक कुट्टक नाम का प्रकरण है। वह मुख्यत मध्यम ग्रहादिको के लिए लिखा गया है। ब्रह्मसिद्धान्त में सब २४ अध्याय और १००८ आर्याए है।

टीकाए

ब्रह्मसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायो की पृथूदकटीका डे० का० पुस्तकसग्रह मे है। कोलब्रूक के लेख से ज्ञात है कि उन्हे सम्पूर्ण टीका मिली थी। मुझे अभी तक सम्पूर्ण टीका नही मिली है। कोलब्रूक ने सन् १८१७मे इसके अकगणित और वीज-गणिताध्यायो का इगलिश मे अनुवाद किया है।

प्रक्षेप

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त के प्रत्येक अध्याय के अन्त मे आर्यासख्या लिखी है। मूलग्रन्थो मे वाद मे परिवर्तन हो जाया करता है, इसका अनुभव होने के कारण उन्होने अपने ग्रन्थ मे यह व्यवस्था की, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी पाच-सात आर्याए न्यूनाधिक हुई-सी ज्ञात होती है। तीन आर्याए टीकाविहीन पुस्तको मे है पर पृथूदकटीका-युक्त पुस्तक मे नही है। उनमे से विष्कम्भादिक योगसम्वन्धी एक आर्या विशेष ध्यान देने योग्य है। वह स्पष्टाधिकार मे है।

योग

उसमें योगसाधन की रीति है। सटीक पुस्तक मे वह नही है। इससे हमे मालूम होता है, आधुनिक पञ्चाङ्गो का विष्कम्भादिक २७ योग सम्वन्धी एक अग अर्थात् व्यतीपात और वैधृति इत्यादि योग ब्रह्मगुप्त के समय नही थे। वे पञ्चसिद्धान्तिका मे भी नही है। इसका अधिक विवेचन पञ्चाङ्ग-विचार मे करेगे।

खण्डखाद्य

अब थोडा-सा विवेचन इनके खण्डखाद्य का करेगे। खण्डखाद्य नाम वडा विचित्र है। पता नही, इन्होने ऐसा नाम क्यो रखा। इसके पूर्व और उत्तर दो भाग है। पूर्वार्ध मे ९ अधिकार और १९४ आर्याए तथा उत्तरार्ध में ५ अधिकार और ७१ आर्यायें है। पूर्वार्ध के आरम्भ मे ही लिखा है—आर्यभट के ग्रन्थ से दैनन्दिन व्यवहार नही चल सकता, इसलिए मै उसके तुल्य फल देनेवाला करण वताता हू अर्थात् इससे ग्रहादि उसके समान ही आवेगे।

> वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम् ॥१॥
> प्रायेणार्यभटेन व्यवहार प्रतिदिन यतोऽशक्य ।
> उद्वाहजातकादिषु तत्समफललघुतरोक्तिरत ॥ २ ॥

खण्डखाद्य मे वर्षमान आर्यसिद्धान्त का नही, वल्कि मूल सूर्यसिद्धान्त का अर्थात् ३६५।१५।३१।३० है। इसलिए इसमे युगप्रवृत्ति स्वकीय अथवा आर्यभटीयसिद्धान्त

के अनुसार सूर्योदय में न मानकर मूल-सूर्यसिद्धान्तानुसार अर्धरात्रि में माननी पड़ी है। इसमें आरम्भ वर्ष शके ५८७ है। उस वर्ष स्पष्टमान से वैशाख शुक्ल प्रतिपदा रविवार को आती है। इसमें क्षेपक उसके पूर्व की मध्यरात्रि के अर्थात् अमान्त चैत्र-कृष्ण ३० अमावस्या शनिवार की मध्यरात्रि के है और वहीं से अहर्गणसाधन किया गया है। मूल सूर्यसिद्धान्तानुसार मध्यम मेषसंक्रान्ति उसी शनि को १२ घटी ९ पल पर आती है[1]। क्षेपक ये हैं —

	रा	अं	क	वि		रा	अं	क	वि
सूर्य	०	०	३२	२२	बुध	९	०	४४	४९
चन्द्रमा	०	९	९	४३	गुरु	६	४	२५	१६
चन्द्रोच्च	१०	८	२८	९	शुक्र	१०	०	१९	१४
राहु	०	१८	४७	२३	शनि	९	६	४१	१६
मंगल	३	१०	१३	६					

मूल सूर्यसिद्धान्त के भगणादि मान ऊपर पृष्ठ में लिखे हैं। उनके द्वारा लाये हुए शके ५८७ चैत्र कृष्ण ३० शनिवार की मध्यरात्रि के ग्रहों में से चन्द्रोच्च और राहु को छोड़ शेष सब उपर्युक्त क्षेपकों से बिलकुल ठीक-ठीक मिलते हैं। आर्यभटसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रह इनसे नहीं मिलते। इससे सिद्ध हुआ कि वर्षमान, अहर्गणारम्भ और प्रायः क्षेपक, इन सब बातों में खण्डखाद्यकरण का मूल सूर्यसिद्धान्त से साम्य है। मूल सूर्यसिद्धान्त के राहुभगण ज्ञात नहीं हैं। चन्द्रोच्चमूलसूर्यसिद्धान्त से नहीं मिलता तो आर्यभटीय या ब्रह्मसिद्धान्त से भी नहीं मिलता। राहु आर्य और ब्राह्म, किसी भी सिद्धान्त से नहीं मिलता। खण्डखाद्य में वर्षमान और वर्षारम्भ ब्रह्मसिद्धान्त से भिन्न माने गये हैं। अतः उसमें ब्रह्मसिद्धान्तीय चन्द्रोच्च और राहु का न होना ठीक ही है। यद्यपि खण्डखाद्य का आर्यभटीयसिद्धान्त से पूर्ण साम्य नहीं है तथापि आर्यभटीय और मूलसूर्यसिद्धान्त के कुछ मानों में साम्य होने के कारण शके ५८७ में खण्डखाद्यानुसार लायी हुई ग्रहमध्यमस्थिति आर्यभटसिद्धान्त से बहुत मिलती थी।

ब्रह्मगुप्त ने खण्डखाद्य के उत्तरार्ध के आरम्भ में ही लिखा है कि आर्यभट का ग्रहस्पष्टीकरण स्फुट (दृक्प्रत्ययद) नहीं है। इसलिए मैं उसे अब स्फुट कर रहा हूँ। इसकी टीका में टीकाकार वरुण ने लिखा है—'ब्रह्मगुप्त ने अपने कथनानुसार इस ग्रन्थ का

[1] पञ्चसिद्धान्तिका में भी अमावास्या के पास की ही मध्यम मेषसंक्रान्ति सुविधा के लिए ली गयी है, यह वराहमिहिर के वर्णन में लिख चुके हैं। अन्य बातों में भी दोनों में बड़ा साम्य है।

पूर्वार्ध आर्यभटतुल्य बताया है और उत्तरार्ध मे दृक्प्रत्यय आने योग्य फलसस्कार अपने ग्रन्थ के अनुसार बताया है। इसमे न लिखी हुई बाते आर्यभटकरण से लेनी चाहिए। टीकाकार के इस कथन और उत्तरार्ध के अन्य प्रकरणो से ज्ञात होता है कि खण्डखाद्य मे उन्होने केवल दृक्प्रत्यय आने योग्य फेरफार किया है। वर्षमान, ग्रहमध्यमगति, क्षेपक और युगारम्भवेला, ये महत्त्व की बाते आर्यभट के ग्रन्थ मे ली है। वरुण के उपर्युक्त उल्लेख इत्यादिको से ज्ञात होता है कि आर्यभट का वह ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध आर्यसिद्धान्त नही, बल्कि आर्यभट का करणग्रन्थ है।

आश्चर्य की बात यह है कि इन्होने स्वकीय सिद्धान्त को छोड उस आर्यभट के ग्रन्थ तुल्य बनाने की प्रतिज्ञा की है और प्राय वह निभायी भी है, जिसके ये पूर्ण प्रतिस्पर्धी थे और जिस पर इन्होने दूषणो की वर्षा की है। इसके हमे दो कारण दिखायी देते है। एक तो यह कि उस समय आर्यभट का ग्रन्थ अतिशय लोकमान्य रहा होगा जिससे ये उसे छोड नही सके होगे। दूसरे इनके सिद्धान्त की सक्रान्ति खण्डखाद्यरचनाकाल मे अर्थात् शके ५८७ मे मूल सूर्यसिद्धान्त मे ५५ घटी ३६$\frac{६}{७}$ पल पूर्व और आर्यभटीय मे ५४ घटी ५५$\frac{३}{७}$ पल पूर्व आती थी। इतना अन्तर रहने से दोनो के अधिक मासादि भी भिन्न होगे। अधिकमास का भेद और एक दिन पहिले सक्रान्ति लगना, ऐसी बाते है जिन्हे एक अज्ञानी मनुष्य भी समझ सकता है। इस कारण स्वकीय सिद्धान्त के मानो के प्रचार मे उन्हें लोकमत की प्रतिकूलता दीख पडी होगी। इन्ही दोनो कारणो से उन्हे स्वकीय सिद्धान्तानुसार करण बनाने का साहस नही हुआ होगा। विचारणीय बात यह है कि सक्रान्ति मे एक दिन से कम अन्तर होने पर भी ब्रह्मगुप्त अपने मानो का प्रचार नही कर सके तो आधुनिक केरोपन्ती और सायन पञ्चाङ्गो का प्रचलित होना कितना कठिन है जिनकी सक्रान्तिया प्राचीन पञ्चाङ्गो से क्रमश लगभग ४ और २२ दिन पूर्व होती है।

खण्डखाद्य की टीकाएं

खण्डखाद्य पर वरुण और भटोत्पल ने टीकाएं की है। पृथूदक की टीका मुझे अभी तक नही मिली है। और भी एक खण्डित टीका है जिसमे टीकाकार का नाम नही है पर उदाहरणार्थ शक १५६४ लिया गया है और चर तथा देशान्तर इत्यादि संस्कार काश्मीर सम्बन्धी है। अत स्पष्ट है कि वह टीकाकार काश्मीरी है। डेक्कनकालेज-सग्रह मे एक पञ्चाङ्गकौतुक नाम का ग्रन्थ है (न० ५३७ सन् १८७५-७६)। उसमें सरल रीति से पञ्चाङ्ग साधन होने योग्य सारणिया और रीतिया दी है, आरम्भ वर्ष शके १५८० है और सम्पूर्ण गणित खण्डखाद्य द्वारा किया है। उस ग्रन्थ में कही भी यह नही लिखा है कि वह काश्मीर में बना है, पर वह पुस्तक काश्मीर मे मिली है और

उसमें काश्मीर में प्रचलित लौकिक काल का उपयोग किया गया है अत स्पष्ट है कि उसका कर्ता काश्मीरी ही होगा। इससे सिद्ध होता है कि खण्डखाद्यकरण शके १५८० पर्यन्त काश्मीर में प्रचलित था। खण्डखाद्य की उपर्युक्त तीनो टीकाओ और पञ्चाङ्ग-कौतुक की प्रतिया, जो कि पूना के कालेजसगह मे है, काश्मीर में मिली है इससे ज्ञात होता है कि आज भी काश्मीर की ओर खण्डखाद्य का प्रचार होगा। भास्करा-चार्य ने उसका उल्लेख किया है। अलवेरुनी (शके ९५०) को खण्डखाद्यग्रन्थ मिला था। उसने उसके कुछ उद्धरण दिये है।

ब्रह्मसिद्धान्त का प्रचार

ब्रह्मगुप्त ने अपने सिद्धान्त से भिन्न खण्डखाद्य ग्रन्थ बनाया, इससे अनुमान होता है कि उन्हे इस बात का कम विश्वास रहा होगा कि हमारे सिद्धान्त के भी कुछ अनुयायी होगे और कालिदास की 'आपरितोपाद्विदुपा न साधु मन्ये विज्ञानम्' उक्ति के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक भी है। ६७ वर्ष की अवस्था मे उन्होने खण्डखाद्य बनाया। तब तक उनका सिद्धान्त प्रचलित नही हुआ रहा होगा और इतने दिनो तक अपने अनुयायियो का अभाव देखकर अन्त में निराश होकर उन्होने खण्डखाद्य बनाया होगा। अपनी कृति का सार्थक्य अपनी आखो से देखने का सौभाग्य महान् शोधको मे से कुछ ही को प्राप्त होता है। काल का भरोसा न करके उन्होने अपनी कृति स्वय छोड दी, यह बात उनके लिए किञ्चित् लाञ्छनास्पद है, परन्तु ऐसे महाविद्वान् की उत्कृष्ट कृति से विद्वानो को परितोष न हो, यह कैसे हो सकता है? उन्ही के सदृश महान् ज्योतिषी भास्कराचार्य ने उन्ही का आगम स्वीकार किया है। भास्कराचार्य से पहिले के भी ब्रह्मसिद्धान्तानुयायी दो करण मिलते है। इन सब में ब्रह्मसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहो मे एक बीजसस्कार दिया है। राजमृगाककरण मे जो कि शके ९६४ मे बना है, यह सस्कार सर्व-प्रथम मिलता है, परन्तु इसके पहिले ब्रह्मसिद्धान्त इस बीजसस्कार के बिना ही अपने निज रूप में प्रचलित था, इसका मुझे एक उदाहरण मिला है।

निजरूप

सन् १८८३-८४ के पूनाकालेजसग्रह में गुणभद्रकृत उत्तरपुराण नामक एक ग्रन्थ मिला है (न० २८९)। उसमे उसके रचनाकाल के विषय में लिखा है—

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशत ८२० मिताब्दान्ते।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥३५॥
श्रीपञ्चम्या बुधार्द्रायुजि दिवसवरे मन्त्रिवारे बुधाशे, पूर्वायां सिंहलग्ने
धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलागौ ॥ सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ ॥

इस श्लोक के अनुसार उस समय की ग्रहस्थिति यह है —

सूर्य	– कुलीर (कर्क) राशि मे	गुरु	– गवि (वृष में)
चन्द्रमा–	पूर्वा (भाद्रपदा) मे	शुक्र	– कुलीर (कर्क) राशि मे
मगल	– धनु राशि मे	शनि	– (आकि)–वृश्चिक राशि में
बुध	– आर्द्रा नक्षत्र मे	राहु	– (अगु)–तुला राशि मे

पिङ्गल सवत्सर शके ८१९ गत अर्थात् ८२० वर्तमान मे आता है। यहा शका होती है कि गणित ८१९ का किया जाय या ८२० का। श्लोक मे केवल तिथि दी है, मास और पक्ष नही दिये हैं और वार का नाम मन्दिवार लिखा है। वह प्राय गुरुवार या कदाचित् शुक्रवार होगा। इसमे वास्तविक दिन का ठीक पता नही चलता पर उसे ढूंढने का एक उत्कृष्ट साधन यह है कि श्लोक में सब ग्रहो की स्थिति दी है। सम्पूर्ण स्थिति जिस दिन मिले वही वास्तविक दिन है। शके ८१९ और ८२० के अनेक दिनो का गणित करने से ज्ञात हुआ कि शके ८१८ गत अर्थात् ८१९ वर्तमान मे अमान्त आषाढ कृष्ण ५ गुरुवार ता० २३ जून सन् ८९७ को सूर्योदय से लगभग २४ घटी पर्यन्त श्लोकोक्त ग्रहस्थिति आती है। श्लोक में लग्न सिंह लिखा है। वह सूर्योदय से लगभग ४ घटी से आरम्भ हो कर ९ घटी पर्यन्त था। दो वर्षो में इसके अतिरिक्त एक भी दिन ऐसा नही मिलता जिसमें इस ग्रहस्थिति की सभावना हो। श्लोकोक्त चन्द्रस्थिति एक दिन भी आगे या पीछे नही मिलती। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह ग्रहस्थिति ब्रह्मसिद्धान्तानुसार ब्रह्मसिद्धान्त के वर्षमान से मिलती है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से इसकी सगति नही लगती। सूर्यसिद्धान्तानुसार आषाढ कृष्ण ५ गुरुवार को सूर्य मिथुन राशि मे आता है। शुक्रवार को सूर्योदय से लगभग ५ घटी के बाद कर्क राशि में आता है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से गुरुवार को कर्कराशि में नही आता। इस शक मे ब्रह्मसिद्धान्त की सक्रान्ति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की सक्रान्ति से ६१ घटी ३१ पल पूर्व आती है। इसी प्रकार वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से गुरुवार को मगल भी मकर राशि मे आता है और ब्रह्मसिद्धान्तानुसार धनु राशि में आता है। साराश यह कि ब्रह्मसिद्धान्तानुसार यह स्थिति बिलकुल ठीक-ठीक मिलती है और अनेक बातो का विचार करने से भी इसमे सन्देह का स्थान दिखायी नही देता[1]। इससे नि सशय सिद्ध होता है कि शके ८१९ में ब्रह्मसिद्धान्त अपने निजरूप मे प्रचलित था। यह पुराण

[1] उपर्युक्त श्लोक मूलग्रन्थ में बहुत अशुद्ध है। उसे मैंने शुद्ध किया है। इसका स्पष्टीकरण प्रो० भाण्डारकर के पुस्तकसंग्रह की सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट के पृष्ठ ४२९-३० में देखिए।

राष्ट्रकूट-वंशीय दक्षिण के अकालवर्ष नामक राजा के राज्यकाल में वही बना है। कहने का अभिप्राय यह कि शके ८१९ में ब्रह्मसिद्धान्त दक्षिण में निजरूप में प्रचलित था। बीजसंस्कार उसमें बाद में दिया गया। उसकी कल्पना बाद में अन्य किसी ने की होगी।

बीज

ब्रह्मसिद्धान्त की वरुणकृत टीका शके ९६२ के आसपास की है। उसमें बीज के विषय में कुछ नहीं लिखा है। राजमृगाङ्ककरण में जो शके ९६४ में बना है, यह संस्कार है। मेरे मतानुसार इसकी कल्पना उसी समय हुई है। उसमें सूर्य में भी बीज दिया है। इससे ब्रह्मसिद्धान्तीय वर्षमान ३६५।१५।३०।२२।३० संस्कृत होने से लगभग ३६५।१५।३१।१७ अर्थात् प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्षमान से लगभग २ विपल अधिक हो गया है। इसके बाद के ब्रह्मपक्षीय जितने ग्रन्थ मिलते हैं, सब बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त तुल्य हैं। करणों में ऐसा प्रथम ग्रन्थ शके ९६४ का राजमृगाङ्क, दूसरा शके ९८० का करणकमलमार्तण्ड और तीसरा भास्कराचार्य का शके ११०५ का करण-कुतूहल है। ग्रहसाधनविषयक महादेवीसारणी नाम का एक ग्रन्थ शके १२३८ का है। शके १५०० के दो ग्रन्थ हैं। एक दिनकर नामक ज्योतिषी की खेटकसिद्धि और दूसरा चन्द्रार्की। ये सब बीजसंस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त तुल्य हैं। इनमें से करणकुतूहल अभी भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं। ग्रहलाघवकार ने जिन ग्रहों को ब्रह्मपक्षीय कहा है वे करणकुतूहल से लिये हैं। ब्रह्मसिद्धान्त निजरूप में अधिक से अधिक शके १००० तक प्रचलित रहा होगा और भास्कराचार्य के बाद उसका प्रचार बिलकुल नहीं रह गया होगा। इतना ही नहीं, मालूम होता है ब्रह्मसिद्धान्तीय सभी आवश्यकताओं की सिद्धान्त शिरोमणि द्वारा उत्कृष्ट रीति से पूर्ति हो जाने के कारण धीरे-धीरे ब्रह्मसिद्धान्त ग्रन्थ भी लुप्त होने लगा होगा। भास्कराचार्य के बाद के ग्रन्थों में ब्रह्मसिद्धान्त के उद्धरण क्वचित् ही मिलते है। सम्प्रति महाराष्ट्र में ब्रह्मसिद्धान्त ग्रन्थ प्राय कम मिलता है। अन्य प्रान्तों में भी यही स्थिति होगी।

ज्योतिषशास्त्र की स्थिति

हमारे देश मे प्रचलित ज्योतिषशास्त्र के वर्तमान स्वरूप और पद्धति के अंगों की पूर्णतया स्थापना हम समझते हैं प्राय ब्रह्मगुप्त के समय हुई है। बादमें समय-समय पर वेध द्वारा ग्रहस्थिति मे आवश्यकतानुसार फेरफार हुआ पर पद्धति मे अयनगति को छोड अन्य कोई नया अन्वेषण या सुधार प्राय नहीं हुआ। पहिले बता चुके हैं कि ग्रहभगण, मन्दोच्च और पात के विषय मे ब्रह्मगुप्त स्वतन्त्र शोधक थे, उनके ग्रहस्पष्टीकरणसम्बन्धी उपकरण भी स्वतन्त्र दीखते हैं। त्रिप्रश्नाधिकार में भी पूर्व ग्रन्थकारों

की अपेक्षा उनका अधिक कौशल दिखायी देता है। इन्होंने वेधादि विषयक जिन यन्त्रो का वर्णन किया है उनमे तुरीय यन्त्र की कल्पना इन्होने स्वय की है—यह मेरा मत है। इनसे पहिले के ग्रन्थो मे बीजगणित कही नही मिलता। अत उसके आविष्कारक भी कदाचित् ये ही होगे। सिद्धान्तसुन्दरकर्ता ज्ञानराज के पुत्र सूर्यदास की भास्करीय बीजगणित की एक टीका शके १४६० की है। उन्होने आर्यभट को सब मे प्राचीन बीजगणितकार माना है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ मे बीजगणित नही है और द्वितीय आर्यभट के ग्रन्थ मे है, पर आगे सिद्ध करेगे कि वे ब्रह्मगुप्त मे अर्वाचीन है। अत प्रस्तुत उपलब्ध प्रमाणो द्वारा प्रथम बीजगणितकार ब्रह्मगुप्त ही सिद्ध होते है। यद्यपि उन्होने बीजगणिताध्याय मे अहकारपूर्ण शब्दो मे कही भी यह नही लिखा है कि इसका आविष्कारक मै हू, इनसे अनुमान होता है कि उनके पहिले भी यह विषय रहा होगा परन्तु इसके प्राचीन ग्रन्थ नही मिलते। साराश यह कि ब्रह्मगुप्त बहुत बडे कल्पक और शोधक थे। भास्कर ऐसे आचार्य ने उन्हे 'कृती जयति जिष्णुजो गणकचक्रचूडामणि' कहा है। इसी प्रकार और भी एक स्थान मे लिखा है—"यदा पुनर्महता कालेन महदन्तर भविष्यति तदा महामतिमन्तो ब्रह्मगुप्तसमानधर्मिण एवोत्पत्स्यन्ते ते तदुपलब्धनुसारिणी गतिमुररीकृत्य शास्त्राणि करिष्यन्ति।" यहा भास्कराचार्य ने इन्हें 'स्वकीय अनुसन्धान द्वारा नवीन गतिस्थितिकल्पक महामतिमान् शास्त्रकार' की उपाधि दी है और यह योग्य है।

लल्ल (लगभग शक ५६०)

ग्रन्थ स्थान और काल

इनका धीवृद्धिदतन्त्र नाम का एक ग्रहगणितग्रथ है। काशी मे सुधाकर द्विवेदी ने इसे सन् १८८६ मे शुद्ध करके छपाया है। रत्नकोष नाम का इनका एक मुहूर्त ग्रन्थ है। इन्होने अपना काल और स्थान नही लिखा है। भास्कराचार्य ने गोलाध्याय में वृत्तपृष्ठफलानयनसम्बन्धी इनका एक श्लोक देकर उसका खण्डन किया है, इससे ज्ञात होता है कि इनका पाटीगणित का भी ग्रन्थ रहा होगा। सुधाकर ने लिखा है कि इनका बीजगणित का भी ग्रन्थ रहा होगा। बेरुनी के ग्रन्थ मे शके ९५० के पहिले के सभी प्रसिद्ध ज्योतिषियो का कुछ न कुछ वर्णन है, पर लल्ल का नाम तक नही है। इससे ज्ञात होता है कि सिन्ध, पजाब, काश्मीर, किंबहुना उत्तर भारत के अधिकाश भाग में कम से कम शके ९५० तक लल्ल के ग्रन्थ प्रचलित नही हुए थे। लल्ल बीजसस्कृत प्रथमार्यसिद्धान्त का दक्षिण में प्रचार है। इन दोनो हेतुओ से ज्ञात होता है कि लल्ल दाक्षिणात्य रहे होगे। धीवृद्धिदतन्त्र के मध्यमाधिकार मे लिखा है—

विज्ञाय शास्त्रमलमार्यभटप्रणीत तन्त्राणि यद्यपि कृतानि तदीयशिष्यैः।
कर्मक्रमो न खलु सम्यगुदीरितस्तैः कर्म ब्रवीम्यहमत क्रमशस्तु सूक्तम् ॥२॥

उत्तराधिकार में आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहो में निम्नलिखित बीजसस्कार देने के लिए कहा है।

> शाके नखाब्धि ४२० रहिते शशिनोऽक्षदस्रै २५ स्तत्तुङ्गत कृतशिवै ११४ स्तमस पडङ्कै ९६। शैलाब्धिभि ४७ सुरगुरोर्गुणिते सितोच्चात् शोध्य त्रिपञ्चकु १५३ हृतेऽभ्रशराक्षि २५ भक्ते ॥१८॥ भाम्बुधि ४८ हृते क्षितिनन्दनस्य सूर्यात्मजस्य गुणितेऽम्बरलोचनै २ श्च। व्योमाक्षिवेद ४२० निहते विदधीत लब्ध शीतांशुसूनु-चलतुङ्गकलासु वृद्धिम् ॥१९॥ इति ग्रहकर्म दृक्प्रभावात् ॥२०॥ आसीदशेप वुधवन्दितपादपद्म । शाम्वस्ततोजनि जनेक्षणकैरवेन्दुर्भट्टस्त्रिवि-क्रम इति प्रथित पृथिव्याम् ॥२१॥ लल्लेन तस्य तनयेन शशाङ्कमौले-शैलाधिराज-तनयादयितस्य शम्भो । सम्पूज्य पादयुगमार्यभटाभिधान-सिद्धान्ततुल्यफलमेतदकारि तन्त्रम् ॥२२॥

धीवृद्धिदतन्त्र के भगणादि सब मान प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ से मिलते है, पर लल्ल ने उसमें उपर्युक्त १८-१९ श्लोकोक्त बीजसस्कार दिया है, अत स्पष्ट है कि इनका समय आर्यभट के वाद है। इनका काल निश्चित करने के कुछ साधन मिले है।

उपर्युक्त बीजसस्कार का श्लोक आर्यभटीय के टीकाकार परमादीश्वर ने अपनी टीका में उद्धृत किया है। वहा उन्होने 'तच्छिष्यो लल्लाचार्य' लिखा है अर्थात् लल्ल को आर्यभट का शिष्य कहा है। इस आधार पर और मुख्यत लल्लोक्त बीजसस्कार की रीति में शक में ४२० ऋण करने का विधान होने के कारण डा० केर्न ने लिखा है कि लल्ल का समय शके ४२० ही होगा। कैलासवासी जनार्दन बालाजी मोडक ने भी ऐसा ही लिखा है (मासिकपत्र 'सृष्टिज्ञान' के सन् १८८५ अगस्त के अक का पृष्ठ १२० देखिए)। गणकतरङ्गिणीकार सुधाकर द्विवेदी का भी कथन है कि इनका समय शके ४२१ है। कुछ अन्य लोग भी ऐसा ही कहते होगे, पर यह कथन ठीक नही है क्योकि लल्ल यदि प्रथम आर्यभट के शिष्य और उनके समकालीन होते तो वे छोटी-छोटी बातो में वह अशुद्धिया न करते जो कि भास्कराचार्य ने दिखायी है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ मे वे दोप नहीं है। दूसरी बात यह कि लल्ल का समय यदि शके ४२० होता तो प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में विशेष दोषों के न रहते हुए भी उन पर दूषणो की वर्षा करनेवाले ब्रह्मगुप्त लल्ल के ग्रन्थ पर, जिसमें वस्तुत दोप है, आक्षेपो की भरमार कर देते, पर

ब्रह्मसिद्धान्त में न तो लल्ल का नाम है न उनके किसी मत की चर्चा। तीसरे, किसी भी सिद्धान्त में बीजसंस्कार उसके रचनाकाल में ही नहीं उत्पन्न होता बल्कि जब ग्रन्थागत ग्रहों में और वेध में अन्तर पड़ने लगता है उस समय उसमें अन्य कोई बीज देता है। आर्यभट ने अपना सिद्धान्त शके ४२१ में बनाया, अतः उनके शिष्य उसी समय में उसमें फेरफार करने लगे होंगे यह सर्वथा असम्भव है। यदि ऐसा होता तो स्वयं आर्यभट ही उस संस्कार को भी सम्मिलित करके तदनुसार भगणों की कल्पना करते। लल्लोक्त संस्कार लाने में शक में से ४२० घटाना पड़ता है। केवल इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह संस्कार उसी समय दिया गया है। ब्रह्मसिद्धान्त में दिया हुआ बीजसंस्कार कलियुगारम्भ से है। यही स्थिति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी है, पर इतने से ही यह कह देना कि यह संस्कार वस्तुतः कलियुगारम्भ में ही दिया गया, हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार लल्लोक्त संस्कार का आरम्भकाल शके ४२० बताना भी उपेक्षणीय है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि मिथ्याज्ञानाध्याय में लिखा है—'यदि भ्रमति क्षमा तदा स्वकुलायं कथमाप्नुयुः खगाः'।।४२।। पृथ्वी का भ्रमण मानने में लल्ल ने यह दोष दिखाया है, पर प्रथम आर्यभट का कथन है कि पृथ्वी घूमती है। आर्यभट के साक्षात् शिष्य का मत उनके विपरीत होना, कम से कम उनमें दोष दिखलाना प्रायः असम्भव है। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में लल्ल का नाम अनेकों स्थानों में आया है पर उन्होंने इन्हें आर्यभट का शिष्य अथवा केवल 'शिष्य' कहीं नहीं कहा है। सूर्यसिद्धान्त के टीकाकार रङ्गनाथ ने एक स्थान पर 'शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र' कहा है, पर उसका अर्थ 'शिष्यों की धी की वृद्धि करने वाला तन्त्र' इतना ही है। पता नहीं चलता, परमादीश्वर ने इनको किस आधार पर आर्यभट का शिष्य कहा। उपर्युक्त श्लोक में इन्होंने स्वयं भी अपने को आर्यभट का शिष्य नहीं कहा है। इतना ही नहीं, श्लोक की शब्दरचना से यह विपरीत अर्थ स्पष्टतया प्रकट होता है कि ये आर्यभट के शिष्य नहीं थे। इन सब हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि इनका समय शके ४२० नहीं है। ये आर्यभट के बहुत दिनों बाद हुए होंगे।

लल्ल ने रेवतीयोगतारे का भोग ३५९ अंश लिखा है। लल्लतन्त्रानुसार स्थिति नापने के आरम्भ-स्थान से अर्थात् स्पष्ट मेषसंक्रान्तिकालीन सूर्यस्थान से पश्चिम ओर एक अंश पर रेवतीयोगतारा रहने का काल लगभग शके ६०० आता है, पर ऊपर बता चुके हैं कि ब्रह्मगुप्त को लल्ल का ग्रन्थ नहीं मिला था। लल्ल के ग्रन्थ में ब्रह्मगुप्त का तुरीययन्त्र नहीं है, शेष सब है। इससे ज्ञात होता है कि लल्ल को भी ब्रह्मगुप्त का ग्रन्थ नहीं मिला था। इससे अनुमान होता है कि ये दोनों थे समकालीन, परन्तु दूर-दूर रहते थे।

लल्लकृत रत्नकोश के आधार पर श्रीपति ने रत्नमाला ग्रन्थ बनाया है। श्रीपति का काल शक ९६१ है अत ये इसके बहुत पहिले हुए होंगे और इनके ग्रन्थ में अयनचलन का नाम तक नही है, अत ब्रह्मगुप्त के समकालीन होंगे। इन सब बातों का विचार करने से इनका काल मुझे अनुमानत लगभग शके ५६० उचित प्रतीत होता है।

योग्यता

भास्कराचार्य ने लल्ल में यद्यपि बहुत से दोष दिखाये है तथापि उपर्युक्त २० वें श्लोक से ज्ञात होता है कि लल्ल ने पूर्वोक्त बीजसस्कार दृक्प्रत्यय द्वारा स्वय निकाला है। इससे सिद्ध होता है कि ये एक स्वय वेध करनेवाले अन्वेषक थे और यह बात इनके लिए बडी भूषणास्पद है। बुधादिको के सस्कार से ज्ञात होता है कि आर्यभट के कुछ दिनो बाद इस सस्कार का देना अत्यन्त आवश्यक हो गया होगा। पहिले बता चुके है कि प्रथम आर्यसिद्धान्तोक्त ग्रहो मे लल्ल के इस बीज का सस्कार कर के करणप्रकाश (शके १०१४) और भटतुल्य (शके १३३९) करणग्रन्थ बने हैं।

पद्मनाभ

इस नाम के एक बीजगणितग्रन्थकार का उल्लेख भास्कराचार्य के बीजगणित में है। कोलब्रूक ने श्रीधर के—जिनका वर्णन आगे किया है—ग्रन्थ के आधार पर लिखा है कि पद्मनाभ श्रीधर से पहिले हुए होगे (देखिए Colebrook's mis Ess pp 422, 450, 470)। इससे ज्ञात होता है कि श्रीधर के कालानुसार इनका काल शके ७०० से अर्वाचीन नही होगा।

श्रीधर

आगे वर्णित महावीर के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनके पहिले श्रीधर नाम के एक ग्रन्थकार हुए थे जिनका व्यक्तगणितविषयक भास्कराचार्य की लीलावती सरीखा एक ग्रन्थ था। कोलब्रूक को श्रीधर का अङ्कगणित और क्षेत्रगणितविषयक गणितसार नामक एक ग्रन्थ मिला था। इससे ज्ञात होता है कि ये और महावीर के ग्रन्थ में वर्णित श्रीधर एक ही है और महावीर के कालानुसार इनका काल शके ७७५ से अर्वाचीन नही है। भास्कराचार्यकथित बीजगणित ग्रन्थकार श्रीधर भी ये ही होंगे।

इनका 'त्रिशतिका' नाम का एक ३०० आर्याओ का पाटीगणितग्रन्थ काशी के राजकीय पुस्तकालय में है।[1] उसके आरम्भ मे लिखा है—

[1] मैंने यह मुख्यत गणकतरंगिणी के आधार पर लिखा है।

नत्वा शिव स्वविरचितपाट्या गणितस्य सारमुद्धृत्य।
लोकव्यवहाराय प्रवक्ष्यति श्रीधराचार्य ॥

इससे ज्ञात होता है कि त्रिशतिका से बडा इनका एक और पाटीगणितग्रन्थ था। त्रिशतिका में इष्टकर्म को स्तम्भोद्देश और गुणन को प्रत्युत्पन्न' कहा है। लीलावती से भिन्न ऐसी ही और भी बहुत सी सज्ञाएँ उसमे है। उसमे अकगणित और क्षेत्रगणित दोनो विषय है। न्यायकन्दली नामक एक न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है, उसके कर्ता का नाम भी श्रीधर ही है। वह ग्रन्थ शके ९१३ का है। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि ज्योतिषियो को छोडकर अन्य ग्रन्थकार प्राय अपना समय नही लिखते, अत त्रिशतिका और न्यायकन्दली के कर्ता एक ही है। न्यायकन्दलीकार के पिता बलदेव और माता अब्बोका थी। दक्षिणराढा देश मे भूरिसृष्टि नाम का गाव इनका स्थान था। पाण्डुदास की प्रार्थना पर भट्ट श्रीधर ने न्यायकन्दली बनायी। त्रिशतिका में यह वृत्तान्त नही है और केवल नामसादृश्य द्वारा निश्चित किये हुए काल की अपेक्षा महावीर के काल के आधार पर निश्चित किया हुआ पाटीगणितकार श्रीधर का काल अधिक विश्वसनीय है। महावीर द्वारा उद्धृत श्रीधर का वचन है—'ऋण धनर्णयोर्वर्गौं मूले स्वर्णे तयो क्रमात्।' आर्यात्मक त्रिशती मे इस अनुष्टुप् छन्द के होने की सभावना तो कम है, पर यह श्रीधर के पाटीगणित के बडे ग्रन्थ मे अथवा उनके बीजगणित मे होगा। आफ्रेचसूची मे श्रीधर का एक 'त्रिशती गणितसार' नाम का ग्रन्थ है, अत कोलब्रूक को प्राप्त गणितसार और सुधाकरकथित त्रिशती ग्रन्थ एक ही है। श्रीधर की एक जातकपद्धति है। उसके कर्ता भी पाटीगणितकार श्रीधर ही होगे।

महावीर

इनका सारसग्रह नाम का व्यक्तगणित का एक ग्रन्थ है अर्थात् उसमे अङ्कगणित और क्षेत्रगणित विषय है। डा० भाऊ दाजी के सग्रह की इसकी एक खण्डित प्रति मैने देखी, उसके आरम्भ के वर्णन से ज्ञात होता है कि वे जैनधर्मावलम्बी थे और जैनराजा अमोघवर्ष के आश्रित थे। इससे ज्ञात होता है कि ये राष्ट्रकूटवशीय जैनधर्मी राजा प्रथम अमोघवर्ष के राज्य मे अर्थात् शके ७७५ के आसपास हुए होगे। सारसग्रह ग्रन्थ भास्कराचार्य की लीलावती सरीखा, पर उससे विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसख्या कम से कम २००० होगी। उसमे उपर्युक्त श्रीधराचार्य के ग्रन्थ के मिश्रकव्यवहार के कुछ वाक्य है।

[1] ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में प्रत्युत्पन्न संज्ञा है।

बृहन्मानसकरण

इसके रचयिता का नाम मनु है। इस पर उत्पल की टीका है। बेरुनी ने लिखा है कि मुञ्जाल ने इसको संक्षिप्त कर के लघुमानस बनाया। लघुमानस शके ८५४ में बना है। अत इसका रचनाकाल शके ८०० के लगभग होगा।

बलभद्र

ब्रह्मसिद्धान्त की पृथूदककृत टीका में इनका नाम अनेकों स्थानों में आया है और इनके नाम पर अनुष्टुप् छन्द के बहुत से श्लोक दिये हैं। उन सब श्लोकों में ब्रह्मसिद्धान्त के ही मान पठित हैं। बृहत्संहिता की टीका में भटोत्पल ने भी इनके नाम पर कुछ श्लोक और आर्याएं उद्धृत की हैं। वे गणितस्कन्ध विषयक हैं, पर ब्रह्मसिद्धान्त से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे अनुमान होता है कि बलभद्र का ग्रहगणित का स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा और पृथूदकोद्धृत उनके पद्यात्मक वचन, जिनमें ब्रह्मसिद्धान्त के ही मान हैं, कदाचित् ब्रह्मसिद्धान्त की उनकी टीका के होंगे। मालूम होता है, पद्यात्मकग्रन्थ की टीका का भी कुछ भाग पद्य में ही बनाने की पद्धति पहिले थी। परमादीश्वर ने आर्यभटीय की टीका में लीलावती की स्वकृत टीका के कुछ श्लोक दिये हैं, यह इसका एक उदाहरण है। बलभद्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भटोत्पल से प्राचीन होने के कारण इनका काल शके ८८८ से अर्वाचीन नहीं हो सकता

बेरुनी ने इनके ग्रन्थ या टीका के बहुत से वचन उद्धृत किये हैं। उसका कथन है कि इन्होंने गणित, संहिता और जातक तीनों के एक-एक ग्रन्थ बनाये थे और खण्डखाद्य और बृहज्जातक की टीकाएं की थीं। गणितग्रन्थ को बेरुनी ने तन्त्र कहा है, अत. उनमें गणितारम्भ युगारम्भ से रहा होगा। बेरुनी के दिये हुए उद्धरणों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मसिद्धान्त पर भी इनकी टीका थी। पतञ्जलि के योगशास्त्रग्रन्थ की टीका के कुछ उद्धरण बेरुनी ने दिये हैं। प्रो० साचौ का कथन है कि पूर्वापरसन्दर्भ से वह टीका बलभद्र की ही ज्ञात होती है। उनका यह कथन ठीक मालूम होता है क्योंकि उसमें अधिकतर ज्योतिष का ही विषय है। बलभद्र के ग्रन्थ में अक्षांश कन्नौज और स्थानेश्वर के थे। अत ये उसी प्रान्त के रहे होंगे। इनका काल शके ८०० के आसपास होगा।

वित्तेश्वरकृत करणसार शक ८२१

भदत्त या मिवत्त के पुत्र वित्तेश्वर ने 'करणसार' नामक ग्रन्थ बनाया था। उसमें आरम्भवर्ष शक ८२१ था। बेरुनी ने इनका निवासस्थान नागपुर बताया है, पर हमें ये काश्मीरनिवासी जान पड़ते हैं क्योंकि इनके ग्रन्थ में काश्मीर के अक्षांश (३४।९)

थे और सप्तर्षिगति दी थी जिस पर कि काश्मीर मे प्रचलित लौकिक काल अवलम्बित है। करणसारमे मध्यम मेप के ग्रह क्षेपक देकर उनके द्वारा ग्रहमध्यम भोग लाने की पद्धति लिखी थी। वेरुनी ने उसमे से मध्यममेप की अशात्मक तिथि (तिथिशुद्धि) लाने की रीति दी है। महायुग मे ५७७५३३३६ चन्द्रभगण मानने से इसकी उपपत्ति लगती है। यह संख्या सूर्यसिद्धान्त, उत्पलोद्धृत पुलिशसिद्धान्त और प्रथम आर्यसिद्धान्त की है। इस करण का वेरुनी के पहिले ही किसी ने अरवी में अनुवाद किया था, वह वेरुनी के पास था। आफ्रेक्टसूची मे इस करण का नाम नही है अर्थात् सम्प्रति यह प्राय कही उपलब्ध नही है। वटेश्वर नाम के एक ज्योतिपी थे। वे ही वेरुनी के वित्तेश्वर होगे।

मुंजालकृत लघुमानस शक ८५४

वेरुनी ने लिखा है कि मुजाल दाक्षिणात्य थे, उन्होने 'वृहन्मानस' का सक्षेप करके 'लघुमानस' वनाया, उसमे शक ८५४ में ६।५० अयनाश और उसकी वार्षिक गति एक विकला दी है। इससे मुजाल के मतानुसार शून्यायनाशवर्ष शकगत ४४४ आता है। वेरुनी ने ग्रन्थकार का नाम पुंजाल सरीखा कुछ लिखा है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है—अनुष्टुप् छन्द के ६० श्लोको का लघुमानस मैने देखा है। वह शक ८५४ का है। उस ग्रन्थ में तो 'मुजाल' नाम नही है, पर अन्त में 'इति मुजालभट्टविरचित' लिखा है। कोलब्रूक ने उज्जैन के ज्योतिपियो के कथनानुसार कुछ ज्योतिपियो का समय लिखा है (Essays p 461)। उसमें मुजाल का समय शक ८५४ है। भास्कराचार्य ने मुजालोक्त अयनगति लिखी है, अत वेरुनीकथित लघुमानस के रचयिता मुजाल ही होगे। मुनीश्वर ने मरीचि मे मुजाल के निम्नलिखित वचन दिये है —

> उत्तरतो याम्यदिग याम्यान्ततदनु सौम्यदिग्भागम्।
> परिसरता गगनसदा चलन किञ्चिद् भवेदपमे ॥
> विपुवदपक्रममण्डलसम्पाते .प्राचि मेपादि।
> पश्चात्तुलादिरनयोरपक्रमासम्भव प्रोक्त ॥
> राशित्रयान्तरेऽस्मात् कर्कादिरनुक्रमान्मृगादिश्च।
> तत्र च परमा क्रान्तिर्जिनभागमिताऽथ तत्रैव ॥
> निर्दिष्टोऽयनसन्धिश्चलन तत्रैव नम्भवति।
> तद्भगणा कल्पे स्युर्गोरसरमोऽकचन्द्र १९९६६९ मिता ॥

इन आर्याओ मे कल्पीय अयनभगण लिखे है जिनका विवरण करणग्रन्थ में अनाव-

श्यक है। तरङ्गिणीकार ने लिखा है कि अनुष्टुप् छन्दात्मक लघुमानम मे ये वचन नही है। (इसके आगे लघुमानसवणन मैंने गणकतरगिणी के आधार पर लिखा है)। लघुमानस के आरम्भ मे लिखा है —

> प्रकाशादित्यवत् स्यातो भारद्वाजो द्विजोत्तम ।
> लघुपूर्वं स्फुटोपाय वक्ष्येऽन्यल्लघुमानसम् ॥

इससे ज्ञात होता है कि मुजाल ने एक और मानस बनाया था अर्थात् बृहत् और लघु दोनो मानसो के कर्ता ये ही है। पर बृहन्मानस को बेरुनी ने मनुकृत कहा है, अत वह इनका नही होना चाहिए। इस स्थिति मे ऐसी कल्पना होती है कि लघुमानस बनाने के बाद इन्होने एक और लघुलघुमानस बनाया होगा और उपर्युक्त आर्याए जो कि अनुष्टुप् छन्दात्मक लघुमासन मे नही है, लघुलघुमानस की होगी अथवा यह भी सभव है कि बृहन्मानस इन्ही का हो और ये आर्याए उसी में हो। वस्तुत इस श्लोक का ठीक अर्थ नही लगता।

लघुमानस मे शकगत ८५४ चैत्र शुक्ल १ रविवार के मध्याह्न के क्षेपक है। ग्रहसाधन अहर्गण से किया गया है। मध्यम, स्पष्ट, तिथि, त्रिप्रश्न, ग्रहयुति, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण और शृङ्गोन्नति, ये ८ अधिकार है। उपर्युक्त श्लोकानुसार मुजाल भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण ज्ञात होते है। इनके पहिले के किसी भी उपलब्ध पौरुप ग्रन्थ में अयनगति का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता पर इनके ग्रन्थ में है, यह एक बडे महत्व की बात है। इन्होने स्पष्टचन्द्रमा में एक विशेष सस्कार दिया है जो कि अन्य ग्रन्थो में नही है। इससे ज्ञात होता है कि ये एक विलक्षण अन्वेषक और कल्पक थे।

काशी के राजकीय पुस्तकालय में सोदाहरण खण्डित लघुमानस है। उसमें उदाहरण शके १४९४ का है और ध्रुवक शक १४०० के है। चरादिक सस्कार काम्पिल्य नगर के है। सुधाकर का कथन है कि इस टीका के कर्ता आर्यभटीय टीकाकार परमेश्वर होगे क्योकि उन्होने आर्यभटीय की टीका मे लिखा है कि मैंने लघुबृहन्मानस की टीका की है पर यह सम्भवनीय नही है क्योकि मुझे परमेश्वर मलाबारनिवासी मालूम होते है। उपर्युक्त उदाहरण से ज्ञात होता है कि शक १५०० पर्यन्त लघुमानस कही-कही प्रचलित था।

द्वितीय आर्यभट (लगभग शके ८७५)

एक आर्यसिद्धान्त का वर्णन पहिले कर चुके है, उसके अतिरिक्त एक और आर्यसिद्धान्त है। इसकी एक प्रति पूना के डेक्कनकालेज मे है। उसमे इसका नाम लघु-

आर्यसिद्धान्त लिखा है, पर ग्रन्थकार ने स्वय इसमें लघु या वृहत् विशेषण कही नही लगाया है। इसकी प्रथम आर्या है—

ग्रन्थ

विविधखगागमपाटीकुट्टकवीजादिदृष्टशास्त्रेण ।
आर्यभटेन क्रियते सिद्धान्तो रुचिर आर्याभि ॥१॥

यहा ग्रन्थकार ने इसे सिद्धान्त कहा है। पूर्वोक्त आर्यभट से अर्वाचीन होने के कारण मैंने सुविधा के लिए इन्हे द्वितीय आर्यभट और इनके ग्रन्थ को द्वितीय आर्यसिद्धान्त कहा है।

काल

इन्होने अपना काल नही लिखा है। पाराशरसिद्धान्त नाम के एक अन्य सिद्धान्त के मध्यममान इन्होने अपने सिद्धान्त मे लिये है और इन दोनो के विपय मे लिखा है—

एतत् सिद्धान्तद्वयमीपद्याते कलौ युगे जातम् ॥२॥

अध्याय २

यहा इनका यह दिखाने का उद्देश्य है कि ये दोनो सिद्धान्त थोडा ही कलियुग वीतने पर बने, परन्तु मुझे पूर्ण निश्चय है कि ये ब्रह्मगुप्त के वाद हुए है। इसका कारण यह है कि कलियुगारम्भ के थोडे ही दिनो वाद अपने सिद्धान्त का रचनाकाल वताते हुए भी ये अपनी गणना पौरुपग्रन्थकारो मे ही करते है। ब्रह्मगुप्त के पहिले इनका वर्पमान अथवा अन्य कोई मान प्रचलित था, इसका इनके कथन को छोड अन्य कोई प्रमाण नही मिलता और ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट में जो दूपण दिये है वे प्रथम आर्यभट मे पूर्णतया लागू होते है, इनमे विलकुल लागू नही होते। ब्रह्मगुप्त ने इनके सिद्धान्त की किसी भी वात का उल्लेख नही किया है। यदि उस समय यह उपलव्व होता तो वे इसमें कुछ न कुछ दोपारोपण किये विना न रहते। पञ्चसिद्धान्तिका मे अयनगति नही है। प्रथम आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थो में भी नही है, पर इनके सिद्धान्त में है। प्रथम आर्यभट मे ब्रह्मगुप्त ने जो-जो दोप दिखाये है, मालूम होता है, उन सव को इन्होने सुधारने का प्रयत्न किया है। इनके ग्रन्थ मे युगपद्धति है। कल्पारम्भ रविवार को माना गया है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ में युगारम्भ से गणित किया है और उस समय मध्यमग्रह तो एकत्र आते है, पर स्पष्टग्रह नही आते। इस विपय मे ब्रह्मगुप्त ने इनमें (अध्याय २ आर्या ४६ में) दोप दिखलाया है, पर इनके इस सिद्धान्त द्वारा सृष्टयारम्भ में स्पष्टग्रह एकत्र आते है। इन सव प्रमाणो से मुझे पूर्ण निश्चय है कि इनका समय ब्रह्मगुप्त के वाद अर्थात् शके ५८७ के वाद है। यह हुई इनके काल की

प्राचीन मर्यादा । भास्कराचार्य ने इनका उल्लेख किया है। सिद्धान्तशिरोमणि के स्पष्टाधिकार के ६५ वें श्लोक मे उन्होने लिखा है—'आर्यभटादिभि. सूक्ष्मत्वार्थं दृक्काणोदया पठिता ।' राशि का तृतीयाश अर्थात् १० अश दृक्काण कहलाता है। प्रथम आर्यभट के ग्रन्थ मे लग्न ३० अश के है,दस-दस अश के नही, पर इन्होने चतुर्थाध्याय की ३८-४० आर्याओ मे दृक्काणोदय (लग्नमान) लिखे हैं। सम्प्रति द्वितीय आर्यभट को छोड कर अन्य किसी के भी ग्रन्थ में दृक्काणोदय नही मिलते। इससे सिद्ध होता है कि भास्कराचार्य ने उपर्युक्त वाक्य प्रथम नही बल्कि द्वितीय आर्यभट के उद्देश्य मे कहा है। अत स्पष्ट है कि ये शके१०७२ से पहिले हुए है। इन्होने अयनाशगति लाने की रीति दी है। उसमे अयनगति सदा समान नही आती, बहुत न्यूनाधिक आती है (इसका अधिक विवेचन अयनचलनविचार में करेंगे) परन्तु अयनगति प्राय सदा समान रहती है। उसमे अन्तर पडता है, पर बहुत थोडा। वर्तमान सूर्यसिद्धान्तोक्त अयनगति सर्वकाल समान आती है, पर उसका निश्चित समय ज्ञात नही है। राजमृगाङ्क (शके ९६४)मे भी अयनगति सदा समान मानी है। इसके पहिले का कोई निश्चित प्रमाण इस समय उपलब्ध नही है। इससे अनुमान होता है कि द्वितीय आर्यभट अयनगति का ठीक ज्ञान होने के पहिले हुए होगे। भटोत्पल (शके८८८)की टीकाओ मे अनेको ग्रन्थो के उद्धरण है, पर द्वितीय आर्यसिद्धान्त का एक भी नही है, अत यदि ये भटोत्पल के पहिले हुए होगे तो अति निकट पूर्व हुए होगे। द्वितीय आर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए अयनाश और उसका स्पष्ट मेषसक्रान्तिकालीन सायन रवि, इन दोनो के समान होने का काल लगभग शके ९०० आता है। अत. यदि ये इसके पहिले हुए होगे तो कुछ ही वर्ष पहिले हुए होगे। इन सब हेतुओ से मुझे इनका काल शके ८७५ के आसपास ज्ञात होता है। बेंटली द्वारा निश्चित किया हुआ इनके और पाराशर के सिद्धान्त का काल अशुद्ध है, यह ऊपर बता चुके है।

बेरुनी का कथन है कि आर्यभट दो थे। एक कुसुमपुरनिवासी और दूसरे उनसे प्राचीन। उसने लिखा है कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नही मिला, पर कुसुमपुर निवासी आर्यभट उनके अनुयायी थे। बेरुनी के ग्रन्थ में इन दोनो का उल्लेख ३० स्थानो में है। उन सब में वर्णित बातें प्रथम आर्यभट में पूर्णतया लागू होती हैं। ग्रहभगणसख्या इत्यादि जिन विषयो मे दोनो का स्पष्ट भेद है, बेरुनीलिखित बाते द्वितीय आर्यभट में किसी प्रकार लागू नही होती और वे प्रथम आर्यभट के अनुयायी नहीं थे, अत. बेरुनीकथित दोनो आर्यभट वस्तुत. एक ही है। यह बात प्रोफेसर साचो के ध्यान मे भी नही आयी। द्वितीय आर्यभट बेरुनी के पहिले हुए होगे और यद्यपि यह स्पष्ट है कि इनका ग्रन्थ बेरुनी ने नही देखा था तथापि मालूम होता है, उसे यह

भ्रम दो आर्यभटो की चर्चा सुनने के कारण ही हुआ होगा। इससे भी यही अनुमान होता है कि ये बेरुनी के सौ-पचास ही वर्ष पूर्व अर्थात् शके ८७५ के आसपास हुए होगे।

ग्रन्थवर्णन

इनके ग्रन्थ में १८ अध्याय और लगभग ६२५ आर्याए है। आरम्भ के १३ अध्यायो मे करणग्रन्थो के भिन्न भिन्न अधिकारो के सब विषय है। १४ वें मे गोल-सम्बन्धी बाते और प्रश्न है। १५ वें मे १२० आर्याए है। उसमे पाटीगणित अर्थात् अकगणित और क्षेत्रफल-घनफल विषय है। उसमे भास्कराचार्य की लीलावती की अधिकतर बाते है। १६ वें में भुवनकोश अर्थात् त्रैलोक्यसस्थानविवेचन है। १७ वे मे ग्रहमध्यगति की उपपत्ति इत्यादि है। १८ वे मे बीजगणित और विशेषत कुट्टगणित है। उसमें ब्रह्मगुप्त की अपेक्षा कुछ विशिष्ट बाते है।

अङ्कसज्ञाए

इन्होने पाटीगणित मे सख्याए प्रसिद्ध सज्ञाओ द्वारा और शेष सर्वत्र अक्षरो द्वारा दिखायी है। इनकी पद्धति प्रथम आर्यभट से भिन्न है। वह यह है —

वर्ण	वर्णबोधितसख्याए	वर्ण	वर्णबोधितसख्याए
क ट प य	= १	च त प	= ६
ख ठ फ र	= २	छ थ स	= ७
ग ड ब ल	= ३	ज द ह	= ८
घ ढ भ व	= ४	झ ध	= ९
ङ ण म श	= ५	ञ न	= ०

वर्णो द्वारा सख्याए दिखाने मे प्रथम आर्यभट ने 'अङ्काना वामतो गति' नियम नही छोडा, पर इन्होने सख्याए बायी ओर से दाहिनी ओर लिखी है। इनकी पद्धति में घडफ का अर्थ ४३२[1] होता है। अक्षरो द्वारा सख्याए लिखने में कितनी गडबड

[1] स ७ भाव. ४४ कामता ६५१ जद्धिकरा २१९८
नारीरघीरय.। जाडुजारमरा. काण्डा. प्रश्नाऽनुपपदाक्षरा ॥
इस श्लोक में उपर्युक्त अकसज्ञाओ द्वारा तैत्तिरीयसहिता के काण्ड, प्रश्न (अध्याय), अनुवाक, पचासे, पद और अक्षर बताए है। इसमें अक दाहिनी ओर से बायी ओर लिखने का नियम है (और यहां उसी प्रकार लिखा है)। कुछ अको के विषय में सन्देह है, वे यहा नहीं लिखे है। एक तैलग ब्राह्मण ने मुझसे कहा कि यह श्लोक तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का है। मैंने वह प्रातिशाख्य नहीं देखा है।

होती हैं, यह प्रथम आर्यभट के वर्णन मे दिखा चुके हैं। बस, वही बात इनमें भी पूर्ण लागू होती है। इनके सिद्धान्त के और उसमें दिये हुए पाराशरसिद्धान्त के कल्पीय भगणादिमान नीचे लिखे हैं।

विषय	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशरसिद्धान्त
सृष्टयुत्पत्तिवर्ष	३०२४०००	०
नक्षत्रभ्रम	१५८२२३७५४२०००	१५८२२३७५७००००
रविभगण	४३२००००००	४३२००००००
सावनदिवस	१५७७९१७५४२०००	१५७७९१७५७००००
चन्द्रभगण	५७७५३३३४०००	५७७५३३३४५१५
चन्द्रोच्चभगण	४८८१०८६७४	४८८१०४६३४
राहुभगण	२३२३१३३५४	२३२३१३२३५
मंगल	२२९६८३१०००	२२९६८३३०३७
बुध	१७९३७०५४६७१	१७९३७०५५४७४
गुरु	३६४२२१६८२	३६४२१९९५५
शुक्र	७०२२३७१४३२	७०२२३७२१४८
शनि	१४६५६९०००	१४६५७१८१३
सौरमास	५१८४००००००	५१८४००००००
अधिमास	१५९३३३४०००	१५९३३३४५१५
चान्द्रमास	५३४३३३३४०००	५३४३३३३४५१५
तिथि	१६०३००००२००००	१६०३००००३५४५०
क्षयाह	२५०८२४७८०००	२५०८२४६५४५
वर्षमान	३६५।१५।३१।१७।६	३६५।१५।३१।१८।३०

ग्रह	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशर-सिद्धान्त	द्वितीय आर्यसिद्धान्त	पाराशर-सिद्धान्त
	कल्पीय उच्चभगण		कल्पीय पातभगण	
रवि	४६१	४८०	×	×
मंगल	२९९	३२७	२९८	२४५
बुध	३३६	३५६	५२४	६४८
गुरु	८३०	९८२	९६	१९०
शुक्र	६५४	५२६	९४७	८९३
शनि	७६	५४	६२०	६३०

आर्यसिद्धान्त में कुछ वर्ष सृष्टयुत्पत्ति के माने गये हैं, पर पाराशरसिद्धान्त मे नही। दोनों मानों से कलियुगारम्भ में सब ग्रह एकत्र नहीं आते, पर सृष्टिप्रचारारम्भ

में आते हैं। दोनो के वर्षमान बीजसस्कृत ब्रह्मतुल्य वर्षमान के पास पास हैं। इन्होने सप्तर्षियो मे गति मानी है और उनके कल्पभगण लिखे हैं, पर उनमे वस्तुत गति बिलकुल नही है, ऐसा कह सकते हैं।

पाराशरसिद्धान्त के विषय मे इन्होने लिखा है—

पाराशरसिद्धान्त

पाराशर्यादिविचरयोगे नेच्छन्ति दृष्टिफलम् ॥१॥

अध्याय ११।

कलिसज्ञे युगपादे पाराशर्य मत प्रशस्तमत।

वक्ष्ये तदह ॥१॥

अध्याय २।

इसके बाद इन्होने उसके भगणादि मान लिखे हैं। इससे ज्ञात होता है कि पाराशर सिद्धान्त स्वतन्त्र ग्रन्थ था, पर सम्प्रति वह उपलब्ध नही है।

चतुर्वेद-पृथूदकस्वामी

काल

इन्होने ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त की टीका की है। भास्कराचार्य ने इनका उल्लेख कई स्थानो पर किया है। वरुणकृत खण्डखाद्य की टीका लगभग शके ९६२ की है। उसमे इनका नाम आया है, अत इनका समय शके ९६२ से प्राचीन है। मालूम होता है, भटोत्पल इन्हे नहीं जानते थे, पर इनकी ब्रह्मसिद्धान्त की टीका मे बलभद्र का नाम है। अत ये भटोत्पल के समकालीन होगे अथवा उनके कुछ ही दिनो बाद हुए होगे।

बेरुनी ने लिखा है कि पृथुस्वामी ज्योतिषग्रन्थकार है, पर उनके ग्रन्थ के नाम इत्यादि का पता नही लगता। इससे अनुमान होता है कि बेरुनी के समय पृथुस्वामी के टीकाग्रन्थ कम से कम सिन्ध प्रान्त में तो प्रसिद्ध नही ही हुए थे। कुसुमपुर के आर्यभट के ग्रन्थ के नाम पर बेरुनी ने एक वाक्य उद्धृत किया है। उसका अर्थ है—पृथुस्वामी ने उज्जयिनी से कुरुक्षेत्र का देशान्तर १२० योजन माना है। दोनो आर्यभटो मे से एक के भी ग्रन्थ मे पृथुस्वामी का नाम नही है, अत यह उद्धरण आर्यभट के ग्रन्थ की किसी टीका का होगा (बेरुनी ने कई स्थानो पर टीकोक्त विषयो को मूलग्रन्थोक्त समझ लिया है)। चूंकि यह टीका बेरुनी के पहिले की है और पृथुस्वामी इस टीका से भी प्राचीन है, इसलिए इनका काल लगभग शके ८५० और ९०० के मध्य में होगा।

स्थान

ब्रह्मसिद्धान्त के सप्तम अध्याय की ३५ वी आर्या की टीका में इन्होने लिखा है, "अथ साक्षभागा कान्यकुब्जे कन्यकुब्जे स्वनतभागा . "। इसी प्रकार ३८ वी आर्या में लिखा है, "यथेह कन्यकुब्जे"। इससे ज्ञात होता है कि ये कान्यकुब्ज देश के अथवा खास कन्नौज शहर के ही निवासी थे।

ग्रन्थ

ब्रह्मसिद्धान्त के आरम्भ के १० अध्यायो पर इनकी टीका है। उसकी एक प्रति पूना के कालेजमग्रह मे है। उसमें अनेको स्थानो पर लिखा है, "उक्त पूर्वं गोलाध्याये-ऽस्माभि"। इससे ज्ञात होता है कि इन्होने ब्रह्मसिद्धान्त के गोलाध्याय नामक २१ वे अध्याय की टीका करने के बाद आरम्भ के १० अध्यायो की टीका की थी। दसवें अध्याय की टीका के अन्त मे एक वाक्य लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि गोलाध्याय की टीका लगभग डेढ सहस्र थी। दस अध्यायो की टीका लगभग ५३०० है। टीका अच्छी है, मूलग्रन्थ ही अच्छा है, अत टीका के शुद्ध होने मे आश्चर्य नही है तथापि भास्कराचार्य ने दो एक स्थानो पर उसमे यह दोष दिखाया है कि चतुर्वेद ने ब्रह्मगुप्त की सुन्दर कृति भी विगाड दी है अर्थात् उसका विपरीत अर्थ किया है और यह दोपारोपण सत्य है। चतुर्वेद स्पष्टवक्ता ज्ञात होते है। एक स्थान (अध्याय ७ आर्या २८-२९) पर इन्होने लिखा है, "पिष्टपेपणमेतत्"। दसवें अध्याय के अन्त मे "पृथुस्वामी चतुर्वेदेश्चक्रे. . . मधुनन्दन" और कुछ अध्यायो के अन्त में "मधुसूदनसुत" लिखा है। इससे इनके पिता का नाम मधुसूदन ज्ञात होता है।

वरुण की टीका से अनुमान होता है कि इन्होने खण्डखाद्य की भी टीका की थी और उसका कुछ भाग पद्यात्मक था। इन्होने अपने को पृथुस्वामी कहा है, अत. टीका करने के समय ये कदाचित् चतुर्थ आश्रम में रहे होगे। इनकी ब्रह्मसिद्धान्त की टीका में बलभद्र को छोड अन्य किसी भी पौरुपग्रन्थ के उद्धरण नही है। अपौरुष भी बहुत थोडे है। भगवान् मनु, व्यासमुनि, पुराणकार, इतने ही नाम आये है।

भटोत्पल

ये एक बहुत बडे टीकाकार हो गये है। बृहज्जातक की टीका के रचनाकाल के विषय में इन्होने लिखा है :—

काल

चैत्रमासस्य पञ्चम्या सिताया गुरुवासरे।
वस्वष्टाष्ट ८८८ मिते शाके कृतेयं विवृतिर्मया ॥

बृहत्संहिता के टीकाकाल के विषय मे लिखा है .—

फाल्गुनस्य द्वितीयायामसिताया गुरोर्दिने।
वस्वष्टाष्टमिते शाके कृतेयं विवृतिर्मया॥

द्वितीय श्लोक के ८८८ को गतवर्ष मानने से वर्तमान शक ८८९ हो जाता है। वर्तमान ८८९ के अमान्त या पूर्णिमान्त किसी भी फाल्गुन की कृष्ण द्वितीया को गुरुवार नही आता, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को आता है, अत ८८८ गत शक सख्या नही है। इसे वर्तमान शक मानने से पूर्णिमान्त फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को गुरुवार आता है, फाल्गुन शुक्ल द्वितीया या अमान्त फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को नही आता, अत सिद्ध हुआ कि इस श्लोक का फाल्गुन पूर्णिमान्त मास है अर्थात् यह अमान्त माघ है और ८८८ वर्तमान शक है अर्थात् यहा गतशक ८८७ है। प्रमथ श्लोक मे चैत्र शुक्ल ५ को गुरुवार बतलाया है परन्तु उसकी सगति किसी प्रकार नही लगती। ८८८ को वर्तमान शक मानने से चैत्र शुक्ल ५ को शुक्रवार और उसे गतवर्ष मानने से बुधवार आता है। अत इस श्लोक मे कुछ अशुद्धि है और उसे समझे विना शके ८८८ को निश्चयपूर्वक वर्तमान वर्ष नही कहा जा सकता, फिर भी यह निश्चित है कि यहा ८८८ और ८८९ इन्ही दोनो मे से एक शक अपेक्षित है अर्थात् श्लोकोक्त ८८ को वर्तमान वर्ष मानिए अथवा गतवर्ष।

टीकाएं

इन्होने वराहमिहिर के ग्रन्थो मे से यात्रा, बृहज्जातक, लघुजातक और बृहत्संहिता की टीकाए की है। बृहत्संहिता के ४४ वे अध्याय की टीका से ज्ञात होता है कि यात्रा-ग्रन्थ की टीका इसके पहिले की है। ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य की टीका के समय का तो पता नही चलता, पर बृहत्संहिताटीका (अध्याय ५) के "खण्डखाद्यकरणे अस्मदीय-वचनम्" उल्लेख से ज्ञात होता है कि उसकी टीका इन्होने इसके पहिले की थी। वराह के पुत्र पृथुयश के षट्पञ्चाशिका नामक जातकग्रन्थ पर इनकी टीका है। उसकी एक प्रति पूना कालेजसग्रह (न० ३५५ सन् १८८२-८३) मे है। यात्रा की टीका इस समय उपलब्ध नही है। बृहज्जातक, लघुजातक और बृहत्संहिता की टीकाए इस प्रान्त मे है। इनमें से पहिले दो छप चुकी है। डेक्कनकालेजसग्रह की खण्डखाद्य की इनकी भोजपत्र पर लिखी हुई टीका काश्मीर में मिली है। अन्य प्रान्तो मे इस टीका के उपलब्ध होने की सभावना नही है।

स्थान

शके १५६४ की खण्डखाद्य की एक अन्य टीका और शके १५६७ का पञ्चाङ्ग-कौतुक, काश्मीर मे विरचित इन दो ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि भटोत्पल की यह टीका

काश्मीर में बडी प्रसिद्ध थी। इससे अनुमान होता है कि ये काश्मीरनिवासी थे और खण्डखाद्यटीकाकार वरुण ने तो इन्हें स्पष्ट ही काश्मीरवासी कहा है।

स्वतन्त्र ग्रन्थ

बृहत्संहिताटीका के प्रथमाध्याय में इन्होंने एक स्थान पर "अस्मदीयवचन" कहकर एक आर्या लिखी है। इससे अनुमान होता है कि गणितस्कन्ध पर इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ रहा होगा। यह वचन उनकी खण्डखाद्य की टीका का भी हो सकता है। ७२ आर्याओं का 'प्रश्नज्ञान' नामक इनका एक प्रश्नग्रन्थ है। बेरुनी ने लिखा है कि इनके 'राहुन्ना-करण' और 'करणपात' नाम के दो करणग्रन्थ है और इन्होंने 'बृहन्मानस' की टीका की है। एक ही ग्रन्थकार के दो करणो का होना असम्भव है और इनके नाम भी विचित्र है। अत बेरुनी को इनके विषय में कुछ भ्रम हुआ होगा। उसने लिखा है कि उत्पल का 'श्रूधव' नाम का एक और ग्रन्थ था। इस नाम में कुछ अशुद्धि है। उसने इस ग्रन्थ के कालादि मान लिखे है। उसका कथन है कि श्रूधव नाम के और भी ग्रन्थ है। श्रूधव के विषयो का थोडा सा परिचय बेरुनी ने दिया है। उससे ज्ञात होता है कि वे शकुन या प्रश्न के ग्रन्थ होगे।

अन्वेषण

बृहत्संहिता की टीका से ज्ञात होता है कि उत्पल प्राचीन ग्रन्थो के अति शोधक थे और उनका वाचन बहुत अधिक था। इन्होंने टीका मे स्थान-स्थान पर यह दिखाया है कि वराहलिखित अधिकाश विषय प्राचीन ग्रन्थो से लिये गये है। कही-कही इन्होंने उन ग्रन्थो के नाम भी लिखे है। ऐसे प्रसगो में प्राय सर्वत्र तत्तद् विषयो के प्राचीन संहिताकारो के आधारभूत वचन उद्धृत किये है। कही-कही एक विषय पर आठ दस प्राचीन संहिताकारो के वचन दिये है। इससे यह स्पष्ट है कि वे सब संहिताये उस समय उपलब्ध थी। इसी प्रकार इन्होंने संहिता, जातक और उनके अन्तर्भेद विषयक अनेक पौरुष ग्रन्थकारो के भी नाम और उनके वचन दिये है। संहिता शाखा के विविध विषयो का ज्ञान हमारे देश में प्राचीन काल में कितना था और वह क्रमश कैसे बढा, इसका इतिहास जानने का बृहत्संहिता की उत्पल टीका एक बहुत बडा साधन है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक महत्वशाली विषयो से परिपूर्ण होने के कारण वह छपाने योग्य है। टीका बडी विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसख्या[1] लगभग १४००० होगी। उपर्युक्त

[1] ३२ अक्षरो का एक अनुष्टुप् श्लोक होता है। किसी भी ग्रन्थ के सब अक्षरो की संख्या का ३२ वा भाग उसको ग्रन्थसख्या कही जाती है।

दोनों श्लोको मे ज्ञात होता है कि वह लगभग ११ मास में लिखी गयी है। इतनी बडी टीका इन्होंने केवल ११ मास में लिखी, यह बडे आश्चर्य का विषय है।

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयश के षट्पञ्चाशिका नामक जातक-ग्रन्थपर उत्पाद की टीका है और उसकी एक प्रति पूना कालेज-सग्रह मे उपलब्ध है (नबर ३५५ सन् १८८२।८३)।

विजयनन्दिकृत करणतिलकशके ८८८

बेरुनी ने लिखा है कि काशीनिवासी टीकाकार विजयनन्दी ने करणतिलक बनाया। बेरुनी ने उसकी अहर्गण लाने की रीति, अहर्गण द्वारा मध्यमग्रह लाने की रीति, ग्रहणोपयोगी रविचन्द्रबिम्बसाधन, महापातगणित, इत्यादि विषय लिखे है। उनसे ज्ञात होता है कि वह ग्रन्थ ग्रहलाघव सरीखा था। उसमे क्षेपक शके ८८८ चैत्र शुक्ल १ के थे। डॉ० स्काम ने टिप्पणी मे लिखा है कि इसमे अहर्गणसाधन पुलिशसिद्धान्तानुसार है। विजयनन्दी ने लिखा है कि धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि तारे सूर्यसान्निध्य के कारण अस्त नही होते (भाग २ पृष्ठ ९०)। आफ्रेचसूची मे इस करण का नाम नही है अत यह सम्प्रति प्राय कही उपलब्ध नही होगा। वराहमिहिर-लिखित विजयनन्दी इनसे बहुत प्राचीन है।

भानूभट्ट भानजु

बेरुनी ने लिखा है कि इनका रसायनतन्त्र नाम का तन्त्रग्रन्थ करण पर 'तिलक' नामक करणग्रन्थ है। प्रो० साचो ने लिखा है कि ग्रन्थकार के नाम का उच्चारण भानुरज या भानुयश भी हो सकता है। खण्डखाद्य की वरुणकृत टीका (शक ९६२) मे भानुभट्ट के ग्रन्थ के और तन्त्ररसायन के कुछ अनुष्टुप् श्लोक उद्धृत किये गये है। वहा यह स्पष्ट नही लिखा है कि तन्त्ररसायन ग्रन्थ भानुभट्ट ही का है पर मुझे पूर्वापरसन्दर्भानुसार ऐसा ही ज्ञात होता है। मेरी समझ से बेरुनी के भानुरज (भानुरज्जु ?) और वरुणलिखित भानुभट्ट एक ही है। इनका समय शक ९०० के आसपास होगा। आफ्रेचसूची में इनका अथवा इनके ग्रन्थ का नाम नही है। इससे ज्ञात होता है कि सम्प्रति यह कही उपलब्ध नही है। तन्त्र शब्द से ज्ञात होता है कि तन्त्ररसायन में ग्रहसाधन युगारम्भ से किया गया था।

श्रीपति

इनके 'सिद्धान्तशेखर' और 'धीकोटिदकरण' नाम के दो ज्योतिषगणितग्रन्थ, 'रत्नमाला' नामक मुहूर्तग्रन्थ और 'जातकपद्धति' नामक जातकग्रन्थ है। सिद्धान्त-

शेखर मैंने नही देखा है। डेक्कनकालेज-सरकारी पुस्तकसंग्रह, पूना के आनन्दाश्रम का पुस्तकसग्रह इत्यादि अनेक पुस्तकालयो के सूचीपत्रो में भी इसका नाम नही है, परन्तु भास्कराचार्य ने इसका उल्लेख किया है। ज्योतिषदर्पण (शक १४७९) नामक मुहूर्तग्रन्थ और सिद्धान्तशिरोमणि की मरीचि नाम्नी टीका मे भी इसके वचन हैं। मुनीश्वर ने लीलावती की टीका मे इनके ग्रन्थ के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इन्होने पाटीगणित और बीजगणित के भी ग्रन्थ बनाये थे। उन उद्धरणो मे एक वाक्य है—

ग्रन्थ

दो कोटिभागरहिताभिहता खनागचन्द्रा १८० स्तदीयचरणोनशरार्कदिग्भि १०१२५।
ते व्यासखण्डगुणिता विहृता फलन्तु ज्याभिर्विनापि भवतो भुजकोटिजीवे॥

इसमे ज्याखण्डो के बिना, केवल चाप द्वारा ज्यासाधन बताया है। भास्कर ने ज्याचाप के बिना द्युतिसाधन किया है। गणेशदैवज्ञ ने ग्रहलाघव में बिना ज्याचाप के सम्पूर्ण गणित किया है। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि उनके मस्तिष्क में यह सूझ श्रीपति की रीति द्वारा ही आयी होगी। सुधाकर के कथनानुसार इनके 'रत्नावली' और 'रत्नसार' नामक दो और मुहूर्तग्रन्थ हैं। रत्नसार का नाम आफ्रेचसूची में है। यह ग्रन्थ रत्नमाला का सक्षेप होगा। इन दो मुहूर्तग्रन्थो के रहते हुए तृतीयग्रन्थ रत्नावली का होना असम्भव है। रत्नमाला को ही कुछ लोग रत्नावली कहते रहे होगे। धीकोटिदकरण की प्रसिद्धि सम्प्रति बिलकुल नहीं है परन्तु पूना के आनन्दाश्रम मे इसके चन्द्र और सूर्य ग्रहण प्रकरण है। उनमें केवल १९श्लोक है। आजकल के मुद्रित किसी भी ग्रन्थ में श्रीपति का काल जानने की मुझे कोई सामग्री नही मिली, पर इस खण्डित करण मेवह है।

काल

इसमे गणितारम्भ वर्ष शक ९६१ है, अत इनका काल इसी के आसपास हैं। उपर्युक्त दो प्रकरणो पर एक छोटी-सी टीका है। उसमें ग्रहण के दो उदाहरण हैं। एक शक १५३२ का है और दूसरा १५९३ का, अत यह करण शक १५९३ पर्यन्त कुछ प्रान्तो में प्रचलित रहा होगा। रत्नमाला और जातकपद्धति ग्रन्थ काशी मे छप चुके हैं। दोनो पर महादेवी नाम की टीका है।

वंश

इन्होने अपना स्थान और वशवृत्त इत्यादि नही लिखा है, पर रत्नमाला की टीका के आरम्भ में महादेव ने लिखा है—'कश्यपवशपुण्डरीकखण्डमार्तण्ड केशवस्य

पौत्र नागदेवस्य सूनु. श्रीपति- सहितार्थमभिधातुमिच्छुराह।' इससे ज्ञात होता है कि इनका गोत्र काश्यप, इनके पितामह का नाम केशव और पिता का नाम नागदेव था। श्रीपति ने लिखा है कि रत्नमाला मैंने लल्ल के रत्नकोश के आधार पर बनाई है। धीकोटिदकरण से भी ये लल्ल के अर्थात् आर्यपक्ष के अनुयायी ज्ञात होते है।

वरुण

इन्होने ब्रह्मगुप्त के खण्डखाद्य की टीका की है। उसमें उदाहरणो में मुख्य शक ९६२ है। अत इनका काल इसी के आसपास होगा। टीका से ज्ञात होता है कि ये काश्मीर समीपवर्ती उरुपा देश के चारय्याट सरीखे नाम वाले ग्राम के निवासी थे। इन्होने अपने स्थान का अक्षाश ३४।२२ और उज्जयिनीयाम्योत्तररेखा से पूर्व देशान्तर ९९ योजन (लगभग ७॥ अश अथवा ४५० मील) लिखा है। खण्डखाद्य की इनकी टीका मे एक विलक्षणता यह है कि आरम्भ मे ही अहर्गणसाधन मे लिखा है—

उक्तञ्च सिद्धान्तशिरोमणौ—'अभीष्टवारार्थमहर्गणश्चेत् सैको निरेकस्ति-थयोऽपि तद्वत्। तदाधिमासावमशेपके च कल्पाधिमासावमयुक्तहीने[1]॥'

यह श्लोक भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि मे है। इसके अनुसार वरुण का समय शके १०७२ के बाद होना चाहिए, परन्तु इनकी टीका के अनेक उदाहरणो से यह बात पूर्ण निश्चित हो जाती है कि इनका समय शके ९६२ के आसपास है। इसमे कोई सन्देह नही है कि यह श्लोक टीका मे बाद में मिला दिया गया है अथवा ईश्वर जाने शके ९६२ के पहिले सिद्धान्तशिरोमणि नाम का कोई अन्य ग्रन्थ रहा हो और उसमे यह श्लोक अक्षरश इसी प्रकार रहा हो।

राजमृगाङ्क

काल और आधार

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भ काल शक ९६४ है। इसके क्षेपक शके ९६३ अमान्त फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीसह चतुर्दशी रविवार के प्रात काल (मध्यम सूर्योदय) के है। यद्यपि इसमे यह नही लिखा है कि यह ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धान्त के ग्रहो मे बीजसस्कार

[1] डेक्कनकालेजसंग्रह में वरुणकृत टीका की दो पुस्तकें (नं० ५२६, ५२७ सन् १८७५-७६) हैं। यह श्लोक प्रथम पुस्तक से लिया गया है।

देकर बनाया गया है तथापि इसमे बतलाये हुए वीजसस्कार से सस्कृत ब्रह्मसिद्धान्तीय ग्रह इसके क्षेपको से ठीक मिलते है। वे क्षेपक ये है—

	रा.	अ	क	वि		रा	अ	क	वि.
सूर्य	१०	२८	४५	०	शुक्र	६	७	५२	३९
चन्द्र	१०	९	२	५३	शनि	६	२०	४	३१
मगल	८	२	९	४७	चन्द्रोच्च	५	१०	३०	४५
बुध	८	१	३३	१५	चन्द्रपात	२	१६	५८	५
गुरु	३	१	०	३०					

करणारम्भकालीन मन्दोच्च और पात भी ब्रह्मसिद्धान्त के ही है। इसमे बतलाया हुआ बीजसस्कार और उसे लाने की रीति यह है—

> नन्दाद्रीन्दुग्नि ३१७९ सयुक्तान् भजेत् खाभ्राभ्रभानु १२००० भि।
> शाकाब्दानविनष्ट तु भाजकाच्छेषमुत्सृजेत् ॥१७॥ तयोरल्प द्विगत्या-
> २०० प्त बीज लिप्तादिक पृथक्। त्रिभि ३ शरै ५ र्भुवा १ द्वचक्षै
> ५२ र्वाणै ५ स्तिथिभि १५ रब्धिभि ४॥१८॥
> द्विकेन २ यमले २ नैव गुण्यमर्कादिषु क्रमात्। स्व ज्ञशीघ्रे धरासूनौ
> सूर्यपुत्रे परेष्वृणम् ॥१९॥ मध्यमाधिकार

कर्ता

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

> इत्युर्वीपतिवृन्दवन्दितपदद्वन्द्वेन सद्बुद्धिना,
> श्रीभोजेन कृत मृगाङ्ककरण ज्योतिर्विदा प्रीतये ॥

इससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ भोजराजकृत है। सम्प्रति उपलब्ध इससे प्राचीन अन्य किसी भी ग्रन्थ मे यह बीजसस्कार नही है। अत इसकी कल्पना भोजराज के ही समय हुई होगी। सम्भवत उन्होने अपने यहा ज्योतिषी रख कर कुछ वर्षों तक उनसे वेध कराया होगा और उस समय प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध तथा ब्रह्मसिद्धान्त द्वारा लाये हुए ग्रहो मे जो अन्तर दृष्टिगोचर हुआ होगा उसके अनुसार अन्य ग्रन्थो से सुसगत होने योग्य यह सस्कार निश्चित किया होगा। पता नहीं, भोजराज को स्वय करणग्रन्थ बनाने योग्य ज्योतिषज्ञान था या नही। यदि नही रहा होगा तो उनके आश्रित ज्योतिषियो ने ग्रन्थ बनाकर उनके नाम से प्रसिद्ध किया होगा। ऐसा होने पर भी यह निश्चित है कि ज्योतिषियो को

वेधादिकों के अनुभव द्वारा नवीन करणग्रन्थ बनाने का सामर्थ्य राजाश्रय के कारण ही प्राप्त हुआ होगा।

विषय

इस ग्रन्थ मे मध्यमाधिकार और स्पष्टाधिकार, ये दो ही अधिकार और सब लगभग ६९ श्लोक हैं। उस समय ग्रहणादि अन्य पदार्थ सिद्धान्तो द्वारा लाते रहे होंगे। सम्प्रति इसका प्रचार कही नही है और यह ठीक भी है क्योकि अधिक प्राचीन होने के कारण इसका अहर्गण बहुत बडा हो जाता है जिससे मध्यमग्रह लाने में बडी अडचन होती है और दूसरी बात यह है कि इसके बाद अन्य भी बहुत से करण बन गये तथापि मालूम होता है यह बहुत दिनो तक प्रचलित था। महादेवी सारणी नामक शक १२३८ का एक ब्रह्मपक्षीय करणग्रन्थ है। उसमे इसका उल्लेख है और शक १४४५ के 'ताजकसार' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

श्रीसूर्यतुल्यात् करणोत्तमाद्वा स्पष्टा ग्रहा राजमृगाङ्कतो वा।

इसमे ज्ञात होता है कि शके १४४५ पर्यन्त इससे स्पष्टग्रह लाते थे। इसमें अयनांशसाधन की विधि यह है—

शक पञ्चाब्धिवेदो ४४५ न षष्टिभक्तोऽयनांशका ॥२५॥

मध्यमाधिकार।

करणकमलमार्तण्ड

काल और कर्ता

यह करणग्रन्थ है। इसमे आरम्भ वर्ष शक ९८० है। इसे बल्लभवंश के दशबल नामक राजा ने बनाया है। इसके अन्त मे लिखा है—

वलभान्वयसञ्जातो विरोचनसुत सुधी। इद दशबल श्रीमान् चक्रे करणमुत्तमम्॥१०॥
धन्यैरार्यभटादिभिर्निजगुणैर्दिण्डीरफेनोज्ज्वलैराब्रह्माण्डविसारिभि प्रतिदिन विस्तारिता कीर्तय। स्मृत्वा तच्चरणाम्बुजानि रचितोऽस्माभि परप्रार्थितैर्ग्रन्थोऽय तदुपार्जितैश्च सुकृतै प्रीतिं भजन्ता प्रजा ॥११॥

अधिकार १०।

आधार

यद्यपि इसमे नही लिखा है कि यह अमुक सिद्धान्त के अनुसार बना है तथापि इसकी अब्दप (मध्यममेषसक्रमणकाल) और तिथिशुद्धि (मध्यम मेष में गत मध्यम तिथि) की वार्षिक गति राजमृगाङ्कोक्त बीजसस्कृत ब्रह्मसिद्धान्त नाम से मिलती है और इसके मन्दोच्च, नक्षत्रध्रुव, पात इत्यादि भी ब्रह्मसिद्धान्त से मिलते हैं। अत.

यह ग्रन्थ बीज संस्कृत ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य है, इसमे सन्देह नही है। इसमें बीजसंस्कार पृथक् नहीं लिखा है। उससे संस्कृत ही गतिया दी है।

सुविधा

इससे प्राचीन प्रसिद्ध करणग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका, खण्डखाद्य और राजमृगाङ्क मे मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है अर्थात् करणगतवर्षसंख्या को लगभग ३६५¼ से गुणने से जो दिनसंख्या आती है उसके द्वारा दिनगति और मध्यमग्रह लाने की रीति दी है। परन्तु इस पद्धति मे वर्षसंख्या ज्यो-ज्यो बढती है त्यो-त्यो अहर्गण बढता जाता है और इससे गुणन भजन मे बडा गौरव हो जाता है। दिनगति के कोष्ठक बना लेने से अथवा ग्रहो की वार्षिकगति और करणगतवर्षगण द्वारा मध्यम ग्रह लाने मे बहुत थोडा समय लगता है, परन्तु आश्चर्य है कि पञ्चसिद्धान्तिका, खण्डखाद्य, राजमृगांक और इनके बाद के प्रसिद्ध करणग्रन्थ करणप्रकाश, करणकुतूहल और ग्रहलाघव मे, जिनके द्वारा आज भी गणित किया जाता है, अहर्गण द्वारा मध्यमग्रहसाधन की अति श्रमजनक रीति दी है। उससे एक ग्रह लाने मे जितना समय लगता है उसके दशांश अथवा उससे भी कम समय में वर्षगण या कोष्ठको द्वारा मध्यमग्रहसाधन हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ करणकमलमार्तण्ड में ग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। इतना ही नही, इसमे बहुत बडी सुविधा यह है कि वर्षगण मे गति का गुणन करने के श्रम से मुक्त होने के लिए कोष्ठक बना दिये गये है। सम्प्रति ग्रहलाघव द्वारा गणित करनेवाले कुछ ज्योतिषियो के पास दिनगति के कोष्ठक मिलते है। सम्भव है, प्राचीन ज्योतिषियो ने पञ्चसिद्धान्तिकादि द्वारा गणित करने के ऐसे ही कोष्ठक बनाये रहे हो, परन्तु वह रीति ग्रन्थ मे न होने के कारण मैंने बहुत से अज्ञ ज्योतिषियो को कोष्ठको का प्रयोग छोड कर ग्रन्थोक्त अति श्रमजनक रीति द्वारा गणित करते हुए देखा है। अत इस विषय मे करणकमलमार्तण्ड की पद्धति स्तुत्य है। इसमें मध्यमग्रहसाधन मध्यमक्षेप से किया है। ग्रन्थारम्भकालीन क्षेपक और वर्षगतिया इसमे श्लोको मे नही दी है, यह थोडा आश्चर्य है। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ मे ये सब बाते रही होगी। मैंने जो प्रति (पूना डेक्कन कॉलेजसंग्रह न० २० सन् १८७०-७१) देखी है उसमें तिथिशुद्धि के अतिरिक्त अन्य कोष्ठक नही है। अत इस ग्रन्थ का इतना ही भाग ग्रहसाधन के लिए पर्याप्त नहीं है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति, महापात, ग्रहयुति और स्फुटाधिमाससंवत्सरानयन, ये १० अधिकार और अनुष्टुप् छन्द के लगभग ३७१ श्लोक है। इसमे शून्यायनांशवर्ष शक ४४४ और अयनांश की वार्षिकगति १ कला मानी है।

करणप्रकाश

काल और कर्ता

यह एक करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १०१४ है। इसके आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

नत्वाहमार्यभटशास्त्रसम करोमि श्रीब्रह्मदेवगणक. करणप्रकाशम्।

इससे ज्ञात होता है कि इसे ब्रह्मदेवनामक ज्योतिषी ने आर्यभट के ग्रन्थानुसार बनाया है। इसके अन्त मे लिखा है—

आसीत् पार्थिववृन्दवन्दितपदाम्भोजद्वयो माथुर,
श्रीश्रीश्चन्द्रबुधोगुणैकवसति ख्यातो द्विजेन्द्र. क्षितौ।
नत्वा तस्य सुतोऽङ्घ्रिपङ्कजयुग खण्डेन्दुचूडामणे।
वृत्तं स्पष्टमिदञ्चकार करण श्रीब्रह्मदेव सुधी ॥११॥

इसमे इनके पिता का नाम चन्द्र और माथुर विशेषण से उनका निवासस्थान मथुरा ज्ञात होता है। चन्द्र किसी राजा के आश्रित रहे होंगे अथवा राजाओ के यहाँ उनकी बडी प्रतिष्ठा रही होगी।

आधार

उपर्युक्त श्लोक के आर्यभट प्रथम आर्यभट है। इस श्लोक मे लिखा है कि यह ग्रन्थ आर्यभटशास्त्रतुल्य है, परन्तु प्रथम आर्यसिद्धान्त द्वारा लायी हुई गतिस्थिति में लल्लोक्त बीजसंस्कार देने से इसकी गतिस्थिति मिलती है। इसमें बीजसस्कार पृथक् नही लिखा है। उससे सस्कृत ही गतिस्थिति दी है। इसके निम्नलिखित क्षेपक चैत्र शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार शके १०१४ के मध्यम सूर्योदय के है। लल्लोक्त बीजसस्कृत प्रथम आर्यभटीय के ग्रहो की विकलाए तक इन क्षेपको मे मिलती है।

	रा	अ	क	वि.
सूर्य	११	१६	३२	५७
चन्द्र	११	२७	२०	२०
मगल	३	१३	२०	६
शनि	३	२	१४	२३
बुध	७	४	३१	१२
गुरु	६	२	५६	२७
शुक्र	१०	११	२८	५८
चन्द्रोच्च	१	५	४९	१६
चन्द्रपात	१	३	१७	१२

विषय

इसमें मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टीकरणाधिकार, पञ्चतारास्पष्टीकरण, छाया, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति और ग्रहयुति, ये ९ अधिकार हैं। शून्यायनांशवर्ष ४४५ और वार्षिक अयनगति एक कला मानी है।

प्रचार

एकादशीव्रत के सम्बन्ध में स्मार्त और भागवत दो मत हैं। एकादशी के पूर्वदिन दशमी ५६ घटी अथवा इससे अधिक होने पर भागवत सम्प्रदायवाले एकादशी को दशमीविद्ध मान कर व्रत उसके दूसरे दिन करते हैं। दशमी की घटिका लाने के विषय में सोलापुर, कर्नाटक और प्रायः दक्षिण के वैष्णव आर्यपक्ष का अनुसरण करते हैं। करणप्रकाश ग्रन्थ आर्यपक्षीय है। इससे लायी हुई प्रत्येक तिथि सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मसिद्धान्त की तिथि की अपेक्षा लगभग दो-तीन घटी अधिक होती है। मेरा विश्वास है कि सम्प्रति ऐसा पञ्चाङ्ग कहीं भी प्रचलित नहीं होगा जिसमें सब तिथियां करणप्रकाश से बनायी जाती हों क्योंकि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग तिथिचिन्तामणि की सारणियों द्वारा बहुत शीघ्र बन जाता है, परन्तु करणप्रकाश के अनुसार गणित करने का ऐसा कोई साधन नहीं है। इस कारण महाराष्ट्र के वैष्णव अन्य तिथियों के विषय में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का व्यवहार करते हैं और एकादशी आर्यपक्षानुसार मानते हैं, परन्तु उसका भी यह स्थूलमान कि—आर्यपक्ष की तिथि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की दो घटी अधिक होती है—निश्चित सरीखा ही है। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में दशमी ५४ घटी होने पर आर्यपक्षानुसार उसे ५६ घटी समझकर अग्रिम एकादशी को दशमीविद्ध मानते हैं। शके १८०९ के आषाढ कृष्णपक्ष में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार शुक्रवार को दशमी ५२ घटी १५ पल, शनिवार को एकादशी ५४।३२ और रविवार को द्वादशी ५५।३९ है[1]। यहां एकादशी दशमीविद्ध नहीं है और दो एकादशी होने का अन्य भी कोई कारण नहीं है, इसलिए सभी मराठीपञ्चाङ्गों में शनिवार को ही एकादशी लिखी है, परन्तु उस समय अकस्मात् मुझे रायपुर की ओर के एक वैष्णव आचार्य अपने शिष्यवर्ग के साथ मिले, उन्होंने कहा, 'हमारी एकादशी कल है।' कारण पूछने पर उन्होंने आर्यपक्ष, करणप्रकाश, स्पष्टा इत्यादि कुछ शब्द कहे, पर वस्तुतः वे नहीं जानते थे कि आर्यपक्ष और

[1] शके १८०९ के सायन पचांग में छपे हुए ग्रहलाघवीय पंचांग से ये अंक लिए गए हैं।

करणप्रकाश क्या पदार्थ है। किञ्चित् छलपूर्वक पूछने पर बोले, धारवाड से पत्र आया है इसलिए हम दूसरी एकादशी रहते है । वहा भी सम्प्रति प्रत्यक्ष करणप्रकाश द्वारा कोई गणित करता होगा, इस पर मेरा विश्वास नही है। शक१५७८ का बीजापुर का एक हस्तलिखित पञ्चाङ्ग मैंने देखा। वह ग्रहलाघवादिको द्वारा ही निर्मित ज्ञात होता था परन्तु उसमे दशमी और एकादशी तिथिया करणप्रकाश द्वारा पृथक् ठहरायी थी। सोलापुर के एक वैष्णव ज्योतिषी मुझसे कहते थे कि हम लोग एकादशी का गणित करणप्रकाश से करते है। शके १८०६ मे बीड के एक विद्वान् ज्योतिषी मिले। वे सम्पूर्ण करणप्रकाश जानते थे, परन्तु उन्होने कहा कि हम सदा सम्पूर्ण गणित करणप्रकाश से नही करते। उपर्युक्त दशमी का गणित मैंने करणप्रकाश से किया। वह उज्जयिनी रेखाश पर मध्यमोदय से ५४ घटी ५९ पल और स्पष्टोदय से ५६ घटी आयी[1]। साराश यह कि करणप्रकाश का आज भी थोडा प्रचार है। इस प्रान्त मे इसकी प्रति प्राप्त करने में मुझे बडा परिश्रम करना पडा, पर वह मिल गयी ।

तीन पक्ष

यहा पर यह बतलाना आवश्यक है कि प्रथम आर्यसिद्धान्त में लल्लोक्त बीजसस्कार देने से आर्यपक्ष की तिथि २-३ घटी अधिक आती है, अन्यथा अधिक नही आती। अत आर्यपक्षानुसार एकादशी के भिन्नत्व का वाद लल्ल के पश्चात् उद्भूत हुआ होगा। उनके पहिले नही रहा होगा। 'मुहूर्तमार्तण्ड' नामक शक १४९३ का एक मुहूर्तग्रन्थ है। उसमे लिखा है—ब्रह्मपक्ष की तिथि से आर्यपक्ष की तिथि ४ घटी अधिक रहती है। इससे और ग्रहलाघव से ज्ञात होता है कि शक की १५ वी शताब्दी में आर्य, ब्राह्म और सौर, इन तीन पक्षो का भिन्नत्व और जनता मे तीनो का अभिमान प्रबल हो चुका था। करणकुतूहल और राजमृगाङ्क ग्रन्थ ब्राह्मपक्ष के है। खण्डखाद्य को सौरपक्षीय कह सकते है। शक १०१४ के पहिले का आर्यपक्षीय स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अत शके १००० से अथवा कदाचित् लल्लकाल से ही तीन भिन्न-भिन्न पक्ष और उनके अभिमानी हो गये रहे होगे। ग्रहलाघव मे जो ग्रह आर्यपक्ष के नाम पर लिये गये है वे करणप्रकाश के है।

[1] करणप्रकाश द्वारा एकादशी का गणित ४ घंटे में भी नहीं हो सकता। मैंने करणप्रकाशतुल्य परन्तु उससे सुलभ अन्य रीति से वही गणित लगभग पौन घटे में किया।

भास्वतीकरण

काल, कर्ता और स्थान

यह एक करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भवर्ष शक १०२१ है। इसके रचयिता शतानन्द नामक ज्योतिषी हैं। भास्वती-टीकाकार अनिरुद्ध का कथन है कि शतानन्द पुरुषोत्तम अर्थात् जगन्नाथपुरी के निवासी थे और उन्होंने क्षेपक वहीं के लिखे हैं। सिद्धान्तादि गणितग्रन्थो मे प्राय सर्वत्र देखा जाता है कि वे चाहे जहा बने हो, पर उनमे क्षेपक उज्जयिनी के ही रहते है। जगन्नाथपुरी उज्जयिनीरेखा से अधिक दूर होने के कारण भास्वतीकार ने सुभीते के लिए इस पद्धति का त्याग किया होगा और यह ठीक भी है। इनके एक टीकाकार माधव का कथन है कि भास्वती के आरम्भ के 'नत्वा मुरारेश्चरणारविंदम्' लेख से ज्ञात होता है कि ये वैष्णव थे। इनके प्रथम अधिकार मे लिखा है—

अथ प्रवक्ष्ये मिहिरोपदेशात् तत्सूर्यसिद्धान्तसम समासात् ।।३।।

आधार

टीकाकार माधव ने मिहिर का अर्थ सूर्य करते हुए इस ग्रन्थ को सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बना हुआ बतलाया है और ग्रहो के क्षेपको और गतियो की उपपत्ति वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के अनुसार लगाने का असफल प्रयत्न किया है। अनेको स्थानो मे उन्हे यह कहकर समाधान करना पडा है कि आचार्य ने इतना अन्तर छोड दिया। यह बात उनके ध्यान मे बिलकुल नही आयी कि शतानन्द ने यह करण वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका के सूर्यसिद्धान्तानुसार बनाया है। हम समझते है, उस समय (शके १४४२) पञ्चसिद्धान्तिका के प्रचार का सर्वथा अभाव होने के कारण उन्हे यह भ्रम हुआ होगा। मैने भास्वती की कुछ और टीकाए भी देखी है, पर उनमे क्षेपको की उपपत्ति नही है।

भास्वती के क्षेपक स्पष्टमेषसंक्रान्तिकालीन अर्थात् शके १०२१ अमान्त चैत्र कृष्ण ३० गुरुवार के है, पर वे उस दिन के किस समय के है, इसका ठीक ज्ञान न होने के कारण उनकी कला विकलाओं की भी ठीक संगति लगती है या नही, इसकी परीक्षा मैं नही कर सका। फिर भी क्षेपक स्पष्टमेषसंक्रान्ति-दिवस के है और वे वराहोक्त बीज संस्कार से संस्कृत वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिकान्तर्गत सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए मध्यमग्रहो से प्राय मिलते है[1]। इससे यह नि संशय सिद्ध होता है कि

[1] पञ्चसिद्धान्तिका द्वारा भास्वतीक्षेपक लाने में अहर्गण २१६९६२ आता है।

भास्वतीकार ने मूलसूर्यसिद्धान्त मे वराहोक्त बीजसस्कार देकर मध्यमग्रह लाये है और ग्रहो की वर्षगतियो मे भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

स्पष्टमेष

इसमे मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा न करके वर्षगण द्वारा किया है और ऐसा करने मे वडी सुविधा होती है, यह ऊपर बता ही चुके है। अन्य जिन-जिन करणग्रन्थो मे वर्षगण द्वारा मध्यमग्रहसाधन किया गया है उन सबो मे आरम्भ मध्यम मेषसक्रान्ति से है, पर इसमे स्पष्टमेषसक्रान्ति से है। केरोपन्त ने भी अपने ग्रहसाधन कोष्ठक मे स्पष्टमेष ही से ग्रहसाधन किया है।

शताशपद्धति

शतानन्द के ग्रन्थ मे एक और विशेषता यह है कि उन्होने क्षेपको और ग्रहगतियो के गुणक-भाजक शताशपद्धति द्वारा लिखे है। इसमे सूर्य और चन्द्रमा की गतिस्थितिया नक्षत्रात्मक और भौमादि ग्रहो की राश्यात्मक है। यहा इनके दो उदाहरण देते है। चन्द्रमा की वार्षिकगति ९९५$\frac{५}{६}$ लिखी है। ये शताश है। इनमें १०० का भाग देने से जो लब्धि आवेगी वह नक्षत्र सख्या होगी अर्थात् चन्द्रमा की वार्षिक गति है $\frac{९९५\frac{५}{६}}{१००}$ नक्षत्र $=\frac{९९५\frac{५}{६}}{१००}\times८००$ कला $=७९६६\frac{२}{३}$ कला $=$ ४ राशि १२ अश ४६ कला ४० विकला। इस राश्यदि गति द्वारा गणित करने की अपेक्षा ९९५$\frac{५}{६}$ गतिद्वारा करने मे बहुत कम परिश्रम होता है। दूसरा उदाहरण—शनिक्षेपक ५९४। यह राश्यात्मक है और ५९४ शताश है। इसलिए शनि का राश्यादि क्षेपक हुआ $\frac{५९४}{१००}=$ ५ राशि २८ अश १२ कला। यह पद्धति कुछ आधुनिक दशाशपद्धति सरीखी ही है। पता नही चलता, इस शताशपद्धति के कारण ही ग्रन्थकार ने शतानन्द नाम स्वीकार किया अथवा वस्तुत उनका नाम शतानन्द ही था।

विषय

भास्वती मे तिथिध्रुवाधिकार, ग्रहध्रुवाधिकार, स्फुटतिथ्यधिकार, ग्रहस्फुटाधिकार, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण और परिलेख, ये ८ अधिकार और भिन्न-भिन्न छन्दो के लगभग ६० श्लोक है। इसमे शून्यायनाशवर्ष शक ४५० और वार्षिक अयनगति, एक कला है।

इससे गुणन-भजन में बहुत अधिक परिश्रम होता है। यदि वर्षगति दी होती तो इस संख्या के स्थान में (१०२१-४२७) ५९४ आता और इससे ग्रह लाने में बड़ी सुविधा होती।

टीकाएं

इस पर काशीनिवासी अनिरुद्ध की शके १४१७ की टीका है। उसे देखने से ज्ञात होता है कि उसके पहिले इसकी कई टीकाएं हो चुकी थीं। माधव की टीका शक १४४२ के आसपास की है। ये कन्नौज (कान्यकुब्ज) के निवासी थे। गङ्गाधरकृत टीका शक १६०७ की है। शक १५७७ के पास की एक और टीका है। बलभद्र की टीका कोल्ब्रूक के कथनानुसार शक १३३० की है। आफ्रेचसूची[1] से उसका नाम बालबोधिनी ज्ञात होता है। इनके अतिरिक्त इस पर भास्वतीकरणपद्धति, रामकृष्णकृत तत्त्वप्रकाशिका, रामकृष्णकृत भास्वतीचक्ररश्म्युदाहरण, शतानन्दकृत उदाहरण, वृन्दावनकृत उदाहरण तथा अच्युतभट्ट, गोपाल, चक्रविप्रदास, रामेश्वर और सदानन्दकृत टीकाएं हैं और वनमालीकृत प्राकृत टीका है—ऐसा आफ्रेच सूची में लिखा है।

इनमें अधिक टीकाकार उत्तर भारत के हैं, अत उत्तर में इसकी अधिक प्रसिद्धि रही होगी। आजकल इसका प्रचार नहीं है और मुझे अन्य किसी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिला।

करणोत्तम

'करणोत्तम' नाम के करणग्रन्थ का उल्लेख श्रीपति की रत्नमाला की महादेवकृत टीका में अनेकों स्थानों में है। उसमें अयनांशविचार में इस करण के ये—'शाको वसुगुणाम्बरचन्द्र १०३८ हीन =, कलारूपा याता करणशरद, षट्शतयुता करणोत्तमादौ चाप्ययनांशा दशनखना,—वाक्य आये हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि करणोत्तम ग्रन्थ शके १०३८ का है और उसमें शून्यायनांशवर्ष शके ४३८ तथा वार्षिक अयनगति एक कला मानी है। ताजकसार ग्रन्थ (शके १४४५) का—स्पष्टग्रह सूर्यतुल्य, करणोत्तम अथवा राजमृगाङ्क से लाने चाहिए—इस अर्थ का एक वाक्य ऊपर दिया है। इसमें सूर्यतुल्य ग्रन्थ सौर पक्ष का होना चाहिए। राजमृगाङ्क ब्राह्मपक्षीय है यह ऊपर बता चुके हैं, अत तृतीय ग्रन्थ करणोत्तम अनुमानत आर्यपक्षीय होगा।

[1] यूरोप के भिन्न भिन्न स्थानों के संस्कृत ग्रन्थों की लगभग १९ और भारत की ३७ अर्थात् सब ५६ सूचियों के आधार पर थिओडोर आफ्रेच (Theodor Aufrecht) नामक जर्मन विद्वान् की बनाई हुई एक बहुत बड़ी सूची (Catalogus catalogorum) जर्मन ओरियण्टल सोसायटी ने सन् १८९१ में लैपजिक में छपाई है। उसी का नाम आफ्रेच सूची है।

ताजकमार के शक से ज्ञात होता है कि वह शके १४४५ मे प्रचलित था। सम्प्रति उसके प्रचलित या उपलब्ध होने की बात कही सुनने या पढने मे नही आती।

महेश्वर

ये प्रसिद्ध ज्योतिषी सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य के पिता थे। इनका जन्मशक लगभग १००० और इनके ग्रन्थो का रचनाकाल शक १०३०-४० के आसपास होगा। इनका वशवृत्त आगे भास्कराचार्य के वर्णन मे है। इनके प्रपौत्र अनन्तदेव के शिलालेख मे लिखा है कि इन्होने शेखर नामक करणग्रन्थ, लघुजातक की टीका, एक फलितग्रन्थ और प्रतिष्ठाविधिदीपक बनाया था (भास्कराचार्य का वर्णन देखिए)। 'वृत्तशत' नामक इनका एक और ग्रन्थ है। वृत्तशत नाम का एक मुहूर्तग्रन्थ है (Jour, R A S, N S vol 1, P 410)। वह यही होगा।

अभिलषितार्थचिन्तामणि

उत्तरचालुक्यवश के राजा तृतीयसोमेश्वर ने, जिसे भूलोकमल्ल और सर्वज्ञभूपाल भी कहते थे, 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' अथवा 'मानसोल्लास' नामक ग्रन्थ बनाया है। इसमे अनेक विषयो के साथ ज्योतिष भी है। इसमे ग्रहसाधनार्थ आरम्भ काल शके १०५१ लिया है। इसके विषय मे लिखा है —

एकपञ्चाशदधिके सहस्रे १०५१ शरदा गते। शकस्य सोमभूपाले सति चालुक्यमण्डने॥
समुद्ररसनामुर्वी शासति क्षतविद्विषि। सर्वशास्त्रार्थसर्वस्वपाथोधिशकलोद्भवे॥
सौम्यसवत्सरे चैत्रमासादौ शुक्रवासरे। परिशोधितसिद्धान्तलब्धा स्युर्ध्रुवका इमे[1]॥

इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ के क्षेपक शके १०५१ चैत्रशुक्ल प्रतिपदा शुक्रवार के है और इसमे अहर्गण द्वारा ग्रहसाधन किया है। यह ग्रन्थ मैने स्वय नही देखा है, इसमे इसमे ग्रह किस सिद्धान्त के अनुसार लिये गये है, इत्यादि बातो का पता नही लगता।

शक १०७ के पहले के अन्य ग्रन्थ और ग्रन्थकार

यहा तक जिन ग्रन्थो और ग्रन्थकारो का वर्णन किया गया है, भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि मे उनके अतिरिक्त कुछ और नाम आये है। माधवकृत सिद्धान्त-

[1] प्रोफेसर भाण्डारकर के "दक्षिण का इतिहास" का पृष्ठ ६७-६८ (इंगलिश) देखिए।

चूडामणि का उल्लेख सिद्धान्तशिरोमणि में दो स्थानों में है (बापूदेव शास्त्री की पुस्तक का पृष्ठ २३४, २६९ देखिए)। सम्प्रति यह सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। भास्कर के बीजगणित से ज्ञात होता है कि उनके पहिले ब्रह्मा और विष्णुदैवज्ञ नाम के बीजगणित-ग्रन्थकार थे। उनके ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। ये ब्रह्मा कदाचित् करणप्रकाश-कार ब्रह्मा होंगे।

भास्कराचार्य

भारत में ये एक बहुत बड़े ज्योतिषी हो चुके हैं। लगभग ७०० वर्षों से भारत में ही नहीं, बाहर भी इनकी कीर्ति फैली हुई है। 'सिद्धान्तशिरोमणि' और 'करण-कुतूहल' नामक इनके दो गणितज्योतिष ग्रन्थ हैं। इन्होंने सिद्धान्त-शिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है—

काल

रसगुणपूर्णमही १०३६ समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणी रचितः ॥५८॥

इससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म शके १०३६ में हुआ और इन्होंने ३६ वर्ष की अवस्था में सिद्धान्तशिरोमणि बनाया। करणकुतूहल में आरम्भवर्ष शके ११०५ है अर्थात् वह उसी वर्ष में बना है। सिद्धान्तशिरोमणि के ग्रहगणित और गोलाध्याय पर इनकी स्वकीय वासनाभाष्य नाम की टीका है। उसके पाताधिकार में एक स्थान पर लिखा है, "तथा शरखण्डकानि करणे मया कथितानि" और टीका में कई अन्य स्थानों में अयनांश ११ लिये हैं, इससे टीका का रचनाकाल शके ११०५ के आसपास ज्ञात होता है क्योंकि इन्होंने ११ अयनांश शके ११०५ में माने हैं, पर कुछ टीका इसके पहिले और कुछ मूलग्रन्थ के साथ लिखी होगी, यह भी सम्भव है। ६९ वर्ष की अवस्था में करण-ग्रन्थ और टीका के कुछ भाग की रचना से ज्ञात होता है कि इतने अधिक वय में भी इनके उत्साह और बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आयी थी। वर्तमान समय में हमारे देश में ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं। स्वयं इनके और अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में पर्याप्त प्रमाण होने के कारण इनके काल के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इन्होंने अपने कुल और निवासस्थान का थोड़ा सा वर्णन अग्रिम श्लोकों में किया है।

आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रोद्विजः। श्रौतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः साधूनामवधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः ॥६१॥ तज्जस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसाद.

सुधीर्मुग्धोद्बोधकर विदग्धगणकप्रीतिप्रद प्रस्फुटम् । एतद् व्यक्त सदुक्तियुक्ति-
बहुल हेलावगम्य विदा सिद्धान्तग्रथन कुबुद्धिमथन चक्रे कविर्भास्कर ॥६२॥
गोले प्रश्नाध्याये।

इससे ज्ञात होता है कि इनका गोत्र शाण्डिल्य और निवासस्थान सह्यपर्वत के पास विज्जडविड नामक ग्राम था। इनके पिता का नाम महेश्वर था और वे ही इनके गुरु भी थे।

खानदेश मे चालिसगाव से १० मील नैर्ऋत्य की ओर पाटण नाम का एक उजाड गाव है। वहा भवानी के मन्दिर मे एक शिलालेख है' उसमे "भास्कराचार्य के पौत्र चगदेव यादववशीय सिघण राजा के ज्योतिषी थे। इस सिघण (सिंह) राजा का राज्य देवगिरि मे शके ११३२ से ११५९ तक था। चगदेव ने भास्कराचार्य और उनके वश के अन्य विद्वानो के ग्रन्थो का अध्यापन करने के लिए पाटण मे एक मठ स्थापित किया। सिघण के माण्डलिक (भृत्य) निकुभवशीय सोइदेव ने शके ११२९ मे उस मठ के लिए कुछ सम्पत्ति नियुक्त कर दी। उसके भाई हेमाडी ने भी कुछ नियुक्त किया" इत्यादि बातें लिखी है। चगदेव ने शके ११२८ के कुछ वर्षो बाद यह लेख लिखवाया है। इस समय वह मठ तो नही है, पर मठ के चिह्न है। इस शिलालेख मे भास्कराचार्य के पूर्वापर पुरुषो का वृत्तान्त इस प्रकार है—

शाण्डिल्यवशे कविचक्रवर्ती त्रिविक्रमोऽभूत्तनयोऽस्य जात ।
यो भोजराजेन कृताभिधानो विद्यापतिर्भास्करभट्टनामा ॥१७॥
तस्माद् गोविन्दसर्वज्ञो जातो गोविन्दसन्निभ ।
प्रभाकर सुतस्तस्मात् प्रभाकर इवापर ॥१८॥
तस्मान्मनोरथो जात सता पूर्णमनोरथ ।
श्रीमन्महेश्वराचार्यस्ततोऽजनि कवीश्वर ॥१९॥

तत्सूनु कविवृन्दवन्दितपद सद्वेदविद्यालताकन्द कसरिपुप्रसादितपद सर्वज्ञविद्यासद । यच्छिष्यै सह कोऽपि नो विवदितु दक्षो विवादी क्वचिच्छ्रीमान् भास्करकोविद समभवत् सत्कीर्तिपुण्यान्वित ॥२०॥ लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो वेदार्थवित्तार्किकचक्रवर्ती । क्रतुक्रियाकाण्डविचारसारविशारदो भास्करनन्दनोऽभूत् ॥२१॥

' कैलासवासी डा० भाऊ दाजी ने इस लेख का पता लगाया और उसे Jour R A S N S vol I P. 414 में प्रसिद्ध किया। इसके बाद वह Epigraphia Indica, vol, I, P 340 में पुन अच्छी तरह छपा है। उसमें पाटण गांव का नाम आया है।

सर्वशास्त्रार्थदक्षोऽयमिति मत्वा पुरादत । जैत्रपालेन यो नीत कृतश्च विबुधाग्रणी ॥२२॥

तस्मात् सुत सिंघणचक्रवर्तिदैवज्ञवर्योऽजनि चंगदेव ।
श्रीभास्कराचार्यनिबद्धशास्त्रविस्तारहेतो कुरुते मठ य ॥२३॥

भास्कररचितग्रन्था सिद्धान्तशिरोमणिप्रमुखा ।
तद्वंश्यकृताश्चान्ये व्याख्येया मन्मठे नियमात् ॥२४॥

त्रिविक्रम
|
भास्करभट्ट
|
गोविन्द
|
प्रभाकर
|
मनोरथ
|
महेश्वर
|
भास्कर
|
लक्ष्मीधर
|
चंगदेव

इन श्लोको द्वारा भास्कराचार्य की यह पार्श्वस्थित वंशावली निष्पन्न होती है। इसमें लिखे हुए भास्कराचार्य के गोत्र और पिता के नाम भास्करोक्त नामो से मिलते है। शिलालेख मे भास्कराचार्य के षष्ठ-पूर्वपुरुष भास्करभट्ट भोजराज के विद्यापति बतलाये गये है। सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य का जन्म शक १०३६ मे हुआ था। प्रत्येक पीढी मे २० वर्ष का अन्तर मानने से भास्करभट्ट का जन्मकाल शक ९३६ आता है। अत उनका शके ९६४ मे बने हुए राजमृगाक के कर्त्ता भोज का विद्यापति होना असम्भव नही है। शिलालेख मे लिखा है कि राजा जैत्रपाल ने सिद्धान्तशिरोमणिकार भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीधर को लाकर अपनी सभा मे रखा था और उनका पुत्र चंगदेव सिंघण चक्रवर्ती का ज्योतिषी था। यादववंशीय जैत्रपाल राजा का राज्य देवगिरि मे शके १११३ से ११३२ तक और उनके पुत्र सिंघण का ११३२ से ११६९ तक था[1]।

खानदेश में चालीसगाव से १० मील उत्तर गिरण के पास बहाल नाम का एक गाव है। वहा सारजा देवी के मन्दिर मे एक शिलालेख है। उसमें लिखा है—शाण्डिल्यगोत्रीय मनोरथ के पुत्र महेश्वर हुए। उनके पुत्र श्रीपति हुए। उनके पुत्र गणपति और गणपति के पुत्र अनन्तदेव हुए। ये यादववंशीय सिंह (सिंघण) राजा के दरबार मे दैवज्ञाग्रणी थे। इन्होंने शके ११४४ में यह देवी का मन्दिर बनवाया। यह शिलालेख भी उन्ही का है[2]। यह वंशवर्णन चंगदेव के लेख के वर्णन से मिलता है। मालूम

[1] प्रोफेसर भाण्डारकर का दक्षिण का इतिहास (पृष्ठ ८२ इंगलिश) देखिए।

[2] यह लेख Epigraphia Indica, vol III, P 112 में छपा है। लेख में देवी का नाम द्वारजा है।

होता है, इस कुल मे विद्वत्परम्परा वहुत दिनो तक चली थी और यह कुल वडा प्रतिष्ठित था। चगदेव के शिलालेख के प्रथम पुरुष त्रिविक्रम दमयन्तीकथा नामक ग्रन्थ के कर्ता है।

स्थान

भास्कराचार्य किस राजा के दरवार मे रहते थे, इसके विषय मे उन्होने स्वय कुछ नही लिखा है और न तो उपर्युक्त दोनो शिलालेखो मे ही इसका वर्णन है। उन्होने अपना वसतिस्थान विज्जडविड लिखा है। इस शब्द के अन्तिम दो अक्षरो से अनुमान होता है कि वह स्थान वीड होगा, परन्तु वीड अहमदनगर से ४० कोस पूर्व मोगलाई में है। वह सह्याद्रि के पास नही है और मैने पता लगाया है, वहा भास्कराचाय का कोई वशज भी नही है। अकवर ने सन् १५८७ ईसवी (शके १५०९) मे भास्कर की 'लीलावती' का परशियन भाषा मे अनुवाद कराया था। अनुवादक ने उसमे लिखा है कि भास्कराचार्य की जन्मभूमि दक्षिण मे वेदर नामक स्थान है'। वेदर सोलापुर मे लगभग ५० कोस पूर्व मोगलाई मे है और वह भी सह्याद्रि के पास नही है। मोगलाई मे वेदर से १५ कोस पश्चिम कल्याण नामक प्रसिद्ध शहर है। भास्कराचार्य के समय वहा चालुक्यवश का राज्य था। इतने पास एक विस्तृत राज्य रहते हुए भास्कराचार्य का उससे किसी प्रकार का सम्वन्ध होने का कोई प्रमाण नही मिलता, अत. वेदर भास्कराचार्य का वसतिस्थान नही है।

चगदेव के शिलालेख के २२ वे श्लोक में लिखा है—भास्कराचार्य के पुत्र लक्ष्मीवर को राजा जैत्रपाल ने इस (पाटण) पुर से वुलवाया। पाटण गाव यादवो की राजधानी देवगिरि (दौलतावाद) के पास ही है और सह्याद्रि की एक शाखा "चादवड की पहाडी" से लगा हुआ है अर्थात् भास्कराचार्य के लेखानुसार वह सह्याचलाश्रित है। वहाल नामक गाव भी—जिसमें भास्कर के वशज अनन्तदेव का वनवाया हुआ देवी का मन्दिर है—पाटण के पास ही २० मील पर है। इससे नि सशय सिद्ध होता है कि भास्कराचार्य का मूल निवासस्थान पाटण अथवा उसके पास ही विजलविड सरीखे नाम वाला गाव था। सम्प्रति वह प्रसिद्ध नही है।

सिद्धान्तशिरोमणिविषय

सिद्धान्तशिरोमणि मे मुख्य चार खण्ड है। इन्हें अध्याय भी कहते है। इन अध्यायो मे भी अध्याय है। प्रथम खण्ड को ग्रन्थकार ने पाटीगणित या लीलावती कहा है। अङ्कगणित और महत्वमापन (क्षेत्रफल, घनफल) का यह स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जा सकता

[1] Pott's Algebra (1886) Se II

है। इसमे सब लगभग २७८ पद्य है। बीच में उदाहरणो का स्पष्टीकरण इत्यादि गद्य में भी किया है। इसमें आरम्भ मे विविध परिमाणो के कुछ पैमाने और परार्ध पर्यन्त सख्याओ के नाम दिये है। इसके बाद पूर्णाङ्को का योग, अन्तर, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल है। इन आठ कृत्यो को उसमे परिकर्माष्टक कहा है। इसके बाद भिन्न (अपूर्णाङ्क) परिकर्माष्टक, शून्यपरिकर्माष्टक, इष्टकर्म, त्रैराशिक, पञ्चराशिक, श्रेढी, भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षेत्रो और घनो के क्षेत्रफल, घनफल इत्यादि विषय है। इसके बाद कुट्टकगणित तथा पाशिक विपर्यय और सर्वांशिकविपर्यय सम्बन्धी कुछ बाते और उनके उदाहरण इत्यादि है। बीच मे एक विशेष महत्व का उदाहरण यह है— ९ हाथ ऊँचे स्तम्भ पर एक मोर बैठा था। उसने स्तम्भमूल से २७ हाथ दूर एक सर्प देखा जो कि स्तम्भमूल मे स्थित बिल की ओर आ रहा था। वह उसे पकडने के लिए सर्प की ही गति से चला तो उसने सर्प को बिल से कितनी दूरी पर पकडा? इसका उत्तर १२ हाथ लिखा है। समकोणत्रिभुज के कर्ण में अर्थात् सरलरेखा में मोर का गमन १५ हाथ मानने से यह उत्तर आता है, परन्तु मोर का गमनमार्ग वृत्तपरिधि से भिन्न एक वक्ररेखा होती है। ऐसे महत्व का गणितविचार अन्य किसी सस्कृतग्रन्थ में नही है। भास्कराचार्य के मस्तिष्क में वह आया था, यह ध्यान देने योग्य बात है। यद्यपि स्पष्ट है कि लीलावती पढने से पेड की पत्तिया तक गिनना आ जाता है, इत्यादि वृद्धो की धारणाए व्यर्थ है तथापि इसमे उनकी लीलावती के प्रति पूज्यबुद्धि व्यक्त होती है। द्वितीय खण्ड बीजगणित मे धनर्ण सख्याओ का योग इत्यादि, अव्यक्त का योग इत्यादि, करणी सख्याओ के योगादि, इसके बाद कुट्टक, वर्गप्रकृति, एक वर्ण समीकरण, अनेकवर्णसमीकरण, एकानेकवर्णवर्गादिसमीकरण, इत्यादि विषय है। इसमें लगभग २१३ पद्य है और बीच में कुछ गद्य है। गणिताध्याय और गोलाध्याय नामक दो खण्डो मे ज्योतिषशास्त्र है। प्रथम में उपोद्घात मे बतलाये हुए अधिकारो के ग्रहगणितसम्बन्धी सब विषय है। टीकासहित इसकी ग्रन्थसख्या ४३४६ लिखी है। गोलाध्याय में ग्रहगणिताध्याय के सब विषयो की उपपत्ति, त्रैलोक्यसस्थानवर्णन, यन्त्राध्याय इत्यादि विषय है। इसकी ग्रन्थसख्या २१०० लिखी है। अन्त मे ज्योत्पत्ति नामक एक छोटा सा पर बडे महत्व का प्रकरण है। बीच में ऋतुवर्णन नाम का एक छोटा सा प्रकरण भास्कराचार्य ने अपनी कविता दिखलाने के लिए लिखा है।

कर्तृत्व

मध्यमाधिकार के ग्रहभगणादि सब मान और स्पष्टाधिकार के परिध्यश इत्यादि सब मान भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के लिये है। मध्यमग्रहसम्बन्धी बीजसस्कार अक्षरश राजमृगाङ्क से लिया है। अयनगति भी प्राचीन ग्रन्थो की ही है। साराश

यह कि इनके सिद्धान्त मे वेधसाध्य कोई भी नवीन विषय नही है, परन्तु केवलविचार-साध्य ज्ञान से वह भरा है। ऐसा ज्ञान है ज्योतिषसिद्धान्तो की उपपत्ति, अहर्गण द्वारा ग्रहसाधन ऐसे सामान्य विषय से लेकर लम्बन, ज्योत्पत्ति इत्यादि गहन विषयो तक की भिन्न-भिन्न सुलभ रीतियो और उनकी उपपत्ति इत्यादिको से युक्त होने के कारण सिद्धान्तशिरोमणि इतना उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है कि केवल उसी का अध्ययन कर लेने से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का सर्वस्व यथार्थ रूप मे ज्ञात हो जाता है और मालूम होता है इसी कारण भास्कराचार्य की इतनी कीर्ति हुई है। इनके सिद्धान्त के कारण अनेक उत्तम और निकृष्ट ग्रन्थ लुप्त हो गये होगे। इनका गुरुस्थानीय ब्रह्म-सिद्धान्त ही इनके सिद्धान्त के कारण पीछे पड गया तो अन्य कितने ग्रन्थो का लोप हुआ होगा, इसका अनुमान सहज किया जा सकता है। प्रथम आर्यभट से भास्कर पर्यन्त तक का काल भारतीय ज्योतिषशास्त्र के पूर्ण विकास का काल है। इसी काल में बगदाद के खलीफा भारत से ज्योतिषी ले गये, हिन्दूग्रन्थो का अरबी और लैटिन भाषाओ में अनुवाद हुआ, अरब और ग्रीक लोग ज्योतिषशास्त्र मे हिन्दुओ के शिष्य हुए और अयनगति का पूर्ण विचार हुआ। अत ज्योतिषास्त्र के इस उन्नतिकाल मे अनेक ग्रन्थकार हुए होगे परन्तु इनमे से कुछ केवल नामशेष हो गये है और कुछ का इतना भी भाग्य नही है[1]। कालमाहात्म्य के साथ-साथ भास्कराचार्य का ग्रन्थ भी मेरी समझ से इसका एक बडा कारण है। इनके बाद दूसरा कोई ऐसा ग्रन्थकार नही हुआ। भास्कराचार्य के ग्रन्थो का प्रचार भारत के कोने-कोने तक है, इतना ही नही, विदेशी भाषाओ मे भी इसके अनुवाद हो चुके है, परन्तु इतने बडे कल्पक ने आधुनिक यूरोपियन अन्वेषणो सरीखा कोई महत्वशाली अन्वेषण नही किया, न तो किसी आविष्कार की नीव ही डाली, यह हमारे देश का दुर्भाग्य है। भास्कर ने वेधसम्बन्धी प्रयत्न कुछ भी नही किया। इन्होने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि उपपत्तिविवेचन मे ही लगा दी जो कि केवल एक टीकाकार का कार्य है। मुझे स्वकीय अत्यल्प अनुभव मे भी ज्ञात होता है कि ये

[1] करणचूड़ामणि, लोकानन्दकृत लोकानन्दकरण और भट्टिलकृत भट्टिलकरण का नाम लिखने के बाद बेरुनी ने (भाग १ पृष्ठ १५७) लिखा है कि ऐसे ग्रन्थ असंख्य हैं। इससे मेरे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। देश और कालभेद के कारण अनेक करणग्रन्थो का बनना स्वाभाविक है। सम्प्रति वे उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि उपलब्ध होने पर भी आज उनकी आवश्यकता नहीं है तथापि ज्योतिषशास्त्र और सामान्यतः अपने देश का इतिहास जानने के लिए वे बड़े उपयोगी हैं।

यदि इस कार्य को छोडकर वेधानुसन्धान करते तो इनका झुकाव नवीन आविष्कार की ओर अवश्य हुआ होता।

नवीन विशेषताओ का सर्वथा अभाव होते हुए भी उपपत्ति में सम्पूर्ण बुद्धि लगा देने के कारण इनके ग्रन्थ में वेधसाध्य तो नही, पर केवल विचारसाध्य कुछ नवीन बाते आयी है। गोल तो मालूम होता है इन्हे करतलामलकवत् था। त्रिप्रश्नाधिकार में इन्होंने बहुत सी नवीन रीतिया लिखी है और उसमे अनेक विषयो में अपना विशेष कौशल्य दिखाया है। शङ्कुसम्बन्धी इष्टदिक्छायासाधन किया है जो कि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो में नही है। पूर्वाचार्यो के पातसाधन को भ्रमपूर्ण कहकर उसकी नवीन रीति लिखी है। इनके पहिले के आचार्य ग्रहो का शर क्रान्तिसूत्र में अर्थात् ध्रुवाभिमुख मानते थे, परन्तु इन्होने स्पष्ट दिखा दिया है कि शर क्रान्तिवृत्त पर लम्ब होता है। उदयान्तर इनका एक नवीन शोध है। उसका स्वरूप यह है —अहर्गण द्वारा ग्रह लाने मे सब दिन समान मानने पडते है, पर वस्तुस्थिति ऐसी नही है। विषुववृत्त मे भी अहोरात्र ६० घटी से कुछ न्यूनाधिक होता है। इससे मध्यम और स्पष्ट सूर्योदय में अन्तर पडता है। अहर्गणागत ग्रह मध्यम सूर्योदय के होते है। उन्हे स्पष्टोदयकालीन करने के लिए पूर्वग्रन्थकारो ने भुजान्तर और चरसस्कार लिखे है। भास्कर ने उदयान्तर एक अधिक संस्कार लिखा है। सूर्य की गति क्रान्तिवृत्त मे सदा समान नही रहती। इष्टकालीन मध्यम और स्पष्ट रवि के अन्तर अर्थात् फलसस्कार के अनुसार स्पष्टोदय आगे पीछे होता है। इस सम्बन्धी सस्कार को भुजान्तर कहते है। पृथ्वी अपनी धुरी पर विषुववृत्त में घूमती है, क्रान्तिवृत्त में नही। इसलिए क्षितिज में क्रान्तिवृत्तीय ३० अश का उदय होने में जितना समय लगता है, नाडीवृत्त के ३० अश का उदय होने में सदा उतना ही नही लगता। इस विषयक सस्कार को भास्कर ने उदयान्तर कहा है। यह सस्कार अपेक्षित है, इसमे सन्देह नही है। यूरोपियन ज्योतिष में 'इक्वेशन आफ टाइम' नाम का एक सस्कार है। उसमें भुजान्तर और उदयान्तर दोनो का अन्तर्भाव हो जाता है। साराश यह कि उदयान्तर भास्कर का एक आविष्कार है। सूर्यसिद्धान्त के स्पष्टाधिकार के ५९ वे श्लोक की टीका में रङ्गनाथ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सूर्यसिद्धान्तकार को यह सस्कार अभीष्ट था, पर उन्होने स्वल्पान्तरत्वात् इसका त्याग किया। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार ने भास्कर के उदयान्तर का खण्डन करने का व्यर्थ और दुराग्रहपूर्ण यत्न किया है। उदयान्तर के अतिरिक्त सिद्धान्तशिरोमणि में कुछ और भी फुटकर बाते नवीन है। दो-तीन स्थानों पर इसमें ब्रह्मगुप्त की त्रुटिया दिखायी है।

करणकुतूहल

यह करणग्रन्थ है। इसमें आरम्भकाल शक ११०५ है। क्षेपक शक ११०४ फाल्गुन कृष्ण ३० गुरुवार के सूर्योदय के हैं। मध्यमग्रहसाधन अहर्गण द्वारा किया है। भास्कराचार्य ने इस ग्रन्थ को ब्रह्मतुल्य कहा है, पर यह राजमृगाङ्कोक्त-बीजसंस्कृत ब्रह्मतुल्य है। इसका नाम 'ग्रहागमकुतूहल' भी है। पहिले इसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। कुछ लोग आजकल भी इससे गणित करते हैं। ग्रहलाघवोक्त ब्रह्मपक्षीय ग्रह इसी के हैं। इससे गणित करने का जगच्चन्द्रिकासारणी नामक एक विस्तृत सारणीग्रन्थ है। इसमें मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदयास्त, शृङ्गोन्नति, ग्रहयुति, पात और पूर्वसम्भव ये १० अधिकार और उनमे क्रमश १७, २३, १७, २४, १०, १५, ५, ७, १६, ५, अर्थात् सब १३९ पद्य हैं।

टीकाएं

भास्कराचार्य के ग्रन्थ की इतनी टीकायें अन्य किसी ज्योतिषग्रन्थ की नही होंगी। कुछ टीकाएँ सिद्धान्तशिरोमणि के चारो भागो पर हैं, कुछ केवल लीलावती पर, कुछ केवल बीजगणित पर और कुछ केवल ग्रहगणिताध्याय-गोलाध्याय पर हैं। लीलावती की टीकाएँ ये हैं—

जम्बूनिवासी गोवर्धनपुत्र गङ्गाधर की गणितामृतसागरी नाम की टीका है। यह प्राय. शक १३४२ की होगी। आफ्रेचसूची मे लिखा है कि इसका नाम अङ्कामृतसागरी भी है और गङ्गाधर का एक और नाम लक्ष्मीधर था। ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ की शक १४६७ की बुद्धिविलासिनी नाम की टीका है। धनेश्वरदैवज्ञ की लीलावतीभूषण नाम्नी टीका है। शक १५०९ की एक महीदास की टीका है। मुनीश्वर की शक १५५७ के आसपास की लीलावतीविवृति नाम की टीका है। महीधर की लीलावती-विवरण नाम की टीका है। उसमे मुनीश्वर का उल्लेख है, अत वह शक १५५७ के बाद की होगी। आफ्रेचसूची मे इनके अतिरिक्त ये अन्य टीकाएँ भी लिखी हैं— नृसिंहपुत्र रामकृष्ण की सन् १३३९ की गणितामृतलहरी, नृसिंहपुत्र नारायण की सन् १३५७ की पाटीगणितकौमुदी, सदादेव के पुत्र रामकृष्णदेव की मनोञ्जना, रामचन्द्रकृत लीलावतीभूषण, विश्वरूपकृत निसृष्टदूती, सूर्यदासकृत गणितामृत-कूपिका, चन्द्रशेखर पटनायककृत उदाहरण, विश्वेश्वरकृत उदाहरण, दामोदर, देवीसहाय, परशुराम, रामदत्त, लक्ष्मीनाथ, वृन्दावन और श्रीधरमैथिलकृत टीका। निसृष्टदूती टीका मुनीश्वर की होगी क्योंकि उनका नाम विश्वरूप भी था।

बीजगणित की टीकाएँ—जहागीर बादशाह के आश्रित सुप्रसिद्ध ज्योतिषी कृष्ण

की शक १५२४ के आसपास की बीज-नवाङ्कुर नामक टीका है। उसे बीजपल्लव और कल्पलतावतार भी कहते हैं। यह बडी विस्तृत है। अमरावतीस्थ नृसिंहदैवज्ञात्मजलक्ष्मणसुत रामकृष्ण की बीजप्रबोध नाम्नी टीका है। रामकृष्ण ने अपने को मुनीश्वरशिष्य कहा है। अत यह लगभग शक १५७० की होगी। आफ्रेचसूची में परमसुख की बीजविवृतिकल्पलता और कृपारामकृत उदाहरण—ये दो और टीकाए लिखी है। ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय पर ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ की टीका है और उनके प्रपौत्र गणेश की शक १५०० के आसपास की शिरोमणिप्रकाश नाम की टीका है। गोलग्रामस्थ नृसिंह की शक १५४३ की वासनाकल्पलता अथवा वासनावार्तिक नाम की टीका है। मुनीश्वर अथवा विश्वरूप की शक १५५७ की मरीचि नाम्नी टीका बडी ही उत्कृष्ट तथा विस्तृत है। भैरवात्मज रघुनाथानुज गोपीनाथ की शक १४५० के बाद की सिद्धान्तसूर्योदय नाम की टीका है।

सम्पूर्ण सिद्धान्तशिरोमणि की टीकाएँ—ज्ञानराज के पुत्र सूर्यदास की सूर्यप्रकाश नाम्नी टीका चारो खण्डो पर है। उसमें लीलावती और बीजगणित की टीकाए शक १४६३ की है। प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमादीश्वर ने सुनते हैं भास्कर के ग्रन्थो पर सिद्धान्तदीपिका नाम की टीका की थी। अनुमानत वह चारो अध्यायो पर थी। गोलग्रामस्थ नृसिंहपुत्र रङ्गनाथ की मितभाषिणी नाम्नी टीका शक १८५० के थोडे ही दिनो बाद बनी है। आफ्रेचसूची में सिद्धान्तशिरोमणि की अन्य टीकाओ के ये नाम है—सन् १५०१ की वाचस्पतिपुत्र लक्ष्मीदास की गणिततत्वचिन्तामणि नाम्नी टीका, विश्वनाथ का उदाहरण, राजगिरिप्रवासी, चक्रचूडामणि, जयलक्ष्मण या जयलक्ष्मी, महेश्वर, मोहनदास, लक्ष्मीनाथ, वाचस्पतिमिश्र (?) और हरिहर की टीकाएँ है। सम्भवत इनमे अधिक टीकाएँ केवल ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय पर होगी।

करणकुतूहल पर मोटल, नार्मदात्मज पद्मनाभ और शङ्कर कवि की टीकाएँ हैं। शङ्करकवि की टीका में उदाहरणार्थ शक १५४१ लिया गया है। शक १४८२ की एक उदाहरणात्मक टीका है। इसका कर्ता उन्नतदुर्ग का निवासी था। उस स्थान की पलभा ४।४८ और देशान्तरयोजन ६० पश्चिम है। आफ्रेचसूची में ये अन्य टीकाएँ है—केशवार्ककृत ब्रह्मतुल्यगणितसार, हर्षगणितकृत गणककुमुद-कौमुदी, विश्वनाथीय उदाहरण और एकनाथकृत टीका।

भास्कर के ग्रन्थो की अन्य भी बहुत सी टीकाएँ होगी[1]। शक १५०९ में लीलावती

[1] उपर्युक्त कुछ टीकाओं का पता मुझे अन्य ग्रन्थो द्वारा लगा है। मैंने ये सब टीकायें नहीं देखी है।

का और शक १५९७ मे बीजगणित का पर्शियन भाषा मे अनुवाद हुआ है। कोलब्रूक ने सन् १८१७ मे लीलावती और बीजगणित का इगलिश मे अनुवाद करके छपाया है। सन् १८६१ मे बापूदेव शास्त्री ने बिब्लिओथिका इन्डिका मे गोलाध्याय का स्वकीय इगलिश अनुवाद छपाया है। उसमे बहुत सी टिप्पणियाँ भी है। सिद्धान्तशिरोमणि के चारो खण्ड और करणकुतूहल ग्रन्थ सम्प्रति हमारे देश मे अनेक स्थानो मे छप चुके है।

रत्नमाला के टीकाकार माधव (शक ११८५) और अन्य ग्रन्थकारो ने भास्कर-व्यवहार नामक एक मुहूर्तग्रन्थ का उल्लेख किया है। वह इन्ही का होगा। रामकृत विवाहपटलटीका (शक १४४६) मे भास्कर का विवाह विषयक एक श्लोक आया है। भास्करकृत विवाहपटल का उल्लेख मुझे शार्ङ्गीयविवाहपटल और अन्य भी दो एक ग्रन्थो मे मिला है। डेक्कनकालेजसग्रह में भास्करविवाहपटल नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ है। उसमे ग्रन्थकार का केवल नाममात्र है फिर भी अनुमानत भास्कराचार्य का विवाहपटल नाम का ग्रन्थ रहा होगा।

अनन्तदेव

ये भास्कराचार्य के वशज थे। इनके बहाल नामक गाव के उपर्युक्त शक ११४४ के शिलालेख मे लिखा है कि इन्होने ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त के छन्दश्चित्युत्तर नामक २० वें अध्याय की और बृहज्जातक की टीकाएँ की थी।

आदित्यप्रतापसिद्धान्त

श्रीपतिकृत रत्नमाला की महादेवकृत टीका मे इस सिद्धान्त के कुछ वाक्य दिये है। महादेव की टीका शके ११८५ की है, अत यह ग्रन्थ इसके पहिले का होगा। आफ्रेचसूची में इसके कर्ता भोजराज बतलाये है। यदि यह सत्य है तो इसका रचनाकाल शक ९६४ के आसपास होगा।

वाविलालकोच्चन्ना

तैलग प्रान्त के वाविलालकोच्चन्ना नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ शके १२२० का एक करणग्रन्थ है। उसमे क्षेपक शके १२१९ फाल्गुन कृष्ण ३० गुरुवार के दोपहर के है। वर्तमान-सूर्यसिद्धान्त द्वारा मैंने इस समय के ग्रह निकाले, वे इसके क्षेपको से पूर्णतया मिलते है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बना है। मकरन्दादि ग्रन्थो में कथित सूर्यसिद्धान्त में दिया हुआ बीजसस्कार इसमें नही है। वारन नामक एक यूरोपियन ने, जो कि मद्रास की ओर रहते थे, सन् १८२५ में अगरेजी मे कालसकलित नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमे इस करण-सम्बन्धी कुछ बाते आयी है। उनमे ज्ञात होता है कि तैलग प्रान्त में यह ग्रन्थ अभी भी

प्रचलित हैं और इससे पञ्चाङ्ग बनते हैं। उस पञ्चाङ्ग को सिद्धान्तचान्द्रपञ्चाङ्ग कहते हैं।

केशव

इन्होंने विवाहवृन्दावन नामक ग्रन्थ बनाया है। ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ ने इसकी टीका की है। उनका कथन है कि करणकण्ठीरव नामक ग्रन्थ इन्हीं केशव का है। इसके नाम से स्पष्ट है कि यह करणग्रन्थ है, यह मुझे कहीं नहीं मिला। ये केशव भारद्वाजगोत्रीय औदीच्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम राणग, पितामह का नाम श्रियादित्य और प्रपितामह का जनार्दन था। विवाहवृन्दावन प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह छप चुका है। इसमें लग्नशुद्धि प्रकरण में नार्मदीय पलभा ४।४८ लिखी है। इस पलभा द्वारा अक्षांश २१।४८ आते हैं। नर्मदातटवर्ती भडोच शहर का अक्षांश २१।४१ है अत इनका स्थान इसी के आसपास नर्मदा के किनारे रहा होगा। आफ्रेचसूची में, विवाहवृन्दावन की कल्याणवर्मकृत एक और टीका लिखी है। ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के पिता केशव से ये प्राचीन होने चाहिए। पीताम्बरकृत विवाहपटल की शक १४४६ की निर्णयामृत नाम की टीका में विवाहवृन्दावन का उल्लेख है। अत ये शक १४०० से अर्वाचीन नहीं होंगे। विवाहवृन्दावन में "त्रिभागशेषे ध्रुवनाम्नि" इत्यादि श्लोक में लिखा है—ध्रुवयोग का तृतीय भाग रह जाने पर व्यतीपात महापात होता है। यह स्थिति उस समय थी जब कि अयनांश १२$\frac{1}{3}$ थे। गणेशदैवज्ञ ने इसकी टीका में लिखा है—ग्रन्थनिर्माणकाल में अयनांश १२ थे, इसीलिए ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि इनका समय १२ अयनांशकाल अर्थात् शक ११६५ के आसपास है।

महादेवकृत ग्रहसिद्धि

यह करणग्रन्थ है। इसे महादेवी सारणी भी कहते हैं। इसमें आरम्भ वर्ष शक १२३८ है, अत इसका रचनाकाल इसी के लगभग होगा। इसके आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने लिखा है—

चक्रेश्वरारब्धनभश्चराशुसिद्धिं महादेव ऋषींश्च नत्वा ।।१।।

इससे अनुमान होता है कि चक्रेश्वर नामक ज्योतिषी के आरम्भ किये हुए इस अपूर्ण ग्रन्थ को महादेव ने पूर्ण किया है। इस पर वनराजकृत टीका है। आरम्भ के ४ श्लोकों में महादेव ने अपना कुलवृत्तान्त लिखा था, परन्तु उनके अत्यन्त अशुद्ध होने के कारण टीकाकार ने उनकी टीका नहीं की। इस टीका की एक प्रति डेक्कनकालेजसंग्रह

मे है। आनन्दाश्रम मे इस ग्रन्थ की एक टीकाविरहित प्रति (न० २०८६) है। उसमे ये श्लोक है। वे भी अशुद्ध ही है। अत उनसे ज्ञात होता है कि महादेव गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम पद्मनाभ तथा पितामह का नाम माधव था। गणकतरङ्गिणीकारलिखित इस ग्रन्थ के कुलवृत्तान्तसम्बन्धी श्लोक शुद्ध है। उनसे ज्ञात होता है कि उनके पिता इत्यादि के नाम क्रमश परशुराम, पद्मनाभ, माधव और जोजदेव थे और ये गोदावरी के निकट रासिण नामक स्थान में रहते थे। वहा की पलभा ४½ थी। अहमदनगर के दक्षिण रासिन नाम का एक गाव है, पर उसकी पलभा ४ के लगभग है और वह गोदा के पास नही बल्कि महाराष्ट्र मे भीमा के पास है। वश-वृत्तान्त मे आरम्भ में ही लिखा है—

कुल और स्थान

ईश्वरकौबेरजजोदाससमस्तज्जजोग्रजन्मासीत्।
श्रीजोजदेवनामा गौतमगोत्र स दैवज्ञ.॥

इससे ये गुजराती ज्ञात होते है। सस्कृत और गुजराती भाषा में लिखा हुआ जातकसार नामक एक प्राचीन ग्रन्थ मुझे मिला। उसमे महादेवीसारणी द्वारा ग्रह-साधन करने का आदेश किया है। महादेवीसारणी की डेक्कनकालेजसग्रहवाली प्रति अहमदाबाद मे मिली है। उसका टीकाकार भी गुर्जर देश के पास का ही है और स्वय महादेव ने भी चरसाधनार्थ पलभा ४½ ली है, अत इनका मूलस्थान गुजरात में सूरत के पास रहा होगा और ये स्वय अथवा इनके कोई पूर्वज बाद मे रासिन में आकर बसे होगे। इनका ग्रन्थ गुजरात में बहुत दिनो तक प्रचलित रहा होगा।

विषय

इस ग्रन्थ मे लगभग ४३ पद्य है। उनमे केवल मध्यम और स्पष्ट ग्रहो का साधन है। क्षेपक मध्यम-मेषसक्रान्तिकालीन है और वर्षगण द्वारा मध्यमग्रहसाधन करने के लिए सारणिया बनायी है। इससे ग्रहसाधन में बडी सुविधा होती है। ग्रहगति-स्थिति राजमृगाङ्कोक्तबीजसस्कृत-ब्रह्मसिद्धान्ततुल्य है। टीकाकार ने अन्त मे अपना वश-वृत्तान्त लिखा है। उसका कुछ भाग यह है—

टीका

वर्षे नेत्रनवागभू १६९२ परिमिते ज्येष्ठस्य पक्षे सिते-
ऽष्टम्या सद्गुण पृथक्यमभ्नरयु (?) पद्मावतीपत्तने।
राजा ह्यल्करवैरिनागदमनो राठोडवशोद्भव.

श्रीमान् श्रीगजसिंहभूपतिवरोऽस्ति श्रीमरोर्मण्डले ।।
जैने शासन एवमञ्चलगणे ।।

इससे ज्ञात होता है कि टीकाकार जैन थे। इन्होने अपना नाम धनराज लिखा है। टीका मे सिरोही (उज्जयिनी से ३० योजन पश्चिम) का देशान्तरसाधन किया है, अत इनका निवासस्थान वही रहा होगा। टीका का नाम महादेवीदीपिका है। उसकी टीकासख्या १५०० लिखी है। उपर्युक्त श्लोक का १६९२ विक्रमसवत् है अर्थात् टीका-काल शक १५५७ है।

महादेवकृत कामधेनुकरण—शक १२८९

गोदातीरस्थ त्र्यम्बक की राजसभा के मान्य कौण्डिन्य गोत्रीय बोपदेव के पुत्र महादेव ने ब्राह्म और आर्यपक्षो के अनुसार कामधेनु ग्रन्थ बनाया है। इसमें ३५ श्लोक और सारणिया है। वर्षगति और क्षेपक दिये है। इसमे लिखा है कि २२ कोष्ठको के पट में तिथिसिद्धि होती है।

नार्मद

सूर्यसिद्धान्तविचार मे लिख चुके है कि नार्मद ने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की टीका की रही होगी अथवा उसके आधार पर कोई ग्रन्थ बनाया होगा। इनका काल शक १३०० के आसपास होगा। इसका विवेचन नीचे दामोदरीय भटतुल्यविवेचन मे किया है। इनकी टीका या ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नही है।

पद्मनाभ

ये उपर्युक्त नार्मद के पुत्र है। इनका काल लगभग शक १३२० है। इसका विवेचन नीचे किया है। इनका यन्त्र-रत्नावली नाम का एक ग्रन्थ है। उसका द्वितीय अध्याय ध्रुवभ्रमयन्त्र मेरे पास है। उस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। इस ग्रन्थ का विवेचन आगे यन्त्रप्रकरण मे करेंगे।

दामोदर

इनका भटतुल्य नामक एक ग्रन्थ है। उसमें आरम्भवर्ष शक १३३९ है। ग्रन्थकार ने लिखा है—

दामोदर श्रीगुरुपद्मनाभपदारविन्द शिरसा प्रणम्य।
प्रत्यब्दशुध्यार्यभटस्य तुल्य विदा मुदेऽह करण करोमि ।।२।।

मध्यमाधिकार।

श्रीनर्मदादेवसुतस्य मत्पितु श्रीपद्मनाभस्य समस्य भावत ।
यस्मात् सुसम्पन्नमनुग्रहाद् गुरोर्भूयादिहैतत्पठनात् प्रद श्रिय ॥१६॥

सच्छिष्यैरसकृत् कृतप्रणतिभि सम्प्रार्थितो वीजविद् ।
वक्त्राम्भोजरविश्चकार करण दामोदर सत्कृती ॥१९॥

उपसंहार ।

इससे ज्ञात होता है कि दामोदर के पिता का नाम पद्मनाभ था और वे ही इनके गुरु भी थे और इनके पितामह का नाम नर्मदादेव था। उपर्युक्त ध्रुवभ्रमयन्त्र नामक ग्रन्थ के आरम्भ मे ग्रन्थकार ने लिखा है—

श्रीनर्मदानुग्रहलब्धजन्मन पादारविन्द जनकस्य सद्गुरो ।
नत्वा त्रियामासमयादिवोधक ध्रुवभ्रम यन्त्रवर ब्रवीम्यथ ॥१॥

और अन्त मे लिखा है—

इति श्रीनार्मदात्मजश्रीपद्मनाभविरचितयन्त्ररत्नावल्या
स्वविवृतौ ध्रुवभ्रमणाधिकारो द्वितीय ॥

इससे नि सशय प्रतीत होता है कि पद्मनाभ के पिता नार्मद थे और ये पद्मनाभ दामोदर के पिता थे। दामोदर का ग्रन्थ शक १३३९ का है। अत पद्मनाभ के ग्रन्थ का काल शक १३२० के लगभग होगा। शके १४६० के जातकाभरण नामक ग्रन्थ में ध्रुवभ्रमयन्त्र का उल्लेख है, इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। यद्यपि उपर्युक्त श्लोक से यह नि सशय सिद्ध नही होता कि रङ्गनाथ ने जिस नार्मद का श्लोक लिखा है वे ही पद्मनाभ के पिता है, पर नामसादृश्य अवश्य है। पद्मनाभ के लेख से ज्ञात होता है कि उनके पिता नार्मद विद्वान् थे और वे ही उनके गुरु भी थे, अत उनका ग्रन्थकार होना असम्भव नही है। रङ्गनाथ कथित नार्मद रङ्गनाथ (शक १५२५) से प्राचीन होने चाहिए। इससे भी उपर्युक्त कथन मे कोई विरोध नही आता और सव से अधिक महत्त्व की वात यह है कि दामोदर ने अपने भटतुल्य ग्रन्थ मे वार्षिक अयनगति ५४ विकला मानी है। यह गति सूर्यसिद्धान्त की है। अब तक वर्णित किसी भी पौरुष ग्रन्थकार ने इतनी अयनगति नही मानी है और दामोदर ने मानी है, अत इनके पितामह नार्मद ही रङ्गनाथकथितसूर्यसिद्धान्त के टीकाकार होंगे— इसमें सन्देह नही है। इनकी टीका का काल शक १३०० होगा।

भटतुल्य ग्रन्थ में क्षेपक शके १३३९ के मध्यममेषसंक्रान्तिकाल के हैं। ये प्रथम आर्यसिद्धान्त में लल्लोक्त बीजसंस्कार देकर लाये गये हैं। मन्दोच्च और पात प्रथम आर्यसिद्धान्त के अनुसार हैं। इसमें वार्षिक अयनगति ५४ विकला और शून्यायनांश वर्ष शक ३४२ है। इसका अधिक विवेचन आगे करेंगे। इसमें मध्यम, स्फुटीकरण, पञ्चतारास्फुटीकरण, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, उदयास्त और ग्रहयुति, ये ८ अधिकार तथा भिन्न-भिन्न वृत्तों के २२२ पद्य हैं। ग्रन्थकार ने अन्त में अनुष्टुप्छन्दानुसार इसकी ग्रन्थसंख्या ४०० लिखी है। इसका त्रिप्रश्नाध्याय बड़ा विस्तृत है। इसमें ८७ पद्य हैं, उनमें कुछ प्रश्न भी हैं। प्रश्नों में ५ पलभा कई बार आयी है। प्रथम आर्यसिद्धान्त में नक्षत्रभोग नहीं दिये हैं। आर्यपक्षीय ग्रन्थ करणप्रकाश में भी नहीं हैं, पर दामोदर के ग्रन्थ में हैं और वे अन्य सब ग्रन्थों से कुछ-कुछ भिन्न हैं अतः इसका अनुसंधान इन्होंने स्वयं किया होगा। नक्षत्रयुत्यधिकार में इसका कुछ अधिक विवेचन करेंगे।

गङ्गाधर—शक १३५६

इन्होंने कलिवर्ष ४५३५ (शक १३५६) में वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसारी 'चन्द्रमान' नामक तन्त्र बनाया है। काशी के राजकीय पुस्तकसंग्रह में यह ग्रन्थ है। ज्ञात होता है, इसमें केवल मध्यम और स्पष्ट ग्रहों का साधन है। इसमें लगभग २०० श्लोक हैं, मध्यमग्रह चान्द्रमासगण द्वारा बनाये हैं और मालूम होता है, सौरमान का भी वर्णन है। मध्यरेखास्थित श्रीशैल के पश्चिम, कृष्णावेणी और भीमरथी के बीच सगर नामक नगर इनका निवासस्थान था। ये जामदग्न्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता इत्यादिकों के नाम चन्द्रभट, भट्टार्य और विठ्ठल थे। सौरमताभिमानी, विद्यापुरस्थ नृपति के प्रिय श्रीचन्दल नाम के ज्योतिषी इसी वंश में हुए थे। उनके पुत्र विश्वनाथ ने गङ्गाधरकृत चान्द्रमानतन्त्र को अत्यन्त कठिन समझ कर उसको सुबोध पद्यों में बनाया। इनका समय ज्ञात नहीं है।

मकरन्द

मकरन्द सरल रीति से पञ्चाङ्ग बनाने योग्य एक सारणीग्रन्थ है। इसे काशी में मकरन्द नामक ज्योतिषी ने सूर्यसिद्धान्तानुसार बनाया है। इसके आरम्भ में लिखा है—

> श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यग्विश्वोपकाराय गुरुप्रसादात्।
> तिथ्यादिपत्रं वितनोति काश्यामानन्दकन्दो मकरन्दनामा ॥१॥

इस ग्रन्थ द्वारा लाये हुए तिथ्यादिकों के घटीपल सुस्पष्ट काशी के आते हैं। उपपत्ति से ज्ञात होता है कि उसमें बतलाया हुआ सूर्यसिद्धान्त वर्तमान सूर्यसिद्धान्त है।

काशी की छपी हुई पुस्तक मे ग्रन्थारम्भकाल शक १४०० लिखा है । मुझे इसका अन्त या वाह्य कोई प्रमाण नही मिला पर इसे असत्य कहने का भी कोई कारण दिखायी नही देता । दिवाकर ने शक १५४० के आसपास इस पर मकरन्दविवरण नाम की टीका की हैं । इस ग्रन्थ द्वारा तिथ्यादिको के घटी-पल और सब ग्रह बहुत थोडे परिश्रम मे आते हैं । ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहा इसकी पद्धति नही लिखी है । सम्प्रति उत्तर भारत मे काशी, ग्वालियर इत्यादि अनेक स्थानो मे इससे पञ्चाङ्ग बनते हैं और वे उन प्रदेशो मे चलते भी हैं । यह ग्रन्थ काशी मे छपा है । गोकुलनाथ दैवज्ञ ने शक १६८८ मे इसकी सारणियो की उपपत्ति लिखी है, वह भी छपी है । मकरन्द ने सूर्यसिद्धान्त मे बीजसस्कार दिया है, यह पहिले लिख ही चुके हैं ।

केशव (द्वितीय)

सुप्रसिद्ध ज्योतिषी ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के ये पिता थे । ये स्वय भी बहुत बडे विद्वान् थे । इनके पुत्र गणेशदैवज्ञ ग्रहगणित के इनसे बडे पण्डित हुए, यह बात 'सर्वत्र विजय चेच्छेत् शिष्यादिच्छेत् पराजयम्' न्याय से इनके लिए बडी भूषणास्पद है । यदि ये स्वयम् विद्वान् न होते तो इनके पुत्र का इतना बडा पण्डित होना असम्भव था । इनका ग्रहकौतुक नामक एक करणग्रन्थ है, उसमे आरम्भवर्ष शक १४१८ हैं । अत इनका काल इसी के आसपास है । मुहूर्ततत्त्व के अन्त मे इन्होने लिखा है —

गुरुवैजनाथचरणद्वन्द्वे रत केशव ।
नन्दिग्रामगत सुतस्तु कमलज्योतिर्विदग्र्यस्य ॥

इसकी टीका मे इनके पुत्र गणेशदैवज्ञ ने लिखा है—'नन्दिग्रामगत अपरान्तदेशे पश्चिमसमुद्रस्य पूर्वतीरस्थितो नन्दिग्राम प्रसिद्धस्तत्र गत निवासीत्यर्थ ।' इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम कमलाकर था और वे भी बहुत बडे ज्योतिषी थे, इनके गुरु का नाम वैजनाथ था और इनका निवासस्थान समुद्र के किनारे कोकण प्रान्त में नन्दिग्राम नामक गाव था । सम्प्रति यह गाव जजीरा रियासत में है और उसे नादगाव कहते हैं । यह बम्बई से लगभग २० कोस दक्षिण है । गणेशदैवज्ञ लिखित वशवृत्तान्त से ज्ञात होता है कि इनका गोत्र कौशिक था और केशव की पत्नी का नाम लक्ष्मी था । वशवृत्तान्त इनके अन्य ग्रन्थो में भी हैं । इनके ग्रन्थो का नाम गणेशदैवज्ञ ने मुहूर्ततत्त्व की टीका में इस प्रकार लिखा है—

ग्रन्थ

सोपाय ग्रहकौतुक खगकृतिं तच्चालनाख्यं तिथेः,
सिद्धिं जातकपद्धतिं सविवृतिं तार्तीयके पद्धतिम्।
सिद्धान्तेऽप्युपपत्तिपाठनिचयं मौहूर्ततत्त्वाभिधं,
कायस्थादिजधर्मपद्धतिमुख श्रीकेशवार्योऽकरोत्॥
ग्रहकौतुकतट्टीकावर्षग्रहसिद्धितिथिसिद्धिग्रहचालनगणितदीपिका-
जातकपद्धतितट्टीकाताजिकपद्धतिसिद्धान्तपाठकायस्थाद्याचार-
पद्धतिकुण्डाष्टलक्षणादिग्रन्थजातनिबन्धानन्तरमहं केशवो
मुहूर्ततत्त्व वक्ष्ये।

इनमें से जातकपद्धति और जातिकपद्धति ग्रन्थ सम्प्रति प्रसिद्ध है। इन्हें 'केशवी' ही कहते हैं और बहुत से ज्योतिषी इनका उपयोग करते हैं। दोनो ग्रन्थ छप चुके हैं। मुहूर्ततत्त्व भी छपा है। शक १४९३ में देवगिरि (दौलताबाद) के पास निर्मित मुहूर्त-मार्तण्ड नामक ग्रन्थ मे केशवी-जातकपद्धति का और शक १५२५ मे काशी में रङ्गनाथ की बनाई हुई सूर्यसिद्धान्त की टीका में मुहूर्ततत्त्व का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि केशव के थोडे ही दिनो बाद इस देश मे इन ग्रन्थो का पर्याप्त प्रचार हो गया था।

वेध

यद्यपि इनके पुत्र के ग्रन्थो के कारण इनके ग्रन्थ दब गये तथापि वेध के विषय में इनकी योग्यता बहुत बडी थी। ऐसे ज्योतिषी हमारे देश में बहुत कम हुए है। ग्रहकौतुक की स्वकीय मिताक्षरा टीका में इन्होने लिखा है—

ब्राह्मार्यभटसौराद्येष्वप्यपि ग्रहकरणेषु बुधशुक्रयोर्महदन्तर अङ्कतया दृश्यते। मन्दे आकाशे नक्षत्रग्रहयोगे उदयेऽस्ते च पञ्चभागा अधिका. प्रत्यक्षमन्तर दृश्यते।

एव क्षेपेष्वन्तर वर्षभोगेष्वपि अन्तरमस्ति। एव बहुकाले बह्वन्तर भविष्यति यतो ब्राह्माद्येष्वपि भगणाना सावनादीनाञ्च बह्वन्तर दृश्यते। एव बहुकाले बह्वन्तरं भवत्येव।.. एव बह्वन्तर भविष्यै. सुगणकै नक्षत्रयोगग्रहयोगोदयास्तादिनिर्वर्तमानघटनामवलोक्य न्यूनाधिकभगणाद्यैर्ग्रहगणितानि कार्याणि। यद्वा तत्काल्क्षेपक वर्षभोगान् प्रकल्प्य स्फुटकरणानि कार्याणि।. एव मया परमफलस्थाने चन्द्रग्रहण-[illegible]विधिना मन्दचन्द्रो ज्ञात। तत्र फलह्रासवृद्धयभावात्। केन्द्रगोलादि-[illegible]विधिना चन्द्रोऽत्र समाकलितम्। तत्र फलस्य परमह्रास-[illegible]। तत्र चन्द्र सूर्यपक्षात् पञ्चभागैर्नो दृष्ट। उच्च ब्रह्मपक्षाश्रितम्। सूर्य.

सर्वपक्षेऽपीपदन्तर स सौरो गृहीत । अन्ये ग्रहा नक्षत्रग्रहयोगग्रहयोगास्तोदयादि-भिर्वर्तमानघटनामवलोक्य साधिता । तत्रेदानी भौमेज्यौ ब्राह्मपक्षाश्रितौ घटत. ब्राह्मो बुध । ब्राह्मार्यमध्ये शुक्र । शनि पक्षत्रयात् पञ्चभागाधिको दृष्ट । एव वर्तमानघटनामवलोक्य लघुकर्मणा ग्रहगणित कृतम् ।

स्वय किये हुए वेधो का ऐसा वर्णन मुझे अन्य किसी भी ज्योतिषी के ग्रन्थ में नही मिला । अधिक क्या, केशव के विषय मे मेरी तो यहा तक धारणा है कि मूलसूर्य-सिद्धान्तकार, प्रथम—आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भोज के ज्योतिषियो को छोडकर इनके सदृश ज्योतिषी दूसरा हुआ ही नही । इन्होने वेधदिवस और वेध द्वारा ग्रहानयनप्रकार इत्यादि बाते ऊपर की भाँति लिखी होती तो उनसे बडा लाभ होता, परन्तु दु ख है कि हमारे देश के ज्योतिषियो मे इन सब बातो को ग्रन्थ मे लिख रखने की पूर्वपरम्परा ही नही है। ग्रहकौतुक द्वारा गणित करने से मुझे ज्ञात हुआ कि इन्हे ग्रहो का जैसा अनुभव हुआ तदनुसार इन्होने ग्रहकौतुक मे ग्रहो के क्षेपक और वर्षगतिया लिखी है। ग्रहकौतुक और जातकपद्धति की इन्होने स्वय टीकाए की है ।

गणेशदैवज्ञ

ये एक बहुत बडे ज्योतिषी हो चुके है। सम्प्रति सम्पूर्ण भारत के जितने प्रदेशो मे इनके ग्रहगणितग्रन्थ प्रचलित है उतने अन्य किसी के भी नही । इनके पिता का नाम केशव, माता का लक्ष्मी, गोत्र कौशिक और वसतिस्थान पश्चिमसमुद्रतटवर्ती नादगाव था, इत्यादि बाते ऊपर लिख ही चुके है। इनके ग्रहलाघव की टीका मे विश्वनाथ दैवज्ञ ने लिखा है—श्रीमद्गुरुणा गणेशदैवज्ञेन ये ग्रन्था कृतास्ते तद्भ्रातृपुत्रेण नृसिंहज्योतिर्विदा स्वकृतग्रहलाघवटीकाया श्लोकद्वयेन निबद्धा । ते यथा—

ग्रन्थ

कृत्वादौ ग्रहलाघव ,लघुबृहत्तिथ्यादिचिन्तामणी
सत्सिद्धान्तशिरोमणौ च विवृति लीलावतीव्याकृतिम् ।
श्रीवृन्दावनटीकिका च विवृति मौहूर्ततत्त्वस्य वै
सत्श्राद्धादिविनिर्णय सुविवृति छन्दोर्णवास्यत्स्वं ॥१॥
सुधीरञ्जन तर्जनीयन्त्रकञ्च सुकृष्णाष्टमीनिर्णय होलिकाया ।
लघूपायपातस्तथान्या ॥

इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने ग्रहलाघव, लघुतिथिचिन्तामणि, बृहत्तिथिचिन्तामणि, सिद्धान्तशिरोमणिटीका, लीलावतीटीका, विवाहवृन्दावनटीका, मुहूर्ततत्वटीका, श्राद्धनिर्णय, छन्दोर्णवटीका, तर्जनीयन्त्र, कृष्णाष्टमीनिर्णय, होलिकानिर्णय, लघूपायपात (पातसारणी) इत्यादि ग्रन्थ बनाये थे। विवाहवृन्दावन की टीका में इन्होंने स्वयं भी अपने कुछ ग्रन्थों के नाम लिखे हैं। वे ये हैं—

> कृत्वादौ ग्रहलाघवाख्यकरणं तिथ्यादिसिद्धिद्वयं
> श्लोकैः श्राद्धविधिं सवासनतया लीलावतीव्याकृतिम्।
> सप्रक्षेपमुहूर्ततत्त्वविवृतिं पर्वादिसन्निर्णयं
> तस्मान्मङ्गलनिर्णयाद्यथकृता वैवाहसद्दीपिका॥

काल

इसमें ऊपर की अपेक्षा पर्वनिर्णय एक अधिक ग्रन्थ है। ये नाम कालक्रमानुसार लिखे हैं, यह बात नहीं है तथापि ग्रहलाघव इनका सर्वप्रथम ग्रन्थ ज्ञात होता है। इसमें आरम्भवर्ष शक १४४२ है। इस समय ये २०-२२ वर्ष के अवश्य रहे होंगे अर्थात् इनका जन्मकाल लगभग शक १४२० है। लघुचिन्तामणि ग्रन्थ शक १४४७ का है। लीलावतीटीका शक १४६७ की है। पातसारणी से उसका रचनाकाल शक १४६० के बाद ज्ञात होता है। विवाहवृन्दावन की मैंने एक मुद्रित प्रति देखी। उसमें टीका-काल बड़ी विचित्र रीति से लिखा है। वह यह है—

> हायनार्क १२ लवतुल्यमायनं तद्युतीरस ६ युता युतिर्भवेत्।
> सापि सागर ४ युतोडुपोद्‍र्कं तत्त्रिनेत्र २३ लव एव पक्षकः॥१॥
> पक्ष-सपक्षो २ यदि वासर-स्यात् तदीयरामा ३ शसमस्तिथिः स्यात्॥
> यच्चाखिलैक्यं[1] कुयमाहत तत् नन्दाधिकं मत्शकवत्सराः स्युः॥
> तदयनतिथिपक्षास्तुल्यता यान्ति यस्मिन् ..॥

इससे ज्ञात होता है कि—शक १५०० बहुधान्यसंवत्सर उदगयन माघ शुक्ल १ भौमवार, धनिष्ठानक्षत्र, परिघयोग—में यह टीका समाप्त हुई। शक १५०० माघ शुक्ल १ का गणित करने में उपर्युक्त वार, नक्षत्र और योग ठीक मिलते हैं।

[1] { संवत अयने योग नक्षत्र पक्ष वासर तिथि मास
१२ + १ + १९ + २३ + १ + ३ + १ + ११ } × २१ + ९ = १५००

गणेशकृत विवाहवृन्दावन की टीका का काल यदि यही है तो उस समय इनकी अवस्था ८० वर्ष की रही होगी। १६ वर्ष की अवस्था मे ग्रहलाघव की रचना मानने से टीका के समय अवस्था ७५ वर्ष आती है। यह असम्भव नही है तथापि मुझे कोकण मे दापोली तालुके के मुरुड नामक अपने गाव मे रघुनाथ जोशी के पास विवाहवृन्दावन की टीका की एक हस्तलिखित प्रति मिली है, उसमे एक सरल श्लोक में लिखा है—'रमनगमनु तुल्ये शाक आनन्दवर्षे' (शक १४७६ आनन्द नामक सवत्सर मे) टीका की है। यह लेख विश्वसनीय है। उपर्युक्त श्लोक दूसरे किसी का होगा।

ग्रहलाघव

ग्रहलाघव मे आरम्भ वर्ष शक १४४२ है। इसके क्षेपक शक १४४१ अमान्त फाल्गुन कृष्ण ३० सोमवार (ता० १९ मार्च, सन् १५२०) के सूर्योदय के है। वे ये है—

	रा०	अ०	क०		रा०	अ०	क०
सूर्य	११	१९	४१	बुधशीघ्रकेन्द्र	८	२९	३३
चन्द्र	११	१९	६	गुरु	७	२	१६
चन्द्रोच्च	५	१७	३३	शुक्रशीघ्रकेन्द्र	७	२०	६
राहु	०	२७	३८	शनि	६	१५	२१
मगल	१०	७	८				

कौन-सा ग्रह किस ग्रन्थ का आकाश मे ठीक मिलता है, इसके विषय मे गणेश दैवज्ञ ने लिखा है—

> सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्कलिकोनाब्जो गुरुस्त्वार्यजो-
> ऽसृग्राहू च कजज्ञकेन्द्रकमथार्यं सेषुभाग शनि।
> शौक्र केन्द्रमजार्यमध्यगमितीमे यान्ति दृक्तुल्यताम् ।।

मध्यमाधिकार।

इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार सूर्य और चन्द्रोच्च मिलते है। उसके चन्द्रमा मे से ९ कला घटा देनी चाहिए। आर्यपक्षीय ग्रन्थ करणप्रकाश द्वारा लाये हुए गुरु, मगल और राहु मिलते है। उसके शनि में ५ अश जोड देना चाहिए। ब्राह्मपक्षीय ग्रन्थ करणकुतूहल से लाया हुआ बुधकेन्द्र ठीक होता है। करणप्रकाश

और करणकुतूहल द्वारा लाये हुए शुक्रकेन्द्रो को जोडकर आधा करने से वह ठीक होता है। इस कथनानुसार शके १४४१ फाल्गुन कृष्ण ३० सोमवार के प्रात काल के ग्रह लाने से इन क्षेपको से ठीक मिलते हैं परन्तु गणेश ने विकलाएँ विलकुल छोड दी हैं और कही-कही कलाएँ भी कुछ न्यूनाधिक कर दी हैं, इससे कही-कही कलाओ में थोडा अन्तर पड गया है। उपर्युक्त ग्रह लाने में करणप्रकाश का अहर्गण १५६३३४ और करणकुतूहल का १२३११३ आता है[1], इससे ज्ञात हो सकता है कि यह गणित करना कितना कठिन है। गणेश ने अहर्गण द्वारा ही ग्रहसाधन करने की रीति दी है, पर उसमें ऐसी युक्ति की है जिससे वह अधिक बढने न पावे। वह युक्ति यह है—११ वर्षों मे लगभग ४०१६ दिन होते हैं। इतने अहर्गण का एक चक्र मान लिया है और इतने दिनो में ग्रहो की जितनी मध्यमगति होती है उसका नाम ध्रुव रख दिया है। इस गति का सस्कार[2] करके मध्यम ग्रह लाये हैं। इस युक्ति से अहर्गण कभी भी ४०१६ से अधिक नही होता।

विशेषता

ग्रहलाघव की एक और विशेषता यह है कि इसमे ज्याचाप का सम्बन्ध विलकुल नही रखा गया है और ऐसा होने पर भी प्राचीन किसी भी करणग्रन्थ से यह कम सूक्ष्म नही है—यह नि सकोच कहा जा सकता है। आधुनिक अगरेजी ग्रन्थो मे प्रत्येक अश की ही नही प्रत्येक कला की भुजज्या इत्यादि दी रहती है। कुछ तो ऐसे भी ग्रन्थ वन गये हैं जिनमें प्रत्येक विकला की भुजज्यादि हैं। हमारे सिद्धान्तो मे प्रति पौने चार अश की भुजज्याएँ हैं अर्थात् उनमे सब २४ ज्यापिण्ड हैं,परन्तु करणग्रन्थो में बहुधा ९ (प्रत्येक १० अश पर) अथवा इससे भी कम ज्यापिण्ड होते हैं। ग्रहलाघव मे भुजज्याओ का प्रयोग न होते हुए भी उससे लाया हुआ स्पष्टसूर्य उन करणग्रन्थो की अपेक्षा सूक्ष्म होता है जिनमें ये हैं, इतना ही नही, कभी-कभी तो २४ ज्यापिण्डोवाले सिद्धान्तग्रन्थो से भी सूक्ष्म आता है। इस ग्रन्थ में गणेश ने सभी पदार्थो को सुलभ रीति से लाने का प्रयत्न किया है, इस कारण कुछ विषयो मे स्थूलता तो अवश्य आ

[1] मेरी तरह किसी भी टीकाकार ने यह नहीं दिखाया है कि गणेश ने अमुकामुक ग्रह अमुक ग्रन्थ से लिए हैं।

[2] ११ वर्षो में दिवस कुछ न्यूनाधिक होते हैं। वे छूटने न पावें, इसके लिए युक्ति की है। चक्रसंबधी ग्रहगति चक्रशुद्ध की होने के कारण उसे क्षेपक में से घटा कर अहर्गणागत-गति उसमें जोडने से इष्टकालीन मध्यमग्रह आता है।

गयो है पर अन्य करण ग्रन्थो की भी यही स्थिति है। उपसहार में इन्होने लिखा है—

पूर्वे प्रौढतरा क्वचित् किमपि यन्चक्रुर्वतुर्ज्ये विना,
ते तेनैव महातिगर्वकुभृदुच्छृङ्गेऽधिरोहन्ति हि ।
सिद्धान्तोक्तमिहाखिल लघु कृत हित्वा धनुर्ज्ये मया
तद्गर्वो मयि मास्तु कि न यदह तच्छास्त्रतो वृद्धधी ॥

इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन प्रौढतर गणक कही-कही थोडा-सा ही गणितकर्म[1] ज्याचाप के विना करके गर्व के पर्वत के शिखर पर चढ गये है तो सिद्धान्तोक्त सब कर्म विना ज्याचाप के करने का अभिमान मुझे क्यो न हो परन्तु वह मुझे नही है क्योकि मैंने उन्ही के ग्रन्थो द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है। गणेश का यह कथन कि मैंने सिद्धान्तोक्त सब विषय ग्रहलाघव मे दिये है, सत्य है और इसी करण ग्रहलाघव सिद्धान्त-रहस्य कहा जाता है। मैंने बहुत से करणग्रन्थ देखे है, उनमें अधिक ऐसे है जिनमे केवल ग्रहस्पष्टीकरण मात्र है। करणकुतूहलादि केवल तीन-चार करण ऐसे है जिनसे सिद्धान्तोक्त अधिकाश कर्म किये जा सकते है, पर उनमे ग्रहलाघव इतना पूर्ण कोई नही है। इस पर शक १५०८ की गङ्गाधर की, शक १५२४ की मल्लारि की और लगभग शक १५३४ की विश्वनाथ की टीका है। कुछ और भी टीकाएँ है। वार्शी में मुझे शक १६०५ में लिखी हुई ग्रहलाघव की एक पुस्तक मिली। इससे ज्ञात होता है कि इसके बनने के थोडे ही दिनो बाद दूर-दूर तक इसका प्रचार हो गया था। सम्प्रति सम्पूर्ण महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक के अधिकाश भागो मे इसी द्वारा गणित किया जाता है। काशी, ग्वालियर, इन्दौर इत्यादि प्रान्तो के दक्षिणी लोग इसी से गणित करते है।' अन्य प्रान्तो मे भी इसका पर्याप्त प्रचार मालूम होता है। अत्यन्त सरल गणित-पद्धतियुक्त तथा सिद्धान्त की सभी आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाले इस ग्रन्थ का सर्वत्र शीघ्र ही प्रचलित हो जाना और इसके कारण प्राचीन करणग्रन्थों का दब जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

ग्रहशुद्धि

ग्रहलाघवोक्त ग्रहो की आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थो द्वारा लाये हुए ग्रहो से सूर्य

[1] करणकुतूहल के त्रिप्रश्नाधिकार में भास्कराचार्य ने लिखा है—इति कृतं लघुकार्मुकशिञ्जिनीग्रहणकर्मविनाद्युतिसाधनम्। इन्दौर और ग्वालियर के सरकारी पञ्चाङ्ग ग्रहलाघव और तिथिचिन्तामणि से बनते है और वहा सर्वत्र प्राय. वे ही चलते है। दक्षिण हैदराबाद रियासत के अधिकांश भागोमें ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग ही चलता है।

सम्बन्धी तुलना करने पर शक १४४२ के आरम्भ मे ग्रहलाघव के मध्यम ग्रह कितने न्यूनाधिक आते है, यह नीचे दिखाया है—

		अश	कला			अश	कला
सूर्य		०	०	बुधशीघ्रोच्च	+	८	२१
चन्द्र	−	०	२	गुरु	+	०	५८
चन्द्रोच्च	+	१	५५	शुक्रशीघ्रोच्च	+	१	२२
राहु	−	०	१७	शनि	+	१	२९
मगल	+	०	४४				

यहा बुध मे अधिक त्रुटि है। शुक्र, शनि और चन्द्रोच्च में १ से २ अश तक और शेष मे एक अश से कम ही अशुद्धि है। चन्द्रमा तो बहुत ही सूक्ष्म है। राहु भी अधिक अशुद्ध नही है। इनके पिता केशव के वर्णन में लिख ही चुके है कि चन्द्रमा और राहु सूर्यग्रहण द्वारा लाये है। बुध वर्ष में बहुत थोडे ही दिन दिखाई देता है इससे उसके वेध का अवसर कम मिलता है। मालूम होता है, इसी कारण उसमे अधिक अशुद्धि हुई है। और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अशुद्धिया मध्यम ग्रहो की है। वेध द्वारा स्पष्टग्रह आते है। उनमे ग्रहलाघवकाल मे इससे कम अशुद्धि रही होगी, इसका विचार ऊपर वेटली की पद्धति के विवेचन मे कर चुके है। आगे पञ्चाङ्ग-विचार में यह दिखाया है कि सम्प्रति ग्रहलाघवागत स्पष्टग्रहो में कितना अन्तर पडता है।

गणेश ने लिखा है कि अमुक ग्रन्थ के अमुक ग्रह को इतना न्यूनाधिक कर देने से वह दृक्तुल्य होता है, उसमे उन्होने शनि में बहुत अधिक अर्थात् ५ अश का अन्तर किया है, अन्य ग्रहो में भी कुछ कलाएं न्यूनाधिक की है। इससे स्पष्ट है कि पुराने ग्रन्थो का आधार केवल नाममात्र के लिए लेकर इन्होने अपने समय की अनुभूत ग्रह-स्थिति ली है।

प्राचीन ग्रन्थो के ग्रहो मे अन्तर पडता देखकर इनके पिता केशव ने वेध करके उनमे चालन देने की बहुत कुछ तैयारी की थी और तदनुसार 'ग्रहकौतुक' ग्रन्थ भी बनाया था। गणेशदैवज्ञ ने लघुचिन्तामणि मे लिखा है कि उसमे भी कुछ अन्तर पडते देखकर मैंने ग्रहशुद्धि की। ग्रहकौतुक और ग्रहलाघव की तुलना से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। ग्रहलाघव के उदयास्ताधिकार मे इन्होने लिखा है—

पूर्वोक्ता भृगुचन्द्रयो क्षणलवा स्पष्टा भृगोश्चोनिता।
प्राग्या तैरुदयास्तदृष्टिसमता स्यात्कक्षितैपा मया ॥२०॥

योग्यता

ग्रहलाघव में केशव और गणेश दोनो के अनुभवो का उपयोग होने के कारण ग्रहकौतुक की अपेक्षा उसे अधिक दृक्प्रत्ययद होना चाहिए। कही-कही ग्रहकौतुक की गणित करने की पद्धति ग्रहलाघव की अपेक्षा सरल है पर कुछ बातो मे ग्रहलाघव की पद्धति अधिक सुविधाजनक है। मालूम होता है, इसी कारण ग्रहकौतुक का लोप और ग्रहलाघव का प्रचार हुआ। सब बातो का विचार करने से मुझे गणेश की अपेक्षा केशव की योग्यता अधिक मालूम होती है, पर ग्रहलाघव की योग्यता ग्रहकौतुक की अपेक्षा अधिक है क्योंकि उसमें पिता-पुत्र दोनो के अनुभव एकत्र हो गये हैं।

ग्रहलाघव में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, पञ्चताराधिकार, त्रिप्रश्न, चन्द्र-ग्रहण, सूर्यग्रहण, मासग्रहण, स्थूल ग्रहसाधन, उदयास्त, छाया, नक्षत्रछाया, शृङ्गोन्नति, ग्रहयुति और महापात, ये १४ अधिकार और उनमें भिन्न-भिन्न छन्दो के क्रमश १६, १०, १७, २६, १३, १३, १९, ८, २५, ६, १२, ४, ४, १४ और सब मिलकर १८७ श्लोक है। सम्प्रति इस ग्रन्थ के १४ ही अधिकार प्रसिद्ध है, परन्तु विश्वनाथ और मल्लारि की टीकाओ में १५श्लोको का पञ्चाङ्गग्रहणाधिकार नामक एक और १५ वा अधिकार है। १४ अधिकारो में ४ ग्रहणविषयक है। अत ग्रहणविषयक अन्य अधिकार की आवश्यकता न होने के कारण इसका लोप हुआ होगा। गणित को सरल करने की ओर अधिक झुकाव होने के कारण मालूम होता है, गणेश ने कही-कही जानबूझकर सूक्ष्मत्व की उपेक्षा की है और इसीलिए १४ अधिकारो में चन्द्रसूर्यग्रहणविषयक दो अधिकारो के रहते हुए भी सातवे और आठवें दो और अधिकार लिखे है,परन्तु वस्तुत इनका कोई प्रयोजन नही है। ग्रहलाघव में अन्यत्र भी कुछ श्लोक न्यूनाधिक हुए है। शक १६०५में लिखी हुई ग्रहलाघव की एक प्रति मुझे वार्शी मे मिली, उसमे १५वां

अविकार नही है और पञ्चताराविकार मे ३ श्लोक अधिक हैं। उनमे ग्रहोदयास्त सम्बन्धी कुछ बातें हैं। वे श्लोक विश्वनाथ की टीका में नही हैं। कुछ श्लोको में पाठभेद हैं। कुछ श्लोक विश्वनाथ की टीका में है और कृष्णशास्त्री गोडबोले की छपायी हुई पुस्तक में नही हैं। चन्द्रमा का सूक्ष्म शर लाने के विषय मे एक श्लोक है। वह विश्वनाथी टीका और कृष्णशास्त्री के छपाये हुए ग्रहलाघव में है, पर वार्शीवाली प्रति में नही है। भिन्न-भिन्न पुस्तको में कुछ श्लोको का क्रम भिन्न-भिन्न है। नक्षत्रच्छायाधिकार के एक श्लोक के विषय में विश्वनाथ दैवज्ञ ने लिखा है कि यह गणेश दैवज्ञ के पौत्र नृसिह का है। यह वार्शी की प्रति मे नही है। इस न्यूनाधिकत्व के होते हुए भी इसके कारण ग्रन्थकार की पद्धति मे कही विरोध नही आया है।

अन्य ग्रन्थ

गणेश के अन्य पञ्चाङ्गोपयोगी ग्रन्थ 'बृहच्चिन्तामणि' और 'लघुचिन्तामणि' हैं। इनसे तिथि, नक्षत्र और योग बहुत शीघ्र आते हैं। ग्रहलाघव द्वारा स्पष्ट रवि, चन्द्र लाकर तिथ्यादि बनाने में सतत परिश्रम करने पर ६ मास लगेंगे। मध्यमस्पष्ट सूर्य, चन्द्र लाने के लिए सारणिया बनायी हैं। उनका उपयोग करने से वर्ष के तिथि, नक्षत्र योग बनाने में सतत परिश्रम करने पर लगभग २४ दिन लगेंगे, यह मेरा अनुमान है। परन्तु लघुचिन्तामणि द्वारा मैंने तिथि, नक्षत्र योग ३ दिन में बनाये हैं। बृहच्चिन्तामणि द्वारा गणित करने मे इससे भी कम समय लगेगा। ऐसा होने पर भी तिथिचिन्तामणि और प्रत्यक्ष ग्रहलाघव द्वारा लाये हुए घटी, पलो मे लगभग ३० पल से अधिक अन्तर नही पडता, इसकी मैंने स्वय परीक्षा की है। ग्रन्थविस्तार होने के भय मे यहा तिथिचिन्तामणि के स्वरूप[1] का वर्णन नही किया है। गणेशदैवज्ञ से प्राचीन इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नही मिलता। ऊपर बतलाये ग्रन्थ मकरन्द से भी गणित शीघ्र होता है, पर उसकी पद्धति कुछ भिन्न है और वह शक १४०० का है। गणेशदैवज्ञ ने कदाचित् उसे देखा भी न रहा हो। इस स्थिति मे उन्हें तिथिचिन्तामणि सदृश अत्यन्त उपयोगी और अत्यल्पश्रमद ग्रन्थ स्वतन्त्रतया बनाने का श्रेय देना अनुचित नही है।

[1] केरोपन्त ने अपने ग्रहसाधन कोष्ठक में प्रथम तिथिसाधन गणेशदैवज्ञ के तिथि चिन्तामणि की रीति से किया है, परन्तु उसमें उपपत्ति नहीं लिखी है। मैंने सन् १८८७ के अप्रैल की इण्डियन ऐंटिक्वरी में एक निबन्ध दिया है, उसमें उन रीतियों सम्बन्धी प्रत्येक बात की उपपत्ति लिखी है।

दोषारोपण

केरो लक्ष्मण छत्रे ने गणेशदैवज्ञ को यह दोष दिया है कि उन्होने सरल युक्तिया बनाकर गणित सुलभ तो कर दिया परन्तु इससे उसमे स्थूलता आकर भविष्यकालीन अशुद्धि की नीव पड गयी। दूसरा परिणाम सिद्धान्तज्योतिष के अध्ययन और वेध का लोप हो गया जिससे ज्योतिषियो को शास्त्र के मूलसिद्धान्तो का ज्ञान ही नही रह गया[1]। कुछ और लोग भी ग्रहलाघव मे यही दोष दिखाते है। आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थो से तुलना करते हुए उसमे स्थूलता का दोष दिखाना मेरी समझ से ठीक नही है। पहिले यह सोचना चाहिए कि उस समय जो साधन उपलब्ध थे उनसे कहा तक कार्य किया जा सकता था। प्राचीन करणग्रन्थ-कारो का गणित गणेश की अपेक्षा सूक्ष्म है अथवा नही और गणेश ने वेधसम्बन्धी क्या-क्या आविष्कार किये है, इत्यादि बातो का विचार करने के अब तक पर्याप्त साधन नही थे। हम समझते है, इसी से केरोपन्त और अन्य दोष देनेवालो ने इसका विचार ही नही किया। यदि वे विचार करते तो गणेश को दोष कभी न देते। सिद्धान्त-ग्रन्थो द्वारा अत्यन्त परिश्रम पूर्वक जो फल लाया जाता है वही यदि थोडे श्रम मे आता है तो उसे लेने में मुझे कोई दोष नही दीखता। दूसरी बात यह कि गणेश गणित मे सौकर्य लाकर भी सूक्ष्मता मे किसी भी विषय मे प्राचीन ग्रन्थकारो से पीछे नही है। सब सिद्धान्तकरणग्रन्थो का मैने यहा तक जो सम्बन्ध दिखाया है उससे ज्ञात होगा कि केरोपन्त का यह कथन कि गणेशदैवज्ञ से अशुद्धि का आरम्भ हुआ, भ्रमपूर्ण है। यदि वे वर्षमान को अशुद्ध कहते है तो वह पहिले से ही अशुद्ध है। कल्पकता और क्रियावत्ता, दोनो गुणो वाले ज्योतिषी मेरी समझ से गणेश के पहिले बहुत कम हुए है। वेध के विषय मे तो ये भास्कराचार्य से भी नि सशय श्रेष्ठ थे। सम्प्रति ज्योतिषसिद्धान्तग्रन्थो का अध्ययन लुप्तप्राय ही है। सम्पूर्ण ग्रहलाघव पढे हुए ज्योतिषी भी कम मिलते है तो फिर सिद्धान्त का तो कहना ही क्या है। परन्तु यह दोष गणेश के ग्रन्थो का नही है। अग्रिम इतिहास देखने से ज्ञात होगा कि इनके पश्चात् ज्योतिषसिद्धान्त के रहस्यवेत्ता, सिद्धान्तग्रन्थकर्ता और वेध करनेवाले ज्योतिषी अनेक हुए है। सिद्धान्तशिरोमणि और लीलावती की इन्होने स्वय टीकाएँ की है। उपपत्तिविषयक ग्रन्थ लिखने का कार्य भास्कराचार्य कर ही चुके थे। आधुनिक यूरोपियन अन्वेषणो का आरम्भ लगभग इन्ही के समय से हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि इस ओर इनकी प्रवृत्ति नही हुई, परन्तु इस देश मे उस समय लोकसमुदाय की अभिरुचि विद्या की ओर कम थी और अनेक कारणो मे नवीन

[1] केरोपन्त ग्रहसाधनकोष्ठक की प्रस्तावना का पृष्ठ २ देखिए।

शोध करने का नाम ही नही रह गया था। इस विपय में गणेश के माथे दोप मढना अनुचित है।

टीकाएँ

ग्रहलाघव पर टापरग्रामस्थ गगाधर की शक १५०८ की टीका है। मल्लारि की टीका शक १५२४ की और विश्वनाथ की शक १५३४ के आसपास की है। उसमे उदाहरण हैं। इस टीका को उदाहरण भी कहते हैं। मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ छप चुकी है। बृहच्चिन्तामणि मे कोष्ठक अधिक होने के कारण प्राय उससे कोई गणित नही करता। लघुचिन्तामणि से गणित किया जाता है। यह छपा है। इसमें अङ्क ही अधिक हैं। क्रमश बढते-बढते इसमें अशुद्धिया बहुत हो गयी हैं। मैंने इसकी सारणिया प्राय शुद्ध की है। बृहच्चिन्तामणि पर विष्णुदैवज्ञ की सुबोधिनी नाम की टीका है। उसमे उपपत्ति है। लघुचिन्तामणि पर यज्ञेश्वर नामक ज्योतिषी ने 'चिन्तामणिकान्ति' नाम की टीका की है। उसमें उपपत्ति है। मुहूर्ततत्त्व और विवाहवृन्दावन की टीकाएँ छप चुकी है। तर्जनीयन्त्र कालसाधनोपयोगी है। उसे प्रतोदयन्त्र भी कहते हैं। उस पर मखाराम की और सगमेश्वरनिवासी गोपीनाथ की टीकाएँ है। गोपीनाथ के पिता का नाम भैरव और पितामह का राम था। इस ग्रन्थ का अधिक विवेचन यन्त्रप्रकरण मे करेंगे।

ताजकभूषणकार गणेश और जातकालङ्कार के कर्ता गणेश, ये दोनो ग्रहलाघवकार मे भिन्न हैं।

दन्तकथाएँ

कहते हैं, केशव ने एक बार ग्रहण निकाला। उसमें अन्तर पडता देखकर वहा के किसी यवन राजा ने उनका उपहास किया। यह बात उन्हें बहुत बुरी लगी। वे नन्दिग्राम के गणेश के एक मदिर मे तपस्या करने लगे। उस समय उनकी वृद्धावस्था थी। उनकी वह दशा और निष्ठा देखकर गणेश ने स्वप्न मे कहा कि अब तुममे ग्रहशोधन का कार्य नहीं हो सकता। इसे मै ही तेरे पुत्ररूप मे अवतार लेकर सम्पन्न करूँगा। तदनुसार उन्हें पुत्र हुआ और उसका नाम गणेश ही रखा गया। आजकल के ज्योतिषी गणेश को ईश्वरीय अवतार मानते हैं। इनके विषय की दो और दन्तकथाएँ ऊपर लिख चुके हैं। इससे इनके प्रति लोगो की पूज्यबुद्धि प्रकट होती है। ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को ईश्वरीय अंश मान लेने में मनुष्य की यह दृढ धारणा हो जाती

है कि मुझसे इनके ऐसा महत्वशाली कार्य नहीं हो सकता। यही बात देश में नवीन आविष्कारों के अभाव का बड़ा कारण है।

वंशज

इनके वंश में और भी विद्वान् पुरुष हुए हैं। गणेश के लघुभ्राता अनन्त ने शक १४५६ जयनाम संवत्सर में वराहमिहिर के लघुजातक की टीका की है। अनन्त ने इसे उत्पल की टीका से लघुतर और सुगम कहा है। अनन्त अपने बड़े भाई गणेश के ही शिष्य थे। विश्वनाथ की टीका से ज्ञात होता है कि ग्रहलाघव पर गणेश के पौत्र नृसिंह की टीका थी, पर मुझे वह कहीं नहीं मिली। गणेश पुत्र केशव के पौत्र गणेश ने सिद्धान्तशिरोमणि की शिरोमणिप्रकाश नाम की टीका की थी। वह शक १५२० के आसपास की होगी। इसी वंश के रुद्र के पुत्र केशव ने शक १६२९ सर्वजित् संवत्सर में 'लग्नकल्पप्रदीप' नामक ग्रन्थ बनाया है।

कल्पद्रुमकरण

करणकुतूहल की शक १४८२ की एक टीका में इस करण का उल्लेख है। उस टीका से ज्ञात होता है कि उसे रामचन्द्र नामक ज्योतिषी ने बनाया है और उन्होंने करणकुतूहल में बीजसंस्कार दिया है। आगे वर्णित दिनकर और श्रीनाथ के ग्रन्थों के रामबीज के अङ्क उस टीकाकार के दिये हुए अङ्कों से भिन्न हैं अतः रामबीज उससे भिन्न होगा।

लक्ष्मीदास—शक १४२२

इन्होंने भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय पर गणिततत्त्वचिन्तामणि नाम्नी टीका की है। उसकी ग्रन्थसंख्या ८५०० है। उसमें उपपत्ति और उदाहरण हैं। इनका गोत्र उपमन्यु, पिता का नाम वाचस्पति मिश्र और पितामह का नाम केशव था। मुख्य उदाहरण में इन्होंने वर्तमान शक १४२२ लिखा है। ग्रहण का उदाहरण कलिगतवर्ष ४५९९ (शक १४२०) का है। टीका करने का कारण इन्होंने लिखा है—

> शिरोमणिविबोधने सुजननागनाथेरितः सुहृद्गुणगणाकरप्रगुणदेवनाथार्थितः।
> हितैरनघराघवैरपि निजानुजैर्वीधरप्रियप्रतिबिंबैरप्यस्मि विविधप्रयत्नोन्मुखः ॥

ये उत्तम कवि भी ज्ञात होते हैं।

ज्ञानराज—शक १४२५

राम (भारद्वाजगोत्रीय)
|
नीलकण्ठ
|
विष्णु
|
नीलकण्ठ
|
नागनाथ
|
नृसिंह
|
नागनाथ　　　　ढुंढिराज
|　　　　　　　|
ज्ञानराज　　　　गणेश
|
सूर्य　　　　　चिन्तामणि
|
नागनाथ
|
गोपाल (ज्ञानराज)
|
रामचन्द्र
|
विज्ञानेश्वर
|
पुरुषोत्तम
|
काशीनाथ
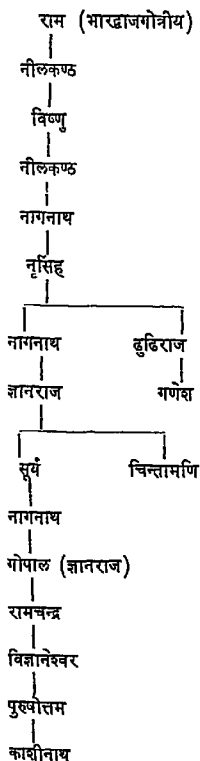
ज्ञानराज का जन्म एक ऐसे प्रसिद्ध विद्वत्कुल में हुआ था जिसकी विद्वत्परम्परा अभी तक चल रही है। मुझे शक १८०७ में वार्शी मे सम्प्रति मोगलाई के बीड नामक स्थान के निवासी, इस वश के काशीनाथ शास्त्री नामक एक विद्वान् मिले थे। उनका बतलाया हुआ ज्ञानराज का थोडा सा कुलवृत्त मैंने लिख रखा था। उसे ज्ञानराज के कुलवृत्त से मिलता देखकर सम्प्रति (शक १८१७) उनसे उसके विषय मे और बातें पूछी। उन्होंने कुछ और बातें और वशवृक्ष लिख भेजा। उससे, आफ्रेचसूची में दिये हुए वशवृत्त से और स्वय प्राप्त किये हुए साधनो के आधार पर मैंने पार्श्वस्थित वशावली लिखी है। इसमें आरम्भ के पाच पुरुष केवल आफ्रेचसूची के आधार पर लिखे हैं। उसमे भी उस सूची में तीन स्थानो के लेखो मे थोडा पूर्वापर विरोध है। मुझे जो नाम सुसगत ज्ञात हुए वे ही लिखे है। आफ्रेचसूची में लिखा है कि प्रथम पुरुष राम देवगिरि के राजा राम की सभा मे रहते थे। काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वशवृक्ष मे नृसिंह के पिता का नाम दैवज्ञराज है और वही से आरम्भ हुआ है। मालूम होता है, नागनाथ अथवा उनके किसी पूर्वपुरुष की दैवज्ञराज उपाधि थी[1]।

[1] बाद में भेजे हुए काशीनाथ शास्त्री के एक पत्र का सारांश यह है—'सूर्यादिकों के जन्म, मरण शक—सूर्य १४२९–१५१०, नागनाथ १४८०–१५३७, गोपाल १५४५–९०, ज्ञानराज जन्म १५९५, रामभरण १७३१, विज्ञानेश्वर १७१२–६९, पुरुषोत्तम १७४८–९९, काशीनाथ जन्म १७६८। सूर्यपुत्र नागनाथ को दिल्ली दरबार से रणशूर

आफ्रेचसूची में लिखा है कि राम पार्थपुर के निवासी थे। सूर्यपण्डित ने भास्करीय लीलावती की अमृतकूपिका नाम की टीका की है। उसमे अपने पिता और पितामह का वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है—

स्थान

आस्ते त्रस्तसमस्तदोपनिचय गोदाविदर्भायुते,
क्रोशेनोत्तरतस्तदुत्तरतटे पार्थाभिधान पुरम्।
तत्राभूद् गणकोत्तम पृथुयशा श्रीनागनाथाभिधो,
भारद्वाजकुले सदैव परमाचारो द्विजन्माग्रणी ॥१॥

भास्करीय वीजगणित की टीका में लिखा है—

गोदोदक्तटपूर्णतीर्थनिकटावासे तथा मगला-
गगासगमतस्तु पश्चिमदिशि क्रोशान्तरेण स्थिते।
श्रीमत्पार्थपुरे बभूव श्रीनागनाथाभिध ॥

सम्प्रति पैठण से लगभग ७० मील पूर्व गोदावरी के उत्तर तट के पास ही पाथरी नामक गाव है। वही इस श्लोक का पार्थपुर है। यह देवगिरि (दौलतावाद) से लग-भग ८५ मील आग्नेय में है। विदर्भा नदी का ही दूसरा नाम मगला होगा। उपर्युक्त वर्णनानुसार विदर्भा और गोदा के सगम से वायव्य मे एक कोस पर पार्थपुर है। कमला-करदैवज्ञ ने इस पाथरी का वर्णन किया है (आगे विष्णु का वर्णन देखिए)। इन्होने लिखा है—यह विदर्भ देश मे है, राजाओ की नगरी है और देवगिरि से १६ योजन आग्नेय मे है। ५ मील का योजन मानने से १६ योजन की ठीक सगति लगती है। इस समय के कुछ अन्य ग्रन्थो में भी पाथरी विदर्भ देश मे वतलायी गयी है।

पदवी मिली थी। उन्होने नरपतिजयचर्या नामक ग्रन्थ बनाया है। सूरिचूड़ामणि पदवी (काशीनाथ शास्त्री को) शक १८६३ में मिली है। वंशवृक्ष में सूर्य के नीचे लिखे हुए नागनाथ सूर्य के पुत्र है। गोपाल और ज्ञानराज भिन्न-भिन्न दो पुरुष होगे। नाग-नाथ और गोपाल तथा गोपाल और ज्ञानराज, इन दो-दो के बीच में एक-एक पुरुष और होगे अथवा इनके शक अशुद्ध होगे। उपर्युक्त शको पर पूर्ण विश्वास न होते हुए भी मैंने ये अगत्या लिखे है। नागनाथ को रणशूर पदवी अकवर या जहाँगीर के दरवार में मिली होगी। नरपतिजयचर्या नामक प्राचीन ग्रन्थ शक १०९७ का है। इसीलिए मैंने लिखा है कि नागनाथ ने नरपतिजयचर्या की टीका की है, पर इसी नाम का उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हो सकता है।

काल

ज्ञानराज ने 'सिद्धान्तसुन्दर' मे क्षेपकादि शक १४२५ के दिये है। अत इनका काल यही है। प्रति पीढी मे लगभग ३० वर्ष का अन्तर मानने से उपर्युक्त वशवृक्ष के प्रथम पुरुष राम का काल लगभग शक १२१५ आता है। यह देवगिरि के राजा राम के काल से मिलता है।

ज्ञानराज ने सिद्धान्तसुन्दर नामक ज्योतिषसिद्धान्त ग्रन्थ बनाया है। मैंने इसके दो मुख्य भाग गणिताध्याय और गोलाध्याय (आनन्दाश्रमपुस्तकाङ्क ४३५०) देखे है। गोलाध्याय मे भुवनकोश, मध्यगतिहेतु, छेद्यक, मण्डलवर्णन, यन्त्रमाला और ऋतुवर्णन, ये ६ अधिकार और उनमे क्रमश ७९, ३०, २१, १६, ४४, ३४ श्लोक है। गणिताध्याय मे मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, पर्वसभूति, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ग्रहास्तोदय, नक्षत्रच्छायादि, शृङ्गोन्नति, ग्रहयोग, महापात, ये ११ अधिकार और उसमें क्रमश ८९, ४८ ४३, ७, ४०, १६, १९, २०, १८, १०, ११ श्लोक हैं। सुन्दरसिद्धान्त पर ज्ञानराज के पुत्र चिन्तामणि की टीका है, उसके एक स्थान के लेख से ज्ञात होता है कि सुन्दरसिद्धान्त मे बीजगणित भी है, पर मैंने उसे नही देखा है। सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है[1] कि वह भास्करीय बीजछायानुरूप है और उसमें भास्कर के 'सरूपके वर्णकृती तु यत्र' सूत्र का खण्डन है।

सिद्धान्तसुन्दर वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार बना है। इसमे ग्रहगणित के लिए करणग्रन्थो की भाँति क्षेपक और वर्षगतिया दी है। क्षेपक शक १४२५ के है। उसमें यह नहीं लिखा है कि वे किस समय के है, परन्तु गणित करने से मुझे ज्ञात हुआ कि वे उस वर्ष के आश्विन शुक्ल ८ गुरुवार के सूर्योदय से ५६ घटी ३९ पल के है। क्षेपक और वर्षगतिया बिलकुल वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है। इसमे मध्यम सूर्य ६।०। १४।१७ है अर्थात् वह मध्यम तुलासक्रान्ति के ठीक १५ घटी बाद का है। इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य इसी समय का क्षेपक देने का था। मध्यमाधिकार में ग्रहो में निम्नलिखित बीजसस्कार दिया है—

> खाभ्रखाभ्राष्टभूमिर्गत यत्कलेस्तष्टमेतस्य यातैष्ययोरल्पकम्।
> तद्भुवा पावकै सिद्धमस्यैर्हृत दृग्यमै खाग्निभि खाङ्ककैर्वह्निभि.॥८३॥

[1] काशी के राजकीय संस्कृत पाठशाला के गणिताध्यापक सुधाकर द्विवेदी ने संस्कृत में गणकतरङ्गिणी नामक गणको के इतिहास का ग्रन्थ शक १८१४ में लिखा है। उसका ५६वाँ पृष्ठ देखिए।

नन्दविघ्नायुतेनाप्तभागैर्युता, सूर्यभौरावनीजा परे वर्जिता ।
दृक्समत्व ग्रहाणामनेन स्फुट प्राह दामोदराचार्य एव वुध ॥८४॥

वर्तमान सूर्यसिद्धान्तसम्बन्धी एक वीजसस्कार ऊपर लिखा है। उससे यह ३० गुना है। शेष वातों मे दोनो विलकुल समान हैं। उक्त पृष्ठ मे दिये हुए अङ्कानुसार शक १३२१ मे सूर्य का वीजसस्कार केवल ६ विकला आता है। यह वहुत थोडा है। ज्ञानराजकथित दामोदरोक्त सस्कार इस वर्ष मे ३ कला आता है। यही सम्भवनीय ज्ञात होता है। सूर्यसिद्धान्त के वीजोपनयनाध्याय के ७ वे श्लोक के 'भागादि' के स्थान मे 'राश्यादि' पाठ मानने से वह सस्कार दामोदरोक्त सस्कार से ठीक-ठीक मिलता है। भागादि पाठ लेखकप्रमाद के कारण प्रचलित हुआ होगा और सूर्यसिद्धान्त मे वतलाया हुआ यह सस्कार अनुमानत दामोदरोक्त ही होगा। दामोदरोक्त रवि-सस्कार का मान वर्ष में +२५ विकला आता है। इससे सौरवर्षमान विपलादि २।२६।६ कम हो जाता है अर्थात् सूर्यसिद्धान्तोक्त वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२८ हो जाता है। ऊपर के पृष्ठो में वर्णित शक १३३९ के पास के दामोदर ये ही होंगे।

ज्ञानराज ने अपने समय के अयनाश कही नही लिखे हैं। उनके वारे में केवल इतना ही लिखा है कि मध्याह्नछाया द्वारा लाया हुआ रवि और करणागत स्पष्टरवि का अन्तर अयनाश होता है। इन्होंने वार्षिक अयनगति एक कला लिखी है। अयनाश लाने की सूर्यसिद्धान्त की भी रीति दी है। उससे वर्षगति ५४ विकला आती है। चन्द्र-शृङ्गोन्नत्यधिकार में चन्द्रकला की क्षयवृद्धि के विषय में श्रुतिपुराण-मत वताने के वाद इन्होंने लिखा है—

वेदे सुरा सूर्यकरा प्रसिद्धास्त एव यच्छन्ति कला
क्रमेण। सितेऽसिते ते क्रमशो हरन्ति ॥६५॥

अर्थ—वेदो में सूर्यकिरणो को ही देव कहा है। वे ही शुक्ल और कृष्णपक्ष मे (चन्द्रमा को) कलाएँ देती और हरती हैं।

अन्य ग्रथ

सुन्दरसिद्धान्त मे वेधसम्वन्धी कोई नवीनता नही है तथापि कही-कही भास्कर सिद्धान्त से विशिष्ट उपपत्तिया हैं। यन्त्रमालाधिकार मे एक नवीन यन्त्र वनाया है। सिद्धान्तसुन्दर अपने नाम सरीखा ही है, ऐसा कह सकते हैं।

सूर्य ने भास्करीय बीज-भाष्य में लिखा है कि ज्ञानराज ने सिद्धान्तसुन्दर के अतिरिक्त जातक, साहित्यऔर संगीत विषयक एक-एक ग्रन्थ बनाये हैं।

वंशवृत्त

इस वंश के ढुण्ढिराज, गणेश और सूर्य का आगे पृथक् वर्णन किया है। चिन्तामणि ने सुन्दरसिद्धान्त की टीका की है, यह ऊपर लिख ही चुके हैं। काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वृत्तान्त के आधार पर इस वंश के कुछ और विद्वानो का वर्णन करते है।

यह वंश पाथरी से बीड कब गया, इसका पता नही चलता। बीड पाथरी से लगभग ५० मील पश्चिम-नैर्ऋत्य, दौलताबाद से लगभग ६० मील दक्षिण और पैठण से लगभग ५० मील आग्नेय मे है। नागनाथ ने नरपतिजयचर्या की टीका की है। पुरुषोत्तम ने 'केशवीप्रकाश' और 'वर्षसंग्रह' नाम के ज्योतिषग्रन्थ बनाये है और 'दत्तकुतूहल' नाम का एक और ग्रन्थ बनाया है। केशवीप्रकाश मे उन्होने लिखा है कि रामचन्द्र होराशास्त्रपारगत थे और विज्ञानेश्वर न्यायव्याकरणज्योतिषशास्त्रज्ञ तथा बाजीरावनृपतिसम्मान्य थे। ये बाजीराव अन्तिम बाजीराव पेशवा (शक १७१७-३९) है। काशीनाथशास्त्री सम्प्रति विद्यमान है। ये न्यायव्याकरणज्योतिषज्ञ हैं। बीड मे ये धर्माधिकारी हैं। हैदराबाद संस्थान में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा है। हम्पी-विरूपाक्ष के शङ्कराचार्य ने इन्हे 'सूरिचूडामणि' उपाधि दी है। इन्होने 'न्यायपोत' नामक ग्रन्थ बनाया है। सम्प्रति देवीभागवतचूर्णिका बना रहे हैं। उसके पाच स्कन्ध समाप्त हो चुके हैं।

सूर्य—जन्मशक १४३०

सिद्धान्तसुन्दरकार ज्ञानराज के ये पुत्र हैं। इन्होंने भास्करीय बीज का भाष्य किया है, उसमे अपने को सूर्यदास और ग्रन्थ को सूर्यप्रकाश कहा है। टीकाकाल इन्होंने अपने वय का ३१ वा वर्ष शक १४६० लिखा है, अत इनका जन्मशक १४२९ या १४३० होगा। इस टीका की सख्या २५०० है। कही-कही इन्होंने अपना नाम सूर्य भी लिखा है। भास्कराचार्य की लीलावती पर इनकी शक १४६३ की 'गणितामृतकूपिका' नाम की टीका है। इसमे उपपत्ति व्यक्तसख्याओं द्वारा ही लिखी है और लीलावती को काव्य समझ कर उसमें किसी-किसी श्लोक के अनेक अर्थ किये हैं। इस टीका की ग्रन्थसख्या ३५०० है। इन दोनो ग्रन्थो के अन्त में एक श्लोक है, उसमें लिखा है कि सूर्य ने अमुक-मुख ८ ग्रन्थ बनाये है। ग्रन्थो के नाम ये हैं—लीलावतीटीका, बीजटीका, श्रीपति-पद्धतिगणित, बीजगणित, ताजिकग्रन्थ, काव्यद्वय, बोधसुधाकर नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ। इसमें चतुर्थ ग्रन्थ बीजगणित सूर्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ है। ताजिकग्रन्थ का नाम

ताजिकालङ्कार है। उसकी एक प्रति डेक्कनकालेजसंग्रह मे है। उपर्युक्त श्लोक उसमे भी है। उसमें काव्यद्वय के स्थान मे काव्याष्टक पाठ है। काशीनाथ शास्त्री ने भी लिखा है कि सूर्यपण्डित ने काव्याष्टक बनाया है। उन्होने ग्रन्थो के नाम पद्यामृत-तरङ्गिणी, रामकृष्णकाव्य, शंकराभरण, नृसिंहचम्पू, विघ्नमोचन, भगवतीगीत इत्यादि लिखे है। रामकृष्णकाव्य प्रसिद्ध है। वह द्व्यर्थी है। उसका एक अर्थ राम पर और दूसरा कृष्ण पर है।

कोलब्रूक ने लिखा है[1] कि "सूर्यदास ने सम्पूर्ण सिद्धान्तशिरोमणि की टीका की है और गणितविषयक 'गणितमालती' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाया है। 'सिद्धान्त संहितासारसमुच्चय' नामक इनका एक और ग्रन्थ है, उसमे शिरोमणिटीका का उल्लेख है।" इन तीनो ग्रन्थो के नाम उपर्युक्त ८ ग्रन्थो मे नही है, काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वृत्तान्त में भी नही है और मैने भी नही देखे है। आफ्रेचसूची में सूर्यसूरि, सूर्यदास अथवा सूर्यकृत ग्रन्थो के नामो में ये तीन नाम, उपर्युक्त नामो में से अधिकतर और उनके अतिरिक्त ग्रहविनोद, कविकल्पलताटीका, परमार्थप्रपा नाम की भगवद्गीताटीका, भक्तिशत, वेदान्तशतश्लोकी टीका, शृङ्गारतरङ्गिणी नाम की अमरूकशतक की टीका, ये नाम है। साराश यह कि सूर्य बहुत बडे विद्वान् थे। गणितामृतकूपिका में इन्होने अपने को 'गणितार्णवप्रसरणमत्कर्णधार, छन्दोलङ्कृतिगीतशास्त्रनिपुण वैदग्ध्य-पारगत' कहा है, वह यथार्थ है। अमृतकूपिका मे इन्होने लिखा है—'अहं सूर्याभिधानः कविः स्वप्रज्ञापरिणामतः लीलावती व्याख्यातुं विहितादरोस्मि।' और भी लिखा है—

> निर्मथ्य बीजगणितार्णवमात्मयत्नात् सद्वासनामृतमवाप्तमिदं मया यत्॥
> तत् सग्रहाय गणितार्णवकूपिकेयं टीका विरच्यत इहावनिदेवतुष्ट्यै॥

बीजभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

> यत्पादाम्बुरुहप्रसादकणिकासञ्जातबोधादहं पाटीकुट्टकबीजतन्त्र—
> गहनाकूपारपारगमं। छन्दोलङ्कृतिकाव्यनाटकमह (?) संगीतशा—
> स्त्रार्थवित् तं वन्दे निजतातमुत्तमगुणं श्रीज्ञानराजं गुरुम्॥२॥

[1] Miscellaneous Essays, 2nd Ed Vol II, P 451.

कोलब्रूक ने इनकी लीलावती टीका का काल भूल से शक १४६० लिखा है वस्तुतः वह शक १४६३ की है।

पर अन्त मे लिखा है—

> तत्सूनु (ज्ञानराजसूनु) सूर्यदास सुजनविधिविदा प्रीतये
> बीजभाष्य चक्रे सूर्यप्रकाश स्वमतिपरिचियादादित सोपपत्ति ।।३।।

इससे ज्ञात होता है कि इन्होने अपने पिता से ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी मुख्यतः यह सब इनका स्वकीय बुद्धिवैभव है।

अनन्त—शक १४४७

इन्होने सूर्यसिद्धान्तानुसार अनन्तसुधारस नाम का पञ्चाङ्गगणितग्रन्थ शक १४४७ में बनाया है। उसके आरम्भ में लिखा है—

> ढुण्ढिविनायकचरणद्वन्द्व मुदमादधन नत्वा।
> सूक्तयानन्तरसाख्य तनुते श्रीकान्तजोऽनन्त ।।

अत इनके पिता का नाम श्रीकान्त था। मैंने यह ग्रन्थ नही देखा है। यह वर्णन सुधाकर की गणकतरङ्गिणी के आधार पर लिखा है। सुधाकर का कथन हैं कि "यह सारणीग्रन्थ हैं। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण के पिता अनन्त के पिता का नाम हरि था (आगे गङ्गाधर—शक १५०८ का वर्णन देखिए)। इस अनन्त के पिता का नाम श्रीकान्त भी हरि का ही पर्याय है। दोनो का समय भी लगभग एक ही है, अत ये मुहूर्तमार्तण्डकार के पिता होगे" परन्तु अनन्तकृत सुधारस पर ढुण्ढिराज की 'सुधारसकरणचपक' नाम की टीका है और ग्रहणोदय नाम का इस ग्रन्थ का एक भाग काशी-राजकीय सस्कृत पाठशाला के पुस्तकालय तथा आफ्रेचसूची मे है। इससे ज्ञात होता है कि यह करणग्रन्थ है और इसमें पञ्चाङ्गोपयोगी सारणिया भी हैं। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण और उनके पुत्र गङ्गाधर के ग्रन्थो में वशवर्णन दो-तीन स्थानो मे है, उनमें सर्वत्र अनन्त के पिता का नाम हरि ही है, श्रीकान्त कही नही हैं और अनन्त का अन्य बहुत सा वर्णन होते हुए भी उनके ग्रन्थ का नाम कही नही है। अत ये अनन्त मुहूर्तमार्तण्डकार के पिता हैं, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

ढुण्ढिराज

इन्होने अपने 'जातकाभरण' में और इनके पुत्र गणेश ने 'ताजिकभूषण' मे वशवर्णन किया है, इससे सिद्ध होता है कि ये देवगिरि (दौलताबाद) के पास गोदावरी के उत्तर पार्थपुर (पाथरी) नामक स्थान में रहते थे। इन्होने अपने पिता का नाम नृसिह लिखा हैं। ज्ञानराज के वर्णन में मैने काशीनाथ शास्त्री के भेजे हुए वशवृक्षानुसार इन्हे नृसिह का

पुत्र लिखा है, तदनुसार ये सिद्धान्तसुन्दरकार ज्ञानराज के पितृव्य होते हैं, परंतु इन्होंने अपने जातकाभरण में ज्ञानराज गुरु की वन्दना की है। इससे शङ्का होती है कि इनके गुरु ज्ञानराज सिद्धान्तसुन्दरकार से भिन्न होंगे अथवा ढुण्ढिराज इसी वंश के किसी अन्य नृसिंह के पुत्र होंगे। आफ्रेचसूची में लिखा है कि ढुण्ढिराज ने अनन्तकृत सुधारस नामक करण की 'सुधारसकरणचपक' नाम्नी टीका की है और ग्रहलाघवोदाहरण, ग्रहफलोपपत्ति, पञ्चाङ्गफल और कुण्डकल्पलता ग्रन्थ बनाये हैं। यदि ये और जातकाभरणकार ढुण्ढिराज एक ही हैं तो इनका काल शक १४४७ से अर्वाचीन होगा। जातकाभरणकार के पुत्र गणेश के ताजिकभूषण ग्रन्थ का उल्लेख विश्वनाथ (शक १५५१) ने किया है[1] अतः जातकाभरण का काल शक १५०० से प्राचीन होगा।

ढुण्ढिराज का जातकाभरण बड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह छप चुका है। उससे ज्ञात होता है कि ढुण्ढिराज के चाचा ने एक जातकग्रन्थ बनाया था। इनके चाचा और उनके ग्रन्थ के नाम ज्ञात नहीं हैं। गणेश का ताजिकभूषण भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आफ्रेचसूची में इस गणेश का गणितमञ्जरी नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

नृसिंह

ये ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भ्राता राम के पुत्र थे। राम गणेश दैवज्ञ के लघुभ्राता होंगे। सुधाकर ने लिखा है कि इन्होंने शक १४८० में महादेवी ग्रहसिद्धि के अनुसार 'मध्यग्रहसिद्धि' नामक ग्रन्थ बनाया है। उसमें केवल मध्यम ग्रह हैं। स्पष्ट ग्रह महादेव के ग्रन्थ से बनाये हैं। कृष्णशास्त्री गोडबोले की हस्तलिखित मराठी पुस्तक में लिखा है कि "केशव दैवज्ञ के पौत्र, राम के पुत्र नृसिंह ने शक १५१० में ग्रहकौमुदी नामक ग्रन्थ बनाया है और नृसिंह का जन्मशक १४७० है"। यह और उपर्युक्त शक १४८०, इन दोनों में एक अशुद्ध होगा। नृसिंह ने शक में से १४८० घटाकर शेष में

[1] विश्वनाथ ने ताजिकनीलकण्ठी की टीका में लिखा है कि—"जन्मकालनलिनीविलासिना नैव याति तुलना कलासु चेत्। वर्षकालनलिनीपति . ॥—इस श्लोक का ताजिकभूषणकार का कथन अशुद्ध है, विश्वनाथ का यह कथन ठीक है।

[2] काशीनाथ शास्त्री ने लिखा है कि ढुण्ढिराज ने ज्ञानराज से ही अध्ययन किया था। भतीजे से चचा की अवस्था कम होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, अतः इसे असम्भव नहीं कहा जा सकता। इससे अनुमान होता है कि जातकाभरणकार के ग्रन्थ का काल लगभग शक १४३० से १४६० पर्यन्त और ताजिकभूषण का काल शक १४८० होगा।

वर्षगण का गुणा कर ग्रह लाने को कहा है अत यह शक अशुद्ध नही होगा। सम्भव है शक १४८० के कुछ वर्षो वाद नृसिंह ने यह ग्रन्य वनाया हो।

अनन्त

'कामवेनु' नामक एक तिथ्यादिपञ्चाङ्गसाधनोपयोगी ग्रन्थ है। अनन्त ने उसकी टीका की है। कामवेनु ग्रन्थ गोदातीरस्थ त्र्यम्बक नामक स्थान के निवासी वोपदेवात्मज महादेव ने शक १२७९ में वनाया है। इसमें ब्राह्म और आर्यपक्षानुसार तिथ्यादि-साधनार्थ सारणिया वनाई हैं। इन अनन्त के पुत्र नीलकण्ठ और राम के ग्रन्थ क्रमश. शक १५०९ और १५१२ के हैं अत अनन्तकृत कामवेनुटीका का काल लगभग शक १४८० होगा। जातकपद्धति नामक अनन्त का एक जातकग्रन्थ है[1]। इनके पुत्र राम ने अपने मुहूर्तचिन्तामणि के उपसहार में अपना कुलवृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

वशवृत्त

आसीद्धर्मपुरे पडगनिगमाध्येतृद्विजैर्मण्डिते
ज्योतिर्वित्तिलक फणीन्द्र—रचिते भाष्ये कृतातिश्रम ।
तत्तज्जातकसहितागणितकृन्मान्यो महाभूभुजा
तर्कालकृतिवेदवाक्यविलसद्बुद्धि स चिन्तामणि ॥८॥
ज्योतिर्विद्गणवन्दिताङ्घ्रिकमलस्तत्सूनुरासीत् कृती
नाम्नानन्त इति प्रथामधिगतोभूमण्डलाहस्कर ।
यो रम्या जनिपद्धति समकरोदुष्टाशयध्वसिनी
टीका चोत्तमकामवेनुगणितेऽकार्षीत् सता प्रीतये ॥९॥
तदात्मज उदारवीर्विवुवनीलकण्ठानुजो
गणेशपदपङ्कज हृदि निवाय रामाभिव ।
गिरीशनगरे वरे भुजभुजेषुचन्द्रैर्मिते १४२२
शके विनिरमादिम खलु मुहूर्तचिन्तामणिम् ॥१०॥

इसके और इनके अन्य वशजो के लिखे हुए कुलवृत्तान्त के आधार पर इनकी वशावली नीचे लिखी है। इनका गोत्र गार्ग्य था। इनका मूल निवासस्थान गोदा के पास विदर्भ देश में धर्मपुरी नामक गाव था। अनन्त वहा से काशी आये। इनके वाद के पुरुप काशी में ही रहे हैं।

[1] मैंने अनन्त के ग्रन्थ नहीं देखे हैं। यह वर्णन उनके वंशजो के लिखे हुए वर्णन और सुधाकरकृत गणकतरङ्गिणी के आधार पर लिखा है।
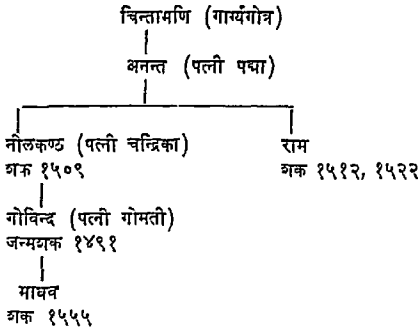
नीलकण्ठ और रामकृत वर्णनो से ज्ञात होता है कि चिन्तामणि ज्योतिष और अन्य शास्त्रो के बहुत बडे पण्डित थे। अनन्त का वर्णन कर ही चुके हैं। नीलकण्ठ की माता का नाम पद्मा था। इन्होंने 'तोडरानन्द' नामक ग्रन्थ बनाया था। अन्य ग्रन्थो मे आये हुए उनके वर्णनो से अनुमान होता है कि उसमे गणित, मुहूर्त और होरा, तीनो स्कन्ध रहे होगे। नीलकण्ठ के पौत्र माधव ने भी ऐसा ही लिखा है। पीयूषधाराकार ने लिखा है कि उसमे चन्द्रवारविलासप्रकरण मे ग्रहास्तोदय का और कालशुद्धिसौख्यप्रकरण में न्यूनाधिमास का विवेचन है। इस ग्रन्थ का कुछ भाग (आनन्दाश्रमग्रन्थाङ्क ५०८८) मैंने देखा है, इसमे मुहूर्तस्कन्ध मात्र है। इसमे प्राचीन ग्रन्थकारो के वचनो का बहुत बडा सग्रह है। मैंने जो भाग देखा है उसकी ग्रन्थसख्या १००० के लगभग होते हुए भी उसमें केवल यात्राप्रकरण है और वह भी अपूर्ण। अत सम्पूर्ण ग्रन्थ बहुत बडा होगा। अकबर के प्रधान तोडरमल के नाम पर ही इस ग्रन्थ का नाम तोडरानन्द रखा गया होगा। पुत्र गोविन्द के लेख से ज्ञात होता है कि नीलकण्ठ मीमासा और सांख्य शास्त्रो के भी बहुत बडे ज्ञाता थे और अकबर बादशाह की सभा में पण्डितेन्द्र थे। ताजिक-विषयक नीलकण्ठ का 'समातन्त्र' (वर्षतन्त्र) नामक ग्रन्थ है। इसे नीलकण्ठी भी कहते हैं। यह बडा प्रसिद्ध है और अनेक टीकाओ सहित छप भी चुका है। नीलकण्ठ ने इसे शक १५०९ मे बनाया है। इस पर विश्वनाथ की शक १५५१ की सोदाहरण टीका है। आफ्रेचसूची में इसकी द्विघटिका, लक्ष्मीपतिकृत और श्रीहर्ष की श्रीफल-वर्धिनी, ये तीन और टीकाएँ लिखी हैं। अन्य टीकाओ का वर्णन नीचे किया है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है कि नीलकण्ठ की एक जातकपद्धति है,उसमें ६० श्लोक हैं और वह मिथिला प्रान्त मे प्रसिद्ध है। आफ्रेचसूची मे लिखा है कि नीलकण्ठ ने

गङ्गाधर—शक १५०८

अनन्त
|
कृष्ण
|
हरि
|
अनन्त
|
नारायण
|
गङ्गाधर

इन्होंने शक १५०८ में ग्रहलाघव की मनोरमा नाम्नी टीका की। मुहूर्तमार्तण्डकार नारायण के ये पुत्र है। दोनो के दिये हुए वंशवृत्त के आधार पर यह वंशवृक्ष बनाया है। मुहूर्तमार्तण्ड ग्रन्थ शक १४९३ का है। उसमें ग्रन्थकार ने अपना कुलवृत्तान्त लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि वे कौशिकगोत्रीय वाजसनेयी ब्राह्मण थे, देवगिरि (दौलताबाद) के उत्तर शिवालय (घृष्णेश्वर) नामक जो प्रसिद्ध स्थान है, उसके उत्तर टापर नामक गाव के ये निवासी थे और इनके पूर्वजो का मूल निवास-स्थान सासमणूर था। दौलताबाद के पास ही २ कोस पर वेरुळ नामक गाव है, वहा सम्प्रति घृष्णेश्वर का मन्दिर है। जनार्दन हरि आठले ने शक १७७९ मे मराठी टीका सहित मुहूर्तमार्तण्ड छपाया है। उसकी प्रस्तावना मे उन्होंने लिखा है कि टापर गाव और उसके आसपास पता लगाने से ज्ञात हुआ कि अब ग्रन्थकार का केवल मातुलवंश रह गया है।

रामभट—शक १५१२

इनका 'रामविनोद' नामक एक करणग्रन्थ है। इसमे आरम्भवर्ष शक १५१२ है और वर्षमान, क्षेपक तथा ग्रहगतियाँ वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की है। ग्रहगति में दिये हुए बीजसस्कार का वर्णन ऊपर के पृष्ठो में कर ही चुके है। अकबर के प्रधान श्री महाराज रामदास की आज्ञानुसार अकबरशक ३५ (शालिवाहनशक १५१२) में रामभट ने रामविनोद बनाया है[१]। इसमें ११ अधिकार और २८० श्लोक है। इस पर विश्वनाथकृत उदाहरण है। इस ग्रन्थ का अङ्गभूत १७ श्लोको का तिथ्यादि साधनोपयोगी सारणीग्रन्थ राम ने बनाया है और उसके अनुसार जयपुर की ओर पञ्चाङ्ग बनाते है, ऐसा सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है।

इनका 'मुहूर्तचिन्तामणि' बडा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसे इन्होंने शक १५२२ में काशी मे बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की प्रमिताक्षरा और इनके भ्रातृपुत्र गोविन्द की पीयूषधारा नाम की प्रसिद्ध टीका है। ये दोनो छप चुकी है। इनका वंशवृत्त ऊपर पृष्ठ ३७९ में लिख ही चुके है।

[१] प्रोफेसर भाण्डारकर का कथन है (सन् १८८३-८४) के पुस्तकसंग्रह की रिपोर्ट का पृष्ठ ८४ देखिए) कि यह ग्रन्थ इन्होंने शक १५३५ में बनाया है, पर यह उनकी भूल है।

श्रीनाथ—शक १५१२

इनका शक १५१२ का 'ग्रहचिन्तामणि' नामक करणग्रन्थ है। उसमे वर्षगण द्वारा ग्रहसाधन किया है। ग्रन्थ के साथ सारणियाँ भी होनी चाहिए। मेरी देखी हुई पुस्तक (डे० का० स० न० ३०४ सन् १८८२-८३) मे वे नही थी पर उनके विना ग्रन्थ निरुपयोगी है। इसमे क्षेपक नही है और अन्य भी कोई ऐसा साधन नही है जिससे पता चले कि यह किस पक्ष का ग्रन्थ है। इसमे दो अध्याय हैं। साधन (होरास्कन्ध) भी इसी में है। श्रीनाथ के पिता का नाम राम[1] और ज्येष्ठ भ्राता का नाम रघुनाथ था।

विष्णु

विदर्भ देश मे पाथरी नामक एक प्रसिद्ध ग्राम है। उसका वर्णन ऊपर के पृष्ठो में कर चुके हैं। उससे २॥ योजन पश्चिम गोदा नदी के उत्तर तट के पास ही गोला नामक ग्राम है। पहिले वहा एक बडा प्रसिद्ध विद्वत्-कुल रहता था। बाद मे वह काशी चला गया। उसमे बहुत से ग्रन्थकार हुए हैं। विष्णु भी उसी मे हैं। इन्होने एक सौरपक्षीय करणग्रन्थ बनाया है। उसमे आरम्भवर्ष शक १५३० है। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के बृहच्चिन्तामणि की इनकी सुबोधिनी नामक टीका है। उसमे उपपत्ति है। ज्योतिषशास्त्र का नवीन ग्रन्थ बनानेवालो के लिए ऐसी टीकाएँ बडी उपयोगी होती हैं। इनके करणग्रन्थ पर इनके भाई विश्वनाथ का उदाहरण है। मुहूर्तचूडामणि मे शिव ने विष्णु को जगद्गुरु कहा है। प्रसिद्ध टीकाकार विश्वनाथ और सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर इसी वश में हुए हैं। कमलाकर ने अपना कुलवृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

> अथात्र सार्धाम्बरदस्र २०।३० सत्र्यपलाशकैरस्ति च दक्षिणस्याम्
> गोदावरीसौम्यविभागसस्थ दुर्गञ्च यद्देवगिरीति नाम्ना ॥१॥
> प्रसिद्धमस्मान्नृप १६ योजनै प्राक् याम्यान्तराशास्थितपाथरी च।
> विदर्भदेशान्तरगास्ति रम्या राज्ञा पुरी तद्गतदेशमध्ये ॥२॥
> तस्यास्तु किञ्चित् परभाग एव सार्धद्वितुल्यै २½ किल योजनैश्च।
> गोदावरीवर्ति सदैव गङ्गा या गौतमप्रार्थनया प्रसिद्धा ॥३॥

[1] प्रोफेसर भाण्डारकर ने लिखा है (१८८२-८३ पुस्तकसग्रह रिपोर्ट का पृष्ठ २८) कि ये राम और मुहूर्त चिन्तामणिकार राम प्राय एक ही हैं, परन्तु मुहूर्तचिन्तामणिकार राम के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उनका यह कथन असम्भव है।

अस्या सतो सौम्यतटोपकण्ठे ग्रामोऽस्ति गोलाभिधया प्रसिद्ध ।
तथैव याम्ये पुरुषोत्तमाख्या पुरी तयोरन्तरगा स्वयं सा ॥६॥
गोदावरीसौम्यतटोपकण्ठगोलाख्यसद्ग्रामगुणिद्धभूमौ ।
विप्रो महाराष्ट्र इति प्रसिद्धो रामो भरद्वाजकुलावतंस ॥७॥
बभूव तज्ज्योऽखिलमान्यभट्टाचार्योऽतिशास्त्रे निपुण पवित्र ।
सदा मुदा सेवितसर्गसूनुर्दिवाकरस्तत्तनयो बभव ॥८॥

इस वंश के विश्वनाथ, नृसिंह और मल्लारि प्रभृति ग्रन्थकारों के लिखे हुए कुलवृत्तान्त से ज्ञात होता है कि राम ज्योतिषी थे भट्टाचार्य उत्तम मीमांसक तथा नैयायिक थे और दिवाकर उत्तम ज्योतिषी थे। वे ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के शिष्य थे। दिवाकर के पांच पुत्र थे। विश्वनाथ उनमें सबसे छोटे थे। ताजिक-नीलकण्ठी की टीका में उन्होंने अपने भाइयों के गुणादिकों का निम्नलिखित बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

दिवाकरो नाम बभूव विद्वान् दिवाकराभो गणितेषु मन्ये ।
स्वकल्पितैर्येन निबन्धवृन्दैर्वेद्व जगद्दर्शितविश्वरूपम् ॥२॥
तस्यात्मजा पञ्च समा बभूवु पञ्चेन्द्रकल्पा गणितागमेषु ।
पञ्चानना वादिगजेन्द्रभेदे पञ्चाग्निकल्पा द्विजकर्मणा च ॥३॥
अजनिष्ट कृष्णनामा ज्येष्ठस्तेषा कनिष्ठानाम् ।
विद्यानवद्यवाचा वेत्ता स स्याज्जगत्ख्यात ॥४॥
तस्माज्जात कनिष्ठो विबुधबुधगणात् स्रेष्टता प्राप जाग्र-
ज्ज्योति शास्त्रेण शश्वत् प्रकटितविभवो यस्य शिष्य प्रशिष्य ।
विष्णुर्ज्योतिर्विदुर्वीपतिविदितगुणो भूमिदर्वीकरेन्द्रो
ग्रन्थव्याख्यानखर्वीकृतविबुधगुरुर्गर्वहा गर्वभाजाम् ॥५॥
आसीदासिन्धुदासीकृतगणकगणग्रामणीगर्वभेत्ता
नेता ग्रन्थान्तराणा मतिगुरुरनुजस्तस्य कस्याप्यतेजा ।
मल्लारिर्वादिवृन्दप्रशमनविषये कोऽपि मल्लारिनामा
व्यक्ताव्यक्तप्रवक्ता जगति विशदयत् सर्वसिद्धान्तवक्ता ॥६॥
तस्यानुज केशवनामधेयो ज्योतिर्विदानन्दसमुद्रचन्द्र ।
वाणीप्रवीणान् वचनामृतेन सजीवयामास कलाविलासी ॥७॥
तस्यानुज सम्प्रति विश्वनाथोविष्णुप्रसादाद् गुणमात्रविष्णु ।
सर्वज्ञदैवज्ञविलाससुज्ञात् नृसिंहत साधितसर्वविद्य ॥८॥

कमलाकर के ऊपर लिखे हुए श्लोको के बाद के श्लोक ये हैं—

अस्यार्यवर्यस्य दिवाकरस्य श्रीकृष्णदैवज्ञ इति प्रसिद्ध ॥९॥
तज्जस्तु सद्गोलविदा वरिष्ठो नृसिहनामा गणकार्यवन्द्य ॥१०॥
बभूव येनात्र च सौरभाष्य शिरोमणेर्वार्तिकमुत्तम हि।
स्वार्थं परार्थञ्च कृत त्वपूर्वसद्युक्तियुक्त ग्रहगोलतत्त्वम् ॥११॥
तज्जस्तु तस्यैव कृपालवेन स्वज्येष्ठसद्वन्धुदिवाकराख्यात्।
सावत्सरार्याद् गुरुत प्रलब्धशास्त्रावबोधो गणकार्यतुष्ट्यै ॥१२॥
दृग्गोलजक्षेत्रनवीनयुक्त्या पूर्वोक्तित श्रीकमलाकराख्य।
समस्तसिद्धान्तसुगोलतत्त्वविवेकसज्ञ किल सौरतत्त्वम् ॥१३॥
खनागपञ्चेन्दुशकेष्वतीते सिद्धान्तमार्याभिमत समग्रम्।
भागीरथीसौम्यतटोपकण्ठवाराणसीस्थो रचयाम्बभूव ॥१४॥[1]

इसके तथा कुछ अन्य वर्णनो के आधार पर इनकी निम्नलिखित वशावली निश्चित होती है।
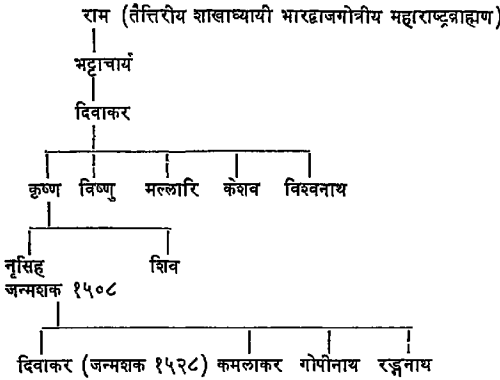
दिवाकर के ज्येष्ठ पुत्र कृष्ण के विषय मे उनके ज्येष्ठ पुत्र नृसिह ने सूर्यसिद्धान्त

[1] काशी में सुधाकर द्विवेदी के छपाये हुए सिद्धान्ततत्त्वविवेक का पृष्ठ ४०७–८ देखिये।

की टीका में लिखा है कि इन्होंने बीजगणित का सूत्रात्मक ग्रन्थ बनाया है। इनके कनिष्ठ पुत्र शिव ने अपने मुहूर्तचूडामणि में और पौत्र दिवाकर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि ये त्रिकालज्ञ थे, राजसभा में इनकी बडी प्रतिष्ठा थी और इन्होंने अन्य शास्त्रों के भी ग्रन्थ बनाये है। आफ्रेवसूची से ज्ञात होता है कि दिवाकर के पुत्र और शिव के पितृव्य केशव ने सन् १५६४ (शक १४८६) मे ज्योतिपमणिमाला नामक ग्रन्थ बनाया था। नामो से तो ये इसी वश के केशव ज्ञात होते है परन्तु मल्लारि और विश्वनाथ के समयो से—जो कि निश्चित ज्ञात है—इनके इम समय की सगति नही लगती। इस वश के शेष ग्रन्थकारो का वर्णन आगे है। मल्लारि के लेख से ज्ञात होता है कि इस वश के कुलदेवता मल्लारि थे।

नृसिह ने शक १५४३ मे बनाई हुई सिद्धान्तशिरोमणि की अपनी टीका में लिखा है कि दिवाकर का देहान्त काशी मे हुआ। वे गणेश दैवज्ञ के साक्षात् शिष्य थे अत लगभग शक १५०० तक दक्षिण मे ही रहे होगे। इस वश के ग्रन्थकारो के शक १५२३ के बाद के ग्रन्थ काशी मे बने है, इससे ज्ञात होता है कि यह विद्वत्-कुल शक १५०० के बाद २०-२५ वर्ष के भीतर ही काशी गया होगा। इनमें से किसी विद्वान् को दिल्ली दरबार का प्रत्यक्ष आश्रय होने का कोई प्रमाण नही मिलता, पर इस वश के राजमान्य होने का वर्णन है।

मल्लारि

ये उपर्युक्त विष्णु के कनिष्ठ भ्राता है। इन्होंने ग्रहलाघव की टीका की है। उसमे टीकाकाल बडी विलक्षण रीति से लिखा है। वह यह है—

> वाणोनाच्छकत कुरामविहृतान्मूल हि मास स युक्
> वाणैर्भञ्च दशोनित दिनमितिस्तस्या दल स्यात्तिथि।
> पक्ष स्यात्तिथिसमितोऽखिलयुति सप्ताब्धितिथ्युन्मिता
> बालाख्यो गणको लिलेख च तदा टीका परार्थं त्विमाम्॥
> (१५२४+७+१+१+२+१२=१५४७)

इसका अभिप्राय यह है कि शके १५२४ आश्विन (सप्तम) मास, शुक्ल (प्रथम) पक्ष, प्रतिपदा (१), सोम (द्वितीय) वार, उत्तराफाल्गुनी (१२ वें) नक्षत्र में बाल नामक गणक ने यह टोका लिखी है। इसका रचनाकाल भी यही होगा, क्योकि यह इनके भाई विश्वनाथ के समय से मिलता है।

इस टीका में मल्लारि ने ग्रहलाघव की उपपत्ति लिखी है। ग्रहलाघव सरीखे ग्रन्थ

की उपपत्ति लिखना सिद्धान्त की उपपत्ति की अपेक्षा कठिन है तथापि मल्लारि ने यह कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न किया है।

विश्वनाथ

ये भटोत्पल सरीखे एक टीकाकार हुए है। गोलग्रामस्थ दिवाकर के ये पुत्र है। इनका कुलवृतान्त विष्णु के वर्णन मे लिखा है। ताजिकनीलकण्ठी की टीका मे इन्होने टीकाकाल इस प्रकार लिखा है—

> चन्द्रबाणशरचन्द्र १५५१ सम्मिते हायने नृपतिशालिवाहने।
> मार्गशीर्षसितपञ्चमीतिथौ विश्वनाथविदुषा समापितम् ।।

नीलकण्ठी की इनकी टीका की मैने अनेक पुस्तके देखी, यह श्लोक उन सबो मे नही है पर कुछ मे है। हम लोग ग्रन्थरचनाकालज्ञान के विषय मे उदासीन रहते है, इसका यह एक उदाहरण है। अधिक लोगो ने उपेक्षाबुद्धि से यह श्लोक नही लिखा है। इस शक मे सन्देह बिल्कुल नही है। उसी टीका के अन्य दो-चार स्थलो के उल्लेखो से उसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। विश्वनाथ ने सूर्यसिद्धान्तादि अनेक ग्रन्थो की उदाहरणरूपी टीकाएँ की है। उदाहरण मे मुख्यतया शक १५३४ लिया है और कारणवशात् शक १५३०, ३२, ४२, ५५ भी लिये है। पातसारणी की टीका मे उदाहरणार्थ शक १५५३ और केशवी-जातकपद्धति मे १५०८ लिया है। जातकपद्धति से लोग जन्मपत्रिका बनाते है अत १५०८ अनुमानत विश्वनाथ का जन्मशक होगा और इनके ग्रन्थो का रचनाकाल शक १५३४ से १५५६ पर्यन्त होगा। ग्रहलाघवटीका का इनका एक वाक्य ऊपर दिया है। उसमे इन्होने गणेशदैवज्ञ को गुरु कहा है। यह कथन केवल औपचारिक है, जैसे कि शक १२३८ की महादेवीसारणी के टीकाकार धनराज ने अपनी शक १५५७ की टीका में महादेव को गुरु कहा है।

कृष्णशास्त्री गोडबोले ने ग्रहलाघव के अन्त मे ३ श्लोक दिये है। उन्होने लिखा है कि उनमे ग्रहलाघव बनने के २११ वर्ष बाद विश्वनाथ ने दृक्प्रत्यय के लिए बीजसस्कार दिया है। इस प्रकार विश्वनाथ का काल शक १६५३ होता है परन्तु ग्रहलाघव-टीकाकार विश्वनाथ के वशवृत्त और ग्रन्थो से यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि उनका काल शक की १७ वी नही बल्कि १६ वी शताब्दी है। ग्रहलाघव की विश्वनाथकृत टीका की मैने अनेक पुस्तके देखी है। उपर्युक्त श्लोक उनमे से मुझे एक में भी नही मिले। इन श्लोको के कर्ता विश्वनाथ दूसरे होगे। गोपालात्मज विश्वनाथ दैवज्ञ सगमेश्वरकर ने काशी मे शक १६५८ मे व्रतराज नामक ग्रन्थ बनाया है। ये श्लोक उन्ही के होगे।

ग्रन्थ

विश्वनाथ के उदाहरणरूप टीकाग्रन्थ ये हैं—(१) सूर्यसिद्धान्त पर इनकी गहनार्थप्रकाशिका नाम्नी टीका है। उसमें इन्होंने लिखा है कि मैं सूर्यसिद्धान्त पर उदाहरण लिख रहा हूँ, इसकी उपपत्ति नृसिंह दैवज्ञ ने लिखी है। नृसिंह का सौरभाष्य शक १५३३ का है अत विश्वनाथ का उदाहरण इसके बाद का होगा। इसकी ग्रन्थसख्या ५००० है। (२) सिद्धान्तशिरोमणि-टीका, (३) करणकुतूहलटीका, (४) मकरन्दटीका, (५) ग्रहलाघवटीका, (६) गणेशदैवज्ञकृत पातसारणीटीका, (७) अनन्तसुधारसटीका, (८) रामविनोदकरणटीका, (९) इनके भाई विष्णु के करण की टीका, यह शक १५४५ की है। (१०) केशवीजातकपद्धति की टीका, (११) ताजिकनीलकण्ठी की समातन्त्रप्रकाशिका नाम्नी शक १५५१ की टीका। आफ्रेचसूची में इनकी ये अन्य टीकाएँ लिखी हैं—(१२) सोमसिद्धान्तटीका, (१३) तिथिचिन्तामणिटीका, (१४) चन्द्रमानतन्त्रटीका (?), (१५) बृहज्जातकटीका, (१६) श्रीपतिपद्धतिटीका, (१७) वसिष्ठसहिताटीका, (१८) बृहत्सहिताटीका।[1]

टीकाओ में विश्वनाथ ने उदाहरण दिये हैं अत वे अभ्यास करनेवालो के लिए बडे उपयोगी हैं। कृष्णशास्त्री गोडबोले ने मराठी में सोदाहरण ग्रहलाघव छपाया है, वह विश्वनाथी टीका का प्राय अनुवाद है। विश्वनाथ ने टीकाओ में यद्यपि उपपत्ति नही लिखी है पर उनसे ज्ञात होता है कि ये सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता थे। ये सब ग्रन्थ इन्होंने काशी मे बनाये हैं।

नृसिंह—जन्मशक १५०८

गोलग्रामस्थ दिवाकर के ज्येष्ठ पुत्र कृष्ण के ये पुत्र थे। इनका जन्म शक १५०८ में हुआ था। इन्होने अपने पितृव्य विष्णु और मल्लारि से अध्ययन किया था। शक १५३३ मे इन्होंने सूर्यसिद्धान्त पर सौरभाष्य नाम की टीका की है, उसमे उपपत्ति है। इसकी ग्रन्थसख्या ४२०० है। सिद्धान्तशिरोमणि पर इनकी वासनावार्तिक नाम की शक १५४३ की टीका है। उसे वासनाकल्पलता भी कहते हैं। इसकी ग्रन्थसख्या ५५०० है। इन दोनो टीकाओ से ज्ञात होता है कि इन्हें ज्योतिषसिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था। इनके पुत्र दिवाकर के लेख से ज्ञात होता है कि ये अच्छे मीमासक भी थे।

[1] इनमें से २, ७, ८, ९ ये चार टीकाएँ मैंने नहीं देखी हैं। इनके नाम गणकतरङ्गिणी से लिखे हैं।

शिव

ये ऊपर के पृष्ठ ३८५ में दिये हुए विष्णु के वंशज कृष्ण के पुत्र और नृसिंह के भ्राता हैं। इनका जन्मशक १५१० होगा। सुधाकर ने लिखा है कि इन्होंने अनन्तसुधारस की टीका की है। मुहूर्तचूडामणि नामक इनका एक मुहूर्त ग्रन्थ है। इनके शिष्य और भ्रातृपुत्र दिवाकर ने अपनी जातकपद्धति में इन्हें जगद्गुरु कहा है। इनके दूसरे भतीजे रङ्गनाथ ने भी सिद्धान्तचूडामणि में इनकी बडी बडाई की हैं। सुधाकर ने लिखा है कि एक अन्य शिव ने, जो कि राम दैवज्ञ के पुत्र थे, जन्मचिन्तामणि नामक ग्रन्थ बनाया हैं।

कृष्ण

इनका कुल बडा प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से विद्वान् हुए हैं। उनके किये हुए वंशवर्णनों के आधार पर यह वंशवृक्ष दिया है।

स्थान
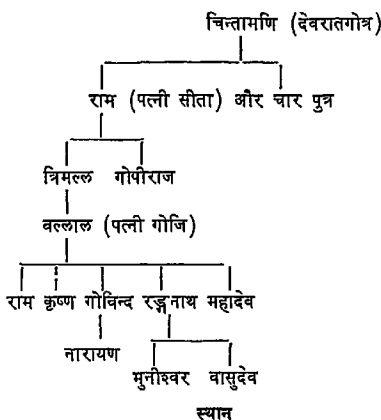
चिन्तामणि यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये विदर्भ देश में पयोष्णी तट पर दधिग्राम में रहते थे। इसके विषय में मुनीश्वर ने मरीचि टीका के अन्त में लिखा है—'एलिचपुर समदेशे तटे पयोष्ण्या शुभे दधिग्रामे।' गोविन्द के पुत्र नारायण की जातककौस्तुभी की टीका से ज्ञात होता है कि दधिग्राम की पलभा ४।। अर्थात् अक्षांश २१।१५ है। एलिचपुर के अक्षांश इतने ही हैं अत. इसी अक्षवृत्त पर एलिचपुर के पूर्व या पश्चिम

दहीगाव होना चाहिए। वल्लाल काशी चले गये। इनके बाद के इनके वंशजो के ग्रन्थो मे ज्ञात होता है कि वे काशी में ही रहते थे, तथापि जातककेशवी की नारायणकृत टीका से ज्ञात होता है कि वह दधिग्राम में ही बनी है।

पूर्वजवृत्त

कृष्ण और मुनीश्वर ने लिखा है कि चिन्तामणि के पुत्र राम को इतना अच्छा भविष्यज्ञान था कि विदर्भ देश के राजा उनकी आज्ञानुसार चलते थे। कृष्ण, रङ्गनाथ इत्यादिको के कालानुसार राम का काल लगभग शक १४४० होगा। सन् १५०० (शक १४२२) के लगभग ब्राह्मणी राज्य के ५ भाग हुए। उनमे से एक राज्य बरार (विदर्भदेश) में हुआ। उसकी राजधानी एलिचपुर थी। राम के निदेशवर्ती विदर्भराज एलिचपुर के ही राजा होगे। वल्लाल रुद्र के बडे भक्त थे। रङ्गनाथ ने सूर्य-सिद्धान्त की टीका मे लिखा है कि वल्लाल के ज्येष्ठ पुत्र राम ने अनन्तसुधाकर की उपपत्ति लिखी है। यह अनन्तसुधाकर गत पृष्ठो में वर्णित अनन्त का सुधारस ही होगा। मरीचि टीका से ज्ञात होता है कि राम भी शिव के बडे भक्त थे और वे शक १५५७ में विद्यमान थे।

स्ववृत्त

कृष्ण वल्लाल के द्वितीय पुत्र हैं। इन्होने भास्कराचार्य के बीजगणित की बीजन-वाङ्कुर नाम्नी टीका की है। इसे बीजपल्लव और कल्पलतावतार भी कहते हैं। इसमें इन्होने कुछ स्वकीय नवीन युक्तियाँ भी लिखी हैं। प्राचीन टीकाओ में यह टीका उत्कृष्ट और विद्वन्मान्य हैं। इसमे इन्होने अपने को ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भतीजे नृसिंह के शिष्य विष्णु का शिष्य बताया है। पता नही, ये गोल-ग्रामस्थ विष्णु हैं या अन्य कोई। इन दोनो का काल बिलकुल पास-पास है। कृष्ण ने श्रीपतिकृत जातकपद्धति की उदाहरणरूप टीका की है, उसमें उदाहरणार्थ खानखाना नामक प्रधान का जन्मकाल शक १४७८ लिया है। शक १५०० के पूर्व खानखाना के प्रधान होने की सम्भावना नही है। रङ्गनाथ ने शक १५२५ की सूर्यसिद्धान्त की टीका में कृष्णकृत दोनो टीकाओ का उल्लेख किया है और वही यह भी लिखा है कि दिल्ली के बादशाह जहागीर के दरबार मे कृष्ण की बडी प्रतिष्ठा थी। जहागीर शक १५२७ से १५४९ पर्यन्त गद्दी पर थे अत कृष्ण ने ये दोनो टीकाएँ लगभग शक १५०० और १५३० के मध्य मे बनायी होगी। इनका छादकनिर्णय नामक एक और ग्रन्थ है, उसे सुधाकर द्विवेदी ने छापा है। मरीचिटीका मे ज्ञात होता है कि ये नूरदिन नामक यवन अधिकारी के प्रिय थे और शक १५५७ में विद्यमान नही थे।

वंशज

गोविन्द के पुत्र नारायण ने केशवी-जातकपद्धति की टीका की है, उसमें उदाहरणार्थ शक १५०९ लिया है। यह कदाचित् उनका जन्मशक होगा। नारायणीय बीज नामक एक बीजगणित का ग्रन्थ है, उसमें सब सूत्र आर्याबद्ध हैं। सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि यह ग्रन्थ इन्ही नारायण का होगा। मुनीश्वर के गुरु नारायण ये ही होगे। इस वश के कुछ पुरुषो का वर्णन आगे किया है।

रङ्गनाथ

इनका वशवृत्त ऊपर कृष्ण के वर्णन में लिख चुके हैं। सूर्यसिद्धान्त की इन्होने गूढार्थप्रकाशिका नाम की टीका की है। उसका बहुत सा विवेचन पहले प्रसगवशात् हो चुका है। उसमें उसके रचनाकाल के विषय में लिखा है—

> शके तत्त्वतिथ्युन्मिते १५२५ चैत्रमासे सिते शभुतिथ्या बुधेऽर्कोदयान्मे।
> दलाढ्यद्विनाराचनाडीषु ५२।३० जातौ मुनीशार्कसिद्धान्तगूढप्रकाशौ ।।

इसका अर्थ यह है कि शक १५२५ चैत्र सित (या असित) पक्ष मे शिवतिथि बुधवार को सूर्योदय से ५२ घटी ३० पल पर मुनीश्वर नामक पुत्र और गूढार्थप्रकाशिका टीका, ये दोनो हुए। इस टीका मे यह भी लिखा है कि कृष्ण जहागीर के मान्य थे। जहागीर के राज्यकाल का आरम्भ शक १५२७ मे होता है, इसके पहिले वे राजा नही थे, अत. इस शक के विषय में सन्देह होता है। परन्तु मुनीश्वर के ग्रन्थ शक १५५७, १५६८, १५७२ के हैं अत: यह शक असम्भव नही है। रङ्गनाथ ने शक १५२५ मे टीका आरम्भ की होगी। शक १५२५ गत के चैत्र की शुक्ल या कृष्ण किसी भी एकादशी को बुधवार नही आता है। शुक्लपक्ष में बुधवार को १० घटी चतुर्दशी थी अत शिव का अर्थ चतुर्दशी करने से ठीक सगति लगती है। गत शक १५२४ के चैत्र कृष्ण में बुधवार को दशमी ८ घटी थी और इसके बाद एकादशी थी, अत वर्तमान शक १५२५, असितपक्ष और एकादशी अर्थ करने से भी ठीक सगति लगती है। साराश यह कि शक १५२५ मे रङ्गनाथ थे। मरीचिटीका से ज्ञात होता है कि वे शक १५५७ में नही थे।

रङ्गनाथ ने सूर्यसिद्धान्त की टीका काशी मे बनाई है। उसमे सर्वत्र उपपत्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि इन्हें ज्योतिषसिद्धान्त का और विशेषत भास्करीय सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था और इन्होने गोलादि यन्त्र स्वय बनाकर उनके द्वारा शिष्याध्यापन इत्यादि किया था।

ग्रहप्रबोध—शक १५४१

यह करणग्रन्थ है। इसमे आरम्भवर्ष शक १५४१ और सब ३८ श्लोक हैं। इनमे केवल ग्रहस्पष्टीकरण है। अहर्गणसाधनरीति, ११ वर्ष का चक्र इत्यादि इसकी सभी बातें ग्रहलाघव सदृश ही है। अन्त में ग्रन्थकार ने लिखा है—

> आसीत् गार्य (? र्ग्य) कुलैकभूषणमणिर्विद्वज्जनानन्दकृत्
> शिष्याज्ञानतमोनिवारणरविर्भूमीपतीप्रार्थित ।
> ज्योति शास्त्रमहाभिमानमहिमास्पष्टीकृतब्रह्मधी-
> धैर्योदार्यनिधिस्तुकेश्वर इति ख्यातो महीमण्डले ।।३६।।
> तदात्मजस्तच्चरणैकभक्तिस्तद्वत् प्रसिद्ध शिवनामधेय ।
> तदङ्गजो दृग्गणितानुसार ग्रहप्रबोध व्यतनोच्च नाग ।।३७।।

इससे ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार का नाम नागेश, उनके पिता का नाम शिव और पितामह का नाम तुकेश्वर था। तुकेश्वर और शिव का वर्णन पता नही कहा तक सत्य है पर ग्रन्थकार का यह कथन कि मैंने दृग्गणितानुसार ग्रन्थ बनाया है—उनके ग्रन्थ को देखने से निरर्थक जान पडता है। इन्होंने अपना स्थान नही लिखा है पर चरखण्ड ४३ पलभा के दिये हैं। ग्रन्थ मे क्षेपक या चक्रध्रुवक नही हैं परन्तु अनुमानत वे सारणीयुक्त ग्रन्थ मे होंगे। मेरी देखी हुई पुस्तक (डेक्कनकालेजसग्रह न० ४२२ सन् १८८१-८२, आनन्दाश्रम न० २६१९) में सारणियाँ नही हैं। नागनाथ के शिष्य यादव ने इस पर शक १५८५ का उदाहरण दिया है।

मुनीश्वर

गूढार्थप्रकाशिकाकार रङ्गनाथ के ये पुत्र हैं। उस टीका का काल (शक १५२५) ही इनका जन्मकाल है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक भास्कराचार्य की लीलावती की निसृष्टार्थदूती लीलावतीविवृति नाम्नी टीका, दूसरा सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय की मरीचि नाम्नी टीका और तीसरा सिद्धान्तसार्वभौम इनका स्वतन्त्र सिद्धान्तग्रन्थ है। गणकतरङ्गिणीकार ने लिखा है कि इनके अतिरिक्त पाटीसार नामक इनका एक ग्रन्थ है। यह इनका पाटीगणित का स्वतन्त्र ग्रन्थ होगा। मरीचिटीका के अन्त में इन्होंने पूर्वार्धसमाप्तिकाल बडी विलक्षण रीति से लिखा है। वह यह है—

> शको भूयुतो नन्दभूहृत् फलस्य निरेकस्य मूल निरेक भवेद् भम्।
> तदर्ध भवेन्मास इन्दूनितोऽय तिथिर्द्वघ्नूनिता पक्षवारौ भवेताम् ।।

नक्षत्रवारतिथिपक्षयुतिश्च योगो विश्वैर्युताखिलयुति पदमभ्रवेदा ।
अस्या यदात्र परिपूर्तिमितो मरीचि श्रीवासुदेवगणकाग्रजनिर्मितोऽयम् ।।१३।।

इससे सिद्ध होता है कि शक १५५७ आपाढ (४) शुक्ल पक्ष (१) तृतीया (३) रविवार (१) पुष्यनक्षत्र (८) व्याघात योग (१३) में टीका समाप्त हुई। मरीचि का उत्तरार्ध शक १५६० मे समाप्त हुआ है।

सुधाकर ने लिखा है कि सिद्धान्तसार्वभौम शक १५६८ मे और मुनीश्वरकृत उसकी टीका शक १५७२ मे समाप्त हुई है। मरीचिटीका वडी विस्तृत है। उसकी ग्रन्थसख्या २५००० है। उसमे प्राचीन वचनो का बहुत वडा सग्रह है। लीलावती-टीका लगभग ७००० है। वह भी विद्वन्मान्य है। सार्वभौम के पूर्वार्ध की टीका ८००० है। मुनीश्वर के ग्रन्थो के अनेक स्थलो से ज्ञात होता है कि वे भास्कर के वडे अभिमानी थे। सार्वभौमसिद्धान्त मे वर्षमान, ग्रहभगण इत्यादि मान सूर्यसिद्धान्त के ही लिये है।

मुनीश्वर का दूसरा नाम विश्वरूप था। मरीचिटीका मे उन्होने लिखा है कि कार्तिक स्वामी की कृपा से मुझे ज्ञानप्राप्ति हुई। कृष्ण के शिष्य नारायण को इन्होने अपना गुरु वताया है। ये दोनो इसी वश के होगे। मुनीश्वर के ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि इन्हें वादशाह शाहजहा का आश्रय था। इन्होने सिद्धान्तसार्वभौम मे शाहजहा के राज्याभिपेक का हिजरी सन्, समय और उस समय की लग्नकुण्डली दी है। उससे ज्ञात होता है कि हिजरीसन् १०३७ शक १५४९ माघ शुक्ल १० इन्दुवार, ता० ४ फरवरी सन् १६२८ ई० को सूर्योदय के ३ घटी वाद सुमुहूर्त में राज्याभिपेक हुआ।

दिवाकर—जन्मशक १५२८

ये गोलग्रामस्थ विद्वत्कुलोद्भूत नृसिह के पुत्र है। इनका जन्मशक १५२८ है। इन्होने अपने काका शिव से अध्ययन किया था। शक १५४७ मे १९ वर्ष की अवस्था मे इन्होने 'जातकमार्गपद्म' नामक ग्रन्थ वनाया। उसे पद्मजातक भी कहते है। केशवीय जातकपद्धति की इन्होने शक १५४८ मे प्रौढमनोरमा नाम की और अपनी जातकपद्धति की शक १५४९ मे गणितत्त्वचिन्तामणि नाम्नी सोदाहरण टीका की है। पञ्चाङ्गसाधक ग्रन्थ मकरन्द की इन्होने मकरन्दविवरण नाम की सोदाहरण टीका की है। इनके ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ये व्याकरण, न्याय, काव्य और साहित्य मे निपुण थे। मकरन्दविवरण मैंने देखा है। सोद

वृत्त गणकतरङ्गिणी के आधार पर लिखा है। इनके भाई कमलाकर इन्हीं के शिष्य थे।

कमलाकरकृत सिद्धान्ततत्त्वविवेक

'सिद्धान्ततत्त्वविवेक' कमलाकरकृत सिद्धान्तग्रन्थ है। इनका वंशवृत्त ऊपर विष्णु के वर्णन में दिया है। इनका जन्मशक लगभग १५३० होगा। इन्होंने तत्त्वविवेक शक १५८० में काशी में बनाया है। यह पूर्णतया वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का अनुयायी है। सूर्यसिद्धान्त का कमलाकर को इतना अधिक अभिमान था कि इन्होंने—जो बातें सूर्यसिद्धान्त में नहीं हैं वे सब झूठी हैं और सूर्यसिद्धान्त की किसी स्थूल रीति की अपेक्षा अन्य ग्रन्थ की रीति यदि सूक्ष्म है तो वह भी झूठी है—इस आशय तक की बातें कह डाली हैं। उदाहरणार्थ—उदयान्तर संस्कार का भास्कर ने आविष्कार किया, वह सूर्यसिद्धान्त में नहीं है इसलिए अशुद्ध है। व्यासवर्ग में १० का गुणा कर गुणनफल का वर्गमूल होने से परिधि आती है, सूर्यसिद्धान्त की यह रीति शुद्ध है और इसमें सूक्ष्म भास्करादिकों की रीतियाँ अशुद्ध हैं—यह सिद्ध करने का इन्होंने प्रयत्न किया है। भगणादि सब मान इन्होंने सूर्यसिद्धान्त के लिये हैं, यह कहना ही नहीं है। सूर्यसिद्धान्त के कुछ श्लोक अक्षरशः लिये हैं। इस सिद्धान्त में मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, बिम्ब, छाया, शृङ्गोन्नति, उदयास्त, पर्वसम्भव, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, भग्रहयुति पात, महाप्रश्न, ये १३ अधिकार और भिन्न-भिन्न वृत्तों के सब ३०२४ पद्य हैं। बीच में बहुत सा गद्य भी है। ग्रन्थ के कुछ विषयों की उपपत्ति अन्त में शेषवासना नामक प्रकरण में दी है। इस ग्रन्थ को काशी में सुधाकर द्विवेदी ने बनारससीरीज में छपाया है।

कमलाकर में उपर्युक्त दोष होते हुए भी उनके सिद्धान्त में बहुत सी ऐसी नवीन बातें आई हैं जो कि इनके पहिले के सिद्धान्तों में नहीं हैं। वे ये हैं—इन्होंने लिखा है कि सम्पात में गति होने के कारण ध्रुव नक्षत्र अस्थिर है और सम्प्रति जो ध्रुव तारा दिखाई देता है वह ठीक ध्रुवस्थान में नहीं है। पूर्वरात्रि और उत्तररात्रि में उसके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं। इनका कथन है कि वर्तमानानुसार पृथ्वी का अधिक पृष्ठ-भाग जल से व्याप्त है और थोड़ा बाहर है। किसी भी याम्योत्तरवृत्त से पूर्वापर अंशात्मक अन्तर को सम्प्रति रेखांश कहते हैं। इसे कमलाकर ने तूलांश कहा है और विषुववृत्तवर्ती खालदात्त नामक नगर को मध्य याम्योत्तरवृत्त में मानकर २० नगरों के अक्षांश और रेखांश दिये हैं। वे ये हैं—

	अक्षाश	तूलाश		अक्षाश	तूलाश
काबुल	३४।४०	१०४।०	अहमदाबाद	२३।०	१०८।२०
खंबायत	२२।२०	१०९।२०	बरारपुर	२१।०	१११।०
उज्जयिनी	२२।१	११२।०	लाहौर	३१।५०	१०९।२०
इन्द्रप्रस्थ	२८।१३	११४।१८	अर्गलापुर	२६।३५	११५।०
सोमनाथ	२२।३५	१०६।०	बीजापुर	१७।२०	११८।०
काशी	२६।५५	११७।२०	गोलकुण्डा	१८।४	११४।१९
लखनऊ	२६।३०	११४।१३	अजमेर	२६।५	१११।५
देवगिरि	२०।३०	१११।०	मुल्तान	२९।४०	१०७।३५
कन्नौज	२६।३५	११५।०	माडव	२७।०	१२१।०
काश्मीर	३५।०	१०८।०	समरकन्द	३९।४०	९९।०

तुरीययन्त्र से वेव करने की इन्होने विस्तृत विधि लिखी है। त्रिप्रश्नाधिकार और ग्रहणाधिकार में बहुत से नवीन प्रकार दिये हैं। लिखा है कि सूर्यग्रहण के समय चन्द्रपृष्ठनिवासियो को पृथ्वीग्रहण दिखाई देता है और यवनो ने शुक्रकृत सूर्यविम्ब-भेद देखा है। मेघ, ओला, भूकम्प और उल्कापात के कारण वताये हैं। वे पूर्ण सत्य तो नही पर बिलकुल भोलेपन के भी नही हैं। वास्तविक कारण के वे बहुत कुछ सन्निकट हैं। अङ्कगणित, रेखागणित, क्षेत्रविचार और ज्यासाधन सम्बन्धी बहुत से नवीन प्रकार इनके ग्रन्थ में हैं। अन्य सिद्धान्तो मे ३४३८ त्रिज्या मानकर प्रति पौने चार अश की भुजज्याएँ दी हैं पर इसने ६० त्रिज्या मानकर प्रति अश की भुजज्याएँ दी हैं। इससे गणित में बडी सुविधा होती है। ग्रहभोग द्वारा विपुवाश लाने की इन्होने सारणी दी है। यह सारणी अथवा इसे बनाने की रीति अन्य सिद्धान्तो में नही है, केवल केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक मे है। साराश यह कि इनके ग्रन्थ मे बहुत सी नवीन रीतियाँ हैं। इनमे से कितनी इनकी स्वकीय हैं, यह जानना बडा कठिन है। दुःख की बात है कि इनके ग्रन्थ मे वर्णित नवीन शोधो की बाद मे वृद्धि नही हुई।

कमलाकर के ज्येष्ठ बन्धु दिवाकर इनके गुरु थे, इत्यादि बातो के द्योतक इनके श्लोक पहिले लिख चुके हैं। सिद्धान्तसार्वभौमकार मुनीश्वर से इनका अत्यन्त विरोध था। दोनो समकालीन थे। पता नही, मुनीश्वर मे द्वेष होने के कारण ही ये उनके और भास्कर के ग्रन्थो का विरोध करने लगे अथवा इसका अन्य कोई कारण था। ग्रहस्पष्टीकरण के लिए बनाई हुई मुनीश्वर की भङ्गी का कमलाकर के कनिष्ठ बन्धु

रङ्गनाथ ने भङ्गी-विभङ्गी नामक खण्डन किया था और मुनीश्वर ने उसका प्रति-खण्डन किया था (गणकतरङ्गिणी पृष्ठ ९२)।

रङ्गनाथ

ये गोलग्रामस्थ प्रसिद्ध विद्वत्कुल में हुए हैं। इनका जन्मशक लगभग १५३४ होगा। सिद्धान्तशिरोमणि की इनकी मितभाषिणी नाम की टीका है। सुधाकर ने लिखा है कि इनका सिद्धान्तचूडामणि नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसमें १२ अधिकार और ४०० श्लोक हैं। वह सूर्यसिद्धान्तानुयायी है। रङ्गनाथ ने उसके रचनाकाल के विषय मे लिखा है।

> मासाना कृतिरब्धिहृद्युतिरसौ खाब्जैर्विहीना तिथि-
> र्वर्णैर्हृद्द्विहृतोड्डुवासरमितिर्वारङ्गभागात्पदम्।
> पक्ष सर्वयुति शको द्विखदिनैर्युक्ता ॥[1]

इससे सिद्ध होता है कि शके १५६५ पौष (१०) शुक्ल (१) पूर्णिमा (१५) आर्द्रानक्षत्र (६) ब्रह्मयोग (२५) शुक्रवार (६) को ग्रन्थ समाप्त हुआ।

नित्यानन्दकृत सिद्धान्तराज–शक १५६१

नित्यानन्द ने विक्रमसवत् १६९६ (शक १५६१) में 'सर्वसिद्धान्तराज' बनाया है। इनका निवासस्थान कुरुक्षेत्र के समीप इन्द्रपुरी, गोत्र मुद्गल, गौडकुल और अनुशासन डुलीनहट्ट था। सुधाकर ने लिखा है कि डुलीनहट्ट इनका परम्परागत मूलस्थान था। इनके पिता पितामह इत्यादिको के नाम क्रमश देवदत्त, नारायण, लक्ष्मण और इच्छा हैं।

सिद्धान्तराज में गणिताध्याय और गोलाध्याय, मुख्य दो भाग हैं। प्रथम में मीमासा, मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, शृङ्गोन्नति, भग्रहयुति, छाया, ये ९ अधिकार और द्वितीय में भुवनकोश, गोलबन्ध तथा यन्त्राधिकार हैं। अब तक वर्णित सिद्धान्तादि सब ग्रन्थो से इसमे एक विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ सायनमान का है। आरम्भ में ही मीमासाध्याय में इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि सायन-

[1] सुधाकर ने इस श्लोक द्वारा शक १५६२ निकाला है परन्तु दृष्टिदोष के कारण ऐसा हुआ है। उस शक में पौष की पूर्णिमा को तीसरा नक्षत्र होना—जैसा कि उन्होंने लिखा है—असम्भव है, छठा आता है। उससे योग १५६२ नहीं आता।

गणना ही मुख्य और देवर्षिसम्मत है। ग्रहो की प्रदक्षिणासख्या प्रभृति इस ग्रन्थ के मान ये है—

कल्प मे अर्थात् ४३२०००००० वर्षो मे—

रवि	४३२००००००	शनि	१४६८३५९८१
रव्युच्च	१७१९४५	सावनदिन	१५७७८४७७४८१०१
चन्द्र	५७७५०९६८९६५	सौरमास	५१८४००००००
चन्द्रोच्च	४८८३२७१०३	अधिमास	१५९०९६८९६५
मङ्गल	२२९६९६८६३९	चान्द्रमास	५३४३०९६८९६५
बुध	१७९३९५३४११४	तिथि	१६०२९२९०६८९५०
गुरु	३६४३५६६९८	क्षयाह	२५०८१३२०८४९

शुक्र ७०२२१८०५३८कल्पारम्भ से सृष्ट्युत्पत्ति पर्यन्त दिव्य वर्ष ९०४१०

वर्षमान ३६५ २४२५३४२८=३६५।१४।३३।७ ·०४४८

आधुनिक सूक्ष्म सायनवर्षमान ३६५।१४।३१।५३ ४२

स्पष्ट है कि पीछे वर्णित प्रत्येक सिद्धान्त के अङ्को से ये अङ्क बहुत भिन्न हैं। इसके कल्प दिन कम हैं, इस कारण वर्षमान भी दूसरो से न्यून है और प्रदक्षिणासख्याएँ अधिक हैं। शुक्र की प्रदक्षिणासख्या कम है परन्तु उसमे कुछ अशुद्धि मालूम होती है। ग्रहो मे निम्नलिखित बीजसस्कार दिया है—

> सृष्ट्यादितो गतसमा खयुगाङ्गनागै ४ (?) ६४० स्तप्ता गतैष्यत
> इहाब्दचयोऽल्पको य। ग्राह्य स एव विबुधैर्ग्रहबीजसिध्यै॥
> बीजाब्दास्त्र्यगसिन्धुभि ४७३० क्षितिभुजै २१० स्त्पाब्धिभि ४८०
> र्दोरसै ६२० पञ्चाङ्गै ६५० ४९० रुपाभ्रचन्द्रै १०१० क्रमात्।
> भूविश्वैर्दशसगुणैश्च विहृता लब्ध कलाद्य वियुक्
> सूर्यादिग्द्युचरेषु युक्तमथ तच्चन्द्रोच्चपाताख्यया॥
> सूर्योच्चे पञ्च लिप्ता. सदा स्वम्॥

ग्रन्थकार ने आरम्भ मे ही लिखा है—

> दृष्ट्वा रोमकसिद्धान्तं सौरञ्च ब्रह्मगुप्तकम्।
> पृथक् स्पष्टान् ग्रहान् ज्ञात्वा सिद्धान्त निर्ममे स्फुटम्॥१४॥

पता नही चलता, यह रोमकसिद्धान्त कौन सा है। मानो की भिन्नता से स्पष्ट है कि यह पञ्चसिद्धान्तिकोक्त अथवा टालमी का रोमक नही है। सिद्धान्तसम्राट्

(शक १६५१) में रोमकसिद्धान्त का उल्लेख है। वह सिद्धान्त कौन सा है और नित्यानन्दकथित रोमक वही है या दूसरा कोई—यह जानने का मेरे पास सम्प्रति साधन नही है। मालूम होता है, नित्यानन्द स्वय वेव करते थे। उनके समय (सन् १६३९ ई०) दिल्ली दरबार मे मुसल्मान ज्योतिषी रहे होगे और उनके पास मुसल्मानी ज्योतिष के कुछ ग्रन्थ रहे होगे। सिद्धान्तसम्राट् में इस प्रकार के कुछ ग्रन्थो का उल्लेख है। नित्यानन्द ने ये ग्रन्थ भी देखे होगे।

इस ग्रन्थ की प्रति मुझे कैलासवासी रावसाहब विश्वनाथ नारायण मण्डलीक के पास मिली। उन्होने यह जयपुर के एक विद्वान् की पुस्तक से लिखाई थी। इससे अनुमान होता है कि उस प्रान्त में यह सिद्धान्त प्रसिद्ध होगा। पता नही, पञ्चाङ्गादि गणित मे इसका प्रत्यक्ष उपयोग कभी होता था या नही।

कृष्ण—शक १५७५

काश्यपगोत्रीय महादेवात्मज कृष्णकृत 'करणकौस्तुभ' नामक एक करणग्रन्थ शक १५७५ का है। इसमें यह नही लिखा है कि यह ग्रन्थ अमुक सिद्धान्तानुसार बना है तथापि ग्रहकौतुक और ग्रहलाघव में थोडा सा फेरफार करके इसमे ग्रहगतियाँ और क्षेपक दिये है। ग्रन्थकार ने ग्रहकौतुककार केशव की वन्दना की है और आरम्भ मे लिखा है—

> प्रकुरु तत्करण ग्रहसिद्धये मृगमदृग्गणितैक्यविधायि यत्।
> इति नृपेन्द्रशिवाभिधनोदित प्रकुरुते कृतिकृष्णविपश्चिराट्।।

इससे ज्ञात होता है कि इन्होने उपर्युक्त दोनो ग्रन्थ और स्वकृत वेध के आधार पर यह ग्रन्थ बनाया है। इसमें लिखित 'शिव' मराठी राज्य के सस्थापक शिवाजी है। शक १५७५ (सन् १६५३ ई०) मे कृष्ण ग्रन्थलेखन और वेधादि में प्रवृत्त हो गये थे, इसमें सन्देह नही है। उस समय शिवाजी २६ वर्ष के थे और वे राज्यस्थापन के ही प्रपञ्च में लगे थे। उस स्थिति मे भी उन्होने ग्रन्थकार से दृक्प्रत्ययद ग्रन्थ बनाने को कहा, यह बात बडे महत्त्व की है। ग्रन्थकार ने लिखा है—'कृष्ण कोङ्कणसत्तटाकनगरे देशस्थवर्यो वसन्।' इससे ज्ञात होता है कि ये सह्याद्रिनिकटस्थ भावल नामक स्थान के निवासी देशस्थ महाराष्ट्र ब्राह्मण थे।

इस करण में मध्यग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। शक ४५० मे शून्य अयनांश और वार्षिकगति ६० विकला मानी है। ग्रहलाघव में ज्याचाप की सहायता नही ली गई है पर इसमें ली है। तन्त्ररत्न नामक इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इन्होने अपने करण को इसका भाग कहा है। मैंने तन्त्ररत्न नही देखा है।

रत्नकण्ठकृत पञ्चाङ्गकौतुक—शक १५८०

सुलभ रीति से पञ्चाङ्ग बनाने का यह एक सारणीग्रन्थ है। इसमे आरम्भशक १५८० है। यह खण्डखाद्यानुसारी है। इसके कर्ता रत्नकण्ठ है। इनका जन्मकाल शक १५४६ है। इनके पिता का नाम शकर था। शिवकण्ठ नामक पुत्र के लिए इन्होने यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि इस ग्रन्थ से पूरा पञ्चाङ्ग दो दिन मे बनाया जा सकता है। ऊपर हम मे लिख चुके है कि ये काश्मीरवासी होगे।

इस ग्रन्थ मे सूर्यचन्द्रगति और तिथ्यादि भोग्यमानो द्वारा तिथ्यादिको के घटी-पल लाने के लिए कोष्ठक बनाये है। स्पष्ट सूर्य-चन्द्र और उनकी गति लाने के बाद तिथ्यादि बनाने मे इस ग्रन्थ का उपयोग होगा अर्थात् इसमे तिथिचिन्तामणि की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पडेगा।

विद्दणकृत वार्षिकतन्त्र

यह ग्रन्थ प्रथम मुझे शोलापुर मे मिला। इसमें कलियुगारम्भ से गणित का आरम्भ किया है, इसीलिए इसे तन्त्र कहा है। कौडिन्य गोत्रीय मल्लय के पुत्र विद्दण ने इसे बनाया है। इसमे ग्रन्थकार का काल और स्थान नही लिखा है। इसकी एक टीका है, उसमें उदाहरणार्थ शक १६३४ लिया है। टीकाकार ने अपना नाम नही लिखा है। टीका से उनका स्थान बकापुर ज्ञात होता है। बकापुर की पलभा ३।१८ (अक्षाश लगभग १५।२५) और देशान्तर कार्तिक पर्वत से पश्चिम १३ योजन (लगभग १ अश) लिखा है अत यह धारवाड जिले मे है। इससे और ग्रन्थकार के नाम से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ कर्नाटक मे प्रचलित था और इसका रचनाकाल शक १६०० से प्राचीन है। बहुत प्राचीन भी हो सकता है। इसमे ग्रहलाघव का एक श्लोक है। पता नही, ग्रहलाघवकार ने वह इससे लिया है या इसी में ग्रहलाघव से लिया गया है।

इसमे वर्षमान और ग्रहभगण, सब वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार है और तदर्थ बीजसस्कार लिखा है। मकरन्द में बुधसस्कार ऋण और इसमे धन है। मकरन्द मे मङ्गल मे सस्कार नही दिया है पर इसमें २$\frac{1}{3}$ भगण धन दिया है। शेष बाते मकरन्द की तरह ही है। इस सस्कार से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ शक १४०० से प्राचीन नही होगा। आफ्रेचसूची में विद्दणकृत एक ग्रहणमुकुर नामक ग्रन्थ लिखा है।

जटाधरकृत फत्तेशाहप्रकाश-शक १६२६

यह करणग्रन्थ है। बदरी, केदार और श्रीनगर के चन्द्रवशीय राजा फत्तेशाह के राज्य का ४८ वाँ वर्ष अर्थात् शक १६२६ इस करण का आरम्भवर्ष है। इसके

रचयिता का नाम जटाधर, गोत्र गर्ग और उनके पिता, पितामह, प्रपितामह के नाम क्रमश वनमाली, दुर्गामिश्र और उद्धव है। जटाधर मरहिन्दनिवासी थे (प्रो० भाण्डारकर के पु० स० रिपोर्ट सन् १८८३-८४ का पृष्ठ ८४ देखिए)।

दादाभट

दादाभट अथवा दादाभाई नामक चितपावन महाराष्ट्र ब्राह्मण ने शक १६४१ मे सूर्यसिद्धान्त की किरणावली नाम की टीका की है। इनके पिता का नाम माधव और उपनाम गावकर था। सूर्यसिद्धान्तविचार में इस टीका का वर्णन कर चुके है। आफ्रेवसूची मे माधव का सामुद्रिकचिन्तामणि नामक एक ग्रन्थ लिखा है। दादाभट के पुत्र नारायण ने ताजकसुधानिधि के उपसहार में लिखा है कि माधव पशुपतिनगर में श्रीशपादाब्जसेवी थे, अत वे कदाचित् काशी मे रहे होंगे। माधव के दो पुत्र थे, दादाभट उनमे ज्येष्ठ थे। दादाभट के दो पुत्र थे, नारायण उनमें कनिष्ठ थे। नारायणकृत ग्रन्थ ये हैं—होरासारसुधानिधि, नरजातकव्याख्या, गणकप्रिया नामक प्रश्नग्रन्थ, स्वरसागर नामक शकुनग्रन्थ और ताजकसुधानिधि। इन ग्रन्थो का काल लगभग शक १६६० होगा।

जयसिंह

भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध मे जयसिंह एक अपूर्व पुरुष हुए। जिस समय हमारे देश में केशव और गणेश दैवज्ञ अन्वेषक ज्योतिषी हुए उसी समय यूरोपखण्ड में कोपर्निकस का जन्म हुआ। उस समय तक दोनो देशो में ज्योतिष शास्त्र की स्थिति प्राय. समान थी परन्तु यूरोप में वाद में क्रमश उन्नति होते होते उसमे बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। ग्रहगतिस्थिति के सम्बन्ध मे तो यहाँ तक कह सकते हैं कि यूरोपीय ज्योतिष अपनी पूर्णावस्था को पहुँच चुका है। यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा स्थित्यन्तर होने में दूरवीन की कल्पना और नौकागमन की आवश्यकता, ये दो बातें अधिक सहायक हुई तथापि इसका मुख्य कारण यह है कि उस देश मे उद्योगी और बुद्धिमान पुरुष बहुत से हुए। मुझे अपने देश में उनकी जोड़ी के पुरुष एक मात्र जयसिंह ही दिखाई देते हैं।

जयसिंह राजपूताने के एक राजा थे। विक्रमसवत् १७५० (शक १६१५, सन् १६९३ ई०) में ये आमेर में गद्दी पर बैठे। बाद में इन्होने वर्तमान जयपुर शहर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। इनके सिद्धान्तसम्राट में इन्हें मत्स्यदेशाधिपति कहा है। भारतीय, मुसल्मानी और यूरोपीय ज्योतिषग्रन्थो से दृक्प्रत्यय न होता देख-

कर इन्होंने वेधशालाएँ और नवीन यन्त्र बनवाकर उनके द्वारा वेध करके नवीन ग्रन्थ बनाना चाहा और तदनुसार बनवाया। जयपुर, इन्द्रप्रस्थ' (दिल्ली), उज्जैन, काशी और मथुरा में वेधशालाएँ बनवाईं, धातुओं के यन्त्र छोटे होते हैं और वे घिसते हैं, इत्यादि कारणों से वेधोपयोगी पत्थर और चूने के बड़े बड़े सुदृढ़ यन्त्र बनवाये, जयप्रकाश, यन्त्रसम्राट्, भित्तियन्त्र, वृत्तषष्ठांश इत्यादि कुछ नवीन यन्त्रों की कल्पना की और उत्तम ज्योतिषियों द्वारा सात आठ वर्ष वेध कराकर अरबी में जिजमहम्मद और संस्कृत में सिद्धान्तसम्राट् नामक ग्रन्थ बनवाया। उस समय दिल्ली का बादशाह महम्मदशाह था। प्रथम ग्रन्थ उसी के नाम पर बना है। इसी का नाम शायद मिजस्ति भी है, इसका रचनाकाल हिजरी सन् ११४१ (शक १६५०) है। सिद्धान्तसम्राट् शक १६५३ (सन् १७३१ ई०) में इन्होंने जगन्नाथ पण्डित द्वारा बनवाया है। मुख्यत यह मिजस्ति का ही अनुवाद है। इसमें १३ अध्याय, १४१ प्रकरण और १९६ क्षेत्रों का विवेचन है। इसमें शक १६५०, ५१, ५२ में किये हुए वेधों का उल्लेख है और उलुगवेग इत्यादिकों के कुछ प्राचीन वेधों की अपने वेधों से तुलना करके ग्रहगत्यादिक मान लाये गये हैं।

इस प्रान्त में मुझे सम्पूर्ण सिद्धान्तसम्राट् नहीं मिला। कोल्हापुर के राजज्योतिषियों की अपूर्ण पुस्तक से लिखाई हुई इसकी एक प्रति आनन्दाश्रम में है। उसके आरम्भ के दो अध्यायों में भूमिका रूप में खगोल और भूगोल का सामान्य विवेचन है। प्रथमाध्याय में १४ प्रकरण, १६ क्षेत्र और द्वितीयाध्याय में १३ प्रकरण २५ क्षेत्र हैं। इनके अतिरिक्त पुस्तक में यन्त्र, ज्याचापादिरेखागणितसाध्य, त्रिप्रश्न, मध्यम और स्पष्टाध्याय हैं। स्पष्टाध्याय अपूर्ण है। इतने में ६७ क्षेत्र हैं और इन सबों की ग्रन्थसंख्या लगभग ५५०० है अत सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग १० सहस्र होगा। उसकी ग्रन्थसंख्या ५० सहस्र होने की दन्तकथा का उल्लेख सुधाकर ने किया है पर यह असम्भव है। उन्होंने भी सम्पूर्ण ग्रन्थ नहीं देखा है।

जयसिंह की वेधशाला, वेध, ग्रन्थ और उनकी अदृष्टपूर्व बातों का विस्तृत वर्णन करने से एक छोटा सा ग्रन्थ बन जायगा। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उस समय यूरोपवालों की ग्रहगति स्थिति की अपेक्षा जयसिंह की अधिक सूक्ष्म होती थी। यह बात उनके और हमारे देश के लिए बड़ी भूषणास्पद है। इस ग्रन्थ में वर्षमान सायन लिया है और वार्षिक अयनगति लगभग ५१.४ मानी है। मालूम होता है, ग्रन्थ में सायनग्रह आते हैं। सायनग्रहों में अयनांश का संस्कार करके अर्थात् निरयण

' इन्द्रप्रस्थ के अक्षांश २८।३९ दिये हैं। ये वर्तमान अयनांशतुल्य ही हैं।

ग्रह लाना कहा गया है। सूर्यसिद्धान्तानुसार भी भगणादि मान देकर, मालूम होता है तदर्थ बीजसस्कार दिया है।

अरबी का सम्पूर्ण ग्रन्थ जयसिंह ने ही नही बनाया होगा। उनके यहाँ बहुत से विद्वान् रहते थे, उन्हींसे उन्होने बनवाया होगा। सिद्धान्तसम्राट् मे उसीके अधिकाश प्रकरणो का जगन्नाथ पण्डितकृत अनुवाद है। जयसिंह स्वय भी वेधकुशल, गणितज्ञ और ज्योतिषज्ञ थे। ग्रन्थ में लिखा है कि कुछ विषयो की उपपत्ति नवीन प्रकार से उन्होने स्वय की है। वेध करके दृक्तुल्य नवीन ग्रन्थ बनाने की कल्पना प्रथम उन्होंने की। उन्होने अपने यहाँ उत्तम कारीगर और अरबी, सस्कृत दोनो अथवा एक भाषा जानने-वाले विद्वान् रखे थे। वेध करने के लिए अन्य देशो मे भी ज्योतिषी भेजे थे। वेध का कार्य अनेक स्थानो मे और अनेक मनुष्यो द्वारा होता है, यह स्पष्ट ही है। जयसिंह-निर्मित नवीन यन्त्रो का वर्णन सिद्धान्तसम्राट् में है। उनकी वेधशालाओ और यन्त्रो का वर्णन आगे वेधप्रकरण में किया है।

सिद्धान्तसम्राट् में प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो के अतिरिक्त तैमूरलग के पौत्र उलुगबेग के हिजरी सन् ८४१ (शक १३५९) के ग्रन्थ का उल्लेख है। बूसनस्सर के ग्रन्थ का भी वर्णन है। इसका काल जयसिंह के ग्रन्थ से ६१९ वर्ष पूर्व ज्ञात होता है। ये वर्ष हिजरी सन् के होगे। रोमकसिद्धान्त तथा बतलमजुष और अबरखस नामक यवनाचार्यो का भी उल्लेख है। युक्लिड की भूमिति की १५ पुस्तको का रेखागणित नामक सस्कृत ग्रन्थ जयसिंह की आज्ञा से जगन्नाथ पण्डित ने शक १६४१ मे बनाया है। वह जयपुर प्रान्त में प्रसिद्ध है। पूना के आनन्दाश्रम में उसकी एक प्रति (ग्रन्थाङ्क ३६९३) है। इसमें युक्लिड का नाम नही है। लिखा है कि यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत ग्रन्थो द्वारा बनाया है परन्तु वह युक्लिड के ग्रन्थ के आधार पर बना है, इसमें सन्देह नही है। यह किसी अरबी ग्रन्थ के आधार पर बना होगा। मूल ग्रन्थ में उसके कर्ता के विषय मे कुछ नही लिखा रहा होगा अथवा उसे अपौरुष बताया होगा, इसी कारण सस्कृत ग्रन्थ में भी ऐसा ही लिखा गया होगा।

सुधाकर ने लिखा है कि जयसिंह ने जगन्नाथ को कुछ गाव दिये थे, वे अभी भी उनके वशजो के पास है। जयसिंह ने नयनसुखोपाध्याय नामक पण्डित से 'कटर' नामक एक और ग्रन्थ बनवाया है। वह युक्लिड के ग्रन्थ सरीखा ही पर उससे भिन्न स्वतन्त्र ग्रन्थ है। उसमें ३ अध्याय और उनमें क्रमश. २२, २३ (या २२), १४ अर्थात् सब ५८ या ५९ क्षेत्र (सिद्धान्त) है। प्रथम दो अध्यायो मे गोलीय वृत्तसम्बन्धी सिद्धान्त है। इसमें लिखा है कि मूल ग्रन्थ यूनानी (ग्रीक) भाषा में सावजूसयूस ने बनाया था। तदनन्तर अबुलअब्बास अहमद की आज्ञा से उसका अरबी मे

शङ्करकृत वैष्णवकरण—शक १६८८

शङ्कर [illegible] ब्राह्मण थे। इनके पिता इत्यादिकों के नाम मुकुन्द, [illegible], राम और [illegible] थे। शक १६८८ में इन्होंने वैष्णवकरण नामक करणग्रन्थ बनाया है। यद्यपि इन्होंने लिखा है कि मैं विष्णुगुप्त के मतानुसार ग्रन्थ बना रहा हूँ तथापि इनका ग्रन्थ [illegible] के मतानुसार है। सम्भव है, विष्णुगुप्त के स्थान में इनका उद्देश्य विष्णुसुत ब्रह्मगुप्त कहने का हो। इसमें लगभग ३०० श्लोक हैं। [illegible] शक १६८५ माना है। यद्यपि लिखा है कि इस ग्रन्थ के ग्रह दृक्तुल्य [illegible] प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। (गणकतरंगिणी पृ० ११०-११ देखिए)।

मणिरामकृत ग्रहगणितचिन्तामणि—शक १६९६

मणिराम भारद्वाजगोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके पिता इत्यादिकों के नाम उमणि, देवीदास और [illegible] थे। काश्यपगोत्रीय वल्लराज नामक पण्डित इनके गुरु थे। इन नामों से ये गुर्जर ज्ञात होते हैं। इनके कुलवृत्त सम्बन्धी श्लोकों से अनुमान होता है कि इनका नाम कदाचित् केवल 'राम' भी रहा होगा।

ग्रहगणितचिन्तामणि में शक १६९६ चैत्र शुक्ल १ रविवार (ता० १३ मार्च सन् १७७४) के प्रातःकाल के क्षेपक दिये हैं। वे ये हैं—

सू०	च०	च०उ०	रा०	च०	बु०शी०	गु०	शु०शी०	श०
११	११	१	५	१०	१	११	४	४
०	४	२९	१	१३	१७	२९	२३	२७
१५	५०	६	३६	४	५	५७	५४	४
१	६	२१	५५	५१	१२	०	५४	१२

ग्रहलाघव में न्यूनाधिक अंशादि (ग्रहलाघवचक्र २३ अहर्गण ३८८)

–	–	+	–	–	–	–	–	–
०	०	१	०	०	१	०	२	०
०	०	३६	१७	६	१४	२०	५६	९
२४	५१	८	२२	३८	३१	३३	३४	१७

अहर्गण न बढने देने के लिए ग्रहलाघव मे जो युक्ति की है वही इसमे भी है, अर्थात् ११ वर्षों का चक्र मानकर तत्सम्बन्धी ग्रहगति को चक्रशुद्ध कर उसका नाम ध्रुव रखा है। इसके ध्रुवाङ्क ग्रहलाघव मे सूक्ष्म है। ग्रन्थकार सूर्यसिद्धान्तानुयायी है तथापि उन्होने पूर्णतया सूर्यसिद्धान्त के ही ग्रह नही लिये है। इसी प्रकार इस ग्रन्थ की पद्धति प्राय ग्रहलाघव सदृश है तो भी इसमे ग्रहलाघवागत ग्रह नही लिये गये है। इसमे और उपसहार के—विद्वानो की लिखी हुई वेधपद्धति द्वारा वेध करके मैने यह ग्रन्थ बनाया है, विद्वान् यन्त्रो द्वारा इसका अनुभव करे—इस कथन से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने स्वय वेध करके तदनुसार क्षेपक दिये है।

इस ग्रन्थ मे मध्यमग्रहो मे रेखान्तरसस्कार दिया है और भुजान्तर तथा चर का सस्कार सब ग्रहो मे किया है। अयनाश सूर्यसिद्धान्तानुसार और ग्रहस्पष्टीकरण ग्रहलाघव की भाँति है। केवल मन्दाङ्क और शीघ्राङ्क कुछ भिन्न है। इसमें मध्यम, रविचन्द्रस्पष्टीकरण, ग्रहस्पष्टीकरण, लग्नादिसाधन, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, परिलेख, चन्द्रदर्शन, नलिकाबन्धादि शृङ्गोन्नति, उदयास्त, पात, ये १२ अधिकार और उनमे क्रमश १९, ११, १४, ७, ५, ३, ७, ३, २६, ४, ६, १५ अर्थात् सब १२० श्लोक है। पूना के आनन्दाश्रम में इसकी एक प्रति (ग्रन्थाङ्क ३१०३) है।

ग्रहलाघव के बाद वैसा ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न बहुतो ने किया है पर मुझे उनमें इसके ऐसा सुन्दर दूसरा ग्रन्थ नही मिला। इस ग्रन्थ के कर्ता की स्वतन्त्र योग्यता ग्रहलाघवकार सरीखी तो नही है, पर इन्होंने अपने मत मे ग्रह वेधतुल्य दिये है और केवल करणग्रन्थ की दृष्टि से देखा जाय तो इसकी योग्यता ग्रहलाघव से कम नही है, तथापि ग्रहलाघव का सर्वत्र प्रचार है और इतना समय बीतने पर भी अभी उससे गणित करने मे कठिनाई नही होती। इसके अतिरिक्त ज्योतिषियो ने थोडे परिश्रम में उससे गणित करने के लिए अनेक सारणियाँ बनाई है। इसी कारण ग्रहलाघव बाद में निर्मित ग्रन्थो के कारण नही दबा।

ब्रह्मसिद्धान्तसार—शक १७०३

इस नाम का एक ब्रह्मपक्षीय ग्रन्थ है। इसमें १२ अधिकार है और आरम्भवर्ष

मथुरानाथकृत यन्त्रराजघटना—शक १७०४

ये आदिगौड़ ब्राह्मण थे। गवर्नमेण्टपाठशाला के पुस्तकालय में ये सन् १८१३ से १८१८ तक (शक १७३५-४०) थे। ये ज्योतिषसिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता थे और शास्त्री भी अच्छे थे। यन्त्रराजघटना इन्होंने शक १७०४ में बनाई है। उसकी ग्रन्थसंख्या लगभग १००० है। काशी के सुप्रसिद्ध राजा शिवप्रसाद के पितामह डालचन्द (ढालचन्द) का इन्हें आश्रय था। इस ग्रन्थ में कुछ तारों के शक १७०४ के स्पष्ट भोगशर लिखे हैं (गणकतरङ्गिणी, पृष्ठ ११८-९)।

यन्त्रराज नामक एक वेधोपयोगी यन्त्र है। तद्विषयक यन्त्रराज नाम का ही एक शक १२९२ का ग्रन्थ है। उसका वर्णन आगे वेध प्रकरण में किया है। मथुरानाथ की यन्त्रराजघटना में उस यन्त्र की रचना, उसमें वेध करने की रीति इत्यादि का वर्णन होगा।

इनका ज्योतिःसिद्धान्तसार नामक एक ग्रन्थ शक १७०८ का है। उसमें ८ अध्याय हैं। मालूम होता है, यह ग्रन्थ यूरोपियन ग्रन्थों के आधार पर बना है। इनके पिता सदानन्द का मूलस्थान पटना था। बाद में ये काशी में रहने लगे थे।[1]

[1] काशी के रेजिडेण्ट जोनाथन डंकन साहब ने सन् १७९१ (शक १७१३) के २८ अक्टूबर को काशी संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। वह अभी तक है। उसमें प्राचीन शास्त्र और आधुनिक गणितादि शास्त्र संस्कृत में पढ़ाये जाते हैं।

निम्नलिखित कुछ गणित ग्रन्थो के नाम बाद में ज्ञात हुए हैं।

Notes on the Hindu Astronomy by J Burgess, 1893 द्वारा

(१) यूरोपियन लोगों को हिन्दू ज्योतिष का उल्लेखनीय ज्ञान प्रथम स्याम में मिले हुए एक ज्योतिष ग्रन्थ द्वारा हुआ। इसमें वर्षमान ३६५।१५।३१।३० (अर्थात् मूलसूर्यसिद्धान्त, खण्डखाद्य इत्यादिको इतना) है और क्षेपक २१ मार्च सन् ६३८ शनिवार अमावास्या के हैं—ऐसा क्यासिनि नामक फ्रेंच ज्योतिषी ने लिखा है। (मूलसूर्यसिद्धान्तानुसार शक ५६० में मध्यममेषसंक्रान्ति वैशाख शुक्ल २ तदनुसार

चिन्तामणि दीक्षित

इनका जन्मकाल लगभग शक १६५८ और मृत्युकाल शक १७३३ है। पेशवा के समय इन्हें १२५ रुपया दक्षिणा मिलती थी। ये सतारा के निवासी थे। इन्होंने

२२ मार्च सन् ६३८ रविवार को १२ घटी ५८ पल पर आती है और उसके पूर्व चैत्र का मध्यम अमान्त शुक्रवार को ४९ घटी ३५ पल पर अर्थात् यूरोपियन मान से २१ मार्च शनिवार को आता है।) मूलक्षेपक गोदावरी जिले के पीठापुर-निकटस्थ नरसिंहपुर के अथवा काशी के होने चाहिए। इस ग्रन्थ में सूर्वोच्च ८० अंश, रविपरमफल २।१४ और चन्द्रपरमफल ४।५६ है। इससे ज्ञात होता है कि यह मूलसूर्यसिद्धान्त अथवा उसके आधार पर निर्मित आर्यभट के अनुपलब्ध करणग्रन्थ के अनुसार बना है। (२) डल्लुमुडयन का करण—शक ११६५ (३) वाक्यकरण, कृष्णापुर—शक १४१३। इसमें क्षेपक पूर्व के फाल्गुन की अमावास्या—१० मार्च के हैं। वारन का कथन है कि इसके रचयिता वररुचि हैं। (४) पञ्चाङ्गशिरोमणि, नरसापुर—सन् १५६९ (अथवा १६५६)। इन दो ग्रन्थों में वर्षमान ३६५।१५।३१।१५ अर्थात् प्रथम आर्यसिद्धान्त के अनुसार है पर रविफल २।१०।३४ और चन्द्रफल ५।२।२६ है। (५) ग्रहतरङ्गिणी—शक (?) १६१८। (६) सिद्धान्त मञ्जरी —१६१९।

वारन के कालसंकलित द्वारा—(७) मल्लिकार्जुन का करण—शक ११००। इसमें अब्दप इत्यादि रामेश्वर की रेखा के हैं। मल्लिकार्जुन तैलग थे अतः यह ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तानुसार बना होगा। (८) बालादित्य कल्लू का करण ग्रन्थ—शक १३७८, रामेश्वर की रेखा।

केम्ब्रिज स्थित बेंटली के पुस्तकसंग्रह की सूची द्वारा—(९) ब्रह्मसिद्धान्त—इसमें २६ अध्याय है, उनमें से ११ गणित के हैं। शेष में मुहूर्त इत्यादिको का विचार है। आरम्भ का श्लोक है—ओंत्र्यर्क परमो ब्रह्मा त्र्यर्क परमः शिव.। (१०) विष्णु सिद्धान्त—इसमें ११ अधिकार हैं। उपर्युक्त ब्रह्मसिद्धान्त का ही श्लोक इसके भी आरम्भ में है। (११) सिद्धान्तलघुखमाणिक—यह ईसवी सन् की १५वीं शताब्दी में बना है। इसके कर्ता का नाम केशव है। इसमें ९ अधिकार है और यह सूर्यसिद्धान्तानुयायी है। (१२) सूर्यसिद्धान्तरहस्य—शक १५१३। इसके रचयिता राघव है। (१३) सूर्यसिद्धान्त मञ्जरी—शक १५३१। इसे शत्रुजित् राजा के ज्योतिषी मथुरानाथ ने बनाया है। (१४) ग्रहमञ्जरी—इसका रचनाकाल लिखा है पर समझ में नहीं आता।

सूर्यसिद्धान्त की सारणी बनाई है और शक १७१३ मे गोलानन्द नामक वेधयन्त्रविषयक ग्रन्थ बनाया है। उसका वर्णन आगे वेधप्रकरण में करेंगे। उस पर यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोडे की टीका है। चिन्तामणि दीक्षित के वशज इस समय सतारा मे रहते हैं। इनके पौत्र भाऊ दीक्षित चिपलूणकर मुझे शके १८०९ मे पूना में मिले थे। उन्होंने कहा था कि मेरे पास पीतल का गोलानन्द यन्त्र है और वेध के लिए दिक्साधन इत्यादि सतारा मे किया है। उनकी बतलायी बातो और चिन्तामणि के ग्रन्थ के आधार पर मैंने यह वृत्त लिखा है। गोलानन्द में इनका गोत्र वत्स, पितृनाम विनायक और पूर्वजो का वसतिस्थान चिपलूण लिखा है।

राघव

ये ताप्ती से दो योजन दक्षिण खानदेशान्तर्गत पारोले नामक स्थान मे रहते थे। नगर जिले में गोदातट पर पुण्यस्तम्भ (पुणतावे) मे भी रहते थे। इन्होने कुछ ग्रन्थ यही बनाये हैं। इनका उपनाम खाडेकर और पितृनाम आपा पन्त था।

इन्होने खेटकृति और पञ्चाङ्गार्क नामक गणितग्रन्थ और पद्धतिचन्द्रिका नामक जातकग्रन्थ बनाया है। खेटकृति शक १७३२ की है। यह प्राय ग्रहलाघवानुयायी ही है। इसमें ग्रहलाघव के आवश्यक विषय लिये गये हैं। गति इत्यादि कुछ मान ग्रह-लाघव से स्थूल हैं। मध्यमग्रहादि लाने के लिए भिन्न भिन्न युक्तियाँ दी है, इससे गणित करने में कही कही ग्रहलाघव से कुछ सरल पड जाता है। इसमे तिथिचिन्तामणि के श्लोक और स्वकालीन क्षेपको द्वारा तिथ्यादिसाधन भी किया है, तथापि इसकी योग्यता ग्रहलाघव से बहुत कम है। राघव का दूसरा ग्रन्थ पञ्चाङ्गार्क इससे अच्छा है। यह शक १७३९ का है। प्राचीन गणको ने पञ्चाङ्गसाधन किया पर उन्होंने अब्दपादि सज्ञाओ के कारण गुप्त रखे, इसलिए राघव ने पञ्चाङ्गार्क बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। यह पुणतावे मे बना है। केवल इसी ग्रन्थ से निर्वाह नही हो सकता, क्योकि इसमें पराख्य सस्कार लघुचिन्तामणि का लेने के लिए कहा है और केवल मध्यमग्रहसाधन किया है। स्पष्टीकरण बिलकुल नही है। पता नही, मध्यमग्रह किसको कहा है। वर्षमान ३६५।१५।३१।३१ लिया है और मध्यमग्रहसाधन वर्षगण द्वारा किया है। इसकी वर्षगतिया सूर्यसिद्धान्त की अपेक्षा बहुत स्थूल हैं। वे किसी कारण से बदली हैं, यह बात भी नही है। द्वितीय अध्याय में लग्नसाधन और तृतीय-चतुर्थ मे नक्षत्र द्वारा चन्द्रसूर्यग्रहणसाधन किया है। चारो अध्यायो मे सब १०३ पद्य हैं।

जातकग्रन्थ पद्धतिचन्द्रिका शक १७४० का है। वह पूर्णस्तम्भ में पूर्ण हुआ है।

उस पर शक १७४१ में कृष्णातीरान्तर्गत रेवडाग्रामस्थ खिरे इत्युपनामक रामात्मज आप्पा गोस्वामी ने ललिता नाम की टीका की है।

शिवकृत तिथिपारिजात

शिव विश्वामित्रगोत्रीय महादेव के पुत्र थे। इनका निवासस्थान लक्ष्मेश्वर था। इन्होंने शक १७३७ में तिथिपारिजात नामक ग्रन्थ बनाया है। वह ग्रहलाघवानुसारी है। उसमें तिथिसाधनार्थ तिथिचिन्तामणि सरीखी सारणियाँ दी हैं (देखिए गणकतरङ्गिणी)। पता नही, इनका निवासस्थान लक्ष्मेश्वर धारवाड जिले का ही लक्ष्मेश्वर है या अन्य कोई।

दिनकर

पूना के आनन्दाश्रम में दिनकर-विरचित और पूनानिवासी माधवराव पेडसे लिखित बहुत से ग्रन्थ हैं। एक ग्रन्थ में उदाहरणार्थ पलभा ४ और देशान्तर योजन २८ पश्चिम लिये हैं। ये पूना के हैं अत दिनकर पूना के ही निवासी रहे होंगे। दिनकरकृत यन्त्रचिन्तामणिटीका में इनके पिता का नाम अनन्त और गोत्र शाण्डिल्य है।

इन्होंने सब गणितग्रन्थ ग्रहलाघवानुसार सरल रीति से ग्रहगणित करने के लिए बनाये हैं। वे प्राय सारणीरूप हैं। उनमें उदाहरण भी करके दिखाये हैं, अत अध्ययन करनेवालो के लिए वे बडे उपयोगी हैं। ग्रन्थ ये हैं—(१) ग्रहविज्ञानसारणी—इसमें मध्यम और स्पष्टग्रहोपयोगी सारणियाँ हैं। उदाहरणार्थ शक १७३४, ३९ और ४४ लिये हैं। (२) मासप्रवेशसारणी—इसमे ताजिकसम्बन्धी वर्षप्रवेश, मासप्रवेश और दिनप्रवेश लाने के लिए दैनन्दिन स्पष्टरवि दिया है। उदाहरणार्थ शक १७४४, पलभा ४ और देशान्तरयोजन २८ पश्चिम लिया है। (३) लग्नसारणी, (४) क्रान्तिसारणी, उदाहरणशक १७५३, (५) चन्द्रोदयाङ्कजाल, उदाहरणशक १७५७, (६) दृक्कर्मसारणी, उदाहरणशक १७५८, (७) ग्रहणाङ्कजाल, उदाहरणशक १७५५—१७६१, (८) गणेशकृत पातसारणी (शक १४४४) की टीका, उदाहरणशक १७६१, (९) यन्त्रचिन्तामणिटीका—यह चक्रधरकृत यन्त्रग्रन्थ की टीका है।

दिनकर के ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि ये उत्तम कल्पक गणितज्ञ थे और इन्हें वेध का भी ज्ञान था।

ग्रहलाघव द्वारा प्रत्येक गणित करने के लिए, मुख्यत मध्यम और स्पष्टग्रहानयनोपयोगी दिनकर सरीखी सारणियाँ बहुत से ज्योतिषियो के पास मिलती हैं।

ग्रहलाघव के श्लोकों में बताई हुई रीतियों द्वारा गणित करने में इन सारणियों से पाँच छः गुना समय लगता है। वामन कृष्ण जोशी कन्नडकर ने शक १८०३ में ऐसी सारणियों का 'बृहत्पञ्चाङ्गसाधनोदाहरण' नामक ग्रन्थ छपाया है। केशवी में भी ऐसी सारणियाँ छपी हैं। ऐसे भी ज्योतिषी बहुत हैं जिन्हें इन युक्तियों की कल्पना तक नहीं है और वे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक गणित करते हैं।

यज्ञेश्वर अथवा बाबा जोशी रोडे

इनके पिता का नाम सदाशिव, पितामह का राम और गोत्र शाण्डिल्य था। चिन्तामणि दीक्षित सतारकर के ये दौहित्र थे। महाराष्ट्र में अंगरेजी राज्य होने के बाद पूना में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित हुई थी, उसमें ये सन् १८३८ के सितम्बर (शक १७६०) तक अध्यापक थे।[1] कब से थे, इसका पता नहीं है। मालवा प्रान्त में सिहोर में एक संस्कृत पाठशाला थी। वहाँ के मुख्य पण्डित सुबाजी बापू ने 'सिद्धान्तशिरोमणि-प्रकाश' नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ बनाया है। उसमें ज्योतिषसम्बन्धी, संस्कृतज्योतिष-सिद्धान्तमत और कोपर्निकस के मतों की तुलना की है। भारतीय अर्वाचीन इतिहास के कर्ता र० भा० गोडबोले ने लिखा है कि यज्ञेश्वर ने अपने 'ज्योतिषपुराणविरोध-मर्दन' नामक ग्रन्थ में इस ग्रन्थ का खण्डन किया है। क्याडीसाहब ने लिखा है कि ये बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् परन्तु दुराग्रहवश पुराणमत के अभिमानी थे। परन्तु नील-कण्ठकृत अविरोधप्रकाश नामक एक ग्रन्थ है, उसमें यह दिखलाया है कि ज्योतिष और पुराण के मतों में विरोध नहीं है। सिहोर के पोलिटिकल एजेंट विलकिनसन को भारतीय ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने सन १८४१ (शक १७६३) में सिद्धान्त-शिरोमणि कलकत्ते में छपाया है। उनके आदेशानुसार सुबाजी बापू ने अविरोधप्रकाश—खण्डनात्मक अविरोधप्रकाशविवेक नामक ग्रन्थ शक १७५९ में बनाया और उसे पूना में बाबा जोशी के पास भेजा। उन्होंने उसका मण्डन किया। गणकतरङ्गिणी में इस सम्बन्धी पत्रव्यवहार यथामूल दिया है।[2] यह वर्णन उसी के आधार पर लिखा है।

[1] पूना संस्कृत पाठशाला (Poona Sanskrit College) की स्थापना सन् १८२१ में दक्षिण के कमिश्नर चापलेन साहब ने की। सन् १८५१ में उसका स्वरूप बिलकुल बदल गया—या यों कहिये कि उस समय उसका सर्वथा लोप हो गया। (बोर्ड आफ एजुकेशन १८४०, ४१, ५१, ५२, की रिपोर्ट देखिए)।

[2] काशी में शिवलाल पाठक ने अविरोधप्रकाशखण्ड पर सिद्धान्तमञ्जूषा नामक

यज्ञेश्वरकृत ग्रन्थ ये है—यन्त्रराज पर इनकी शक १७६४ की यन्त्रराजवासना नाम की टीका है। चिन्तामणिदीक्षित-कृत गोलानन्द पर अनुभाविका नाम्नी टीका है। लघुचिन्तामणि की यज्ञेश्वरकृत मणिकान्ति नाम्नी टीका इन्ही की होगी। इन ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि इन्हे ज्योतिषसिद्धान्त का अच्छा ज्ञान था। गोलानन्द की टीका में इन्होंने प्रश्नोत्तरमालिका नामक स्वकृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

नृसिंह अथवा बापूदेव शास्त्री—जन्मशक १७४३

अगरेजी राज्य होने के बाद हमारे देश मे भारतीय और यूरोपीय दोनो गणितो और ज्योतिषशास्त्र मे जिन विद्वानो ने नैपुण्य प्राप्त किया, बापूदेव शास्त्री भी उन्ही में है। ये ऋग्वेदी चितपावन ब्राह्मण थे। इनका मूल-निवासस्थान अहमदनगर जिले में गोदातट पर टोके नाम का था। इनका जन्म शक १७४३ कार्तिक शुक्ल ६ तदनुसार सन् १८२१ की पहिली नवम्बर को हुआ था। इनके पिता का नाम सीताराम और माता का सत्यभामा था। इनका अध्ययन प्रथम नागपुर मे मराठी पाठशाला में हुआ, वही इन्होंने ढुण्ढिराज नामक कान्यकुब्ज विद्वान् से भास्करीय लीलावती और बीज-गणित पढे। शक १७६० में सिहोर के एजेंट एल० विलकिनसन साहब इन्हें गणित में निपुण देखकर सिहोर की सस्कृतपाठशाला में पढने के लिए ले गये। वहाँ इन्होंने सेवाराम से रेखागणित इत्यादि पढे। इसके बाद शक १७६३ (सन् १८४१) में विलकिनसन द्वारा काशीसस्कृतपाठशाला में रेखागणित पढाने के लिए इनकी नियुक्ति हुई। तब से अन्त तक वही रहे। इसी पाठशाला में ये शक १७८१ में मुख्य गणिताध्यापक हुए। शक १८११ में इन्हें पेंशन मिली और शक १८१२ में वैशाख में ६९ वर्ष की अवस्था मे परलोकवासी हुए।

इन्होंने बहुत से शिष्य तैयार किये। सन् १८६४ में ये ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैण्ड की रायल एशियाटिक सोसायटी के और सन् १८६८ मे बगाल की एशियाटिक सोसायटी के आदरकृत (Honorary) सभासद हुए। सन् १८६९ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय के पारिषद्य (Fellow) हुए। इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के भी ये पारिषद्य थे। अगरेजी सरकार की ओर से इन्हे सन् १८७८ में सी० आई० ई० और सन् १८८७ मे महारानी विक्टोरिया के शतार्वोत्सव के समय महामहोपाध्याय पदवी मिली थी। जम्मू के

और शिवलाल के लघुभ्राता के शिष्य बालकृष्ण ने दुष्टमुखचपेटिका नामक ग्रन्थ बनाया था। ये दोनों ग्रन्थ शक १७५९ के पहिले के है।

राजा ने एक बार इन्हें ठीक ठीक चन्द्रग्रहण लाने के पुरस्कार में एक सहस्र रुपया दिया था।

इनके बनाये हुए ग्रन्थ ये हैं—रेखागणित प्रथमाध्याय, त्रिकोणमिति का कुछ भाग, सायनवाद, प्राचीन ज्योतिषाचार्याशयवर्णन, अष्टादशविचित्रप्रश्नसग्रह सोत्तर, तत्त्वविवेकपरीक्षा, मानमन्दिरस्थ यन्त्रवर्णन, अङ्कगणित। इनमे से कुछ छोटे हैं और कुछ बडे। ये सस्कृत मे हैं और सब छप चुके हैं। इनके सस्कृत के अमुद्रित छोटे बडे ग्रन्थ ये हैं—चलनकलनसिद्धान्तबोधक २० श्लोक, चापीयत्रिकोणमितिसम्बन्धी कुछ सूत्र, सिद्धान्तग्रन्थोपयोगी टिप्पणियाँ, यन्त्रराजोपयोगी छेद्यक, लघुशङ्कुच्छिन्नक्षेत्रगुण। हिन्दी मे इन्होंने अङ्कगणित, बीजगणित और फलितविचार ग्रन्थ बनाये हैं। ये छप चुके हैं। सिद्धान्तशिरोमणि के विलकिनसनकृत इगलिश अनुवाद का इन्होंने सशोधन किया है और सूर्यसिद्धान्त का इगलिश मे अनुवाद किया है। ये दोनो आर्च डीकन प्राट की देखरेख में सन् १८६१-६२ मे छपे हैं। इन्होंने भास्करीय सिद्धान्तशिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय का सशोधन करके टिप्पणियो सहित उन्हे शक १७८८ और इसी प्रकार लीलावती सन् १८०५ मे छपाई है[1]।

शक १७९७ से १८१२ पर्यन्त ये नाटिकल आल्मनाक द्वारा पञ्चाङ्ग बनाकर छपाते थे। उसका वर्णन आगे पञ्चाङ्गविचार में किया है। इन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं बनाया है जिससे वह पञ्चाङ्ग बनाया जाय।

नीलाम्बर शर्मा—जन्मशक १७४५

गङ्गागण्डकी के सङ्गम से २ कोस पर पाटलिपुत्र (पटना) नगर इनका निवासस्थान था। ये मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शम्भुनाथ था। ज्येष्ठबन्धु जीवनाथ से और कुछ दिनो तक काशीसस्कृतपाठशाला में इन्होंने अध्ययन किया था। अलवर के राजा शिव के ये प्रधान ज्योतिषी थे। काशी मे शक १८०५ मे इनका देहान्त हुआ। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार इन्होंने सस्कृत में गोलप्रकाश नामक ग्रन्थ बनाया है। शक १७९३ में इसे काशी में बापूदेव शास्त्री ने छपाया है। इसमे पाँच अध्याय हैं। उनमे ज्योत्पत्ति, त्रिकोणमितिसिद्धान्त, चापीयरेखागणितसिद्धान्त, चापीयत्रिकोणमितिसिद्धान्त और प्रश्न विषय हैं। इगलिश न जाननेवालो के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। भास्करीय ग्रन्थो के कुछ भागो की इन्होंने टीकाएँ की हैं। इनके ज्येष्ठ बन्धु जीवनाथ ने भास्करीय बीज की टीका की है और भावप्रकाशादि फलग्रन्थ बनाये हैं।

[1] यह वृत्तान्त मुख्यत गणकतरङ्गिणी द्वारा लिखा है।

विनायक अथवा केरो लक्ष्मण छत्रे—जन्मशक १७४६

भारत मे अगरेजो का राज्य होने के बाद महाराष्ट्र के जिन लोगो ने पाश्चात्य विद्या मे नैपुण्य प्राप्त किया उनमे केरोपन्त नाना का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये मुख्यत गणित, ज्योतिष और सृष्टिशास्त्रो मे प्रवीण थे। इनका जन्म बबई से १३ कोस दक्षिण अष्टागर प्रान्त के समुद्रतटवर्ती नागाव नामक गाव मे सन् १८२४ की मई मे हुआ था। ये काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी चितपावन ब्राह्मण थे। इन्होने अगरेजी भाषा और तदन्तर्गत शास्त्रो का अध्ययन बम्बई के एल्फिन्स्टन इन्स्टिटयूशन नामक विद्यालय में किया था। प्रोफेसर आलिवार साहब के ये प्रिय शिष्य थे। सन् १८४० मे अन्तरिक्ष-चमत्कार और लोहचुम्बक का अनुभव करने के लिए बम्बई मे कुलाबा समुद्रतट पर एक वेधशाला बनी। उसके सस्थापक आलिवार साहब थे। उन्होने केरोपन्त को वहाँ असिस्टेट पद पर नियुक्त किया था। सन् १८५१ के जून की सातवी तारीख को पूना-सस्कृतपाठशाला के स्थान में पूनाकालेज बना। उसके कुछ मास बाद वहाँ के मराठी और नार्मलस्कूल-विभाग मे सृष्टिशास्त्र और गणित पढाने के लिए असिस्टेट प्रोफेसर पद पर इनकी नियुक्ति हुई। उस कालेज मे ये उन विषयो को मराठी और इगलिश मे पढाते थे। कुछ दिनो बाद उस कालेज का नार्मलस्कूलविभाग अलग कर दिया गया। उसमे ये कुछ दिनो तक अध्यापक रहे और बाद मे उसके सुपरिन्टेन्डेन्ट हो गये। उस समय वह विद्यालय वर्नाक्यूलरकालेज भी कहा जाता था। आजकल उसे ट्रेनिंग-कालेज कहते है। केरोपन्त उन दिनो इजिनियरिंगकालेज मे भी सृष्टिशास्त्र पर व्याख्यान दिया करते थे। बीच मे कुछ दिनो तक अहमदनगर के अगरेजी स्कूल मे हेडमास्टर थे। सन् १८६५ में पूनाकालेज मे गणित और सृष्टिशास्त्र के अध्यापक हुए। वहा इन विषयो को ये इगलिश मे पढाते थे। उसी कालेज का नाम बाद मे डेक्कनकालेज पडा। सन् १८७९ मे इन्होने पेंशन ले ली। उस समय इनका मासिक वेतन एक सहस्र रुपया था। भारतीयो को मिलनेवाली बहुत बडी पेंशन ५ सहस्र रुपया वार्षिक इन्हे मिली। सन् १८७७ में दिल्ली-दरबार के समय अगरेजी सरकार की ओर से इन्हें रावबहादुर की पदवी मिली। सन् १८८४ के १९ मार्च को ६० वर्ष की अवस्था मे इनका देहान्त हुआ। इनका लोकप्रिय नाम नाना था। इनके अनेक सद्गुणो मे से सतत विद्याव्यासङ्ग और स्वभावसौजन्य विशेष प्रशसनीय है।

शक १७७२ के लगभग इन्होने फ्रेंच और इगलिश ज्योतिषग्रन्थो के आधार पर मराठी में 'ग्रहसाधनकोष्ठक' नामक ग्रन्थ बनाया है और उसे शक १७८२ (सन् १८६०

ई०) मे छपाया'। इसके पहिले मराठी या सस्कृत मे ऐसा ग्रन्थ नही था इसलिए इसकी उपयोगिता बहुत बडी है।

इस ग्रन्थ मे वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय और ग्रहगतिस्थिति सायन ली गई है, इसलिए इससे सायनग्रह आते है। रेवती योगतारा ज़ीटापीसियम मानी है। वह शक ४९६ मे मेषसम्पात मे थी इसलिए ४९६ मे शून्य अयनाश माना है और अयनगति प्रतिवर्ष ५० २ विकला मानकर तदनुसार अयनाश लाकर उसका सायनग्रहो मे सस्कार करके निरयण ग्रह लाने को कहा है। ऐसा करने से निरयण वर्षमान शुद्ध अर्थात् ३६५।१५। २३ मानने सरीखा हो जाता है। यह वर्षमान और ५० २ विकला अयनगति मान कर नाना ने शक १७८७ से नाटिकल आल्मनाक द्वारा अपना स्वतन्त्र पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। कैलासवासी आबा साहब पटवर्धन इनके बहुत बडे सहायक थे। उपर्युक्त ग्रन्थ भी उन्ही की प्रेरणा मे बना था। नाना ने अपने पञ्चाङ्ग का नाम पटवर्धनी ही रखा। ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा ग्रहस्थिति बहुत शुद्ध आती है परन्तु उसका और पटवर्धनी पञ्चाङ्ग का प्रचार नही है। उस पञ्चाङ्ग को प्राय कोई नही मानता। उसका विस्तृत वर्णन आगे करेगे।

तिथिसाधन के लिए नाना ने चिन्तामणि सरीखा एक ग्रन्थ बनाया है, वह काशी मे छपा है। यहाँ उसे छपानेवाला कोई नही मिला। इधर लोग प्राय उसे जानते भी नही है और न तो वह कही मिलता ही है। ग्रहसाधनकोष्ठक भी अब नही मिलता। उसमे वर्ष शुद्ध निरयण नही है और ग्रह सायन है इसलिए उससे ग्रहलाघवीय निरयण, शुद्ध निरयण या सायन कोई भी पञ्चाङ्ग नही बनाया जा सकता। इसके अतिरिक्त उससे पञ्चाङ्ग बनाने मे लाग्रथम और त्रिकोणमिति की आवश्यकता पडती है। प्राचीन ज्योतिषियो के लिए वह बिलकुल निरुपयोगी है। उससे गणित करनेवाले दस पाँच नवीन शिक्षित भी शायद ही मिलेगे। नाना ने मराठी पाठशालोपयोगी पदार्थ-विज्ञान शास्त्र और अङ्कगणित नाम की दो पुस्तके लिखी है। महाराष्ट्र मे उनके प्रत्यक्ष और परम्परागत शिष्य सहस्रो है।

विसाजी रघुनाथ लेले—जन्मशक १७४९

हमारे देश मे ये एक अत्यन्त बुद्धिमान् तथा कल्पक पुरुष हो गये है। इनका जन्म शक १७४९ मे ग्रहलाघवीय मान से श्रावण कृष्ण १० शुक्रवार को मकर लग्न मे नासिक

' R S Vince ने सन् १९०८ में एक ग्रन्थ बनाया था। कृष्णशास्त्री गोडबोले का कथन है कि यह ग्रन्थ उसी के आधार पर बना है।

में हुआ था। ये काश्यपगोत्रीय हिरण्यकेशीय शाखा के महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण थे। लडकपन में ११ वर्ष की अवस्था तक इन्होने नासिक के एक मराठी स्कूल में पूर्णाङ्क अपूर्णाङ्क इत्यादि सीखा और अपने मामा के यहाँ थोडा सा संस्कृत का अभ्यास किया। गुरु-मुख से इन्होने बस इतना ही अध्ययन किया था, परन्तु अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और सतत प्रयत्न द्वारा अपनी योग्यता इतनी बढा ली थी कि गणित सम्बन्धी उन प्रश्नो को जो कि विश्वविद्यालय के पदवी-प्राप्त लोगो के लिए भी असाध्य थे—सुलझा दिया करते थे। नासिक में कुछ दिन फुटकर नौकरियाँ करने के बाद ये शक १७८२ के लगभग ग्वालियर गये। बाद में सिंधिया सरकार के राज्य में पैमाइश और हिसाबी खाते में नौकर हो गये थे। ये नागरी और मोडी लिपियो के अक्षर बडे सुन्दर लिखते थे और नकशा बडा अच्छा बनाते थे। इनके हिसाब मे तो अशुद्धि कभी होती ही नही थी। ३३ वर्ष नौकरी करने के बाद शक १८१६ के लगभग पेंशनर हुए और शक १८१७ कार्तिक कृष्ण ६ शुक्रवार को ६९ वर्ष की अवस्था मे ग्वालियर में स्वर्गवासी हुए[1]।

सायन पञ्चाङ्ग

बहुत से लोग ऐसा सोचते है कि पञ्चाङ्ग सायन होना चाहिए। लेले के पहिले बहुतो का ऐसा विचार रहा होगा और था। इनके मन में भी यह बात स्वभावत ही आई। इनका यह निश्चय हो गया था कि सायन पञ्चाङ्ग धर्मशास्त्रानुकूल है। कुछ दिन तक ये ग्रहलाघव की सहायता से साधारण सायन पञ्चाङ्ग बनाते थे। बाद में नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाने लगे, परन्तु कई वर्ष तक उसे प्रकाशित करने का सुयोग प्राप्त नही हुआ। नाटिकल आल्मनाक के समझने योग्य साधारण इगलिश का ज्ञान इन्होने स्वय सम्पादित किया था। शक १७८७ से केरोपन्त ने शुद्ध निरयण पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। वे सायन मान स्वीकार करें—इस उद्देश्य से लेले ने 'स्फुटवक्ता अभियोगी' नाम से समाचार-पत्रो द्वारा कई वर्ष तक वाद किया, परन्तु उन लेखो पर तथा पञ्चाङ्ग की धर्मशास्त्रानुकूलता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न होते देखकर उनसे वादविवाद करना छोड कर शक १८०६ से कुछ लोगो के साथ ये अपना स्वतन्त्र सायन पञ्चाङ्ग बनाने लगे। आगे पञ्चाङ्ग प्रकरण में उसका वर्णन किया है।

[1] इनसे मेरा प्रत्यक्ष और पत्र द्वारा परिचय था। यह चरित्र प्राय उसी के आधार पर लिखा है। सन् १८८८ के अक्टूबर की बालबोध मासिक पत्रिका में इनका जीवन-चरित्र प्रकाशित हुआ है।

इन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ नही बनाया जिससे सायन पञ्चाङ्ग बनाया जा सके अतः उनका प्रचार होना पराधीन है।

चिन्तामणि रघुनाथ आचार्य—जन्मशक १७५०

उनका जन्म सौरमान से शक १७४९ सर्वजित् संवत्सर मे फगुणी मास के छठे दिन अर्थात् चान्द्रसौर मान से शक १७५० चैत्र शुक्ल २ तदनुसार १७मार्च सन् १८२८ को हुआ था। इनकी जन्मभाषा और देश तामिल (द्राविड) प्रतीत होता है। महाराष्ट्र में केरोपन्त और काशी की ओर बापूदेव शास्त्री की भाँति मद्रास प्रान्त में इनकी विशेष प्रसिद्धि थी। ये मद्रास की ज्योतिष-वेधशाला में १७ वर्ष तक फर्स्ट असिस्टेंट पद पर थे। इन्होंने स्वय लिखा है कि मुझे संस्कृत भाषा नही आती, पर यूरोपियन गणित और ज्योतिष का उत्तम ज्ञान होने के कारण इन्हें भारतीय ज्योतिष का ज्ञान सहज ही हो गया था और वेध मे तो बडे प्रसिद्ध थे। सन् १८७२ मे ये विलायत की रॉयल ऐस्ट्रानामिकल सोसायटी के फेलो थे। सन् १८४७ में मद्रास की वेधशाला मे नियुक्त हुए और अन्त तक वही रहे। शक १८०१ पौष तदनुसार ५ फरवरी को ५२ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ। ज्योतिष इनका वंशपरम्परागत विषय था। इनके पिता भी मद्रास की वेधशाला में असिस्टेंट थे। मद्रास वेधशाला के तारास्थितिपत्रक (कैटलाग) के बहुत से वेध इन्होंने किये है। सन् १८६७ और १८६८ में इन्होंने दो रूपविकारी तारो की खोज की। ऐसे आविष्कार करनेवाले हिन्दुओ की सूची मे आपका नाम प्रथम है।

इन्होंने 'ज्योतिष-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ बनाया है। मालूम होता है यह द्राविडी (तामिल) भाषा में है। इसमें तीन भाग है। प्रथम मे मध्यम गति तथा पृथ्वी प्रभृति ग्रहो के आकार और विस्तार इत्यादि का वर्णन है और द्वितीय मे स्फुट गति-स्थिति इत्यादि है। इस ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद करके उसे तामिल, तैलगू और देवनागरी लिपियो मे छपाने के विषय में विचार करने के लिए सन् १८७४ में मद्रास मे एक सभा हुई थी। उसमें अनुमान किया गया था कि इसकी ५०० प्रतियाँ छपाने में लगभग ७००० रुपये लगेंगे और ग्रन्थ मे आठ पेजी साचे के लगभग ८०० पृष्ठ होंगे, परन्तु ग्रन्थ छपा नहीं[1]।

[1] सन् १८७४ में शुक्रग्रस्त सूर्यग्रहण हुआ था। रघुनाथाचार्य ने उसका गणित करके उसे अनेक भाषाओ में प्रकाशित कराया था। उनके अंगरेजी ग्रन्थ में इस उद्योग का वर्णन है। मैंने उनका यह जीवन-चरित्र मुख्यत उस ग्रन्थ के आधार पर तथा मद्रास

शक १७९१ मे ये नाटिकल आल्मनाक के आधार पर दृग्गणित-पञ्चाङ्ग नामक पञ्चाङ्ग बनाते थे। इनके बाद इनके दो पुत्रो द्वारा बनाया हुआ शक १८०८ का पञ्चाङ्ग मैंने देखा है। उसमे अयनाश २२।५ और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का ज्ञात होता है। इनके ज्येष्ठ पुत्र सी० राघवाचार्य शक १८११ मे स्वर्गवासी हुए। आजकल इनके कनिष्ठ पुत्र तथा मद्रास वेधशाला के वर्तमान फर्स्ट असिस्टेंट पी० राघवाचार्य वह पञ्चाङ्ग बनाते है।

कृष्णशास्त्री गोडबोले—जन्मशक १७५३

ये कौशिक गोत्रीय हिरण्यकेशीय शाखाध्यायी महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण थे। इनका जन्म शक १७५३ मे श्रावण कृष्ण १० तदनुसार १ सितम्बर को वाई मे हुआ था। विद्याभ्यास पहिले पूना के एक मराठी स्कूल मे और उसके बाद सस्कृतपाठशाला तथा पूनाकालेज मे हुआ। गणित की रुचि इन्हे बाल्यावस्था से ही थी। शकर जोशी से इन्होंने ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन किया। १९ अक्टूबर सन् १८५५ को पूनाकालेज के नार्मल स्कूल में अध्यापक पद पर नियुक्त हुए। वहाँ मुख्यत गणित पढाते थे। १८६४-१८६५ मे कुछ दिन बम्बई मे कुलाबा वेधशाला मे, १८६५ में फिर पूना के ट्रेनिंग कालेज मे, १८६६ मे सिंध के हैदराबाद हाईस्कूल मे और १८६७ मे कराची हाईस्कूल में नियुक्त हुए। १८७२ में कुछ दिन पूना हाईस्कूल मे और बाद मे कुछ दिन बम्बई के एल्फिन्स्टन हाईस्कूल मे असिस्टेंट मास्टर थे। उसके बाद उसी साल से १८८२ के मार्च तक बम्बई में फणसवाडी ऐंग्लो-मराठी स्कूल के हेडमास्टर थे। इसके बाद पेंशन लेकर पूना में अपने घर ही रहने लगे थे। १८८६ की २२ नवम्बर को इनका देहान्त हुआ। सिन्ध प्रान्त मे रहते समय इन्होने सिन्धी भाषा का अच्छा अध्ययन किया था। साथ ही साथ कुछ फारसी भी सीखी थी। १८७१ से १८७९ तक बम्बई की विश्वविद्यालयपरीक्षा में ये सिन्धी भाषा के परीक्षक थे।

शक १७७८ में इन्होंने और वामन कृष्ण जोशी गद्रे ने मिलकर ग्रहलाघव का सोदाहरण मराठी अनुवाद किया। इसकी दो आवृत्तियाँ छप चुकी है। अधिकतर यह विश्वनाथी टीका का अनुवाद है। इन्होने मराठी में ग्रहलाघव की उपपत्ति भी लिखी है। मालूम होता है, उसमें मल्लारि की टीका के दोष सुधारे है। यह छपाने योग्य है। शक १८०७ के लगभग लिखा हुआ इनका ज्योतिषशास्त्र के इतिहास का एक छोटा सा

के श्री एस० एम० नटेशशास्त्री द्वारा भेजी हुई समाचारपत्र इत्यादि में छपी बातो के आधार पर लिखा है।

लेख मैंने देखा है। सन् १८६२ मे चेम्वर्स की अगरेजी पुस्तक के आधार पर इन्होने मराठी मे 'ज्योति शास्त्र' नामक एक पुस्तक लिखकर छपवाई है। आजकल वह प्रचलित नही है। हुडन के वीजगणित के प्राचीन मराठी अनुवाद का सशोधन करके इन्होने उसे सन् १८५४ मे छपाया। वह वहुत दिनो तक स्कूलो मे चलता रहा। सन् १८७४ मे इन्होने और गोविन्द विट्ठल करकरे ने मिलकर युक्लिड के रेखागणित की प्रथम चार पुस्तको का मराठी मे अनुवाद किया। इसके पहिले मराठी स्कूलों में युक्लिड की पुस्तको का नाना शास्त्री आपटेकृत अनुवाद पढाया जाता था। बाद में सन् १८८५ से कैलासवासी रा० मो० देवकुले की पुस्तक पढाई जाने लगी। इन्होने सन् १८८२ मे अगरेजी मे 'वेदो का प्राचीनत्व' शीर्षक एक निवन्ध थियासफिस्ट मासिक पत्रिका मे दिया था, वह अलग छपा है। मैं समझता हूँ, उसमे कोई ऐसा प्रवल हेतु नही दिखाया गया है जिससे वेदकाल शकपूर्व १२०० वर्प से प्राचीन निर्विवाद सिद्ध किया जा सके। गीता के 'मासाना मार्गशीर्पोऽहम्' वाक्य द्वारा मार्गशीर्प मे वसन्त मानकर उसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि वेद शकपूर्व ३० सहस्र वर्प से प्राचीन है। इन्होने सन् १८६८ मे सिंधी भापाविपयक एक पुस्तक लिखी और सन् १८६९ में सिन्धी भापा मे अङ्कगणित की एक पुस्तक वनाई। सन् १८६७ मे मराठी का एक उत्तम तथा लोकप्रिय व्याकरण वनाया। सन् १८९५ मे उसकी तृतीय आवृत्ति छपी है[1]।

एक वार इनका यह मत प्रकाशित हुआ था कि पञ्चाङ्ग मध्यम सूर्य-चन्द्र द्वारा वनाना चाहिए।

पूर्वोक्त वामन कृष्ण गद्रे ने शक १७९१ मे पञ्चाङ्गसाधनसार नामक ग्रन्थ छपाया है। उसमें लघुचिन्तामणि का सोदाहरण मराठी अनुवाद है। सारणियो मे अशुद्धिया वहुत हैं।

[1] वह शास्त्रीजी के सुपुत्र अनन्त कृष्ण ने छपवाई है। उसमें उन्होंने कृष्ण शास्त्री का जीवन-चरित्र लिखा है। उसके आधार तथा स्वयं प्राप्त की हुई जानकारियो द्वारा मैंने इनका यह जीवनचरित्र लिखा है।

विद्यमान ज्योतिषगणित ग्रन्थकार

वेंकटेश बापूजी केतकर

इनका जन्मकाल शक १७७५ पौष शुक्ल १४ शुक्रवार है। ये गार्ग्य गोत्रीय ऋग्वेदी महाराष्ट्र चितपावन ब्राह्मण हैं। इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग मे ये सन् १८७४ मे शिक्षक हुे। इधर कई वर्षो से बागलकोट के अगरेजी स्कूल मे हेडमास्टर है। इनका अध्ययन प्राय बेलगाव मे हुआ। इनके पिता भी अच्छे ज्योतिषी थे। केरोपन्तीय ग्रहसाधन कोष्ठक का उन्होने सस्कृत मे अनुवाद किया है। वह अभी छपा नही है। इनके पूर्वजो की पाँच छ पीढियाँ पैठण मे रही थी। बापू शास्त्री वहाँ से नरगुन्द और बाद में रामदुर्ग गये। वहाँ के सस्थानिको का उन्हें आश्रय था।

इन्होने 'ज्योतिर्गणित' नामक एक बडा उपयोगी सस्कृत ग्रन्थ शक १८१२ के लगभग बनाया है। उसमे आरम्भवर्ष शक १८०० है। नाटिकल आल्मनाक जिस फ्रेंच ग्रन्थ द्वारा बनता है उसी के आधार पर यह बनाया गया है। इससे लाये हुए ग्रह अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। उनमें और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए ग्रहो में एक कला से अधिक अन्तर नही पडता। हमारे देश मे आज तक ऐसा ग्रन्थ नही बना था। इसमे वर्षमान शुद्ध नाक्षत्र अर्थात् ३६५।१५।२२।५३ और अयनगति वास्तव अर्थात् लगभग ५०.२ विकला मानी गई है। झीटापिशियम को रेवती का योग-तारा मानकर उसका भोग अयनाश माना गया है, अर्थात् शक १८०० में १८°।१०'।२५" अयनाश माने गये हैं। ग्रहलाघवोक्त अयनाश के पास के अयनाश ग्रहण करने की सूचना मैंने इन्हें दी थी। रेवती के जिस तारा का भोग ग्रहलाघवीय अयनाश तुल्य है, उसे भगणारम्भ-स्थान माना जा सकता था। अथवा चित्रा-तारा का भोग १८० अश मानने से भी ग्रहलाघव के पास अयनाश आ सकते थे और यह बात केतकर के भी ध्यान में आ चुकी है। साराश यह कि शक १८०० मे यदि २२ के लगभग अयनाश माने होते, तो मै समझता हूँ इनका ग्रन्थ सहज प्रचलित हो गया होता[1]। इसमें मुख्य चार भाग है। प्रथम में पञ्चाङ्ग गणित

[1] इन्होने ऐसा ही किया है। बाद में इनका मत बदल गया था और ये चित्रा पक्ष के समर्थक तथा झीटा-पक्ष के कट्टर विरोधी हो गये थे। इस विषय में समाचारपत्रो द्वारा महाराष्ट्र के अन्य विद्वानो से इनका बहुत दिनो तक शास्त्रार्थ होता रहा, पर अन्त तक कोई निर्णय नहीं हो सका और न तो निकट भविष्य में होने की कोई आशा है। इन्होंने ज्योतिर्गणित की द्वितीय आवृत्ति में कुछ सुधार करने का आदेश किया था, उनमें एक यह भी था। उनके उद्देश्य के अनुसार ज्योतिर्गणित की द्वितीय संशोधित आवृत्ति में

है। क्षेपक सर्वत्र स्पष्ट मेपसक्रान्ति-कालीन हैं। द्वितीय में ग्रहस्थानगणित है। उसमे ग्रहो के मध्यम और स्पष्ट भोग, विपुवाश, नक्षत्र-ताराओ के भोगादि तथा खस्थो के उदय अस्त इत्यादि विषय हैं। तृतीय मे ग्रहण, युति, शृङ्गोन्नति इत्यादि चमत्कारो का गणित है। चतुर्थ मे त्रिप्रश्नाधिकार के लग्नमान इत्यादि विषय हैं। ग्रन्थ मे प्राय सर्वत्र रीति, उदाहरण, कोष्ठक और उपपत्ति—यह क्रम है। प्राय सभी गणितो के लिए कोष्ठक बनाये रहने के कारण त्रिकोणमिति, लाग्रथम इत्यादि न जाननेवाला गणक भी इससे गणित कर सकता है। इससे केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग भी बनाया जा सकता है। यह ग्रन्थ अभी छपा नही है।

बाल गङ्गाधर तिलक

इनका जन्मकाल शक १७७८ आषाढ कृष्ण ६ बुधवार-कर्कलग्न है। इनकी इस देश में ही नही परदेश मे भी बडी प्रसिद्धि है। ये फर्ग्युसन कालेज मे बहुत दिनो तक गणित, ज्योतिप इत्यादि विषयो के मुख्य अध्यापक थे।

इन्होने सन् १८९३ (शक १८१५) मे इगलिश में Orion नामक ग्रन्थ बनाया है। उसमें ऋग्वेद के सूक्तो और अन्य श्रुत्यादि प्रमाणो के आधारपर इस बात का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है कि जिस समय Orion (मृग) नक्षत्रपुञ्ज में वसन्तसम्पात था अर्थात् शकपूर्व ४००० वर्ष के लगभग ऋग्वेद के कुछ सूक्तो की रचना हुई।

श्री दत्तराज ने चित्रा के ठीक सामने १८० अंश पर भगणारम्भ मानकर शके १८०० में २२।९ अयनांश को शास्त्रीय प्रमाणो द्वारा गणितशुद्ध, शास्त्रशुद्ध तथा परम्परा-शुद्ध सिद्ध किया है।

"तस्मात् खखाष्टभू १८०० शाके द्वाविंशत्ययनांशकाः।
कलाभिर्नवभिर्युक्ताः सिद्धास्ते स्वीकृता मया॥"

फिर भी यह विषय अभी वाद-ग्रस्त ही है। बहुत-से विद्वान् इसे शास्त्रीय वचनो के आधार पर अशास्त्रीय और अशुद्ध सिद्ध करते हुए जीटापिशियम को ही रेवती-योगतारा मानने की सलाह देते हैं। इस विषय में ज्योतिर्गणित की भूमिका में वेंकटेश और दत्तात्रय केतकर के लेख, श्री रघुनाथ शास्त्री पटवर्धन द्वारा सम्पादित साप्ताहिक पत्र भविष्य-चिन्तामणि के सन् १९३५ के अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर और नवम्बर के सब अङ्क तथा मराठी केतकर-चरित्र इत्यादि के लेख पठनीय हैं। दोनो पक्षो की ओर से संप्रयुक्त शास्त्रार्थ की भाषा इतने बड़े-बड़े विद्वानो को शोभा नहीं देती।

(—अनुवादक)

विनायक पाण्डुरङ्ग खानापुरकर

इनका जन्मकाल शक १७८० है। ये जामदग्न्यगोत्रीय ऋग्वेदी महाराष्ट्र देशस्थ ब्राह्मण है। इनका स्थान सतारा जिले में खानापुर नामक है। इन्होने प्राचीनपद्धति से संस्कृतभाषा और ज्योतिष इत्यादि का अध्ययन किया है, साथ ही साथ केरोपन्त, नाना छत्रे और रावजी मोरेश्वर देवकुले से यूरोपियन गणित और ज्योतिष का भी अध्ययन किया है। पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा में—जिसकी स्थापना शक १७९६ में हुई है—इनकी भारतीय ज्योतिष और संस्कृत व्याकरण की परीक्षा हुई है।

इन्होने 'वैनायकीय द्वादशाध्यायी' नामक वर्षफलोपयोगी बड़ा ही सरल ताजिक-ग्रन्थ बनाया है। इनके संस्कृत ग्रन्थ है कुण्डसार, अर्घकाण्ड, युक्लिड की दो पुस्तको की प्रतिज्ञाओ का श्लोकबद्ध संस्कृत अनुवाद और सिद्धान्तसार। सिद्धान्तसार में आधुनिक मतानुसार पृथ्वी की गति इत्यादि का विवेचन किया है। इन्होने भास्करीय लीलावती, बीजगणित और गोलाध्याय के मराठी में सोपपत्तिक अनुवाद किये हैं और इस समय गणिताध्याय का कर रहे हैं। ये ग्रन्थ अभी छपे नही हैं।

सुधाकर द्विवेदी

इनका जन्मकाल शक १७८२ चैत्र शुक्ल ४ सोमवार है। ये इस समय काशी के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज मे गणित और ज्योतिष के मुख्य अध्यापक है। शक १८११ में बापूदेव शास्त्री के पेंशन लेने पर उनके स्थान में इनकी नियुक्ति हुई। इसके पहिले ये वही पुस्तकालयाध्यक्ष थे। इगलिश गवर्नमेन्ट की ओर से इन्हे महामहोपाध्याय पदवी मिली है। इनके बनाये हुए संस्कृत ग्रन्थ ये है—

(१) दीर्घवृत्तलक्षण, शक १८००—इसमें दीर्घवृत्त के नियम विस्तारपूर्वक सोपपत्तिक बतलाये हैं। (२) विचित्रप्रश्न सभङ्ग शक १८०१—इसमे गणितसम्बन्धी २० कठिन प्रश्न और उनके उत्तर है। (३) वास्तव-चन्द्रशृङ्गोन्नति-साधन, शक १८०२—इसमें लल्ल, भास्कर, ज्ञानराज, गणेश, कमलाकर और बापूदेव के शृङ्गोन्नतिसाधन के दोष दिखलाकर यूरोपीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सूक्ष्म शृङ्गोन्नति साधन बतलाया गया है। इसमे ९२ श्लोक हैं। (४) द्युचरचार, शक १८०४—इसमें आधुनिक यूरोपीय ज्योतिषशास्त्रानुसार ग्रहकक्षा-मार्ग का विवेचन है। (५) पिण्डप्रभाकर, शक १८०७—यह वास्तुविषयक ग्रन्थ है। (६) भाभ्रमरेखा-निरूपण—इसमें सूचीछेदविचारपूर्वक छाया के भ्रमणमार्ग का ज्ञान कराया गया है। (७) धराभ्रम—इसमें पृथ्वी के दैनन्दिन भ्रमण का विचार है। (८) ग्रहणकरण—इसमें ग्रहण का गणित करने की रीति बतलाई है। (९) गोलीय रेखागणित। (१०) युक्लिड

कों ६, ११, १२ पुस्तकों का सस्कृत श्लोकबद्ध अनुवाद। (११) गणकतरङ्गिणी, शक १८१२—इसमें भारतीय गणकों का इतिहास है। पहिले यह काशी के 'पण्डित' नामक मासिक पत्र मे छपी थी, शक १८१४ मे अलग छपी है। इसमे आठपेजी साचे के १२४ पृष्ठ हैं। शेष प्राय सब ग्रन्थ छप चुके हैं। इन्होंने शक १७९५ की अपनी 'प्रतिभाबोधक' नामक टीका तथा मलयेन्दु सूरिकृत टीकासहित यन्त्रराज का सशोधन करके उसे शक १८०४ में छपाया है। नवीन उपपत्ति और अनेक विशेष प्रकारो से युक्त भास्करीय लीलावती शक १८०० में छपाई है और नवीन टीका सहित भास्करीय बीजगणित भी छपाया है। अपनी 'वासनाविभूषण' नामक टीकासहित करण-कुतूहल शक १८०३ मे छपाया है। शक १८१० मे इन्होंने वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका की 'पञ्चसिद्धान्तिकाप्रकाश' नामक टीका की। बनारस सस्कृत कालेज के उस समय के प्रिंसिपल डाक्टर जी० थीबो कृत इगलिश अनुवाद और उस टीकासहित पञ्चसिद्धान्तिका सन् १८८९ मे छपी है। ये सब टीकाएँ सस्कृत मे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने कृष्णकृत छादकनिर्णय, कमलाकरकृत सिद्धान्ततत्त्वविवेक और लल्लकृत धीवृद्धिदतन्त्र का सशोधन करके क्रमश शके १८०६, १८०७ और १८०८ में छपाये हैं। इस समय ये उत्पलटीका सहित बृहत्सहिता का सशोधन कर के उसे छपा रहे हैं। सस्कृत में इन्होंने भाषाविषयक 'भाषा-बोधक' नामक ग्रन्थ बनाया है। हिन्दी मे गणित की चलनकलन (Calculas) नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं और हिन्दी भाषा का व्याकरण बनाया है।

द्विवेदीजी की गणकतरङ्गिणी उपयोगी ग्रन्थ है। उससे और उनके अन्य ग्रन्थो से भारतीय और यूरोपीय गणित ज्योतिष मे उनका उत्कृष्ट ज्ञान प्रकट होता है तथापि गणकतरङ्गिणी में कही-कही "आर्यभट ने किसी परदेशी यवन पण्डित को देवतारूप मानकर उसके कृपालव से प्राप्त की हुई भगणादि सख्याएँ गुप्त रखने के विचार से नवीन सकेतो द्वारा बतलाई है। भास्कराचार्य ने ग्रन्थ समाप्त होने के बाद बिना उपपत्ति के ज्योत्पत्ति लिखी है, इससे अनुमान होता है कि उन्होंने परदेश से आये हुए किसी यवन से केवल ज्योत्पत्तिसम्बन्धी रीतियाँ सीख ली, उनकी उपपत्तियाँ नही सीखी।" इस प्रकार की उनकी निराधार कल्पनाएँ उमड आई है। अगरेजी नाटिकल आल्मनाक जिस फ्रेंच ग्रन्थ द्वारा बनाया जाता है उसके आधार पर सस्कृत ग्रन्थ बनाने की इनकी योग्यता है। यदि ये उसे बनावें तो अच्छा होगा।

द्वितीय प्रकरण

भुवनसंस्था

भुवनसस्था का थोडा सा परिचय उपोद्घात मे दे चुके है। अब यहा उसकी अवशिष्ट बातें लिखेंगे। हमारे यहा सब ग्रहो की योजनात्मक गति समान मानी गई है। वे अपनी कक्षा में एक दिन में लगभग ११८५८$\frac{3}{4}$ योजन चलते है और इस प्रकार कल्प भर मे जितना चलते है उसे आकाशकक्षा कहते है। पृथ्वी के चारो ओर ग्रह जिन मार्गो में घूमते है उनका नाम कक्षा है। कक्षा की एक प्रदक्षिणा को भगण कहते हैं। आकाशकक्षा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। ग्रहकक्षा इत्यादि का मान लाने के लिए उसकी कल्पना की गई है। कल्प मे ग्रह अपनी कक्षा की जितनी प्रदक्षिणाएँ करता है अर्थात् उसके जितने भगण होते है, उस सख्या का आकाशकक्षा में भाग देने से उसकी कक्षा का योजनात्मक मान आता है। सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामान ये है—

	कक्षामानयोजन		कक्षामानयोजन		कक्षामानयोजन
चन्द्र	३२४०००	सूर्य	४३३१५००	शनि	१२७६६८२५५
बुधशीघ्र	१०४३२०९	मङ्गल	८१४६९०९	नक्षत्रमण्डल	२५९८९००१२
शुक्रशीघ्र	२६६४६३७	गुरु	५१३७५७६४	आकाश	१८७१२०८०८६४०००००

पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी

प्रथम आर्यसिद्धान्त को छोड अन्य सब सिद्धान्तो की योजनात्मक ग्रह-दिनगतियाँ समान है, फिर भी प्रत्येक की कल्पदिनसख्या मे थोडा अन्तर होने के कारण आकाशकक्षा और ग्रहकक्षाओ में भी थोडा भेद है। उन सब को यहा लिखने की आवश्यकता नही है, क्योकि उनमें वास्तविक अश बहुत थोडा है। अधिकाश बातें केवल कल्पित है, तथापि चन्द्रकक्षा बिलकुल कल्पित ही नही है, उसमें सत्य का अश बहुत अधिक है। प्रथम आर्यभट के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्यो ने चन्द्रकक्षाप्रदेश मे उसकी कक्षा की एक कला का मान १५ योजन माना है। इस प्रकार सम्पूर्ण कक्षा का मान (३६० × ६० × १५ =) ३२४००० और उसकी त्रिज्या ५१५६६ योजन आती है। यही पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी है। सूर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी की त्रिज्या ८०० योजन है अत पृथ्वी और चन्द्रमा का अन्तर पृथ्वीत्रिज्या का ६४४६ गुना हुआ। आधुनिक मतानुसार ५० ९६ गुना है। इससे सिद्ध हुआ कि हमारे सिद्धान्तकारोकी निश्चित की हुई पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी और उसकी कक्षा का मान वास्तविक मान के बिलकुल पास है। इतना शुद्ध मान निश्चित करनेवाले वे आचार्य वस्तुत स्तुत्य हैं।

हमारे यहा मव ग्रहो की स्वकक्षामण्डलस्थ योजनात्मक गति समान मानी गई है और ग्रहों की कल्पभगणसख्या का आकाशकक्षा में भाग देकर कक्षामान लाये गये हैं। इमका अर्थ यह होता है कि ग्रहो के प्रदक्षिणाकाल और उनकी कक्षाएँ अर्थात् पृथ्वी से उनके अन्तर नियमित रहते हैं। आधुनिक ज्योतिपशास्त्रानुसार यह नियम अशुद्ध है। केप्लर द्वारा आविष्कृत और न्यूटनादिकोद्वारा स्वीकृत आधुनिक सिद्धान्त यह है कि ग्रहो के प्रदक्षिणाकाल के वर्ग और सूर्य से ग्रह पर्यन्त की दूरी के घन नियमित होते हैं।

पृथ्वी से ग्रहो की दूरी

मूर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से सूर्य का अन्तर ६८९४३० योजन अर्थात् भूत्रिज्या का लगभग ८६२ गुना है, परन्तु आधुनिक मतानुसार लगभग २३३०० गुना है। इस प्रकार हमारे सिद्धान्तो मे वताये हुए सूर्य के उस पार के ग्रहो के अन्तर अधिक अशुद्ध हैं। हमारे ज्योतिपियो ने वेधादिको द्वारा आकाशकक्षामान और ग्रहो की स्वकक्षा-मण्डलस्थ योजनात्मक दिनगति निश्चित करके तदनुसार कक्षामान और ग्रहो के प्रदक्षिणाकाल नही निकाले हैं। उन्होने वेधादिको द्वारा प्रथम प्रदक्षिणाकाल और चन्द्रकक्षामान निश्चित करने के बाद तदनुसार आकाशकक्षा और ग्रहकक्षाओ के मान निकाले हैं, यह विल्कुल स्पष्ट है, क्योकि एक तो पञ्चसिद्धान्तिका में ग्रहकक्षा और आकाशकक्षा के योजनात्मक मान नही दिये हैं, चन्द्रकक्षामान भी नही है अत ये मान मूलसूर्यमिद्धान्त मे भी नही रहे होगे। वर्तमान मूर्यसिद्धान्त मे हैं और मै अनुमान कर चुका हूँ कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिका से प्राचीन है, तथापि वर्तमान सूर्यसिद्धान्तोक्त कक्षामानो का उसमें बाद मे प्रक्षिप्त होना असम्भव नही है।[1] दूसरे प्रथम आर्यसिद्धान्त के अतिरिक्त सब सिद्धान्तो में चन्द्रकक्षा की एक कला १५ योजन मानी गई है। तीसरी वात यह कि ग्रहो के कक्षामान नियमित हैं, उनमें वे सदा भ्रमण करते हैं, उनके स्थान नही वदलते। अत यह कथन व्यर्थ है कि सव ग्रह कल्प मे आकाश की एक प्रदक्षिणा करते हैं। भास्कराचार्य ने तो सिद्धान्त-शिरोमणि के कक्षाध्याय मे स्पष्ट लिखा है—

> ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रह क्रामति योजनानि।
> यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाण प्रोक्त खकक्षेयमिद मत न ॥३॥

अर्थात् ब्रह्माण्ड परिमित (खकक्षामित) हो अथवा न हो, मेरे मतानुसार कल्प में ग्रह जितने योजन चलता है उसी को प्राचीन आचार्यो ने खकक्षा कहा है। अत हमारे

[1] ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त (शक ५५०) में कक्षामान हैं, अत यदि वे सूर्यसिद्धान्त में बाद में आये होगे तो भी शक ५५० के थोड़े ही दिनो बाद आये होगे।

ज्योतिषियो ने चन्द्रकक्षा और ग्रहप्रदक्षिणाकाल की सहायता से ग्रहकक्षाएँ निश्चित की है। उन्हें निश्चित करने का आधारभूत सिद्धान्त—प्रदक्षिणाकाल और ग्रहकक्षाएँ नियमित होती हैं—अशुद्ध होने के कारण,कक्षामान भी अशुद्ध हो गये और आकाश-कक्षामान का केवल कल्पित होना स्पष्ट ही है।

यद्यपि हमारे ग्रन्थो के कक्षामान अर्थात् ग्रहमाला के मध्य से ग्रहो के अन्तर अशुद्ध है तथापि इनके कारण उनकी स्पष्टस्थिति में जो एक प्रकार का अन्तर पडता है—जिसे शीघ्र फलसंस्कार कहते है—वह हमारे ग्रन्थो मे दिया है। उसके द्वारा लाये हुए ग्रह-मालामध्य मे ग्रहो के अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण आधुनिक मानो से प्राय मिलते है। नीचे के कोष्ठक मे यह बात दिखाई है। इसमें टालमी के भी मान दिये है। (टालमी के मान वर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद से और आधुनिक मान लूमिस के ग्रन्थ से लिये है।)

ग्रह	सूर्यसिद्धान्त		टालमी	आधुनिक
	युग्मपदान्त में	ओजपदान्त में		
सूर्य (या पृथ्वी)	१	१	१	१
वुध	३६९४	३६६७	३७५०	३८७१
शुक्र	७२७८	७२२२	७१९४	७२३३
मगल	१ ५१३९	१ ५५१७	१ ५१९०	१ ५२३७
गुरु	५ १४२९	५	५ २१७४	५ २०२८
शनि	९ २३०८	९	९ २३०८	९ ५३८८

यहा जो सूर्यसिद्धान्तीय मान लिखे है वे वुध शुक्र के मन्दकर्ण उनकी कक्षा की परिधि का अर्थात् ३६० का उनकी नीचोच्चवृत्तपरिधि[1] मे भाग देकर और वहिर्वर्ती[2] ग्रहो के मन्दकर्ण नीचोच्चवृत्तपरिधि का ३६० अंश में भाग देकर लाये गये है।

प्रथम आर्यभट का चन्द्रकक्षामान भिन्न है। उन्होने दशगीतिकापाद मे लिखा है—

शशिराशयष्ठ १२ चक्रं तेंशकलायोजनानि य ३० व ६० ञ १० गुणा ।।४।।

इसमे बताया है कि चन्द्रकक्षा की कलाओ में १० का गुणा करने से योजन होते है अर्थात् एक कला में १० योजन माने है, पर अन्य सिद्धान्तो में १५ योजन माने है।

[1] नीचोच्चवृत्तपरिधियाँ आगे लिखी है और इस विषय का अधिक विवेचन आगे स्पष्टाधिकार में किया है।

[2] वुध-शुक्र अन्तर्वर्ती और शेष ग्रह वहिर्वर्ती है।

देखने में यह बात अन्य सिद्धान्तो से विरुद्ध ज्ञात होती है पर वस्तुत विरुद्ध नही है। अन्य सिद्धान्तो का चन्द्रकक्षामान आर्यभट के मान का डेढगुना है पर अन्य मान भी डेढगुने है। जैसे—

	प्रथमार्यसिद्धान्तयोजन	सिद्धान्तशिरोमणियोजन
भूव्यास	१०५०	१५८१
सूर्यविम्वव्यास	४४१०	६५२२
चन्द्रविम्वव्यास	३१५	४८०

भूत्रिज्या

प्रथम आर्यसिद्धान्तानुसार पृथ्वी से चन्द्रमा का अन्तर ३४३७७ योजन है। यह उस सिद्धान्त की भूत्रिज्या ५२५ का ६५.५ गुना है, अत. निष्पत्ति की दृष्टि से आर्यसिद्धान्त का औरो से विरोव नही हैं। सख्याएँ भिन्न होने का कारण योजनमान की भिन्नता है। लल्ल प्रथम आर्यभट के प्राय अनुयायी है, इसलिए उनके मान भी प्रथम आर्यभट के अनुसार ही है। द्वितीय आर्यभट के अन्य सिद्धान्तो के अनुसार है।

उपर्युक्त विवेचन से भूत्रिज्या का सम्वन्ध है अत यहा उसका भी थोडा विवेचन करेगे। भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के योजनात्मक भूव्यास ये है—

ग्रन्थ	भूव्यास
पञ्चसिद्धान्तिका	१०१८६
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त, सोमसिद्धान्त, शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त	१६००
प्रथमार्यसिद्धान्त, लल्ल	१०५०
ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि, वसिष्ठसिद्धान्त, द्वितीय आर्यसिद्धान्त	१५८१, २१०९

योजनमान

योजन का ठीक प्रमाण ज्ञात न होने के कारण इस बात का पता नही लगता कि हमारे ग्रन्थो के भूव्यास कहाँ तक शुद्ध है। हमारे अधिकाश ग्रन्थो में योजन में ३२००० हाथ माने हैं। १९.८ इञ्च का हाथ मानने से योजन मे १० इगलिश मील होते है। इस नियमानुसार सवमे न्यून पञ्चसिद्धान्तिका का भूव्यास भी १०१८६ मील आता है। आवुनिक सिद्धान्तानुसार पृथ्वी का पूर्वपश्चिम व्यास ७९२५ मील है। वस्तुत योजन का मान १० मील से कम होगा।

वाचस्पति और शब्दार्णव कोषो मे १६००० हाथ का योजन बताया है, अतः उनके अनुसार योजन में ५ मील होंगे। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी के मध्य में ह्वेनसाग नामक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने सम्पूर्ण भारत का वर्णन लिखा है। उसने स्थानो के अन्तर 'ली' नामक चीनी मापक मे लिखे है। उसका कथन है कि' प्राचीन पद्धति के अनुसार योजन ४० ली तुल्य है और भारत के वर्तमान राज्यो मे प्रचलित योजन ३० ली का है, परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थो मे लिखित योजन १६ ली के बराबर है। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी मे चीन मे जो ली प्रचलित थी उसका मान मे० मार्टिन ने ३२९ मीटर अर्थात् १०८० इंग्लिश फुट माना है[2]। इसके अनुसार ह्वेनसाग के बताये हुए तीन योजनो के मान ८ १/६, ६ १/८, ३ १/३ इंगलिश मील होते है। अर्थात् उस समय इस देश मे प्रचलित योजन ६ १/८ मील तुल्य था। ज० कनिंघम ने भी ह्वेनसागलिखित भिन्न भिन्न प्रसिद्ध स्थानो के वर्तमान अन्तरो द्वारा ह्वेनसाग की ६ ली का मान एक मील निश्चित किया है[3]। पर उनका मत है कि ह्वेनसाग ने ये अन्तर उन मार्गो के आधार पर लिखे है जिनमे होकर उसने यात्रा की थी और मार्ग सीधे नही होते इसलिए सरल-रेखात्मक अन्तर जानने के लिए इनमे से एक षष्ठाश घटा देना चाहिए। इस प्रकार कनिंघम और मे० मार्टिन के योजनमान मिलते जुलते है। इन सब बातो का विचार करने से मुझे मालूम होता है कि ह्वेनसाग के समय ३० ली का योजन प्रचलित था और कनिंघम के नियमानुसार ६ ली का मील मानना चाहिए। साराश यह कि उस समय प्रचलित योजन का सरलरेखात्मक मान (३०—६=) ५ मील था। ईसवी सन् की सातवी शताब्दी में ह्वेनसाग के भारत मे आने के कुछ ही पूर्व अथवा उसी के आसपास यहा ब्रह्मगुप्त विद्यमान थे। उन्होने भूव्यास का मान १५८१ योजन अर्थात् ७९०५ मील लिखा है। यह सूक्ष्म रीतियो द्वारा निश्चित किये हुए वर्तमान व्यास ७९२५ मील के लगभग तुल्य ही है।

अक्ष

भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के भुवनकोश मे लिखा है—

[1] Julien s Memoirs de Hiouen Tsang 1 59 बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ ३९।

[2] Julien's Memoirs de Hiouen Tsang II 251, बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद का पृष्ठ २८४।

[3] कनिंघम के प्राचीन भूगोल के आरम्भ का सामान्य वर्णन देखिए।

निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवन्ती' गणितेन यस्मात् ।
तदन्तर षोडशसगुण स्याद् भूमानम् ॥१५॥

अर्थात् निरक्ष देश से भूगोल के १६ वे भाग पर अवन्ती है, इसलिए दोनो के अन्तर मे १६ का गुणा करने मे पृथ्वी की परिधि आयेगी। इसमे स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषी यह जानते थे कि धरातल का एक अश किस प्रकार नापना चाहिए और उनमे भूपरिधि किस प्रकार लानी चाहिए। तथापि यह भी सत्य है कि भूपरिधि के एक अश का सूक्ष्ममान जानने के लिए यूरोप की भाँति हमारे देश मे पर्याप्त प्रयत्न नही हुए है।

भुवनाधार

हमारे ज्योतिषियो का मत है कि पृथ्वी विश्व के मध्यभाग में आकाश मे निराधार स्थित है और ग्रह उसके चारो ओर घूमते है। पर ग्रहो के आधार के विषय मे उन्होने स्पष्टतया कुछ नही लिखा है तथापि ग्रह और नक्षत्रो मे गति होने का कारण प्रवह वायु बताया है। इससे ज्ञात होता है कि उनके मतानुसार प्रवह के आधार पर ग्रहादिक आकाश में स्थित है। द्वितीय आर्यभट ने १६ वें अध्याय मे लिखा है—

निजनिजकर्मविपाकैर्जीवैरुपभुज्यते फल चित्रम् ।
तद्भोगस्थानानि स्वर्गादिकसज्ञका लोका ॥३॥
अनिलाधारा केचित् केचिल्लोका वसुन्धराधारा ।
वसुधा नान्याधारा तिष्ठति गगने स्वशक्त्यैव ॥४॥

यहा कुछ लोको को वायु के आधार पर स्थित बताया है पर ग्रह और नक्षत्रो को लोक नही कहा है। मालूम होता है, हमारे ज्योतिषियो को यह कल्पना नही थी कि ग्रह और नक्षत्र भी हमारे भूगोल सरीखे विस्तृत जड गोल है।

भास्कराचार्य ने पृथ्वी मे आकर्षणशक्ति मानी है। उन्होने गोलाध्याय के भुवनकोश में लिखा है—

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थ गुरु स्वाभिमुख स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत्पततीव भाति ॥६॥

' इसके अनुसार अवन्ती का अक्षांश (३६० — १६) २२$\frac{1}{2}$ आता है। सम्प्रति उज्जयिनी का अक्षांश २३।९ निश्चित किया गया है।

अर्थात् पृथ्वी मे आकर्पणशक्ति है, वह आकाशस्थ जड पदार्थों को स्वशक्ति से अपनी ओर खीचती है, इससे वे पदार्थ गिरते हुए ज्ञात होते है। यहा पदार्थ के पतन का कारण आकर्पण बताया है। न्यूटन ने भी पदार्थपतन के ही आधार पर पृथ्वी की आकर्पण-शक्ति का आविष्कार किया, पर उन्होंने गणित द्वारा यह भी सिद्ध कर दिखाया कि ग्रहमाला आकर्पणशक्ति द्वारा ही सूर्य के चारो ओर घूमती है। हमारे देश में यह अग्रिम कार्य नही हुआ।

जगत्सस्था के वर्णन मे सब सिद्धान्तो मे धरातलस्थ सप्त समुद्र, सप्त महाद्वीप, पर्वत और नदियो का भी वर्णन है, परन्तु वह वस्तुत भूगोल का विपय है इसलिए विस्तार-भय से यहा नही लिखा है। विपुववृत्तस्थ प्रदेशो में ध्रुव क्षितिज मे दिखाई देता है और ग्रहादिक क्षितिज पर लम्बरूप मे ही उदित और अस्त होते है, ज्यो ज्यो उत्तर जायँ, ध्रुव क्रमश ऊँचा दिखाई देता है और ग्रहादिकों का दैनन्दिन गतिसम्बन्धी गमन-मार्ग क्षितिज पर तिरछा होता जाता है, ध्रुवस्थान में सूर्यादि क्षितिज के समाना-न्तर मार्ग मे भ्रमण करते हे, इत्यादि बातो का विवेचन सभी सिद्धान्तो मे रहता है। विस्तारभय से यहा मूलवचन नही दिये है। उत्तरगोलार्ध मे कुछ अक्षाशो पर राशि-चक्र का कुछ भाग कभी भी नहीं दिखाई देता, कुछ अक्षाशो पर कुछ राशियाँ नही दिखाई देती, कुछ स्थानो पर सूर्य ६० घटी अथवा इससे भी अधिक समय तक दिखाई देता है— इत्यादि बातो का भी विवेचन कुछ सिद्धान्तो मे है, पर यहा उसे विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नही है।

मेरु, सप्त लोक

ध्रुवस्थान मे मेरु माना गया है। भास्कराचार्य ने उसी पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि लोकपालो के स्थानो की कल्पना की है। भूरादि सात लोको के विषय में उन्होंने लिखा है—

> भूर्लोकाख्यो दक्षिणे व्यक्षदेशात्
> तस्मात् सौम्योऽस्य भुव स्वश्च मेरु।
> लभ्य. पुण्यै खे मह स्याज्जनोऽतो
> ऽनल्पानल्पै स्वैस्तप सत्यमन्त्य ॥४३॥
>
> भुवनकोश

इसमें बताया है कि निरक्ष देश के दक्षिण मे भूर्लोक और उत्तर मे जहा हम लोग रहते है भुवर्लोक है। मेरु स्वर्लोक है। मह, जन, तप और सत्य लोक आकाश मे

हैं। उनमे सत्य अन्त मे है। महाद्वीप, सप्तसमुद्र और भू इत्यादि लोको के विषय में भास्कराचार्य ने लिखा है कि इनका वर्णन पुराणाश्रित है।

इस वर्णन मे सब ग्रन्थो की पूर्णतया एकवाक्यता नही है।

भूवायु

भास्कराचार्य ने मध्यगतिवासनाप्रकरण मे लिखा है कि—

भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम् ॥२॥

अर्थात् भूपृष्ठ से १२ योजन पर्यन्त भूवायु रहता है। मेघ, बिजली इत्यादि इसी मे रहते है। दोनो आर्यभट और लल्ल ने भी वातावरण की ऊँचाई इतनी ही मानी है। १२ योजन मे ६० मील होते है। आधुनिक शोध के अनुसार वातावरण की ऊँचाई ४५ से १०० मील पर्यन्त है। श्रीपति ने लिखा है—

निर्घातोल्काघनसुरधनुर्विद्युदन्त कुवायो सन्दृश्यन्ते खनगरपरीवेषपूर्वम्[1] . . . .।

अर्थात् निर्घात, उल्का, घन, इन्द्रधनुष, बिजली, गन्धर्वनगर और परिवेष भूवायु मे रहते है। लल्ल, श्रीपति, भास्कराचार्य इत्यादिको ने भूवायु के ऊपर अन्य प्रवहादि वायुओ की कल्पना की है। लल्ल ने लिखा है—

आवह प्रवह उद्वहस्तथा सवह सुपरिपूर्वको वहौ।
सप्तमस्तु पवन. परावह कीर्तित कुमरुदावहो परै.॥१॥

धीवृद्धिदतन्त्र, ग्रहभ्रमसस्था

ग्रहभगण

ग्रहमध्यमगति के हेतु का विवेचन ऊपर कर चुके है। भिन्न भिन्न सिद्धान्तो मे बताई हुई कल्पीय या महायुगीय ग्रहभगणसख्याएँ भी ऊपर लिखी है। बुध और शुक्र के विषय मे एक विशेष बात यह बतानी है कि वे सदा सूर्य के पास रहने के कारण नक्षत्रमण्डल की सूर्य इतनी ही प्रदक्षिणाएँ करते है। इसलिए हमारे ग्रन्थकारो ने उनके भगण और मध्यगतिया सूर्यतुल्य ही मानी है तथापि उन्होने बुधशीघ्र और शुक्रशीघ्र की कल्पनाएँ करके उनके भगण पृथक् दिये है। वे उतने ही है जितनी बुधशुक्र सूर्य की प्रदक्षिणाएँ करते है। साराश यह कि हमारे ज्योतिषियो को यह कल्पना नही थी

[1] बापूदेव शास्त्री प्रकाशित सिद्धान्तशिरोमणि पृष्ठ २६७ की टिप्पणी देखिए।

कि ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते है, पर उन्होने बुधशुक्र-शीघ्रभगण को महत्त्व दिया है—यह बात ध्यान देने योग्य है।

ग्रहप्रकाश

हमारे ज्योतिषशास्त्र का मत है कि ग्रह स्वयप्रकाशित नही है, उन्हें प्रकाश सूर्य द्वारा मिलता है। प्रथम आर्यभट ने लिखा है—

भूग्रहभाना गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि।
अर्धानि यथासार सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते ॥५॥

गोलपाद

यहा भू और ग्रह के साथ साथ नक्षत्रो को भी सूर्य से ही प्रकाशित बताया है पर यह कथन ठीक नही है। चन्द्रमा की क्षयवृद्धि और उसकी शृङ्गोन्नति का हमारे ग्रन्थो मे पर्याप्त विवेचन है।

ग्रहविक्षेप

ग्रहो के मध्यम विक्षेपमान अर्थात् क्रान्तिवृत्त से उनकी कक्षाओ के दूरत्व कुछ सिद्धान्तो में मध्यमाधिकार में ही दिये है, अत. भिन्न भिन्न सिद्धान्तो के विक्षेपमान यही लिखते है। टालमी के मान और आधुनिक मान भी यही लिखे है[1]।

	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		प्रथमार्यसि लल्ल		ब्रह्मसिद्धा० शिरोमणि		द्वितीय आर्यसिद्धा		टालमी		आधुनिक		
	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अश	कला	अश	कला	विकला
चन्द्र	४	३०	४	३०	४	३०	४	३०	५	०	५	८	४७९
मङ्गल	१	३०	१	३०	१	५०	१	४६	१	०	१	५१	२
गुरु	२	०	२	०	२	३२	२	१८	७	०	७	०	७७
बुध	१	०	१	०	१	१६	१	१४	१	३०	१	१८	४१४
शुक्र	२	०	२	०	२	१६	२	१६	३	३०	३	२३	३४९
शनि	२	०	२	०	२	१०	२	१०	२	३०	२	२९	३९५.

[1] टालमी के मान बर्जेस के सूर्यसिद्धान्तानुवाद से और आधुनिक मान लिह्वेरिअन-कथित लिये है।

हमारे विक्षेपमानो की आधुनिक मानो से सीधी तुलना करना ठीक नही है। ऐसी तुलना करने से ज्ञात होगा कि हमारे मान सूक्ष्म है। यहा इसका विवेचन करेगे।

विक्षेपमान शरो द्वारा लाये जाते है। क्रान्तिवृत्त से ग्रह के कदम्बाभिमुख अन्तर को शर कहते है। ग्रहकक्षा और क्रान्तिवृत्त के सम्पात मे शर शून्य रहता है और वहा से ३ राशि पर महत्तम होता है। ग्रहकक्षाएँ ठीक वृत्ताकार नही है। अपनी कक्षा के मध्य से ग्रह सदा समान अन्तर पर नही रहते। चन्द्रमा पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है इस कारण जब वह पात से त्रिभान्तरित रहता है उस स्थिति मे उसका प्रत्यक्ष अन्तर सदा समान न होने पर भी अशात्मक अन्तर समान ही रहता है। अन्य ग्रहो की यह स्थिति नही है। वे सूर्य की प्रदक्षिणा करते है। सूर्यस्थ द्रष्टा को सर्वदा उपर्युक्त आधुनिक विक्षेपो के तुल्य ही उनका परमशर दिखाई देगा, परन्तु भूस्थित द्रष्टा को न्यूनाधिक दिखाई देगा। उसमे दो कारणो से अन्तर पडेगा। सूर्य से उनके अन्तर अर्थात् मन्दकर्ण ज्यो ज्यो न्यूनाधिक होगे त्यो त्यो शर न्यूनाधिक दिखाई देगे। इसी प्रकार पृथ्वी से उनके अन्तर अर्थात् शीघ्रकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण भी शर मे अन्तर पडेगा। इन दोनो मे से द्वितीय कारण की अपेक्षा प्रथम कारण द्वारा कम अन्तर पडता है। हमारे ज्योतिषियो ने प्रथम कारण द्वारा होनेवाले अन्तर की गणना नही की है पर दूसरे का विचार किया है। विक्षेपमान के विषय मे भास्कराचार्य ने लिखा है—

> (यदा) त्रिज्यातुल्य शीघ्रकर्णो भवति तस्मिन् दिने वेधवलये यावान् परमो
> विक्षेप उपलभ्यते तावान् ग्रहस्य परमो मध्यमविक्षेप ॥
>
> ग्रहच्छायाधिकार, श्लोक १ टीका

इसे हमारे ग्रन्थो के विक्षेपमान का लक्षण कह सकते है। शीघ्रकर्ण मध्यम होने पर ग्रह पात से त्रिभान्तरित रहेगा—यह नियम नही है। शीघ्रकर्ण मध्यम हो और ग्रह पात से त्रिभान्तरित हो, उस स्थिति में उसका जो शर होगा उसी को हमारे ज्योतिषियो ने परम मध्यमविक्षेप माना है। यहा मन्दकर्ण का विचार नही किया है बहिर्वर्ती ग्रहो के शर मे मन्दकर्ण के न्यूनाधिकत्व के कारण अधिक अन्तर नही पडता, पर अन्तर्वर्ती ग्रहो के शर मे पडता है अत उपर्युक्त कोष्ठक मे जो हमारे ग्रन्थो के विक्षेपमान दिये है उनमे बुध और शुक्र को छोड शेष के विक्षेपमानो की आधुनिक मानो से तुलना करने मे विशेष हानि नही है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थो के मङ्गल और गुरु के विक्षेपमानो का आधुनिक मानो से टालमी के मानो की अपेक्षा अधिक साम्य है।

ब्रह्मसिद्धान्त और द्वितीय आर्यसिद्धान्त के मान तो आधुनिक मानो के बहुत ही आसन्न है। शनि के मान मे कुछ कलाओ की त्रुटि है। बुध और शुक्र के शरो का विचार करने से ज्ञात हुआ कि सम्प्रति बुध का मन्दस्पष्ट शर परम होने पर उसका मन्दकर्ण एक बार ३३८२ और एक बार ४११४ रहता है[1] और उस स्थिति मे यदि उसका शीघ्रकर्ण मध्यम हो तो स्पष्टशर क्रमश २ अश २३ कला और २ अश ५३ कला रहता है। इन दोनो समयो के शरो का मध्यममान २ अश ३८ कला आता है। यह हमारे ग्रन्थो के मान के बहुत निकट है। शुक्र का मन्दस्पष्ट शर परम होने पर उसका मन्दकर्ण एक बार ७१९३ और एक बार ७२९३ रहता है। दोनो समयो मे यदि उसका शीघ्र-कर्ण मध्यम हो तो स्पष्टशर लगभग २ अश २८ कला रहता है। यह भी हमारे ग्रन्थो के मान के बिलकुल निकट है। यहा लिखे हुए आधुनिक मान सन् १८८३ से १८८८ पर्यन्त ६ वर्ष के इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा गणित करके लाये गये है। बुध का मन्दस्पष्ट शर परम होने की स्थिति में उसका शीघ्रकर्ण ६ वर्षो मे केवल दो तीन ही बार ठीक मध्यम तुल्य अथवा उसके बिलकुल पास पास हुआ और शुक्र का तो एक बार भी नही हुआ। इससे ज्ञात होता है कि अनेक वर्षो तक वेध किये बिना इनका सूक्ष्म ज्ञान नही हो सकता, अत अति सूक्ष्म मान लानेवाले हमारे ज्योतिषी स्तुति के पात्र है। ग्रहकक्षापात मे थोडी गति अवश्य है अत आधुनिक शोध के अनुसार ब्रह्मगुप्त और आर्यभटकालीन शर लाये जाय तो वे वास्तविक मान के कदाचित् और भी आसन्न होगे।[2] उपर्युक्त कोष्ठक मे दिये हुए दोनो आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के मान एक दूसरे से भिन्न है अत स्पष्ट है कि उन्होने अपने अपने मान स्वय वेध द्वारा लिये है। तीनो के वे भिन्न-भिन्न अङ्क मन कल्पित भी नही कहे जा सकते। हमारे ज्योतिषियो ने स्वय वेध करके अपने ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न मान लिये है, इस बात को सिद्ध करने के लिए यह एक ही प्रमाण—उनके उपर्युक्त विक्षेपमान—पर्याप्त है।

[1] बुध का मध्यम मन्दकर्ण, ३८७१ और शुक्र का १,७२२३ है। (Loomis' Practical Astronomy)

[2] हमारे ग्रन्थो के और आधुनिक विक्षेपमानो को केवल एकत्र लिख देने से ही उनकी वास्तविक तुलना नहीं होती। बुध और शुक्र के शरमानो की जिस प्रकार मैंने ऊपर तुलना की है वैसी मैंने आज तक अन्यत्र कहीं नहीं देखी।

तृतीय प्रकरण

अयनचलन

सूर्य-चन्द्रमा के दक्षिणोत्तर अयन क्रान्तिवृत्त के जिन विन्दुओ मे होते है उनके पास के तारे सदा उन्ही स्थानो मे नही रहते। कुछ दिनो बाद वे पूर्व की ओर चले जाते है या यो कहिये कि अयनविन्दु ही पश्चिम ओर खिसक आते है। वेदाङ्गज्योतिप-काल मे उत्तरायणारम्भ धनिष्ठारम्भ मे होता था। उसके कुछ दिनो वाद श्रवण मे और वराहमिहिर के समय उत्तरापाढा मे होने लगा था। इसी प्रकार नाडी-क्रान्तिवृत्तो के सम्पातविन्दु भी पश्चिम ओर हटते रहते है, क्योकि वृत्त के एक विन्दु के चलने पर सब विन्दु चल पडते है। इस चलन का ज्ञान प्रथम सूर्य के अयनो द्वारा हुआ, इसलिए हमारे अधिकतर ग्रन्थो में इसे अयनचलन कहा है। द्वितीय आर्यभट इत्यादिको ने अयन को एक ग्रह माना है और उसके भगण लिखे है। भास्कराचार्य ने इसे सम्पात चलन भी कहा है। आधुनिक यूरोपियन विद्वान् इसको विपुवचलन (Precession of Equinoxes) कहते है। सिद्धान्तशिरोमणि को छोड अन्य सब सिद्धान्तो मे अयनचलन सम्बन्धी गति नक्षत्रमण्डल मे मानी गई है। उनमे नक्षत्रमण्डल पश्चिम से पूर्व की ओर जाता हुआ बतलाया गया है, पर भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार में लिखा है—

> तस्य [विपुवत्क्रान्तिपातस्य] अपि चलनमस्ति । येऽयन-चलनभागा.
> प्रसिद्धास्त एव विलोमगस्य क्रान्तिपातस्य भागा ।

इससे ज्ञात होता है कि वे पात ही की विलोमगति मानते थे। आधुनिक यूरो-पियन विद्वान् भी सम्पात मे ही गति मानते है।

अयनचलनमान

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में अयनचलन की चर्चा बिलकुल नही है अत मूल सूर्यादि पाच सिद्धातो में इसके विपय मे कुछ रहा होगा—यह नही कहा जा सकता। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार मे लिखा है—

> त्रिंशत् ३० कृत्यो २० युगे भाना चक्र प्राक् परिलम्बते।
> तद्गुणाद् भूदिनैर्भक्तात् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥९॥
> तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्ताशा विज्ञेया अयनाभिधा.।
> तत्संस्कृताद् ग्रहात्क्रान्तिच्छाया - चरदलादिकम् ॥१०॥
> स्फुट दृक्तुल्यता गच्छेदयने विपुवद्द्वये।

प्राक्चक्र चलितं हीने छायार्कात्करणागते ।।११।।
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ।

अर्थ

(महा) युग मे भचक्र (३०×२०=) ६०० बार पूर्व ओर जाता है। उन (६००) का अहर्गण मे गुणा करके उसमे युगीय सावनदिनो का भाग देने से जो आता है, उसके भुज में ३ का गुणा करके १० का भाग देने से जो अंश आते हैं वे अयनचलक होते हैं। उनसे संस्कृत ग्रह द्वारा क्रान्ति, छाया, चरार्ध इत्यादि लाने चाहिए। चक्र का चलन अयन और दोनों विषुव दिनों में स्पष्ट दिखाई देता है। छाया द्वारा लाये हुए सूर्य से करणागत सूर्य न्यून हो तो चक्र दोनो के अन्तरांश इतना पूर्व की ओर गया है और अधिक हो तो [भचक्र] लौटकर पश्चिम ओर गया है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार सूर्यसिद्धान्तानुसार एक महायुग में ६०० और कल्प में ६ लाख अयन-भगण सिद्ध होते हैं, पर भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार मे लिखा है—

तद्भगणा सौरोक्ता व्यस्ता अयुतत्रय कल्पे ।।१७।।

इसका अर्थ यह है कि सूर्यसिद्धान्त में कल्प में ३ अयुत अर्थात् एक महायुग में ३० अयनभगण बतलाये हैं। इससे ज्ञात होता है कि भास्कराचार्य के समय उपर्युक्त श्लोक के 'त्रिंशत्कृत्य' के स्थान में 'त्रिंशत्कृत्व' (३० बार) पाठ था। भास्कराचार्य के इस श्लोक के 'व्यस्ता अयुतत्रयम्' का 'व्यस्त तीन अयुत अर्थात् ३० सहस्र' से भिन्न अर्थ करके सूर्यसिद्धान्त के आधुनिक 'त्रिंशत्कृत्य.' पाठ से उसकी एकवाक्यता करने का टीकाकारों और ग्रन्थकारों ने बड़ा प्रयत्न किया है। मुनीश्वर ने सिद्धान्तशिरोमणि की अपनी मरीचि नाम की टीका में लिखा है—'कोई कोई अयुतत्रय के स्थान में नियुत-त्रय पाठ बतलाते हैं[1] और कोई कोई कल्प शब्द का अर्थ वास्तविक कल्प का २० वाँ भाग लगाते हैं।' ऐसा करने से महायुग में ६०० भगण आते हैं। मुनीश्वर स्वयं "व्यस्त अयुतत्रय" का एक अर्थ करते हैं—"वि=विंशति, उससे अस्त=गुणित, अयुतत्रय" और दूसरा अर्थ करते हैं—"तद्भगणा =उसके भगण, सौरोक्ता =सूर्यसिद्धान्त में बतलाये हैं और एक दूसरे ग्रन्थ में—व्यस्ता अयुतत्रय कल्पे=कल्प में विलोम तीन अयुत बतलाये हैं"। इस प्रकार वे यह दिखलाना चाहते हैं कि सूर्यसिद्धान्त का अयुत-त्रय से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर यह सब खींचातानी है। भास्कराचार्य ने स्वयं इस श्लोक की टीका में लिखा है "सम्पातस्य भगणाः कल्पेऽयुतत्रय तावत्सूर्यसिद्धान्तोक्ता"

[1] नृसिंह दैवज्ञ ने वासनावार्तिक में ऐसा लिखा है। कल्प में तीन नियुत मानने से महायुग में ३०० भगण आते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें यही अर्थ अभिप्रेत था कि सूर्यसिद्धान्त में क्रान्तिपात के कल्प में ३ अयुत अर्थात् महायुग में ३० भगण बतलाये हैं।

सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोकों में बताई हुई रीति द्वारा २७ से अधिक अयनांश कभी नहीं आते। उसमें भचक्र का पूर्व और पश्चिम में गमन बतलाया है। इससे सूर्यसिद्धान्त का मत यह ज्ञात होता है कि ग्रहादिकों की भांति सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्र-मंडल की प्रदक्षिणा नहीं करता, बल्कि भचक्र एक बार सम्पात से २७ अंश पूर्व जाकर पुनः मूलस्थान में आता है। इसके बाद २७ अंश पश्चिम जाता है और फिर मूलस्थान में आ जाता है। अर्थात् उसकी एक प्रदक्षिणा १०८ अंशों की होती है। आजकल सूक्ष्म अन्वेषकों द्वारा सम्पात की वार्षिक गति ५०.२ विकला निश्चित की गई है। महा-युग में ३० भगण और एक भगण में १०८ अंश मानने में वार्षिक गति २.७ विकला आती है। यह बहुत थोड़ी है। ३० भगण और पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से ९ विकला आती है। यह भी थोड़ी ही है। आधुनिक 'त्रिंशत्कृत्व.' पाठ के अनुसार महायुग में ६०० भगण और एक भगण में १०८ अंश मानने में ५४ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है। सम्प्रति यही अर्थ सर्वमान्य है। आजकल के प्रचलित सभी ज्योतिष-ग्रन्थों में सम्पात की वार्षिक गति ६० विकला मानी गई है और वही ठीक भी है—यह मैंने आगे सिद्ध किया है। महायुग में ६०० भगण और एक भगण में ३६० अंश मानने से वार्षिक गति १०८ विकला आती है। यह बहुत अधिक है।

वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्तों में महायुग में ६०० अयन-भगण बतलाये हैं। अयनचलन विषयक उनके वचन ये हैं—

द्युगण. षट्शतघ्नोऽर्कशुद्धोदयहृतो ग्रह.॥३१॥
आयनस्त्रिघ्नतद्बाहुभागा दिग्भिर्विभाजिता।
अयनांशास्तदूर्ध्वार्धे धनं पूर्वदले ऋणम्॥३२॥

रोमशसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार।

इत्येतदेतत् प्राक्चलन युगे तानि च षट्शतम्॥१९६॥
युक्त्यायनग्रहस्तस्मिन् तुलादौ प्राक्चल भवेत्।
यद्वा तच्छुद्धचक्रे वा मेषादौ प्राक्चल भवेत्॥१९७॥
अयनांशास्तद्भुजांशास्त्रिघ्ना. सन्तो दशोद्धृता॥

शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त, अध्याय २।

युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते।
तद्गुणो भूदिनैर्भक्तो द्युगणो ऽयनखेचर॥३१॥

तच्छुद्धचक्रदोर्लिप्ता द्विगत्याप्तायनांशका ।
संस्कार्या जूकमेषादौ केन्द्रे स्वर्णं ग्रहे किल ॥३२॥

सोमसिद्धान्त-स्पष्टाधिकार ।

वर्तमान वसिष्ठसिद्धान्त मे, जिसे कोई कोई लघुवसिष्ठसिद्धान्त भी कहते है, अयनांश लाने की रीति यह है—

अब्दा खतर्तु ६०० भिर्भाज्यास्तद्दोस्त्रिघ्ना दशोद्धृता: ।
अयनांशा ग्रहे युक्ता. . ॥५५॥

स्पष्टाधिकार ।

इसका अर्थ यह है कि वर्षगण मे ६०० का भाग देने से जो आता है उसके भुज में ३ का गुणा करके १० का भाग देने से अयनांश आते है । यहा यह स्पष्ट नही बताया है कि ६०० का भाग देने से जो पदार्थ आता है वह राशि है या अंश है अथवा भगण है। ६०० वर्षों में एक राशि मानने से महायुग मे ६०० भगण आते है और इतने ही उद्दिष्ट भी मालूम होते है ।

इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्तो में परम अयनांश २७, सम्पात का पूर्व और पश्चिम में २७ अंश आन्दोलन और उसकी वार्षिक गति ५४ विकला मानी गई है।

प्रथम आर्यभट और लल्ल ने अयनगति के विषय में कुछ नही लिखा है। ब्रह्मगुप्त ने श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के दोषो का वर्णन करते हुए लिखा है :—

परमाल्पा मिथुनान्ते द्युरात्रिनाड्यो ऽर्कगतिवशादृतव ।
नायनयुगं . . . ॥५४॥

अध्याय ११ ।

इसका अर्थ यह है कि मिथुनान्त मे दिन की घटिया परम और रात्रि की अल्प होती है, ऋतुएँ सूर्य की गति के अनुसार होती है अत. अयनयुग नही है। पृथूदक ने इसकी टीका में लिखा है—"कल्प में उस (अयन) के १८९४११ भगण होते है, इसे अयनयुग कहते है, यह ब्रह्मा अर्क इत्यादिको को मान्य है—ऐसा अयनयुग के विषय में विष्णुचन्द्र ने कहा है . . । सम्प्रति दिन और रात्रि के वृद्धि-क्षय मिथुनान्त में नहीं होते। 'आश्लेषार्धान्' इत्यादि वचनो से भी केवल अयनगति ही सिद्ध होती है।

इनके बहुत से भगण नही सिद्ध होते"।[१] कल्प में अयनभगणसख्या १८९४११ मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ मे सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ०।११।१९। ७५.२ आता है। अन्य ग्रन्थो की शून्यायनाश-वर्षसख्या लगभग शके ४४४ से इसकी कुछ भी सगति नही लगती, अत इस कल्पभगणसख्या मे कुछ अशुद्धि होगी अथवा विष्णुचन्द्र की युगपद्धति ही भिन्न होगी। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से इस सख्या द्वारा वार्षिक अयनगति ५९.८२३३ विकला आती है। यह बहुत सूक्ष्म है और इससे ज्ञात होता है कि विष्णुचन्द्र सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानते थे। सभव है, उनका अभिप्राय यह रहा हो कि १८९४११ वर्षो मे एक अयनभगण होता है। ऐसा अर्थ करने से कल्प मे अयनभगणसख्या लगभग २२८० आती है। यह अशुद्ध होते हुए भी भास्करोक्त सूर्यसिद्धान्त की सख्या ३ अयुत के पास है। कुछ भी हो, अयनगति विषयक विष्णुचन्द्र का वचन बडे महत्त्व का है। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके समय अर्थात् शके ५०० के लगभग[२] भारतीयो को अयनगति का ज्ञान था।

अयनगति के सम्बन्ध में भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के विषय मे लिखा है—

"तत्कथ ब्रह्मगुप्तादिभिर्निपुणैरपि [क्रान्तिपात] नोक्त इति चेत्तदा स्वल्पत्वात् तैर्नोपलब्ध । इदानी बहुत्वात् साम्प्रतिकैरुपलब्ध । अतएव तस्य गतिरस्तीत्यवगतम्। यद्येवमनुपलब्धोऽपि सौरसिद्धान्तोक्तत्वादागमप्रामाण्येन भगणपरिच्याादिवत् कथ तैर्नोक्त ।"

यहा भास्कर का कथन यह है कि ब्रह्मगुप्त के समय अयनाश बहुत थोडे थे इसलिए उन्हे वे वेध द्वारा नही ज्ञात हुए। पर यहा शङ्का होगी कि जैसे उन्होने कुछ अन्य अनुपलब्ध मान आगम को प्रमाण मानकर लिखे है, उसी प्रकार सूर्यसिद्धान्त के आधार पर

[१] Coolebrooke's Mis Ess II 465, 380 कोलब्रूक की पुस्तक में विष्णुचन्द्र का वचन बहुत अशुद्ध था इसलिए उन्होंने उसे नहीं लिखा। मुझे पृथूदक-टीका का वह भाग नहीं मिला। कोलब्रूक लिखते हैं कि नृसिंह और दादाभाई की टीकाओ में वह वचन है, पर मुझे नही मिला।

[२] पञ्चसिद्धान्तिका में अयनगति का वर्णन नहीं है, अत मूल सूर्यसिद्धान्त में वह था—ऐसा नही कह सकते। पर विष्णुचन्द्र के कथन से सूर्यसिद्धान्त में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के उद्देश्य से ऐसा कहा है। इससे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के काल के विषय में पिछले पृष्ठो में जो अनुमान किये गये हैं उनकी पुष्टि होती है।

क्रान्तिपातभगण क्यो नही लिखे। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थ में अयनभगण नही लिखे हैं और अयनसंस्कार कही नही बतलाया है, तथापि उपर्युक्त आर्या और उसकी पृथूदकटीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें ब्रह्मगुप्त के पहिले भी अयनचलन का ज्ञान था। ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ में उसका वर्णन न होने का कारण यह है कि वे सायन रवि की संक्रान्ति को ही अर्थात् सायन मिथुनान्त को ही दक्षिणायनारम्भ मानते थे (यह बात पीछे उनके वर्णन में लिख चुके हैं)। इसीलिए उन्होंने गणित से अयनगति का सम्बन्ध बिलकुल नहीं रखा।

पिछले पृष्ठो में मुंजाल की आर्याएँ लिखी हैं। उनमें अयनभगणसंख्या कल्प में १९९६६९ बताई है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नही, इस विषय में यद्यपि उनमें कुछ नही लिखा है तथापि पूर्ण प्रदक्षिणा मानने से कलियुग के आरम्भ में सम्पात का चक्रशुद्ध राश्यादि भोग ९।२९।३७।४० ८, शून्यायनांश वर्ष शक ४४९ और वार्षिक अयनगति ५९.९००७ विकला आती है। इन सबो का विचार करने से मुझे इस बात में सन्देह नही रह जाता कि मुंजाल सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानते थे। शक ८५४ के उनके लघुमानस करण में वार्षिक अयनगति एक कला है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त में अयन को ग्रह मानकर उसके भगण बतलाये हैं और तदनुसार अयनांश लाने की निम्नलिखित रीति लिखी है—

> अयनग्रहदो क्रान्तिज्याचापं केन्द्रवद्धनर्णं स्यात्।
> अयनलवास्तत्संस्कृतखेटादयनचरापमलग्नानि ॥१२॥
>
> स्पष्टाधिकार

अर्थ

अयनग्रह का भुज करके क्रान्तिज्याचाप लावे। उसका धनर्ण केन्द्र की तरह होता है। वे चापांश ही अयनांश कहलाते हैं। (अयनग्रह मेषादि ६ राशि के भीतर हो तो अयनांश धन और तुलादि ६ राशि के भीतर हो तो ऋण होते हैं[1]।) उनसे संस्कृत ग्रहो द्वारा अयन, चर, क्रान्ति और लग्न लाने चाहिए।

यह रीति क्रान्ति लाने की रीति सरीखी ही है। हमारे सब सिद्धान्त और द्वितीय आर्यभट भी परमक्रान्ति २४ अंश मानते हैं, इसलिए द्वितीय आर्यभट के मतानुसार अयनांश २४ से अधिक नही होते। इसका अर्थ यह है कि धन अयनांश शून्य से आरम्भ कर २४ अंश पर्यन्त बढते हैं और तदनन्तर क्रमशः घटते-घटते शून्य तक आ जाते हैं।

[1] यह धनर्णसंकेत ग्रहो के विषय में इसी अधिकार में पहिले आ चुका है।

इसके वाद ऋण होकर शून्य से २४ अश तक वढकर पुन. घटते-घटते शून्य हो जाते हैं अर्थात् सम्पात की एक प्रदक्षिणा ९६ अशो की होती है।

द्वितीय आर्यसिद्धान्त में अयनग्रह के कल्पीयभगण 'मसिहटमुवा' अर्थात् ५७८ १५९[1] वतलाये हैं। ९६ अश का भगण मानने से इन भगणो द्वारा वार्पिक अयनगति ४६ ३ विकला आती है, परन्तु यहा अयनाश लाने की रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सर्वदा समान नही आयेगी। पूर्वोक्त भगणो द्वारा अयनग्रह की वर्पगति २ कला ५३ ४ विकला आती है। इससे वर्ष मे अयनगति कभी तो ६९ ४ विकला आवेगी और कभी ६ १ विकला या इससे भी कम। अयनग्रह का एक भगण लगभग ७४७२ वर्षो मे पूर्ण होता है। इसके एक चतुर्थांश के प्रथम दशाश मे अर्थात् लगभग १८७ वर्षो तक अयनगति ६९ ४ विकला रहेगी। द्वितीय दशाश में भी प्राय: इतनी ही रहेगी। तृतीय मे ६३ ७ विकला हो जायगी और आगे ५८ १, ५२, ४३ ३, ३० ६, २० ४, ६ १ होगी। इस प्रकार २४ अयनाश हो जाने के वाद द्वितीय चतुर्थांश मे जव कि अयनाश घटते रहेंगे प्रत्येक दशाश मे ये ही गतिया उत्क्रम से आवेगी। तृतीय चतुर्थांश मे फिर क्रम से और चतुर्थ में पुन उत्क्रम से आवेगी, पर अनुभव ऐसा नही है। अयनगति में अन्तर पडता है पर वहुत थोडा। इतना कि अयनगति सदा समान रहती है, ऐसा कह सकते हैं।

द्वितीय आर्यभट ने पराशर-मतानुसार कल्प मे अयनग्रह के ५८१७०९ भगण माने हैं। इससे शून्यायनाश वर्प शक ५३२ आता है और अयनाश लाने की रीति क्रान्ति सरीखी होने के कारण अयनगति सदा समान नही आती। उसका मध्यम मान ४६ ५ विकला आता है।

सम्पात भगण कितने होते हैं और सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या १०८ अश की, इस विषय मे भास्कराचार्य ने स्वकीय मत कुछ भी नही लिखा है[2]। सौरोक्त भगणो का अनुवाद करने के वाद वे आगे लिखते हैं—

> अयनचलनं यदुक्त मुंजालाद्यै स एवायम् (क्रान्तिपात)।
> तत्पक्षे तद्भगणा कल्पे गोङ्गर्तुनन्दगोचन्द्रा. १९९६६९॥१८॥
> गोलवन्धाधिकार

[1] पाठ भेदादिको का पूर्ण विचार करके यह सख्या निश्चित की गई है।

[2] प्रो० ह्विटने ने (सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद के पृष्ठ १०४ में) लिखा है—भास्कराचार्य ने कल्प में १९९६६९ सम्पातभगण वतलाये हैं पर यह उनका भ्रम है। भास्कराचार्य ने यहाँ मुंजालोक्त भगण उद्धृत किये हैं।

इसकी टीका मे सौरोक्त और मुंजालोक्त अयनभगणसख्या वतलाने के बाद वे लिखते हैं —

अथ च ये वा ते वा भगणा भवन्तु यदा येऽशा निपुणै—
रुपलभ्यन्ते तदा स एव क्रान्तिपात ।

यहा उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि जिस समय वेध से जो अयनाश उपलब्ध हो वे ही लेने चाहिए। "साम्प्रतोपलब्ध्यनुसारिणी कापि गतिरङ्गीकर्तव्या" कथन से उनका यह मत प्रकट होता है कि उपलब्ध अयनाशो द्वारा कल्पीय भगणो की कल्पना करनी चाहिए। भास्कर के ग्रन्थ मे मुझे उनकी यह उक्ति कही नही मिली कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है। वे यह भी नही कहते कि पूर्ण प्रदक्षिणा नही होती है। करणकुतूहल में उन्होंने वार्षिक अयनगति एक कला और शक ११०५ मे ११ अर्थात् शक ४४५ में शून्य अयनाश माना है।

अयनगतिभगण और वार्षिक अयनगति विपयक उपर्युक्त विवेचन का साराश यह है कि सूर्यादि पाच सिद्धान्तो में वार्षिक अयनगति ५४ विकला, मुंजाल के मत से ५९ ९ विकला और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मत मे ४६ ३ और ४६ ५ विकला है, तथापि मेरी समझ से यह कथन अनुचित न होगा कि शक ८५४ से ६० विकला वार्षिक गति का ही विशेष प्रचार है। उस समय से लेकर आज तक जितने करणग्रन्थ वने हैं प्राय उन सवो मे वार्षिक गति इतनी ही है। हाँ, भटतुल्य करण और सूर्यसिद्धान्तानुयायी दो एक करण ऐसे हैं जिनमे ५४ विकला भी है।

सम्पात का पूर्ण भ्रमण और आन्दोलन

मुजाल के मतानुसार सम्पात विलोम गति से सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल में भ्रमण करता है। कोलब्रूक लिखते हैं कि ब्रह्मसिद्धान्त के टीकाकार पृथूदक और सिद्धान्तशिरोमणि-टीकाकार नृसिंह ने सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा-द्योतक वसिष्ठसिद्धान्तकार विष्णुचन्द्र का एक वचन उद्धृत किया है। इसका विवेचन कर चुके है। सूर्यादि पाच सिद्धान्त सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा नही मानते। उनके मत में वह रेवती तारा से २७ अश पर्यन्त पूर्व और पश्चिम जाता है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त में यह पूर्वपश्चिम-गमन २४ अश तक ही वतलाया है। किसी भी करणग्रन्थ मे स्पष्टतया यह नही लिखा है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है, पर उनकी अयनाशानयन रीति से अयनाश ३६० अश पर्यन्त आते हैं। जब वे २४ या २७ से अधिक होने लगे उस समय वार्षिक गति ६० विकला को ऋण मानकर क्रमश कम करते जाना चाहिए, ऐसा प्राय किसी भी करणग्रन्थ में नही लिखा है। शून्यायनाशवर्ष शक ४४५ और वार्षिक अयनगति एक

कला माननेवाले करणग्रन्थो के अनुसार शके १८८५ में २४ और २०६५ मे २७ अयनाश होगे। सूर्यसिद्धान्तानुसार २७ अयनाश शके २२२१ में और द्वितीय आर्यभट तथा पराशर के मतानुसार २४ शके २४०० के लगभग होगे। यदि यह सिद्धान्त सत्य है कि सम्पात सम्पूर्ण नक्षत्रमण्डल मे नही घूमता, तो शके १८८५ के बाद अधिकाधिक ६०० वर्षो के भीतर ही इसका अनुभव होने लगना चाहिए। अर्वाचीन यूरोपियन ज्योतिषी उसकी पूर्ण प्रदक्षिणा मानते है। यदि उनका सिद्धान्त ठीक होगा तो कालान्तर मे चैत्र-वैशाख मे वर्षा ऋतु आने लगेगी। आधुनिक सायनपञ्चाङ्गकार ललकार कर कहते है कि कुछ दिनो मे सचमुच ऐसा ही होगा और उनके इस कथन को कोई भी असत्य नही कह सकता। श्रुतियो मे वसन्त ऋतु मधु-माधव (चैत्र-वैशाख) मासो मे ही बताई है। इस स्थिति मे मुजाल का यह मत कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है—श्रुतिवचनो के विरुद्ध पडता है। इसलिए मरीचिकारादिको ने उसे वेदबाह्य कहकर सदोष ठहराया है और उनकी दृष्टि से यह ठीक भी है, पर वे यह नही समझ सके कि पूर्ण प्रदक्षिणा होना या न होना अपने अधिकार के बाहर की बात है। वेदाङ्गज्योतिष मे उदगयनप्रवृत्ति धनिष्ठारम्भ मे बताई है। इसका अर्थ यह है कि उस समय सम्पात भरणी के चतुर्थ चरण के आरम्भ मे अर्थात् आरम्भस्थान से २३ अश २० कला पर था। वेदो मे नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है अत उस समय सम्पात सभवत. कृत्तिका के आरम्भ मे अर्थात् आरम्भस्थान से २६ अश ४० कला पर रहा होगा। पहिले वह अश्विनी से आगे था और बाद मे पीछे चला आया, इसी से लोगो ने समझा होगा कि उसका आन्दोलन होता है। उसके लगभग २४ या २७ अश तक के चलन का अनुभव होने के कारण अथवा परमक्रान्ति २४ अश होने के कारण हमारे कुछ सिद्धान्तकारो ने २४ या २७ अश आन्दोलन मान लिया, बाद में अनुभव चाहे जो हो। यदि पूर्ण प्रदक्षिणा मानते है तो ऋतुएँ श्रुतिसम्मत नही होती, इस सद्योदोष को टालने मे उनकी यह आन्दोलन की कल्पना वस्तुत बडा काम कर गई।

अयनगतिसूक्ष्मत्व

अब भारतीयो द्वारा निश्चित की हुई वार्षिक अयनगति और शून्यायनाशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार करेगे। स्पष्ट है कि वर्ष मे सूर्य एक बार सम्पात मे चलकर पुन सम्पात मे आने के बाद जितना आगे जाय वही वार्षिक अयनगति माननी चाहिए। ऊपर पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त के विवेचन में भिन्न भिन्न सिद्धान्तो के वर्षमान दिये है। उनमे से वेदाङ्गज्योतिष, पितामह और पुलिशसिद्धान्तो के वर्षमान शके ४२७ (पञ्चसिद्धान्तिका) के पहिले ही व्यवहार मे बहिर्गत हो चुके थे और रोमक के वर्षमान का प्रचार हमारे देश मे कभी था ही नही, यह भी वही सिद्ध कर चुके

है। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान ३६५।१५।३०।२२।३० शक ९६४ के बाद भी कभी प्रचलित था, ऐसा नहीं मालूम होता। शेष सब ३६५।१५।३१।१५ से ३६५।१५।३१।३१।२४ पर्यन्त हैं और शके १००० में ये ही प्रचलित हैं। ईसवी सन् १९०० का सायन वर्षमान ३६५।१४।३१।५३।२५ है अर्थात् उतने समय में सूर्य सम्पात से चलकर पुनः सम्पात में आ जाता है। इसे सूर्यसिद्धान्त के वर्षमान ३६५।१५।३१।३१।२४ में से घटाने से जो शेष बचता है उतने समय में सायन रवि की गति ५८.७७७[1] अथवा किञ्चित् स्थूल लेने से ५८.८ विकला आती है और शके १००० में प्रचलित उपर्युक्त वर्षमानों में से न्यूनतम मान लेने से सम्पातगति लगभग .२९१ विकला कम अर्थात् ५८.५०८ आती है। ब्रह्मगुप्त का वर्षमान लेने से ५७.५५७ आती है, पर अयनगति निश्चित करते समय यह वर्ष नहीं लिया गया था, यह मेरा मत है। सायन सौरवर्ष का मान थोड़ा थोड़ा न्यून होता जा रहा है। शक ७०० के पास का मान लेने से उपर्युक्त प्रत्येक अयनगति लगभग .२४ विकला कम हो जायगी। इन सब बातों का विचार करने से निश्चय यह होता है कि हमारे ग्रन्थों के उपर्युक्त वर्षमानों के औसतमान के अनुसार ५८.४ विकला वार्षिक अयनगति अत्यन्त सूक्ष्म होगी। सम्प्रति ग्रहलाघव और मकरन्द, ये दोनों ग्रन्थ मिलकर सम्पूर्ण भारत के आधे से अधिक भाग में प्रचलित हैं और दोनों में वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। उसके अनुसार ५८.६ विकला वर्षगति सूक्ष्म होगी। इससे सिद्ध होता है कि मूजाल की वार्षिक गति ५९.९ विकला और सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित ६० विकला, ये दोनों बहुत सूक्ष्म हैं, अर्थात् हमारे ज्योतिषियों द्वारा निश्चित की हुई गति में केवल १.४ विकला का अन्तर है[2]। अयनगति विषयक अन्य राष्ट्रों के अन्वेषण का थोड़ा सा इतिहास आगे दिया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने इसका इतना सूक्ष्म ज्ञान स्वयं सम्पादित किया है, किसी अन्य राष्ट्र से नहीं लिया है और यह एक ही बात यूरोपियनों के इस झूठे आरोप को कि हिन्दू वेध करने में बिलकुल अनाड़ी हैं—अनुचित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है[3]। कोलब्रूक ने लिखा है कि हिन्दुओं की अयनगति टालमी से सूक्ष्म है[4]।

[1] केरोपन्त ने ग्रहसाधनकोष्ठक (पृष्ठ ३२) में ५८.५२१ लिखी है पर यह कुछ सान्तर ज्ञात होती है।

[2] हमारे यहाँ १.४ विकला अधिक मानी गई है, तदनुसार आधुनिक यूरोपियन ग्रन्थागत सायन रवि और ग्रहलाघवीय सायन रवि में अन्तर पड़ता है।

[3] सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद की टिप्पणी में ह्विटने ने वेध के विषय में हिन्दुओं का अनेकों स्थानों पर बड़ा उपहास किया है।

[4] Essays, vol II, p 411

सम्पातगतिविषयक अन्य राष्ट्रों का अन्वेषण

यूरोप में सम्पातगति का अन्वेषण सर्वप्रथम हिपार्कस ने ई० पू० १२५ के लगभग अपने और उससे से लगभग १६० वर्ष प्राचीन टिमोकेरिस के वेधों द्वारा किया। उसके लगभग ३०० वर्ष बाद टालमी ने सम्पातगति के अस्तित्व की निश्चित रूप से स्थापना की। उसके ग्रन्थ सिन्टाक्सिस के सातवें भाग में इसका विवेचन है। उसने लिखा है—हिपार्कस के समय से आज तक २६८ वर्षों में तारों के भोग २ अंश ४० कला बढ़े हैं। तदनुसार उसने १०० वर्षों में एक अंश अर्थात् ३६ विकला वार्षिक गति निश्चित की। टालमी का कथन है कि हिपार्कस ने भी इतनी ही मानी थी। यह बहुत थोड़ी है। २६७ वर्षों में भोग लगभग ३ अंश ३७ कला बढ़ना चाहिए था और टालमी ने २।४० लिखा है अर्थात् उसमें लगभग एक अंश की अशुद्धि है। वेध स्थूल रहे हों तो भी इतनी अशुद्धि होना असम्भव है। इसी कारण बहुत से सुप्रसिद्ध ज्योतिषियों ने अनुमान किया है कि टालमी ने वेध कभी किया ही नहीं था। उसने हिपार्कस के नक्षत्रभोग में २।४० मिलाकर अपना सन् १३७ का नक्षत्रपट तैयार कर लिया था। टालमी पर किये गये इस आरोप को सत्य सिद्ध करनेवाले बहुत से प्रबल प्रमाण हैं। डिलाम्बर ने टालमी और फ्लामस्टेड' के तारकादर्शों के ३१२ तारों के भोगों की तुलना करके और दोनों ज्योतिषियों के समयों में १५५३ वर्ष का अन्तर मानकर वार्षिक गति ५२.४ विकला निकाली है। यह वास्तविक गति से २ विकला अधिक अर्थात् बहुत अधिक है। इसी प्रकार उन्होंने टालमी के नकशे में दिये हुए नक्षत्र भोगों में से २।४० घटाकर उन्हें हिपार्कस के भोग मानकर फ्लामस्टेड के भोगों से उनकी तुलना करके दोनों के समयों का अन्तर १८२० वर्ष मान कर वार्षिक गति ५०.१२ विकला निकाली है। वर्तमान गति और इसमें बहुत थोड़ा अन्तर है (इससे टालमी ने स्वयम् वेध नहीं किया था, इस कथन की पुष्टि होती है)। यूरोप के अर्वाचीन ज्योतिषी सम्पातगति निश्चित करने में सतत प्रयत्नशील रहे हैं। टायकोब्राहे ने ५१ विकला और फ्लामस्टेड ने ५० विकला सम्पातगति निश्चित की थी। लालांडी ने चित्रा तारे के हिपार्कसकथित तथा सन् १७५०

'फ्लामस्टेड इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६४६ मृत्यु १७१९
ब्रैडले इंगलिश ज्योतिषी—जन्म सन् १६९३ मृत्यु १७६२
मेयर जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७२३ मृत्यु १७६२
लालांडी फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७३२ मृत्यु १८०७
डिलाम्बर फ्रेंच ज्योतिषी—जन्म सन् १७४९ मृत्यु १८२२
बेसेल जर्मन ज्योतिषी—जन्म सन् १७८४ मृत्यु १८४६

में स्वय निकाले हुए भोग द्वारा ५० ५ निश्चित की। डिलाम्बर ने ब्राडले, मेयर और लासिले के तथा स्वकीय वेधो द्वारा ५० १ निश्चित की। वेसेल ने सम्पातगति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन किया। उन्होंने सन् १७५० में ५० २११२९ विकला निश्चित की[1]। सन् १९०० में ३६५ ¼ दिनो मे सम्पातगति ५० २६३८ है।

[2]ईसवी सन् की ११ वी शताब्दी के स्पेनिश ज्योतिपी अर्जाएल का मत था कि सम्पातगति ७२ वर्षो में एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष ५० विकला है और सम्पात का पूर्व पश्चिम १० अश आन्दोलन होता है। १३ वी शताब्दी के थिबिथ बिन खोरा नामक ज्योतिषी ने २२ अश आन्दोलन माना था। नवी शताब्दी के एक ज्योतिपी का मत था कि सम्पात ४°।१८'।४३ त्रिज्या के वृत्त मे भ्रमण करता है। अरब के प्रख्यात ज्योतिपी अलबटानी (सन् ८८० ई०) का मत था कि सम्पात का आन्दोलन होता है और उसकी गति ६६ वर्षो में एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष लगभग ५५ ५ विकला है[3]। उसके पूर्व कुछ अरब ज्योतिपी ८० या ८४ वर्षो मे एक अश अर्थात् प्रतिवर्ष ४५ या ४३ विकला गति और पूर्व पश्चिम ८ अश आन्दोलन मानते थे। अलबटानी की गति सूर्यसिद्धान्त से मिलती है।

शून्यायनाशवर्ष का सूक्ष्मत्व

अब इस बात का विवेचन करेंगे कि हमारे ज्योतिपियो द्वारा निश्चित किये हुए शून्यायनाशवर्ष कहा तक सूक्ष्म है। पहिले यहा भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के शून्यायनाश वर्ष लिखते है।

	शक
वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्त, सिद्धान्ततत्त्वविवेक	४२१
मुञ्जाल	४४९
राजमृगाङ्क, करणप्रकाश, करणकुतूहल इत्यादि	४४५

[1]इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त Grant's History of Physical Astronomy (P P 318–320) के आधार पर लिखा है।

[2]इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त कोलब्रूक के निबन्ध के आधार पर दिया गया है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० १२, पृष्ठ २०९ इत्यादि देखिए)।

[3]रेहटसेक का कथन है (Journal of the Bombay B R A S vol XI. No XXXII art VIII) कि अलबटानी के मत से सम्पातगति ७० वर्षो में १ अंश अर्थात् प्रतिवर्ष ५१ ४ विकला है। दोनो में से किसे ठीक मानें ?

करणकमलमार्तण्ड, ग्रहलाघव इत्यादि	४४४
भास्वतीकरण	४५०
करणोत्तम	४३८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	५२७
द्वितीयार्यसिद्धान्तोक्त पराशरमत	५३२
दामोदरीय भट्टतुल्य	३४२

यहा अन्तिम ग्रन्थ भट्टतुल्य का काल विचारणीय है। उस ग्रन्थ मे स्पष्टतया यह नहीं लिखा है कि शक ३४२ मे अयनाश शून्य था। यह वर्ष उसमे दी हुई अयनाशानयन की रीति द्वारा लाया गया है। उसमे आरम्भवर्ष ३४२ मानने का कारण यह है कि वह ग्रन्थ शक १३३९ का है और उसमे वर्षगति सूर्यसिद्धान्त की अर्थात् ५४ विकला ली है। ३४२ को आरम्भवर्ष मानने से शक १३३९ मे अयनाश १४।५७ आते है। शक ४४४ को आरम्भ वर्ष और वर्षगति ६० विकला मानने से शक १३३९ मे अयनाश लगभग इतने ही अर्थात् १४।५५ आते है। अन्य करणग्रन्थो के अनुसार भी लगभग इतने ही आते है। ग्रन्थकार इस अयनाश को छोड नही सकते थे और उन्हे अयनगति ५४ विकला माननी थी। इसलिए उन्होने शून्यायनाशवर्ष ३४२ माना। द्वितीय आर्य सिद्धान्त और पराशर के वर्षो को छोड अब यहा शेष का विचार करेंगे। उन दोनो का विचार बाद में करेंगे। किसी भी सिद्धान्त का शून्यायनाशवर्ष वह है जिसमे उसकी स्पष्ट और सायन मेषसक्रान्तिया एक ही समय अथवा बिलकुल पास पास हो। शक ४५० में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के मध्यम और स्पष्ट मेषसक्रमणकाल ये आते हैं—

	मध्यम मेष (शक ४५०)		[1]स्पष्ट मेष (शक ४५०)	
	चैत्र शुक्ल १४ सोमवार (२० मार्च सन् ५२८)		चैत्र शुक्ल १२ शनिवार (१८ मार्च सन् ५२८)	
	उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से		उज्जयिनी के मध्यम सूर्योदय से	
	घटी	पल	घटी	पल
मूल सूर्यसिद्धान्त	४५	१३ ५	३४	४९
वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्त	४६	३८ २	३६	१४

[1] सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति मध्यम मेषसंक्रान्ति से २ दिन १० घटी १५ पल पूर्व और ब्रह्मसिद्धान्तानुसार २।१०।२४ पूर्व होती है, परन्तु यहाँ अन्तर सर्वत्र २।१०।२४ ही लिया है तथापि इससे फल में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ेगा।

प्रथम आर्यसिद्धान्त	४५ ६ २		३४	४२
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	४७ १३ २		३६	४१
राजमृगाङ्क, करणकुतूहल	४७ २४ ६		३७	१
ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त (चैत्र शुक्ल १३ रवौ)	५२ १० ८	चैत्र शुक्ल ११ भृगौ	४१	४७

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो के स्पष्ट मेषसंक्रमणकाल में सायन रवि[1] निम्नलिखित आता है।

	रा०	अ०	क०
मूल सूर्यसिद्धान्त	११	२९	५८१
वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्त	०	०	०३
प्रथम आर्यसिद्धान्त	११	२९	५८८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	०	०	०९
राजमृगाङ्कादि	०	०	११
ब्रह्मसिद्धान्त	११	२९	७१

यहा ब्रह्मसिद्धान्त की सक्रान्ति और सायन संक्रान्तियो मे शक ४५० में बहुत अर्थात् लगभग ५४ घटी का अन्तर है। इस सिद्धान्त के अनुसार शक ५०९ में दोनो सक्रान्तिया एक समय आती है, परन्तु ब्रह्मगुप्त का वर्षमान इतरो से भिन्न होने के कारण ऐसा होता है। इस वर्षमान का विस्तृत विवेचन ब्रह्मगुप्त के वर्णन में कर चुके है। उससे और उपर्युक्त सायन मेषसक्रमणकाल से ज्ञात होता है कि शून्यायनाशवर्ष ब्रह्मगुप्त के वर्षमान के आधार पर नही निश्चित किया गया है। शेष ग्रन्थो द्वारा उनकी स्पष्ट और सायन मेष-सक्रान्तियो के एक समय आने के काल अर्थात् शून्यायनाशवर्ष नीचे लिखे है—

वर्तमान सूर्यादि पाच सिद्धान्तो के वर्ष द्वारा	शक ४५०
मूल सूर्यसिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त के वर्ष द्वारा	४५१
द्वितीय आर्यसिद्धान्त, राजमृगाङ्कादि के वर्ष द्वारा	४४९

[1] सायन रवि केरोपन्तीय ग्रहसाधनकोष्ठक द्वारा लाया गया है। उसे लाते समय कालान्तरसंस्कार ३ कला माना है। केरोपन्त ने अपने ग्रन्थ में निरयण स्पष्ट मेष-संक्रमण वर्तमान सूर्यसिद्धान्त से लिया है, परन्तु उनके निश्चित किये हुए उसके समय में थोड़ी अशुद्धि है। प्रत्यक्ष सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाया हुआ काल केरोपन्तलिखित मेषसंक्रमणकाल से ५१ पल कम आता है।

इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त (पृष्ठ ४४४) भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के शून्यायनाश वर्षों में से मुजाल और भास्वतीकरण के वर्ष अत्यन्त सूक्ष्म है। सम्प्रति प्रचलित वर्ष शक ४४४ या ४४५ भी बहुत सूक्ष्म[1] है। सूर्यसिद्धान्तानुसार ७२०० वर्षो में एक अयनान्दोलन होता है अर्थात् सम्पात एक स्थान से चलकर ३६०० वर्षो मे फिर वही आ जाता है। कलियुगारम्भ मे वह मूल स्थान मे था। कलियुगारम्भ से ३६०० वर्ष शक ४२१ मे पूर्ण होते हैं और उस वर्ष मे सूर्यसिद्धान्त की मेषसक्रान्ति सायनसक्रान्ति के कुछ ही अर्थात् लगभग २९ घटी पूर्व होती है, अत सूर्य-सिद्धान्तानुसार शून्यायनाशवर्ष शक ४२१ माना गया है। करणोत्तम का वर्ष शक ४३८ है। मैंने वह ग्रन्थ प्रत्यक्ष नही देखा है अत उसके विषय मे विशेष नही किया जा सकता तथापि वह वर्ष सूक्ष्म वर्ष के बिलकुल पास है। द्वितीय आर्यसिद्धान्त में दी हुई रीति द्वारा शून्यायनाशवर्ष शक ५२७ आता है। उसकी अयनाशानयन रीति क्रान्ति की रीति सदृश होने के कारण अयनगति सदा समान नही आती। द्वितीय आर्यसिद्धान्त शक ५२७ के बाद बना है। उसके रचनाकाल मे अन्य ग्रन्थो के अयनाश, द्वितीयार्यसिद्धान्तोक्त रीति द्वारा लाये हुए अयनाश और छाया द्वारा वेध से लाये हुए अयनाश पास पास थे, उनके अनुसार उसमे अयनग्रहभगणो की कल्पना की गई और इसी कारण उसका शून्यायनाशवर्ष शक ५२७ आता है—यह मेरा मत[2] है। द्वितीयार्यसिद्धान्तान्तर्गत पराशरमत की भी यही स्थिति है। इससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ग्रन्थो का शून्यायनाशकाल बहुत सूक्ष्म है। आधुनिक सूक्ष्म यूरोपियन गणित से सिद्ध होता है कि रेवती योगतारा शक ४९६ में सम्पात मे था इसलिए कोई कोई कहते हैं कि शून्यायनाशवर्ष शक ४९६ मानना चाहिए। परन्तु यह ठीक नही है। इसका विचार आगे किया है।

अयनगति और शून्यायनांशकाल निश्चित करने की विधि

यहा तक आधुनिक सूक्ष्म अयनगति और यूरोपियन ग्रन्थो मे लाये हुए सायन रवि द्वारा हमारे ज्योतिषियो की अयन गति और शून्यायनाशवर्ष के सूक्ष्मत्व का विचार किया गया। अब यह देखना है कि ये बातें किस प्रकार निश्चित की गयी हैं। भास्कराचार्य ने लिखा है—

[1] उपर्युक्त सायन रवि अत्यन्त सूक्ष्म नहीं होगा। उसमें एक कला का अन्तर पड़ने से शून्यायनाशकाल एक वर्ष आगे या पीछे चला जायगा।

[2] इस बात को सिद्ध मानकर द्वितीय आर्यसिद्धान्त का रचनाकाल लगभग शक ९०० लाया गया है।

यस्मिन्दिने सम्यक् प्राच्या रविरुदितो दृष्टस्तद्विषुवदिनम्।
तस्मिन्दिने गणितेन स्फुटो रविः कार्यः। तस्य रवेर्मेषादेश्च
यदन्तरं तेऽयनांशा। एवमुत्तरगमने सति। दक्षिणे तु तस्यार्कस्य
तुलादेश्चान्तरमयनांशा॥ पाताधिकार, श्लोक २ टीका।

भास्कराचार्य के इस कथन का तात्पर्य यह है कि मेषविषुवकालीन अथवा तुला-विषुवकालीन ग्रन्थागत रवि और मेषादि अथवा तुलादि के अन्तर तुल्य अयनांश होते है। आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्ष उत्तरायण अथवा दक्षिणायनकालीन ग्रन्थागतरवि और ३ या ९ राशि के अन्तर-तुल्य अयनांश होते हैं। सारांश यह कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि के अन्तर-तुल्य अयनांश होता है। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है—

स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये।
प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते॥११॥
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके॥[1]

त्रिप्रश्नाधिकार

सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार मे श्लोक १७ से १९ पर्यन्त छाया द्वारा सूर्य का भोग लाने की रीति दी है। उस रवि का सायन होना निर्विवाद है। इससे सिद्ध होता है कि सायन रवि और ग्रन्थागत रवि का अन्तर हमारे ग्रन्थो मे अयनांश माना गया है और हमारे ज्योतिषियो ने शक ४४५ के बाद बार-बार छाया द्वारा रवि लाकर प्रथम तत्कालीन अयनांश, उसके बाद अयनगति और उसके द्वारा शून्यायनांशवर्ष निश्चित किया है। इसके लिए उन्हे अनेक वर्षो तक वेध करने पडे होगे। स्पष्ट है कि जितने अधिक वेध किये जायेंगे, बाते उतनी ही सूक्ष्म ज्ञात होगी।

रेवती योगतारा का अयनांश से सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से ही यह भी ज्ञात होता है कि रेवती योगतारे से अयनांश या अयनगति का कोई सम्बन्ध नही है। इसका थोडा अधिक विवेचन करेगे। आधुनिक सूक्ष्म नाक्षत्र-सौरवर्ष का मान ३६५ दिन १५ घटी २२ पल ५३ विपल १३ प्रतिविपल

[1] इस श्लोक का अर्थ पहले (पृष्ठ ४३३ पर) लिख चुके है।

है[1]। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान यदि इतना ही होता तो कह सकते थे कि रेवती योगतारे को अथवा दूसरे किसी तारे को आरम्भस्थान मानना है तो उसका अयनगति से सम्बन्ध है। अर्थात् रेवती योगतारा (जीटापीशियम) को आरम्भस्थान माने तो वह शक ४९६ मे सम्पात मे था अत उस वर्ष को शून्यायनाशकाल और उसके बाद रेवती योगतारे से सम्पात तक के अन्तर को अयनाश मानना चाहिए था, परन्तु हमारा वर्षमान इतना नही है अत निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह नाक्षत्रसौर है। वस्तुत रेवती योगतारा हमारे यहा आरम्भस्थान नही माना गया है क्योकि सूर्यसिद्धान्त और लल्ल के ग्रन्थ मे उसका भोग शून्य नही है। आर्यभट और वराहमिहिर ने योगतारो के भोग ही नही लिखे है, ब्रह्मगुप्त और उनके बाद के बहुत से ज्योतिषियो ने रेवतीभोग शून्य माना है परन्तु उनका आरम्भस्थान रेवती योगतारा कभी नही था और न हो सकता है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय रेवतीयोगतारे में सूर्य के रहने का समय गणित द्वारा शक १७७ आता है और तब से सूर्यसिद्धान्त का आरम्भस्थान प्रतिवर्ष रेवती योगतारे से ८.५१ विकला पूर्व जाता है[2]। ब्रह्मसिद्धान्त को छोड अन्य ग्रन्थो का आरम्भस्थान रेवती होने का वर्ष और प्रतिवर्ष उसके आगे जाने का मान लगभग सूर्यसिद्धान्त तुल्य ही है। ब्रह्मसिद्धान्त की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय रेवती योगतारे में सूर्य के रहने का गणितागत वर्ष शक ५९८ है और उसका आरम्भस्थान प्रतिवर्ष ७.३८ विकला रेवती के आगे जाता रहता है। साराश यह कि यदि हमारे ग्रन्थो का वर्ष नाक्षत्रसौर और आरम्भस्थान रेवती योगतारा होता तो रेवती योगतारे के सम्पात में आने के काल को शून्यायनाशवर्ष और सम्पात से उसके अन्तर को अयनाश मानना उचित था, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नही है। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान भिन्न होने के कारण ऐसा परिणाम नही होता। दूसरी बात यह कि यूरोपियन ज्योतिषी जिसे जीटापीशियम कहते है और कोलब्रूक इत्यादि यूरोपियन विद्वानो ने जिसे रेवती योगतारा माना है वह तारा बहुत छोटा है। तारो के महत्त्व और तेजस्विता के आधार पर उनकी कई प्रतिया मानी गई है। चित्रा, स्वाती, रोहिणी इत्यादि बडे-बडे तारे प्रथम प्रति के है। उत्तराफाल्गुनी, अनुराधा इत्यादि कुछ तारे द्वितीय प्रति में है। कृत्तिकादि कुछ तृतीय प्रति के और पुष्यादि चतुर्थ प्रति के है। रेवती योगतारा चतुर्थ और पञ्चम प्रति के मध्य में है। कोई-कोई उसकी गणना षष्ठ

[1] Le Verrier's Tables.

[2] सूर्यसिद्धान्त के वर्षमान और आधुनिक सूक्ष्म वर्षमान के अन्तर-तुल्य समय में मध्यम रवि की गति इतनी होती है।

प्रति मे करते हैं। २७ तारो मे इसके तुल्य या इससे छोटे दो, तीन ही हैं। सम्प्रति उसे पहिचाननेवाले पुराने ज्योतिषी बहुत कम मिलेंगे। साराश यह कि वह बहुत छोटा है और वेध के लिए प्राय निरुपयोगी है। अयनाश लाने मे उसका उपयोग नही होता था, यह तो उपर्युक्त भास्करोक्ति और सूर्यसिद्धान्त के वचन से स्पष्ट ही है। हमारे ग्रन्थो मे अन्यत्र भी वेध की जो रीतिया बतायी है उनमें वेध का स्थिर तारो से बहुत कम सम्बन्ध है। मालूम होता है, ग्रह को सायन करके सम्पात या सायन रवि के सम्बन्ध से वेध करने की रीति पहिले विशेष प्रचलित थी[1]। यदि हमारे ज्योतिषियो ने अयनगति का सम्बन्ध रेवती योगतारे से रखा होता अर्थात् वार्षिक अयनगति ५० २ विकला और सम्पात तथा रेवती योगतारे के अन्तर को अयनाश माना होता तो परिणाम कितना विपरीत होता, इसका यहा एक उदाहरण देते हैं। शक १८०९ में आश्विन शुक्ल ७ शुक्रवार ता० २३ सितम्बर सन् १८८७ को प्रात काल ग्रहलाघव द्वारा स्पष्ट रवि ५।७।५।३७ आता है। उस वर्ष का ग्रहलाघवीय अयनाश २२।४५ है। इसे जोड देने से सायन रवि ५।२९। ५०।२७ आता है। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन सूर्योदय से लगभग ९ घटी के बाद सायन तुलासंक्रान्ति हुई अत वही विषुवदिन हुआ। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में दिनमान उसी दिन ३० घटी है। केरोपन्तीय और सायनपञ्चाङ्गो में भी उसी दिन ३० घटी दिनमान है, अत. स्पष्ट है कि ग्रहलाघव का दिनमान शुद्ध है। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग में उस समय का अयनाश लगभग १८।१८।१३ है। यह सम्पात और रेवती योगतारे का अन्तर तुल्य है। इसे उपर्युक्त ग्रहलाघवीय रवि में जोडने से सायन रवि ५।२५।२३।५० होगा। इस प्रकार आश्विन शुक्ल ७ के लगभग चार पाच दिन बाद विषुवदिन आता है जो कि अशुद्ध है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने छायादिको द्वारा लाये हुए रवि और ग्रन्यागत रवि के अन्तरतुल्य अयनाश माना और तदनुसार ही अयनगति निश्चित की, यह बडा अच्छा किया। अयनगति का बदलना तभी उचित होगा जब कि वर्षमान भी बदल दिया जाय।

अयनगतिमान-निर्णयकाल

सम्प्रति यह बताना कठिन है कि हमारे ज्योतिषियो ने अयनगति कब निश्चित की। लघुमानस करण शक ८५४ में बना है। इसमे तत्कालीन अयनाश लिखे हैं और अयनगति ६० विकला मानी है। ये दोनो अत्यन्त सूक्ष्म है अत लगभग शक ८०० के पूर्व हमारे यहा अयनगति का पूर्ण ज्ञान हो चुका था, इसमें सन्देह नही है। मूल सूर्य-

[1] आगे वेधप्रकरण और त्रिप्रश्नाधिकार की नलिकाबन्ध की रीति देखिए।

सिद्धान्त, प्रथम आर्यसिद्धान्त और पञ्चसिद्धान्तिका मे अर्थात् शक ४२७ के पहिले के ग्रन्थो मे अयनगति के विषय मे कुछ नही लिखा है, अत शक ४२७ तक अयनगति का विचार नही हुआ होगा। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे अयनगति है। उसका विचार हम (पृष्ठ ४३४ मे) कर चुके है। ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थो मे अयनगतिसस्कार कही नही है और उनसे प्राचीन वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे है, इससे सहज ही कल्पना होती है कि अयनचलन-सम्बन्धी श्लोक उसमें बाद मे मिला दिये गये होगे। वे श्लोक त्रिप्रश्नाधिकार में है। वस्तुत अयन-भगण अन्य भगणो के साथ मध्यमाधिकार मे लिखे जाने चाहिए थे। स्पष्टाधिकार में और उसमे भी विशेषत क्रान्ति-चर इत्यादिको के साधन मे तो अयनसस्कार अवश्य बताना चाहिए था, पर वहा नही है। त्रिप्रश्नाधिकार के अतिरिक्त उसका उल्लेख ग्रन्थभर में अन्यत्र केवल एक स्थान पर—पाताधिकार के छठे श्लोक मे है। मानाधिकारमें मकर-कर्कसक्रान्तियो को ही अयन कहा है। त्रिप्रश्नाधिकार मे वे श्लोक जहा है वहा से निकाल दिये जाय तो ग्रन्थ में कोई असम्बद्धता नही आती। इन हेतुओ से यह अनुमान दृढ होता है कि वे श्लोक प्रक्षिप्त है तथापि भास्कराचार्य के लेख से ज्ञात होता है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी सूर्यसिद्धान्त मे अयनचलनविचार था। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के ५०० वर्ष बाद हुए है। अत. उनका अनुमान ब्रह्मगुप्त के १२०० वर्ष बाद के आधुनिको के अनुमान की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। अत कह सकते है कि ब्रह्मगुप्त के पहिले भी वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे अयनगतिविचार रहा होगा। ब्रह्मगुप्त से प्राचीन शक ५०० के लगभग के विष्णुचन्द्र के ग्रन्थ मे तो वह था, इसमे सन्देह ही नही है (देखिए पृ० ४३६)। ब्रह्मगुप्त का मत था (ब्रह्मगुप्त का वर्णन देखिए) कि सायन रवि की सक्रान्ति ही सक्रान्ति है अर्थात् सायनमिथुनान्त ही दक्षिणायनारम्भ है। मालूम होता है इसी कारण उन्होने अयनगति का बिलकुल विचार नही किया। लल्ल के ग्रन्थ मे अयनगति के विषय मे कुछ नही लिखा है परन्तु मालूम होता है दक्षिणायनारम्भ और मिथुनान्त को एक ही मानने के कारण अथवा उस समय रवि और सायन रवि मे बहुत थोडा अन्तर होने के कारण ऐसा हुआ होगा। साराश यह कि शक ५०० के लगभग हमारे यहा अयनगति का विचार आरम्भ हुआ और शक ८०० के पूर्व उसका सूक्ष्म ज्ञान हो चुका था।

चतुर्थ प्रकरण

वेधप्रकरण

वेध शब्द 'व्यध्' धातु से उत्पन्न हुआ है। शलाका, यष्टि अथवा किसी अन्य पदार्थ द्वारा सूर्यादि खस्थ पदार्थों को देखने का नाम वेध है। उन शलाकादिको द्वारा खस्थ विम्व विद्ध होता है, इसलिए इस क्रिया का नाम वेध पडा। केवल दृष्टि से खस्थ पदार्थों को देखना अवलोकन है, पर इसे भी वेध कह सकते हैं। सुविधा के लिए यहा इसे दृष्टि-वेध कहेंगे। यष्टि इत्यादि वेध साधनो द्वारा—जिन्हें सामान्यत यन्त्र कहते हैं—किया जाने वाला वेध यन्त्रवेध है।

हमारे देश में वेधपरम्परा

यूरोपियन कहते हैं कि भारतीयो को वेधज्ञान नही है, उनके यहा वेधपरम्परा नहीं है और न तो वेधयन्त्र हैं। इसी बात को एक मुख्य हेतु मानकर वे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि हिन्दुओ ने ज्योतिषशास्त्र ग्रीको से लिया है। हम लोगो को सृष्टिचमत्कार के अवलोकन का शौक नही है, यह तो कभी कहा ही नही जा सकता। प्रथम भाग के अनेको वर्णनो से यह बात सिद्ध हो जाती है। २७ नक्षत्रो का ज्ञान तो हमें अत्यन्त प्राचीन काल में अर्थात् ऋग्वेदकाल में ही था। ऋग्वेद में सप्तर्षि तारो और ग्रहों का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में २७ नक्षत्रो का वर्णन अनेक स्थानो में है। इनके अतिरिक्त दो दिव्य श्वान, दिव्यनौका, नक्षत्रिय प्रजापति नामक तारापुजो का वर्णन पहले कर चुके हैं। नक्षत्रतारो में रोहिणी के विषय में तैत्तिरीयसहिता मे एक विस्तृत कथा है कि उस पर चन्द्रमा की अत्यन्त प्रीति है। चन्द्रमा-रोहिणी की निकटयुति अथवा १९ वर्षों में ६ वर्ष लगातार चन्द्रमा द्वारा रोहिणी का आच्छादन ही इस कथा का मूल बीज है। आश्वलायनसूत्र में ध्रुव और रोहिणी का उल्लेख है। शनिकृत रोहिणीशकटभेद का ज्ञान तो हमें आज के ७ सहस्र वर्ष पूर्व ही हो चुका था। महाभारत में ग्रह, धूमकेतु और तारो का उल्लेख अनेक स्थानो में है, यह पहिले लिख ही चुके हैं। वाल्मीकि रामायण में भी अनेक स्थानो पर नक्षत्रो और ग्रहो का वर्णन है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में नक्षत्र-वीथियो का उल्लेख है। केवल ज्योतिषशास्त्रविषयक न होते हुए भी इन ग्रन्थो में नक्षत्र-ग्रहों का यह पर्याप्त वर्णन सिद्ध करता है कि हमें प्राचीनकाल से ही आकाशा-वलोकन में अभिरुचि रही है। गर्गादि सहिताओ में से कुछ सहिताएँ हमारे देश में ज्योतिषगणितपद्धति निश्चित होने के पहिले की हैं, इसमें सन्देह नही। उनमें भी ग्रहचार अर्थात् नक्षत्रो में ग्रहो के गमन का वर्णन एक मुख्य विषय रहता है। वराहमिहिर ने

बृहत्संहिता के केतुचार नामक एक विस्तृत अध्याय मे अनेक धूमकेतुओ का वर्णन किया है। अध्याय के आरम्भ का एक श्लोक है—

> गार्गीय शिखिचार पाराशरमसितदेवलकृतञ्च।
> अन्याश्च बहून् दृष्ट्वा क्रियते ऽयमनाकुलश्चार ॥

इसमें उन्होंने लिखा है कि मैं गर्ग, पराशर, असित, देवल और अन्य अनेक ऋपियो के वर्णनो के आधार पर यह केतुचार लिख रहा हू। भटोत्पल ने इसकी टीका में पराशरादिको के अनेक वाक्य दिये हैं। उनमे से कुछ ये हैं—

> 'पैतामहश्चलकेतु पञ्चवर्पशत प्रोष्य उदित। अथोद्दालक श्वेतकेतुर्दशोत्तर वर्पशत प्रोष्य दृश्य। शूलाग्राकारा शिखा दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रमुपसृत्य मनाक् ध्रुव ब्रह्मराशि सप्तर्पीन् संस्पृश्य काश्यप श्वेतकेतु पञ्चदश वर्पशत प्रोष्यैन्द्र्या पद्मकेतोश्चारान्ते नभसस्त्रिभागमाक्रम्यापसव्य निवृत्यार्धप्रदक्षिणजटाकारशिख स यावन्तो मासान् दृश्यते तावद्वर्पाणि सुभिक्षमावहति। अथ रश्मिकेतुर्विभावसुज. प्रोष्य शतमावर्तकेतोरुदितश्चारान्ते कृत्तिकासु धूमशिख ॥'
> —पराशर

भावार्थ—पैतामहकेतु पाच सौ वर्प प्रवास करने (एक वार दिखाई देकर पाच सौ वर्प अदृश्य होने) के बाद उगता है। उद्दालकश्वेतकेतु ११० वर्प प्रवास करने के बाद उगता है। शूलाग्र सदृश शिखा धारण करने वाला काश्यपश्वेतकेतु १५०० वर्प प्रवास करके पद्मकेतु नामक धूमकेतु आ जाने के बाद, पूर्व दिशा में उदित होकर ब्राह्म (अभिजित्) नक्षत्र का स्पर्श करके और ध्रुव, ब्रह्मराशि तथा सप्तर्पियो का थोडा स्पर्श करके आकाश के तृतीयाश पर आक्रमण करके अपसव्य मार्ग से जाता हुआ जितने दिनो तक अर्ध-प्रदक्षिणाकार जटा धारण किये दिखाई देता है उतने दिनो तक सुभिक्ष रहता है[1]। विभावसुजरश्मिकेतु १०० वर्प प्रवास करने के बाद आवर्तकेतु के पश्चात् कृत्तिका नक्षत्र में उगता है। वह धूमशिख है।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक केतुओ का वर्णन है। उद्दालक, कश्यप इत्यादि ऋपियो

[1] प्रथम भाग में महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ३ की ग्रहस्थिति लिखी है, उसमें ब्रह्मराशि शब्द आया है। उससे, इस उल्लेख से और ब्रह्मा अभिजित् नक्षत्र का देवता

द्वारा पता लगाये जाने के कारण इनके उद्दालकादि नाम पड़े होंगे, जैसे कि आजकल यूरोपियन ज्योतिषियो के नामानुसार एनकी का धूमकेतु, हाले का धूमकेतु इत्यादि नाम पडे है। स्पष्ट है कि कई शताब्दियो तक लगातार अन्वेपण करने के बाद ये वर्णन दिये है। आर्यभट और ब्रह्मगुप्त का यह कथन कि सूर्यचन्द्रस्थितिया ग्रहण द्वारा लायी है, पहिले लिख ही चुके है। वेध का कार्य अनेक वर्षो तक सतत होते रहने से उसका बडा उपयोग होता है और यह कार्य राजाश्रय बिना होना कठिन है। वराहमिहिर ने ज्योतिषियो का बडा पूज्यत्व बताया है। उन्होने यह भी लिखा है कि राजाओ को अपने यहा ज्योतिषी रखकर आकाश बाट कर उनमें से कुछ द्वारा आकाश के भिन्न-भिन्न भागो का सतत अवलोकन कराना चाहिए। भोजराजा के राजमृगाङ्क और वल्लभवशीय दशबल राजा के करणकमलमार्तण्ड से भी ज्ञात होता है कि बहुत से ज्योतिषी उनके आश्रित थे। इसी प्रकार अनेक ज्योतिष ग्रन्थकारो को राजाश्रय होने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे हमारे यहा राजाश्रय द्वारा वेध का कार्य होता था। भिन्न-भिन्न ज्योतिषियो द्वारा मध्यम ग्रहो मे दिये हुए बीजसंस्कार का वर्णन पहले कई स्थानो पर किया गया है। स्पष्ट है कि उनकी कल्पना बिना वेध के नही हुई होगी। केशव ने स्वकृत वेध का उल्लेख किया है और सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ध्रुव तारे को चल बताया है।

आज भी आकाशावलोकन में अभिरुचि रखने वाले पुरुष हमारे यहा अनेक है और कुछ तो ऐसे है जिन्होने ज्योतिष का अध्ययन बिलकुल नही किया है फिर भी वे बहुत से नक्षत्रो और ग्रहो को पहिचानते है। अगरेजी और सस्कृत भाषाओ तथा ज्योतिष के सर्वथा अनभिज्ञ दो मनुष्यो ने मुझसे सहज ही कहा था कि ध्रुव नक्षत्र स्थिर नही है। उन्ही में से एक को नक्षत्र और ग्रहो का उदयास्त इत्यादि देखने में बडी रुचि थी और उससे मुझे बडी सहायता मिली। आगाशीनिवासी पाध्ये उपनामक एक वैदिक मुझे शक १८०९ में पूना में मिले थे। किसी ज्योतिष का अध्ययन न होने पर भी उन्हें यह मालूम था कि आकाश में तारे प्रतिदिन प्राय पूर्व से पश्चिम जाते है, पर कुछ (उत्तर ध्रुव के पास के) तारे कुछ समय तक पश्चिम से पूर्व जाते है। पूछने पर मालूम हुआ कि यह बात उन्हे उनके भाई ने बतायी थी। भाई का देहान्त शक १७९५ में २२ वर्ष की

है, इससे ज्ञात होता है कि अभिजित् नक्षत्र के आसपास के तारापुंज को ब्रह्मराशि कहते थे। धूमकेतु का जो स्थान बताया है उसे खगोल पर देखने से ठीक संगति लगती है। उसमें कोई असम्भव बात नहीं है। विशेषत. अर्धदक्षिणाकार शिखा की तारो के विषय में बतायी हुई स्थिति से ठीक सगति लगती है।

अवस्था मे हुआ था। वे वडे बुद्धिमान् थे। ऐसे अनेक पुरुष सम्प्रति विद्यमान होगे। कुछ लोगो को ये बाते अनावश्यक मालूम होगी, पर प्रथम ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान ऐसे ही पुरुषो के प्रयत्न से हुआ होगा और हममे वह स्वभाव आज भी है—यह दिखाने के लिए ही ये बाते लिखी है।

सौरार्यब्राह्मादि सिद्धान्तो मे उनमें पठित भगणादि मानो के लाने की विधि का और किसी प्रकार के वेध का वर्णन नही है। यूरोपियनो को यह बात वडी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, पर वे प्राचीन स्थिति और हमारी धारणाओ का विचार नही करते। प्रेसो की तो बात ही जाने दीजिए, जिस काल मे लिपिप्रचार, लिपिसाधन, अधिक क्या, लिपि के अस्तित्व तक की सभावना नही है, स्पष्ट है कि उस समय सभी बाते गुरुशिष्य परम्परया मुख से ही सिखायी जाती रहीहोगी अत उस समय के अन्वेषको द्वारा निश्चित किये हुए केवल सिद्धान्तो का रह जाना और उनके साधनो का नष्ट हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। यदि आज हममे कोई कहे कि अमुक समय ग्रहण लगेगा तो इसमे हमे आश्चर्य नही होगा परन्तु प्राचीनकाल में इस प्रकार के भविष्य बताने वालो को अलौकिक पुरुष समझना अप्राकृतिक नही है। वह मनुष्य यदि ग्रन्थ बनावेगा तो उसमे किसी भी सिद्धान्त का पूर्वरूप और उसके साधनो का वर्णन नही करेगा, बल्कि अन्तिम सिद्धान्त ही लिखेगा। कुछ दिनो के बाद उसका नाम लुप्त हो जायगा और उसके ग्रन्थ को लोग अपौरुष मानने लगेंगे, यह भी सम्भव है। एक बार यह पद्धति पड जाने के कारण बाद के पुरुष ग्रन्थकारो ने भी अपने अनुमानो के पूर्व अङ्ग नही लिखे है। टालमी के ग्रन्थ मे उनके और हिपार्कस के वेधो का वर्णन है, उनके बाद के पाश्चात्य ज्योतिषियो के भी वेध लिखे है, पर हमारे ग्रन्थो में यह बात नही है। इसका कारण सम्भवत उपर्युक्त ही होगा। तथापि वेध के सम्बन्ध मे व्यक्ति विषयक प्रयत्नो का थोडा वर्णन पहले कर चुके है, कुछ आगे भी करेंगे।

यन्त्रवर्णन

अब ग्रहस्थितिमापक और कालमापक यन्त्रो का वर्णन करेंगे। भास्कराचार्य के ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है। अत पहिले उनके बताये हुए यन्त्रो का' और बाद में अन्य यन्त्रो का सक्षिप्त वर्णन करेंगे।

' सिद्धान्तशिरोमणि के गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय के आधार पर यह वर्णन किया है। इसमें आये हुए नाडीवलय इत्यादि शब्दो का लक्षण सहित विस्तृत विवेचन करने से बड़ा विस्तार होगा और विस्तार करने पर भी बिना देखे यन्त्रो का

गोलयन्त्र—एक सीधी, गोल और सर्वत्र समान मोटी लकडी लीजिए। इसका नाम ध्रुवयष्टि है। छोटा सा पृथ्वी-गोल इस प्रकार बनाइए कि यष्टि में पहनाने पर वह आगे पीछे हटाया जा सके। उसे यष्टि के बीच में पहनाइए। उसके बाहर भगोल बनाइये जिसमें बैठे हुए सूर्यादि ग्रह पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं। भगोल इस प्रकार बनेगा—ठीक वृत्ताकार एक वलय[1] बनाइए। उसे ध्रुवयष्टि के दो बिन्दुओं मे इस प्रकार बाधिए कि ध्रुवयष्टि द्वारा उसके दो समान भाग हो जाय। ठीक ऐसा ही एक और वृत्त बनाकर यष्टि के उन्ही दो बिन्दुओ में इस प्रकार बाधिए कि वह प्रथम वृत्त पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि द्वारा उसके भी दो समान भाग हो जाय। इन दोनो को आधारवृत्त कहते हैं। तीसरा एक इतना ही बडा वलय लेकर आधारवृत्तों के चार बिन्दुओ में इस प्रकार बाधिए कि वह दोनो आधारवृत्तो पर लम्ब हो और ध्रुवयष्टि उसका अक्ष हो। इसका नाम नाडीवलय अथवा विषुववृत्त है। इसके ६० समान भाग कीजिए। ये ६० नाडी (घटी) के द्योतक होंगे। इतना ही बडा एक और वृत्त इसमें इस प्रकार बाधिए कि वह इसे दो स्थानो पर काटे। और दोनो मे २४ अश का कोण बन जाय। इसे क्रान्तिवृत्त कहेंगे। इसी में सूर्य घूमता है। इसके राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। यदि भगोल को ही सूर्येतर ग्रहगोल मानना है तो क्रान्तिवृत्त में क्षेपाशतुल्य कोण बनाने वाले क्षेपवृत्त बाधिए। इनके भी राशिदर्शक १२ भाग कीजिए। क्रान्तिवृत्त पर अहोरात्रवृत्त बाधिये। वृत्त इस प्रकार बाधिए कि ध्रुवयष्टि के दोनो अग्र कुछ बाहर निकले रहें। इन दोनो अग्रो को दो नलियों में डाल दीजिए। भगोल के बाहर खगोल बनाना पडता है, उसी में ये नलिया बैठायी जायगी। ध्रुवयष्टि के दोनो अग्रो को दक्षिणोत्तर ध्रुवो के सामने रखना होगा। खगोल में जो क्षितिजवृत्त रहता है, उसके उत्तर बिन्दु से अक्षाश इतनी ऊचाई पर ध्रुवयष्टि का उत्तर अग्र भाग रहेगा। ध्रुवयष्टि के दोनो अग्रो को नलियो में इस प्रकार बैठाइए कि खगोल को स्थिर रखकर भगोल घुमाया जा सके। भगोल के बाहर खगोल इस प्रकार बनेगा—

यथार्थ ज्ञान होना कठिन है इसलिए यहाँ संक्षिप्त ही वर्णन किया है तथापि मुझे विश्वास है कि इसकी सहायता से सामान्य मनुष्य भी भास्कराचार्य का गोलबन्धाधिकार और यन्त्राध्याय अच्छी तरह समझ सकेगा। छत्रेस्मारक में यदि ये यन्त्र रखे जायँ तो थोडे व्यय में बहुत बड़ा कार्य होगा।

[1] ये वलय सीधे लचीले बाँसो की शलाकाओं (फलठो) से बनाने के लिए कहे गए हैं। धातुओं के मोटे-मोटे तारो के भी हो सकते हैं। य वलय ही वृत्त-परिधि हैं।

इसके वृत्त भगोल के वृत्तो से कुछ बडे रहेगे। चार समान वृत्त वनाइये। एक स्वस्तिक, अघ स्वस्तिक और पूर्वापर विन्दुओ मे होता हुआ जायगा। इसका नाम समवृत्त है। दूसरा याम्योत्तरवृत्त और दो कोणवृत्त रहेंगे। ये सभी ऊर्ध्वाघ स्वस्तिको में होते हुए जायगे। इन सवो का समद्विभाग करनेवाला क्षितिजवृत्त इस प्रकार वाघिए कि उत्तर ध्रुव उससे उस स्थान के अक्षाश इतना ऊपर पडे और दक्षिण ध्रुव उतना ही नीचे। पूर्वापर और ध्रुवविन्दुद्वयप्रोत उन्मण्डलवृत्त वनाइए। भगोलीय विपुववृत्त के धरातल में उससे वडा विपुववृत्त वनाइये। इसमे भी घटियो के चिह्न वनाइये। इसके वाद खस्वस्तिक और अघ स्वस्तिक स्थानो मे दो काटे लगा कर उन्ही में एक वृत्त यो फसा दीजिए कि वह चारो ओर घुमाया जा सके। इसे दृङ्मण्डल कहते है। इसी का नाम वेघवलय भी है। चूँकि इसे खगोल के भीतर घुमाना है इसलिए यह कुछ छोटा रहेगा। ग्रह आकाश मे जहा रहेगा वही इसे घुमाकर इससे ग्रह का वेध किया जायगा। खगोल इस प्रकार वनाना चाहिए कि इसके भीतर वैठायी हुई दो नलियो मे ध्रुवयष्टि के दोनो अग्र भाग ठीक वैठ जायँ, इसके वाहर दो नलिया लगा कर दृग्गोल वनाइए। खगोल और भगोल दोनो के सव वृत्त इसमे पुन वनाने होगे। अग्रा, कुज्या इत्यादि द्विगोलजात क्षेत्रो को समझने के लिए यह आवश्यक है। इन सव क्षेत्रो के समुदाय को गोल कहते है। (हमारे ज्योतिषी कभी-कभी रेखाओ को भी क्षेत्र कहते है)

लिखा है कि इसी गोल मे आवश्यकतानुसार नीचोच्चवृत्तो के साथ-साथ सव ग्रहो की कक्षाएँ पृथक्-पृथक् वनायी जा सकती है। ब्रह्माण्डगोल की रचना दिखाने के लिए ही इस गोल का यह वर्णन किया गया है। वस्तुत. इतने वृत्तो का एकत्र वाघना कठिन है और इनकी सहायता से वेघ करना उससे भी कठिन है। उदाहरणार्थ, खगोल के भीतर भगोल वनाने के वाद वेघवलय नही वनाया जा सकता। ये अडचने भास्कराचार्यादिको के ध्यान मे नही आयी होगी, यह वात नही है। वेघ थोडे से आवश्यक वृत्तो द्वारा ही करना चाहिए। हिपार्कस के आस्ट्रोलेव सरीखा हमारे यहा कोई यन्त्र नही है, पर इससे हमारे ग्रन्थो की स्वतन्त्रता ही व्यक्त होती है। इस गोल से आस्ट्रोलेव का कार्य किया जा सकता है। ब्रह्मगुप्त, लल्ल और दोनो आर्यभटो ने प्राय ऐसा ही गोलवन्ध लिखा है। प्रथम आर्यभट के गोल मे इससे कम प्रपञ्च है।

भास्कराचार्य ने यन्त्राध्याय में मुख्यत ९ यन्त्रो का वर्णन किया है। उन्होने उनका मुख्य उद्देश्य कालसाधन ही वताया है, पर उनमे से तीन मुख्यत. वेधोपयोगी है। यहा उनका सक्षिप्त स्वरूप लिखते है।

१ चक्रयन्त्र—धातुमय अथवा काष्ठमय चक्र वनाकर उसके वीच मे छिद्र करे। चक्र की नेमि पर यन्त्र को धारण करने के लिए शृङ्खलादि आधार वनावे। आधार

और मध्यविन्दु में होकर जाती हुई एक लम्बरूप रेखा बनावे। उसके ऊपर लम्बरूप एक दूसरी रेखा मध्यविन्दु मे होकर जाती हुई बनावे। चक्रपरिधि पर अशो के चिह्न बनावे। मध्यविन्दुस्थ छिद्र मे एक शलाका डाले जो कि चक्र पर लम्ब हो। यही अक्ष है। आधार द्वारा चक्र को इतना घुमावे कि उसकी परिधि ठीक सूर्य के सामने आ जाय। ऐसा करने पर अक्ष की छाया परिधि में जहा लगे वहा से उस ओर की तिर्यक् रेखा पर्यन्त सूर्य का उन्नताश और छाया से चक्राधोविन्दुपर्यन्त नताश जाने (इससे काल लाया जा सकता है)। इसी चक्र को इस प्रकार पकडे कि पुष्य, मघा, शतभिषक् और रेवती, इन शून्य शरवाले तारो मे से दो उसकी परिधि पर आ जाय। (ऐसा करने से वह क्रान्तिवृत्त के धरातल मे आ जायगा) फिर दृष्टि आगे-पीछे करके ग्रह देखे। वह प्राय अक्षगत दिखाई देगा। इस रीति से ग्रहो के भोगशर ज्ञात होगे। यह यन्त्र गोल-यन्त्र के दृङ्मण्डल सदृश ही है। इसके वर्णन से स्पष्ट है कि यह गोलयन्त्र के वलय सदृश नही वल्कि पत्ररूप है।

२ चाप—चक्र का आधा करने से चाप होता है।

३ तुर्यगोल (तुरीययन्त्र)—चाप का आधा तुर्य है।

४ गोलयन्त्र—ऊपर लिखी हुई विधि से खगोल में भगोल बनाने के बाद क्रान्तिवृत्त में इष्ट दिन के रविस्थान का चिह्न बनावे। भगोल को घुमाकर वह चिह्न क्षितिज मे ले आवे। भगोलीय विषुववृत्त का जो विन्दु क्षितिज के सामने आवे, वहा चिह्न बनावे। भगोल को फिर इस प्रकार घुमावे कि रविचिह्न की छाया पृथ्वीगोल पर पडे। इस स्थिति में विषुववृत्तीय चिह्न से क्षितिज पर्यन्त नाडीवलय में जितनी घटिया हो उन्हे सूर्योदय से गतघटी जाने। उस समय क्रान्तिवृत्त का जो विन्दु क्षितिज में लगा रहेगा उससे लग्न का ज्ञान होगा।

५ नाडीवलय—एक चक्र बनाकर उसकी नेमि पर ६० घटियो के चिह्न बनावे। उसके मध्य में एक शलाका डाले जो कि उस पर लम्ब हो। शलाका को ध्रुवाभिमुख करने से उसकी छाया परिधि पर पडेगी। उससे नतोन्नत काल का ज्ञान होगा। इसी चक्र को गोल में नाडीवृत्तधरातल में रखकर उस पर घटिका, स्वदेशीय उदय और षड्वर्ग (लग्न, होरा, द्रेष्काण, नवाश, द्वादशाश, त्रिशाश) के चिह्न बनाने से यष्टि-छाया द्वारा दिनगत काल और षड्वर्ग ज्ञात होगे।

६ घटिका—द्रोणाकार हलके ताम्रपात्र के पेदे मे एक छेद कर दिया जाता है। इसी का नाम घटिका है। इसे दूसरे जलपूर्णपात्र में छोड दिया जाता है। छिद्र द्वारा पानी भीतर जाने लगता है और घटिका ठीक एक घटी में डूब जाती है। छिद्र पात्र के आकार के अनुसार छोटा वडा बनाया जाता है।

७ शङ्कु—शङ्कु हाथीदात अथवा उसी प्रकार के किसी घन पदार्थ का बनाया जाता है। यह १२ अगुल लम्बा, गोल और ऊपर से नीचे तक समान मोटा होता है। इसका तल और मस्तक सपाट होता है। इसकी छाया द्वारा कालादि लाने की रीति त्रिप्रश्नाधिकार में दी रहती है।

८ फलकयन्त्र—चक्र के ही आधार पर भास्कराचार्य ने इस कालसाधनयन्त्र की कल्पना की है। इसकी रचना यन्त्राध्याय मे देखिये। यहा लिखने से ग्रन्थविस्तार होगा।

९ यष्टियन्त्र—सम भूमि पर त्रिज्यामित व्यासार्ध का एक वृत्त बनाकर उस पर दिशाओ के चिह्न बनावे और पूर्व-पश्चिम भागो मे ज्यार्ध की तरह अग्रा बनावे, उसी वृत्त के केन्द्र से द्युज्यामित व्यासार्ध का एक दूसरा छोटा वृत्त बनावे। उस पर ६० घटियो के चिह्न बनावे। बडे वृत्त की त्रिज्या तुल्य एक यष्टि लेकर उसका एक अग्र केन्द्र मे रखे और दूसरा सूर्याभिमुख करे, जिससे उसकी छाया बिलकुल न पडे। दूसरा अग्र और पूर्वाग्र का अग्र, इन दोनों के अन्तरतुल्य लम्बी एक शलाका द्युज्यावृत्त मे ज्या की तरह रखे। इसके दोनो सिरो के बीच मे जितनी घटिकाएँ हो उतना दिन गत जाने। सूर्य पश्चिम ओर रहने पर इसी प्रकार पश्चिमाग्र द्वारा दिनशेप का ज्ञान करे। इस यष्टियन्त्र द्वारा पलभा इत्यादि अन्य अनेक पदार्थ लाने की रीतिया दी हैं। इससे किंचित् भिन्न यष्टियन्त्र द्वारा सूर्य-चन्द्रान्तर और उससे तिथि निकालने की रीति ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने लिखी है।

भास्कराचार्य ने इसके अतिरिक्त कालसाधनार्थ दो और स्वयवह यन्त्र लिखे हैं।

अथर्वज्योतिप में द्वादशाङ्गुल शङ्कु की छाया का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य और हमारे ज्योतिपज्ञान का सम्बन्ध होने के पहिले से ही हमे शङ्कुयन्त्र ज्ञात है (अथर्वज्योतिपविचार देखिए)। पञ्चसिद्धान्तिका में यन्त्राध्याय है पर वह समझ में नही आता, तथापि सभवत ब्रह्मगुप्तादिको के यन्त्रो मेंसे अधिकाश उस समय प्रचलित थे। प्रथम आर्यभट ने यन्त्रो का वर्णन बिलकुल नही किया है तथापि उपर्युक्त गोल सरीखा गोल बनाया है। उसके अतिरिक्त कालसाधन के लिए पारा, तेल अथवा जल से घूमनेवाला गोल बनाने को कहा है (आर्यभटीय गोलपाद, आर्या २२)। ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य ने एक स्वयवह यन्त्र लिखा है। वह यह है—एक चक्र बनावे। उसमे कुछ तिरछे और भीतर से पोले अरे लगावे। उनका आधा भाग पारे से भरके मुँह बन्द कर दे। ऐसा करने से वह यन्त्र स्वय घूमने लगेगा। पञ्चसिद्धान्तिका मे यन्त्रो द्वारा स्वय होनेवाले चमत्कारो का वर्णन है। उससे और आर्यभट के उपर्युक्त गोलयन्त्र से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के और दूसरे भी चमत्कारिक स्वयवह यन्त्र वराहमिहिर के समय थे। वराहमिहिर और आर्यभट ने इनके बनाने की विधि नहीं लिखी है।

ब्रह्मगुप्त ने भी उपर्युक्त यन्त्र के अतिरिक्त स्वय होनेवाले अन्य चमत्कारो का वर्णन किया है परन्तु उन्हें बनाने की विधि नही लिखी है। भास्कराचार्य के सभी यन्त्रो का उल्लेख उसी अथवा कुछ न्यूनाधिक प्रकार से ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने किया है[१] और उनके अतिरिक्त कर्तरी, कपाल, पीठ नामक कालसाधनयन्त्रो का भी वर्णन किया है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में यन्त्रो का विस्तृत वर्णन नही है, फिर भी स्वयवह, गोल, यष्टि, धनु, चक्र और कपाल के नाम आये हैं। यहा एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि पञ्च-सिद्धान्तिका, आर्यभटीय, वर्तमान सूर्यसिद्धान्त और लल्लतन्त्र मे[२] तुरीय यन्त्र का नाम नही आया है। पाश्चात्य ज्योतिषियो में प्रथम तुरीययन्त्र का आविष्कार टालमी ने किया। उसके पहिले वेध मे सम्पूर्ण चक्र का उपयोग किया जाता था, पर बाद में पाश्चात्य ज्योतिषियो में सर्वत्र तुरीय यन्त्र का ही प्रचार हो गया। आजकल यूरोप में सम्पूर्ण चक्र ही प्रचलित है, तुरीययन्त्र का नाम तक नही है। आधुनिक विद्वान् टालमी को यह दोष देते हैं कि उसने सुधारक्रम का विरोध किया।[३] कहने का उद्देश्य यह कि टालमी के सिद्धान्त में तुरीय यन्त्र है पर हमारे यहा लगभग शक ५०० पर्यन्त यह नही था। इससे सिद्ध होता है कि रोमकसिद्धान्त न तो टालमी के ग्रन्थ का अनुवाद है और न उसके आधार पर बना है। कम से कम शक ५०० पर्यन्त टालमी का सिद्धान्त हमे मालूम ही नही था। पहले रोमक सिद्धान्त का विवेचन कर चुके हैं, उससे भी यही बात सिद्ध होती है। एक और महत्त्व की बात यह है कि हमारे सब यन्त्र हमारे ही ज्योतिषियो द्वारा आविष्कृत हैं और तुरीययन्त्र की भी—जिसका प्रचार बाद में हुआ है—यही स्थिति है। चक्र और चाप द्वारा उसकी कल्पना सहज ही ध्यान में आने योग्य है और तदनुसार वह ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ मे प्रथम मिलता है, अत उसकी कल्पना उन्होने की होगी[४]।

[१] फलकयन्त्र की कल्पना भास्कराचार्य ने की है पर उसका बीज चक्रयन्त्र में ही है। शेष आठ में से गोल और नाडीवलय का वर्णन ब्रह्मगुप्त ने पृथक् नहीं किया है पर गोलबन्ध बताया है। उसमें ये आ जाते हैं। लल्ल ने ८ में से नाडीवलय नहीं लिखा है पर गोल में वह आ जाता है। आश्चर्य है कि उन्होने तुर्ययन्त्र नहीं लिखा है।

[२] यह बात ध्यान में आने पर तुरीय शब्द ही के लिए प्रत्येक शब्द की ओर ध्यान देकर इन ग्रन्थो को पढने का अवकाश मुझे नहीं मिला, तथापि तुरीय यन्त्र की जहाँ जहाँ सम्भावना थी वे सब स्थान मैंने देखे। अन्त में नहीं मिला।

[३] Grant's History of Ph Astronomy p 440

[४] वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ब्रह्मगुप्त से प्राचीन है, इसका एक प्रमाण यह है कि

द्वितीय आर्यसिद्धान्त और वर्तमान रोमश, शाकल्य, ब्रह्म और सोमसिद्धान्तो में यन्त्राध्याय विलकुल है ही नही[1]।

पाश्चात्यो के प्राचीन वेध

पाश्चात्यो के[2] प्राचीन वेधो का थोडा सा वर्णन यहा अप्रासङ्गिक नही होगा। यूरोपियन विद्वान् कहते है कि ज्योतिषशास्त्र प्रथम खाल्डियन लोगो मे उत्पन्न हुआ, पर वे वेध मे प्रवीण नही मालूम होते। टालमी ने[3] उनके ग्रहणो के वेध लिखे है, वे बहुत स्थूल है। उन्होने ग्रहणकाल केवल घटो मे बताया है और ग्रासप्रमाण विम्ब का आधा और चतुर्थांश लिखा है। हिराडोटस ने लिखा है कि ग्रीको को पोल और शङ्कु यन्त्र तथा दिन मे १२ घटा मानने की पद्धति बाबिलोन से मिली। पोल एक अन्तर्गोल अर्धवृत्ताकार छायायन्त्र था। उसके बीच में एक लकडी डाली जाती थी। अनुमानत· उससे दिन के १२ विभागो का ज्ञान किया जाता था। खाल्डियनो ने शङ्कु द्वारा अत्यासन्न वर्षमान निकाला परन्तु उन्होने उसका इससे अधिक उपयोग किया अथवा ग्रहगति सम्बन्धी नियम बनाने योग्य सामग्री वेध द्वारा तैयार की—इसका प्रमाण नही मिलता। परन्तु उन्होने ग्रहणादिक चमत्कार लिख रखे और उनके द्वारा बहुत थोडे स्थूल सामान्य नियम बनाये। उनके ग्रहणो द्वारा कुछ ग्रीक गणितज्ञो ने चन्द्रमा की मध्यमगति का बहुत सूक्ष्म मापन किया। ई० पू० ४३० मे मेटन ने उत्तरायणारम्भकाल का पता लगाया। अलेक्जड्रिया मे ज्योतिषीवर्ग उत्पन्न होने के पहिले का ग्रीको का प्राचीन वेध यही है। मेटन ने हेलिओमीटर नामक यन्त्र से इसका ज्ञान किया। यह यन्त्र शङ्कु का ही एक भेद होगा। यह उदगयनदिन मेटन के १९ वर्ष के चक्र का[4] आरम्भ-दिन

उसमें तुरीययन्त्र नहीं है।

[1] तथापि इस कारण वे सूर्यसिद्धान्तादिको से प्राचीन नहीं कहे जा सकते।

[2] इस अनुच्छेद में लिखा हुआ वृत्तान्त Grant's History of Ph. Astronomy, Ch. XVIII के आधार पर लिखा है।

[3] रेहटसेक का कथन है कि इनमें अति प्राचीन वेध ई० पू० ७१९ और ७२० के तीन ग्रहण है। (Jour. B B R A S, Vol. XI)

[4] मेटन ने १९ सौरवर्षो में ६९४० दिन निश्चित किये (कनिंघमकृत Indian Eras पृष्ठ ४३) अर्थात् वर्षमान ३६५।१५।४७.३६८ निकाला। कालिपस ने ई० पू० ३३० में मेटन के चक्र में सुधार करके ७६ वर्षो का चक्र बनाया और तदनुसार वर्षमान ३६५।१५ निश्चित किया (Indian Eras पृष्ठ ४३)। य चक्र अथवा वर्षमान हमारे किसी भी ग्रन्थ में नहीं है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

था। अलेक्जड्रिया के राजाओ की प्रेरणा सेज्योतिपशास्त्र के इतिहास मे नवीन काल का आरम्भ हुआ। अलेक्जड्रिया में एक भव्य वेधशाला बनाई गई। उसमें वृत्ताकार यन्त्रो का उपयोग किया जाने लगा और सतत वेध का कार्य होने लगा। वहा के सबसे प्राचीन वेधकर्ता टायमोकेरीस और आरिस्टिलस थे। उनका काल ई० पू० ३०० है। टालमी (सन् १५० ई०) ने अपने ग्रन्थ में उनके वेध लिखे है, उनसे ज्ञात होता है कि उन्होंनें केवल कुछ तारो की क्रान्ति निकाली थी और ग्रहण का वेध किया था। तारो का विषुवाश लाने की रीति अनुमानत उन्हे नही ज्ञात थी। अलेक्जड्रिया के ज्योतिषी इराटोस्थेनीस (ई० पू० लगभग २७५) ने क्रान्तिवृत्त के तिर्यक्त्व का वेध किया। वह उसे २३।५१।१९ ज्ञात हुआ। स्पष्ट है कि ये वेध यन्त्रो बिना नही हुए होगें। टालमी ने सूर्य का मध्योन्नताश लाने के लिए एक यन्त्र लिखा है। उसमे दो समकेन्द्र चक्र—जिनमें एक दूसरे के भीतर घूमता रहता है—याम्योत्तरवृत्त में खडे रहते हैं। उसे इस प्रकार रखे कि व्यास पर आमने सामने लगाये हुए दो कॉटो मे से एक की छाया दूसरे पर पडे। इससे उन्नताश का ज्ञान होगा। इसी प्रकार के किसी यन्त्र द्वारा दोनो अयनकालो में सूर्योन्नताश का ज्ञान करके इराटोस्थेनीस ने क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व ज्ञात किया होगा। टालमी ने हिपार्कस का एक वचन लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि अलेक्जन्ड्रिया में एक यन्त्र का उपयोग करते थे—वह इस प्रकार लगाया जाता था कि विषुववृत्त के धरातल मे रखे हुए एक वलय के ऊपरी आधे भाग की छाया नीचे के आधे पर पडे। इससे सूर्य का विषुवागमनकाल निकालते थे। पता नहीं चलता, वहा के ज्योतिषियो ने तारो की क्रान्ति का ज्ञान किस प्रकार किया था। वेधपद्धति के विषय मे अलेक्जन्ड्रिया के ज्योतिषी स्तुत्य हैं तथापि वेध द्वारा निश्चित ग्रहस्थिति के आधार पर ज्योतिषशास्त्र के गणितस्कन्ध की स्थापना करने का श्रेय हिपार्कस को देना चाहिए। इन्होंने वर्षमान ३६५।१४।४८ निश्चित किया। इसके पहिले ३६५।१५ था। इन्होंने आस्ट्रोलेब यन्त्र का प्रथम आविष्कार किया। उससे वे खस्थो के भोगशर निकालते थे। सूर्य की स्पष्ट गति का ज्ञान इनके पहिले किसी को नही था और सूर्य की स्पष्ट स्थिति का गणित करने के लिए इन्होंने सर्वप्रथम कोष्ठक बनाये। इसके पहिले वे किसी को ज्ञात नहीं थे। इन्होंने चन्द्रमा का वेध किया और मालूम होता है चन्द्रमा की स्पष्ट स्थिति का साधन करने के लिए कोष्ठक भी बनाये। इन्होंने ग्रहो के भी वेध किये। टालमी ने चन्द्रमा का इव्हेक्शन सस्कार लाने और ग्रहगति का नियम बनाने में हिपार्कस के वेधो का उपयोग किया। टालमी वेध में कुशल नही थे। उन्होंने तुर्यंयन्त्र बनाया। यह स्पष्टतया कही भी नही लिखा है कि ये ज्योतिषी कालसाधन किस प्रकार करते थे। मालूम

लोग [illegible] और छायायन्त्र द्वारा कालगणना करते थे। कभी कभी यह भी देखते थे कि वेधशाला मे क्रान्तिवृत्त का कौन सा भाग याम्योत्तर मे है। अरबनिवासियो ने वेधयन्त्रो मे विशेष सुधार नही किया तथापि उनके यन्त्र ग्रीको से बडे और अच्छे थे। उनका आस्ट्रोलेब बडा प्रपञ्चात्मक था।

उपर्युक्त इतिहास से ज्ञात होगा कि उनमे का एक भी वर्षमान हमारे वर्षमानो से नही मिलता। मूल रोमकसिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के आधार पर बना होगा, रोमकसिद्धान्त हमारे ज्योतिष का आद्यग्रन्थ नही है और हमारे यहा उसके पहिले ज्योतिषसिद्धान्त थे, यह प्राचीन सिद्धान्तपञ्चक के विवेचन मे सिद्ध कर चुके हैं।

अब यन्त्रविषयक अपने स्वतन्त्रग्रन्थो और वेधशालाओ का वर्णन करेगे।

सर्वतोभद्रयन्त्र—भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के यन्त्राध्याय के दो श्लोको से ज्ञात होता है कि उन्होने इस नाम का एक यन्त्रग्रन्थ बनाया था, परन्तु वह सम्प्रति उपलब्ध नही है अतः उसके विषय मे कुछ लिखा नही जा सकता।

यन्त्रराज—भृगुपुर मे मदनसूरि नामक एक ज्योतिषी रहते थे। उनके शिष्य महेन्द्रसूरि ने शक १२९२ में यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थारम्भ में सर्वज्ञ की वन्दना की है, इससे ग्रन्थकार जैन मालूम होते हैं। इसमे गणित, यन्त्रघटन, यन्त्ररचना, यन्त्रशोधन और यन्त्रविचारणा—ये पाच अध्याय और सब १८२ श्लोक हैं। इस पर मलयेन्दुसूरि की टीका है। टीका में लिखा है कि महेन्द्रसूरि फीरोजशाह के मुख्य ज्योतिषी थे। टीका मे उदाहरणार्थ सवत् १४३५ (शक १३००) अनेक वार लिया है। एक वार १४२७ और एक वार १४४७ भी लिया है। टीकाकार ने महेन्द्र को गुरु कहा है अत वे उनके प्रत्यक्ष शिष्य होगे। टीकाकाल लगभग शक १३०० होगा। काशी में सुधाकर द्विवेदी ने यह ग्रन्थ छपाया है। ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय मे ही लिखा है—

> क्रूप्तास्तथा वहुविधा यवनै स्ववाण्या यन्त्रागमा निजनिजप्रतिभाविशेषात्।
> तान् वारिधीनिव विलोक्य मया सुधावत् तत्सारभूतमखिल प्रणिगद्यतेऽत्र ।।

इन्होने त्रिज्या ३६०० और परमक्रान्ति २३।३५ मानी है। प्रत्येक अश की भुजज्या, क्रान्ति और द्युज्या की सारणिया दी है। १ से आरम्भ कर ९० पर्यन्त प्रत्येक उन्नताश की सप्ताङ्गुल शङ्कु की छाया दी है। टीकाकार ने लगभग ७५ नगरो के अक्षाश दिये हैं। ग्रन्थकार ने वेधोपयोगी ३२ तारो के सायन भोगशर दिये हैं। अयनवर्षगति ५४ विकला मानी है। यन्त्रराज की रचना थोडे मे नही लिखी जा सकती इसलिए यहा नही लिखी है। इसकी सहायता से सूर्य-ग्रह-तारो के उन्नताश, नताश, भोगशर, दो वस्तुओ के अशात्मक अन्तर, अक्षाश, लग्न, काल, दिनमान इत्यादि का

ज्ञान केवल वेध से किया जा सकता है। इस ग्रन्थ पर यज्ञेश्वरकृत शक १७६४ की टीका है।

ध्रुवभ्रमयन्त्र—यह ग्रन्थ नार्मदात्मज पद्मनाभ ने बनाया है। पद्मनाभ का काल लगभग शक १३२० है। इस ग्रन्थ मे ३१ श्लोक हैं। इस पर ग्रन्थकार की ही टीका है। ध्रुवभ्रमयन्त्र कालसाधन के लिए बनाया गया है। यहा इसकी सम्पूर्ण रचना नही लिखते। इसमें एक पट्टी में जिसकी लम्बाई चौडाई से दूनी हो छेद करके उसमे से ध्रुवमत्स्य का वेध करने को कहा है। ग्रन्थकार ने ध्रुवमत्स्य के विषय मे (११ वे श्लोक की टीका में) लिखा है—"उत्तरध्रुव के चारो ओर १२ तारो का एक नक्षत्रपुञ्ज है। उसे ध्रुवमत्स्य कहते है। उसके मुख और पुच्छ स्थानो में एक एक बडा तारा है। पहिला ध्रुव के एक ओर ३ अश पर और दूसरा दूसरी ओर १३ अश पर है"। इस यन्त्र द्वारा मुखपुच्छस्थित तारो के वेध से रात में कालज्ञान किया जाता है। अन्य नक्षत्रो और दिन में सूर्य के वेध से भी कालसाधन करने की रीति लिखी है। इससे इष्टकालीन लग्न का भी ज्ञान होता है। स्पष्ट है कि वह लग्न सायन होगा। नक्षत्रो का वेध करने के लिए २८ नक्षत्रयोगतारो के २४ अक्षाशप्रदेश के मध्योन्नताश लिखे है। अत ग्रन्थकार के निवासस्थान का अक्षाश २४ रहा होगा।

यन्त्रचिन्तामणि—वामनात्मज चक्रधर नामक गणक ने यह यन्त्रग्रन्थ बनाया है। इस पर ग्रन्थकार की और गोदावरीतीरस्थ पार्थपुरनिवासी मधुसूदनात्मज राम की टीका है। ग्रन्थकार ने अपना काल नही लिखा है पर टीका में भास्कराचार्य के सिद्धान्त-शिरोमणि के वचन दिये है और टीकाकार राम ने टीकाकाल शक १५४७ लिखा है, अत इसका काल शक ११०० और १५०० के मध्य में होगा। इन्होने लिखा है—'क्षितिपालमौलिविलसद्रत्न ग्रहज्ञाग्रणीश्चक्रधर'। इससे ज्ञात होता है कि ये किसी राजा के आश्रित थे। ग्रन्थ में ४ प्रकरण और २६ श्लोक है। इस पर शाण्डिल्यगोत्रीय अनन्तात्मज दिनकर की शक १७६७ की उदाहरणरूपी टीका है। यन्त्रचिन्तामणि एक प्रकार का तुरीययन्त्र है। इससे रविचन्द्रभोग, पञ्चग्रहो के भोगशर, इष्टकाल, लग्न इत्यादि वेध द्वारा ज्ञात होते है। ग्रह और लग्न सायन आते है।

प्रतोदयन्त्र—यह यन्त्रग्रन्थ ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ का है। इसमें १३ श्लोक है। ग्रन्थकार ने लिखा है कि घोडे पर जाते हुए भी इस यन्त्र से वेध द्वारा कालज्ञान और शङ्कुच्छायादि ज्ञान होता है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहा उसकी रचना नही लिखी है। इस पर सखाराम और गोपीनाथ की टीकाए है।

गोलानन्द—इस यन्त्र की कल्पना चिन्तामणि दीक्षित ने की है। उनका गोलानन्द नामक १२४ श्लोको का ग्रन्थ है। उसमें यन्त्ररचना, मध्यमा-

विकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्न, ग्रहण, छायोदयास्त, वेध और युति अधिकार है। गोलानन्द द्वारा वेध करने से फलसस्कार, शीघ्रकर्ण, स्पष्टगति, क्रान्ति, चर, लग्न, दिशा,अग्रा, नताश, वलन, लम्बन, नति, शर, दृक्कर्मसस्कार और इष्टकाल ज्ञात होते है। इस पर यज्ञेश्वरकृत गोलानन्दानुभाविका नाम की टीका है। यन्त्रसम्बन्धी ऐसे ही अन्य भी बहुत से ग्रन्थ होगे। यन्त्रचिन्तामणिटीकाकार राम ने लिखा है—

विलोकितानि यन्त्राणि कृतानि बहुधा बुधै ।
मत शिरोमणिस्तेषा यन्त्रचिन्तामणिर्मम ।।

इससे ज्ञात होता है कि उस समय अनेक यन्त्र प्रचलित थे।

उपर्युक्त सिद्धान्तशिरोमणि के और अन्य स्वतन्त्र यन्त्र बने-बनाये बहुत कम दृष्टिगोचर होते है। शङ्कु और तुरीययन्त्र कही कही मिलते है। दिनगतघटिकाज्ञापक एक-दो यन्त्र अनेक स्थानो मे मिलते है ।'

'यह प्रकरण छपते समय (शक १८१८ वैशाख-ज्येष्ठ) मिरजनिवासी नरसो गणेश भानु ने कागज पर बनाई हुई कुछ यन्त्रो की प्रतिया मेरे पास भेजीं। भानु यद्यपि ज्योतिषी नहीं है, एक पेंशनर गृहस्थ है तथापि वे इस विषय के बडे शौकीन है। उन्होने ये प्रतियां कोल्हापुरनिकटस्थ कोडोलीनिवासी सखाराम ज्योतिषी द्वारा शक १७१२ से १७१८ पर्यन्त बनाये हुए यन्त्रो के आधार पर बनाई है। भानु के लेख से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ यन्त्र पीतल के ढालुए पत्रो के होगे। उनमें कुछ यन्त्रों की प्रतियाँ है और तुर्य, फलक तथा ध्रुवभ्रम यन्त्र है। एक यन्त्रराज शक १७१२में सप्तर्षि (सितारा) में बनाया गया है। उसमें सितारा के अक्षाश १७।४२ लिखे है और २७ नक्षत्रो के योगतारो के तथा कुछ और तारो के सितारा के मध्यान्हकालीन उन्नाताश दिशाओ के सहित लिखे है। जैसे मघा तारे के अश ८३।५७ दक्षिण है। दूसरा एक यंत्रराज करवीर (कोडोली) के लिए शक १७१८ में बनाया है। उसमें करवीर के अक्षाश १७।२१ और तारे के उन्नताश दक्षिण ८४।१५ लिखे है। आधुनिक शोध के अनुसार सितारा का अक्षाश १७।४१ और कोल्हापुर का १६।४१ है और शक १७१८ में मघायोगतारे की उत्तरक्रान्ति लगभग १२ अश थी अत उसका मध्यान्हकालीन उन्नताश सितारा में ८४।१९ और कोल्हापुर में ८५।१९ था। सखाराम जोशी बडे उद्योगी पुरुष ज्ञात होते है। सम्प्रति ये यन्त्र बेलगांवनिकटस्थ कडेगुद्दी तालुकास्थित शहापुर में उनके प्रपौत्र सखारामशास्त्री के पास है। उनके दूसरे प्रपौत्र मोरशास्त्री मिरज में रहते है। कुछ यन्त्र उनके पास भी है।

वेधशालाए

स्पष्ट है कि एक स्थान में गाड दिये गये स्थिर वेधयन्त्र अधिक उपयोगी होते हैं। वेधशाला उस गृह को कहते हैं जहा अनेक स्थिरयन्त्रो द्वारा वेध किया जाता है। राजाश्रय द्वारा निर्मित ऐसे वेधगृह प्राचीन काल में हमारे यहा सभवत रहे होंगे परन्तु उनका वर्णन कही नही मिलता। कही कही ऐसे पत्थर मिलते हैं जिन पर दिक्-साधन किया रहता है। सितारा मे चिन्तामणि दीक्षित के यहा इस प्रकार दिक्साधन किया है। सन् १८८४ मे सायनपञ्चाङ्गवाद के लिए मैं इन्दौर गया था। वहाँ पता लगा कि सरकारवाडे मे वेध के लिए एक स्थान बना है, वहा दिक्साधन किया जाता है। तुकोजी महाराज के ज्योतिषी वहा कभी कभी वेध करते थे। मुझे बीड के एक ज्योतिषी मिले थे, वे कहते थे कि कुछ वर्ष पूर्व हैदराबाद की मुगल-सरकार ने कुछ ज्योतिषियो द्वारा सतत वेध कराने के विचार से कुछ यन्त्र बनवाये थे पर बाद मे वह कार्य बन्द हो गया। नलिकाबन्ध करके वेध करनेवाले कुछ ज्योतिषी मैंने देखे हैं। वेधसम्बन्धी ऐसे छोटे छोटे प्रयत्न सदा होते रहे होंगे परन्तु दीर्घ प्रयत्न सम्प्रति एक ही ज्ञात है। वह है जयसिंह की पाच वेधशालाएँ। उनके जिजमहमद नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना का कुछ उद्धरण यहा देते हैं।[1] इससे पूरा विवरण ज्ञात होगा।

"सर्वव्यापक ईश्वर की शक्ति के ज्ञान में मनुष्य बिलकुल असमर्थ है। हिपार्कस और टालमी उस ज्ञान के विषय मे एक गँवार किसान हैं। युक्लिड के सिद्धान्त ईश्वरीय कृत्य के बिलकुल अपूर्ण रूप हैं। जमसेदकाशी और नमीरतुशी सरीखे सहस्रो व्यर्थ मे परिश्रम करके थक गये पर किसी ने उसका पार नही पाया। सम्प्रति प्रचलित गणितग्रन्थ सयद गुरगणी, खयानी के ग्रन्थ, इनशिलल मुलाचन्द, अकबरशाही ग्रन्थ, हिन्दुओ और यूरोपियनो के ग्रन्थ, इत्यादि कोई भी दृक्प्रत्ययद नही हैं। विशेषत इनके नूतन चन्द्रदर्शन, ग्रहो के उदयास्त, ग्रहण और ग्रहयुतिया वेध से नही मिलती। मुहम्मदशाह बादशाह[2] को यह बात मालूम होने पर उन्होने जयसिंह से इसका निर्णय करने को कहा। समरकन्द मे मिर्जाउलूग वेग ने जैसे यन्त्र बनाये थे वैसे ही दिल्ली मे बनवाये गये ...। जयसिंह ने सोचा कि सूक्ष्मताविषयक मेरी कल्पनाएँ पीतल के यन्त्रो से नही सिद्ध होंगी क्योकि वे छोटे होते हैं, उनमें कलाओ के भाग नही बनाते

[1] एशि० रिसर्चेस पु० ५, पृष्ठ १७७-२२१ के विलियम हण्टर नामक विद्वान् के लेख से यह उद्धरण लिया गया है।

[2] यह सन् १७२० से १७४८ तक दिल्ली की गद्दी पर था।

वनते, धुरे घिस जाते है, खिसक जाते है, वृत्त के मध्यछिद्र मोटे हो जाते है और वे यन्त्र टेढे हो जाया करते है। उन्हे मालूम हुआ कि हिपार्कस और टालमी इत्यादिको के गणित इमी कारण वेध से नही मिलते। यह सोचकर उन्होने जयप्रकाश, रामयन्त्र, सम्राट्यन्त्र इत्यादि पत्थर और चूने के पूर्ण सुदृढ ऐसे यन्त्र वनवाये जिनके व्यासार्ध १८ हाथ है और जिनकी परिधि मे एक कला डेढ जौ के वरावर है। उनके घिसे हुए वृत्तादि, चलित मध्यविन्दु और न्यूनाधिक कलाए वाद मे ठीक की जा सकती है। रेखागणित के नियम, याम्योत्तरवृत्त, अक्षाश इत्यादि का पूर्ण ध्यान रखकर वडी सावधानी से नाप तौलकर वे वैठाये गये। इस प्रकार दिल्ली मे वेधशाला की स्थापना की गई और उन यन्त्रो द्वारा वेध करके ग्रहमध्यमगति इत्यादि दृक्प्रत्ययविरुद्ध वाते ठीक की गई। दिल्ली मे किये हुए वेधो की परीक्षा करने के लिए सवाई जयपुर, मथुरा, काशी और उज्जैन मे वेधशालाए वनवाई गई। सव स्थानो के वेधो की एक-वाक्यता हो गई। सात वर्ष वेध करने के वाद मालूम हुआ कि यूरोप मे भी इसी प्रकार वेध किया जा रहा है। पादर मान्युएल और कुछ अन्य विद्वानो को भेजकर वहा ३० वर्ष पहिले ही रचित और लियेल[1] के नाम से प्रसिद्ध ग्रह-कोष्ठक मगाये गये। देखने पर मालूम हुआ कि उसका भी गणित वेध से नही मिलता। उसके चन्द्रमा मे लगभग आधा अश और अन्य ग्रहो मे भी थोडी अशुद्धि है, इसलिए वादशाह की आज्ञानुसार ऐसा ग्रन्थ वनाया गया जिसके गणितविषयक नियम अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध है। इससे लाई हुई स्थिति वेध से ठीक ठीक मिलती है (वादशाह की प्रतिष्ठा के लिए उन्ही का नाम इस ग्रन्थ का भी रखा गया)।"

हण्टर ने सन् १७९९ के लगभग पाच मे से चार वेधशालाए देखकर उनका वर्णन उपर्युक्त एशियाटिक रिसर्चेस मे किया है। ग्रन्थविस्तार होने के भय से यहा वह सव नही लिखते। शेरिंग ने काशीक्षेत्रवर्णन (सन् १८६८) नामक अपने अगरेजी ग्रन्थ मे काशी की वेधशाला का वर्णन वापूदेवशास्त्री के मानमन्दिरस्थ यन्त्रवर्णन[2] नामक ग्रन्थ के आधार पर किया है, उसे यहा लिखते है। अन्य वेधशालाओ की रचना भी ऐसी ही है।

[1] जयसिंह का ग्रन्थ हिजरी सन् ११४१ (सन् १७२८ ई०, शक १६५०) में पूर्ण हुआ। यूरोप से लाया हुआ ग्रन्थ डिलाहायर का था। वह प्रथम सन् १६७८ में और दूसरी वार सन् १७०२ में प्रकाशित हुआ।

[2] बहुत प्रयत्न करने पर भी वापूदेवशास्त्री का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला।

इस वेधशाला का नाम मानमन्दिर[1] है। यह काशी में गङ्गा के किनारे मानमन्दिर घाट पर है। सम्प्रति यह मन्दिर और सम्पूर्ण महल्ला जयपुर के राजा के अधिकार में है। मन्दिर बड़ा सुदृढ बना है। बाहर की सीढ़िया चढने के बाद एक आगन पडता है। उसमे कुछ दूर जाकर कुछ सीढिया चढने के बाद वेधशाला का मुख्य भाग पडता है। यहा के कुछ यन्त्र बहुत बड़े हैं। वे सहस्रो वर्ष टिकने योग्य सुदृढ एव कर्ता के उद्देश्यानुसार सूक्ष्म भी हैं। इनकी देखरेख के लिए एक ब्राह्मण नियुक्त किया गया है पर उसके द्वारा ठीक व्यवस्था नही होती। गर्मी और बरसात के कारण यन्त्र बिगडते जा रहे हैं और उनके भाग प्रभाग घिसकर अदृश्य से हो रहे हैं। वेधशाला मे जाने पर प्रथम भित्तियन्त्र दिखाई देता है। यह ११ फुट ऊँची और ९ फुट १$\frac{1}{2}$ इञ्च चौडी एक दक्षिणोत्तर दीवार है। इससे मध्याह्नकालीन सूर्य के नताश, उन्नताश, सूर्य की परमक्रान्ति और अक्षाश ज्ञात होते हैं। पास ही दो और बड़े वृत्त हैं। एक चूने का और दूसरा पत्थर का है। एक वर्गाकार पत्थर है। इससे शङ्कुच्छाया और दिगश लाते रहे होंगे। सम्प्रति इसके सब चिह्न मिट गये हैं। यन्त्रसम्राट् नामक एक बहुत बडा यन्त्र है। यह याम्योत्तरवृत्त मे बनाई हुई ३६ फुट लम्बी ४$\frac{1}{2}$ फुट चौडी दीवार है। इसका एक किनारा ६ फुट ४$\frac{1}{2}$ इच और दूसरा २२ फुट ३$\frac{1}{2}$ इच ऊँचा है। यह उत्तर ओर क्रमश ऊची होती गई है जिसमे ध्रुव दिखाई दे। इस यन्त्र द्वारा खस्थो के याम्योत्तर से अन्तर, क्रान्ति और विषुवाश लाये जा सकते हैं। इसके पास ही एक दोहरा भित्तियन्त्र है। इसके पूर्व मे पत्थर का नाडीवलय है। दूसरा कुछ छोटा यन्त्रसम्राट् है। इसके पास ही चक्रयन्त्र है। इससे तारो की क्रान्ति का ज्ञान किया जाता था पर इस समय बेमरम्मत हो गया है। उसके पास ही एक भव्य दिगशयन्त्र है। इससे तारो के दिगश लाते थे। वह ४ फुट २ इच ऊचा ३ फुट ७$\frac{1}{2}$ इच मोटा एक खभा है। उसके चारो ओर ७ फुट ३$\frac{1}{2}$ इच दूरी पर उससे दूनी ऊँची दूसरी दीवार है। दोनो दीवारो के शिखरपृष्ठ के ३६० भाग किये हैं और उन पर दिशाए लिखी हैं। उसके दक्षिण एक और नाडीवलय है पर उसके चिह्न मिट गये हैं।

[1] मैं समझता हूँ, ग्रहगत्यादिको का मान लाने के कारण इसका नाम मानमन्दिर पड़ा होगा।

(२) स्पष्टाधिकार

प्रथम प्रकरण

ग्रहो की स्पष्ट गतिस्थिति

ग्रह को भचक्र की एक प्रदक्षिणा करने मे जितना समय लगता है तदनुसार उसकी एक दिन की जो मध्यम गति आती है, आकाश मे प्रतिदिन उतनी ही नही बल्कि उससे कुछ न्यून या अधिक का अनुभव होता है। इस कारण मध्यमगति द्वारा भचक्र मे उसकी स्थिति जहा आती है वहा वह उस समय नही दिखाई देता। आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली गतिस्थिति को स्पष्टगतिस्थिति कहते है। गणितागत मध्यमगतिस्थिति द्वारा ग्रह की स्पष्टगतिस्थिति लाना स्पष्टाधिकार का विषय है। (हमारे ग्रन्थो मे ग्रह की स्पष्टस्थिति को प्राय स्पष्टग्रह कहने की पद्धति है, इसलिए आगे कही कही इस शब्द का भी प्रयोग किया है।)

कोपर्निकस द्वारा आविष्कृत और केप्लर, न्यूटन इत्यादिको द्वारा दृढता से स्थापित ग्रहगति के सम्प्रति प्राय सर्वमान्य हो गये हुए वास्तव सिद्धान्तो के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की मध्यम गति मे स्पष्ट गति भिन्न होने का एक मुख्य कारण है। वह यह कि पृथ्वी सूर्य की और चन्द्रमा पृथ्वी की दीर्घवृत्त मे प्रदक्षिणा करता है। अन्य ग्रहो की मध्यमगति मे स्पष्टगति भिन्न होने के कारण दो है। एक तो यह कि बुधादि पाच ग्रह सूर्य के चारो ओर दीर्घवृत्त मे घूमते है इसलिए उनके कक्षावृत्तो मे मध्यमगति से स्पष्टगति भिन्न होती है और दूसरा कारण यह है कि सूर्यसम्बन्धी यह भिन्न स्थिति हम पृथ्वी पर से देखनेवालो को और भी भिन्न दिखाई देती है, क्योकि सूर्य के चारो ओर घूमते रहने के कारण आकाश मे पृथ्वी का स्थान सदा बदलता रहता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन ज्योतिषियो को उपर्युक्त सूर्य-चन्द्रसम्बन्धी एक कारण और पञ्चग्रहसम्बन्धी दो कारणो के वास्तव रूप नही ज्ञात थे, तथापि ग्रहो की स्पष्टस्थिति लाने के लिए उन्होने इन्ही कारणो को दूसरे ढग से आधारभूत माना है। वास्तव रूप मे इनका ज्ञान होने के बाद ग्रहस्पष्टस्थिति लाने के लिए पाश्चात्यो की बनाई हुई रीतियो द्वारा जो स्पष्टस्थिति आती है, ठीक उतनी ही नही पर उससे बहुत कुछ मिलती जुलती ग्रहस्पष्टस्थिति हमारे ग्रन्थो द्वारा आती है। दोनो की मध्यमस्थिति समान होने पर पाश्चात्यो की रीति से आकाश मे ग्रह जहा आता है, हमारे ग्रन्थो द्वारा भी कभी ठीक उसी स्थान में और कभी उसके बिलकुल पास आता है। अन्तर पडने का कारण है गणितसम्बन्धी हमारे उपकरणो का किञ्चित् दोष अथवा उनकी स्थूलता और उप-

युक्त दो मुख्य कारणो के अतिरिक्त प्राचीनकाल में हमारे यहा आजकल के कुछ नवीन उपकरणों का अभाव।

निम्नलिखित विवेचन से ज्ञात होगा कि उपर्युक्त दोनो कारण दूसरे प्रकार से हमारे ज्योतिषियो को ज्ञात थे।

मध्यमग्रह द्वारा स्पष्टग्रह लाने की रीति की उपपत्ति हमारे ग्रन्थो में परिलेख अर्थात् क्षेत्र द्वारा दी है। ग्रह के मध्यमस्थान और स्पष्टस्थान मे अन्तर पडने के कारणो सम्बन्धी हमारे ज्योतिषियो की कल्पनाओ का ज्ञान होने के लिए उन्हे यहा लिखते हैं। पृथ्वी के मध्य को केन्द्र मानकर ग्रहकक्षावृत्त बनावे। भूमध्य के बाहर एक बिन्दु को केन्द्र मानकर दूसरा इतना ही बडा वृत्त बनावे। इसे प्रतिवृत्त कहते हैं। यही मध्यमग्रह का भ्रमणमार्ग माना जाता है। मध्यमग्रह कक्षावृत्त में जहा दिखाई देगा वही उसका स्पष्टस्थान होगा। इस क्षेत्र मे भू-केन्द्रवाला वृत्त कक्षावृत्त और प्र-केन्द्रवाला प्रतिवृत्त है। म ग्र मध्यमग्रह है और तदनुसार कक्षावृत्त में भी म उसका स्थान है। प्रतिवृत्तीय म ग्र से भू पर्यन्त जानेवाली रेखा में भूमिस्थ द्रष्टा को ग्रह दिखाई देता है। इस रेखा को कर्ण कहते है। यह कर्ण कक्षावृत्त में स्पष्टस्थान मे लगता है। कक्षावृत्त मे यही स्पष्टग्रह दिखाई देता है। मध्यम और स्पष्टग्रह के अन्तर मस्प को फलसंस्कार कहते है। इस फल का अनुभूत परमाविकमान परमफल या अन्त्यफल कहलाता है। प्रतिवृत्त का केन्द्र भूकेन्द्र से अन्त्यफल की भुजज्या तुल्य अन्तर पर रहता है। इस फल को मन्दफल कहते है। मध्यमग्रह में इस मन्दफल का संस्कार करने से मन्दस्पष्ट ग्रह आता है। सूर्य और चन्द्रमा में इस एक ही फल का संस्कार करने मे वे स्पष्ट हो जाते है परन्तु अन्य पाच ग्रह इस प्रकार लाई हुई मन्दस्पष्ट

स्थिति के अनुसार भूस्थित द्रष्टा को नही दिखाई देते (आधुनिक सिद्धान्तानुसार यह कहना चाहिए कि सूर्यस्थित द्रष्टा को उनकी यह स्थिति दिखाई देगी)। उनमे एक और शीघ्रफल नामक संस्कार करने से जो स्थिति आती है उसके अनुसार वे पृथ्वीस्थित द्रष्टा को दिखाई देते हैं। शीघ्रफल लाने के लिए शीघ्रप्रतिवृत्त की कल्पना करनी पडती है और मन्दस्पष्टग्रह को मध्यमग्रह मानकर शीघ्रफल लाया जाता है। मन्दफल और शीघ्रफल लाने की क्रियाओ को क्रमश. मन्दकर्म और शीघ्रकर्म कहते हैं। शीघ्रकर्म का स्वरूप यह है—

मन्दकर्म में जिसे कक्षावृत्त कहते है उसी को शीघ्रकर्म मे शीघ्रप्रतिवृत्त मानते

है और उसके केन्द्र से परमशीघ्रफलज्या तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर दूसरा कक्षा-वृत्त बनाते है। इस शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त के मध्य मे पृथ्वी को ही मानते है। शीघ्रप्रतिवृत्त मे अपनी गति मे भ्रमण करता हुआ मन्दस्पष्टग्रह इस शीघ्रकक्षावृत्त मे जहा दिखाई देता है वही उसका शीघ्रस्पष्ट स्थान होता है। पृथ्वीस्थित द्रष्टा को ग्रह यही दिखाई देता है। कोई कोई मन्दकक्षावृत्त को ही शीघ्रकक्षावृत्त मानकर उसके केन्द्र से शीघ्रान्त्यफलज्या तुल्य अन्तर पर कक्षावृत्ततुल्य ही शीघ्रप्रतिवृत्त बनाते है और मन्दकक्षावृत्त मे प्रथम कृति द्वारा आये हुए मन्दस्पष्टग्रह को शीघ्रप्रति-वृत्त मे ले जाने पर वह कक्षावृत्त मे जहा दिखाई देता है वही उसका स्पष्टस्थान मानते है। दोनो विधियो का परिणाम समान ही होता है।

उपर्युक्त क्षेत्र से ज्ञात होगा कि प्रतिवृत्त मे भ्रमण करनेवाले ग्रह का पृथ्वी से सर्वत्र समान अन्तर नही रहता। ग्रह जिस समय उ बिन्दु मे अर्थात् उच्च मे रहता है उस समय उसका अन्तर महत्तम और नी बिन्दु अर्थात् नीच मे रहने पर लघुतम होता है। यह प्रकार ग्रहो की कक्षा दीर्घवृत्ताकार मानने जैसा ही हुआ। भू इस दीर्घ-वृत्त का एक केन्द्र है।

प्रथम आर्यभट के टीकाकार परमेश्वर का मन्दशीघ्रफलसम्बन्धी परिलेख बडा सुबोध है। क्षेत्र बनाने की इतनी सरल रीति मुझे अन्य किसी ग्रन्थ मे नही मिली, इसलिए उसे यहा लिखता हूँ।

त्रिज्याकृत कुमध्य कक्षावृत्त भवेत्तु तच्छैघ्यम्।
शीघ्रदिशि तस्य केन्द्रात् शीघ्रान्त्यफलान्तरे पुन केन्द्रम् ॥२॥
कृत्वा विलिखेद् वृत्त शीघ्रप्रतिमण्डलाख्यमुदितमिदम्।
इदमेव भवेन्मान्दे कक्षावृत्त पुनस्तु तत्केन्द्रात् ॥३॥
केन्द्र कृत्वा मन्दान्त्यफलान्तरे वृत्तमपि च मन्ददिशि।
कुर्यात् प्रतिमण्डलमिदमुदित मान्द शनीज्यभूपुत्रा ॥४॥
मान्दप्रतिमण्डलगास्तत्कक्षाया तु यत्र लक्ष्यन्ते।
तत्र हि तेषा मन्दस्फुटा प्रदिष्टास्तथैव शैघ्रे ते ॥५॥
प्रतिमण्डले स्थिता स्युस्ते लक्ष्यन्ते पुनस्तु शैघ्राख्ये।
कक्षावृत्ते यस्मिन् भागे तत्र स्फुटग्रहास्ते स्यु ॥६॥
मान्द कक्षावृत्त प्रथम बुधशुक्रयो कुमध्य स्यात्।
तत्केन्द्रान्मन्ददिशि मन्दान्त्यफलान्तरे तु मध्य स्यात् ॥९॥
मान्दप्रतिमण्डलस्य तस्मिन् यत्र स्थितो रविस्तत्र।

प्रतिमण्डलस्य मध्य शैघ्रस्य तस्य मानमपि च गदितम् ।।१०।।
शीघ्रस्ववृत्ततुल्य तस्मिश्चरत सदा ज्ञशुक्रौ च ।।

अर्थ—पृथ्वी को मध्य और त्रिज्या[1] को व्यासार्ध मानकर बनाया हुआ कक्षा-वृत्त ही शैघ्र (शीघ्रकर्मसम्बन्धी कक्षावृत्त) है। इसके केन्द्र से शीघ्रदिशा मे शीघ्रान्त्य-फल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर पुन एक वृत्त बनावे। इसे शीघ्रप्रतिमण्डल कहेंगे। मन्दकर्म में यही कक्षावृत्त होता है। इसके केन्द्र से मन्ददिशा में मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर केन्द्र मानकर फिर एक वृत्त बनावे। इसे मन्दप्रतिवृत्त कहते है। शनि, गुरु और मङ्गल मन्दप्रतिवृत्त में गमन करते समय मन्दकक्षावृत्त मे जहा दिखाई देते है वही उनके मन्दस्पष्ट बताये है (वे मन्दस्पष्ट शनि, गुरु और भौम के स्थान है)। इसी प्रकार शीघ्रप्रतिवृत्त में भी समझना चाहिए। वे शीघ्रकक्षावृत्त में जहा दिखाई देते है वहा उनका स्पष्टस्थान जाने। बुध शुक्र के मन्दकक्षावृत्तो का मध्य पृथ्वी है। उनके केन्द्रो से मन्दान्त्यफल तुल्य अन्तर पर मन्दप्रतिमण्डल का मध्य होता है। उसमे जहा सूर्य हो वहा शीघ्रप्रतिमण्डल का मध्य जाने। उसका (शीघ्रप्रतिवृत्त का) मान शीघ्रस्ववृत्त तुल्य बताया है। बुधशुक्र सदा उसी वृत्त मे घूमते रहते है।

नीचोच्चवृत्त नामक एक वृत्त के आधार पर फलसस्कार की उपपत्ति की एक और रीति बताई है। भास्कराचार्य ने उसके विषय मे लिखा है—

कक्षास्थमध्यग्रहचिह्नतोऽथ वृत्त लिखेदन्त्यफलज्यया तत् ।
नीचोच्चसज्ञ रचयेच्च रेखा कुमध्यतो मध्यखगोपरिस्थाम् ।।२४।।
कुमध्यतो दूरतरे प्रदेशे रेखायुते तुङ्गमिह प्रकल्प्यम् ।
नीच तयासन्नतरेऽथ तिर्यङ् नीचोच्चमध्ये रचयेच्च रेखाम् ।।२५।।
नीचोच्चवृत्ते भगणाङ्कितेऽस्मिन् मान्दे विलोम निजकेन्द्रगत्या ।
शैघ्र्येऽनुलोम भ्रमति स्वतुङ्गादारभ्य मध्यद्युचरो हि यस्मात् ।।२६।।
अतो यथोक्त मृदुशीघ्रकेन्द्र देय निजोच्चाद् द्युचरस्तदग्रे ।।

छेद्यकाधिकार

[1] सम्प्रति त्रिज्या को व्यासार्ध का पर्याय समझने लगे है परन्तु उसका मूल अर्थ है ३ राशि की ज्या। हमारे ज्योतिषग्रन्थों में इसका प्रयोग प्राय. इसी अर्थ में किया गया है। वृत्तप रिधि २१६०० कला मानने से उसके व्यासार्ध का मान ३४३८ आता है। ३ राशि की ज्या व्यासार्ध तुल्य होती है इसलिए हमारे ग्रन्थो में त्रिज्या का अर्थ सामान्यत '३४३८ कला लम्बी रेखा' माना गया है।

अर्थ—कक्षास्थित मध्यमग्रह को केन्द्र मानकर अन्त्यफलज्या तुल्य व्यासार्ध का एक वृत्त बनावे। इसे नीचोच्चवृत्त कहते हैं। भूमध्य और मध्यग्रह मे जाती हुई एक रेखा खीचे। वह भूमध्य मे अत्यधिक दूरी पर (नीचोच्चवृत्तपरिधि मे) जहा लगे उसे उच्च और अत्यल्प दूरी पर जहा लगे उसे नीच जाने। नीचोच्च के मध्य मे एक तिर्यक् रेखा खीचे। नीचोच्चवृत्त की परिधि मे राशि-अशो के चिह्न बनावे। मध्यमग्रह अपने-अपने उच्च मे आरम्भ कर अपनी-अपनी (मन्द या शीघ्र) केन्द्रगति से मन्दनीचोच्चवृत्त मे विलोम और शीघ्रनीचोच्चवृत्त में अनुलोम भ्रमण करते हैं, अत उसके अनुसार अपने-अपने (मन्दशीघ्र) उच्च मे मन्दशीघ्रकेन्द्र दे। उसके आगे (मन्द के आगे मन्दस्पष्ट और शीघ्र के आगे शीघ्रस्पष्ट) ग्रह दिखाई देता है।
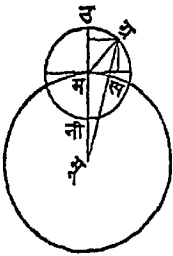
इस क्षेत्र मे बडा वृत्त कक्षावृत्त है। भू इसका केन्द्र है। म मान्दकर्म मे मध्यमग्रह का और शीघ्रकर्म मे शीघ्रस्पष्टग्रह का स्थान है। यही मन्द अथवा शीघ्र-नीचोच्चवृत्त का केन्द्र है। इसको केन्द्र मानकर परम-फलज्या तुल्य व्यासार्ध का नीचोच्चवृत्त बनाया गया है। उसमे ग्र ग्रह है। वहा से भू पर्यन्त आनेवाली रेखा कक्षावृत्त को स्प विन्दु मे काटती है। यही स्पष्टग्रह (मन्दस्पष्ट या शीघ्रस्पष्ट) का स्थान है। इस उपपत्ति के विषय मे भास्कराचार्य ही ने लिखा है—

ग्रह पूर्वगत्या प्रतिमण्डलेनैव भ्रमति। यदेतन्नीचोच्चवृत्त
तत् प्राज्ञैर्गणकै फलार्थं कल्पितम्॥
गोलाध्याय, छेद्यकाधिकार

अर्थ—ग्रह वस्तुत पूर्वगति से प्रतिमण्डल मे ही भ्रमण करते है। बुद्धिमान् गणको ने यह नीचोच्चवृत्त की कल्पना फल के लिए की है।

उपर्युक्त आकृति मे प्रतिवृत्त का उ विन्दु अन्य विन्दुओ की अपेक्षा भूमध्य से अधिक दूर है। उसे उच्च कहते है। नी विन्दु अति समीप है। उसे नीच कहते है। मन्दप्रतिवृत्त के उच्च को मन्दोच्च और शीघ्रप्रतिवृत्त के उच्च को शीघ्रोच्च कहते है। प्रथम आर्यभट के वर्णन मे मन्दोच्चो के भोग और उनकी गति का पर्याप्त विवे-चन कर चुके है। मन्दोच्चो की गति अत्यल्प[1] है। भौमादि वहिर्वर्ती ग्रहो का शीघ्रोच्च

[1] ग्राट का कथन है कि (History of Phy Astro p. 97) रविमन्दोच्च

सूर्य ही माना जाता है और आधुनिक सिद्धान्तानुसार बुध और शुक्र की कक्षाओं में उनकी जो मध्यम गतियां हैं वे ही हमारे ग्रन्थो में उनके शीघ्रोच्चो की मानी हैं। उपर्युक्त आकृति से ज्ञात होगा कि जिस समय ग्रह उच्च या नीच स्थानो मे रहता है उस समय कक्षावृत्त मे मध्यम और स्पष्टग्रह एक ही स्थान में दिखाई देते हैं अर्थात् उस समय उनका फलसंस्कार शून्य रहता है। उच्च से ग्रह ज्यो-ज्यो तीन राशि पर्यन्त आगे जाता है त्यो-त्यो उसका फलसंस्कार बढता जाता है। उसके बाद नीच पर्यन्त कम होता जाता है और उसके बाद तीन राशि पर्यन्त बढता है। फिर घटते घटते उच्च में शून्य हो जाता है। साराश यह कि उच्च ही के कारण ग्रहो की मध्यम गति मे अन्तर पडता है। यह बात दोनो उच्चो में लागू होती है। इन उच्चो के विषय में सूर्यसिद्धान्त में लिखा है —

> अदृश्यरूपा. कालस्य मूर्तयो भगणाश्रिता.।
> शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणा गतिहेतव ॥१॥
> तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तै सव्येतरपाणिभि.।
> प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्न स्वदिङ्मुखम् ॥२॥
>
> स्पष्टाधिकार

अर्थ—भगणाश्रित शीघ्रोच्च, मन्दोच्च और पात नामक काल की अदृश्य मूर्तियां ग्रहगति[1] के कारणीभूत हैं। वे अपनी (हस्तस्थित) वायुरूपी रश्मियों में बद्ध ग्रहों को दाहिने-बायें हाथो से आगे[2] पीछे अपनी ओर खींचती हैं।

गतिमान् हैं, इस बात का पता प्रथम अरब ज्योतिषी अलबटानी (सन् ८८०) ने लगाया अर्थात् सूर्य तथा अन्य ग्रहो के मन्दोच्चो के गतिमान् होने की बात हिपार्कस और टालमी को नहीं मालूम थी। परन्तु हमारे ब्रह्मगुप्त (सन् ६२८) ने मन्दोच्चगति लिखी है और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में भी वह है। हमारे ग्रन्थो की मन्दोच्चगति बहुत थोड़ी है इसलिए प्रो० व्हिटने ने उनका केवल उपहास किया है। परन्तु इसका एकमात्र कारण यह है कि टालमी को उच्चगति का ज्ञान नहीं था और हिन्दू उसे जानते थे—इस बात को स्वीकार कर पाश्चात्यो को नीचा दिखाना पक्षपातीस्वभाव व्हिटने को असह्य था। परन्तु प्रथम आर्यभट के वर्णन में सिद्ध कर चुके हैं कि हमारे ग्रन्थों की उच्चगति उन्हें जितनी स्वल्प मालूम होती है वस्तुत उतनी अल्प नहीं है।

[1] यहां गति का अर्थ स्पष्टगति है।

[2] आगे पीछे का अर्थ है मध्यमग्रह से आगे पीछे। (यहां रंगनाथ ने थोडा भिन्न अर्थ किया है। पातों के कारण दक्षिणोत्तरस्थिति बदलती है।)

उच्चो को जीव मानकर उन्हे सूर्यसिद्धान्त की भाति अन्य किसी भी ग्रन्थ मे इतना महत्त्व नही दिया गया है। ब्रह्मगुप्त ने उनके विषय मे केवल इतना ही लिखा है—

प्रतिपादनार्थमुच्चा प्रकल्पिता ग्रहगतेस्तथा पाता ॥२९॥
गोलाध्याय

अर्थात् ग्रहगति के प्रतिपादन के लिए उच्च और पातो की कल्पना की गई है। यहा गति का अर्थ स्पष्ट गति है।

सूर्यसिद्धान्त मे स्पष्टतया कही नही लिखा है कि ग्रह प्रतिवृत्त मे घूमते है। मालूम होता है इसी कारण उसमें उच्च के स्थान मे मूर्ति की कल्पना की गई है, परन्तु प्रतिवृत्त मे ग्रहो का भ्रमण मान लेने से उनकी मध्यस्थिति मे भेद सहज ही उत्पन्न हो जाता है। वात इतनी ही है कि वह भेद उच्च और ग्रह के अन्तर के अनुसार न्यूनाधिक होता है।

ऊपर वताया है कि कक्षावृत्त के मध्य से परममन्द या शीघ्रफल की भुजज्यातुल्य अन्तर पर प्रतिवृत्त रहता है। हमारे ग्रन्थो मे प्रत्येक ग्रह के वे मन्द और शीघ्रफल लिखे रहते है। उनके लिखने की पद्धति यह है कि परम फल तुल्य त्रिज्या मान कर वनाये हुए वृत्त की परिधि कक्षावृत्त मे जितने अश घेरती है वे अश ही दिये रहते है और उन्हें सामान्यत परिधि ही कहते है। मन्दफलसम्वन्धी परिधि को मन्दपरिधि और शीघ्रफलसम्वन्धी परिधि को शीघ्रपरिधि कहते है। इन फलो को परिधिरूप मे लिखने का कारण उपर्युक्त नीचोच्चवृत्त ज्ञात होता है। वस्तुत नीचोच्चवृत्तपरिधि मे भी अश ३६० ही होते है परन्तु फल की गणना कक्षावृत्त के अशो से करनी पडती है इसलिए नीचोच्चवृत्तपरिधि का मान भी उन्ही अशो मे लिखा रहता है।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थो की मन्दशीघ्रपरिधिया अगले कोष्ठक मे दी है और उनकी गणितागत त्रिज्याएँ भी लिखी है। ये त्रिज्याएँ ही परमफलो के मान है। त्रिज्याएँ लाते समय परिधि और त्रिज्या की निष्पत्ति प्रथम आर्यभट और भास्कराचार्य कथित अर्थात् ६२८३२ १०००० मानी है।

केन्द्र की तीन-तीन राशियो का एक पद होता है। प्रथम और तृतीय पद को ओज तथा द्वितीय और चतुर्थ को युग्म कहते है। कुछ सिद्धान्तो में कुछ ग्रहो के परिधिमान ओज और युग्म पदान्तो मे भिन्न-भिन्न और मध्य मे तदनुसार न्यूनाधिक है। अग्रिम कोष्ठक मे पञ्चसिद्धान्तिका की कुछ ग्रहो की परिधिया नही लिखी है। इसका कारण यह है कि पञ्चसिद्धान्तिका की पुस्तक से वे नि सशय ज्ञात नही होती। शेष सिद्धान्तो में जहा युग्मान्त परिधि नही लिखी है वहा वह ओजपदान्तीय तुल्य ही है।

मन्दपरिधियां और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम मन्दफल

	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त									प्रथम आर्यसिद्धान्त				
	सूर्यसिद्धान्त				ओजपदान्त मे					युग्मपदान्त मे				ओजपदान्त मे				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
ग्रह	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
सूर्य	१४	२	१३	४१	१३	४०	२	१०	३०	१४	२	१३	४१	१३	३०	२	८	५५
चन्द्र	३१	४	५६	२	३१	४०	५	२	२४	३२	५	५	३५	३१	३०	५	०	४८
मंगल	७०	११	८	२७	७२		११	२७	३३	७५	११	५६	१२	६३	०	१०	१	३६
बुध	२८	४	२७	२३	२८		४	२७	२३	३०	४	४६	२९	३१	३०	५	०	४८
गुरु	३२	५	५	३५	३२		५	५	३५	३३	५	१५	८	३१	३०	५	०	४८
शुक्र					११		१	४५	२	१२	१	५४	३५	८	०	२	५	५३
शनि					४८		७	३८	२२	४९	७	४७	५५	४०	३०	६	२६	४५

ग्रह	प्रथम आर्यसिद्धान्त					ब्रह्मसिद्धान्त									द्वितीय आर्यसिद्धान्त				
	युग्मपदान्त में					ओजपदान्त में					युग्मपदान्त में								
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०	अं०	अं०	क०	वि०	अं०	क०	अं०	क०	वि०
सूर्य						१३	४०	२	१०	३०					१३	४०	२	१०	३०
चन्द्र						३१	३६	५	११	४५					३१	३४	५	१	२६
मंगल	[illegible]	०	[illegible]	५३	[illegible]	७०	०	११	८	२७					६७	३०	१०	२५	२९
बुध	[illegible]	[illegible]	३	३८	५१	३८	०	६	१२	५२					२७	३६	४	२३	३४
गुरु	३	०	५	४३	४६	३३	०	५	१५	८					२८	१५	४	२९	४६
शुक्र	[illegible]	०	१	२५	५७	९	०	१	२५	५७	११	१	४५	२	९	३५	१	३१	३१
शनि	[illegible]	[illegible]	९	१८	३८	३०	०	४	४६	२९					५२	४२	८	२३	१५

शीघ्रपरिधिया और उनकी त्रिज्याएँ अर्थात् परम शीघ्रफल

ग्रह	पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त				वर्तमान सूर्यसिद्धान्त								प्रथम आर्यसिद्धान्त				
					ओजपदान्त मे				युग्मपदान्त मे				ओजपदान्त मे				
	परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
मगल	२३४	३७	१४	३२	२३२	३६	५५	२६	२३५	३७	२४	५	२३८	३०	३७	५७	३०
बुध	१४२	२१	०	३०	१३२	२१	०	३०	१३३	२१	१०	३	१३९	३०	२२	१२	७
गुरु	७२	११	२७	३३	७२	११	२७	३३	७०	११	८	२७	७२	०	११	२७	३३
शुक्र	२६०	४१	२२	४९	२६०	४१	२२	४९	२६२	४१	४१	५५	२६५	३०	४२	१५	२०
शनि	४०	६	२१	५८	४०	६	२१	५८	३९	६	१२	२५	४०	३०	६	२६	४५

ग्रह	प्रथम आर्यसिद्धान्त — युग्मपदान्त मे					ब्रह्मसिद्धान्त — ओजपदान्त मे					ब्रह्मसिद्धान्त — युग्मपदान्त मे				द्वितीय आर्यसिद्धान्त — ओजपदान्त मे				
	परिधि		त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या			परिधि	त्रिज्या			परिधि		त्रिज्या		
	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०	अ०	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
मगल	२२९	३०	३६	३१	३३	२४३	४०	३८	४६	५०					२३०	५९	३६	४५	४३
बुध	१३०	३०	२०	४६	११	१३२		२१	०	३०					१३४	३०	२१	२४	२३
गुरु	६७	३०	१०	४४	३५	६८		१०	४९	२१					६९	३०	११	३	४०
शुक्र	२५६	३०	४०	४९	२३	२६३		४१	५१	२८	२५८	४१	३	४३	२६१	३०	४१	३७	८
शनि	३६	०	५	४३	४६	३५		५	३४	१३					४०	४०	६	२८	२०

टालमी के और आधुनिक यूरोपियन ज्योतिषियो के परम मन्दफलमान[1] नीचे के कोष्ठक मे दिये है। उनकी हमारे ग्रन्थो के मानो से तुलना करने मे सुविधा होनेके लिए यहा प्रथम आर्यभट के ओजपदान्त के परम मन्दफल पुन लिख दिये है।

परममन्दफल

	प्रथम आर्यसिद्धान्त			टालमी		आधुनिक		
	अ०	क०	वि०	अ०	क०	अ०	क०	वि०
सूर्य	२	८	५५	२	२३	१	५५	२७
चन्द्र	५	०	४८	५	१	६	१७	१२
मगल	१०	१	३६	११	३२	१०	४१	३३
बुध	५	०	४८	२	५२	२३	४०	४३
गुरु	५	०	४८	५	१६	५	३१	१४
शुक्र	२	५१	५३	२	२३	०	४७	११
शनि	६	२६	४५	६	३२	६	२६	१२

बुधशुक्र के आधुनिक मानो से हमारे ग्रन्थो के मानो की तुलना करना ठीक नहीं है क्योकि उनके आधुनिक मान सूर्यबिम्बस्थ द्रष्टा की दृष्टि और हमारे भूस्थ द्रष्टा की दृष्टि से दिये है। शेष ग्रहो सम्बन्धी दोनो मानो की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारे मान आधुनिक मानो के बिलकुल सन्निकट है। आधुनिक सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा और ग्रहो की कक्षाएँ दीर्घवृत्ताकार है। उनकी कक्षाकेन्द्रच्युति के न्यूनाधिकत्व के अनुसार उनके मदफल न्यूनाधिक होते है। हमारे ग्रन्थो के मन्दफल उनसे मिलते है। ऊपर हमारे ग्रन्थों की ग्रहगति का स्वरूप परिलेख द्वारा दिखाया है। उससे ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थकारो ने ग्रहकक्षाएँ यद्यपि दीर्घवृत्ताकार नही मानी है तथापि उन्होंने कक्षा के मध्य से ग्रह का अन्तर सदा समान नही माना है और उन कक्षाओ मे उच्चनीच स्थान मान कर तदनुसार फल मे भेद माना है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रह की मध्यम और स्पष्ट गतियो में अन्तर पडने का एक मुख्य कारण ग्रह (या चन्द्रमा) का दीर्घवृत्त में भ्रमण करना हमारे ग्रन्थकारो को दूसरे प्रकार से ज्ञात था। मन्दस्पष्टग्रह अपनी कक्षा मे पृथ्वी से जितने न्यून या अधिक अन्तर पर रहता है उसी के अनुसार

[1] ये बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद (पृष्ठ ७६) से लिये है।

उनमें शीघ्रफल-सस्कार उत्पन्न होता है। हमारे ग्रन्थो का वह शीघ्रफल सस्कार पिछले कोष्ठक में लिखा है और उसके द्वारा लायें हुए ग्रहो के मन्दकर्ण आधुनिको से मिलते है, यह पहले दिखा चुके हैं। उससे और उपर्युक्त विवेचन से सिद्धहोता है कि सूर्य के चारो ओर पृथ्वी के घूमते रहने के कारण सूर्य सम्बन्ध से ग्रहो के मन्दस्पष्ट स्थान मे पृथ्वी स्थित द्रष्टाओ को अधिक अन्तर दिखाई देता है—ग्रहोकी मध्यम और स्पष्ट गति में अन्तर पडने का यह जो दूसरा कारण है, उसे भी हमारा ज्योतिषी जानते थे।

टालमी के उपर्युक्त मन्दफल हमारे किसी भी सिद्धान्त से नही मिलते। हमारे किसी भी सिद्धान्त से टालमी का कोई भी सम्बन्ध नही है, इसके अनेक प्रमाणो मे से एक यह भी है[1]।

मन्दशीघ्रपरिधि सम्बन्धी कुछ और उल्लेखनीय बाते यहा लिखते हैं। कुछ सिद्धान्तो मे ओज और युग्मपदान्तो की परिधिया भिन्न भिन्न है। प्रथम आर्यभट के इन दोनो मानो में अधिक अतर है। सूर्यसिद्धान्त के मानो मे विशेष अन्तर नही है। ब्रह्मगुप्त ने केवल शुक्र के परिधिमान ओज और युग्मपदान्तो में भिन्न भिन्न माने हैं। वर्तमान रोमश, सोम, शाकल्योक्त ब्रह्म और वसिष्ठसिद्धान्तो के मान प्राय वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य ही हैं। तथापि रोमश और सोमसिद्धान्त की परिधिया सर्वत्र समान हैं और वे सूर्यसिद्धान्त की युग्मान्त परिधियो से मिलती हैं। सोमसिद्धान्त मे बुध की मन्दपरिधि ३४ है, केवल वही नही मिलती। वसिष्ठसिद्धान्त में मन्दपरिधिया लिखी ही नही हैं[2]। शीघ्रपरिधिया लिखी हैं, पर वे सूर्यसिद्धान्त से नही मिलती। उनके मान ये हैं—

मगल २३४, बुध १३३, गुरु ७१, शुक्र २६१, शनि ३९।

ये दोनो पदान्तो में इतनी ही हैं। यद्यपि ये सूर्यसिद्धान्त से नही मिलती तथापि स्पष्ट है कि उनके दोनो पदान्तो की परिधियो के ये स्थूल मध्यमान हैं। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त की मेरी पुस्तक मे परिधिया हैं ही नही परन्तु जहा उनके होने की सभावना है, मेरी पुस्तक का वह भाग नि सन्देह खण्डित है।[3] मूल पुस्तक मे वे अवश्य रही

[1] पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त में चन्द्रमा का परम मन्दफल ४ अंश ५७ कला है (प० सि० ८ और ९)। यह टालमी के मन्दफल से भिन्न है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त रोमकसिद्धान्त टालमी का नहीं है, इसका यह एक प्रमाण है।

[2] काशी की छपी हुई प्रति और डेक्कनकालेजसंग्रह की प्रति, दोनो में वे नही है।

[3] प्रथमाध्याय के १११ श्लोको के बाद अग्रिम श्लोक का केवल 'मौर्व्यांचतुष्के' अश ही लिखा है और उसके बाद द्वितीय अध्याय है। उसके आरम्भ में दूसरा ही

होगी। लल्ल प्रथम आर्यभट के अनुयायी थे अत उन दोनों के परिधिमान बिलकुल समान हैं। भास्कराचार्य ब्रह्मगुप्त के अनुयायी हैं अत उन दोनों के मान भी समान ही हैं परन्तु भास्कराचार्य ने शनि की मन्दपरिधि ५० और शीघ्रपरिधि ४० लिखी है। ज्ञानराजकृत सिद्धान्तसुन्दर के मान वर्तमान सूर्यसिद्धान्ततुल्य हैं। सिद्धान्तसार्वभौम-कार मुनीश्वर के मत में ओज और युग्म पदान्तों में भिन्न भिन्न परिधिया मानना अयुक्त है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में वर्तमान सूर्यसिद्धान्त की ओज और युग्मपदान्तीय परि-धियों का मध्यमान लिखा है। प्राय सभी करणग्रन्थों के परिधिमानों में थोडा बहुत अन्तर है पर मालूम होता है सूक्ष्मता की ओर कम ध्यान देने के कारण ऐसा हुआ है। इस विषय में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है।

उपर्युक्त कोष्ठक में दिये हुए मन्दफलों के आधुनिक मान सदा समान नहीं रहते। कुछ समय बाद उनमें अन्तर पड जाता है। सूर्य के मन्दफलसम्बन्धी अन्तर का ज्ञान नीचे के कोष्ठक से होगा। यह कोष्ठक केरोपन्त के ग्रहसाधनकोष्ठक से लिया है।

शकारम्भ के पहिले के वर्ष	परमफल		शकारम्भ के बाद के वर्ष	परमफल	
	अ०	क०		अ०	क०
१००००	२	३१	०	२	१
९०००	२	२८	१०००	१	५८
८०००	२	२५	२०००	१	५५
७०००	२	२२	३०००	१	५२
६०००	२	१९	४०००	१	४९
५०००	२	१६	५०००	१	४६
४०००	२	१३	६०००	१	४३
३०००	२	१०	७०००	१	४०
२०००	२	७	८०००	१	३७
१०००	२	४	९०००	१	३४
०	२	१	१००००	१	३१

प्रकरण है। सम्भवत इन्हीं दोनों के बीच में परिधिमान रहे होंगे। आश्चर्य यह है कि (ग्वालियर, आप्टे और पूना के आनन्दाश्रम (४३४१) की प्रतियाँ भी इसी स्थान पर खण्डित हैं)।

इससे ज्ञात होता है कि सूर्य का फलसंस्कार क्रमशः न्यून होता जा रहा है। हमारे ग्रन्थों में यह २।१३।४१ से २।८।५५ पर्यन्त है। उपर्युक्त कोष्ठक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अधिक और अर्वाचीन ग्रन्थों में कम है। इससे सिद्ध होता है कि यह भिन्न भिन्न समयों में वेध द्वारा लाया गया है। हमारे ज्योतिषियों ने रविफलसंस्कार ग्रहण के वेध द्वारा अर्थात् उनकी पर्वान्तकालीन स्थिति के आधार पर निश्चित किये हैं। मध्यम चन्द्र को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक यूरोपियन ग्रहगणित में बड़े बड़े ५ संस्कार हैं। आगे दिखाया है कि उनमें से पर्वान्तकालीन ८ संस्कारों को एकत्रित करने से जितना फल होता है उतना ही हमारे ज्योतिषियों ने चन्द्रमा का परमफल माना है। पञ्चमसंस्कार का परममान ११ कला है (के० ग्र० सा० को० पृ० १०५)। इसका उपकरण रविकेन्द्र होने के कारण वह रविफलसदृश संस्कार रवि में ही दे दिया गया और जहां चन्द्रमा में धनर्ण होना चाहिए था वहां रवि में ऋणधन कर दिया गया, इससे ग्रहणसम्बन्धी परिणाम में कोई अशुद्धि नहीं हुई। सारांश यह कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में दिया हुआ रविपरमफल २ अंश १४ कला वस्तुतः ११ कला न्यून अर्थात् २ अंश ३ कला ही है। इतना रविफल शकपूर्व ५०० वर्ष में था, इससे ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने उसी समय अथवा कम से कम शकारम्भ के दो तीन शताब्दी पूर्व उसे निश्चित किया। टालमी का रविसंस्कार २ अंश २३ कला है अर्थात् हमारे ग्रन्थों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। टालमी ने रविफल २।२३ लिखा है परन्तु वह उस समय (लगभग शक ७०) वस्तुतः २ अंश था अतः उन्होंने वह स्वयं नहीं निकाला होगा बल्कि किसी अन्य ग्रन्थ से लिया होगा। उनके पहिले रविस्पष्टीकरण का ज्ञान हिपार्कस के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं हुआ था और दूसरी बात यह कि टालमी और हिपार्कस का वर्षमान एक ही[1] (३६५।१४।४८) है। इन दोनों हेतुओं से अनुमान होता है कि टालमी ने रविफलसंस्कार हिपार्कस का ही लिया होगा। हिपार्कस के आधार पर विरचित रोमकसिद्धान्त में रविपरमफल २।२३।२३ है, इससे इस अनुमान की और भी पुष्टि होती है। यह मत किसी का भी नहीं है कि हिन्दुओं ने टालमी के बाद के किसी ग्रन्थ से ज्योतिषगणित लिया है। टालमी के बाद तीन चार सौ वर्षों तक वैसा ज्योतिषी कोई हुआ ही नहीं। मूल रोमकसिद्धान्त का रविफलसंस्कार हमारे अन्य किसी भी सिद्धान्त में नहीं है। इन सब हेतुओं से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियों ने रविफलसंस्कार किसी पाश्चात्यग्रन्थ से नहीं लिया है

[1] Grant's History of the Ph Astronomy chap XVIII

बल्कि शक के पूर्व ही स्वयं निकाला है और यह बात प्रत्येक निष्पक्ष मनुष्य स्वीकार करेगा।

चन्द्रमा का आधुनिक परममन्दफल ६ अंश १७ कला है परन्तु मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा में अन्तर उत्पन्न करनेवाले हेतु मन्दफल के अतिरिक्त अन्य भी हैं। उनके कारण कभी कभी मध्यम और स्पष्ट चन्द्रमा में ८ या ८½ अंश का अन्तर पड़ जाता है। उसे लाने के लिए मध्यम चन्द्रमा में लगभग ४० संस्कार करने पड़ते हैं। उनमें उपर्युक्त मन्दफलसंस्कार बहुत बड़ा है। चार और बड़े हैं। उनमें एक व्हेरिएशन (पाक्षिक अथवा तैथिक) नामक है। उसका उपकरण है 'चन्द्रमा–स्पष्टरवि'। पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त में यह उपकरण ६ राशि और शून्य रहता है और वह संस्कार शून्य होता है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृष्ठ ११०)। चार में से दूसरा संस्कार इव्हेक्शन (च्युति) नामक है। उसका उपकरण '२ (चन्द्र-चन्द्र–स्पष्टरवि)–चन्द्रकेन्द्र' है। उसका प्रथम पद पूर्णिमा और अमावास्या के अन्त में शून्य रहता है अर्थात् उस समय केवल '०–चन्द्रकेन्द्र' भाग ही शेष रह जाता है। यह उपकरण ३ या ९ राशि होने पर संस्कार महत्तम अर्थात् १ अंश २० २ कला होता है अतः पूर्णिमान्त या अमान्त में चन्द्रकेन्द्र ३ या ९ राशि पर होने पर इव्हेक्शन-संस्कार का उपकरण—

० – ३ राशि = ९ राशि } और इव्हेक्शनसंस्कार + १ अंश २० कला
० – ३ राशि = ३ राशि } – १ अंश २० कला

होगा (ग्र० सा० को० पृष्ठ १०६) और उस समय

चन्द्रकेन्द्र ३ राशि रहने पर मन्दफलसंस्कार – ६ अंश १७ कला और

चन्द्रकेन्द्र ९ राशि रहने पर मन्दफलसंस्कार + ६ अंश १७ कला होगा (ग्र० सा० को० पृ० १०९)

अर्थात् पूर्णिमान्त या अमान्त में मन्दफलसंस्कार और इव्हेक्शनसंस्कार मिल कर

+ १ अंश २० कला – ६ अंश १७ कला = – ४ अंश ५७ कला या

– १ अंश २० कला + ६ अंश १७ कला = + ४ अंश ५७ कला से अधिक नहीं होंगे।

उपर्युक्त चार संस्कारों में से एक संस्कार जिसका मान ११ कला है, रवि में दे दिया गया। इसे ऊपर लिख चुके हैं, चतुर्थ संस्कार का मान लगभग ७ कला है (केरोपन्तीय ग्र० सा० को० पृ० १०५ और १११)। उपर्युक्त ४ अंश ५७ कला में इसे जोड़ देने से फल ५ अंश ४ कला आता है। ४० में से शेष ३५ संस्कार बहुत छोटे छोटे हैं। हमारे सिद्धान्तों में चन्द्रमा का परमफल ४।५६ से ५।६ पर्यन्त है अतः

सिद्ध हुआ कि वह बहुत सूक्ष्म है।[1] ग्रहण सूर्य और चन्द्रमा के फलो के सूक्ष्मत्व की परीक्षा करने का उत्तम साधन है और हमारे ज्योतिषियो ने चन्द्रमा और सूर्य के फल-सस्कार ग्रहणो द्वारा ही निश्चित किये है।

सुधाकर ने लिखा है कि मुजाल ने चन्द्रमा मे च्युतिसस्कार सदृश एक सस्कार और पाक्षिकसस्कार तथा नित्यानन्द ने पाक्षिक और पातसस्कार बताये है।

टालमी के पहिले पञ्चग्रहस्पष्टीकरण कोई भी पाश्चात्य ज्योतिषी नही जानता था, हिपार्कस को भी उसका ज्ञान नही था[2] और टालमी के परमफल हमारे किसी भी ग्रन्थ से नही मिलते। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने पञ्चग्रहो का स्पष्टीकरण स्वय किया है। रविचन्द्र तथा अन्य पाच ग्रहो का स्पष्टीकरण ही ज्योतिष-गणित का महत्त्व का विषय है। इतना ही नही, यही ज्योतिषगणित का सर्वस्व है और हमने यह पाश्चात्यो से नही लिया है।

हमारे यहा फलसस्कार इस "परिधि×ग्रहकेन्द्रभुजज्या -- त्रिज्या" सारणी से लाते है। उच्च और ग्रह के अन्तर को केन्द्र कहते है। सूर्य और चन्द्रमा में केवल मन्दफल का ही सस्कार किया जाता है परन्तु शेष ग्रहो में मन्द और शीघ्र दो सस्कार देने पडते है और उनमे शीघ्रकर्ण का उपयोग करना पडता है।

भुजज्या और त्रिज्या

सिद्धान्तग्रन्थो मे ३¾ अशो का एक एक खण्ड मानकर उनकी भुजज्याएँ दी रहती है। करणग्रन्थो मे सूक्ष्मता का अधिक विचार न रहने के कारण १०, १५ इत्यादि अशो का एक-एक खण्ड माना है। सिद्धान्तो मे भुजज्या लाने के लिए त्रिज्या प्राय. ३४३८ मानी है पर ब्रह्मगुप्त ने ३२७० मानी है। सिद्धान्ततत्त्वविवेककार कमलाकर ने ६० त्रिज्या मानकर प्रत्येक अश की भुजज्या दी है। करणग्रन्थो मे प्राय १२० त्रिज्या रहती है। सुधाकर का कथन है कि मुजाल ने ८ अश ८ कला और चान्द्रमानकार गङ्गाधर ने १९१ मानी है। यन्त्रराज मे त्रिज्या ३६०० है और प्रत्येक अश की भुजज्या दी है। केरोपन्त ने (ग्र० सा० को० पृष्ठ ३१४ मे) लिखा है कि हिन्दू ज्योतिषियो की त्रिज्या ३४३८ बडी बेढब है। इससे गुणन-भजन मे बडा विस्तार होता है। उनका कथन कुछ अशो में सत्य है परन्तु हमारे ज्योतिषियो ने गुणन भजन न बढने देने की युक्तिया की है और ३४३८ त्रिज्या कारणवशात् मानी

[1] रविचन्द्रफल की यह उपपति व्यंकटेश बापूजी केतकर ने सुझाई।

[2] Grant's History of Ph Astronomy chap. XVIII

है। कारण यह है कि वृत्तपरिधि मे २१६०० कलाएँ होती हैं और तदनुसार व्यासार्ध ३४३८ आता है। व्यास और परिधि के अत्यन्त सूक्ष्म सम्बन्ध १ · ३ १४१५९२७ द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध ३४३७$\frac{3}{4}$ आता है। हमारे ग्रन्थकारो ने अत्यन्त स्वल्प अन्तर होने के कारण ३४३८ मान लिया है। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो की त्रिज्या बहुत सूक्ष्म है[1]।

व्यास और परिधि की हमारे ग्रन्थो में बताई हुई भिन्न भिन्न निष्पत्तियां नीचे लिखी है। उनसे ज्ञात होगा कि हमारे ग्रन्थकार उनका सूक्ष्म सम्बन्ध जानते थे। कहीं कहीं स्थूल मान भी मिलते है परन्तु उन्होने वे व्यवहार में सुविधा होने के लिए दिये है।

सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त, द्वितीय आर्यभट	१ : √१० अर्थात् १ : ३ १६२३
प्रथम आर्यभट	२०००० : ६२८३२ अर्थात् १ : ३ १४१६
द्वितीय आर्यभट, भास्कराचार्य[2]	७ : २२ अर्थात् १ : ३ १४२८
भास्कराचार्य	१२५० . ३९२७ अर्थात् १ : ३ १४१६
३४३८ त्रिज्या द्वारा	१ . ३ १४१३६
आधुनिक यूरोपियन सूक्ष्ममान	१ : ३ १४१५९२७

ब्रह्मगुप्त ने व्यासार्ध ३२७० माना है। इसका कारण वे बताते है—

भगणकलाव्यासार्धं भवति कलाभिर्यतो न सकलाभि ।
ज्यार्धानि न स्फुटानि तत. कृतं व्यासदलमन्यत् ॥१६॥

गोलाध्याय

सूक्ष्म निष्पत्ति द्वारा २१६०० परिधि का व्यासार्ध पूर्ण ३४३८ नही आता और इस कारण ज्यार्ध सूक्ष्म नही होते, यह कथन तो ठीक है परन्तु ब्रह्मगुप्त ने व्यास और परिधि की जो निष्पत्ति मानी है (१ . √१०) उससे या किसी अन्य रीति द्वारा मुझे उनके व्यासार्ध ३२७० की सगति लगती नही दिखाई देती।

भास्कराचार्य ने ज्यासाधन की भिन्न भिन्न रीतियों और ज्योत्पत्ति का विवेचन

[1] यूरोपियन गणक १० के दस घात या अन्य किसी घात तुल्य त्रिज्या मानते हैं। (उनके ग्रन्थों में उस त्रिज्या सम्बन्धी भुजज्यादि मान दिये रहते हैं, इससे गणित करने में बडी सुविधा होती है और बहुत बड़ी त्रिज्या रहने के कारण फल अत्यन्त सूक्ष्म आते हैं।)

[2] द्वितीय आर्यभट और भास्कराचार्य ने ये निष्पत्तियां दो प्रकार बताई हैं।

वहुत किया है। कमलाकर ने भी पर्याप्त विचार किया है। यहा उसका विस्तार करने की आवश्यकता नही है। हमारे ग्रन्थो की ज्योत्पत्ति के विषय मे प्लेफेअर नामक एक यूरोपियन विद्वान् (सन् १७८२) ने लिखा है (एशियाटिक रिसर्चेस पु० ४) कि "हिन्दू ज्योतिषियो की ज्यासाधन की रीतियो मे यह —तीन चापो मे से, जिनमें प्रथम और द्वितीय की निष्पत्ति द्वितीय और तृतीय की निष्पत्ति के बरावर है, आद्य और अन्त्य की भुजज्याओ का योग तथा मध्यवर्ती चाप की भुजज्या के दूने की निष्पत्ति आद्यन्त्य चापो के अन्तर की कोटिज्या और त्रिज्या की निष्पत्ति के तुल्य होती है— साध्य गर्भित है। यह साध्य यूरोपियन गणको को १७ वी शताब्दी के आरम्भ तक ज्ञात था, इसका प्रमाण नही मिलता।" यह वात हमारे लिए भूषणास्पद है। ग्रीक केवल ज्याओ को ही जानते थे। ज्यार्धो का प्रयोग करना उन्हे नही मालूम था। अरव ज्योतिषियो को भी यह ईसा की नवी शताव्दी तक नही ज्ञात था। प्रथम आर्यभट के वर्णन मे लिख चुके है कि हमारे ज्योतिषियो को यह शक ४२१ से ही मालूम है। इतना अवश्य है कि स्पर्शरेखा, छेदनरेखा इत्यादि की कल्पना उन्हे नही हुई पर केवल भुज-ज्याओ से निर्वाह हो जाता है।

स्पष्टाधिकार में ग्रहो के वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के समयो का विचार तथा कुछ अन्य फुटकर वाते भी रहती है पर यहा उनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नही है।

क्रान्ति

हमारे ग्रन्थो में सूर्य की परमक्रान्ति २४ अश मानी है। क्रान्तिवृत्त का इतना तिर्यक्त्व शकपूर्व २४०० वर्ष के लगभग था। वह क्रमश न्यून होता जा रहा है। शक १८१८ के आरम्भ का उसका मान २३।२७।१० है अर्थात् सम्प्रति हमारे ग्रन्थो की क्रान्ति में ३२'५०" अशुद्धि है। शक ४०० के आसपास तिर्यक्त्व लगभग २३।३९ था। टालमी के ग्रन्थ मे (सिंटाक्सिस भाग १) वह २३।५० और २३।५२।३० के मध्य मे है। प्रो० व्हिटने के लेख (वर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद पृष्ठ ५७) से ज्ञात होता है कि टालमी ने वह हिपार्कस के ग्रन्थ से लिया है। वह तिर्यक्त्व हमारे ग्रन्थो से नही मिलता। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने वह हिपार्कस या टालमी के ग्रन्थ से नही लिया है वल्कि शक के पूर्व ही किसी समय स्वय निकाला है। यन्त्रराज मे क्रान्तिवृत्त का तिर्यक्त्व २३।३५ माना है (शक ९०० के लगभग वह वस्तुत उतना ही था भी) परन्तु उसके वाद अन्य किसी ग्रन्थकार ने उसे स्वीकार नही किया और न तो उसका मान स्वय ही निकाला।

द्वितीय प्रकरण

पञ्चाङ्ग

पञ्चाङ्ग के पाच अङ्गो का गणित स्पष्टाधिकार में ही रहता है इसलिए उनका विचार इसी अधिकार में करेंगे। शककाल, वर्षारम्भ, सवत्सर, पूर्णिमान्त-अमान्त मान इत्यादि कुछ बाते पञ्चाङ्ग की ही अगभूत है। प्रथम उनका और उसके बाद पञ्चाङ्ग के पाच अङ्ग, भिन्न-भिन्न प्रकार के पञ्चाङ्ग इत्यादि का विचार करेंगे।

ज्योतिषगणित में ग्रहस्थिति लाने के लिए कोई न कोई आरम्भकाल मानना आवश्यक होता है। सिद्धान्तग्रन्थो मे महायुगारम्भ अथवा किसी युग का आरम्भ, विशेषत कलियुगारम्भ और करणग्रन्थो में शककाल का कोई वर्ष गणितारम्भकाल माना रहता है। दो एक ग्रथो में शक के साथ साथ विक्रमसवत् भी दिया है। रामविनोदकरण मे शककाल और अकबरकाल तथा फत्तेशाहप्रकाश मे शककाल और फत्तेशाहकाल दो दो दिये हैं। वार्षिकतन्त्र वस्तुत करणग्रन्थ है परन्तु उसमें गणित कलियुगारम्भ से किया है और तदनुसार ग्रन्थकार ने उसको तन्त्र कहा है, फिर भी उसमें शककाल का सम्बन्ध आया है।

भिन्न भिन्न कालों का विवेचन

हमारे पञ्चाङ्ग के आरम्भ में सवत्सर फल विचार में युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन इत्यादि कलियुग के ६ शककर्ताओ के नाम लिखे रहते हैं। उनमें से युधिष्ठिरादि तीन बीत चुके हैं और तीन आगे होंगे। शक शब्द वस्तुत. एक जाति का बोधक है। भटोत्पल इत्यादिको ने लिखा है कि विक्रमादित्य द्वारा शको के पराजित होने के समय से शक नाम से कालगणना आरम्भ हुई पर यह कथन सयुक्तिक नही प्रतीत होता। शक जाति के ही राजाओ ने अपने नाम पर कालगणना का आरम्भ किया होगा। शक शब्द प्रथम एक जाति का द्योतक था परन्तु आज वह युधिष्ठिरशक, विक्रमशक इत्यादि शब्दो में काल अर्थ का अर्थात् इगलिश के इरा (Era) और अरबी के सन् अर्थ का वाचक हो गया है। प्राचीन ताम्रपटादि लेखो में सन् अर्थ में सस्कृत के काल शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे—शकनृपकाल, विक्रमकाल, गुप्तकाल (गुप्त राजाओं के नाम पर आरम्भ किया हुआ काल)। इसलिए मैंने अगले विवेचन में सन् अर्थ मे काल शब्द का प्रयोग किया है। इस देश में विक्रमकाल, शककाल इत्यादि अनेक काल प्रचलित थे और हैं। यहा उनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

गत और वर्तमान वर्ष

उनका वर्णन करने के पहिले गत और वर्तमान वर्ष के विषय में थोड़ा लिख

देना आवश्यक है। ब्रह्मगुप्त के वर्णन में उत्तरपुराण का एक श्लोक दिया है, उसमें उसका रचनाकाल शक ८२० लिखा है परन्तु उसमें बताई हुई ग्रहस्थिति शक ८२० में नहीं बल्कि आधुनिक पद्धति से शक ८१९ में मिलती है अत शंका होती है कि उस पुराण का रचनाकाल शक ८१९ है या ८२०। इस देश के अधिकांश प्रान्तों में जिसे शक का १८१८ वां वर्ष कहते हैं उसी को तामिल, तैलगू और मैसूर की कनाडी लिपि में छपे हुए कुछ पञ्चाङ्गों में १८१९वां वर्ष लिखा है। इस भेद का कारण मुझे यह मालूम होता है कि सिद्धान्तग्रन्थों में दिये हुए कलियुगारम्भकालीन ग्रह कलि के प्रथम वर्ष के आरम्भ के रहते हैं। कलि के ११ वें वर्ष के आरम्भ के ग्रह लाने हों तो गत १० वर्ष सम्बन्धी गति युगारम्भकालीन स्थिति में जोड़नी पड़ेगी। इस प्रकार के गणितों में ११ के स्थान में १० लेना पड़ता है। उपर्युक्त पुराणरचना सम्बन्धी शक ८१९ और ८२० की भी यही स्थिति होगी अर्थात् शक ८१९ गत और ८२० वर्तमान होगा। ताम्रपटादि लेखों में इनके कुछ उदाहरण मिलते हैं। ऊपर बताया है कि शक के जिस वर्ष को इस प्रान्त में १८१८ वां कहते हैं उसी को कुछ मद्रासी पञ्चाङ्गों में १८१९ वां कहा है पर पता नहीं, उधर के लोग गत और वर्तमान भेद को जानते हैं या नहीं। सम्प्रति तंजौर प्रान्त के अण्णा अय्यंगर के बनाये हुए तामिल लिपि में मुद्रित पञ्चाङ्ग मद्रास के तामिल प्रान्तों में चलते हैं। कई वर्षों के वे पञ्चाङ्ग मेरे पास हैं। गत सर्वजित नामक संवत्सर के उन पञ्चाङ्ग में शकवर्ष १८०९ लिखा है और उसी के आगे वाले सर्वधारी संवत्सर के पञ्चाङ्ग में, जो कि उसी कर्ता का बनाया है, शक १८११ लिखा है। इन वर्षों को अन्य प्रान्तों में क्रमश १८०९ और १८१० कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पञ्चाङ्गकर्ता को ही गत और वर्तमान भेद का पता नहीं है। इस स्थिति में सामान्य लोग उसे कैसे जान सकते हैं? पता लगाने पर मद्रास के सुप्रसिद्ध व्यक्ति नटेशशास्त्री तथा तंजौर प्रान्त के तिरुवादि नामक स्थान के निवासी प्रसिद्ध विद्वान् सुन्दरेश्वर श्रौती और व्यंकटेश्वर दीक्षित के भेजे हुए पत्रों से ज्ञात हुआ कि ऊपर जिसे वर्तमान वर्ष कहा है उसका प्रचार सम्प्रति उस प्रान्त में बिलकुल नहीं है अत यह भी कहा जा सकता है कि गत और वर्तमान भेद वास्तविक नहीं बल्कि कल्पित है और इसकी कल्पना एक ही वर्ष में किसी समय प्रमाद से दो अङ्क लगा दिये जाने के कारण हुई है। यदि यह भेद सत्य है तो इसकी सम्भावना केवल दो ही कालों, कलिकाल और शककाल, में हो सकती है क्योंकि ज्योतिषगणित ग्रन्थों में इन्हीका प्रयोग मिलता है। कलिवर्ष में यह भेद स्पष्टतया लागू होता है। विक्रम इत्यादि कालों का प्रचार ज्योतिषगणित में नहीं है अत. उनमें यह भेद होने का कोई हेतु नहीं दिखाई देता। कभी-कभी विक्रम के भी एक ही वर्ष में दो अङ्कों का प्रयोग

मिलता है परन्तु वह भ्रम से किया गया होगा। अनेक दृष्टियो से विचार करके मैंने अपना मत यह निश्चित किया है कि वर्तमान और गत भेद वास्तविक नही है, सभी वर्ष वर्तमान ही है। आगे भिन्न भिन्न कालो के वर्षों का अङ्क देकर तुलना की है, उसमें वर्ष का अङ्क लिखने में मैंने भारत की वर्तमान प्रचलित पद्धति का ही अनुसरण किया है। कही कही गत और वर्तमान सज्ञाओ का भी प्रयोग किया है पर ऐसा नही किया है जहा एक ही वर्ष में दो अङ्को का सम्बन्ध आया है। अब भिन्न भिन्न कालो का विचार करेंगे।

कलिकाल—ज्योतिषग्रन्थोऔर पञ्चाङ्गोमें कालगणनामें कलियुग का भी उपयोग करते है। इस काल के चैत्रादि और मेषादि दोवर्ष प्रचलित है। पञ्चाङ्गो मे कभी इसका गतवर्ष, कभी वर्तमान वर्ष और कभी कभी दोनो लिखते है। ताम्रपटादि लेखो में इसका अधिक प्रयोग नही मिलता। व्यवहार मे भी इस समय इसका प्रचार कही नही है परन्तु मद्रास प्रान्त मे कुछ ऐसे पञ्चाङ्ग मिलते है जिनमे केवल कलिवर्ष लिखा रहता है। शक मे ३१७९ जोडने से गत कलिवर्ष आता है।[1]

सप्तर्षिकाल—सम्प्रति यह काल काश्मीर मे और उसके आसपास प्रचलित है। मालूम होता है बेरुनी के समय (शक ९५२) यह काश्मीर, मुलतान और कुछ अन्य प्रान्तो मे भी प्रचलित था। राजतरगिणी मे सम्पूर्ण इतिहास इसी काल के वर्षों में लिखा है। इसे लौकिककाल या शास्त्रकाल भी कहते है। सप्तर्षियो मे गति है, वे १०० वर्ष मे एक नक्षत्र चलते है और २७०० वर्षो में भचक्र की पूरी प्रदक्षिणा करते है, इस कल्पना के आधार पर इस कालगणना का प्रचार हुआ है। इसी कारण इसमें २७०० वर्षो का एक चक्र माना जाता है परन्तु प्रचलित पद्धति में शताब्दी का अङ्क प्राय छोड देते है अर्थात् १०० वर्ष पूर्ण हो जाने पर फिर प्रथम वर्ष से गणना करते है। काश्मीर के ज्योतिषियो के मतानुसार वर्तमान कलिवर्ष २७ चैत्र शुक्ल १ को सप्तर्षिकाल आरम्भ हुआ है। शताब्दिया छोड दें तो सप्तर्षिवर्ष में ४६ जोडने से वर्तमान पद्धति का शकवर्ष और २४-२५ जोडने से ईसवी सन् आता है। सप्तर्षिवर्ष चैत्रादि है। डाक्टर कीलहार्न को पता लगा है[2] कि इसका वर्ष वर्तमान और मास पूर्णिमान्त है।[3]

विक्रमकाल—सम्प्रति यह गुजरात मे और बगाल को छोड सम्पूर्ण उत्तर भारत मे

[1] जगनलाल गुप्त ने इस विषय में 'ससार के सवत्' नाम का एक बडा अच्छा ग्रन्थ लिखा है। यह विक्रम संवत् १९८१ में छपा है। (अनुवादक)

[2] Indian Antiquary, XX, p. 149 ff

[3] पूर्णिमान्त और अमान्त पद्धतियो का विवेचन आगे किया है।

प्रचलित है। उन प्रान्तो के लोग अन्यत्र भी जहा है, इसी का प्रयोग करते है। नर्मदा के उत्तर इसके वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त है परन्तु गुजरात में वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त है। प्रोफेसर कीलहार्न ने विक्रमसवत् ८९८ से १८७७ तक के १५० प्राचीन लेखो के आधार पर निम्नलिखित तीन अनुमान किये है।[1]

(१) सामान्यत इस काल का गतवर्ष प्रचलित है पर कही कही वर्तमान वर्ष का भी प्रचार है।[2]

(२) विक्रमवर्ष आरम्भ मे कार्तिकादि था परन्तु मालूम होता है शकवर्ष के साहचर्य के कारण नर्मदा के उत्तर भाग मे वह धीरे-धीरे चैत्रादि हो गया। इस काल की १४ वी शताब्दी तक तो एक ही प्रान्त मे कार्तिकादि और चैत्रादि दोनो वर्ष प्रचलित थे पर कार्तिकादि का अधिक प्रचार था।

(३) कार्तिकादि वर्ष के मास अमान्त और पूर्णिमान्त दोनो और चैत्रादि वर्ष के प्राय पूर्णिमान्त ही पाये जाते है परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इसका कोई एक निश्चित नियम था।

सन् ४५० ई० से ८५० पर्यन्त इस काल को मालवकाल कहते थे। विक्रमशब्द का प्रयोग सर्व प्रथम विक्रमसवत् ८९८ के एक लेख में मिलता है पर उससे भी यह स्पष्ट नही ज्ञात होता कि वह विक्रम राजा के ही उद्देश्य से किया गया है। वैसा स्पष्ट उल्लेख विक्रमसवत्सर १०५० के एक काव्य मे सर्वप्रथम मिलता है। सम्प्रति विक्रम-काल को विक्रमसवत् अथवा केवल सवत् भी कहते है। सवत् शब्द वस्तुत· सवत्सर का अपभ्रश है। शकसवत् सिंहसवत् वलभीसवत् इत्यादि प्रयोग अनेक स्थानो मे मिलते है। मद्रास प्रान्त के कुछ पञ्चाङ्गो मे शकवर्ष के साथ साथ विक्रम का भी वर्तमान वर्ष लिखा रहता है। इधर जिस वर्ष को शक १८१८ कहते है उसे वहा शक १८१९ और विक्रमसवत् १९५४ कहते है। शक मे १३४-१३५ जोडने से कार्तिकादि और १३५ जोडने से चैत्रादि विक्रमवर्ष आता है।

ख्रिस्तीसन (ईसवीसन)—हमारे देश मे इस सन् का प्रचार अगरेजो का राज्य होने के बाद हुआ है। इसका वर्ष सायनसौर है। उसका आरम्भ जनवरी की पहली तारीख से होता है। सम्प्रति जनवरी का आरम्भ अमान्त पौष या माघ में होता है। यह पद्धति सन् १७५२ ई० से चली है। उसके पूर्व जनवरी का आरम्भ ११ दिन पहिले होता था। शक में ७८ या ७९ जोडने से ख्रिस्ती वर्ष आता है।

[1] Indian Antiquary, XX, p. 398 ff

[2] गत और वर्तमान वर्ष का उपर्युक्त विवेचन देखिये।

शककाल—ज्योतिषकरणग्रन्थो में यही काल लिया गया है। ज्योतिषियो का आश्रय प्राप्त होने के कारण ही यह आज तक टिका है, अन्यथा गुप्तकाल, शिवाजी का राज्याभिषेक शक इत्यादिको की भाति यह भी बहुत पहिले ही लुप्त हो गया होता। सम्प्रति टिनेवल्ली और मलाबार के कुछ भाग को छोड कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत मे व्यवहार में मुख्यत इसी काल का प्रचार है। भारत के अन्य भागो में भी यह स्थानिक काल के साथ-साथ प्रचलित है। इसका वर्ष चान्द्र और सौर है। तामिल और बगाल प्रान्त में सौरवर्ष और अन्य प्रान्तो मे इसका चान्द्रवर्ष प्रचलित है। चान्द्रवर्ष चैत्रादि और सौर वर्ष मेषादि है। नर्मदा के उत्तर भाग मे इसके मास पूर्णिमान्त और दक्षिण मे अमान्त हैं।

चेदिकाल अथवा कलचुरिकाल—यह काल सम्प्रति प्रचलित नही है। चेदिवर्ष ७९३ से ९३४ तक के १० ताम्रपटादि लेखो के आधार पर प्रोफेसर कीलहार्न ने अनुमान किया है कि चैत्रादि विक्रमसवत् ३०५ (शकसवत् १७०, सन् २४८-४९ ई०) आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को चेदिकाल आरम्भ हुआ, उसका वर्ष आश्विनादि है, वह वर्तमान है और उसके मास पूर्णिमान्त हैं। चेदिवर्ष में १६९-७० जोडने से शकवर्ष और २४७-४८ जोडने से ईसवी सन् आता है। पश्चिमभारत और मध्यभारत के कलचुरी राजा इस काल का उपयोग करते थे। सभवत. उनके पहिले भी उन भागो में यह प्रचलित रहा होगा। मेरा अनुमान है कि पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण १ अर्थात् अमान्त भाद्रपद कृष्ण १ चेदिवर्ष का आरम्भकाल होगा।

गुप्तकाल—सम्प्रति यह प्रचलित नही है। डाक्टर फ्लीट ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।[1] गुप्तवर्ष १६३ से ३८६ तक के ताम्रपटादि लेखो के आधार पर उन्होने अनुमान किया है कि इसका वर्ष वर्तमान है, उसका आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त है। शकवर्ष २४२ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा गुप्तकाल का आरम्भकाल है। गुप्तवर्ष में २४१ जोडने से शकवर्ष और ३१९-२० जोडने से ईसवी सन् आता है। मध्यभारत और नैपाल में यह काल प्रचलित था। गुप्तोपनामक राजा इसका उपयोग करते थे।

वलभिकाल—गुप्तकाल को ही बाद में वलभिकाल कहने लगे थे। उसकी चतुर्थ शताब्दी में वह काठियावाड में प्रचलित हुआ। उस समय उसके वर्ष का आरम्भ चैत्र मे होता था पर बाद मे उस चैत्र के पूर्ववर्ती कार्तिक की शुक्ल प्रतिपदा को अर्थात्

[1] Corpus Inscrip. Ind vol iii, Gupta Inscriptions, Indian Antiquary, vol. xx, p. 376 ff.

पाच मास पीछे होने लगा। उसका वर्ष वर्तमान है और कार्तिकादि है। मास पूर्णिमान्त और अमान्त दोनो है। वलभीवर्ष मे २४०-२४१ जोडने से शकवर्ष और ३१८-१९ जोडने से ईसवीसन् आता है। गुप्तसवत् अथवा वलभीसवत् ८२ से ९४५ तक के ताम्रपटादि लेख मिले है।

हिजरीसन्—इसकी उत्पत्ति अरब मे हुई है। हमारे देश मे इसका प्रचार मुसल्मानी राज्यकाल से हुआ है। हिजरा का अर्थ है भागना। मुसल्मानोकेपैगम्बर मुहम्मद साहब १५ जुलाई सन् ६२२ ई० तदनुसार शक ५४४ श्रावण शुक्ल १ गुरुवार की रात्रि (मुसल्मानो की शुक्रवार की रात) को मक्का से भाग कर मदीना गये थे। उनके भागने का समय ही इस सन् का आरम्भकाल है और इसीलिए इसे हिजरीसन् कहते है। इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र है। अधिकमास लेने की पद्धति न होने के कारण यह वर्ष केवल चान्द्र अर्थात् ३५४ या ३५५ दिनो का होता है और इस कारण प्रति ३२ या ३३ सौर वर्षो मे इस सन् के वर्ष का अङ्क किसी भी सौरकाल के वर्ष के अङ्क की अपेक्षा १ वढ जाता हे। मास का आरम्भ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा या द्वितीया के चन्द्रदर्शन के बाद होता है। मास के दिनो को प्रथम दिन, द्वितीय दिन न कह कर प्रथमचन्द्र, द्वितीयचन्द्र इत्यादि कहते है। मास मे इस प्रकार के चन्द्र (तिथिया) २९ या ३० होते है। वार और तारीख का आरम्भ सूर्यास्त से होता है। इस कारण हमारे गुरुवार की रात्रि मुसल्मानी पद्धति के अनुसार शुक्रवार की रत्रि होती है पर दिन के नाम मे अन्तर नही पडता।

वगालीसन—यह सन वगाल मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। इसका आरम्भ मेपसक्रान्ति से होता है। महीनो के नाम चैत्र, वैशाख इत्यादि चान्द्र ही है। जिस महीने का आरम्भ मेपसक्रान्ति से होता है उसे वैशाख कहते है (तामिलप्रान्त मे उसी को चैत्र कहते है)। वगालीसन मे ५१५ जोडने से शकवर्ष और ५९३-९४ जोडने से ईसवीसन आता है।

विलायतीसन—यह सन वगाल के कुछ भाग मे और मुख्यत उडीसा प्रान्त मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है परन्तु महीनो के नाम चान्द्र ही है। वर्ष का आरम्भ कन्यासक्रान्ति के दिन होता है। वगाल मे मास का आरम्भ सक्रान्ति के दूसरे या तीसरे दिन करते है परन्तु विलायतीसन के मास का आरम्भ सक्रान्ति के दिन ही होता है।[1]

[1] वारन ने लिखा है कि विलायती सन के वर्ष का आरम्भ चैत्र कृष्ण १ को होता है। (काल संकलित, Tables p ix सन् १८२५ ई०) यह पद्धति भी कहीं प्रचलित होगी।

विलायती सन् के वर्ष में ५१४-१५ जोडने मे शकवर्ष और ५९२-९३ जोडने से ईसवी-सन आता है।

अमलीसन—गिरीशचन्द्र के Chronological Tables नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अमली सन का वर्ष ओडियाप्रान्त के राजा इन्द्रद्युम्न की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ल १२ से और उसका मास सक्रान्तिकाल से आरम्भ होता है। इससे ज्ञात होता है कि इसके मास सौर है परन्तु वर्ष चान्द्र है। इसके मास भी चान्द्र हो सकते है। विलायतीसन और अमलीसन के वर्षाङ्क समान होते है।

फसलीसन—फसल तैयार होने के काल के अनुसार इसे अकवर वादशाह ने चलाया है। पहिले हिजरीसन का ही वर्षाङ्क इसमें लगाया गया परन्तु हिजरीसन केवल चान्द्र (३५४ दिन का) और फसलीसन सौर होने के कारण वाद में दोनो के वर्षाङ्को में अन्तर पडने लगा। हिजरीसन ९६३, ईसवीसन १५५६ में अकवर गद्दी पर वैठा। उत्तरभारत मे फसलीसन उसी समय आरम्भ हुआ और दक्षिण मे शाहजहा ने उसे ईसवीसन १६३६ अर्थात हिजरीसन १०४६ में आरम्भ किया। प्रथम उसमें हिजरीसन का ही वर्षाङ्क अर्थात् १०४६ लगाया गया। उस समय उत्तर के फसली-सन का वर्षाङ्क १०४४ था। इसलिए दक्षिण का अङ्क उत्तर की अपेक्षा दो अधिक हो गया। हिजरीवर्ष के केवल चान्द्र होने के कारण ऐसा हुआ। उत्तर और दक्षिण का वर्षारम्भ भिन्न होने के कारण दोनो मे कुछ और महीनो का भी अन्तर पड गया। इस वर्ष का उपयोग केवल सरकारी कामो में होता है। धार्मिक कृत्यो से इसका कोई सम्वन्ध नही है। मालूम होता है इसी कारण इसका आरम्भकाल अनियमित हो गया। मद्रास प्रान्त में प्रथम इस वर्ष का आरम्भ आडी (कर्क)मास के प्रथम दिन होता था। अगरेज सरकार ने सन् १८०० ई० में इसका आरम्भकाल जुलाई की १३ वी तारीख और वाद में सन् १८५५ ई० मे जुलाई की पहिली तारीख निश्चित किया। वम्बई हाते के कुछ भागो मे जिस दिन सूर्य मृगशिरा नक्षत्र में प्रवेश करता है (सम्प्रति जून की ५, ६ या ७ वी तारीख) उसे फसलीवर्ष का आरम्भ दिन मानते है अर्थात् वह सौर वर्ष है परन्तु उसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र है। उत्तरभारत में प्राय सर्वत्र पूर्णिमान्त आश्विन की कृष्णप्रतिपदा को फसलीवर्ष का आरम्भ मानते है अर्थात वहा वह वर्ष चान्द्रसौर है। वगाल में फसलीसन के १३०० वे वर्ष का आरम्भ सन् १८९२ ई० के सितम्वर में और दक्षिण मे १३०० वें वर्ष का आरम्भ सन् १८९० ई० के जून या जुलाई मे हुआ। दक्षिण के फसलीसन के वर्ष में ५१२-१३ जोडने से शकवर्ष और ५९०-९१ जोडने से ईसवी सन आता है। वगाल के फसलीवर्ष मे ५१४-१५ जोडने से शकवर्ष और ५९२-९३ जोडने से ईसवीसन आता है। वंगाल के फसली, विलायती

और अमली, तीनो सनो का वर्षाङ्क एक ही रहता है। उनमे वर्ष मे अधिक से अधिक १८ दिन तक ही अन्तर रहता है। बगालीसन इन तीनो से लगभग ६, ७ मास ही छोटा है। वस्तुत बगाली, विलायती, अमली और बगालीफसली, इन सबो का मूल फसलीसन ही है। बाद मे इनके आरम्भकाल मे थोडा थोडा अन्तर पड गया।

सूरसन या शाहूरसन—इसे कभी कभी अरबीसन भी कहते हैं। यह सन् १३४४ ई० अर्थात् हिजरी सन् ७४५ मे आरम्भ हुआ और प्रथम इसमे हिजरीसन का वर्षाङ्क ७४५ ही लगाया गया। दक्षिण मे फसलीसन हिजरीसन १०४६ मे अर्थात् सूरसन के २९२ वर्ष बाद आरम्भ हुआ। उस समय सूरसन १०३७ था। इस कारण सूरसन और दक्षिणफसलीसन मे ९ का अन्तर पड गया। मरहठो के राज्यकाल मे सूरसन का बडा प्रचार था। यह बम्बई के फसलीसन से ९ वर्ष छोटा है परन्तु अन्य बातो मे दोनो बिलकुल समान हैं। इसके वर्ष का आरम्भ उस दिन होता है जिस दिन सूर्य मृगशिरा नक्षत्र मे प्रवेश करता है अर्थात् इसका वर्ष सौर है परन्तु इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र हैं। सूरसन के वर्ष मे ५२१-२२ जोडने से शकवर्ष और ५९९-६०० जोडने से ईसवीसन आता है।

बगाली, विलायती और अमलीसन उत्तर के फसलीसन के विशिष्ट भेद हैं और उत्तर का फसली, दक्षिण का फसली तथा सूरसन, ये हिजरीसन के विशिष्ट प्रकार हैं।

हर्षकाल—इसे कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने चलाया था। बेरुनी के समय यह मथुरा और कन्नौज प्रान्तो मे प्रचलित था। इस समय इसका प्रचार नही है। इस काल की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के १०-१२ ताम्रपटादि लेख नेपाल मे मिले हैं। उनमें वर्षाङ्क के पीछे केवल सवत् शब्द लिखा है। हर्षसवत् मे ५२८ जोडने से शक और ६०६-६०७ जोडने से ईसवीसन आता है।

मगीसन—यह सन चितगग प्रान्त मे प्रचलित है। यह बगालीसन से ४५ वर्ष छोटा है। दोनो की शेष सभी बाते समान हैं।[1]

कोल्लमकाल अथवा परशुरामकाल—इसके वर्ष को कोल्लम आण्डु कहते हैं। कोल्लम का अर्थ है पश्चिमी और आण्डु वर्ष को कहते हैं। यह काल मलाबार प्रान्त मे मगलोर से कुमारी पर्यन्त और तिनेवल्ली जिले मे प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। मलाबार के उत्तरभाग मे कन्नी (कन्या) मास से और दक्षिणीभाग मे तथा तिने-वल्ली प्रान्त मे चिंगम (सिंह) मास से इसका वर्ष आरम्भ होता है। मलाबार प्रान्त मे इसके मासो के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियो के अपभ्रश हैं। लोग कहते हैं कि

[1] Chronological Tables for A D. 1761—1900 by Girish Chandra

१००० वर्ष का इसका एक चक्र होता है और वर्तमान चक्र चतुर्थ है परन्तु सम्प्रति प्रचलित इसका वर्षाङ्क १००० से अधिक है। शक १८१८ के आरम्भ में कोल्लमवर्ष १०७२ है। शक ७४७ में प्रथम कोल्लमवर्ष था। इसके पूर्व कोल्लमकाल के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कोल्लमवर्ष में ७४६-४७ जोडने से शकवर्ष और ८२४-२५ जोडनें से ईसवीसन आता है।

नेवारकाल—यह नेपाल मे शक १६९० पर्यन्त प्रचलित था। इसका वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त है। संस्कृतग्रन्थो मे और ताम्रपटादिलेखो में इसे नेपालकाल कहा है। इसके वर्ष मे ८००-८०१ जोडने से शकवर्ष, ८७८-७९ जोडने से ईसवीसन और ९३५ जोडने से कार्तिकादि विक्रमसंवत् आता है।

चालुक्यकाल—इसे चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने शक ९९८ के आसपास आरम्भ किया। विजयकलचुरी ने शक १०८४ में पूर्व के चालुक्य राजाओ को पराजित किया। मालूम होता है उसी समय से इसका प्रचार बन्द हो गया। इसके मास और पक्ष की पद्धति महाराष्ट्र की पद्धति सरीखी है। इसके वर्षारम्भकाल का ठीक पता नही लगा है। चालुक्यवर्ष में ९९७-९८ जोडने से शकवर्ष और १०७५-७६ जोडने से ईसवीसन आता है।

सिंहसंवत्—यह काठियावाड और गुजरात में प्रचलित था। सिंहसंवत् ३२, ९३, ९६, ५१ के लेख मिले है।[1] उनसे मुझे अनुमान होता है कि उसका वर्ष चान्द्रसौर और वर्षाङ्क वर्तमान है। मास अमान्त हैं (केवल एक उदाहरण में पूर्णिमान्त हैं)। वर्ष प्राय आषाढादि है। यह निश्चित है कि चैत्रादि अथवा कार्तिकादि नही है। सिंहसंवत् में १०३५-३६ जोडने से शकवर्ष, १११३-१४ जोडने से ईसवीसन और ११७० जोडने से आषाढादि विक्रमसंवत् आता है।

लक्ष्मणसेनकाल—यह काल तिरहुत और मिथिलाप्रान्तो मे विक्रमकाल या शककाल के साथ-साथ चलता है। इसके आरम्भकाल के विषय मे मतभेद हैं। कोलब्रूक (सन् १७९६ ई०) का कथन है कि सन् ११०५ ई० में इसका प्रथम वर्ष था। बुकनन (सन् १८१० ई०) ने लिखा है कि इसका प्रथमवर्ष सन् ११०५ या ११०६ ईसवी में था। ईसवीसन् १७७६ से १८८० तक के तिरहुत प्रान्त के पञ्चाङ्गो को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथमवर्ष ईसवीसन् ११०८ या ११०९ में था। बुकनन ने लिखा है कि इसका वर्ष आषाढी पूर्णिमा के दूसरे दिन अर्थात् श्रावणकृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है परन्तु राजेन्द्रलाल मित्र (सन् १८७८ ई०) और जनरल कनिंघम लिखते हैं कि वह

[1] Indian Antiquary Vol XVIII, XIX

(पूर्णिमान्त) माघ कृष्ण प्रतिपदा को आरम्भ होता है।[1] डाक्टर कीलहार्न ने ईसवी-सन् ११९४ से १५५१ तक के ६ लेखो के आधार पर अनुमान किया है[2] कि इस काल का वर्ष कार्तिकादि है, मास अमान्त है और इसका प्रथम वर्ष शक १०४०-४१ मे था। यह अनुमान अकबरनामा नामक ग्रन्थ के अबुलफजल के लेख से मिलता है। इस प्रकार इस काल के वर्ष मे १०४०-४१ जोडने से शकवर्ष, १११८-१९ जोडने से ईसवीसन और ११७५ जोडने से कार्तिकादि विक्रमसवत् आता है।

इलाहीसन—इसे अकबर बादशाह ने चलाया है। इसे अकबरीसन भी कहते है। हिजरीसन ९६३ के रबीउस्सानी मास की तारीख २ शुक्रवार (१४ फरवरी सन् १५५६, शक १४७७) को अकबर गद्दी पर बैठा। यही वर्ष इस सन का प्रथमवर्ष माना गया।[3] अकबर और जहागीर के सम्बन्ध मे इस सन का उल्लेख अनेक स्थानो मे है। शाहजहा के समय इसका प्रचार मन्द पड गया। इसका वर्ष सौर है। अबुल-फजल ने लिखा है कि "इस सन के दिन और मास नैसर्गिक सौर (सावन) है। मास मे दिनो की क्षयवृद्धि नही होती। मास और दिनो के नाम प्राचीन पारसी है। मास मे २९ या ३० दिन होते है। प्रत्येक के भिन्न भिन्न नाम है। सप्ताह नही है। कुछ मासो मे ३२ दिन होते है।"[4] यहा मास में २९ या ३० दिन बताये है परन्तु प्राचीन पारसी पञ्चाङ्गो मे प्रत्येक महीने मे ३० दिन रहते थे। पारसी महीनो के फरव-र्दिन इत्यादि जो नाम सम्प्रति पञ्चाङ्गो मे रहते है वे ही इस सन के महीनो के भी है।

[1] यहाँ तक इस काल का वर्णन कनिंघम के Indian Eras के आधार पर किया है।

[2] Indian Antiquary, XIX, p 7 ff

[3] अबुलफजल के लिखे हुए अकबरी ५२ वर्षो के आरम्भदिन कनिंघम ने लिखे है (Indian Eras, p 225)। उनमें प्रथम वर्ष का आरम्भ दिन रबीउल आखिर की २७वीं तारीख (१० मार्च मंगलवार) है और आगे सब वर्षो के आरम्भदिन पुरानी पद्धति के अनुसार १० मार्च के लगभग अर्थात् सायन मेष सक्रान्ति के समय है अतः प्रचलित मान के अनुसार २१ मार्च के लगभग अकबरी वर्ष का आरम्भ दिन आता है। अकबर रबीउल आखिर की दूसरी तारीख को गद्दी पर बैठा था तथापि जान बूझ कर २५ दिन बाद सन् का आरम्भ माना गया। इससे ज्ञात होता है कि अकबर का उद्देश्य विषुवदिन में (सायनमेष में) जब कि दिन और रात्रि के मान समान होते है, वर्षारम्भ मानना था।

[4] Prinsep's Indian Antiquities, II, Useful tables, p 171

इलाहीसन के वर्ष मे १४७६-७७ जोडने से शकवर्ष और १५५५-५६ जोडने से ईस-वीसन आता है।

राजशक अथवा राज्याभिषेकशक—मराठीराज्य के संस्थापक शिवाजी ने यह शक चलाया था। शिवाजी का राज्याभिषेकदिन अर्थात ज्येष्ठशुक्ल १३ शक १५९६ आनन्द संवत्सर इसका आरम्भकाल है। इसका वर्ष इसी तिथि को बदलता है। इसकी शेष बातें दक्षिण के चान्द्रसौर अमान्त शकवर्ष सदृश ही है। इस काल के वर्ष मे १५९५-९६ जोडने से शकवर्ष और १६७३-७४ जोडने से ईसवीसन का वर्ष आता है।[1]

प्रचलित और लुप्त सब कालो के वर्षाङ्को का अन्तर जानने में सुविधा होने के लिए निम्नलिखित कोष्ठक मे वे एकत्र लिखे हैं। इसमें कलिवर्ष के गत और वर्तमान दोनो अङ्क लिखे है। शेषकालो के वर्षाङ्क मे वस्तुत. गत और वर्तमान भेद नही है। सम्प्रति हमारे देश में प्राय जो वर्षाङ्क प्रचलित है उन्हें वर्तमान मानकर इस कोष्ठक में उनके अङ्क दिये है। कालो के नाम के नीचे उनके वर्षारम्भकालीन मास या दिन भी दिये हैं। उनमे चान्द्रमास अमान्त है।

कलि	सप्तर्षि	विक्रम			ईसवी	शक
चैत्र, मेष गत ४९७९ वर्त ४९८०	चैत्र ४९५४	चैत्र १९३५	आषाढ कार्तिक १९३४		जनवरी १८७८	चैत्र, मेष १८८०
चेदि	गुप्तवलभी	गुप्त	हिज्री		फसली दक्षिणी	फसली बंगाली
भाद्रकृष्ण १ १६३०	कार्तिक १५५९	चैत्र १५५९	मोहर्रम १२९५		मृग, जुलाई १२८७	भाद्रकृष्ण १ १२८५
विलायती	अमली	बंगाली	अरबी, सूर		हर्ष	मगी
कन्या १२८५	भाद्रशुक्ल १२ १२८५	मेष १२८५	मृग १२७८		१२७२	मेष १२४०
कोलम	नेवार, नेपाल	चालुक्य	सिंह	लक्ष्मण	इलाही अकबरी	शिवाजी राजशक
सिंह, कन्या १०५३	कार्तिक ९९९	८०२	आषाढ ७६४	कार्तिक ७५९	सायनमेष ३२३	ज्येष्ठशुक्ल १३ २०४

[1] ऊपर एक (छोटे) काल के वर्षाङ्क में कुछ जोड़कर जो दूसरे (बड़े) काल के

इस कोष्ठक मे शक १८०० चैत्र शुक्ल ११ शनिवार, १३ अप्रैल सन् १८७८ के प्रत्येक काल के वर्षाङ्क दिये है। उस दिन चान्द्रसौर मान से बहुधान्य (१२ वा) और बार्हस्पत्य मान से विकृति (२४ वा) सवत्सर था। मेषसक्राति उसके कुछ ही पूर्व अर्थात् चैत्र शुक्ल ९ गुरुवार की मध्यरात्रि के लगभग १० घटी बाद हुई थी। सौरमान का कलि वर्ष और शकवर्ष कही कही उसी दिन, कुछ स्थानो मे उसके दूसरे दिन और कही कही उसके तीसरे दिन अर्थात् चैत्रशुक्ल ११ शनिवार को आरम्भ हो गया था। चान्द्रमान के अनुसार तिथि सर्वत्र चैत्र शुक्ल ११ ही थी। उस दिन वगाल मे सौरमान से शक और वगाली सनो के सौर वैशाख (मेष) का प्रथम दिन और फसली चैत्र का २६ वा दिन था। ओडिया प्रान्त मे विलायती और अमली सनो के सौर वैशाख का तीसरा दिन था। तामिल (द्रविड) देश में सौर चैत्र (मेष) का दूसरा दिन और उत्तर दक्षिण मलावार मे कोलम (परशुराम) वर्ष के मेष मास का दूसरा दिन था। हिजरीसन तथा हमारे (महाराष्ट्र) प्रान्त के फसली और सूरसन के रबीउस्सानी का ९ वा चन्द्रमा था।

चान्द्रसौर मान

अब यहा चान्द्र और सौर वर्षो के प्रचार का थोडा सा विवेचन करेगे। हमारे यहा कई मान प्रचलित है। धर्मशास्त्रोक्त अधिकाश कृत्यो का सम्वन्ध तिथि से अर्थात् चान्द्रमान से है, कुछ कर्म सक्रान्ति से अर्थात् सौरमान से सम्बन्ध रखते है और प्रभवादि सवत्सरो की उत्पत्ति बार्हस्पत्य मान से हुई है तथापि कुछ प्रान्तो में सौर मान

वर्षाङ्क लाये गये हैं उनमें कहीं-कहीं दो अङ्क दिये हैं। उनके विषय में यह नियम ध्यान में रखना चाहिए—

जहाँ अभीष्ट दिन छोटे काल के वर्षारम्भ दिन के बाद और बडे के वर्षारम्भ दिन के पूर्व हो वहाँ प्रथम अङ्क और इससे भिन्न स्थिति में द्वितीय अङ्क जोडें। उदाहरण—

(१) श्रावण शुक्ल १ शक १८०१=श्रावण शुक्ल १ कार्तिकादि विक्रम संवत् १९३५, आषाढ़ादि विक्रम संवत् १९३६, सन् १८७९ ई०।

(२) माघ शुक्ल १ शक १८०१=माघ शुक्ल १ आषाढ़ादि और कार्तिकादि विक्रम सवत् १९३६, सन् १८८० ई०।

(३) श्रावण शुक्ल १ फसली सन् दक्षिणी १२८९=श्रावण शुक्ल १ शक १८०१ सन् १८७९ ई०।

(४) चैत्र कृष्ण ३० फसली १२८९=चैत्र कृष्ण ३० शक १८०२, सन् १८८० ई०।

का और कुछ में चान्द्रमान का विशेष प्रचार है। बगाल मे सौरवर्ष प्रचलित है। मद्रास मे छपे हुए ज्वालापतिसिद्धान्तीकृत शक १८०९ के पञ्चाङ्ग में लिखा है कि इस देश में लोकव्यवहारार्थ चान्द्रमान ग्राह्य है और शेषाचलके दक्षिण सौरमान ग्राह्य है। उपर्युक्त पञ्चाङ्ग मैने मद्रास के उत्तर नेलोर नामक स्थान के निवासी एक तैलग ब्राह्मण के पास देखा था। उसने कहा था कि हमारे देश में चान्द्रमान प्रचलित है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तो के लोगो से प्रत्यक्ष भेंट करके ज्ञात की हुई बातो से तथा मेरे पास के मद्रास-प्रान्तीय अनेक पञ्चाङ्गो से विदित होता है कि बगाल और मलाबार में तथा मद्रास के उन प्रान्तो में जहा कि तामिल भाषा बोली जाती है, लौकिक व्यवहार मे सौरमान प्रचलित है और भारत के अन्य प्रान्तो का व्यवहार चान्द्रमान के अनुसार होता है। धार्मिक कृत्य धर्मशास्त्रोक्त मानानुसार किये जाते है। इस मान के मास, मासारम्भ इत्यादि का विचार आगे करेंगे।

वर्षारम्भ

यजुर्वेदसहिताकाल में और तदनुसार उसके बाद सभी वैदिककालो मे वसन्त ऋतु तथा मधुमास के आरम्भ में वर्ष का आरम्भ माना जाता था। वैदिककाल के अन्त में मधुमास का नाम चैत्र पड़ा। सवत्सरसत्र का अनुवाक तथा कुछ अन्य वाक्यो से ज्ञात होता है कि चित्रापूर्णमास (चैत्रशुक्ल १५ अथवा कृष्ण १), फल्गुनीपूर्णमास (फाल्गुन शुक्ल १५ अथवा कृष्ण १) और कदाचित् अमान्त माघ कृष्ण ८ (एकाष्टका) को भी किसी समय वर्षारम्भ मानते थे। एक वाक्य मे फाल्गुन को सवत्सर का मुख कहा है। पता नही यह फाल्गुन अमान्त है या पूर्णिमान्त। समवत किसी समय पूर्णिमान्त पौषारम्भ में भी वर्षारम्भ होता था परन्तु उस समय पौष नाम नही था। वेदाङ्गज्योतिष में अमान्त माघ के आरम्भ में वर्षारम्भ माना है। महाभारत में मार्गशीर्ष के वर्षारम्भ होने के उल्लेख है तथापि सूत्रादिको से ज्ञात होता है कि वेदाङ्गकाल में चैत्रादि वर्ष का प्राधान्य था। अब आगे के समयो का विचार करेंगे। ज्योतिषग्रन्थकार अपनी सुविधा के अनुसार सौरवर्षारम्भ से अथवा चान्द्रसौरवर्षारम्भ से गणित करते हैं। गणेशदैवज्ञ ने ग्रहलाघव में चान्द्रसौर[1] वर्षारम्भ से गणित किया है परन्तु उन्होंने तिथिचिन्तामणि मे मेषसक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। सौरवर्ष का आरम्भ अधिक-

[1] चान्द्रसौर वर्ष उसे कहते है जिसके मास तो चान्द्र होते है परन्तु सौर वर्ष से मेल रखने के लिए जिसमें अधिक मास प्रक्षिप्त किया जाता है।

तर मध्यम मेषसक्रान्ति से और कोई कोई स्पष्ट मेषसक्रान्ति से करते हैं। चान्द्रसौर वर्ष का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ से ही किया जाता है, यह कोई नियम नही है। प्राय उस दिन सूर्योदय से और कभी कभी मध्यरात्रि, मध्याह्न अथवा सूर्यास्त से भी वर्षारम्भ मानते हैं।

धर्मशास्त्र मे चैत्र के आरम्भ से वर्षारम्भ माना है।

अब व्यावहारिक वर्षारम्भ का विचार करेगे। धर्म और व्यवहार का निकट सम्बन्ध होने के कारण दोनो प्रकार के वर्षारम्भ का भी निकट सम्बन्ध है। भारत के अधिक भाग मे वर्षारम्भ चैत्र से होता है। जिन प्रान्तो मे शक काल और चान्द्रमान का व्यवहार होता है उनमे चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को वर्षारम्भ होता है। नर्मदा के उत्तर बगाल को छोड शेष प्रान्तो मे विक्रमसवत् चान्द्रमान और पूर्णिमान्त मास का प्रचार है तो भी वर्षारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को ही होता है। बगाल मे शककाल और सौरमान प्रचलित है। वहा वर्षारम्भ सौर वैशाख से अर्थात् स्पष्टमेषसक्रान्ति से होता है परन्तु चान्द्र चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का महत्त्व वहा भी होगा। तामिल प्रान्त मे सौरमान प्रचलित है। वहा वर्षारम्भ स्पष्ट मेषसक्रान्ति से मानते है पर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का माहात्म्य वहा भी होगा।

चैत्र मास अधिक होने पर वर्षारम्भ अधिक चैत्र मे करना चाहिए या शुद्ध चैत्र में, इस विषय मे मतभेद दिखाई देता है।

सम्प्रति मेषसक्रान्ति से वर्षारम्भ माननेवाले प्रान्तो मे उसका आरम्भ स्पष्टमेष-सक्रान्ति से किया जाता है परन्तु मालूम होता है, पहिले मध्यममेष[1] से वर्षारम्भ करते थे क्योकि ज्योतिषग्रन्थो मे उसीका प्राधान्य है। भास्वतीकरण (शक१०२१) मे स्पष्टमेषसक्रान्ति को आरम्भकाल माना है। उसके पहिले के किसी भी ग्रन्थ मे स्पष्टमेष आरम्भकाल नही है। शिलालेखो मे शक १०८३ के बाद के मलाबार प्रान्त के बहुत से उदाहरण मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मासारम्भ स्पष्टसक्रान्तियो से होता था।[2] श्रीपति ने मध्यम मान के अधिमास का निषेध किया है और स्पष्टाधिमास को प्रशस्त बताया है। इससे अनुमान होता है कि लगभग शक १००० के पहिले व्यवहार मे भी

[1] स्पष्टमेष के कुछ समय बाद मध्यममेष होता है। दोनो के अन्तर को शोध्य कहते हैं। इसका मान भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो में भिन्न-भिन्न है। प्रथम आर्यसिद्धान्त में यह २ दिन ८ घ० ५१ पल १५ वि० और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में २ दिन १० घ० १४ पल ३० विपल हैं।

[2] Indian Antiquary, XXV, P 53 ff

वर्षारम्भ मध्यम मेष से ही होता रहा होगा पर बाद में स्पष्टमेष का प्रचार हुआ होगा।

चैत्रमास अथवा मेषमास के किस क्षण मे वर्षारम्भ होता है, इसका विवेचन आगे मासविचार मे करेंगे। चैत्र अथवा मेष के अतिरिक्त अन्य मासो मे भी वर्षारम्भ होता है। यहा इसी का वर्णन करेंगे।

नर्मदा के दक्षिण और गुजरात के कुछ भागो मे विक्रमसंवत् का वर्ष कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को आरम्भ होता है। अहमदाबाद मे छपा हुआ शक १८१० (सन् १८८८-८९ ई०) का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। उसमें आषाढादि विक्रमसंवत् १९४५ लिखा है अर्थात् उसमें शक १८१० की आषाढ शुक्ल प्रतिपदा से विक्रम सवत् १९४५ आरम्भ हुआ है। वार्सी मे काठियावाड के एक प्रसिद्ध व्यापारी ने शक १८१० में मुझसे कहा था कि राजकोट, जामनगर, मोरवी, टकारा, जोड़िया, खभालिया इत्यादि शहरो मे अर्थात् काठियावाड के हालार प्रान्त में और अमरेली, दामनगर, जेतपूर इत्यादि स्थानो में, साराश यह कि लगभग सम्पूर्ण काठियावाड मे व्यवहार मे और वहीखाता लिखने में आषाढ शुक्ल प्रतिपदा से नवीन सवत् का आरम्भ माना जाता है। उस व्यापारी के यहा काठियावाड से आये हुए पत्रो मे भी मुझे ज्ञात हुआ कि शक १८१० की आषाढ शुक्ल प्रतिपदा को सवत् १९४४ समाप्त होकर १९४५ लगता है। डाक्टर फ्लीट ने भी लिखा है कि हालर संवत् आषाढ से आरम्भ होता है।[1] इडर प्रान्त के कुछ व्यापारी मुझे शके १८१० मे वार्सी मे मिले थे। उनके कथन से ज्ञात हुआ कि उस प्रान्त मे और उसके आसपास लगभग १०० मील तक अमान्त आषाढ कृष्ण २ से वर्षारम्भ होता है। बगाल मे और उत्तरभारत के कुछ अन्य प्रान्तो मे फसलीसन् का आरम्भ पूर्णिमान्त आश्विन कृष्ण प्रतिपदा को होता है। ओडिया प्रान्त में भाद्रपद शुक्ल १२ को वर्षारम्भ होता है। तिरहुत और मिथिला प्रान्तो मे लक्ष्मणसेन वर्ष का आरम्भ पूर्णिमान्त श्रावण या माघ के आरम्भ में होता है।

कोचो और त्रिवेन्द्रम में छपे हुए पञ्चाङ्गो से तथा कुछ अन्य हेतुओ से ज्ञात होता है कि दक्षिण मलबार और तिनेवल्ली प्रान्तो में वर्षारम्भ सिंहसक्रान्ति को होता है। कालीकट और मगलोर में छपे हुए पञ्चाङ्गो तथा अन्य हेतुओ से ज्ञात होता है कि उत्तर मलबार में कन्या मास के आरम्भ में वर्षारम्भ होता है। मद्रास प्रान्त में कर्क मास के साथ साथ फसलीसन आरम्भ होता था। बाद मे वह १३ जुलाई को आरम्भ होने लगा और आजकल पहिली जुलाई को होता है। महाराष्ट्र में फसलीसन

[1] Corpus inscriptionum indicarum vol iii.

का आरम्भ मृगनक्षत्र मे होता है। ओडिया प्रान्त मे विलायती सन का आरम्भ कन्या संक्रान्ति मे होता है।

यहा तक वर्तमान पद्धति का वर्णन किया गया। अब प्राचीन पद्धति का विचार करेंगे। हमारे किसी भी ज्योतिष या अन्य विषय के ग्रन्थ मे वर्षारम्भ का इतिहास नही लिखा है और न तो उनके विषय मे कोई विचार या निर्णय ही किया है। इस कारण सम्प्रति उनका इतिहास जानना कठिन हो गया है। शिवाजी का राज्याभिषेक-वर्ष ज्येष्ठशुक्ल १३ को और अकबरी सन सायनमेषसंक्रान्ति के समय आरम्भ होता था। कोल्हार्न के मतानुसार चेदिसंवत् का आरम्भ आश्विन मे होता था। इस विषय का बेरुनी का लेख (शक ९५२) बडे महत्व का है। उसने लिखा है—"ज्योतिषी लोग शकवर्ष का प्रयोग करते है। वर्ष का आरम्भ चैत्र के साथ होता है। काश्मीर की सीमा पर रहनेवाले कनीर के लोग भाद्रपद से वर्षारम्भ करते है। वरदारी और मारीगल के मध्य में रहनेवाले कार्तिक मे वर्षारम्भ मानते है। मारीगल के उस ओर नीरहार प्रान्त के लोग तथा तावेश्वर और लोहावर तक एव लघानवाले वर्षारम्भ मार्गशीर्ष मे करते है। मुलतान वालो ने मुझसे कहा कि सिंध और कन्नौज प्रान्तो में यही वर्षारम्भ है और मुलतान मे भी यही था परन्तु कुछ ही वर्षो से मुलतान वालो ने यह वर्ष छोड दिया है। अब वे काश्मीर का चैत्रादि वर्ष मानते है[1]"।

अमान्त चान्द्रमान के सब वर्षारम्भ इतने है—मधुमासारम्भ (चैत्रशुक्ल १), चैत्र कृष्ण १, ज्येष्ठ शुक्ल १३, आषाढ शुक्ल १, आषाढ कृष्ण १, आषाढ कृष्ण २, भाद्रपद शुक्ल १ भाद्रपद शुक्ल १२, भाद्रपद कृष्ण १, कदाचित् आश्विन शुक्ल १, कार्तिक शुक्ल १, अमान्त कार्तिक कृष्ण १ अथवा मार्गशीर्ष शुक्ल १ (मार्गशीर्षारम्भ), कदाचित् मार्गशीर्ष कृष्ण १ (पूर्णिमान्त पौषारम्भ), पौषकृष्ण १, माघ शुक्ल १, कदाचित् माघ कृष्ण १ (पूर्णिमान्त फाल्गुनारम्भ), माघ कृष्ण ८, कदाचित् फाल्गुन शुक्ल १, फाल्गुन कृष्ण १। निरयण सौरमान के अनुसार मेषारम्भ, मृगनक्षत्र (वृषमास का लगभग २५ वा दिन), कर्कारम्भ, सिंहारम्भ, कन्यारम्भ वर्षारम्भकाल है। ये अमान्त चान्द्रमान के क्रमश चैत्र, ज्येष्ठ (कदाचित् वैशाख), आषाढ, श्रावण और भाद्रपद महीनो मे पडते है। मेषारम्भ और जुलाई की पहिली तारीख (सायन कर्क का लगभग ११ वा दिन) सायन सौरमान सम्बन्धी वर्षारम्भ है।

अब वर्षारम्भसम्बन्धी ये भिन्न भिन्न मास और दिन किस समय कहा प्रचलित थे अथवा है, इसका क्रमश सक्षिप्त वर्णन करेंगे। वसन्त में मधुमास के आरम्भ अर्थात्

[1] Beruni's India, ii, P. 8.

चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ होने का वर्णन श्रुति, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, ज्योतिषगणितग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन निबन्धग्रन्थ, सभी में है। गुप्तसवत् १५६ से २०९ तक के अर्थात् शकवर्ष ३९७ से ४५० तक के गुप्तराजाओं के जो ताम्रपटादि लेख मिले है, उनमे लिखित ज्योतिषसम्बन्धी सभी बातो की सगति चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ मानने से लगती है।[1] इन गुप्तो की सत्ता एक समय उत्तर भारत के अधिकतर भाग में व्याप्त थी। वेरुनी ने भी चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ लिखा है। साराश यह कि यह वर्षारम्भ सार्वकालिक, सार्वत्रिक और सर्वमान्य है। इसके रहते हुए भी कही-कही अन्य वर्षारम्भ थे और है। चैत्रकृष्ण प्रतिपदा वसन्त मे ही पडती है। मालूम होता है, इसी कारण पूर्णिमान्त पद्धति के अनुसार वैदिककाल के कुछ भागो मे कही कही उसे भी वर्षारम्भ मानते थे। वगाल में सौर वैशाख के आरम्भ में अर्थात् मेषारम्भ मे वर्षारम्भ मानते है। यद्यपि निश्चित पता नही लगता कि यह कितना प्राचीन है तथापि वगाल के जीमूतवाहन के धर्मशास्त्रग्रन्थ में इसका वर्णन है और जीमूतवाहन का काल शक १०१४ के लगभग ज्ञात होता है।[2] भास्वतीकरण की रचना शक १०२१ मे जगन्नाथ क्षेत्र में हुई है। उसमे मेषसक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। तामिलप्रान्त में भी यही (सौर चैत्रारम्भ) वर्षारम्भ है। यह वहा कब से प्रचलित है, इसका पता नही लगता परन्तु शककाल की १२ वी शताब्दी के जो उस प्रान्त के ताम्रपटादि लेख मिले है[3] उनमे सौरमास है। उस प्रान्त में आर्यसिद्धान्त का प्रचार है। सभव है यह मासारम्भ भी उतना ही (शक ४२१) प्राचीन हो। सूर्य ज्येष्ठ में और कभी-कभी वैशाख में मृगनक्षत्र में प्रवेश करता है। महाराष्ट्र में और उसके आसपास के प्रान्तो में सूरसन और फसलीसन का वर्ष उसी समय आरम्भ होता है। वह शकवर्ष १२६६ (सन् १३४४ ई०) से प्रचलित है। वह ऋतुओ के अनुसार है। ज्येष्ठशुक्ल १३ को आरम्भ होनेवाले वर्ष का सम्बन्ध शिवाजी से है। आषाढ शुक्ल १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा काठियावाड में कम से कम सिहसवत् के आरम्भकाल (शक १०३६) से प्रचलित है। आषाढकृष्ण २ की भी यही स्थिति होगी। आषाढकृष्ण १ को वर्षारम्भ मानने की प्रथा लक्ष्मणसेनसवत् के सम्बन्ध से तिरहुत और मिथिला प्रान्तो में शक १०४१ के बाद किसी समय प्रचलित हुई होगी। यद्यपि ये तीनो वर्ष आषाढ की तीन तिथियो से आरम्भ हुए है तथापि स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध वृष्ट्यारम्भ से अर्थात् ऋतु से

[1] Gupta Inscriptions, Introduction

[2] कालतत्त्वविवेचन नामक ग्रन्थ का मासतत्त्वविवेचन देखिये।

[3] मेरे Indian Calondar का पृष्ठ ८९ देखिये।

है। मद्रास प्रान्त में फसलीसन का आरम्भ पहिले कर्कारम्भ (आषाढ) में होता था। आजकल जुलाई की पहिली तारीख (ज्येष्ठ या आषाढ) से होता है अर्थात् उसका भी आरम्भ ऋतु में है। हमारे प्रान्त (महाराष्ट्र) में सम्प्रति सरकारी मृगशीर्ष लगने में आरम्भ होता है (सरकारी वर्ष का आरम्भ अप्रैल में भी होता है। जनवरी में वर्षारम्भ मानने की पद्धति भी सम्प्रति सर्वत्र प्रचलित हो गई है)। मलाबार में सिंहारम्भ (श्रावण) और कन्यारम्भ (भाद्रपद) में वर्षारम्भ होता है। यह कोल्लमकाल के तुल्य प्राचीन (शक ७४७) होगा। बंगाल में मेषारम्भ में वर्षारम्भ होता है। यह फसलीसन सम्बन्धी वर्षारम्भ अकबर के समय से चला है। बेरूनी के समय काश्मीर के आसपास भाद्रपद में वर्षारम्भ होता था। उड़ीसा प्रान्त में भाद्रपद शुक्ल १२ को जो वर्षारम्भ होता है उसका सम्बन्ध एक चेदिवर्ष से है। चेदिवर्ष का आरम्भकाल भाद्रपदकृष्ण १ होगा। आश्विन शुक्ल १ भी हो सकता है। चेदिवर्ष ७९३ (शक ९६२) के बाद के ताम्रपट मिले हैं अतः यह उतना प्राचीन अवश्य होगा। कार्तिक को संवत्सरारम्भमास मानने की पद्धति बहुत प्राचीन ज्ञात होती है। बृहत्संहिता की टीका में भटोत्पल ने प्राचीन संहिताकारों के जो वचन उद्धृत किये हैं उनमें कहीं-कहीं प्रसंगवशात् सब मासों का वर्णन है। उसमें कहीं कहीं कार्तिक को आरम्भमास कहा है। सूर्यसिद्धान्त में भी यह वर्षारम्भ है। उत्तर भारत में यह वर्षारम्भ विक्रमसंवत् के आरम्भकाल से प्रचलित होगा। उत्तर भारत में विक्रमवर्ष ८९८ के बाद के अनेक ऐसे ताम्रपटादिलेख मिले हैं जिनमें विक्रमवर्ष कार्तिकादि है। बेरूनी के समय भी कार्तिकादि वर्ष था। नैपाल में भी यह सन् १०४८ ई० पर्यन्त था। इस समय केवल गुजरात में है। कृत्तिका नक्षत्र के प्राथम्य के कारण कार्तिक प्रथम मास हुआ। कृत्तिका से मार्गशीर्षादि वर्ष का भी सम्बन्ध ज्ञात होता है। मालूम होता है, प्रथम नक्षत्र कृत्तिका से युक्त पूर्णिमा को (उसके दूसरे दिन) आरम्भ होनेवाला जो मास था (उसकी पूर्णिमा मृगशीर्ष से युक्त होने के कारण उसका नाम मार्गशीर्ष रख कर) उसे प्रथम मास मान लिया। महाभारत में प्रथम मास कार्तिक नहीं बल्कि मार्गशीर्ष है। इससे ज्ञात होता है कि कार्तिक को प्रथम मास मानने की पद्धति की अपेक्षा मार्गशीर्ष को प्रथम मास मानने की पद्धति प्राचीन है। वह शकपूर्व २००० वर्ष में ही प्रचलित होगी। बेरूनी के समय अनेक प्रान्तों में मार्गशीर्ष में वर्षारम्भ होता था। अब वह प्रथा नहीं है। मृगशीर्ष के आग्रहायणी नाम से ज्ञात होता है कि जब मृगशीर्ष प्रथम नक्षत्र माना जाता रहा होगा (शकपूर्व ४०००) उस समय मृगशीर्षयुक्त पूर्णिमा के दूसरे दिन से वर्षारम्भ करते रहे होंगे। उस समय यदि पौष इत्यादि नाम प्रचलित होते तो पौष ही वर्षारम्भ मास माना गया होता परन्तु

उनका प्रचार नहीं था। इसी कारण पौषादि मास का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उसका न मिलना इस बात का भी एक प्रमाण है कि जिस समय कृत्तिका प्रथम नक्षत्र माना जाता था उस काल के बाद मासों की चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुई हैं। लक्ष्मण-सेन वर्ष का आरम्भकाल बंगाल मे किसी समय पौषकृष्ण १ रहा होगा। माघारम्भ मे वर्षारम्भ होने का वर्णन वेदाङ्गज्योतिष मे है। यह प्रथा अधिक प्रदेशों में बहुत दिनो तक नही रही होगी। 'फाल्गुन संवत्सर का मुख है'—इस वाक्य में कथित वर्षारम्भ माघकृष्ण १ अथवा फाल्गुन शुक्ल १ होगा। यह एकदेशीय ज्ञात होता है। माघकृष्ण ८ (एकाष्टका) भी ऐसा ही ज्ञात होता है क्योंकि संवत्सरसत्र के आरम्भ मे वह नियुक्त नही किया गया है। ("मीमांसकों" का कथन है कि जैमिनी ने संवत्सरसत्र के अनुवाकों से यह निष्कर्ष निकाला है कि माघी पूर्णिमा के ४ दिन पूर्व सत्रारम्भ करना चाहिए।) आश्वलायन ने फाल्गुनी अथवा चैत्री पूर्णिमा को सत्रारम्भ करने के लिए कहा है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। फाल्गुनी पूर्णिमा को जो वर्षारम्भ बताया है उसका सम्बन्ध वसन्त मे है परन्तु वेदकाल में फाल्गुन मे विषुव नहीं होता था, यह पहले दिखा चुके हैं।

ऐसा एक भी अमान्त चान्द्रमास नही है जिसका किसी न किसी समय वर्षारम्भ से सम्बन्ध न रहा हो। उनमें चैत्र का सम्बन्ध सबसे अधिक है। कार्तिक और मार्ग-शीर्ष का उसमे बहुत कम है तो भी बहुत है। भाद्रपद का उनमे कम है परन्तु बहुत कम नहीं है। ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, माघ और फाल्गुन का थोडा सा है। वैशाख और आश्विन का बहुत थोडा है।

उपर्युक्त प्रायः सभी वर्षारम्भो का कारण ऋतु है।

एक ही प्रान्त मे एक ही समय कई वर्षारम्भ प्रचलित थे और हैं। जैसे महाराष्ट्र में सम्प्रति चैत्र शुक्ल १, मृगशिरा नक्षत्र, कार्तिक शुक्ल १, जनवरी इत्यादि वर्षारम्भ हैं। कम से कम दो वर्षारम्भ तो सभी प्रान्तो मे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होगा कि किसी एक मास मे होने वाला वर्षारम्भ कुछ समय बाद पूर्व के मास मे चला गया हो और उसके बाद भी वह क्रमशः पीछे खिसकता रहा हो, ऐसा नही हुआ है।

नक्षत्रचक्रारम्भ

वेदो में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है। अनुमान होता है कि कृत्तिका के पूर्व मृगशीर्ष से नक्षत्रगणना करते रहे होगे पर इसका प्रत्यक्ष उल्लेख कही नही मिलता। ज्योतिष-सिद्धान्तग्रन्थो में अश्विनी को आदिनक्षत्र माना है। वैदिककाल या वेदाङ्गकाल में

यह पद्धति नही थी। वेदाङ्गज्योतिप मे धनिष्ठा से गणना की है। महाभारत से ज्ञात होता है कि एक समय श्रवण प्रथम नक्षत्र था, अर्थात् ये दोनो वेदाङ्गकाल मे प्रथम नक्षत्र माने जाते थे। उस समय कृत्तिका भी प्रथम नक्षत्र थी ही। मृग, कृत्तिका और अश्विनी के प्राथम्य का सम्वन्ध वसन्त से अथवा वसन्तान्तर्गत विपुव से है और धनिष्ठा तथा श्रवण का सम्वन्ध उत्तरायणारम्भ से है।

नक्षत्रचक्र का आरम्भ क्रमश एक एक नक्षत्र पीछे मानने की परम्परा चली आ रही हो, ऐसा नही ज्ञात होता।

संवत्सर

वार्हस्पत्यसवत्सर

यह शब्द वस्तुत वर्प अर्थ का वाचक है परन्तु एक पद्धति यह है कि ६० वर्षों के प्रभव इत्यादि क्रमश ६० नाम रख दिये गये है, उन नामो को भी सवत्सर कहा जाता है। इन सवत्सरो की उत्पत्ति वृहस्पति की गति से होने के कारण इन्हे वार्हस्पत्य सवत्सर कहते है। वृहस्पति को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे लगभग १२ वर्ष लगते है, यह वात ज्ञात हो जाने पर वार्हस्पत्यसवत्सर की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे सूर्य को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने मे जितना समय लगता है उसे वर्प और उसके १२वे भागको मास कहते है, उसी प्रकार पहले गुरु की एक प्रदक्षिणा सम्वन्धी काल को गुरुवर्प और उसके लगभग १२ वे भाग को गुरुमास कहते रहे होगे। चान्द्र-मासो के चैत्रादि १२ नाम नक्षत्रो के नाम पर पडे है। सूर्यसान्निध्य के कारण गुरु वर्प मे कुछ दिन अस्त रहता है। जिस नक्षत्र मे उसका उदय होता है उमी के नाम पर चान्द्रमास की भाँति गुरुमासो के भी नाम रखे गये। ये गुरु के मास वस्तुत और वर्षो के नाम है। इसीलिये इन्हे चैत्रसवत्सर, वैशाखसवत्सर इत्यादि कहने लगे।

द्वादशसवत्सर चक्र

वर्पसख्या गिनने का एक उत्तम साधन है द्वादशसवत्सरचक्र। ये दो प्रकार के है। एक तो यह है जिसमे सवत्सर का नाम गुरु के उदयानुसार रखा जाता है। इसे उदय-पद्धति कहेगे। गुरु का एक उदय होने के लगभग ४०० दिनो के वाद दूसरा उदय होता है और एक गुरुभगण मे अर्थात् १२ वर्षो में ११ गुरूदय होते है और एक सवत्सर का लोप हो जाता है। इस पद्धति मे थोडी असुविधा है। इसीलिए ज्योतिषियो ने गुरु की मध्यमगति का ठीक ज्ञान हो जाने पर नक्षत्रमण्डल का १२ वा भाग अर्थात् एक राशि चलने मे गुरु को जितना समय लगता है उसे गुरु का मान अर्थात् संवत्सर

मानने का निश्चय किया । इस प्रकार १२ वर्ष में संवत्सर का लोप नहीं होता। इसे मध्यमराशिपद्धति कहेंगे। गुरु को एक राशि चलने में मध्यममान से कितना समय लगता है, यह जानना उतना सरल और स्वाभाविक नहीं है जितना गुरु का उदय देखना और समझना । इससे सिद्ध होता है कि उदयपद्धति का आविष्कार पहिले हुआ होगा।[1] महाभारत से ज्ञात होता है कि यह पद्धति शकपूर्व ५०० के पूर्व प्रचलित थी। चैत्रादिक संवत्सरों को हमारे प्रान्त में लोग नहीं जानते पर मारवाडी चण्डूपञ्चाङ्ग में मध्यमराशिपद्धति के अनुसार संवत्सर का नाम 'चैत्रसंवत्सर' इत्यादि लिखा रहता है। मद्रासप्रान्तीय चान्द्रमान के तैलंगी पञ्चाङ्गों में संवत्सरनाम उदयपद्धति के अनुसार लिखा रहता है। आज तक जो अनेक प्राचीन ताम्रपट और शिलालेख मिले हैं उनमें गुप्तराजाओं के शक ३९७ और ४५० के मध्य के पांच लेख हैं। उनमें चैत्रादि संवत्सरों का प्रयोग है (मैंने सिद्ध किया है कि ये संवत्सर उदयपद्धति के हैं)। दक्षिण के मृगवर्मा कदम्ब नामक राजा के दो लेख मिले हैं, उनमें भी ये संवत्सर हैं।

६० संवत्सर

जैसे वेदाङ्गज्योतिष में ५ वर्षों का एक युग माना है उसी प्रकार ५ गुरुवर्षों का एक युग माना गया। उसमें लगभग ६० सौरवर्ष होते हैं। उसके संवत्सरों के प्रभव इत्यादि नाम रख दिये गये। इस प्रकार षष्टिसंवत्सरचक्र उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति द्वादशसंवत्सरचक्र के बाद हुई होगी। वर्षसंख्या गिनने का यह उससे भी उत्तम साधन है। प्रथम इसके भी संवत्सरों की गणना गुरु के उदय से की जाती थी परन्तु बाद में वह पद्धति छोड दी गई और गुरु के मध्यराशिभोगकाल के अनुसार गणना की जाने लगी। गुरु को मध्यम गति से एक राशि भोगने में सूर्यसिद्धान्तानुसार ३६१ दिन १ घटी ३६ पल और अन्य सिद्धान्तों के अनुसार इससे कुछ पल न्यून या अधिक समय लगता है। एक बार्हस्पत्य संवत्सर का यह मान सौरवर्ष से थोडा कम है। इस कारण ८५ सौरवर्षों में ८६ बार्हस्पत्य संवत् होते हैं अर्थात् एक बार्हस्पत्य संवत् का लोप हो जाता है और इसका आरम्भकाल निश्चित नहीं रहता। इस संवत्सर की एक और पद्धति है। उसमें संवत्सर का लोप नहीं किया जाता, उसका मान सौरवर्ष

[1] इण्डियनऐंटिक्वेरी नामक अंग्रेजी मासिक पत्रिका के सन् १८८८ के दो अङ्कों में मैंने Twelve year Cycle of Jupitor शीर्षक लेख में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है।

तुल्य ही मान लिया जाता है। इसी कारण उसे सौरसवत्सर कहते है। चान्द्रवर्ष के साथ आरम्भ होने के कारण उसे चान्द्रसवत्सर भी कहते है। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर बार्हस्पत्य और दक्षिण मे चान्द्रसौर सवत्सर प्रचलित है। कोई कोई नर्मदा के दक्षिण वाले सवत्सर को भी बार्हस्पत्यसवत्सर कहते है पर यह ठीक नही है। अब उसमे बार्हस्पत्यत्व नही रह गया है।

चान्द्रसौर सवत्सर

दक्षिण मे यह पद्धति बाद मे चली है। चान्द्रसौरसवत्सर का उल्लेख वर्तमान रोमशसिद्धान्त और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त मे है परन्तु वे ग्रन्थ अन्य ज्योतिष-सिद्धान्तों के तुल्य प्राचीन नही है। अन्य सभी सिद्धान्तो मे सवत्सर केवल बार्हस्पत्यमान का ही लेने को कहा है। ज्योतिषग्रन्थो मे सावनादि भिन्न भिन्न मानो के वर्णन में स्पष्ट लिखा है कि सवत्सर बार्हस्पत्यमान का लेना चाहिए। ताम्र-पटादि प्राचीन लेखो मे सिद्ध होता है कि दक्षिण मे भी पहिले बार्हस्पत्य सवत्सर प्रचलित था। उदाहरणार्थ—राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविन्द का शकवर्ष ७२६, सुभानु सवत्सर, वैशाखकृष्ण ५ गुरुवार का एक ताम्रपट मिला है।[1] गणित करने से ज्ञात हुआ कि शक ७२६ को गतवर्ष मानने से वैशाख कृष्ण ५ अमान्त मान से ३ मई सन् ८०४ शुक्रवार को आती है और पूर्णिमान्त मान से ४ अप्रैल सन् ८०४ गुरुवार को आती है अर्थात् पूर्णिमान्तमान से लेख की सगति लगती है। ७२६ को वर्तमान वर्ष मानने से सगति नही लगती। शक ७२६ मे दक्षिण की वर्तमान पद्धति के अनुसार १८ वा सवत्सर तारण आता है परन्तु लेख मे १७ वा सुभानु है। नर्मदा के उत्तर वाले अर्थात् वास्तविक बार्हस्पत्य मान से सुभानु सवत्सर का आरम्भ अधिक आषाढ कृष्ण ९ शनिवार शक ७२५ (गत), १७ जून सन् ८०३ को आता है और आगे चल कर आषाढ शुक्ल प्रतिपदा बुधवार, १२ जून सन् ८०४ को तारण सवत्सर लगता है अर्थात् ताम्रपट का लेखनदिन सुभानु मे ही आता है। इससे सिद्ध हुआ कि शक ७२६ पर्यन्त दक्षिण मे वास्तव बार्हस्पत्य मान प्रचलित था।

दक्षिण में बार्हस्पत्य सवत्

कम से कम तुगभद्रा के तटवर्ती उस प्रदेश मे तो अवश्य ही प्रचलित था जहा यह ताम्रपट मिला है। इस प्रकार के कुछ और उदाहरण भी है। वास्तविक बार्हस्पत्य-मान से सवत्सर का आरम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को नही आता और ८५ वर्षो में

[1] इण्डियन ऐंटिक्वैरी, पुस्तक १, पृष्ठ १२६ देखिए।

एक सवत्सर लुप्त हो जाता है, इस प्रपञ्चात्मक पद्धति का त्याग कर सदा चान्द्र अथवा सौर वर्ष के साथ सवत्सरारम्भ करने की ओर झुकाव होना विलकुल स्वाभाविक है। दक्षिण मे चान्द्रसौर पद्धति का प्रचार इसी कारण अथवा प्रति ८५ वर्ष के बाद एक सवत्सर लुप्त करने की पद्धति की उपेक्षा कर देने से हुआ होगा परन्तु वास्तविक बार्हस्पत्यमान से जो सवत्सर आता है, वही चान्द्रसौर पद्धति द्वारा भी जिस समय आता रहा होगा उसी समय से इसका प्रचार हुआ होगा, यह विलकुल स्पष्ट है। शक ७४३ से ८२७ पर्यन्त दोनो पद्धतियो द्वारा एक ही सवत्सर आता था। उसके बाद उत्तर मे नियमानुसार सवत्सर का लोप होता रहा और दक्षिण में वह बन्द हो गया। इस कारण दक्षिण का सवत्सर पीछे हटने लगा। शक १८१८ के आरम्भ मे दक्षिण मे दुर्मुख अर्थात् ३० वा और उत्तर मे ४२ वा कीलक सवत्सर है। साराश यह कि दक्षिण में शक ८२७ से चान्द्रसौर प्रचलित हुआ।

पूर्णिमान्त और अमान्त मास

प्रथम भाग में दिखा चुके है कि वेदकाल में मास की अमान्त और पूर्णिमान्त दोनो पद्धतिया प्रचलित थी। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर पूर्णिमान्त और दक्षिण-भाग मे अमान्त मान प्रचलित है तथापि कार्तिकस्नान इत्यादि कुछ धार्मिक कर्म दक्षिण मे भी पूर्णिमान्त मान से ही किये जाते है। ऊपर षष्टिसवत्सरचक्र के विवेचन में शक ७२६ का एक उदाहरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण में अथवा कम से कम तुगभद्रा पर्यन्त व्यवहार मे पूर्णिमान्त मान प्रचलित था। उसके पहिले के भी इसके कुछ उदाहरण मिले है। हरिहर राजा के मन्त्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) के ताम्रपट में[1] लिखा है—शक १३१३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अमावास्याया सौम्यदिने सूर्योपरागपुण्यकाले। पूर्णिमान्त मान के वैशाख की ही अमावास्या को बुधवार और सूर्यग्रहण आता है। अमान्त वैशाख की अमावास्या को नही आता। इससे ज्ञात होता है कि शक की १४ वी शताब्दी मे भी दक्षिण मे कभी कभी पूर्णिमान्त मास का उपयोग किया जाता था।

यद्यपि उत्तर भारत में सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित है तथापि मासो के नाम और अधिकमास वहा भी अमान्तमान से ही निश्चित किये जाते है। इसका विवेचन आगे करेंगे। जहाँ सौरमास प्रचलित है वहाँ इस वाद की आवश्यकता ही नहीं पडती।

मास और अधिकमास की चैत्रादि संज्ञाएँ प्रथम चित्रादि नक्षत्रों द्वारा उत्पन्न हुई

[1] Memoirs of Savantvadi State, p. 287.

गयी। चन्द्रमा जिन नक्षत्रों में पूर्ण होता था उन्हीं के नामपर मासों के नाम रखे गये परन्तु पीछे से चन्द्रमा उस विशिष्ट नक्षत्र में ही नहीं पूर्ण होता। कभी चित्रा में, कभी स्वाती में और कभी हस्त में पूर्ण होता है अतः आगे चल कर इसके लिए दूसरा नियम बनाया गया। उस नियम के अनुसार कृत्तिकादि दो-दो नक्षत्रों में जिन मासों की पूर्णिमा को चन्द्रमा पूर्ण होता था उनके क्रमशः कार्तिकादि नाम रखे गये, उसमें भी फाल्गुन, भाद्रपद और आश्विन मासों को तीन तीन नक्षत्र दिये गये¹। इस नियम से भी मास का नाम कभी कभी बड़ा विचित्र आता है। उदाहरण—शक १८१५ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में आषाढ़ी पूर्णिमा के अन्त में श्रवण नक्षत्र था अतः नियमानुसार उसका नाम श्रावण हो जाता है। गणित करने से मुझे यह भी मालूम हुआ (पुस्तकविस्तार होने के भय से यहां गणित नहीं दिया है) कि ८०० कलाओं का एक नक्षत्र मानें तो भी इस नियम से अधिकमास और क्षयमास बार बार आवेंगे और वे नियमपूर्वक नहीं आवेंगे। नक्षत्रों के तारों से गणना करेंगे तो और भी अव्यवस्था होगी क्योंकि उनमें समान अन्तर नहीं है। चन्द्रमा की गति का सूक्ष्म ज्ञान होने के पूर्व यह पद्धति स्थूल रूप में अर्थात् विशेष अधिमास और क्षयमास न मानते हुए कुछ काल तक प्रचलित रही होगी। वेदाङ्गज्योतिष में चन्द्रगति बहुत सूक्ष्म है, उस समय से यह पद्धति छूट गई। वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार ३० मास में एक अधिमास आता है। वेदाङ्गज्योतिष-विचार में लिख चुके हैं कि सूक्ष्म न होने के कारण यह नियम भी शीघ्र ही व्यवहार से उठ गया होगा। इस नियम के स्थान में ३२ या ३३ मासों में अधिकमास मानने की पद्धति बाद में प्रचलित हुई होगी। पितामह सिद्धान्त में ३२ मास में एक अधिमास माना है। पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्तादि सूक्ष्म ग्रन्थ बन जाने पर सूक्ष्म गणित द्वारा अधिमास लाया जाने लगा। सम्प्रति मास का नाम रखने का सामान्य नियम यह है कि जिन चान्द्रमासों में स्पष्ट मेषादि संक्रान्तियां होती हैं उन्हें क्रमशः चैत्र, वैशाख इत्यादि कहते हैं, जिस मास में संक्रान्ति नहीं होती उसे अधिमास और जिसमें दो संक्रान्तियां होती हैं उसे क्षयमास कहते हैं परन्तु इसकी दो परिभाषाएँ मिलती हैं। एक यह है—

मेषादिस्थे सवितरि यो यो मास प्रपूर्यते चान्द्र ।
चैत्राद्य स ज्ञेय पूर्तिद्वित्वेऽधिमासो ऽन्त्य ॥

¹ सूर्यसिद्धान्त के मानाधिकार का १६वाँ श्लोक देखिए। इण्डियन ऐंटिक्वेरी सन् १८८८ जनवरी के अङ्क में Twelve year cycle शीर्षक लेख में मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

यह वचन ब्रह्मसिद्धान्त का कहा जाता है परन्तु ब्रह्मगुप्त और शाकल्य किसी के भी ब्रह्मसिद्धान्त मे नही मिलता। माधवाचार्य (विद्यारण्य) कृत कालमाधव में जो कि शक १३०० के आसपास बना है, यह वचन है। इसका अर्थ यह है कि मेषादि राशियो में सूर्य के रहने पर जो चान्द्रमास पूर्ण होंगे उन्हें चैत्रादि कहेंगे और एक सौर-मास मे यदि दो चान्द्रमास पूर्ण होंगे तो उसमें से दूसरे को अधिमास कहेंगे (नाम पूर्व नियमानुसार ही रखा जायगा)। दूसरा निम्नलिखित वचन कालतत्त्वविवेचन नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ में व्यास के नाम पर दिया है[1]।

मीनादिस्थो रविर्येषामारम्भप्रथमे क्षणे।
भवेत्तेऽब्दे चान्द्रमासाश्चैत्राद्या द्वादश स्मृता.॥

इसका अर्थ यह है कि जिन चान्द्रमासो के आरम्भकाल मे सूर्य मीनादि राशियो में रहता है उन्हें चैत्रादि कहते है। ये मास वर्ष में १२ होते हैं। मासो के नाम तो दोनो पद्धतियो से एक ही आते है पर अधिमास और क्षयमास के नाम भिन्न आते हैं। अधिक-मास का उदाहरण—मान लीजिये किसी चान्द्रमास की कृष्ण चतुर्दशी को मेष सक्रान्ति हुई, द्वितीय मास में सक्रान्ति नही हुई, तृतीय मास की शुक्ल प्रतिपदा को वृषसक्रान्ति और चतुर्थ की शुक्ल द्वितीया को मिथुन सक्रान्ति हुई। प्रथम और तृतीय चान्द्रमासो की समाप्ति के समय सूर्य क्रमश मेष और वृष राशियो में था अत प्रथम श्लोक के अनुसार उनके नाम चैत्र और वैशाख हुए। दोनो के आरम्भ काल में क्रमश मीनस्थ और मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोक से भी वे ही नाम आये। द्वितीयमास में सक्रान्ति नही हुई है अत वही अधिकमास है। उसकी समाप्ति के समय सूर्य मेष में था अत प्रथम श्लोक के अनुसार उसका नाम चैत्र और आरम्भकाल में मेषस्थ सूर्य होने के कारण द्वितीय श्लोकानुसार वैशाख हुआ। आजकल द्वितीय पद्धति ही सर्वत्र प्रचलित है। इसके अनुसार अधिकमास अग्रिम मास के नाम से पुकारा जाता है। भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि के मध्यमाधिकार में 'असंक्रान्तिमासो ऽधिमास. स्फुट स्यात्' श्लोक की टीका में 'क्षयमासात् पूर्वं मासत्रयान्तर एकोऽधिमासो ऽग्रतश्च मासत्रयान्तरितो ऽन्यश्चासक्रान्तिमास. स्यात्' लिख कर आगे लिखा है, 'पूर्वं किल भाद्रपदो ऽसंक्रान्तिर्जातस्ततो मार्गशीर्षो द्विसंक्रान्तिस्तत. पुन. चैत्रो ऽप्य-सक्रान्ति.'। इससे सिद्ध होता है कि उस समय भी वर्तमान पद्धति ही प्रचलित थी।

[1] पूना के आनन्दाश्रम में इस ग्रन्थ की एक प्रति है (नं० ४४१३)। इसका रचना काल शक १५४२ है।

कालमाधव मे शक १२५९ ईश्वर सवत्सर मे श्रावण अधिकमास लिखा है। वर्तमान पद्धति से भी वही आता है अत उस समय भी यही पद्धति रही होगी। प्रथम श्लोकानुसार उस अधिमास का नाम आषाढ आता है। एक ताम्रपट के लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम श्लोकोक्त पद्धति भी कुछ दिनो तक प्रचलित थी। उसका वर्णन आगे किया है।

मध्यम और स्पष्ट अधिमास

सम्प्रति अधिक या क्षयमास स्पष्ट सक्रान्ति द्वारा लाये जाते है पर मालूम होता है एक समय मध्यममान से अधिकमास मानने की भी पद्धति थी। मध्यमगति सदा समान नही रहती है। उसके अनुसार ३२ चान्द्रमास १६ तिथि ३ घटी ५५ पल मे अर्थात् कभी ३२ और कभी ३३ महीने मे अधिकमास आता है। मध्यमगति के अनुसार सौरमास का मान ३० दिन २६ घटी १८ पल और चान्द्रमास का मान २९ दिन ३१ घटी ५० पल आता है अत मध्यममान से एक चान्द्रमास में दो सक्रान्तिया कभी नही होती अर्थात् क्षयमास कभी नही आता पर सूर्य की स्पष्टगति सदा समान न होने के कारण स्पष्ट सौरमास छोटे बडे हुआ करते है अत एक चान्द्रमास मे दो सक्रान्तिया हो सकती है अर्थात् स्पष्टमान से क्षयमास आता है। क्षयमास आने पर वर्ष में दो अधिमास होते हैं। स्पष्टमान से दो अधिमासो का लघुतम अन्तर २८ मास[1] और महत्तम अन्तर ३५ मास आता है। धरसेन चतुर्थ का गुप्तवलभी संवत् ३३० द्वितीय मार्गशीर्ष शुक्ल २ का एक ताम्रपट खेडा मे मिला है। द्वितीय विशेषण से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें मार्गशीर्ष अधिकमास है। गुप्तवलभी सवत् ३३० अर्थात् शक ५७० मे स्पष्टमान से कार्तिक अधिमास आता है परन्तु मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा से मार्गशीर्ष अधिक आता है। अन्य किसी भी रीति से उपर्युक्त मार्गशीर्षाधिमास की उपपत्ति नही लगती। इससे सिद्ध होता है कि शक ५७० मे गुजरात मे मध्यममान से और 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा के अनुसार अधिकमास माना जाता था। मध्यममान के अधिकमास का प्रचार का प्रमाण ग्रन्थो मे भी मिलता है। ज्योतिषदर्पण नामक मुहूर्तग्रन्थ मे श्रीपति (शक ९६१) के सिद्धान्तशेखर के निम्नलिखित श्लोक दिये हैं।

[1] कभी-कभी २७ मास का अन्तर भी पड जाता है। शक १३११ में ज्येष्ठ और १३१३ में भाद्रपद अधिक था।

मध्यमरविसंक्रमयोर्मध्ये मध्यार्कचन्द्रयोर्योगे।
अधिमास ससर्प स्फुटयोरहस्पतिर्भवेद्योगे।।
मध्यग्रहसमूतास्तिययो योग्या न सन्ति लोकेऽस्मिन्।
ग्रहण ग्रहयुद्धानि च यतो न दृश्यानि तज्जानि।।
रविमध्यमसक्रान्तिप्रवेशरहितो भवेदधिक।
मध्यश्चान्द्रो मासो मध्याधिकलक्षणञ्चैतत।।
विद्वामस्त्वाचार्या निरस्यमध्याधिकं मासम्।
कुर्यु स्फुटमानेन हि यतो ऽधिक स्पष्ट एव स्यात्।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्यममान से अधिकमास मानने का प्रचार पहिले था। मध्यममान से क्षयमास बिलकुल आता ही नही पर भास्कराचार्य ने उसका वर्णन किया है, इससे ज्ञात होता है कि उनके समय मध्यममान की पद्धति प्रचलित नही थी। शक १००० के लगभग उसका सर्वथा लोप हो गया रहा होगा।

मैंने और रावर्ट मेवेल ने मिल कर इगलिश में इण्डियन कलेण्डर नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें सन् ३०० ईसवी से १९०० तक के स्पष्टाधिमान और सन् ३०० से ११०० तक के मध्यमान के अधिमास दिये है। (वह ग्रन्थ सन् १८९६ के जून में छपा है।)

नर्मदा से उत्तर अधिकमास

नर्मदा के उत्तर यद्यपि सम्प्रति पूर्णिमान्त मास प्रचलित है तथापि मासो के नाम और अधिमास अमान्तमान के ही माने जाते है। पूर्णिमान्त और अमान्त दोनो के शुक्लपक्ष एक ही मास के कहे जाते हैं पर दक्षिण (अमान्तमान) का कृष्णपक्ष जिस मास का होगा, उत्तर (पूर्णिमान्तमान) वाले उसे अग्रिममास का कृष्णपक्ष कहेगे। दक्षिणी जिसे चैत्र शुक्ल कहते है उसे उत्तर वाले भी चैत्र शुक्ल ही कहते हैं परन्तु दक्षिण के चैत्र कृष्ण को उत्तर में वैशाख कृष्ण कहते है, सक्रान्ति चाहे जिस समय हो। वास्तविक पूर्णिमान्तमान की पद्धति इससे भिन्न है। पञ्चसिद्धान्तिका के वर्णन में लिख चुके है कि वराहमिहिर के समय जिस पूर्णिमान्त मास में मेषसक्रान्ति होती थी उसी को चैत्र कहते थे, संक्रान्ति चाहे शुक्लपक्ष में हो या कृष्णपक्ष में। नीचे के कोष्ठक से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

वास्तव पूर्णिमान्त			अमान्त
फाल्गुन		१ शुक्लपक्ष	
	मेषेर्क	२ कृष्णपक्ष	चैत्र
चैत्र		३ शुक्लपक्ष	
		४ कृष्णपक्ष	अधिमास
वैशाख	वृषेर्क	५ शुक्लपक्ष	
		६ कृष्णपक्ष	वैशाख
ज्येष्ठ	मिथुनेर्क	७ शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ

यहा वास्तव पूर्णिमान्त मान से अधिमास नही आता क्योकि पूर्णिमा को समाप्त होने वाले प्रत्येक मास मे सक्रान्ति हुई है। अमान्त मान से तृतीय और चतुर्थ पक्ष अधिमास मे आते हैं। नर्मदा के उत्तर भी इसी को अधिमास मानते है। उत्तर की पद्धति मे विचित्रता यह है कि अधिमास के पूर्व और पश्चात् शुद्ध मास का एक एक पक्ष रहता है। उपर्युक्त कोष्ठक का द्वितीय पक्ष अधिक नही बल्कि शुद्ध वैशाख का कृष्णपक्ष है, तृतीय और चतुर्थ अधिक वैशाख के है और पचम पक्ष फिर शुद्ध वैशाख का शुक्लपक्ष है[1]।

मासारम्भ

तिथि का आरम्भ और सूर्य-सक्रमण (उसका एक राशि से दूसरी मे गमन) दिन मे किसी भी समय हो सकता है और वस्तुत चान्द्र और सौर मासो का आरम्भ क्रमश इन्ही समयो से होता है परन्तु सूर्योदय से मासारम्भ मानने से व्यवहार मे सुविधा होती है इसलिए जिस दिन सूर्योदय मे प्रतिपदा रहती है उसी दिन चान्द्रमास का आरम्भ मान लेते हैं। प्रतिपदा दो दिन सूर्योदय काल मे रहने पर मासारम्भ प्रथम दिन माना जाता है। सौरमासारम्भ के निम्नलिखित कई नियम प्रचलित है।

(१ क) वगाल मे सूर्योदय और मध्यरात्रि के बीच मे सक्रान्ति होने पर पर्वकाल उसी दिन मानते है और मासारम्भ दूसरे दिन करते है। मध्यरात्रि के बाद और सूर्योदय के पूर्व सक्रान्ति हुई तो पर्वकाल दूसरे दिन और मासारम्भ तीसरे दिन मानते है।
(१ ख) उडीसा प्रान्त में अमली और विलायती सनो के मासो का आरम्भ सक्रान्ति

[1] न मो में जो यह अव्यवस्था दिखाई दे रही है उसे दूर करने के लिए उपर्युक्त उदाहरण के द्वितीय और तृतीय पक्ष को प्रथम वैशाख तथा चतुर्थ और पञ्चम को द्वितीय वैशाख कहते है।

के दिन ही होता है, सक्रान्ति चाहे जिस समय हो। मद्रास में भी दो नियम हैं। (२ क) तामिल प्रान्त में सूर्यास्त के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और सूर्यास्त के बाद होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं। (२ ख) मलाबार प्रान्त मे अपराह्न का आरम्भ होने के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद में होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं[1]। मैंने ये चार नियम उन प्रान्तो के पञ्चाङ्गो तथा कुछ अन्य बातो के आधार पर लिखे हैं पर इनके अपवाद भी हो सकते हैं। मद्रास में छपे हुए शक १८१५ के एक तामिल पञ्चाङ्ग में मध्यरात्रि के पूर्व सक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद में होने पर दूसरे दिन मासारम्भ माना है। कलकत्ता हाईकोर्ट की आज्ञा से एक कोष्ठक Chronological Tables प्रति वर्ष छपता है। उसमें सन् १८८२, १८८३ ई० की पुस्तक में विलायती सन के महीनो का आरम्भ इसी नियम के अनुसार किया गया है।

पञ्चाङ्ग के अङ्ग

अब पञ्चाङ्ग के मुख्य पाच अङ्गो का विचार करेंगे। पञ्चाङ्ग के तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण ये पाच अङ्ग माने जाते हैं। आकाश में सूर्य और चन्द्रमा के एकत्र होने पर अर्थात् उनका योग समान होने पर अमावास्या समाप्त होती है। इसके बाद गति अधिक होने के कारण चन्द्रमा सूर्य से आगे जाने लगता है। दोनो मे १२ अश का अन्तर पडने मे जितना समय लगता है उसे तिथि कहते हैं। इस प्रकार दोनो के पुन- एकत्र होने तक अर्थात् एक चान्द्रमास मे (३६० — १२) ३० तिथिया होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा में ६ अश अन्तर पडने में जो समय लगता है उसे करण कहते हैं[2]। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को वार कहते हैं। नक्षत्रमण्डल के आठ आठ सौ कलाओ के २७ समान भाग माने गये है। प्रत्येक भाग को और उसे भोगने मे चन्द्रमा को जितना समय लगता है उसे नक्षत्र कहते है। सूर्यचन्द्र के भोगो के योग द्वारा योग

[1] त्रिचनापल्ली निकटस्थ श्रीरगम से ५ मील उत्तर कन्ननूर नामक स्थान में एक मन्दिर में शक ११९६ का एक शिलालेख है। उसमें क, २ख में से एक नियम है, यह बात सिद्ध हो चुकी है। देखिए Epigraphia Indica III p 10

[2] परन्तु वस्तुत पञ्चाङ्गों में करण का अलग साधन नहीं करते अर्थात् सूर्यचन्द्र में ६ अंश अन्तर पड़ने में तात्कालिक गत्यन्तर द्वारा जो समय आवेगा उसे करण नहीं मानते बल्कि तिथिकाल के आधे को करणकाल कहते हैं और ऐसा ही विधान भी है (अनुवादक)।

लाया जाता है। सूर्य और चन्द्रमा की गति का योग ८०० कला होने मे जितना समय लगता है उसे योग कहते है।

पांचो अङ्गो का प्रचारकाल

हमारे यहा पञ्चाङ्ग बनाने की प्रथा वडी पुरानी है। पञ्चाङ्ग तभी से प्रचलित हुआ होगा जब कि हमे ज्योतिष का थोडा बहुत ज्ञान होने लगा था पर यह निश्चित है कि वह पुराना पञ्चाङ्ग आज सरीखा नही था। पच-अङ्ग के स्थान मे पहिले किसी समय चतुरग, त्र्यग, द्वयग अथवा एकाग भी प्रचलित था और लिपि का ज्ञान होनेके पहिले तो कदाचित् जबानी ही उसका ज्ञान कर लेते रहे होगे परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिषस्थिति-दर्शक कोई पदार्थ अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। यहा उसे ज्योतिर्दर्पण कहेगे। वेदो मे भी लिखा है कि अमुक दिन, नक्षत्र और ऋतु में अमुकामुक कर्म करने चाहिए अत स्पष्ट है कि ज्योतिर्दर्पण बहुत प्राचीन है। उसका प्रथम अङ्ग सावन दिन है। सम्प्रति सावन दिन के स्थान में वार का प्रयोग किया जाता है। सावन दिन के बाद नक्षत्रो का ज्ञान हुआ और नक्षत्र दूसरा बना। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। वेदाङ्गज्योतिषकाल अर्थात शकपूर्व १४०० वे वर्ष मे तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र दो ही अङ्ग थे। तिथि का मान लगभग ६० घटी होता है अर्थात् उसे अहो-रात्र-दर्शक कहना चाहिए। तदनुसार केवल दिन अथवा केवल रात्रि के दर्शक तिथ्यर्ध अर्थात् करण नामक अङ्ग का प्रचार तिथि के थोडे ही दिनो बाद हुआ होगा और उसके बाद वार प्रचलित हुए होगे। अथर्वज्योतिप मे करण और वार दोनो है। पहले लिख चुके है कि हमारे देश मे शकारम्भ के ५०० वर्ष पूर्व मेषादि सज्ञाओ का प्रचार हुआ होगा और यह भी दिखा चुके है कि अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति से ज्ञात होता है कि राशियो का ज्ञान होने के कई शताब्दी पूर्व वारो का ज्ञान हुआ होगा। एक अन्य ग्रन्थ मे भी इसका प्रमाण मिलता है। ऋक्गृह्य-परिशिष्ट मे तिथि, करण, मुहूर्त, नक्षत्र, तिथि की नन्दादि सज्ञाओ, दिनक्षय और वार का वर्णन है पर मेषादि राशिया नही है। ये तीनो ग्रन्थ मेषादि राशियो का प्रचार होने के पहिले के है पर तीनो एक ही समय नही बने होगे। इससे ज्ञात होता है कि वारो का प्रचार मेषादि सज्ञाओ से कई शताब्दी पूर्व हुआ है। वारो और मेषादि सज्ञाओ की उत्पत्ति सर्वप्रथम चाहे जहा हुई हो पर उनका सर्वत्र प्रचार होने मे अधिक समय नही लगा होगा क्योकि उनमे गणितादि का कोई प्रपञ्च न ी है। उनकी उत्पत्ति चाहे जहाँ हुई हो पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश मे दोनो एक साथ नही प्रचलित हुए है। वारो का

प्रचार मेषादि राशियो से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् शकपूर्व १००० के आसपास हुआ होगा। शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन तो वे नही ही है।[1]

करण नामक काल-विभाग तिथि द्वारा अपने आप ध्यान में आने योग्य है अत तिथि के कुछ ही दिनो बाद और वार के पूर्व उसका प्रचार हुआ होगा। वेदाङ्गकालीन जिन ग्रन्थो का विवेचन पीछे किया है उनमे से अथर्वज्योतिष, याज्ञवल्क्यस्मृति और ऋक्गृह्यपरिशिष्ट, इन तीन मे वार आये है और इन तीनो में से याज्ञवल्क्यस्मृति में करण नही है, शेष दो मे है। इससे शका होती है कि वार के पहिले करणो का प्रचार नही रहा होगा। यदि यह ठीक है तो दोनो का प्रचार प्राय एक ही समय हुआ होगा अथवा करण वारो के कुछ दिनो बाद शीघ्र ही प्रचलित हुए होगे। यह निश्चित है कि वे शकपूर्व ४०० से अर्वाचीन नही है।[2]

शनिवार, रविवार, सोमवार इत्यादि वारक्रम की उपपत्ति पहले लिख चुके है। उसमे ज्ञात होता है कि इस क्रम का मूल कारण होरानामक कालविभाग है। निम्नलिखित और भी एक प्रकार से इसकी उपपत्ति लगाई जा सकती है। चन्द्रमा से आरम्भ कर ऊर्ध्वक्रम से घटिकाधिपति माने तो प्रथम दिन का स्वामी अर्थात् प्रथम दिन की प्रथम घटी का स्वामी चन्द्रमा और दूसरे दिन की प्रथम घटी अर्थात् दूसरे दिन का स्वामी (चूँकि ६० मे ७ का भाग देने से शेष ४ बचता है) उससे पाचवा अर्थात् मगल होगा। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका के त्रैलोक्य सस्थान में लिखा भी है—ऊर्ध्वक्रमेण दिनपाश्च पञ्चमा। परन्तु इस पक्ष में आपत्ति यह है कि होराधिपो का वर्णन वराहमिहिरादिको के ग्रन्थो में है परन्तु घटिकाधिप की चर्चा किसी ने भी नहीं की है। दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि इस पद्धति मे प्रथम वार सोम आता है जिसका

[1] रोमकसिद्धान्त कितना भी नवीन हो पर यह निश्चित है कि वह शकारम्भ के बाद का नहीं है। सूर्यादिक प्राचीन चार सिद्धान्त उससे प्राचीन है, ज्योतिषसहिताएँ उनसे भी प्राचीन है और मेषादि सज्ञाएँ सहिताओं से भी प्राचीन है अत मेषादि सज्ञाएँ शकपूर्व ३०० के बाद की कभी भी नहीं हो सकतीं और वार उनसे कम-से-कम १०० वर्ष प्राचीन अवश्य है।

[2] महाभारत में मेषादिसज्ञाएँ नहीं है, उनसे प्राचीन वार नहीं है और करण भी नहीं है अत उसकी रचना कम-से-कम शकपूर्व ४०० वर्ष से पहले ही हुई होगी। ऋक्गृह्यपरिशिष्ट, अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्क्यस्मृति का रचनाकाल शकपूर्व ३०० वर्ष से अर्वाचीन नहीं है।

एक भी प्रमाण नही मिलता। अत मानना पडता है कि वारो की उत्पत्ति होरा से ही हुई है और यह कालविभाग तथा यह शब्द हमारे देश का नही है।

वारो की उत्पत्ति हमारे देश मे नही हुई है क्योकि उनकी उत्पत्ति का सम्बन्ध होरा नामक पदार्थ से है जो कि हमारे देश का नही है। साथ ही साथ इसके सम्बन्ध मे एक और भी बडे महत्त्व की वात है। पहले बता चुके है कि होराधीश शनि, गुरु, भौम इत्यादि क्रम से माने जाते है अत जिसने होराधीश निश्चित किये होगे उसे पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने वाले ग्रहो का चन्द्र, वुध, शुक्र इत्यादि क्रम ज्ञात रहा होगा अर्थात् उसे ग्रहगति का उत्तम ज्ञान रहा होगा। ज्योतिष के प्राचीन इतिहास में यह वात वडे महत्त्व की है। हमारे ज्योतिप गणित ग्रन्थो मे ग्रहगति सूर्य, चन्द्र, मगल इत्यादि वारो के क्रम से लिखी है, चन्द्र वुध शुक्र इत्यादि कक्षाक्रम से नही। वारो का प्रचार होने के पहिले यदि गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान रहा होता तो हमारे आचार्य ग्रहगति सूर्य चन्द्र इत्यादि क्रम से नही वल्कि चन्द्र वुध शुक्र इत्यादि क्रम से लिखते पर उन्होने ऐसा नही किया है। ग्रहक्रम का ज्ञान होने के पहिले से हमारे मन में समाया हुआ वारक्रम का महत्त्व किंवहुना पूज्यत्व ही इसका कारण है। दूसरे यह कि ज्योतिप सहिता ग्रन्थो मे ग्रहचार प्रकरण मे ग्रहो का वर्णन सूर्य चन्द्र मगल इत्यादि क्रम से ही रहता है। कुछ सहिताग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तादि गणित ग्रन्थो से प्राचीन है और वारोत्पत्ति के लिए जितने ज्ञान की आवश्यकता है उतना उनमे नही दिखाई देता। इन दोनो हेतुओ और होरा नामक कालविभाग हमारे देश का नही है, इस वात से यह सिद्ध होता है कि वार हमारे देश में नही उत्पन्न हुए है।

उपर्युक्त कथन में यह भी गर्भित है कि यदि हमने गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान स्वय प्राप्त किया हो तो भी हमसे पहिले परदेशी उसे प्राप्त कर चुके थे।

सम्प्रति भूमण्डल में जहा जहा वार प्रचलित है, सर्वत्र सात ही है और उनका क्रम भी सर्वत्र एक है अत वारो की उत्पत्ति किसी एक ही स्थान मे हुई होगी। किसी यूरोपियन विद्वान् ने उनका उत्पत्तिस्थान मिस्र और किसी ने खाल्डिया वताया है। कनिंघम का कथन है[1] कि "डायन काशिअस (सन् २०० ई०) ने लिखा है कि वारो की पद्धति मिस्र देश की है पर मिस्र के लोग सात दिन के सप्ताह द्वारा मास के विभाग नही करते थे वल्कि वे एक एक भाग दस दस दिन का मानते थे।" इससे कहा जा सकता है कि वारो का उद्‌गम स्थान मिस्र नही है पर वहाँ की प्राचीन लिपि और प्राचीन भाषा मे निष्णात रेनुफ नामक विद्वान् ने अपने सन् १८९० ई० के ग्रन्थ

[1] Indian Antiquary, XIV P. 1-4

मे लिखा है[1] कि मिस्र देश मे अहोरात्र का होरा या होरस् देवता मानते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र मे होरा शब्द और वह काल विभाग प्रचलित था अत वहा वारो की उत्पत्ति की भी सभावना हो सकती है। आजकल होरा शब्द ग्रीक माना जाता है परन्तु हिराडोटस (ई० पू० ५ वी शताब्दी) का कथन है कि वह कालविभाग ग्रीको को वस्तुत बाबिलोन अर्थात् खाल्डिया से ही मिला है। पहिले गत्यनुसारी ग्रहक्रम का ज्ञान खाल्डिया और मिस्र दोनो में से किसी एक को था या नही, यदि था तो किसे था और पहिले किसे प्राप्त हुआ, इसका पता नही लगता अत वारो का उत्पत्ति-स्थान निश्चयपूर्वक नही बताया जा सकता। सभव है कि उनकी उत्पत्ति ग्रीस में हुई हो परन्तु यह निश्चित है कि उनका उत्पत्तिस्थान इन तीनो देशो के अतिरिक्त अन्य नही है।

अन्य देशो में वारो का प्रचार कब से है, इसके विषय मे कनिंघम ने लिखा है[2] कि "(रोमन) टिव्युलस ने ई० पू० २० में शनिवार का उल्लेख किया है और जुलिअस-फटिनस (सन् ७०—८० ई०) ने लिखा है कि जरुसलेम शनिवार को लिया गया। इससे ज्ञात होता है कि रोमन लोगो ने ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास वारो का व्यवहार आरम्भ किया था। परन्तु उसके लगभग अथवा उसके पूर्व ही ईरानी और हिन्दुओ को वार ज्ञात हो चुके थे। सेलसस ने—जो आगस्टस (ई० पू० २७) और टायबेरिअस नामक रोमन राजाओ के राज्यकाल मे था—लिखा है कि ईरान के मन्दिर मे सात ग्रहो के नाम के दरवाजे थे और वे उन्ही धातुओ और रगो से बनाये गये थे जो कि उन ग्रहो को प्रिय है।[3]"

हमारे देश में अब तक अनेको ताम्रपट और शिलालेख मिले है। उनमें वारो के प्रयोग का प्राचीनतम उदाहरण शक ४०६ का है। मध्यप्रान्त के एरन नामक स्थान मे एक खंभे पर बुधगुप्त राजा का गुप्त वर्ष १६५ अर्थात् शक ४०६ आषाढ शुक्ल १२ गुरुवार का एक शिलालेख है। सम्प्रति इससे प्राचीन ज्योतिष का ऐसा कोई भी पौरुषग्रन्थ उपलब्ध नही है जिसके लेख से यह विदित होता हो कि सचमुच वह शक ४०६ से प्राचीन है।

[1] मत्कृत धर्ममीमांसा, भौतिक धर्म, पृ० १२७ देखिए।

[2] Indian Antiquary, xiv, p 1–4

[3] हमारे ग्रन्थो में भी लिखा है कि किस ग्रह को सुवर्णादि कौन-सी धातु और कौन-सा रंग प्रिय है। कोई-कोई सात वारो को भिन्न-भिन्न सात रगो की पगड़ियाँ पहनते है।

योगो का उत्पत्तिकाल

केरोपन्त ने लिखा है (ग्रहसाधन कोष्ठक पृष्ठ १६३) कि "पता नही चलता, करण आकाशस्थ ग्रहो की कौन सी स्थिति दिखाते हैं। इनका उपयोग केवल फलग्रन्थो में है।" परन्तु उनका यह कथन ठीक नही है। करण तिथि का आधा होता है। जैसे तिथि मे यह ज्ञात होता है कि सूर्य और चन्द्रमा मे १२ अश और अधिक अन्तर हो गया उसी प्रकार करण बताता है कि सूर्यचन्द्रमा का अन्तर ६ अश और बढ गया। करण का मान लगभग ३० घटी है अत वह एक उचित कालविभाग है। करण मे नही पर केरोपन्त का कथन विष्कभादि २७ योगो मे लागू हो सकता है। एक मनुष्य पूना से १० कोस पर और दूसरा २० कोस पर है। दोनो का योग ३० कोस हुआ। यह ३० कोस किसी भी स्थिति का द्योतक नही है और मेरी तो धारणा है कि पञ्चाङ्ग के पाच अङ्गो मे योग का प्रवेश अन्य अङ्गो के कई शताब्दी बाद हुआ है। पञ्चसिद्धातिका मे तिथि और नक्षत्रसाधन की रीति है पर योगसाधन की नही है। इसी प्रकार बृहत्सहिता में नक्षत्रो के फल के विषय मे बहुत लिखा है पर योगो के विषय मे कुछ भी नही। इससे मुझे ज्ञात होता है कि वराहमिहिर के समय योग नही थे। आर्यभट ने तिथि और नक्षत्र निकालने की रीति नही लिखी है अत उनके सम्बन्ध मे योगो के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता।

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धात मे तिथिनक्षत्रानयन की रीति दी है। वही योग लाने की भी एक आर्या है परन्तु मुझे वह प्रक्षिप्त मालूम होती है क्योकि पूना कालेज की जिस प्रति की मैने नकल की है उसमे वह आर्या ६२ वी और ६३ वी आर्याओ के मध्य मे है अर्थात् उसके आगे श्लोकसख्या नही लिखी है। वह आर्या दूसरे अध्याय मे है। उस अध्याय के अन्त मे ब्रह्मगुप्त ने श्लोकसख्या ६७ लिखी है पर उस आर्या को भी गिनने से श्लोक-सख्या ६८ हो जाती है। दूसरी बात यह कि उस पर पृथूदक की टीका नही है। इतना ही नही, पृथूदकटीका वाली पुस्तक मे वह आर्या है ही नही। इसके अतिरिक्त तिथि, नक्षत्र और करण शब्दो को ब्रह्मगुप्त ने कई स्थानो मे एकत्रित लिखा है पर उनमे योग का नाम कही भी नही है। यथा—

(१) सक्रान्तिभतिथिकरणव्यतिपाताद्यन्तगणितानि ॥६६॥

(२) ज्यापरिधिस्पष्टीकरणदिनगतिचरार्धभतिथिकरणेषु ॥६७॥

(अध्याय २)

(३) सक्रान्तेराद्यन्तौ ग्रहस्य यो राशिभतिथिकरणान्तान्।
व्यतिपाताद्यन्तौ वा यो वेत्ति स्फुटगतिज्ञ. स. ।।६।।

(४) एव नक्षत्रान्तात्तिथिकरणान्ताच्छशिप्रमाणार्धात् ।।३१।।

(अध्याय १४)

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धान्त मे ४ स्थानो में नक्षत्रतिथिकरणो का एकत्र उल्लेख रहते हुए उनमें योग का नाम एक जगह भी नही है। खण्डखाद्य मे सम्प्रति योगसाधनोपयोगी एक आर्या मिलती है पर वह भी प्रक्षिप्त ही है। बेरुनी ने खण्डखाद्य की बहुत सी बातें लिखी है पर योग नही दिये है (इण्डिका भाग २, पृष्ठ २०९)। उनने लिखा है कि करणतिलक में २७ योग है। यदि खण्डखाद्य मे योगानयन की रीति होती तो बेरुनी के ग्रन्थो में उनका वर्णन अवश्य रहता। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त के समय भी योग नही थे।

अथर्वज्योतिष में लिखा है कि अमुक मुहूर्त, तिथि, करण में अमुकामुक कर्म करते चाहिए पर उसमें योगो सम्बन्धी कर्म नही लिखे है। इसके आगे लिखा है—

चतुर्भि कारयेत् कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षण.।
तिथिनक्षत्र - करण - मुहूर्तेनेति नित्यश.।।

यहा शुभ कर्म में तिथि, नक्षत्र, करण और मुहूर्त का ही ग्रहण किया है। योग का नाम नही लिया है परन्तु इसके आगे लिखा है—

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रञ्च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुण प्रोक्त. करणं षोडशान्वितम् ।।९०।।
द्वात्रिंशद्गुणो योगस्तारा षष्टिसमन्विता।
चन्द्र शतगुण प्रोक्त. ।।९१।।

यहा योग शब्द आया है पर उसका अर्थ दूसरा है। अमुक नक्षत्र और अमुक वार का सयोग होने से अमुक योग होता है, इस प्रकार फलग्रथो में २८ योग बताये है। यह योग वही होगा अथवा यह श्लोक ही प्रक्षिप्त होगा। ऋक् गृह्यपरिशिष्ट में योग नही है।

वर्तमान धीवृद्धिदतन्त्र में योग है परन्तु वे प्रक्षिप्त होगे अथवा उसकी रचना के कुछ ही पूर्व उस प्रान्त में उनका प्रचार हुआ होगा। इन सब बातो से मुझे यह निश्चय प्रतीत होता है कि शक ६०० पर्यन्त योग नामक अङ्ग पञ्चाङ्ग में नही था। ब्रह्मगुप्त की उपर्युक्त आर्याओ में व्यतीपात शब्द दो जगह आया है परन्तु वह व्यतीपात २७

योगो मे का नही है बल्कि उसका सम्बन्ध सूर्यचन्द्र के क्रान्तिसाम्य से है जिसे सम्प्रति महापात भी कहते हैं। पूर्वापर सन्दर्भ और टीका इत्यादिको का विचार करने से इस विषय मे सन्देह नही रह जाता। क्रातिसाम्य जानने का एक स्थूल साधन—जिसका गणितग्रन्थो मे उपयोग भी किया रहता है—यह है कि सूर्य और चन्द्रमा (के भोगो) का योग ६ या १२ राशि होने पर उनका क्रातिसाम्य होता है। इनमें से पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते है। यह क्रातिसाम्य लाने के लिए सूर्यचन्द्रमा का योग करना पडता है। सभवत इसी आधार पर जैसे सूर्यचन्द्र के अन्तर द्वारा तिथि लाते थे उसी प्रकार सदा उनके योग द्वारा २७ योग लाये गये होगे।

सूक्ष्म नक्षत्र

एक नक्षत्र का मान सामान्यत क्रातिवृत्त का २७ वा भाग अर्थात् ८०० कला है परन्तु प्राचीन काल मे एक और पद्धति प्रचलित थी। उसमे कुछ नक्षत्रो को अर्धभोग, कुछ को समभोग (एक भोग) और कुछ को अध्यर्ध (डेढ) भोग मानते थे। यह पद्धति गर्गादिको ने फलादेश के लिए लिखी है—ऐसा कह कर ब्रह्मगुप्त ने और तदनुसार भास्कराचार्य ने उसका उल्लेख किया है। उसमे भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाती, ज्येष्ठा और शतभिषक् ये ६ नक्षत्र अर्धभोग, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तरात्रय, विशाखा ये ६ अध्यर्धभोग और शेष १५ समभोग माने गये हैं।

गर्गपद्धति, ब्रह्मसिद्धान्तपद्धति

गर्ग ने भोग का प्रमाण ८०० कला और ब्रह्मगुप्त ने चन्द्रमध्यमदिन गति अर्थात् ७९० कला ३५ विकला माना है। इसीलिए ब्रह्मसिद्धान्त में अभिजित नक्षत्र लेकर चक्र-कला की पूर्ति के लिए उसका भोग (चक्रकला—२७ × ७९०।३५ =)४ अश १४ कला १५ विकला दिया है। नारद ने इस पद्धति के अनुसार अर्धभोग नक्षत्रो का कालात्मक मान १५ मुहूर्त्त (३० घटी), समभोग वालो का ३० मुहूर्त और अध्यर्ध भोग वालो का ४५ मुहर्त लिखा है और मध्यम मान से यह ठीक भी है। मालूम होता है इन पद्धति का कुछ दिनो तक प्रत्यक्ष व्यवहार किया जाता था। कन्नौज के राजा भोजदेव का एक शिलालेख झासी से लगभग ६० मील नैऋत्य की ओर देवगढ नामक स्थान मे मिला है। उसमे लिखा है—सवत् ९१९ आश्विन शुक्ल पक्ष चतुर्दश्या वृहस्पतिदिने उत्तराभाद्रपदानक्षत्रे शककालाब्दसप्तशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७८४। उसमे लिखे हुए नक्षत्र की सगति उपर्युक्त गर्गोक्त या ब्रह्मसिद्धान्तपद्धति से ही लगती है, ८००

कला का नक्षत्र मानने से नही लगती ।' आजकल सूर्य की सङ्क्रान्ति जिस दैनन्दिन नक्षत्र में होती है उसी के मान के अनुसार उसका १५, ३० या ४५ मुहूर्त मान लेते है और तदनुसार सुभिक्ष–दुर्भिक्ष का निर्णय करते हैं। इसका मूल यह उपर्युक्त पद्धति ही है। नक्षत्रो का भोग आधा, सम या डेढ गुना मानने का मूल कारण नक्षत्रो के तारो का समान अन्तर पर न होना ही होगा। नक्षत्र-चक्र के आरम्भ का विवेचन पहले कर चुके हैं।

भिन्न-भिन्न प्रान्तो के पञ्चाङ्ग

अब यहा इस देश के भिन्न भिन्न प्रान्तो में प्रचलित पञ्चाङ्गो का विचार करेगे। मैने अनेक प्रान्तो के पञ्चाङ्ग देखे है और वे मेरे सग्रह मे भी है। उनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि सब प्रान्तो के पञ्चाङ्गो की पद्धति प्राय एक ही है। उनमें तिथि, नक्षत्र, योग और करण के घटी पलो मे एव सङ्क्रातिकाल तथा स्पष्टग्रहो मे थोडा बहुत अन्तर पड जाता है पर उसका कारण यह है कि भिन्न भिन्न प्रान्तो में पञ्चाङ्ग सौर, ब्राह्म अथवा आर्यपक्ष के भिन्न भिन्न ग्रन्थो द्वारा बनाये जाते है।

तीन पक्ष

इन तीनो पक्षो के विषय मे पिछले पृष्ठो मे थोडा लिख चुके है। ग्रहलाघव (शक १४४२) मे इन तीनो पक्षो का स्पष्ट उल्लेख है। गणेशदैवज्ञ ने लिखा है कि अमुक पक्ष का अमुक ग्रह ठीक मिलता है और तदनुसार उन्होने उसे ग्रहण किया है। उनके मत मे सूर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश और करणकुतूहल क्रमश सौर, आर्य और ब्राह्म पक्ष के ग्रन्थ है। मुहूर्तमार्तण्ड नामक मुहूर्तग्रन्थ मे (शक १४९३) भी इन पक्षो का स्पष्ट उल्लेख है। विश्वनाथी टीका इत्यादि ग्रन्थो मे भी कही कही इनका वर्णन मिलता है। इस समय भी इन तीनो पक्षो के अभिमानी ज्योतिषी है। वैष्णव आर्यपक्ष को मानते है। सुधाकर ने लिखा है कि माध्वसम्प्रदाय के कृष्णामृतवाक्यार्थ नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित वाक्य है—

> "विष्णोश्च जन्मदिवसाश्च हरेर्दिनञ्च विष्णुव्रतानि विविधानि
> च विष्णुभ च। कार्याणि चार्यभटशास्त्रत एव सर्वं ॥"
> "आर्यभटसिद्धान्तसम्मतकरण प्रकाशग्रन्थ"

' मेरा किया हुआ इसका ब्यौरेवार गणित इण्डि० ऐंटि० जनवरी १८८८ पृष्ठ ७४ में देखिए। उसी अक के Twelve-year cycle of Jupiter निबन्ध में मैने इस पद्धति का विस्तृत विवेचन किया है।

स्मृत्यर्थसार नामक धर्मशास्त्र ग्रन्थ मे भी इसी अर्थ के कुछ वाक्य मिले हैं। मालूम होता है गणेशदैवज्ञ के समय इन तीन पक्षो का अभिमान दृढ हो गया था जिसके कारण सबको प्रसन्न रखने के लिए उन्हें यह युक्ति निकालनी पडी कि मैंने अमुक पक्ष का अमुक ग्रह लिया है, अन्यथा उन्हे जो ग्रह लेने थे वे सब 'आर्य सेषुभाग शनि.' की तरह अथवा कुछ बीज सस्कार मान कर किसी भी एक ही ग्रन्थ से लिये जा सकते थे। करण-कुतूहल के पूर्व का ब्रह्मपक्षीय ग्रन्थ राजमृगाक उसके सर्वथा समान था। उसका रचना काल शक ९६४ है। लल्लोक्त बीजसस्कार उससे लगभग ३०० वर्ष पहिले का है (आर्यसिद्धान्त मे उसका सस्कार करके करणप्रकाश ग्रन्थ बना है) और वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का प्राबल्य भी अनुमानत लगभग लल्ल के समय से ही है अर्थात् ये तीनो पक्ष बडे प्राचीन है परन्तु राजमृगाक के समय से इनके भिन्नत्व की दृढ स्थापना हुई होगी और एक एक पक्ष का विशेष अभिमान उत्पन्न हुआ होगा[1]। कोई मनुष्य जिस किसी ग्रन्थ से गणित करता है उसके वशज और शिष्य भी प्राय उसी का अनुकरण करते है और इस प्रकार स्वभावत उनका उस ग्रन्थ और पक्ष के प्रति अभिमान बढता जाता है। कभी-कभी भिन्न पक्ष के अनुयायियो मे द्वेष भी हो जाता है। वस्तुत इन पक्षो में भेद इतना ही है कि उनके वर्षमान और ग्रहगतियो मे थोडी भिन्नता होने के कारण सूर्यसक्रान्ति मे कुछ घटियो का और अन्य ग्रहो के सक्रमण काल मे ग्रहो की शीघ्रमन्द गति के अनुसार कुछ दिनो का अन्तर पड जाता है। वस्तुत उन पक्षो के लिए तत्तत् सिद्धान्तो का आधार नाम मात्र का है, यह हम उन सिद्धान्तो के वर्णन मे दिखा चुके है। ज्योतिषियो को अपने समय मे वेध द्वारा ग्रहो मे जितना अन्तर दिखाई पडा उसे दूर करने के लिए उन्होने अपनी इच्छानुसार भिन्न भिन्न बीजसस्कारो की कल्पना की है अत किसी पक्ष विशेष का दुरभिमान करना व्यर्थ है।

पञ्चाङ्ग का गणित और प्रसिद्धि

मैंने इस प्रान्त मे छपा हुआ सबसे पुराना पञ्चाङ्ग शक १७५३ का देखा है। इससे अनुमान होता है कि महाराष्ट्र मे लगभग इसी समय से पञ्चाङ्ग छपने लगा था। बम्बई और पूना मे मराठी लिपि मे जितने पञ्चाङ्ग छपते है वे सब ग्रहलाघव और तिथि-चिन्तामणि से बनाये जाते है। तिथि, नक्षत्र और योग के घटी पल लघुचिन्तामणि से लाते है और शेप गणित ग्रहलाघव से करते है। कोकण प्रान्त मे लघुचिन्तामणि की अपेक्षा बृहत्चिन्तामणि का अधिक प्रचार है। उसके द्वारा लाये हुए तिथ्यादिको के

[1] इससे प्राचीन इसके तुल्य कोई ग्रन्थ अभी तक मुझे नहीं मिला है।

घटीपलो मे कुछ पलो का सूक्ष्मत्व रहता है। वम्बई और पूना के पञ्चाङ्गो में पलभा ४ और देशान्तर ४० योजन पश्चिम मानते है। बहुत दिनो तक प्राय मुद्रित पञ्चाङ्गो का गणित वसई के आवा जोशी मोवे करते थे। लगभग शक १७९८ से उनके पुत्र पाडुरंग आवा करने लगे थे। शक १८१८ से उनके पुत्र रामचन्द्र पाडुरग करते है। निर्णयसागर प्रेस का पञ्चाङ्ग बहुत दिनो से वसई के ही चिन्तामणि पुरुषोत्तम पुरन्दरे जोशी बनाते है। यह पञ्चाङ्ग और गणपत कृष्णाजी के प्रेस का पञ्चाङ्ग जिसे मोवे बनाते है, दोनो मे औरो की अपेक्षा विशेषता केवल इतनी ही है कि इनके कुछ पदार्थ दूसरो की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्म रहते है। वस्तुत बम्बई और पूना के छपे हुए सब पञ्चाङ्ग बिलकुल एक ही है और सम्पूर्ण महाराष्ट्र मे इनका प्रचार है, ऐसा कहने मे कोई आपत्ति नही है। बहुत से पुस्तक विक्रेताओ से मुझे पता लगा है कि बम्बई और पूना के पञ्चाङ्गो की खपत हैदराबाद राज्यनिवासी सभी महाराष्ट्र-भाषाभाषियो मे तथा सरहद पर के तैलगी और कर्नाटकी प्रान्तो में भी होती है। महाराष्ट्र में कुछ जिलो के मुख्य स्थानो मे कभी कभी पञ्चाङ्ग छपते है, वे भी ग्रहलाघवीय ही रहते है। बेलगाव और धारवाड मे छपे हुए पञ्चाङ्गो का व्यवहार वहा आसपास के प्रान्तो मे होता है, वे पञ्चाङ्ग भी ग्रह-लाघवीय ही है। बीजापुर और कारवार जिलो मे तथा मद्रास प्रान्त के बलारी जिले मे ग्रहलाघवीय ही पञ्चाङ्ग चलता है। मद्रास के अन्य कानडी जिलो में भी अनुमानत यही पञ्चाङ्ग चलता होगा। बरार और नागपुर प्रान्तो में भी ग्रह-लाघवीय पञ्चाङ्ग का ही व्यवहार होता है। इन्दौर और ग्वालियर राज्यो मे राज्य की ओर से अथवा राज्य के आश्रय से इस समय जो पञ्चाङ्ग छपते है और इसी कारण जो वहा प्राय या यो कहिये कि सर्वत्र प्रचलित है, वे भी ग्रहलाघवीय ही है। इस प्रकार जहा दक्षिणी लोगों का प्राबल्य है अथवा जहा उनकी बस्ती अधिक है उन सभी स्थानो में ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार होगा।

बम्बई के 'अखबारे सौदागर' प्रेस से गुजराती लिपि तथा गुजराती और सस्कृत भाषा में छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह बम्बई के मराठी पञ्चाङ्गो के बिलकुल समान है। बम्बई में छपे हुए और बम्बई में या अन्यत्र रहने वाले गुजराती लोगो में प्रचलित सभी पञ्चाङ्ग सभवत ऐसे ही होगे। नवसरी से हमारे एक मित्र लिखते है कि यहा केवल बम्बई के ही छपे हुए पञ्चाङ्ग चलते है। बम्बई के पञ्चाङ्गो का प्रचार सूरत में भी है। काठियावाड से हमारे एक मित्र लिखते है कि यहा बम्बई के छपे हुए मराठी या गुजराती पञ्चाङ्ग और अहमदाबाद के भी पञ्चाङ्ग चलते है। इसी मित्र ने अहमदाबाद के युनियन प्रिंटिंग प्रेस में देवनागरी लिपि और गुजराती तथा सस्कृत भाषा में छपा हुआ शक १८१० का एक पञ्चाङ्ग मेरे पास भेजा। उसके ग्रह

शुद्ध ग्रहलाघवीय हैं और तिथ्यादिक भी प्राय तिथिचिन्तामणि के ही हैं। बड़ौदा राज्य मे ग्रहलाघवीय ही पञ्चाङ्ग चलता है। अत यह कहने मे कोई आपत्ति नही है कि सभी गुर्जर प्रान्तो मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का ही प्रचार है।

पहिले बड़े बड़े नगरो (गावो) मे ज्योतिषी लोग पञ्चाङ्ग स्वय बनाते थे, आजकल भी कही कही बनाते हैं परन्तु इस समय मुद्रित पञ्चाङ्ग बहुत थोड़े मूल्य मे मिलने लगे हैं, इस कारण हस्तलिखित पञ्चाङ्ग प्राय लुप्त हो गये। पहिले अनेक ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे अत उस समय महाराष्ट्र और गुजरात मे ब्राह्म और आर्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग कुछ लोग बनाते रहे होगे। इसके प्रमाण भी मिलते हैं। एक ताजिकग्रन्थ की टीका मे विश्वनाथ दैवज्ञ का इस आशय का एक लेख है कि जिस पक्ष के मान मे कुण्डली बनाई हो, वर्षपत्रिका मे रवि उसी पक्ष का लेना चाहिए। मुहूर्तमार्तण्डकार का निवास-स्थान देवगढ (दौलताबाद) के पास था। उन्होंने क्षयमाससम्बन्धी एक उदाहरण मे ब्राह्म और आर्यपक्षीय सक्रान्ति और तिथि का गणित दिया है। इससे ज्ञात होता है कि उस प्रान्त मे इन पक्षो के पञ्चाङ्ग भी उनके सामने आया करते थे। हमारे नवसारी के मित्र ने लिखा है कि यहा ज्योतिषी ब्रह्ममानसारिणी द्वारा भी पञ्चाङ्ग बनाते हैं पर वे पञ्चाङ्ग छपते नही। कुछ अन्य प्रमाणो से भी गुजरात मे ब्राह्मपक्ष का प्राबल्य ज्ञात होता है। पञ्चाङ्ग छपने से यह हानि हुई है कि पचाङ्गनिर्माता ज्योतिषी दिनो दिन दुर्लभ होते जा रहे हैं परन्तु एक दृष्टि से यह लाभ भी हुआ है कि सर्वत्र एक प्रकार के पञ्चाङ्ग प्रचलित हो गये हैं।

मारवाड़ियो के यहा चडूपञ्चाङ्ग चलता है। उसमें पलभा (६) और देशान्तर जोधपुर के रहते हैं। बम्बई मे छपे हुए इस प्रकार के कुछ पञ्चाङ्ग मेरे पास हैं। उनमें सूर्य और उसकी सक्रान्तियाँ ब्राह्मपक्षीय हैं और अहर्गण भी दिया है। अहर्गण करण-कुतूहल का है पर उनमे एक लघु अहर्गण भी दिया रहता है। ग्रह करणकुतूहल के ग्रहो से नही मिलते। तिथ्यादिको में भी कुछ भिन्नता है। इससे ज्ञात होता है कि करणकुतूहल मे कुछ बीजसस्कार देकर इन्होंने कोई नया ग्रन्थ बनाया है और उसी से यह पञ्चाङ्ग बनाते हैं।

काशी, ग्वालियर और उत्तर भारत के अन्य भी अनेक प्रान्तो मे मकरन्द का अधिक प्रचार है। वहा मकरन्दीय पञ्चाङ्ग चलता है।

तैलगी लिपि मे मद्रास का छपा हुआ मेरे पास शक १८०९ का एक सिद्धान्त-पञ्चाङ्ग है। वह ३½ के लगभग पलभा मानकर बनाया गया है। इससे और पिछले पृष्ठो में लिखे हुए उसके वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रचार मद्रास के उत्तर तैलग प्रान्त में है। उसमें दिये हुए सूर्यसक्रान्तिकाल से उसका सूर्य सूर्यसिद्धान्ती

ज्ञात होता है। परन्तु शेष ग्रह ग्रहलाघवीय या मकरन्दीय पञ्चाङ्ग से नही मिलते। पता नही चलता, उनका आनयन किस ग्रन्थ से किया गया है। सभव है सूर्यसिद्धात में कोई दूसरा वीज-सस्कार देकर तदनुसार वे लाये गये है।

कोची में छपे हुए मेरे पास मलयाली लिपि के कुछ पञ्चाङ्ग है। उनमें शक १८०९ के पञ्चाङ्ग मे मेपसक्राति अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार को ८ घटी ५७ पल पर लगी है।

भिन्न भिन्न पक्षो के स्पष्ट मेपसक्रान्तिकाल मे सम्प्रति कितना अन्तर पडता है, इसे जानने के लिए यहा कुछ ग्रन्थो के मेपसक्रान्तिकाल लिखते हैं। यह मेपसक्रान्ति शक १८०९ में अमान्त चैत्र कृष्ण ५ भौमवार (१२ अप्रैल सन् १८८७) को उज्जयिनी के मध्यमोदय से निम्नलिखित घटी पलो पर हुई है।

	घटी	पल	
मूल सूर्यसिद्धान्त	१३	१८	
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	१५	१४	सौरपक्ष
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	७	३१	आर्यपक्ष
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	१०	२५	
राजमृगाक, करणकुतूहल	१०	४५	ब्राह्मपक्ष

ब्रह्मसिद्धान्तानुसार यह सक्रमण चैत्र कृष्ण ३ रविवार को ५४ घटी ४६ पल पर अर्थात् लगभग सवा दिन पूर्व आता है परन्तु पहले वता चुके है कि लगभग शक ९६४ से ही प्रत्यक्ष व्यवहार में ब्रह्मसिद्धात का उपयोग वन्द है। उपर्युक्त मलयाली पञ्चाङ्ग का सक्रान्तिकाल प्रथम आर्यसिद्धान्त से मिलता है। उसमें १ घटी २६ पल का अन्तर देशान्तर और चर के कारण पडा है। इससे सिद्ध होता है कि वह पञ्चाङ्ग आर्यपक्ष का है। उसके कुछ अन्य गृह करण प्रकाशीय ग्रहो से मिलते है[1], पर कुछ नही मिलते। मालूम होता है उनके वीजसस्कारो में कुछ भिन्नता है। कुछ अन्य प्रमाणो से भी इस वात की पुष्टि होती है कि मद्रास हाते के जिन प्रान्तो में मलयाली और तामिल भापाएं वोली जाती है वहा प्राय आर्यपक्ष ही प्रचलित है। सुनते है वहा वाक्यकरण नामक ग्रन्थ द्वारा पञ्चाङ्ग वनाते है। यद्यपि मैंने वह ग्रन्थ नही देखा है तथापि यह निश्चित

[1] यद्यपि मुझे मलयाली और तामिल लिपियो का पूर्ण ज्ञान नहीं है तथापि इन दोनो पञ्चाङ्गो को वड़ी सावधानी से पढ़कर मैंने उपर्युक्त वर्णन किया है। उसमें अशुद्धि नहीं है, इस वात का मुझे पूर्ण विश्वास है।

है कि वहा उस ग्रन्थ से अथवा आर्यसिद्धान्तानुकूल किसी अन्य ग्रन्थ से पञ्चाङ्ग बनाते हैं।

कलकत्ते का छपा हुआ एक पञ्चाङ्ग मेरे पास है। वह किस ग्रन्थ द्वारा बनाया गया है, इसका पता नही लगता पर उसमे वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय है। इससे ज्ञात होता है कि बगाल मे उस वर्षमान का प्रचार है।

पञ्चाङ्गकौतुक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि काश्मीर मे बहुत दिनो तक अर्थात् लगभग शक १५८० पर्यन्त खण्डखाद्यानुसार पञ्चाङ्ग बनाते थे और इस समय भी बनाते होगे परन्तु खण्डखाद्य आज तक अपने प्रारभिक रूप मे ही चला आ रहा है, यह बात नही है। टीका ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि उसमे अनेको बीजसस्कार दिये गये हैं। खण्डखाद्य से लाया हुआ सूर्यसक्रान्तिकाल मूलसूर्यसिद्धान्ततुल्य होता है और वह औरों की अपेक्षा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त द्वारा लाये हुए काल के विशेष सन्निकट होता है।

ग्रन्थप्राधान्य

इस समय सामान्यत ग्रहलाघव और तिथिचिन्तामणि का सबसे अधिक प्रचार है और उसके बाद मकरन्द का है। इन तीनो ग्रन्थो का वर्षमान वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का है। बगाल और तैलग प्रान्तो मे इसी वर्षमान का प्रचार है अर्थात् इस देश के लगभग ⅘ भाग मे यही वर्षमान चलता है। मारवाड मे ब्रह्मपक्ष का, द्राविड और मलाबार प्रान्तो में आर्यपक्ष का और काश्मीर मे मूल सूर्यसिद्धान्त का वर्षमान चलता है। जबकि पञ्चाङ्ग छपते नही थे, प्राय सर्वत्र बडे बडे ज्योतिषी पञ्चाङ्ग बनाते थे। सभव है, उस समय वे किसी अन्य पक्ष के भी पञ्चाङ्ग बनाते रहे हो पर सामान्यत उपर्युक्त व्यवस्था ही रही होगी और इस समय तो वही है। ज्योतिषसिद्धान्तकाल के आरम्भ से किस सिद्धान्तग्रन्थ, करणग्रन्थ और सारणीग्रन्थ का पञ्चाङ्गगणित मे कहा और किस समय प्राधान्य था, इसका वर्णन मध्यमाधिकार मे विस्तार पूर्वक कर चुके है।

दृक्प्रत्ययद नवीन पञ्चाङ्ग

सम्प्रति हमारे देश मे प्रचलित सब निरयण पञ्चाङ्गो से दृक्प्रतीति नही होती अर्थात् उनमें लिखी परिस्थिति आकाश में नेत्रो से प्रत्यक्ष दिखाई नही देती अत कुछ लोगो ने नवीन दृक्प्रत्ययद सूक्ष्म पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया है। यहा उन्ही का वर्णन करेगे।

केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी पञ्चाङ्ग—यह पञ्चाङ्ग शक १७८७ से छपता है। इसमें अक्षाश और रेखा बम्बई की है। कैलासवासी केरो लक्ष्मण छत्रे इनके कर्ता और

कैलासवासी आवा साहव पटवर्धन प्रवर्तक थे। आरम्भ मे कुछ दिनो तक छत्रे ने इनका गणित स्वय किया होगा। वाद मे उनकी देखरेख मे वमई के आवा जोशी सोधे करते थे। उनका स्वर्गवास हो जाने के वाद मे उनके वशज करते है। केरोपन्त के वाद उसका निरीक्षण उनके पुत्र नीलकठ विनायक छत्रे करते है। सुनते है, केरोपन्त के एक दूसरे पुत्र और कोई शिष्य भी कुछ गणित करते है। रत्नागिरि के जगन्मित्र प्रेस के मालिक जनार्दन हरि आठले की इस पञ्चाङ्ग पर वडी श्रद्धा है। शक १७९१ मे १८११ पर्यन्त वे इसे अपने व्यय से छापते थे। पहिले इसका नाम नवीन पञ्चाङ्ग था। इसके गणित का खर्च आवा साहव पटवर्धन देते थे। उन्हे यह विषय वडा प्रिय था। उन्होने तीन चार सहस्र रुपया व्यय करके कुछ यन्त्र भी मोल लिये थे और वे स्वय वेध करते थे। यद्यपि यह सत्य है कि इस पद्धति के कल्पक केरोपन्त है परन्तु आवासाहव प्रोत्साहन न देते तो इसका उदय न हुआ होता। पटवर्धन की स्मृति में शक १७९९ मे इसका नाम नवीन या पटवर्धनीय पञ्चाङ्ग रखा गया। शक १८१२ मे पूना के चित्रशाला प्रेस के मालिक वासुदेव गणेश जोशी इसे अपने व्यय मे छपाते है। पञ्चाङ्ग की विक्री कम होने के कारण उन्हे इसमें घाटा हुआ करता है। आठले और जोशी ने यदि छापना स्वीकार न किया होता तो यह पञ्चाङ्ग कभी का नष्ट हो चुका होता परन्तु किसी ने उनका प्रत्यक्ष आभार भी नही माना। इतना ही नही, वे अपने व्यय मे पञ्चाङ्ग छपाते है, यह बात किसी ने प्रकाशित तक नही की।

इस देश में प्रचलित अन्य पञ्चाङ्गो से केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे दो वाते भिन्न है। एक यह कि रेवतीयोगतारा (झीटापिशियम) शक ४९६ में सम्पात में था अत उस वर्ष अयनाश शून्य माना है और अयनगति वास्तविक अर्थात् लगभग ५०-२ विकला मानी है अत स्पष्ट है कि वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घटी २२पल ५३ विपल है। इस प्रकार प्रतिवर्षीय रेवतीयोगतारा और सम्पात के अन्तर को उस वर्ष का अयनाश माना है। शक १८१८ के आरम्भ मे अयनाश १८ अश १७ कला माना है[1]। दूसरी बात यह है कि इस पञ्चाङ्ग की ग्रहगतिस्थिति शुद्ध होने के कारण इसके ग्रहण ग्रहयुति इत्यादि आकाश मे ठीक मिलते है[2]। यह पञ्चाङ्ग नाटिकल

[1] झीटापीशियम की स्थिति के आधार पर अत्यन्त सूक्ष्म गणित करने से शक १८१८ के आरम्भ में अयनाश १८।१७।१० आता है। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग में १० विकला की अशुद्धि है।

[2] ग्रहो के उदयास्त में कभी-कभी अन्तर पड़ जाता है। उसका कारण दूसरा है। आगे उदयास्ताधिकार में उसका विवेचन किया है।

आल्मनाक से बनाया जाता है। चूँकि वह इगलिश पञ्चाङ्ग अत्यन्त सूक्ष्म दृक्प्रत्ययद होता है अत केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का भी वैसा होना स्वाभाविक है। आगे पञ्चाङ्गशोधनविचार मे इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है। केरोपन्त ने सस्कृत या मराठी मे ऐसा कोई ग्रन्थ नही लिखा है जिससे यह पञ्चाङ्ग बनाया जा सके। वेकटेश बापूजी केतकर ने हाल ही मे वैसा ग्रन्थ बनाया है।

दृग्गणितपञ्चाङ्ग—मद्रासनिवासी रघुनाथाचार्य[1] ने इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा शक १७९१ से यह पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ किया। यह द्राविड और तैलगी दोनो लिपियो मे छपता है। इससे ज्ञात होता है कि उन प्रान्तो मे इसका विशेष प्रचार है। इसे शिरिय (लघु) कहते हैं। मालूम होता है रघुनाथाचार्य अपने समय मे पेरिय (बृहत्) दृग्गणितपचाङ्ग बनाते थे। रघुनाथाचार्य के पुत्र वेङ्कटाचार्य का बनाया हुआ शक १८१८ (वर्तमान कलि ४९९८) का द्राविड लिपि मे छपा हुआ शिरिय सौर पञ्चाङ्ग हमारे पास है। उसमे शक १८१९ की मेषसक्रान्ति रविवार (११ अप्रैल सन् १८९७ ई०) को ५२ घटी ४३ पल पर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसक्रान्ति लगभग इसी समय आती है। बहुत थोडा अन्तर पडता है। इससे सिद्ध होता है कि इसमें सूर्यसिद्धान्तागत स्पष्टरवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए स्पष्ट सायन रवि के अन्तर तुल्य—शक १८१९ के आरम्भ मे २२।१५—अयनाश माना है। इसमें अक्षाश और रेखाश मद्रास के होगे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग——बापूदेव शास्त्री को सायन गणना मान्य है। सन् १८६३ के लगभग सायन गणना की शास्त्रीयता के विषय मे उन्होने इगलिश में एक निबन्ध लिखा था। वह छपा है। उससे ज्ञातहोता है कि उनके मत मे सायन पञ्चाङ्ग ही शास्त्रानुकूल है। यद्यपि उन्होने काशिराज के आश्रय द्वारा शक १७९८ से निरयण पञ्चाङ्ग छपाना आरम्भ किया है तथापि निरयण पञ्चाङ्ग को मानने वाली जनता के केवल सन्तोषकेलिए ही उन्होंने ऐसा कियाहै क्योकि पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना मे लिखा हैं—

> महाराजाधिराजद्विजराज श्री ५ मदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहबहादुराख्येन श्रीकाशीनरेश आदिष्ट पञ्चाङ्गकरणे प्रवृत्तोऽहम्। भवति यद्यप्यत्र सायनगणनैव मुख्या तथाप्यस्मिन् भारतवर्षे सर्वत्र निरयनगणनाया एव प्रचारात् सामान्यजन-प्रमोदायेद तिथिपत्र निरयनगणनयैव व्यरचयम्।

[1] चिन्तामणि रघुनाथाचार्य का उपनाम है। नटेश शास्त्री के लेख से ज्ञात होता है कि वे काञ्ची से द मील पूर्व कावाडलम् नामक गाँव में रहते थे।

बापूदेव शास्त्री का पञ्चाङ्ग इगलिश नाटिकल आल्मनाक से बनता है। उसमे अक्षाश और रेखा काशी की है। उन्होने लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो द्वारा लाये हुए रवि और सूक्ष्म सायन रवि के अन्तर तुल्य इसमे अयनाश माना है। नाटिकल आल्मनाक के सायन रवि और अपने पञ्चाङ्ग के निरयण रवि की तुलना करते हुए इन्होने शक १८०६ में अयनाश लगभग २२ अश १ कला माना है। उस वर्ष सूर्यसिद्धान्तानुसार अमान्त चैत्र कृष्ण १ शुक्रवार को काशी के स्पष्ट सूर्योदय से ३० घटी २६ पल पर मेष सक्राति आती है पर बापूदेवशास्त्री के पञ्चाङ्ग मे उसी दिन ३१ घटी १२ पल पर अर्थात् सूर्यसिद्धान्त से ४६ पल आगे है। अन्य भी किसी सिद्धान्त से यह काल नही आता। इससे सिद्ध होता है कि उन्होने सूर्य अन्य किसी ग्रन्थ का नही बल्कि सूर्यसिद्धान्त का ही लिया है। उसमे ४६ विकला की अशुद्धि होगी। केरोपन्त से बापूदेवशास्त्री का वादविवाद हुआ था, उस सम्बन्ध मे उन्होने पूना के ज्ञानप्रकाश पत्र के १४ जून सन् १८८० के अङ्क में एक लेख दिया था। उसमे लिखा था कि सूर्य सूर्यसिद्धान्त का ही लेना चाहिये परन्तु मध्यम। उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्तागत मेषसक्रान्तिकाल में नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि २२।०।३१ आता है अत अयनाश इतना ही मानना चाहिए पर शास्त्रीजी ने २२।१।० माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने पञ्चाङ्ग मे मध्यम रवि का नही बल्कि स्पष्ट रवि का ही अन्तर स्वीकार किया है। बापूदेव शास्त्री के बाद उनके शिष्यो ने पञ्चाङ्ग बनाने का काम जारी रखा है।

अन्य पञ्चाङ्गो से बापूदेव शास्त्री के पञ्चाङ्ग में भिन्नता केवल इसी एक बात की है कि वह नाटिकल आल्मनाक से बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहगतिस्थिति शुद्ध अर्थात् दृक्प्रत्ययद होती है। अयनाश में थोडा अन्तर है पर वह नही के बराबर है। सूर्यसिद्धान्तागत रवि और नाटिकल आल्मनाक के रवि के अन्तर तुल्य अयनाश मानने से वर्तमान सूर्यसिद्धान्तीय मानने सरीखा ही होता है। आगे पञ्चाङ्गशोधन-विचार में इस पञ्चाङ्ग का विस्तृत विवेचन किया है।

अन्य सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग

इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले मैने दो और सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग देखे है। तजौर प्रान्त के तिरुवादि स्थाननिवासी सुन्दरेश्वर श्रौती और वेकटेश्वर दीक्षित शक १७९८ से तामिल लिपि मे एक सूक्ष्म सौर पञ्चाङ्ग बनाते है। उसमें शक १८१५ के आरम्भ मे अयनाश २२।१० अर्थात् लगभग रघुनाथाचार्य के पञ्चाङ्ग तुल्य ही माना है। उस वर्ष मेषसक्राति भौमवार को ५१ घटी ३१ पल पर लगी है।

मालूम होता है तिरुवादि मे ज्योतिस्तन्त्रसभा नाम की कोई सभा स्थापित हुई थी। उसके अध्यक्ष चिदम्बरम् ऐयर ने सन् १८८३ ई० मे Hindu Zodiac नामक एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। उसमे उन्होने लिखा है कि उपर्युक्त पञ्चाङ्ग कुभकोणस्थ शकराचार्य की आज्ञानुसार बनता है।

राजपूताने मे खेतडी नाम की रियासत है। वहा के राजा अजितसिह की आज्ञा से रुद्रमल्ल नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ अजितप्रकाश नामक शक १८१८ का पञ्चाङ्ग मैने देखा है। मालूम होता है, यह इसी वर्ष से बनने लगा है। इसमे वर्ष के आरम्भ मे अयनाश २२। ११ माना है। यह नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाया जाता है। इसमे अक्षाश और रेखा खेतडी की है। अक्षाश २८ और कालात्मक देशान्तर उज्जयिनी से पश्चिम ३ पल दिया है।

सायन पञ्चाङ्ग

जिस दिन से दिनमान घटने या बढने लगता है वस्तुत उसी दिन से क्रमश उत्तरायण और दक्षिणायन का आरम्भ होता है और यह बात आकाश मे भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है पर ऐसा होते हुए भी हमारे देश मे प्रचलित आजकल के पञ्चाङ्गो मे अयनप्रवृत्ति उस दिन नही लिखी रहती। हमारे पञ्चाङ्गकार मकर और कर्क सक्रान्तियाँ लगभग २२ दिन बाद लिखते है। साधारण मनुष्य को भी शङ्का होगी कि वास्तविक परिस्थिति के विपरीत ऐसा क्यो किया जाता है। इस शङ्का की उत्पत्ति और उसके समाधानार्थ किये हुए सशोधन का फल आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग है। इसके जन्मदाता तीन है। लेले, जनार्दन बालाजी मोडक और मैं। इन प्रत्येक के मन मे सायन-पञ्चाङ्ग की कल्पना स्वय उद्भूत हुई। इनमें से आधुनिक सायन पञ्चाङ्ग के मुख्य उत्पादक विसाजी रघुनाथ लेले है। जब कि केरोपन्त छत्रे ने आबासाहब पटवर्धन की सहायता से पञ्चाङ्ग के सुधार का कार्य और उसे छपाना आरम्भ किया उस समय लेले ने यह सोच कर कि पञ्चाङ्ग मे आधे की अपेक्षा पूर्ण सुधार करना उत्तम है और यह कार्य केरोपन्त द्वारा होने योग्य है, शक १७९४ ने इन्दुप्रकाश नामक समाचारपत्र द्वारा केरोपन्ती पञ्चाङ्ग पर आक्षेप करना आरम्भ किया। पहिले उन्होंने गोविन्दराव सखाराम द्वारा इन्दुप्रकाश मे—यदि पञ्चाङ्ग का सुधार करना है तो वर्तमान सायन लेना चाहिए इत्यादि—सूचना दिलाई। केरोपन्त ने उसका उत्तर यह दिया कि निरयन पञ्चाङ्ग को माननेवाला मै अकेला नही हूँ। काशी मे [illegible] उसका प्रचार है अत आपको आक्षेपो का उत्तर अवश्य मिलेगा। यदि किसी ने नही दिया तो मै स्वय उत्तर दूँगा। इसके बाद कई वर्ष तक उन्होंने उत्तर नही दिया। तब भी लेले इन्दुप्रका[illegible]

अभियोगी नाम धारण कर समाचार पत्रो द्वारा बार बार उसकी चर्चा करते ही रहे। उन्हे आशा थी कि केरोपन्त या मुँह से सायन गणना को शास्त्रीय कहने वाले बापूदेव शास्त्री मे से कोई सायन पञ्चाङ्ग बनाना आरम्भ करेगा। उनकी प्रबल इच्छा थी कि वे यह श्रेय ग्रहण करें पर उसके विपरीत बापूदेव का निरयण पञ्चाङ्ग छपने लगा। सन् १८८० के लगभग ज्ञानप्रकाश पत्र द्वारा बापूदेव शास्त्री और केरोपन्त का इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ कि निरयण पञ्चाङ्ग मे वर्षमान और अयनाश कितना लेना चाहिए। उस समय लेले ने दोनो से सायनपञ्चाङ्ग स्वीकार करने की प्रार्थना की पर वह व्यर्थ हुई। केरोपन्त ने उन्हे यह उत्तर दिया कि ऋतुओ के विषय मे सायनगणना ठीक है पर मुझेसायन पञ्चाङ्ग बनाना पसन्द नही। केरोपन्त अपने पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना मे लिखते हैं कि मैने पटवर्धनी पञ्चाङ्ग इस उद्देश्य से आरम्भ किया जिसमे धर्मशास्त्रोक्त कर्म ठीक समय पर हो लेकिन लेले को दिये हुए उपर्युक्त उत्तर में उनके कुछ ऐसे उद्गार निकले हैं जिनसे धर्मशास्त्र का तिरस्कार सा होता है। इस कारण लेले ने उनमे शास्त्रार्थ करना छोड दिया। उस समय और उसके बाद भी लेले, मोडक और मैंने थाना के अरुणोदय नामक समाचारपत्र मे सायनपञ्चाङ्ग सम्बन्धी अनेक लेख लिखे। उस पत्र का आश्रय मिल जाने से शक १८०४ और १८०५ मे उस पत्र के साथ सायनपञ्चाङ्ग का एक एक पक्ष प्रकाशित हुआ। उसके बाद कृष्णराव रघुनाथ भिडे के प्रयत्न मे तुकोजीराव होलकर का आश्रय प्राप्त हुआ और शक १८०६ से स्वतन्त्र सायन पञ्चाङ्ग छपने लगा। पर शक १८०८ में तुकोजी महाराज कास्वर्गवास हो जाने के कारण वह आश्रय चार ही वर्ष रहा और उस समुदाय मे भिडे ऐसा प्रयत्नशील अन्य कोई व्यक्ति न होने के कारण दूसरा भी आश्रय नही मिला। फिर भी लेले ने शक१८१० मे आरम्भ कर तीन चार साल प्राय अपने व्यय से पञ्चाङ्ग छपाया। शक १८१३ मे आरम्भ कर इधर चार वर्षो मे मैं प्राय स्वकीय व्यय से छपा रहा हूँ। शक १८११ के अन्त में जर्नादन बालाजी मोडक का और शक १८१७ मे लेले का देहावसान हुआ। शक १८१८ के पञ्चाङ्ग के पक्ष थाने के अरुणोदय पत्र के कर्ता उसके साथ साथ छपाते हैं। इस पञ्चाङ्ग का गणित प्रथम वर्ष लेले ने किया। शक १८०५ का गणित तीनो ने मिल कर किया और उसके बाद १३ वर्षो से गणित तथा उस पञ्चाङ्ग सम्बन्धी अन्य सब कार्य मैं करता हूँ। पटवर्धनी पञ्चाङ्ग की तरह इसके गणित का पारिश्रमिक कोई नही देता। इतना ही नही, पञ्चाङ्ग की बिक्री कम होने के कारण उसे छपाने के व्यय की व्यवस्था भी हमी को करनी पडती है।

द्वारका के शारदामठ के अधिपति श्रीजगद्गुरु शकराचार्य शक १८१५ मे नासिक आये थे। उस समय विसाजी रघुनाथ लेले ने उन्हे ग्रहलाघवीय, पटवर्धनी,

बापूदेवकृत और सायन पञ्चाङ्ग दिखाये और उनसे यह निर्णय करने की प्रार्थना की कि इनमें से कौन सा ग्राह्य है। जगद्गुरु ने साधक बाधक सब बातो का विचार करके भारतीय सम्पूर्ण जनता को सायन पञ्चाङ्ग ग्रहण करने की आज्ञा दी। उस आज्ञापत्र को यहा उद्धृत करते है।

श्रीशारदाम्बा विजयतेतराम

श्रीमत्परमहस परिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासन-प्राणयामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टागयोगानुष्ठाननिष्ठतपश्चर्याचरण चक्रवर्त्य-नाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तषण्मतस्थापनाचार्यसाख्यत्रयप्रतिपादक वैदिकमार्गप्रवर्तक निखिलनिगमागमसारहृदयश्रीमत्सुधन्वन. साम्राज्यप्रतिष्ठापनाचार्य श्रीमद्राजाधिराज-गुरुभूमण्डलाचार्य चातुर्वर्ण्यशिक्षकगोमतीतीरवासश्रीमद्द्वारकापुरवराधीश्वरपश्चि-माम्नाय श्रीमच्छारदापीठाधीश्वर श्रीमत्केशवाश्रमस्वामिदेशिकवरकरकमलसञ्जात-श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमद्राजराजेश्वरशंकराश्रमस्वामिभि शिष्यकोटिप्रविष्टान् निरवद्यवैदिकराद्धान्तश्रद्दधानचेत साम्राज्यसमलकृतानशेषभरतखण्डसदायतनविद्व-द्वरान् प्रति प्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुसधाननियतनारायणस्मरणससूचिताशिषस्समुल्लसन्तुतराम् जगद्गुरूणा महेश्वरापरावतार श्रीमच्छकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामादिमैकान्तिका-स्थानद्वारकास्थ श्रीमच्छारदापीठगोचरा भक्तिरनवविकश्रेयोनिदानमिति सार्वज-नीनमेतत्। साम्प्रत भगवत्या शारदाया लश्करनगरी ग्वालियरसन्निहिताज्ञीज-नपदसमावेशवासरविशेषमुपक्रम्याप्रस्थितेर्लश्करप्रस्थात् प्रज्ञापितसायननिरयणभेदभि-न्नप्रक्रियातिशयसमास्पदीभूतप्रक्रमभरवुभुत्सापरायन्तस्वान्तेन लेले इत्युपाभिधान-विसाजीरघुनाथशर्मणा तन्नगरीनिकेत- नेनानुपदमर्म्यर्हितामभ्यर्थनामुररीकुर्वाणैर्विगा-नविशेषपरामृष्टप्रत्ययसन्धानैरिदमत्रास्माभिरवधार्यते

तथा हि—

जगद्गुरुसस्थान की ओर से अभ्यनुज्ञा है। श्रीमच्छकरभगवत्पूज्यपादाचार्याणामवतार-शकाब्दा २३६२ मिति फाल्गुन शुक्ल २ स्थिरवार सवत् १९४९ मु० लश्कर ग्वालियर।" (दोनों आज्ञापत्रो की मूल प्रतियाँ लेले के पास है)। प्राचीन पञ्चाङ्ग औरसायनपञ्चाङ्गो मे अन्तर दो बातो का है। पहिली बात तो यह है कि सायनपञ्चाङ्ग का वर्षमान भिन्न रहता है और उसमे अयनाश सदा शून्य रहता है। दूसरे वह इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा अथवा Connaissance des Temps (काल-ज्ञान) नामक फ्रेंच पञ्चाङ्ग के आधार पर बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है।

इसमें अक्षाश और रेखा उज्जयिनी की है।

पञ्चाङ्ग शोधन विचार

सम्प्रति इस देश के प्राय सभी प्रान्तो में प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो के ग्रहगति-स्थिति प्रभृति पदार्थ अनुभवविरुद्ध होते है अत उन पञ्चाङ्गो का सशोधन आवश्यक है। गत ३० वर्षो मे जो ६ नये सूक्ष्म पञ्चाङ्ग निकले है, जिनका वर्णन अभी किया गया है, उनमें एक सायन और पाच निरयण है। सब निरयण पञ्चाङ्गो के अयनाश समान नही है। मेरा मत यह है कि पञ्चाङ्ग निरयण नही बल्कि सायनपद्धति का बनना चाहिए। यहाँ इस बात का विवेचन करेगे।

लक्षण

नाक्षत्र (निरयण) वर्ष और साम्पातिक (सायन) वर्ष की परिभाषा ऊपर लिख चुके है। साम्पातिक सौरवर्ष की अपेक्षा नाक्षत्र सौरवर्ष लगभग ५१ पल अधिक होता है परन्तु हमारे सब ज्योतिष ग्रन्थो मे वर्णित वर्ष साम्पातिक वर्ष से लगभग ६० पल बडा है। आकाश मे ग्रहो की स्थिति बताने के लिए एक आरम्भस्थान मानना आवश्यक है। हमारे ज्योतिष ग्रन्थो का आरम्भ स्थान शक ४४४ के लगभग वसन्त-सम्पात में था। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान सायन वर्षमान से लगभग ६० पल अधिक होने के कारण वह आरम्भस्थान वसन्तसम्पात से प्रतिवर्ष लगभग ६० विकला[1] आगे जा रहा है। सम्पात से उस आरम्भस्थान तक के अन्तर को अयनाश कहते है। सम्पात-गति का ज्ञान प्रथम अयनचलन द्वारा हुआ। जितना अश अयनचलन हुआ होगा उसी

[1] सूर्यसिद्धान्तीय वर्षमान के अनुसार सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि ५८ विकला आगे जा रहा है। पीछे अयनचलन में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

को अयनचलनाश किंवा अयनाश कहा होगा । उस अयनचलन को ही बाद मे सम्पात चलन कहने लगे। सम्पात को आरम्भस्थान मान कर वहा से ग्रहस्थिति की गणना करने से अयनाश भी उसके भीतर आ जाते है, अत वह ग्रहस्थिति सायन कही जाती है और हमारे ज्योतिषग्रन्थो में बताये हुए आरम्भ स्थान से परिगणित ग्रहस्थिति मे अयनाश नहीं आते, अत उसे निरयण (अयनाश-विरहित) कहते है ।

अयनाशविचार

ग्रहलाघवानुसार शक १८०९ मे अयनाश २२ । ४५ आता है । ब्राह्मपक्ष के राजमृगाक इत्यादि ग्रन्थो से और आर्यपक्षीय करणप्रकाश से २२ । ४४ आता है। सूर्यसिद्धान्तानुसार २० । ४९ । १२ आता है । मकरन्दी और बगाल के पञ्चाङ्गो मे भी अनुमानत इतना ही मानते है । पूर्व-वर्णित तैलगी सिद्धान्तपञ्चाङ्ग मे सब सायन सक्रान्तियाँ लिखी रहती है । उनके आधार पर गणित करने से ज्ञात होता है कि उसमे भी प्राय इतना ही माना है परन्तु २२ । ४४ या २२ । ४५ मानने मे जो अशुद्धि है उसकी अपेक्षा इसमे अधिक है । मद्रास प्रान्त के मलयाली और तामिल भागो मे ग्रहलाघव तुल्य ही अयनाश माने जाते है। पञ्चाङ्गकौतुकादि ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि काश्मीर में भी लगभग ग्रहलाघव तुल्य ही मानते है । मेषसक्रान्ति से सौरवर्ष आरम्भ होता है अत जैसा कि पहले अयनचलनविचार में बताया है, किसी भी ग्रन्थ मे जिस समय स्पष्ट निरयण मेषसक्रान्ति आती है उस समय वेध द्वारा जो स्पष्ट सायन रवि आता है, उस ग्रन्थ द्वारा बनाये हुए निरयण पञ्चाङ्ग में उतना ही अयनाश मानना चाहिए । ऐसा करने से अयन और विषुव दृक्प्रत्ययद होगे । भिन्न भिन्न ग्रन्थो द्वारा लाये हुए शक १८०९ के स्पष्टमेषसक्रान्तिकाल पहले लिख चुके है । उन समयो मे फ्रेंच आल्मनाक या इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा सायन रवि लाने से ज्ञात हुआ कि उन ग्रन्थो के वर्षमान लेने है तो अयनाश निम्नलिखित मानने चाहिए ।[1]

[1] यदि रवि मध्यम लेना है तो शक १८०९ में वर्तमान सूर्यसिद्धान्तीय अयनांश २२।१८।४४ मानना चाहिए और तदनुसार औरो का अधिक मानना चाहिए।

शक १८०९ के अयनांश—	अंश	कला	विकला
मूल सूर्यसिद्धान्त	२२	१	२७ ६
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त	२२	३	२१ ३
प्रथम आर्यसिद्धान्त, करणप्रकाश	२१	५५	४७ ८
द्वितीय आर्यसिद्धान्त	२१	५८	३८ २
राजमृगांक, करणकुतूहल	२१	५८	५७ ८

ग्रहलाघव में वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का रहते हुए शक १८०९ में अयनांश २२।४५ आता है परन्तु वह—जैसा कि ऊपर लिखा है—२२।३ होना चाहिए अर्थात् उसमें लगभग ४२ कला की अशुद्धि है। उस मान से ग्रहलाघवीय सायनरवि और नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए सायन रवि में अन्तर पड़ता है।[1]

बापूदेवशास्त्री नाटिकल आल्मनाक से पञ्चाङ्ग बनाते हैं और वे भास्कराचार्यादि कथित पद्धति के अनुसार मेषसङ्क्रान्तिकालीन सिद्धान्तागत रवि और सायन रवि के अन्तरतुल्य अयनांश मानते हैं। तदनुसार शक १८०९ के उनके पञ्चाङ्ग का अयनांश—जिस प्रकार मैंने ऊपर रखा है—सूक्ष्म अर्थात् लगभग २२।४ है। केरोपन्त ने सम्पात से रेवती तारे तक के अन्तर को अयनांश माना है। उनके पञ्चाङ्ग में अयनांश तदनुसार—शक१८०९ में १८।१८—है। सायनपञ्चाङ्ग में सम्पात ही को आरम्भस्थान मानते हैं अतः उसमें अयनांश की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गों में से शेष तीन में शक १८०९ में अयनांश लगभग २२।३ है और वह ठीक ही है।

सायन और निरयण पञ्चाङ्गों का स्वरूप

यह वृत्त क्रान्तिवृत्त है। व इसमें वसन्तसम्पात और त तुलासम्पात या शारदसम्पात है। र रेवती तारे का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह व में लगभग १८ अंश २६ कला दूर है। र विन्दु स्थिर है। उ और द उत्तरायण तथा दक्षिणायन

[1] पहले अयन विचार में बता चुके हैं कि सूर्यसिद्धान्तीय वर्ष और सायन वर्ष के अन्तर तुल्य काल में सायन रवि की गति ५८ ८ होती है अतः अयनगति ५८ ८ या ५८ ६ विकला माननी चाहिए। यह सूक्ष्म है। ५८ ७ गति मानकर उपर्युक्त शक १८०९ के अयनांश द्वारा विलोम गणित करने से सूर्यसिद्धान्त का शून्यायनांश वर्ष शक ४५७ आता है। पहले ४५० लाया गया है। उसका कारण यह है कि कालान्तर संस्कार और फलसंस्कार में समयानुसार अन्तर पड़ता रहता है।

के आरम्भ विन्दु हैं। सम्पात और अयनविन्दु उलटा चलते हैं। ये चारो विन्दु प्रतिवर्ष लगभग ५० विकला पीछे खिसक जाया करते हैं। हमारे ग्रन्थो का वर्षमान यदि शुद्ध
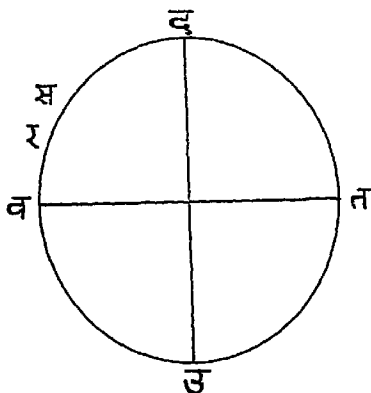
नाक्षत्रसौरवर्ष तुल्य होता तो स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय प्रतिवर्ष सूर्य र विन्दु में आ जाया करता पर हमारा वर्षमान ८ ६ पल बडा है अत वर्षारम्भस्थान र विन्दु से प्रतिवर्ष लगभग ८ ५ विकला आगे बढता रहता है। स विन्दु सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थो की स्पष्ट मेषसक्रान्ति के समय के सूर्य का वर्तमान (लगभग शक १८१८ का) स्थान है। यह शक १८१८ के आरम्भ मे व से २२ अश १२ कला दूर है। यह विन्दु स्थिर नही है। साराश यह कि व विन्दु र से ५० २ विकला प्रतिवर्ष पीछे हटता रहता है और स विन्दु ८ ५ विकला आगे बढता है।

सम्पात को आरम्भस्थान मान कर क्रान्तिवृत्त के जो १२ समान भाग किये जाते है उन्हे सायनराशि और जो समान २७ विभाग किये जाते हैं उन्हें नक्षत्र कहते हैं।[1]

[1] कुछ लोगो का आक्षेप है कि राशि, नक्षत्र, मास और पञ्चाङ्ग में सायन विशेषण लगाना अनुचित है। परन्तु ग्रहों (ग्रहस्थिति) में सायन विशेषण लगाया जाता है, भास्कराचार्य इत्यादिको ने भी लगाया है अत सायन ग्रहस्थिति सम्बन्धी राशिनक्षत्रो को भी सायन कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार सायन गणना

सम्पात चल होने के कारण सायनराशि और नक्षत्र चल है। रेवती या किसी अन्य तारे को आरम्भस्थान मानकर क्रान्तिवृत्त के जो १२ भाग किये जाते हैं उन्हे स्थिर या निरयण राशि और जो २७ भाग किये जाते हैं उन्हे स्थिर या निरयण नक्षत्र कहते हैं। (ये स्थिर चार सज्ञाए हमारे ग्रन्थो मे हैं।) इससे सायननिरयण पञ्चाङ्ग के लक्षण और स्वरूप का ज्ञान होगा। केरोपन्तीय पञ्चाङ्ग शुद्ध निरयण है। बापूदेव शास्त्री के पञ्चाङ्ग और हमारे ज्योतिष ग्रन्थो द्वारा बनाये हुए अन्य पञ्चाङ्गो के वर्षमान वास्तव निरयणवर्ष तुल्य नही है परन्तु उनमे अयनाश वर्षमान के अनुसार माने गये है। इस कारण उनकी ग्रहस्थिति अयनाशविरहित ही रहती है अत उन्हें निरयण पञ्चाङ्ग और उनके राशिनक्षत्रो को निरयण राशिनक्षत्र कह सकते है। उनका वर्षमान वास्तव नाक्षत्रवर्ष से किंचित् अधिक होने के कारण उनका आरम्भस्थान स्थिर नही रहता परन्तु सब सिद्धान्तो को उसका स्थिर होना ही अभिलषित है क्योकि उनमे नक्षत्र-भोग स्थिर माने हैं। उनमे कभी परिवर्तन नही होता अत. हमारे सिद्धान्तग्रन्था-भिमत आरम्भस्थान से जो १२ और २७ भाग माने है वे भी स्थिर राशि और नक्षत्र है।

प्रत्येक पद्धति से शुद्ध ग्रहस्थिति लाई जा सकती है

उपर्युक्त ६ सूक्ष्म पञ्चाङ्गो मे प्राचीन पञ्चाङ्गो से एक भिन्नत्व यह है कि इनकी ग्रहगतिस्थिति दृक्प्रत्ययद होती है। पहिले इसीका विचार करेगे। पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, वह ग्राह्य तभी होगा जब कि उसमे लिखे हुए ग्रहणकाल, दो ग्रहो के युतिकाल, ग्रहनक्षत्रयुतिकाल एव ग्रहस्थान अर्थात् अमुक ग्रह अमुक समय नलिका द्वारा अमुक स्थान मे दिखाई देगा इत्यादि पदार्थ कथित प्रकार से आकाश मे दिखाई दे। इनका यथार्थ अनुभव होने के लिए पञ्चाङ्गगणित में दो बातें बिलकुल शुद्ध होनी चाहिए। यदि हमे मालूम है कि अमुक मनुष्य अमुक समय पूना में था और वह अमुक गति से बम्बई की ओर जा रहा है तो हम बता सकेगे कि वह अमुक समय बम्बई पहुचा रहेगा और हमारे कथन का ठीक अनुभव होगा। इसी प्रकार यदि किसी ग्रह का किसी

अथवा सायन ग्रहो के आधार पर विरचित पञ्चाङ्ग को भी लाघवार्थ सायन पञ्चाङ्ग कहना कभी भी आक्षेपार्ह नहीं हो सकता। यह एक पारिभाषिक शब्द है। सायन पञ्चाङ्ग के सम्बन्ध में इन्दौर में एक बार शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें एक तर्क यह भी निकला था कि सायन बहुव्रीहि समास अर्थात् गौण है अत सायन पञ्चाङ्ग भी गौण है। सायन पञ्चाङ्ग शब्द को अशुद्ध कहना भी वैसा ही है।

समय का निश्चित स्थान और उसकी वास्तविक गति मालूम हो तो हम ठीक-ठीक बता सकेंगे कि वह अमुक समय अमुक स्थान मे रहेगा, उसके प्रथम स्थान की गणना चाहे जहा से की गई हो। ऊपर के क्षेत्र मे मान लीजिये व बिन्दु से र बिन्दु १८ अश पर, स बिन्दु २२ अश पर और द बिन्दु ९० अश पर है। सूर्य किसी दिन प्रात काल व बिन्दु में था। वह प्रतिदिन एक अश की गति से द बिन्दु की ओर जा रहा है तो वह व से चलकर ९० दिन मे और र से ७२ दिन में तथा स से ६८ दिन में द बिन्दु पर पहुचेगा। इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नही हो सकती। व को आरम्भस्थान और जिस समय सूर्य व बिन्दु में आवे उसे वर्षारम्भ-काल मानें तो कहना पडेगा कि वह वर्षारम्भ से ९० दिनो में द स्थान पर पहुचेगा। र को आरम्भस्थान माने तो वर्षारम्भ से ७२ दिनो में और स को आरम्भस्थान मानने मे ६८ दिनो में वह द पर पहुचेगा। यद्यपि यहा आरम्भस्थान और उनमें आने के काल भिन्न भिन्न दिखाई देते है तथापि द बिन्दु की भाति सूर्य किसी भी अभीष्ट स्थान मे तीनो पद्धतियो से एक ही समय पहुचेगा। यहा व बिन्दु सायनमान का आरम्भस्थान है। र केरोपन्तीय शुद्ध निरयण और स बिन्दु परम्परागत निरयण मान का आरम्भ स्थान है। इससे यह स्पट हो जाता है कि पञ्चाङ्ग चाहे जिस पद्धति का हो, जिस ग्रन्थ मे वह बनाया जाता है उसकी ग्रहगति और आरम्भकालीन ग्रहस्थिति शुद्ध रहने पर उस पञ्चाङ्ग द्वारा सर्वदा दृक्प्रत्ययद स्थिति आवेगी। आरम्भस्थान मे परिवर्तन न करते हुए, हमारे ग्रन्थो की ग्रहगतिस्थितिया शुद्ध नही है। उन्हे शुद्ध करने के लिए हमारे ज्योतिपी तैयार होगे और है। उन्हें कम से कम इतनी ग्रन्थशुद्धि अवश्य करनी होगी, इसे प्रत्येक मनुष्य सभवत स्वीकार करेगा। ग्रहण, ग्रहयुति, ग्रहास्तोदय आकाशस्थ दो पदार्थो के अन्तर पर अवलम्बित है अत आरम्भस्थान कोई हो, यदि ग्रहगति-स्थिति शुद्ध है तो ये पदार्थ अवश्य दृक्प्रत्ययद होगे। बहुत से लोग समझते है और इस विषय का यथार्थ ज्ञान होने के पूर्व मै भी समझता था कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग का ग्रहण आकाश में यथोक्त समय पर दिखाई देता है अत वह शुद्ध है। उस पञ्चाङ्ग का ग्राह्यत्व सिद्ध करने के लिए यही मुख्य प्रमाण आगे रखा जाता है (उस पञ्चाङ्ग की प्रस्तावना देखिए)। अज्ञो को बहकाने का यह अच्छा साधन है। सायन पञ्चाङ्गकार इस बात को विशेष महत्त्व नही देते। उनका कथन है, जैसा कि शक १८०७ के सायनपञ्चाङ्ग की भूमिका मे लिखा है कि निरयणपद्धति अशास्त्रीय और सायनपद्धति शास्त्रविहित है अत सायन ही पञ्चाङ्ग मानना चाहिए। सूक्ष्म ग्रहस्थिति लाने का साधन न हो तो कम से कम ग्रहलाघव से ही सायन पञ्चाङ्ग बनाना चाहिए। लोगो का एक कथन यह है कि केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे नक्षत्रो की ठीक सङ्गति लगती है पर यह सर्वथा सत्य नही

है। सम्प्रति प्रचलित पञ्चाङ्गो के आरम्भ को भी स्थिर मानकर नक्षत्रो की सङ्गति लगाने की व्यवस्था की जा सकती है। इसका विशेष विवेचन आगे करेंगे। यहा इतना ही कहना है कि आरम्भस्थान चाहे जो हो, ग्रहगति यदि शुद्ध होगी तो ग्रहस्थिति भी दृक्प्रत्ययद होगी। प्राचीन पञ्चाङ्गो से नवीन पञ्चाङ्गो मे जो ग्रहगतिस्थिति-शुद्धता नामक भिन्नत्व है वह सभी के मत मे ग्राह्य है।

ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो की वास्तविक अशुद्धि

हमारे देश मे प्रचलित ग्रहलाघवीय इत्यादि पञ्चाङ्गो के तिथ्यादि और ग्रहो में वास्तविक अशुद्धि कितनी रहती है, यह जानना आवश्यक है। यहा उसीका विवेचन करेंगे। उपर्युक्त केरोपन्ती इत्यादि पाच सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग और सायन पञ्चाङ्ग सम्प्रति इगलिश नाटिकल आल्मनाक या फ्रेंच कानेडिटेम (कालज्ञान) से बनाये जाते हैं। परन्तु उनमें से प्रत्येक का आरम्भस्थान एक दूसरे से और ग्रहलाघव के आरम्भस्थान से भिन्न है, अत ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ज्ञान केवल उनसे तुलना करने से नही होगा, यह बात उपर्युक्त क्षेत्रसम्बन्धी वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। शक १८०८ के सायनपञ्चाङ्ग मे ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग भी जोड दिया है और उसी मे सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग नामक एक तीसरा पञ्चाङ्ग भी दिया है। उनमे से ग्रहलाघवीय और सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्गो का फाल्गुन शुक्ल पक्ष इस पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट मे उद्धृत किया है। सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग में अयनाश ग्रहलाघव इतना ही (शक १८०८ मे २२।४४) लिया है। ग्रहलाघव मे वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है। उस वर्षमान के अनुकूल—जैसा कि पहले बता चुके हैं—शक १८०८ मे अयनाश २२।२ माना होता तो ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की वास्तविक त्रुटि का ठीक ठीक पता लगता, तथापि परिशिष्ट मे दिये हुए पञ्चाङ्ग से भी प्राय वास्तविक अशुद्धि का ठीक ज्ञान किया जा सकता है।

तिथि की तुलना करने से ज्ञात हुआ कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे फाल्गुन शुक्ल ९ शुक्रवार को नवमी तिथि सूक्ष्म निरयणपञ्चाङ्ग की नवमी से १३ घटी ४५ पल कम है। कृष्णपक्ष यद्यपि परिशिष्ट में नही दिया है तो भी उसमे षष्ठी १३ घटी ५९ पल अधिक है। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे शुक्ल नवमी को मृगशिरा नक्षत्र १५ घटी २४ पल कम है और प्रीति योग १७ घटी २३ पल कम है। तिथि, नक्षत्र और योग के घटी पलो मे प्राय. इससे अधिक अशुद्धि नही होती क्योकि शुक्ल या कृष्ण अष्टमी के लगभग ही प्राय अधिक अन्तर पडता है। अमावास्या और पूर्णिमा के लगभग बहुत कम अशुद्धि रहती है। इसका कारण यह है कि हमारे ग्रन्थो का पर्वान्तकालीन

चन्द्रमा का फल-सस्कार अधिक अशुद्ध नही है। बीच में हमारा चन्द्रमा कभी २ अश और कभी ३ अश तक अशुद्ध रहता है। इसी कारण बीच में तिथि, नक्षत्र और योग के घटी पलो मे इतना अन्तर पडता है। हमारे ग्रन्थो मे रवि परमफल लगभग २ अश १० कला है। यूरोपियन कोष्ठको में सम्प्रति १।५५ है। इस कारण रवि कभी शुद्ध आता है और कभी १५ कला पर्यन्त अशुद्ध रहता है। हमारे ग्रन्थानुसार तिथि का लघुतम मान लगभग ५४ घटी और महत्तम मान लगभग ६६ घटी है परन्तु नाटिकल आल्मनाक के अनुसार ये मान क्रमश ५० और ६६ घटी है (चन्द्रमा के सान्तर होने के कारण ही इतना अन्तर पडता है)। इस कारण नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनाये हुए पञ्चाङ्गो मे तिथि-नक्षत्र के क्षय और वृद्धिया कुछ अधिक होती हैं। शक १८०९ के सायन और केरोपन्ती दोनों पञ्चाङ्गो में तिथिक्षय सब १६ और तिथि-वृद्धिया १० थी। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग मे क्षय १३ और वृद्धिया ७ थी। शक १८०८ के सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग में नक्षत्रों के क्षय १० तथा वृद्धिया १३ थी और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में क्षय ९ तथा वृद्धिया १२ थी। ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग के परिशिष्ट में दिये हुए फाल्गुन शुक्ल में मङ्गल में लगभग १ अश १ कला, गुरु में ३।२६, शुक्र में १।६, शनि में २।४० और राहु में ४१ कला अशुद्धि है। कृष्णपक्ष के बुध मे ३।३१ अशुद्धि है। कभी कभी वह ९ अश तक पायी गयी है। इस अन्तर का मुख्य कारण यह है कि दोनों के मध्यम ग्रहो मे अन्तर पडता है। मन्दफल और शीघ्रफल के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पडता है। मन्दफल सम्बन्धी अन्तर का विवेचन पहले किया जा चुका है।

जिन विषयो मे सायनपञ्चाङ्ग और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अन्तर आकाश में सहज दिखाई देता है उनमें से युति, अस्त, उदय इत्यादि कुछ बाते परिशिष्ट मे दिये हुए पक्ष के शास्त्रार्थ सम्बन्धी कोष्ठक में लिखी हैं। प्रतिवर्ष के सायनपञ्चाङ्ग मे ऐसी घटनाओ की एक सूची दी रहती है। बहुतो ने इस बात का अनुभव किया है कि इस विषय में सायनपञ्चाङ्ग का गणित आकाश से ठीक मिलता है और ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग का अशुद्ध ठहरता है। शक १८०८ का सूचीपत्र परिशिष्ट में है। उसका अनुभव हुआ है। शक १८०६ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग में चैत्र में चन्द्रग्रहण नही था पर सायन और केरोपन्ती इत्यादि सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्गो में वह ग्रस्तोदित था। शक १८१४ के ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गानुसार वैशाख में चन्द्रग्रहण का सूर्योदय के पूर्व ही मोक्ष हो जाता था पर सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्गो में वह ग्रस्तास्त था। इन दोनो प्रसङ्गो में सायन इत्यादि सूक्ष्म पञ्चाङ्ग ही सत्य सिद्ध हुए।

दृक्प्रत्यय सम्बन्धी जो अशुद्धिया ग्रहलाघव में है वे ही अन्य प्रान्तो में प्रचलित मकरन्द इत्यादि ग्रन्थो द्वारा निर्मित पञ्चाङ्गो में भी हैं।

साराश यह कि इस देश में सर्वत्र प्रचलित आधुनिक पञ्चाङ्ग आकाश से नही मिलते अत' उनकी ग्रहगतिस्थितिया शुद्ध की जानी चाहिए, अर्थात् पञ्चाङ्ग बनाने के लिए नवीन ग्रन्थो का निर्माण होना चाहिए। पूर्वलिखित ज्योतिषग्रन्थो का इतिहास स्पष्ट बता रहा है कि हमारे ज्योतिषी गणितानुसार प्रत्यक्ष अनुभव होने के लिए सदा प्राचीन ग्रन्थो मे बीजसस्कार देकर नवीन ग्रन्थ बनाते रहे है। हमे भी इस समय ऐसा ही करना चाहिए। यह बात प्राचीन ज्योतिषियो को भी मान्य है।

सायन और निरयण मानो का ग्राह्याग्राह्यत्व

प्राचीन और नवीन पञ्चाङ्गो मे दूसरा भिन्नत्व वर्षमान और अयनाश का है। अब यहा इसी का विचार करना है। इस विषय मे दो पक्ष है। सायनपञ्चाङ्ग एक पक्ष में तथा प्राचीन निरयणपञ्चाङ्ग और केरोपन्ती इत्यादि नवीन सूक्ष्म निरयणपञ्चाङ्ग दूसरे पक्ष में समाविष्ट होते है। अब यहा विचार यह करना है कि इन सायन और निरयण दो मानो में से ग्राह्य कौन सा है। यह विवेचन तार्किक, ऐतिहासिक, धर्मशास्त्रीय और व्यावहारिक, इन चार दृष्टियो से किया जा सकता है।

विषयप्रवेश

विषय का साधारण ज्ञान होने के लिए यहा आरम्भ में एक दो बाते बतानी आवश्यक है। जिस दिन दिवस और रात्रि के मान समान रहते हैं अर्थात् सूर्य सम्पात मे अर्थात् उपर्युक्त क्षेत्र के व या त बिन्दु मे आता है उस दिन को विषुवदिन कहते है और जब वह सम्पात से तीन राशि पर अर्थात् उ और द स्थानो मे जाता है उस समय क्रमश उत्तरायण और दक्षिणायन लगते है। इन चारो बिन्दुओ मे समान अर्थात् सम्पाततुल्य गति है। साराश यह कि विषुव, अयन और दिनमान सायन रवि पर अवलम्बित है। सूर्य वसन्तसम्पात मे आने के बाद जब तक तुलासम्पात मे जाता है, उत्तरगोलार्ध में रहता है। उस समय हमारे देश मे दिनमान ३० घटी से अधिक रहता है और गरमी अर्थात् वसन्त का कुछ भाग, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् का कुछ भाग, ये ऋतुएँ रहती है। विशिष्ट स्थानो मे कुछ अन्य कारणो से ऋतुओ का आद्यन्त कुछ आगे पीछे भी हो जाता है, यह दूसरी बात है परन्तु सामान्य नियम उपर्युक्त ही है अर्थात् ऋतुएँ भी सूर्य की सायन स्थिति पर ही अवलम्बित है। मूर्य जब वसन्तसम्पात मे रहेगा उस समय हमारे देश में वसन्त ऋतु रहेगी और दक्षिणायन के आरम्भ मे वर्षा का आरम्भ हुआ रहेगा, उस समय सूर्य चाहे जिस तारात्मक नक्षत्र मे हो।

शक ४४४ के लगभग निरयण अश्विनी और मेष का आरम्भस्थान वसन्तसम्पात

में था। उसके बाद से वह क्रमश पूर्व की ओर बढता चला जा रहा है। सम्प्रति प्रचलित निरयण मान का अश्विन्यारम्भ या मेषारम्भस्थान सम्पात से लगभग २२ अश पूर्व है और केरोपन्तीय आरम्भस्थान १८ अश पूर्व है। अर्वाचीन अन्वेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि सम्पात का नक्षत्रमण्डल में पूर्ण भ्रमण होता है, अत निरयण मेषारम्भ कुछ दिनो मे बढते बढते सम्पात से ३ राशि दूर दक्षिणायनारम्भ बिन्दु द में पहुँच जायगा। ऊपर बता चुके है कि वहा सूर्य के रहने पर वर्षा ऋतु रहेगी, यह निश्चित सिद्धान्त है और मेषारम्भ स्थान भी वहा पहुच गया है इसलिए मेषसक्रान्ति भी उसी समय होगी। जिस चान्द्रमास में मेषसक्रान्ति होती है उसे चैत्र कहते है, यह हमारी निश्चित परिभाषा है अत इस परिभाषा के अनुसार उस चान्द्रमास का नाम चैत्र होगा। इससे सिद्ध होता है कि निरयण मान मे कुछ दिनो मे चैत्र में वर्षा ऋतु आ जायगी। सम्प्रति निरयण मेष, कर्क, तुला और मकर सक्रान्तियो के लगभग २२ दिन पूर्व अर्थात् अयनाशतुल्य दिन पूर्व विषुव-अयन होते है, यह बात आकाश मे प्रत्यक्ष दिखाई देती है और सिद्धान्तग्रन्थो में इसका वर्णन भी है। भास्कराचार्य ने लिखा है—

> क्रियतुलाधरसक्रमपूर्वतोऽयनलवोत्थदिनैर्विषुवद्दिनम्।
> मकरकर्कटसक्रमतोऽयन . . ॥४५॥
>
> सिद्धान्तशिरोमणि, स्पष्टाधिकार।

पर जिनका अध्ययन ग्रहलाघव तक ही है, ऐसे ज्योतिषी यह बात नहीं जानते। इसे समझनेवाले अन्य लोग भी बहुत थोडे है। इस प्रान्त के सभी ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गो में मकर-कर्क सक्रान्ति के दिन ही उत्तरायण-दक्षिणायन लिखा रहता है, २२ दिन पूर्व नही लिखा रहता। अत्यन्त आश्चर्य यह है कि सम्प्रति केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे भी उस पञ्चाङ्ग की मकर-कर्क सक्रान्ति के दिन ही अर्थात् आकाश में प्रत्यक्ष दिखाई देने के १८ दिन बाद उत्तरदक्षिण अयन लिखा रहता है। और बापूदेव तो अयन लिखते ही नहीं। यह भी कम आश्चर्य नही है। चण्डूपञ्चाङ्ग मे वास्तविक अयन लिखे रहते है। यह बात औरो के लिए लज्जास्पद है। उसमें १२ सायन सक्रान्तिया भी लिखी रहती है। शक १८०६ का एक चण्डूपञ्चाङ्ग मेरे पास है। उसमें निरयण सक्रान्तियां 'मेषेर्क', 'वृषेर्क', इस प्रकार और सायन सक्रान्तिया 'मेषेभानु', इस प्रकार लिखी है। मद्रासी सिद्धान्ती-पञ्चाङ्ग में 'मेषायनम्' 'वृषायनम्', इस रीति से सब सायन सक्रान्तिया लिखी है। शक १७५८ का बीजापुर का एक हस्तलिखित पञ्चाङ्ग मैने देखा, उसमे १२ सायन सक्रान्तिया 'मेषायन' इस ढग से लिखी थी।

सायनपद्धति

सायनपञ्चाङ्गकार (लेले, मोडक और मैं) सायनपञ्चाङ्ग जिस पद्धति से बनाते हैं वह यह है—सम्पात से आरम्भ कर क्रान्तिवृत्त के तुल्य २७ भाग करके उन्हें अश्विन्यादि नक्षत्र और तुल्य १२ भागो को मेपादि राशि कहा है, अर्थात् अश्विनी नक्षत्र और मेप राशि को सम्पात से आरम्भ किया है, वहा तारात्मक नक्षत्र चाहे जो हो। इसी प्रकार सायन राशियो मे सूर्य के प्रवेश को सक्रान्ति कहा है और उसी के अनुसार चान्द्रमासो के नाम रखे है। जिस चान्द्रमास मे सायन मेपसक्रान्ति होती है अर्थात् वसन्तसम्पात में सूर्य जाता है उसे चैत्र कहा है। इसी प्रकार वैशाखादिको की भी व्यवस्था की है। इस पद्धति से चैत्र मे सर्वदा वसन्त रहेगा, आर्द्रा नक्षत्र मे वर्षा आरम्भ होगी और इसी प्रकार सब ऋतुएं नियमित मासो मे होगी।

तार्किक दृष्ट्या विवेचन

सायन और निरयण मानो के ग्राह्याग्राह्यत्व का विचार पहिले तार्किक दृष्टि से करेंगे। जैसे दिन की गणना का प्राकृतिक साधन सूर्योदय और मासगणना का प्राकृतिक साधन चन्द्रमा का पूर्ण या अदृश्य होना है, उसी प्रकार वर्षगणना का स्वाभाविक साधन ऋतुओ की एक परिक्रमा है। ऋतुएँ उत्पन्न न हुई होती तो वर्ष एक कालमान न बना होता, पर ऋतुओ की उत्पत्ति का कारण सूर्य है अत वर्ष सौर मानना चाहिए और चूँकि ऋतुएँ सायन रवि के अनुसार होती है अत वर्ष भी सायन सौरमान का मानना चाहिए। दूसरे यह कि १२ चान्द्रमासो में ऋतुओ का एक पूर्ण पर्यय नही होता इसलिए बीच में अधिमास डालना पडता है। यदि अधिमास का प्रक्षेपण न किया जाय तो जैसे मुसल्मानो का मुहर्रम ३३ वर्षो मे सब ऋतुओ मे घूम आता है उसी प्रकार ३३ वर्षो मे चैत्र मे क्रमश. सब ऋतुएँ आ जाया करेंगी, अत. सिद्ध है कि अधिमास मानने का केवल यही एक उद्देश्य है कि किसी भी मास मे सर्वदा एक ही ऋतु रहे। चूँकि ऋतुएँ सायन मान पर अवलम्बित हैं अत अधिकमास का अवलम्बन करना तत्त्वत सायन मान स्वीकार करने के समान ही है। जैसे अधिमास न मानने से ३३ वर्षो मे प्रत्येक मास मे सभी ऋतुए क्रमश घूम जाती हैं, उसी प्रकार नाक्षत्र (निरयण) सौरवर्ष मानने से लगभग २६००० वर्षो मे एक ही मास में क्रमश सब ऋतुए आ जायेंगी, अर्थात् चैत्र में आज यदि वसन्त है तो सवा चार सहस्र वर्षो मे ग्रीष्म, साढे आठ सहस्र वर्षो मे वर्षा और १७ सहस्र वर्षो के बाद हेमन्त ऋतु होने लगेगी। ३३ वर्षो मे होनेवाले ऋतु-मास-विपर्यय को दूर करने के लिए यदि हम अधिक मास मानते है, तो बहुत दिनो मे

क्यों न आवे परन्तु जिसका आना निश्चित है उस ऋतुमास-विपर्यय को हटाने के लिए सायन सौरवर्ष स्वीकार करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऐतिहासिक विवेचन

सायन मान का ग्राह्यत्व सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त दो ही प्रमाण पर्याप्त है तथापि यहा परम्परा का भी विचार करेंगे। सायन वर्षमान नैसर्गिक है अत. सृष्टि उत्पन्न होने के बाद जब से वर्ष शब्द का व्यवहार होने लगा है तभी से उसका प्रचार होना चाहिए और वस्तुत वह तभी से प्रचलित है। प्राय वेदकाल मे उसी का प्रचार था। प्रथम भाग के उपसहार मे इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। मधु, माधव इत्यादि सज्ञाओ का प्रचार होने के पहिले अधिकमास का प्रक्षेपण कर ऋतुओ के पर्यय द्वारा वर्ष मानते रहे होगे अर्थात् उस समय कुछ स्थूल सायन ही वर्ष प्रचलित रहा होगा। उसके बाद मध्वादि नामो का प्रचार हुआ। उस समय सायन-वर्ष के मान में बहुत सूक्ष्मत्व आ गया था। उसके सैकडो वर्ष बाद चैत्रादि नाम प्रचलित हुए, तब तक सायन मान का ही प्रचार था। शकपूर्व २००० वर्ष के लगभग चैत्रादि सज्ञाएं प्रचलित हुई और निरयण मान की नीव पडी। वेदाङ्गज्योतिष में धनिष्ठारम्भ से वर्षारम्भ माना है। यह निरयण मान है परन्तु वेदाङ्गज्योतिष मे उत्तरायणारम्भ से भी वर्षारम्भ माना है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नही देते, इससे धनिष्ठा के आरम्भ मे सूर्य के आने के काल को जानने की अपेक्षा उत्तरायणारम्भ काल जानना एक अज्ञ के लिए भी सुगम होता है, अत वस्तुत अयनारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ मानते रहे होगे। पहले बता चुके है कि वेदाङ्ग-ज्योतिष की पद्धति बडी अशुद्ध है अत उस समय ९५ वर्षों मे ३८ के स्थान में ३५ अधिमास मानकर उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति का प्रचलित रहना ही अधिक सम्भवनीय ज्ञात होता है। साराश यह कि उस समय सायन ही वर्ष प्रचलित था। वेदाङ्गकालीन अधिकाश ग्रन्थो में वसन्त के आरम्भ में वर्षारम्भ का वर्णन है अत उस समय प्रत्यक्षत. अथवा कम से कम हेतुत सायन वर्ष ही ग्राह्य माना जाता था।

अब ज्योतिषसिद्धान्तकालीन पद्धति का विचार करेंगे। सूर्यसिद्धान्त के माना-ध्याय में लिखा है—

> भचक्रनाभौ विषुवद्वितयं समसूत्रगम्।
> अयनद्वितयञ्चैव चतस्र. प्रथितास्तु ता ॥७॥
> तदन्तरेषु सक्रान्तिद्वितय द्वितय पुन ।
> नैरन्तर्यात्तु सक्रान्तेर्ज्ञेय विष्णुपदीद्वयम् ॥८॥

भानोर्मकरसङ्क्रान्ते षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्कादेस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायनम् ।।९।। मानाध्याय

इस श्लोक मे कथित कर्क मकर इत्यादि सक्रान्तिया सायन ही होनी चाहिए, अन्यथा 'सूर्य की मकरसक्रान्ति से उत्तरायण होता है' वाक्य की सङ्गति नही लगेगी। यहा शङ्का हो सकती है कि ये वाक्य उस समय के हैं जब कि अयनचलन का ज्ञान नही था, परन्तु उपर्युक्त श्लोक में यह अर्थ गर्भित है कि दो अयनो का वर्ष होता है और इसी के आगे का श्लोक है—

द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादय ।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सर ।।१०।।

इसमे बताया है कि उस (मकर) से आरम्भ कर दो दो राशियो की शिशिरादि ऋतुएँ होती है। ये ही मेषादि १२ मास है और इन्ही से वर्ष बनता है, अर्थात् यहा यह स्पष्ट हो जाता है कि १२ मासो का एक ऋतुपर्यय होता है और वही वर्ष है।अत उप-युक्त शङ्का को स्वीकार कर लेने पर भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि सूर्यसिद्धान्त को तत्वत सायन मान ही अभीष्ट है। हम ब्रह्मगुप्त के वर्णन मे सिद्ध कर चुके है कि वे विषुवदिन से सौरवर्ष का आरम्भ मानते थे अर्थात् उन्हे भी सायन ही वर्ष मान्य था। दूसरी बात यह है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थो का वर्षमान वास्तविक नाक्षत्र-सौर वर्ष के मान से लगभग ८ पल अधिक है अत निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वह नाक्षत्रसौर ही है। सूर्य जिस नक्षत्र मे रहता है वह नक्षत्र दिखाई नही देता अत नाक्षत्र सौरवर्ष का मान निश्चित करने की अपेक्षा सायन सौरवर्ष का मान निश्चित करना सरल है। ब्रह्मगुप्त ने विषुवदिन के आधार पर वर्षमान निश्चित किया है अत उनसे पहिले के ज्योतिषियो ने भी उसी प्रकार उसी दृष्टि से वर्षमान का निश्चय किया होगा, इसकी अधिक सभावना है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हे वस्तुत सायन वर्षमान ही अभीष्ट था। यद्यपि वेदकाल के अन्त से सम्पातगति का ज्ञान होने के काल पर्यन्त चैत्रादि नामो का प्रचार होने के कारण तथा प्राचीनो द्वारा स्वीकृत वर्षमान सायनवर्ष की अपेक्षा निरयणवर्ष के अधिक निकट होने के कारण परिणाम निरयण-वर्ष अथवा लगभग उसके तुल्य वर्षमान मानने सरीखा हुआ, तथापि उनका उद्देश्य सायनवर्ष मानने का ही था, इसमे कोई सन्देह नही है और ऐसा ही होना स्वाभाविक भी है। चैत्र मे वर्षाऋतु रहे, इसे भला कौन स्वीकार करेगा '

शककाल की सातवी शताब्दी के लगभग हमारे देश मे अयनचलन का सूक्ष्म ज्ञान हुआ। उसके बाद हमारे यहा भास्कराचार्य सदृश अच्छे अच्छे ज्योतिषी

हुए जो निरयण मान के परिणाम को समझ सकते थे पर उन्होंने भी उसका परित्याग नहीं किया। मालूम होता है, परम्परागत पद्धति का विरोध एवं व्यवहार में अव्यवस्था होने के भय मात्र से उन्हें वैसा करने का साहस नहीं हुआ। उनमें से अधिकांश ज्योतिषी सम्पात का पूर्ण भ्रमण नहीं बल्कि आन्दोलन मानते थे और उस समय ऋतुओं में भी अन्तर नहीं पड़ा था। कदाचित् इसी कारण उन्होंने सायनमान स्वीकार न किया हो, फिर भी अयन और विषुव का वास्तविक काल उन्होंने लिख ही दिया है।

यूरोपियन ज्योतिष के विज्ञ सम्प्रति यह जानते हैं कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है अतः देखना है, हमारे देश के आधुनिक ज्योतिषियों का इस विषय में क्या मत है। इस समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी बापूदेव शास्त्री का कथन है कि वस्तुतः सायनगणना ही ठीक है परन्तु इस देश में सर्वत्र निरयण गणना का ही प्रचार होने के कारण मैं भी निरयणपञ्चाङ्ग ही बनाता हूं। उनका एक यह भी उद्गार प्रकट हुआ है कि सात आठ सौ वर्ष के बाद के ज्योतिषी इसका अधिक विचार करेंगे। इस समय के दूसरे प्रख्यात ज्योतिषी केरोपन्त से सन् १८८३ ई० में थाने के अरुणोदय नामक समाचारपत्र द्वारा इस विषय पर सायनवादियों का शास्त्रार्थ हुआ था। उस प्रसङ्ग में ४ नवम्बर सन् १८८३ के अङ्क में केरोपन्त ने लिखा था—"मेरा स्वकीय मत तो यह है कि गतिविशिष्ट पदार्थों की गणना किसी स्थिर स्थान से करना ही प्रशस्त है। चल स्थान से चल पदार्थ की गति का मापन करना अप्रशस्त है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, सम्पात इत्यादि पदार्थ चल हैं। उनकी गति स्थिर पदार्थ तारागण से ही मापनी चाहिए। सौकर्य के लिए अथवा किसी विशिष्ट स्थान में कोई अड़चन दिखाई देने पर इस पद्धति को छोड़ गतिमान् स्थान से ही गतिमान् पदार्थ की गति मापी जा सकती है। जैसे स्थिर नक्षत्रों के रहते हुए भी . . दिन का आरम्भ करने के लिए मध्यम मान से चलनेवाले एक सूर्य की कल्पना करनी पड़ती है, परन्तु सर्वत्र ऐसा करना ठीक नहीं है। ऋतुएं सायन सम्पात पर अवलम्बित हैं अतः मुझे भी सम्पात के सम्बन्ध से ही वर्षारम्भ मानना अच्छा मालूम होता है, परन्तु 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नो करणीयम्' वाक्य के साम्यत्व में अभी न्यूनता नहीं पाई जा रही है। इन मानों में से कौन सा शुद्ध है, कौन सुगम है, कौन दुर्गम है, कौन शास्त्रसम्मत है, कौन शास्त्रविरुद्ध है—इन बातों का किसने कब विचार किया है? जिस समय जैसा प्रसङ्ग आता है हम तदनुसार तत्तत् मानों को स्वीकार करते हैं।' यहां केरोपन्त का यह कथन—ऋतुएं सम्पात पर अर्थात् सूर्य की सायन स्थिति पर अवलम्बित हैं परन्तु सायन वर्ष मानने में 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं' ही एक अड़चन है—बड़े महत्त्व का है।

सन् १८९३ में पूना के केसरी नामक पत्र के दो अङ्कों में सायन-निरयणवाद

सम्बन्धी एक लेख छपा था। उसका कुछ अश यहा उद्धृत करता हू। केसरीकार लोकमान्य तिलक लिखते है—"ऋतुएँ सम्पातविन्दु पर अवलम्बित है. सूर्य के अश्विनी नक्षत्र मे रहने पर वसन्त का आरम्भ मानने मे उस समय . . चैत्रमास रहना चाहिए। दो सहस्र वर्षो मे वह (वसन्तारम्भ) फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को और चार सहस्र वर्षो मे माघ शुक्ल प्रतिपदा को होने लगेगा।"

वर्तमान निरयण पद्धति को मानते रहने से कुछ दिनो में चैत्र मे वर्षा ऋतु आ जायगी, यह वात गणित से सिद्ध हो चुकी है। इसमे सन्देह का स्थान नही है तथापि जिन्हे गणित के प्रपञ्च मे पडने का अवकाश नही है अथवा जिन्हें इसका विशेष ज्ञान नही है उन लोगो को इस वात का विश्वास होने के लिए मैंने यहा केरोपन्त और तिलक प्रभृति गणित-विशेषज्ञो के मत प्रदर्शित किये। केरोपन्त और तिलक का मत यह है कि पञ्चाङ्ग की पद्धति निरयण ही रहनी चाहिए परन्तु उसमे कुछ सशोधन आवश्यक है अत ऋतुसम्बन्धी सायनपञ्चाङ्गकारो के कथन के विषय मे उनकी मान्यता विशेष महत्त्व का पदार्थ है। केरोपन्त और तिलक ने निरयण पद्धति को ही स्थिर रखने का एक मार्ग वताया है पर वह ग्राह्य नही है। उसका विवेचन आगे करेंगे।

वर्षा का प्रथम नक्षत्र आर्द्रा

कुछ लोग समझते हैं कि वर्षा का आरम्भ सदा मृगशिरा नक्षत्र से ही होता रहेगा, अश्विनी से होना असम्भव है, परन्तु आज से १४०० वर्ष पूर्व वर्षा का आरम्भ-नक्षत्र मृग नही था। हमारे ग्रन्थो मे आर्द्रा को वर्षा का प्रथम नक्षत्र कहा है। पञ्चाङ्गो मे जो सवत्सरफल लिखा रहता है उसमे वर्षासम्बन्धी फल आर्द्रा नक्षत्र मे सूर्य के प्रवेश-काल के आधार पर लिखते हैं। इतना ही नही, जिस दिन सूर्य आर्द्रा मे प्रवेश करता है उसे मेघो का स्वामी मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि पहिले आर्द्रा ही वर्षारम्भ नक्षत्र मानी जाती थी, मृगशिरा उसके बाद मानी जाने लगी है। इसी प्रकार कुछ दिनो वाद रोहिणी मे, उसके बाद कृत्तिका में और तदनन्तर कुछ दिनो मे अश्विनी में अर्थात् चैत्र में वर्षा आरम्भ होने लगेगी, परन्तु नक्षत्र सायन मानने से ऐसी अव्यवस्था नही होगी।

मृगशिरारम्भ की तारीख

जून की पाचवी तारीख को मृगशिरा लगती है। कुछ लोगो की धारणा है कि यह नियम कभी भी अशुद्ध नही होगा और तदनुसार वर्ष मे भी गडवडी नही होगी,

परन्तु इगलिश वर्ष सायन होता है अत निरयण सूर्यनक्षत्र सर्वदा एक ही तारीख से नही आरम्भ होगा। लगभग शक १७०७ के पहिले मृगशिरा जून की चौथी या पाचवी तारीख को लगती थी, उसके बाद पाचवी या छठी को लगने लगी, शक १८१९ के बाद वह छठी या सातवी तारीख को लगेगी, पाचवी को कभी नही लगेगी। परन्तु सायन-पद्धति में ऐसी गडबड नही है। इससे सिद्ध होता है कि परम्परा सायनपद्धति के ही अनुकूल है।

धर्मशास्त्रदृष्ट्या विचार

उपर्युक्त विवेचन में और इसके पहिले इस विषय पर धर्मशास्त्र की दृष्टि से बहुत कुछ लिख चुके है। यहा कुछ विस्तारपूर्वक इसका विवेचन करेंगे।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू ।

तै० स० ४।४।११

इत्यादि वेदवाक्य, जिनमें छहो ऋतुओ के मास बताये है, पिछले पृष्ठो में लिख चुके है। तदनुसार मधु माधव मासो में सर्वदा वसन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अश्वयुज्यामाश्वयुजीकर्म ॥१॥ आहिताग्नेराग्रयणस्थालीपाक ॥४॥

आश्वलायनगृह्यसूत्र, अध्याय २, खण्ड २

यहा सूत्रकार ने आश्विन की पूर्णिमा को आग्रयणस्थालीपाक करने को कहा है। उसके लिए नवीन अन्न की आवश्यकता पडती है, यह बात प्रसिद्ध है।

मार्गशीर्ष्या प्रत्यवरोहण चतुर्दश्याम् ॥१॥ पौर्णमास्या वा ॥२॥
. हेमन्त मनसा ध्यायेत् ॥५॥

आश्व० गृ० सूत्र २।३

प्रत्यवरोहण कर्म मार्गशीर्ष में होता है। वह हेमन्तदेवताक है अत. मार्गशीर्ष मे हेमन्त ऋतु रहनी चाहिए।

अथातोऽध्यायोपाकरणम् ॥१॥ ओषधीना प्रादुर्भावे श्रवणेन श्रावणस्य ॥२॥

आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।५

यहा बताया है कि श्रावण में, जब कि ओषधियो का प्रादुर्भाव होता है, उपाकर्म करना चाहिए अर्थात् श्रावण में वर्षाकाल रहना आवश्यक है। भिन्न भिन्न सूत्रो में इसी प्रकार के और भी अनेक वचन है जिनसे यह अर्थ प्रकट होता है कि अमुक मास

में अमुक ऋतु रहनी चाहिए। अब अमुक मास में अमुक ऋतु में अमुक कर्म करना चाहिए, इस अर्थ के द्योतक पुराणादिकों के कुछ वचन यहाँ उद्धृत करते हैं।

अशोककलिकांश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ।
चैत्रे मासि सितेऽष्टम्यां न ते शोकमवाप्नुयुः॥

प्राशनमन्त्र—त्वमशोकवराभीष्ट मधुमाससमुद्भव॥ लिङ्गपुराण

यहाँ वसन्त में उत्पन्न अशोक कलिका का प्राशन चैत्र में करने को कहा है।

अतीते फाल्गुने मासि प्राप्ते चैव महोत्सवे।
पुण्येऽहनि विप्रकथिते प्रपादानं समाचरेत्॥
प्रपा कार्या च वैशाखे देवे देया गलन्तिका।
उपानद्व्यजनच्छत्रसूक्ष्मवासांसि चन्दनम्॥१॥
जलपात्राणि देयानि तथा पुष्पगृहाणि च।
पानकानि विचित्राणि द्राक्षारम्भाफलानि च॥२॥ मदनरत्न

इससे सिद्ध होता है कि चैत्र, वैशाख में सदा उष्णकाल रहना चाहिए।

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी॥
आश्विने मासि मेषान्ते देवीपुराण

इससे ज्ञात होता है कि आश्विन में सदा शरद ऋतु रहनी चाहिए।

मेषादौ च तुलादौ च मैत्रेय विषुवस्थितः।
तदा तुल्यमहोरात्रं करोति तिमिरापहः।
अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।

विष्णुपुराण

इससे सिद्ध होता है कि विषुवदिन में मेष और तुला सङ्क्रान्तियाँ तथा उत्तरायणारम्भ के दिन मकरसङ्क्रान्ति होनी चाहिए, पर सङ्क्रान्ति सायन माने बिना ऐसा नहीं हो सकता।

उपर्युक्त श्रुति, सूत्र और पुराण वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मध्वादि अर्थात् चैत्रादि मासों में सर्वदा वसन्तादि ऋतुएँ रहनी चाहिए पर सायनमान माने बिना ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।

यद्यपि इन वचनों के बाद ज्योतिषग्रन्थों के अथवा ज्योतिषविषयक अन्य प्रमाण

देने की आवश्यकता नही रह जाती तथापि धर्मशास्त्रग्रन्थो में इन वचनो को भी प्रमाण माना है अत यहा कुछ वचन उद्धृत करता हूँ।[1]

यस्मिन्दिने निरंश स्यात् सस्कृतोऽर्कोऽयनांशकै ।
तद्दिन च महापुण्य रहस्य मुनिभि स्मृतम् ।।

ज्योतिर्निबन्धे वसिष्ठ

यहा विषुवदिन का पुण्यत्व बताया है।

अयनाशसस्कृतो भानुर्गोले चरति सर्वदा ।
अमुख्या राशिसक्रान्तिस्तुल्य. कालविधिस्तयो ।।
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभि ।
सुकृत चलसक्रान्तावक्षय पुरुषोऽश्नुते ।।

पुलस्त्य

चलसस्कृततिग्मांशो सक्रमो य स सक्रम ।
अजागलस्तन इव राशिसक्रान्तिरुच्यते ।।
पुण्यदा राशिसक्रान्ति केचिदाहुर्मनीषिण ।
नैतन्मम मत यस्मान्न स्पृशेत् क्रान्तिकक्षया ।।

वसिष्ठ

सस्कृतायनभागार्कसक्रान्तिस्त्वयन किल ।
स्नानदानादिषु श्रेष्ठा मध्यम स्थानसक्रम ।।

सोमसिद्धान्त

अयनांशसस्कृतार्कस्य मुख्या सक्रान्तिरुच्यते ।
अमुख्या राशिसक्रान्तिस्तुल्य कालविधिस्तयो ।।४७।।

रोमशसिद्धान्त, स्पष्टाधिकार

चलसस्कृततिग्मांशो सक्रमो य स सक्रम ।
नान्योऽन्यत्र च तत्क्षेत्र नैति तत् क्रान्तिकक्षया ।।६२।।

शाकल्यसहिता, तृतीयाध्याय

यहा कुछ वचनो मे राशिसक्रान्ति अर्थात् निरयण सक्रान्ति को त्याज्य तथा चल (सायन) सक्रान्ति को ग्राह्य और कुछ वचनो में सायन की अपेक्षा निरयण को गौण

[1] इनमें से अधिकाश वचन मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा टीका के हैं।

कहा है। कुछ ग्रन्थकारो ने इनमे से कुछ वचनो को प्रशसापरक कहा है परन्तु विषुव और अयन का पुण्यत्व पुराणादि अनेक ग्रन्थो मे वर्णित होने के कारण वे उनका त्याग नही कर सके है। निरयण सक्रान्ति के पुण्यकाल इत्यादि का वर्णन करते समय उन्हे 'एव अयनेषु' लिखना पडा है और एक ज्योतिषशास्त्रानभिज्ञ धर्मशास्त्रग्रन्थकार ने तो मेषादि मक्रान्तियो की तरह 'मेषायन' इत्यादि १२ अयनो की कल्पना कर डाली है। कई निरयण पञ्चाङ्गो मे भी सायन सक्रान्ति का निर्देश इसी प्रकार अथवा दूसरे शब्दो द्वारा किया है, यह पहले लिख चुके है। हमारे वम्बई और पूना के पञ्चाङ्गकार महाराष्ट्रनिवासियो को इतना भी लाभ नही होने देते, तथापि धर्मशास्त्र के एतद्देशीय उत्तम विद्वान् यह वात जानते है कि सायन सक्रान्ति पर भी स्नानदानादि कर्म विहित है[1]। 'षण्णवतिश्राद्ध' अर्थात् वर्ष मे जो ९६ श्राद्ध वताये है उनमे सक्रान्तिश्राद्ध १२ ही है, २४ नही। इसी प्रकार अन्य कर्मो मे भी सक्रान्तिया १२ ही माननी चाहिए।

साराश यह कि सायन पञ्चाङ्ग श्रुतिस्मृतिपुराण-विहित काल का प्रदर्शक है, अत उसी को मानना चाहिए।

शङ्कासमाधान

अव व्यावहारिक दृष्टि से विवेचन करने के पहिले सायन पद्धति पर किये जाने-वाले आक्षेपो का विचार करेगे।

सम्पात चल है। दृश्य तारो से वह क्रमश पीछे हटता जा रहा है। वहा चाहे जो तारा आ सकता है। कुछ वर्ष पहिले वह रेवती मे था, आज उत्तराभाद्रपदा के पास है, कुछ दिनो वाद पूर्वाभाद्रपदा मे चला जायगा। सायनगणना मानने से पूर्वाभाद्रपदा मे सम्पात रहते हुए भी उस स्थान को अश्विनी कहना पडेगा। पूर्वाफाल्गुनी को सायन चित्रा कहना पडेगा। सायन पञ्चाङ्ग मे सम्प्रति ऐसा ही हो भी रहा है। उसमे तारा-चन्द्र-युतिया दी रहती है। उन्हे देखने से ज्ञात होगा कि पञ्चाङ्ग मे चन्द्रमा की युति उत्तराफाल्गुनी से लिखी है और दिननक्षत्र अर्थात् चन्द्रनक्षत्र चित्रा है। इस प्रकार ग्रह एक तारात्मक नक्षत्र के पास रहते हुए हमे उसे दूसरे नक्षत्र मे वताना पडेगा अर्थात् सायनगणना से तारात्मक (दृश्य) नक्षत्र प्रतिकूल हो जायगे। नक्षत्रो के नाम तारो के आधार पर रखे गये है। मृगशीर्ष, हस्त इत्यादि नामो से ज्ञात होता है कि किसी

[1] सन् १८८४ में पूना के वसन्तोत्सव में सायनवाद के समय प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ वेदशास्त्र-सम्पन्न श्री गंगाधर शास्त्री दातार ने यह स्वीकार किया था कि पञ्चाङ्गो में सायन संक्रान्तियाँ लिखनी चाहिए।

स्थानविशेष के—वहा तारा चाहे जो रहे—अश्विनी इत्यादि नाम नही रखे है। वेदो में ही तारो की ही सख्या के अनुसार कुछ नक्षत्रो के नाम एक वचनान्त, कुछ के द्विवचनान्त और कुछ के बहुवचनान्त है, यह प्रथम भाग में लिख चुके है। अत यह सिद्ध है कि नक्षत्रो के अश्विन्यादि नाम तारो के ही आधार पर रखे गये है परन्तु वर्ष सायन मानने से नक्षत्रो का उनके तारो से कोई सम्वन्ध नही रह जाता। चैत्रादि मासो के नाम भी तारात्मक नक्षत्रो के ही आधार पर पडे है परन्तु सायनमान को ग्रहण करने से उनका उन तारो से कोई सम्वन्ध नही रह जाता। उदाहरणार्थ मान लीजिए, सम्पात तारात्मक पूर्वभाद्रपदा में है और सूर्य भी उसी के पास है, चन्द्रमा उस समय पूर्ण हो रहा है। वह वहा से १३½ नक्षत्र पर अर्थात् लगभग तारात्मक पूर्वाफाल्गुनी में है, अत इस मास का अन्वर्थक नाम फाल्गुन हुआ। परन्तु सायनपद्धति से सूर्य अश्विनी में है क्योकि सम्पात के पास है, मेष की सक्रान्ति लगी है और चन्द्रमा सायन चित्रा में है अत इस मास का नाम सायन चैत्र हुआ। इस प्रकार सायनपद्धति स्वीकार करने से मास भी अशुद्ध हो जाते है।

दोनो पक्षो की सदोषावस्था में उपाय

सायनमान स्वीकार करने से ऋतुओ में विसवाद नही होगा अर्थात् चैत्र-वैशाख में सदा वसन्त ऋतु रहेगी, परन्तु तारात्मक नक्षत्र अशुद्ध ठहर जायगे, सम्पातस्थित प्रत्येक तारे को अश्विनी कहना पडेगा[1]। प्रारम्भ से यौगिक रहते हुए भी चैत्रादि सज्ञाओ को केवल पारिभाषिक एव रूढ कहना पडेगा और नक्षत्रप्रयुक्त फाल्गुनादि मासो को उत्तरोत्तर चैत्र इत्यादि कहना पडेगा। मासो के चैत्रादि नामो का त्याग कर ऋतु-दर्शक केवल मध्वादि नाम ही रखें तो शब्ददोष दूर हो सकता है, परन्तु चैत्रादि नाम इतने वद्धमूल हो गये है कि अब उन्हें छोड देना असम्भव है और दूसरी वात यह है कि मासो के ऋतुदर्शक मध्वादि नामो की भाति नक्षत्रो के ऋतुदर्शक दूसरे नाम नही है। मेषादि नाम आरम्भ से विभागात्मक ही है। न हो तो भी हमारे ग्रन्थो में २००० वर्षो से वे विभागात्मक अर्थ में प्रयुक्त होते आ रहे है अत सायन राशियो में उनका प्रयोग अनुचित नही होगा। निरयण मान ग्रहण करने से ऋतुओ में अव्यवस्था होगी, चैत्र में ग्रीष्म, वर्षा इत्यादि ऋतुएँ आने लगेंगी, फिर भी उसे मधु ही कहना पडेगा। इतना ही नही, उपनयन, विवाहादि कर्म—जिनका व्यवहार से निकट सम्वन्ध है—

[1] सायन-निरयण नक्षत्रो का परमान्तर १३½ नक्षत्र होगा। १२ सहस्र वर्षो के बाद चित्रा में सम्पात रहने पर उस नक्षत्र को अश्विनी कहना पडेगा।

माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ मासो मे किये जाते है पर उस समय वर्षाकाल रहने से उन्हे करने मे कठिनाई होगी और आषाढादि मास उनके लिए अनुकूल हो जायंगे। परन्तु धर्मशास्त्र में वे वर्जित है अत. व्यवहार में बडी अडचन होगी। अब प्रश्न यह होता है कि दोनो पक्षो की सदोषावस्था मे यहा मार्ग कौन सा निकाला जाय। ऋतुएँ यथोक्त मासो में होती रहें और तारात्मक नक्षत्रो का स्थिरत्व भी ज्यो का त्यो बना रहे, ऐसी कोई युक्ति दिखाई नही देती। सम्पात का पूर्ण भ्रमण यदि सत्य है तो ये दोनो बातें नही हो सकती अत इनमे से किसी एक का त्याग करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नही है। अब यहा इसी का विवेचन करेंगे कि इनमे से किसे छोडना न्याय्य है।

निरयण नक्षत्रो में भी तारे छूट जाते हैं

सब नक्षत्रो के तारे समान अन्तर पर नही है अत निरयण पञ्चाङ्ग मे भी क्रान्तिवृत्त के २७ समान भाग कर प्रत्येक को नक्षत्र मानना पडता है। प्रत्येक नक्षत्रप्रदेश का मान १३ अश २० कला है। इनमे कही कही एक ही नक्षत्रप्रदेश मे दो नक्षत्रो के योगतारे आ जाते हैं और किसी में एक भी नही आता। इस बात को अङ्को द्वारा स्पष्ट दिखाने के लिए आगे कोष्ठक बनाया है। इसमे पहिले विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशो की अन्तिम सीमाएँ उन नक्षत्रो के नामो के सामने लिखी हैं। यह एक प्रकार से १३।२० का पहाडा है। इसका अर्थ यह है कि रेवती योगतारे से इतने अन्तर पर उस नक्षत्रप्रदेश की समाप्ति होती है। इसके आगे नक्षत्रो के योगतारो के सूक्ष्म निरयण भोग अर्थात् रेवती योगतारे से उनके वास्तविक अन्तर लिखे हैं।[1] उसके आगे ग्रहलाघवीय नक्षत्रध्रुवक हैं। पहले बता चुके है कि हमारे सिद्धान्तो का आरम्भस्थान चल है। सूर्यसिद्धान्तानुसार शक १७७२ में वह सम्पात से २१ अश २७ कला ९ ८ विकला पूर्व ओर था। उस स्थान से नक्षत्रो के योगतारो के अन्तर भी कोष्ठक मे लिखे हैं। नक्षत्रो के जो योगतारे अपने प्रदेश मे आगे या पीछे है उनका भी निर्देश कर दिया है।

[1] केरोपन्तकृत ग्रहसाधनकोष्ठक नामक ग्रन्थ के ३२४--२५ पृष्ठ में योगतारा के शक १७७२ के सायनभोग लिखे है। मैंने यहाँ उनमें से रेवती का भोग घटाकर वास्तविक निरयणभोग लिखे है। केरोपन्त ने रेवती का भोग १७ अश ४६ कला लिखा है पर सूक्ष्म गणित से शक १७७२ में वह १७।४६।४४ आता है अतः मैंने १७।४७ माना है और उन्होने अश्विनी, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा के भोग कुछ अशुद्ध लिखे हैं पर मैंने उन्हें शुद्ध करके कोष्ठक में लिखा है। योगतारे मैंने वे ही लिये हैं जो केरोपन्त के हैं।

	नक्षत्र	विभागात्मक नक्षत्रप्रदेशो की अन्तिम सीमाएं		नक्षत्रो के योगतारो के स्थान							
				सूक्ष्म निरयण (केरोपन्ती)			ग्रहलाघवीय		सूर्यसिद्धान्तीय (शक१७७२)		
		अंश	कला	अंश	कला	विभाग के	अंश	विभागके	अंश	कला	विभागके
१	अश्विनी	१३	२०	१४	६	आगे	८		१०	२६	
२	भरणी	२६	४०	२७	४	आगे	२१		२३	२४	
३	कृत्तिका	४०	०	४०	७	आगे	३२		३६	२७	
४	रोहिणी	५३	२०	४९	५५		४९		४६	१५	
५	मृगशिरा	६६	४०	६२	१८		६२		५८	३८	
६	आर्द्रा	८०	०	६७	६		६६	पीछे	६३	२६	पीछे
७	पुनर्वसु	९३	२०	९३	२२	आगे	९४	आगे	८९	४२	
८	पुष्य	१०६	४०	१०८	५०	आगे	१०६		१०५	१०	
९	आश्लेषा	१२०	०	१११	०		१०७		१०७	२०	
१०	मघा	१३३	२०	१२९	५८		१२९		१२६	१८	
११	पूफा०	१४६	९०	१४३	३२		१४८	आगे	१३९	५२	
१२	उफा०	१६०	०	१५१	४५		१५५		१४८	५	
१३	हस्त	१७३	२०	१७३	३५	आगे	१७०		१६९	५५	
१४	चित्रा	१८६	४०	१८३	५८		१८३		१८०	१८	
१५	स्वाती	२००	०	१८४	२२	पीछे	१९८		१८०	४२	पीछे
१६	विशाखा	२१३	२०	२११	८		२१२		२०७	२८	
१७	अनुराधा	२२६	४०	२२३	१९		२२४		२११	३९	
१८	ज्येष्ठा	२४०	०	२२९	५३		२३०		२२६	१३	पीछे
१९	मूल	२५३	२०	२४३	२६		२४२		२३९	४६	पीछे
२०	पूषा०	२६६	४०	२५४	४२		२५५		२५०	२	पीछे
२१	उषा०	२८०	०	२६०	१८	पीछे	२६१	पीछे	२५७	३८	पीछे
२२	श्रवण	२९३	२०	२८१	५२		२७५	पीछे	२७८	१२	पीछे
२३	धनिष्ठा	३०६	४०	२९७	३०		२८६	पीछे	२९३	५९	
२४	शत०	३२०	०	३२१	४२	आगे	३२०		३१८	२	
२५	पूभा०	३३३	२०	३३३	३६	आगे	३२५		३२०	५६	
२६	उभा०	३४६	४०	३५४	१३	आगे	३३७		३५०	३३	आगे
२७	रेवती	०	०	०	०		३६०		३५६	२	

इस कोष्ठक को देखने से ज्ञात होगा कि केरोपन्ती सूक्ष्म मान अर्थात् वास्तविक निरयणमान में भी ९ नक्षत्र अपने विभागात्मक प्रदेश से आगे और २ पीछे है अर्थात् २७ मे से ११ नक्षत्र अशुद्ध है। दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम किसी भी नक्षत्र से नहीं होता और चित्रा रहने पर हस्त, चित्रा, स्वाती तीन नक्षत्रो के योगतारो से होता है। इतना अवश्य है कि वास्तव वर्षमान और वास्तव अयनगति ग्रहण करने से यह अशुद्धि सदा एक सी रहेगी, इसमे अधिक नही होगी, परन्तु यदि सूक्ष्म और शुद्ध निरयण पद्धति मे भी २७ मे से ११ नक्षत्र सदा अशुद्ध रहते है तो इस निरयण से क्या लाभ ? ग्रहलाघव मे दिये हुए नक्षत्रभोग सम्प्रति शुद्ध नही है पर उन्हें शुद्ध मान ले तो भी ६ नक्षत्रो मे त्रुटि आती है। इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि सूर्यसिद्धान्तागत वर्तमान आरम्भस्थान है—हमारे ग्रन्थो का आरम्भस्थान रेवती-योगतारा से प्रतिवर्ष ८ २ विकला आगे जा रहा है—जो २७ विभाग किये है उनमे से ७ नक्षत्रो के योगतारे अपने विभाग से पीछे है अर्थात् दिननक्षत्र मृगशिरा रहते हुए चन्द्रमा का समागम मृगशिरा और आर्द्रा दो तारो से होता है। यही स्थिति सातो की है। पाच सहस्र वर्षो के बाद उत्तराभाद्रपदा को छोड अन्य सब तारे अपने विभाग मे पीछे हट जायगे अर्थात् दिननक्षत्र अश्विनी रहने पर चन्द्रमा का समागम भरणी से होगा। यह स्थिति २६ नक्षत्रो की रहेगी। ७४०० वर्षो मे उत्तराभाद्रपदा तारे की भी यही परिस्थिति हो जायगी। साराश यह कि वर्तमान निरयण पद्धति मे भी नक्षत्रो की अवस्था सायन नक्षत्रो सदृश ही है।

यदि युति का यह लक्षण करते है कि आकाशस्थ दो पदार्थो के भोग समान होने पर उनकी युति होती है तो इसे भोगयुति कहेगे और यदि दोनो के विषुवाशतुल्यत्व को युति मानते है तो इसे विषुवयुति कहेगे। सायनपञ्चाङ्ग मे विषुवयुतिया दी रहती है। परिशिष्टस्थ सूक्ष्म निरयण पञ्चाङ्ग मे भी विषुवयुतिया ही दी है। ग्रहलाघवीय अयनाश लेकर वह पञ्चाङ्ग नाटिकल आल्मनाक से बनाया गया है। उसमे आर्द्रा,आश्लेषा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण और धनिष्ठा, इन आठ दिननक्षत्रो के लगने के पूर्व ही उनके योगतारो से चन्द्रमा की युति हो जाती है। उस पञ्चाङ्ग की ताराचन्द्र-युतियो को केरोपन्ती पञ्चाङ्ग से मिलाकर देखते है तो केरोपन्ती पञ्चाङ्ग मे उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा नक्षत्र लगने के पूर्व और पुनर्वसु, पुष्य, पूर्वा-फाल्गुनी और शतभिषा नक्षत्र लगने के पश्चात् चन्द्रमा से (अन्यो से भी) उनकी विषुवयुतिया होती है। साराश यह कि कैसा भी सूक्ष्म निरयण मान लीजिये, नक्षत्रो मे यह दोष आये विना नही रहेगा ।

चैत्रादि संज्ञाएं यौगिक नहीं हैं

अब मासो का विचार करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि सायन मास मानने से 'जिस मास मे चन्द्रमा तारात्मक चित्रानक्षत्र में पूर्ण होता है वह चैत्र है' यह परिभाषा व्यर्थ हो जायगी[1], परन्तु हमें यह देखना है कि इस समय अवस्था क्या है? जिस नक्षत्र में चन्द्रमा पूर्ण होता है उसके नाम के अनुसार मास का नाम रखने के नियम का प्रत्यक्ष व्यवहार छूटे कम से कम वेदाङ्गज्योतिषकाल तुल्य अर्थात् ३३०० वर्ष होते हैं। इसके और कितने पहले से यह प्रथा छूटी है, इसका पता नही है। चैत्रादि नाम पडे तो इसी नियम के अनुसार, परन्तु यह देखकर कि चैत्र में चन्द्रमा सदा चित्रा के ही पास पूर्ण नही होता, कुछ महीनो को दो दो और कुछ को तीन तीन नक्षत्र बाट दिये, परन्तु योगतारे समान अन्तर पर न होने के कारण बाद मे विभागात्मक नक्षत्र मानने पडे। वेदाङ्गज्योतिष में विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्र है। वर्तमान ज्योतिषग्रन्थो के निर्माणकाल से विभागात्मक सूक्ष्म नक्षत्रो का पूर्ण प्रचार हुआ और यह परिभाषा बनाई गई कि 'जिन मासो में मेषादि सक्रान्तिया होती है उनके नाम क्रमश चैत्रादि है।' आजकल भी इसी का प्रचार है। पिछले पृष्ठो में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

शक १८०४-७ और १८१० के केरोपन्ती पञ्चाङ्गो में प्रत्येक मास की पूर्णिमा को कौन-कौन से नक्षत्र थे, यह नीचे के कोष्ठक मे दिखाया है। शक १८०५, १८०७ और १८१० में उस पञ्चाङ्ग के अनुसार क्रमश चैत्र, श्रावण और आषाढ अधिकमास आते हैं।

[1] सायन चैत्र की पूर्णिमा को सायन चित्रा अथवा उसके आगे या पीछे के नक्षत्र, इन्हीं तीन में से एक रहता है।

	पूर्णिमान्तकालीन नक्षत्र				
मास	शक १८०४	१८०५	१८०६	१८०७	१८१०
चैत्र	चित्रा	स्वाती	चित्रा	हस्त	हस्त
वैशाख	विशाखा	अनुराधा	विशाखा	विशाखा	स्वाती
ज्येष्ठ	ज्येष्ठा	मूल	मूल	ज्येष्ठा	अनुराधा
आषाढ	पूषा	उषा	उषा	पूषा	श्रवण
श्रावण	श्रवण	शत	धनिष्ठा	शत	शत
भाद्रपद	शत	उभा	पूभा	उभा	उभा
आश्विन	उभा	अश्विनी	रेवती	अश्विनी	अश्विनी
कार्तिक	भरणी	कृत्तिका	भरणी	रोहिणी	कृत्तिका
मार्गशीर्ष	रोहिणी	मृग	रोहिणी	आर्द्रा	आर्द्रा
पौष	आर्द्रा	पुष्य	पुनर्वसु	पुष्य	पुष्य
माघ	पुष्य	मघा	आश्लेषा	मघा	मघा
फाल्गुन	पूफा	उफा	पूफा	हस्त	उफा

इस कोष्ठक से ज्ञात होगा कि प्रति मास की पूर्णिमा को उस मास के नाम से सम्बन्धित एवं उसके आगे और पीछे वाले, इन तीन नक्षत्रों में से कोई भी एक आ सकता है पर विचित्र बात यह है कि शक १८०४ के आश्विन और माघ के पूर्णिमान्त में उत्तराभाद्रपदा और पुष्य नक्षत्र है। नक्षत्रो के अनुसार नाम रखते है तो इन्हे क्रमशः भाद्रपद और पौष कहना पड़ेगा। इसी प्रकार शक १८१० के आषाढ की पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र है अतः उसे श्रावण कहना चाहिए। यही स्थिति ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग की भी है। साराश यह कि पूर्णिमान्त कालीन नक्षत्रो के अनुसार मासनाम रखने में सूक्ष्म अथवा कोई भी निरयण मान ले, बहुत से मास अशुद्ध हो जायगे। इसीलिए प्राचीनो ने बाध्य होकर यह पद्धति छोड़ दी।

चैत्रादि नाम ज्योतिषियो के मतानुसार तो यौगिक नही ही है, रूढ है पर स्वयं पाणिनि और स्मृतिकार भी उन्हे यौगिक नही मानते। इस विषय मे कालतत्त्वविवेचनकार ने लिखा है—

चैत्रादयः स्वतन्त्रा एव रूढा राजवत्। चैत्रादिशब्दा न नक्षत्रयोगनिमित्ता। व्याकरणस्मृतिस्तु विपर्ययप्रतिपादिका स्वराद्यर्था। तदुक्तं वार्तिके— यत्रार्थस्य विसंवादः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते। स्वरसंस्कारमात्रार्था तत्र व्याकरणस्मृतिरिति। पाणिनिरपि सास्मिन् पौर्णमसीति संज्ञायामिति चैत्रादिशब्दानां संज्ञात्वं वदन् योग-

न्यापारमार्थिकत्व दर्शयति। स्पष्टञ्च योगव्यभिचारे योग प्रत्याख्यात ।
विष्णुरपि नक्षत्रयोगनिमित्तत्वासम्भव पौर्णमामीना द्योतयति . तथा च तत्स्मरण
पौषी चेत् पौषयुक्ता ।

अत सायनमान ग्रहण करने से चैत्रादि नाम अन्वर्थ नही होगे, इस शङ्का का विचार तो नही करना चाहिए। यह तो सायन और निरयण दोनो पद्धतियो समान से रूप से लागू है ।

हमारे ज्योतिषसिद्धान्तो का निरयण मान यदि प्रचलित रहा तो निरयणपद्धति मे भी सायन की ही भाति नक्षत्र चल रहेगे। अन्तर इतना ही रहेगा कि निरयण नक्षत्र सायन के विपरीत क्रम से और मन्दगति से चलेगे। सायनपद्धति के अनुसार सायन अश्विनी नक्षत्र प्रति सहस्र वर्ष मे एक एक नक्षत्र पीछे हटता है अर्थात् वह क्रमश तारात्मक रेवती, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि में जाता है, सूर्यसिद्धान्तादिको के अनुसार अश्विनी लगभग प्रति ६ सहस्र वर्षो मे एक नक्षत्र आगे जायगी अर्थात् भरणी कृत्तिका इत्यादि की ओर बढती रहेगी। यही स्थिति मासो की भी होगी। सूक्ष्म निरयण मान ग्रहण करने पर भी नक्षत्रो और मासो मे अशुद्धि होगी। यद्यपि वह सदा एक सी रहेगी पर रहेगी अवश्य। इसके अतिरिक्त निरयणपद्धति मे एक और महान् दोष ऋतुविपर्यय है जो कि सायनपद्धति मे नही है। अब यहा विचार करने से ऋतुओ और तारात्मक नक्षत्रो, इन दोनो मे से तारात्मक नक्षत्रो को ही छोडना उचित प्रतीत होता है। उन्हे छोडने का अर्थ इतना ही है कि उनके अनुसार मासो के नाम नही रखे जायगे और ग्रहस्थिति सायन नक्षत्रो के अनुसार बतायी जायगी। ग्रहयुतियो का अवलोकन किया जाता है, उनके समय भी निकाले जाते है, उसी प्रकार ग्रहनक्षत्रयुतियो के भी समय निकाले जा सकेंगे और वे पञ्चाङ्ग में लिख दिये जायगे।

सायनपद्धति मे कोई भी बात प्रत्यक्षविरुद्ध नही आती।[1] सम्प्रति यूरोपियन ज्योतिषशास्त्र का सम्पूर्ण गणित सायनपद्धति से ही किया जाता है। केरोपन्त का कथन है कि सूर्य, चन्द्र, सम्पात इत्यादि चल पदार्थो को स्थिर तारागण से ही नापना चाहिए। उनका यह कथन वेध के विषय में उचित है, वेध मे स्थिर तारा लेना ही आवश्यक है पर पञ्चाङ्ग सायनमान से बतानेमे गणितादि किसी प्रकार की भी अडचन नही है। यूरोपियन ज्योतिषी वेध में तारो का उपयोग करते है परन्तु उनके

[1] गोविन्द दैवज्ञ ने मुहूर्तचिन्तामणि की पीयूष धारा टीका में एक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ग्रहण वस्तुत. रहते हुए भी सायनपद्धति से नहीं आता पर सायनपद्धति की यदि ठीक योजना की होती तो उन्हें यह संशय ही न होता।

नाटिकल आल्मनाक इत्यादि सब पञ्चाङ्गो का गणित सायन ही रहता है। स्वय केरो-पन्त ने भी अपने ग्रहसाधन कोष्ठक मे सम्पूर्ण ग्रहगतिस्थितिया सायन ही लिखी है और उस ग्रन्थ से सायन ही ग्रह आते है। दूसरी बात यह है कि नलिकाबन्ध की रीति और वेधप्रकरणोक्त यन्त्रो का वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि हमारे ज्योतिषग्रन्थो की वेधपद्धति मे भी तारो की अपेक्षा सायनमान का ही अधिक उपयोग किया गया है।

कुछ और शङ्का-समाधान

रोहिण्यामग्निमादधीत। न पूर्वयो फल्गुन्योरग्निमादधीत।
पुनर्वस्वोरग्निमादधीत। कृत्तिकाभ्य स्वाहा।
रोहिण्यै स्वाहा। स्वाहा पुनर्वसुभ्याम्।
रेवत्यामरवन्त। अश्वयुजोरयुञ्जत। अपभरणीष्वपावहन्।

इन [1]वाक्यो मे आये हुए एकवचनान्त, द्विवचनान्त और बहुवचनान्त प्रयोगो से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नक्षत्र तारात्मक ही है। ये वाक्य सायन नक्षत्रो मे लागू नही हो सकते अर्थात् तारात्मक नक्षत्र ही श्रुतिसम्मत है परन्तु मधुमाधव अर्थात् चैत्र-वैशाख मासो मे सर्वदा वसन्त ऋतु रहती है, यह श्रुतिसम्मत बात निरयण मान से कभी भी सिद्ध नही हो सकती।

धर्मशास्त्रग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न कर्मो के लिए जो नक्षत्र विहित है उनके विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वे तारात्मक ही है,क्योकि सम्प्रति व्यवहार मे उनका परीक्षण कही भी नही किया जाता। पञ्चाङ्ग खोला, यदि वह नक्षत्र इष्ट समय मे मिला तो हम कार्य आरम्भ कर देते है, उस समय आकाश मे चाहे जो नक्षत्र हो। आज ही ऐसा हो रहा है, यह बात नही है। यह रूढि पुरानी है और इसका निवारण होना भी असम्भव है क्योकि सब नक्षत्र समान अन्तर पर न होने के कारण कभी एक ही दिन में चन्द्रमा की दो नक्षत्रो से युति होती है और कभी एक से भी नही। सूक्ष्म नक्षत्रानयन भी बताया है पर उसे सम्प्रति कोई करता नही[2]। सूक्ष्म नक्षत्रानयन करने पर और सूक्ष्मतम निरयण मान लेने पर भी यह बात सब अशो मे साध्य नही है। इसके अति-

[1] इनमें से अधिकतर वाक्य प्रथम भाग में आ चुके है, यहाँ तैत्तिरीयश्रुति से कुछ और लिये है।

[2] थोडे ही दिनो की बात है, पूना के एक ज्योतिषी वासुदेव शास्त्री दाण्डेकर कहते थे कि पैठण के एक ज्योतिषी ने सूक्ष्म नक्षत्र लाकर तदनुसार एक जगह विवाह कराया परन्तु यहाँ के और पूना के लोगो ने उलटे उनका बहिष्कार किया।

रिक्त गणित में भी अशुद्धि रहती है जिससे इनमे और भी अन्तर पड़ जाता है पर इन त्रुटियो को दूर करने पर भी धर्मशास्त्र के ये विधान कि अमुकामुक नक्षत्रो मे अमुक अमुक कर्म करने चाहिए, निरयणवादियो के लिए असाध्य ही हैं।

दोनो पक्षो के प्रमाणो की सख्या की तुलना करने से सायनपक्ष ही प्रबल पडता है। वर्षमान निसर्गत ही ऋतुपर्ययात्मक है और अधिकमास की कल्पना केवल इसीलिए की गई है कि ऋतुएँ नियमित चान्द्रमासो में होती रहें, इन दो बातो का तो निरयणवादियो के पास कोई उत्तर ही नही है। ये सायनमान से ही साध्य है और ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर भी यही ज्ञात होता है कि आरम्भ से शकपूर्व २००० वर्ष तक सायनमान ही प्रचलित था। इससे यह बात निर्विकल्प सिद्ध होती है कि सायनमान ही ग्राह्य है।

यहा तक सायननिरयण का विवेचन सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा मानकर किया गया। हमारे कुछ ज्योतिषग्रन्थो मे लिखा है कि सम्पात का पूर्ण भ्रमण नही होता, आन्दोलन होता है। यदि कोई कहे कि वह सत्य है और तदनुसार निरयणमान से भी ऋतुविपर्यय नही होता तो उसका उत्तर यह है—

पञ्चाङ्गशोधन का विवेचन मुख्यत इसी उद्देश्य से किया जा रहा है कि पञ्चाङ्ग धर्मशास्त्रानुकूल बनें। धर्मशास्त्र हमें बताता है कि अमुक समय अर्थात् अमुक ऋतु, मास, तिथि, नक्षत्र इत्यादि में अमुक कर्म करना चाहिए अथवा नही करना चाहिए[1]। उसका विषय इतना ही है। उस काल का निश्चय ज्योतिष द्वारा होता है। इसी प्रकार सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है या नही, इसका निर्णय करना धर्मशास्त्र का काम नही है, इसे ज्योतिष बतावेगा। ऋतुमाससाहचर्यानुकूल कालगणनापद्धति की स्थापना ज्योतिष ही करेगा। वह ज्योतिष प्रत्यक्षप्रमाण शास्त्र है। कालवशात् ग्रहगतिस्थिति में पडे हुए अन्तर का निरास कर उसे प्रत्यक्ष अनुभव के अनुरूप बनाना उसका मुख्य धर्म है। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त मे ही ग्रहगतिस्थितिया प्राचीन सूर्यसिद्धान्त से भिन्न हैं। उसमे लिखा भी है—

शास्त्रमाद्य तदेवेद यत्पूर्वं प्राह भास्कर।
युगाना परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम्॥९॥

मध्यमाधिकार०

[1] ज्योतिष शास्त्र के मुहूर्तस्कन्ध में अनेक कर्मों के समय लिखे रहते हैं अत. इस दृष्टि से वह भी धर्मशास्त्र का एक अङ्ग है।

इसकी टीका मे रङ्गनाथ ने लिखा है—

कालवशेन ग्रहचारे किञ्चिद्वैलक्षण्य भवतीति तत्तदन्तर ग्रहचारे प्रसाध्य तत्तत्कालस्थितलोक-व्यवहारार्थ शास्त्रान्तरमिव कृपालु- (भास्कर) उक्तवान् ।

भास्कराचार्य ने गोलबन्धाधिकार मे लिखा है—अत्र गणितस्कन्धे उपपत्तिमाने-वागम. प्रमाणम् । केशव दैवज्ञ का भी यही अभिप्राय है । वसिष्ठ सहिता के निम्न-लिखित श्लोक मे भी यह बात कही है कि तिथ्यादिको का निर्णय उसी पक्ष से करना चाहिए जिसके गणित की आकाश से एकवाक्यता होती हो ।

यस्मिन् देशे यत्र काले येन दृग्गणितैक्यकम् ।
दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात्तिथ्यादिनिर्णयम् ।।

सम्प्रति पाश्चात्य गणको ने विश्वरचना के नियमो के आधार पर निश्चयपूर्वक यह सिद्ध कर दिखाया है कि सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा होती है[1] अत हमे उसे मानने

[1] सम्पातभ्रमण का स्वरूप यहाँ थोड़े में लिखते हैं। लड़के लट्टू नचाते हैं, उस पर ध्यान दीजिए। पहले यह सीधा खड़ा रहकर बड़े वेग से घूमता है। उस समय उसका अक्ष पृथ्वी पर लम्ब रहता है। वेग कम होने पर उसका ऊपरी भाग भारी होने के कारण नीचे की ओर लटकने लगता है, उस समय अक्ष पृथ्वी पर लम्ब नहीं रहता और ऊपरी भाग चक्कर काटने लगता है। इसी प्रकार पृथ्वी के अक्ष के अग्र भाग क्रान्तिवृत्त के कदम्ब के चारो ओर सदा चक्कर लगाते रहते हैं। पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती रहती है। इस स्थिति में उसका अक्ष उसकी कक्षा के धरातल पर लम्ब नहीं रहता। अक्ष-भ्रमण की उसकी गति सदा एक सी रहती है, वह प्राय न्यूनाधिक नहीं होती अत यदि वह पूर्ण गोल होती तो उसके अक्ष का झुकाव सर्वदा एक-सा रहता पर वह ध्रुवो के पास चिपटी और विषुववृत्त की ओर गोल है। इस कारण विषुववृत्त की ओर उस पर सूर्य चन्द्रमा का आकर्षण अधिक पडता है, जिससे वह वृत्त कक्षा के धरातल से मिल जाना चाहता है परन्तु अक्षभ्रमण लगातार होते रहने के कारण दोनो धरातलो के मिल जाने की अर्थात् कक्षा पर अक्ष के लम्ब होने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु पृथ्वी का अक्ष क्रान्तिवृत्त के अक्ष के चारो ओर चक्कर लगाता रहता है, इस कारण विषुववृत्त का ध्रुव क्रान्तिवृत्त के ध्रुव की प्रदक्षिणा करता रहता है और विषुववृत्त क्रान्तिवृत्त पर सरकता रहता है। यही अयनचलन है। चन्द्रसूर्य का आकर्षण पृथ्वी के विषुववृत्त पर अधिक है, इस बात की सूक्ष्म प्रतीति होती है। चन्द्रकक्षा के पात

मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। हमारे देश के भी मुजालादिको का यही मत है। शतपथब्राह्मण का कृत्तिकाओ की स्थिति का दर्शक वाक्य पहले लिख चुके हैं। गणित से ज्ञात होता है कि वह स्थिति शकपूर्व ३१०० के आसपास थी। तब से अब तक अर्थात् लगभग ४९०० वर्षो में सम्पात की गति ६८ अश हुई है। आन्दोलन हमारे यहा ५४ अश ही माना है। उससे यह अधिक है अत हमारे ही ग्रन्थो के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पात का आन्दोलन नही होता, पूर्ण भ्रमण होता है। इस स्थिति मे ज्योतिषशास्त्र के निर्णयानुसार धर्मशास्त्र को ऋतुमाससाहचर्यसाधक सायनपद्धति ही स्वीकार करनी चाहिए और पञ्चाङ्ग भी सायन ही बनना चाहिए।

वर्षारम्भ एक एक मास पहले लाने की युक्ति

वर्तमान निरयण मान से उत्पन्न उपयुक्त ऋतुसम्बन्धी प्रतिकूलता को निरयण मान रखते हुए दूर करने की एक युक्ति कुछ लोग बताते हैं। उनका कथन है कि वर्षमान शुद्ध निरयण लीजिये, नक्षत्र राशि और सक्रान्तिया भी निरयण ही लीजिये, निरयण मेषादि सक्रान्तिया जिन चान्द्रमासो मे हो उन्हे वर्तमान पद्धति के ही अनुसार चैत्रादि कहिये, परन्तु जब अयनाश ३० हो जाते है और सम्पात निरयण मीनारम्भ मे चला जाता है उस समय वर्षारम्भ निरयण मीनारम्भ से अर्थात् निरयण फाल्गुन से कीजिये। मधुमाधवादि ऋतु सम्बन्धी जो नाम सम्प्रति चैत्र से आरम्भ किये जाते है उन्हें फाल्गुन से आरम्भ कीजिये और चैत्रादि मासो के धर्मकृत्य एक मास इधर हटा कर फाल्गुनादि में कीजिये। इसी प्रकार और कुछ दिनो बाद वसन्तारम्भ माघ मे होने लगे तो उसे ही मधु कहिये और वसन्त ऋतु में विहित कर्म चैत्र में न करके माघ मे कीजिये। ऐसा करने से जो कर्म जिस ऋतु में विहित है उसी में होते रहेंगे और तारात्मक रेवती, उत्तराभाद्रपदा इत्यादि नक्षत्रो के स्थानो को अश्विनी नही कहना पड़ेगा। यह मत केरोपन्त छत्रे और कृष्णशास्त्री गोडबोले का था। सम्प्रति लोकमान्य तिलक और वेंकटेश बापूजी केतकर का भी यही कथन है[1]।

१८$\frac{2}{3}$ वर्ष में एक प्रदक्षिणा करते हैं। उतने समय में चन्द्रमा विषुववृत्त से कभी २८ अश और कभी १८ अश तक उतर जाता है। तदनुसार विषुववृत्त के पूर्ण गोल भाग पर आकर्षण न्यूनाधिक होने के कारण ध्रुव के भ्रमण में अन्तर पड़ता है। प्रति १८$\frac{2}{3}$ वर्ष में वह अपनी पूर्वस्थिति में आ जाता है। पृथ्वी का मध्यभाग ध्रुवस्थान की तरह चिपटा नहीं है यह स्थिति कभी भी—कम से कम लाखो वर्ष—बदलने की सम्भावना नहीं है, अत. सम्पात का पूर्ण भ्रमण ही होगा।

[1] केरोपन्त का मत सन् १८८३ के ७ अक्टूबर और ४ नवम्बर के अरुणोदय पत्र में

आपातत यह मार्ग उत्तम ज्ञात होता है पर वस्तुत ग्राह्य नही है। इनमे से कुछ लोगो का मत है कि इसे स्वीकार करने मे परम्परा का भी आधार है। उनका कथन है कि उत्तरायण निरयण फाल्गुन, माघ, पौष और मार्गशीर्ष मासो मे अर्थात् उत्तरोत्तर एक एक मास पहले होता आया है और वेद मे उत्तरायणारम्भ मे वर्षारम्भ करने को कहा है अत फाल्गुन, माघ इत्यादि मासो मे वर्षारम्भ किया जा सकता है। इस विषय मे केरोपन्त का मुख्य प्रमाण साख्यायन ब्राह्मण का 'या वैषा फाल्गुनी पौर्णमासी सवत्सरस्य प्रथमा रात्रि' यह वचन था। तिलक ने सवत्सरसत्र के अनुवाक के आधार पर उत्तरायणारम्भ मासो की मालिका में चैत्र को भी जोड दिया है।

छत्रे और तिलक के दिये हुए प्रमाणो का उत्तरायण से कोई सम्बन्ध नही है, यह हम पहले सिद्ध कर चुके है। वेदो मे कही भी उदगयनारम्भ मे वर्षारम्भ का वर्णन नही है। यह कथन मेरा ही नही है, सायणाचार्य ने भी इस वाक्य का अर्थ उत्तरायणपरक नही किया है। माधवाचार्य ने भी कालमाधव मे अनेक वेदवाक्यो के आधार पर सवत्सरारम्भ का विवेचन करते हुए अन्त मे वसन्त के आरम्भ मे चैत्र मे वर्षारम्भ निश्चित किया है। उन्हे वेदो मे उदगयनारम्भ में वर्षारम्भ का बोधक एक भी वचन नही मिला। इतना ही नही, उन्होने यह भी निर्णय नही किया है कि वर्षारम्भ चैत्र, फाल्गुन, माघ इत्यादि मासो मे अर्थात् क्रमश पूर्व हटता आ रहा है।

वेदाङ्गज्योतिष मे माघ मे उत्तरायण माना है, यह बात सत्य है। महाभारत मे भी वह पद्धति दो एक स्थानो मे मिलती है। वेदाङ्ग को छोड अन्य सब ज्योतिषग्रन्थो मे उत्तरायण पौष में माना है पर इससे मास का नाम माघ, पौष इत्यादि क्रम से पहले लाने की परम्परा नही सिद्ध होती। अब यहा वेदाङ्गज्योतिष मे माघ मे बताया हुआ उत्तरायण पौष मे चला आने का कारण बतायेंगे[1]। वेदो मे मधुमाधव वसन्त के मास

प्रकाशित हुआ था। केतकर का भी उसी पत्र में लगभग सन् १८८४ में आया था। तिलक का मत उनके 'ओरियन' ग्रन्थ में और मुख्यत सन् १८९३ के केसरी में छपा था। गोडबोले से प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा मुझे उनका मत ज्ञात हुआ है। बापूदेव शास्त्री का मत यह नही था। वह पिछले पृष्ठो में लिखा ही है।

[1] निरयण मान के अनुसार मासो का नाम रखने से उत्तरायण माघ, पौष, मार्गशीर्ष इत्यादि क्रम से पहले अवश्य आवेगा परन्तु उत्तरायण जिस मास में होता है उसे फाल्गुन, माघ, पौष इत्यादि मानने की अर्थात् निरयण पद्धति के अनुसार मासो के नाम रखकर प्रति दो सहस्र वर्ष में वर्षारम्भ एक मास पूर्व लाने की परम्परा है या नहीं, इसीका विचार करना है और मैं यह सिद्ध कर रहा हूँ कि ऐसी परम्परा नहीं है।

और मधु वर्ष का आरम्भ मास माना गया है। जिस समय चैत्रादि संज्ञाएँ प्रचलित हुईं, वसन्त चैत्र मे होता था अत. धर्मशास्त्रकारों ने वेदकालीन पद्धति के अनुसार चैत्र-वैशाख को वसन्त के मास और चैत्र को संवत्सर का आरम्भमास मान लिया। वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल में माघ में उत्तरायण होता था तो भी उसके कारण इस पद्धति मे कोई बाधा नही पडी पर जब आगे चल कर मेषादि संज्ञाएँ प्रचलित हुईं उस समय चैत्र में मेष संक्रान्ति होती थी और चैत्र में संवत्सर आरम्भ किया ही जाता था अत ज्योतिषियो ने मासो का नाम रखने की 'मेषादिस्थे सवितरि' परिभाषा बनाई। वेदाङ्गज्योतिषकाल में यह नही थी। ज्योतिषियो द्वारा निर्मित नवीन परिभाषा धर्म-शास्त्रकारो ने भी मान ली। इस प्रकार मकरसंक्रान्ति पौष मे आ गई और फिर माघ मे होने वाले उत्तरायणारम्भ को भी पौष मे ही मानना पडा। धर्मशास्त्रकारो ने इसका विरोध नही किया। वेदाङ्गज्योतिषपद्धति निजरूप में बहुत दिनो तक सर्वत्र प्रचलित नही थी, यह बात वेदाङ्गज्योतिषविचार मे सिद्ध कर चुके है। इससे माघ मे उत्तरायण मानने की पद्धति का त्याग कर पौष में सर्वदा उत्तरायणारम्भ मानने की पद्धति स्थापित करने में कोई असुविधा नही हुई परन्तु अब वह परिभाषा बदली नही जा सकती। सम्प्रति कभी कभी उत्तरायणारम्भ मार्गशीर्ष में होता है पर धर्मशास्त्र को यह बात ज्ञात नही है अत मान्य भी नही है। सूर्यसिद्धान्त के उपर्युक्त श्लोको से सिद्ध होता है कि उसे भी यह बात मान्य नही है। ज्योतिष को जो मान्य नहीं है उसे धर्मशास्त्र भी नही मानता। साराश यह कि सम्प्रति कभी कभी मार्गशीर्ष मे भी उत्तरा-यण होता है पर धर्मशास्त्र ने उसे मान्य नही किया है और प्रति दो सहस्र वर्ष में वर्षारम्भ एक मास पहले लाने की परम्परा भी धर्मशास्त्र में नही है। ये दोनो बातें धर्मशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ मे नही मिलेगी।

संवत्सरसत्र के अनुवाक में चित्रापूर्णमास, फल्गुनीपूर्णमास और एकाष्टका (माघ कृष्ण ८) को संवत्सरसत्र आरम्भ करने का विचार किया है। इस आधार पर यदि कोई कहे कि भिन्न-भिन्न कालो में उन दिनो से उदगयनारम्भ और वर्षारम्भ क्रमश न होता रहा हो तो भी वसन्तारम्भ और वर्षारम्भ अवश्य होता रहा होगा और इससे वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा सिद्ध होती है तो यह भी असम्भव है, क्योंकि संवत्सरसत्र का अनुवाक तैत्तिरीयसंहिता और ताण्ड्यब्राह्मण में है और ये दोनो ग्रन्थ शकपूर्व २००० वर्ष, अधिकाधिक शकपूर्व १५०० से नवीन नही है, यह बात तिलक को भी स्वीकार करनी चाहिए अत उस समय माघ में वस-न्तारम्भ की सम्भावना ही नही है अर्थात् एकाष्टका को संवत्सरारम्भ मानने का कोई दूसरा कारण होगा और वह गौण होगा, यह पहले बता चुके है। अब रह गये

चित्रापूर्णमास और फल्गुनीपूर्णमास। प्रत्येक सूर्यसंक्रान्ति चान्द्रमास के सम्बन्ध से २९ दिन आगे पीछे होती है, यह प्रसिद्ध है। मेषसंक्रान्ति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से चैत्र कृष्ण अमावास्या पर्यन्त चाहे जिस दिन हो सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक ऋतु के आरम्भकाल मे इतना अन्तर पड सकता है अत वसन्तारम्भ एक ही काल मे किसी वर्ष फाल्गुनीपूर्णिमा को और किसी वर्ष चैत्रीपूर्णिमा को हो सकता है। पूर्णिमान्त मान से मास की समाप्ति पूर्णिमा को होती है अत वर्षारम्भ के नियम सूक्ष्मतया निश्चित होने के पूर्वकाल मे वसन्त में इन दोनो तिथियो से वर्षारम्भ की कल्पना होना स्वाभाविक है। सायणाचार्य ने इस अनुवाक का अर्थ इसी दृष्टि से किया है। माधवकृत कालनिर्णय में भी इसी अर्थ की पुष्टि की गई है।[1] वर्षारम्भ के भिन्न भिन्न मास पहले लिख चुके है, उनमें भी वर्षारम्भ एक-एक मास पूर्व लाने की परम्परा नही है।

धर्मशास्त्र परिवर्तन असम्भव

वर्षारम्भ एक-एक मास पहले लाना और चैत्र के धर्मकृत्यो को फाल्गुन मे करना धर्मशास्त्र बदलने के समान ही है। इस मत का समाचारपत्रो तक ही रह जाना ठीक है। मालूम होता है, विद्वानो और साधारण जनता मे इसका कितना उपहास होगा, इसकी इसके उत्पादको और अनुयायियो को कल्पना भी नही हुई। मुजाल ने सम्पात का पूर्ण भ्रमण माना है। मरीचि टीकाकार मुनीश्वर ने उनके इस मत को नास्तिकमत, यवनमत इत्यादि कहा है क्योकि पूर्ण भ्रमण मानने से ऋतुओ के विषय मे श्रुति का विरोध आता है। ऋतुमासव्यत्यय के कारण का केवल कथन भी उन्हे अनुचित प्रतीत हुआ तो फिर ऐसे धर्मशास्त्री चैत्र के धार्मिक कर्मो को फाल्गुन मे करना कब स्वीकार करेंगे ?

इस पद्धति को मान लेने पर भी ऋतु की अशुद्धि दूर नही होगी क्योकि सम्पात सदा चलता रहता है। जिस समय वह निरयण मीनारम्भ मे आवेगा, हम वही से

[1] लोकमान्य तिलक का ग्रन्थ प्रकाशित होने के पूर्व ही सन् १८८७ ई० में मैंने यह ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उसी समय संवत्सरसत्र के अनुवाक के संवत्सरारम्भ सम्बन्धी वाक्यो का विवेचन किया था। उनकी संगति जैसी यहां पहले लगाई है वैसी ही उस समय भी लगाई थी। सन् १८९५ ई० में Indian Antiquary में तिलक के ग्रन्थ पर प्रो० थीबो का अभिमत प्रकाशित हुआ है। उन्होंने भी इन वाक्यो का अर्थ मेरी तरह ही लगाया है। केरोपन्त के आधारभूत वाक्य का अर्थ भी इसमें आ गया है।

वर्षारम्भ कर देंगे पर वह सर्वदा पहले आता रहेगा और हमारा वर्षारम्भ स्थिर रहेगा। इस प्रकार उसमें तब तक अशुद्धि बढ़ती जायगी जब तक सम्पात कुम्भारम्भ में नहीं आ जायगा। कुम्भारम्भ में आने पर हम वर्षारम्भ वहीं से करेंगे और फिर अशुद्धि होने लगेगी। वह ३० दिन पर्यन्त जायगी।

अनिवार्य कठिनाई

जिन कर्मों का सम्बन्ध ऋतुमास तिथि से ही है वे कदाचित् एक एक मास पहले लाये जा सकते हैं पर पूर्वोक्त मार्ग स्वीकार करने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि कुछ कर्म ऋतु, मास, तिथि और साथ ही साथ नक्षत्र से भी सम्बन्ध रखते हैं। जैसे विजयादशमी शरदृतु में आश्विन शुक्ल दशमी को आती है। उसमें श्रवण नक्षत्र का योग भी अपेक्षित है। पर भाद्रपद की शुक्ल दशमी को श्रवण नक्षत्र कभी नहीं आवेगा। उस मास में द्वादशी को आता है और श्रावण की शुक्ल चतुर्दशी को आता है अत श्रावण में विजयादशमी यदि दशमी को मानेंगे तो श्रवण नक्षत्र नहीं मिलेगा और श्रवण नक्षत्र लेंगे तो दशमी तिथि नहीं मिलेगी। उस समय दशहरा या दशमी शब्द भी उसमें लागू नहीं हो सकेगा।

नया धर्मशास्त्र मान्य कैसे हो

यदि पूर्वोक्त पद्धति धर्मशास्त्रसम्मत न होते हुए भी प्रचलित करनी है तो नवीन धर्मशास्त्र बनाना पड़ेगा पर धर्मशास्त्रग्रन्थों और लोकस्थिति का विचार करने से यह कार्य दुष्कर प्रतीत होता है। विद्वानों की समिति द्वारा नवीन धर्मशास्त्रग्रन्थ बनवाया जा सकता है पर उसका मान्य होना अत्यन्त कठिन है। शङ्कराचार्य की सम्मति मिल जाय, इतना ही नहीं, उसे कानून का रूप देकर पास करा लिया जाय तो भी उसका प्रचार होना कठिन है। हमारे देश में धर्मशास्त्र के सहस्रों ग्रन्थ और उनकी लाखों प्रतियां विद्यमान हैं। उन सबों को नष्ट करना होगा। उनका त्याग करने पर भी अन्य विषयों के ग्रन्थ लुप्त नहीं किये जा सकते। उन सहस्रों ग्रन्थों में वर्णित तथा करोड़ों मनुष्यों के हृदयपट पर अङ्कित पद्धति को बदलना असम्भव है। उत्तरायण पहिले धनिष्ठारम्भ में होता था, बाद में उत्तराषाढा में होने लगा, फिर भी दो तीन ग्रन्थों में धनिष्ठादि गणना मिलती है। यद्यपि वह कुछ ही प्रान्तों में कुछ ही काल तक प्रचलित थी तथापि वराहमिहिर सरीखे विद्वानों को भी उसके कारण भ्रम हो गया था। अत. सहस्रों ग्रन्थों में लिखित एवं दीर्घकाल तक सारे देश में प्रचलित वर्तमान पद्धति को बदलने से सामान्य जनता में बड़ी खलबली मच जायगी। आश्विन की विजयादशमी भाद्रपद की द्वादशी को मनाने की आज्ञा देने पर अज्ञ जनता में बड़ा बुद्धिभेद उत्पन्न

होगा। उस परिस्थिति में क्या क्या उपद्रव खडे होगे, इसका वर्णन करे तो दस वीस पृष्ठ लग जायगे। साराश यह है कि चाहे जिस दृष्टि से विचार कीजिये, चैत्र के वर्षारम्भ और अन्य कर्मो को फाल्गुन, माघ इत्यादि मासो मे पहले लाना त्याज्य सिद्ध होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से विचार

अव व्यावहारिक दृष्टि से सायन निरयण का विचार किया जाय। सायन के बिना व्यवहार मे कोई बडी कठिनाई आवेगी, यह वात नही। जिन्हे व्यवहार मे पञ्चाङ्ग की आवश्यकता नही होती उनके सम्बन्ध में विचार करना ही अनावश्यक है। विचार करना है उन्ही के सम्बन्ध मे जिन्हें पञ्चाङ्ग की आवश्यकता पडती है। शक ४४४ के करीब आर्द्रा सूर्य नक्षत्र लगभग आधा होने पर वर्षा का आरम्भ होता था। सम्प्रति यह मृग के आरम्भ में होता है। आजकल वार्शी, सोलापुर जिलो की जनता के मुख्य अनाज ज्वार की बुवाई हस्तनक्षत्र के आधे के करीव होती है। शक ४४४ के करीब यह स्वाती के आरम्भ में होती रही होगी, यह स्पष्ट है। किन्तु पहले स्वाती में बुवाई होती थी, इसकी कल्पना लोगो को स्वप्न मे भी नही हो सकती। लोग समझते है कि हस्त मे ही बुवाई होने का नियम सृष्टि की उत्पत्ति के समय से चला आ रहा है। निरयणमान ऐसा ही रहा तो कुछ काल के बाद बुवाई उत्तरा में करनी होगी। किन्तु यह फेरफार इतनी मदगति से होनेवाला है कि किसी व्यक्ति के जीवनकाल में ही नही, तीन चार पीढियो मे भी उसके समक्ष में आने की सम्भावना नही, अत वह बिना परिलक्षित हुए सहज ही होता रहेगा। इस प्रकार अधिकाश व्यवहार के लिए सायनमान न होने पर भी कोई वाधा न पडेगी।

किन्तु विवाह कार्य का व्यवहार से निकट सम्बन्ध है और धर्मशास्त्र से भी है। इसमे मान निरयण से बाधा पडेगी ऐसा पहले ही वताया गया है। यह बाधा बहुत दिनो में आवेगी, यह सच है किन्तु वह आवेगी अवश्य, इसमें कोई सन्देह नही। आजकल भी ज्येष्ठ का महीना कभी कभी वर्षा शुरू हो जाने के कारण विवाह के लिए अनुपयुक्त होने लगा है। इसके विपरीत सायनमान स्वीकार करने से वर्तमान व्यवहार में बाधा पडेगी या नही, यह देखा जाय। हमारे महीने चान्द्र है, इसलिए हमें अधिक मास मानना पडता है। यह वात सायनमान शुरू होने में बहुत अनुकूल है। जूलियस सीजर के समय वर्ष के दिन एक वार वढाने पडे थे। पोप ग्रेगरी के समय तथा ईसवी सन् १८५२ मे इग्लैण्ड मे कानून बनाकर आज अमुक तारीख है तो कल १०।१२ तारीखे छोड कर अगली तारीख निश्चित करनी पडी थी। यह वात लोगो को कुछ विचित्र लगी होगी।

कानून से तो वह कर लिया गया किन्तु हमें ऐसा नही करना चाहिये। एक वर्ष पुराने पञ्चाङ्ग के अनुसार अधिक मास आने पर उसे बिलकुल न मानकर आगे सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार कर उसके हिसाब से अधिक मास मानने से ही काम चल जायगा। यदि सभी पञ्चाङ्ग बनाने वाले ऐसा करने का विचार करें तो लोगो को पता लगे बिना ही यह फेरफार अनायास हो जायगा। यह उपाय मान लेने में आसानी है, यह ठीक है। फिर भी निरयण मृग नक्षत्र के आरभ में सायन आर्द्रा नक्षत्र सम्प्रति होता है और तब वर्षा शुरू होती है, इसलिए मृग के आरभ में होने वाली वर्षा आर्द्रा नक्षत्र आधा होने पर भी क्यो नही होती, यह बात लोगो की समझ मे न आवेगी। वर्षा प्रारभ होने के समय निरयण मृग के आरभ मे करने के कार्य सायन मृग के आरभ में लोग सम्भवत करने लगेंगे। इस प्रकार व्यवहार में बाधा पडेगी। धीरे-धीरे परिवर्त्तन हुआ तो उससे व्यवहार में बाधा न पडेगी। किन्तु सभी सक्रान्तियाँ तथा सूर्य नक्षत्र २२ दिन पहले लाना बहुत ही दुष्कर होगा। गुरु कब फिरा, चन्द्रमा कौन सी राशि मे है, आदि बातो में यदि फेरफार हुआ तो लोगो को उसका विशेष पता न चलेगा किन्तु हस्त मे की जाने वाली बुवाई स्वाती में की जाय, यह बात उन्हें विचित्र लगेगी। नक्षत्र, सूर्य-क्रान्ति ये बातें हम लोगो में बद्धमूल होने के कारण तारीखो में १०।१२ दिन का फरक पडने से यूरोपियनो को व्यवहार में जितनी कठिनाई हुई होगी, उससे कही अधिक कठिनाई हम लोगो को होगी। सायन पञ्चाङ्ग स्वीकार करने के लिए कुछ लोग तैयार हो जाय तो सभी उसे स्वीकार कर लेगे, ऐसा नही कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे पुराना पञ्चाङ्ग चालू रहने पर उस पञ्चाङ्ग से फाल्गुन को सायन चैत्र कहना पडे तो यह अनायास लोगो की समझ मे आ जायगा। ब्रह्मगुप्त की सक्रान्ति एक दिन पहिले थी। वह प्रचार में भी आ गयी थी, किन्तु अन्त में वह रह नही पायी। केरोपती पञ्चाङ्ग की सक्रान्ति चार दिन पहले है, फिर भी उस पञ्चाङ्ग के प्रचार में न आने का कारण भी वही है। सायनमान की सक्रान्तियाँ तो २२ दिन पहले आती है, इसलिए ऐसा पञ्चाङ्ग प्रचार में आने में तो बहुत कठिनाई होगी। इस प्रकार इसमें कई कठिनाइयाँ हैं किन्तु उन्हे दूर करने के प्रश्न पर आगे विचार किया गया है।

जातकस्कन्ध की दृष्टि से विचार

सायनमान ग्राह्य है, ऐसा विचार अब तक मुख्यत गणित और मुहूर्त इन स्कधो की दृष्टि से किया गया। इन दोनो को जो मान्य हो वह जातक स्कधो को मान्य होना चाहिये। कौन से मान से पत्रिका बनाने पर वह अनुभव पर खरी उतरेगी, इस पर ही बहुत कुछ इस बात का निर्णय निर्भर है, इसमें संदेह नही। सायनमान से पत्रिका खरी

उतरती है, ऐसा सायनवादी ज्योतिषी माधव, ब्रह्माजी तथा जीवनराव त्र्यम्बक चिटणीस कहते है।[1] यूरोप के वर्तमान प्रसिद्ध ज्योतिषी जडकिल और रफील सायनमान से ही पत्रिका बनाते है। हमारे देश मे इस समय सर्वत्र निरयण मान से ही पत्रिका बनाते है तथापि जातकोत्तम ग्रथ के ज्योतिर्निबध में ऐसा वचन है—

उच्चत सप्तम नीच प्रोक्ताशे परिनीचता।
इहकार्य सायनाशखचरै फल निर्णय ॥

इससे जातक प्रकरण मे सायनमान ग्राह्य है, ऐसा हमारे ग्रन्थकारो का भी मत है। सायन निरयण के आरम्भस्थान मे जब बहुत अन्तर नही था तभी जातक के अधिकाश ग्रन्थ लिखे गये थे। इसलिए वे सायन के अनुसार होगे, ऐसा लगता है। इस सम्बन्ध मे अधिक विवेचन आगे जातकस्कध मे किया गया है। सायनमान पत्रिका ठीक सिद्ध कर दो तो हम सायनमान स्वीकार करेगे, ऐसा कहने वाले मुझे कई मिले है किन्तु मुझे लगता है कि किसी भी मान से वह सर्वाश से साध्य नही।

उत्तम ग्राह्य मार्ग

पहले तर्क की दृष्टि से जो विचार किया गया, वह सभी काल मे सबको मान्य होने लायक है। इसलिए इस विचार के अनुसार सायनमान स्वीकार करना सबसे उत्तम मार्ग है। ऐतिहासिक दृष्टि और धार्मिक दृष्टि से भी वही मार्ग ग्राह्य है, यह ऊपर दिखाया ही जा चुका है। इस मार्ग से व्यवहार में पहले कुछ कठिनाई होगी किन्तु जूलियस सीजर ने ईसवी सन् के पूर्व ४६ वे वर्ष मे जब पञ्चाङ्ग शुद्ध किया तब वर्षारभ ६७ दिन एकाएक आगे बढा देने से उस समय लोगो मे जो भ्रम फैला होगा और जो असुविधा हुई होगी, उसके मुकाबले हमारे यहाँ वर्षारभ २२ दिन पहले हटाने से होने वाली असुविधा कुछ भी नही। इसके अलावा अधिकमास के कारण किस प्रकार सुविधा होती है, यह अभी अभी बता ही चुके हैं। जिस वर्ष ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से अधिकमास है और सायन से नही है, ऐसे वर्ष मे सायन पञ्चाङ्ग शुरू करने से सब ठीक हो जायगा। तिथि दोनो की एक ही है। कृषि के सम्बन्ध में कुछ वर्ष तक कठि-

[1] माधवराव ब्रह्माजी ने 'सांवत्सर भविष्य माला' नाम की शक १८०६ के भविष्य की पुस्तक प्रकाशित की थी। उसमें भविष्य सायनमान से दिये गये थे। चिटणीस ईसवी सन् १८९५ की मई से 'ज्योतिर्माला' नाम की जो मासिक पत्रिका बम्बई से प्रकाशित करते है, उसमें फल ज्योतिष का विचार सायनमान से किया जाता है।

नाई होगी किन्तु पहले अमुक सूर्यनक्षत्र में खेती के जो काम होते हों वे अब अमुक नक्षत्र में किये जायँ ऐसे नियम पञ्चाङ्गो मे कुछ दिन लिख देने और कुछ वर्ष कार्यान्वित होन पर उनमें कभी बाधा पैदा न होगी और न किसी प्रकार की कठिनाई होगी। आवश्यकता केवल ऐसा ग्रन्थ तैयार करने की है जिसके आधार पर सायन पञ्चाङ्ग बनाया जा सके।

दूसरा मार्ग

उपर्युक्त मार्ग से प्रतिदिन के तिथि-नक्षत्रो में कोई कठिनाई न होगी किन्तु वर्षा आदि के सूर्य नक्षत्र २२ दिन पूर्व होने के कारण खेती के काम में थोड़ा भ्रम पैदा होगा। तारात्मक नक्षत्रो में एकदम करीब पौने दो नक्षत्रो का अन्तर पड़ने से वह कुछ भ्रामक होगा। इसलिए यदि यह मार्ग कुछ परेशानी का प्रतीत हो तो एक दूसरा मार्ग भी है। यह इस प्रकार है —अयनांश सम्प्रति सूर्यसिद्धान्तादि के अनुसार मानने का निश्चय किया जाय (शक १८०५ में २२), और वर्षमान शुद्ध सायन रखा जाय। इसमें अयनगति अनायास ही शून्य होगी। ऐसा करने से वर्तमान ऋतु में २२ दिन का जो फरक पडता है वह उतना ही रहेगा, उससे अधिक न होगा। इस मार्ग का ग्रन्थ तैयार होने पर इसके प्रचलित होने में किसी प्रकार की कठिनाई न होगी। न राजाज्ञा की और न शङ्कराचार्य की आज्ञा या सहायता की आवश्यकता होगी। जब छापाखाने न थे उस समय यदि ग्रहलाघव ग्रन्थ सर्वत्र कुछ ही वर्षो में जैसे फैल गया, वैसे ही इस मार्ग का ग्रन्थ और पञ्चाङ्ग भी सहज ही सर्वत्र शीघ्र प्रचलित हो जायगा।

निरयणमान ग्राह्य नही, ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है, तथापि सायनमार्ग स्वीकार करना दुष्कर प्रतीत हो, निरयण ही ग्रहण करना हो तो ग्रहलाघवादि का, केरोपती एव वापूदेव आदि इन तीनो में से कोई एक लिया जाय अथवा नया ही ग्रहण किया जाय, इस पर विचार करना चाहिये। सूर्यसिद्धान्तादिको का निरयण वर्षमान चालू रहा तो क्या परिणाम होगा, यह तार्किक दृष्टि से ऊपर दिखा ही चुके हैं। अत वह वर्षमान छोडकर शुद्ध नाक्षत्र सौर वर्षमान ग्रहण किया जाना चाहिये,यह हमें मानना होगा। सूर्यसिद्धान्त का वर्ष लिया जाय तथा शुद्ध ग्रहगतिस्थिति लेकर पञ्चाङ्ग तैयार किया जाय, ऐसा वापूदेव का कहना है। रघुनाथाचार्य का भी ऐसा ही कहना है। इसका उद्देश्य इतना ही है कि सूर्यसिद्धान्त का वर्षारम्भ मानने से अयनांश में पडने वाला फरक इतना कम होगा कि लोगो का ध्यान उधर न जायगा। इस प्रकार सूर्य संक्रान्तियाँ और अधिमास पूर्व के समान ही आवेंगे और सामान्य लोगो को तथा ज्योतिषियो को भी यह पञ्चाङ्ग मान लेने में आपत्ति न होगी। उनका उद्देश्य इससे

अधिक नही दिखाई देता। किन्तु यदि इसे साध कर भी शुद्ध वर्षमान स्वीकार किया जा सके तो वह मार्ग किसी को भी मान्य हो सकेगा। अब केरोपत का मत तो यह है कि शुद्ध नाक्षत्र (निरयण) सौरवर्ष ही ग्रहण किया जाय। किन्तु उनकी राय है कि जीटापिशियम तारा को आरम्भ स्थान मान लिया जाय। ऐसा करने पर सूर्यसक्रमण में चार दिन का अन्तर पडता है तथा अधिकमास भिन्न होता है। इसीलिए केरोपती पञ्चाङ्ग मान्य नही होता। जीटापिशियम तारा शक ४४४ के करीब आरम्भस्थान के पास था, यह सही है, फिर भी सूर्यसिद्धान्त से रेवती भोग शून्य नही, ३५६।५० अर्थात् १० कला कम है। लल्ल ने रेवती भोग ३५६।० माना है अर्थात् यह एक अंश कम है। ब्रह्मगुप्त ने और उसके बाद के ज्योतिषियो ने रेवती भोग शून्य माना है। फिर भी उनके अथवा हमारे किसी भी ग्रन्थ के स्थान में जीटापिशियम अथवा कोई भी तारा सर्वदा रह नही सकता, ऐसा मैं अयन चलन विचार मे स्पष्ट बता चुका हूँ। आरम्भ-स्थान मे रेवती तारा होना चाहिये, ऐसा ब्रह्मगुप्त तथा उनके बाद के ज्योतिषियो का कहना सही है। रेवती नक्षत्र के ३२ तारे हैं। उनमें से कोई ऐसा तारा मिले कि जिसका सम्पात से सम्प्रति अन्तर, सभी ग्रन्थो से प्राप्त होने वाले वर्तमान अयनाशो के लगभग हो, तो उसे आरम्भ स्थान मे मानकर शुद्ध नक्षत्र सौरवर्ष मानने के लिए ब्रह्मगुप्त आदि सब ज्योतिषी, यदि वे आज जीवित होते, खुशी से तैयार हो जाते। केरोपन्त ने हमारे सभी ग्रन्थो से अयन चलन का इतिहास देखा था, ऐसा नही मालूम होता। अयनाश कम मानने से सक्रमण यदि पहले आता है तो वह लोकप्रिय होगा या नही, इसका विचार पञ्चाङ्ग प्रारम्भ करते समय उन्होने नही किया और यह विचार उस समय उत्पन्न होने का कोई कारण भी नही था। इसी कारण शुद्ध निरयण वर्ष मानने पर भी अन्तर लोगो की समझ में न आवे, ऐसा करने का कोई मार्ग है या नही, इस पर सम्भवत उन्होने विचार नही किया। ऐसा मार्ग है, यह मुझे ज्ञात हुआ है। रेवती के तारो की मृदङ्गा-कृति हमारे ग्रन्थो में वर्णित है। उसमें एक तारा शक १८०९ के आरम्भ मे सम्पात से २१ अश ३२ कला ५७ विकला अन्तर पर है, इसलिए हमारे सिद्धान्त का आरम्भ स्थान वर्तमान जीटापिशियम से भी उसके लिए अधिक समीप होगा। हमारे अलग अलग सिद्धान्तो के वर्षमान के अनुरूप शक १८०९ में अयनाश कितने माने जायें, यह पहले लिख चुके हैं। वे २१ अश ५६ कला से २२ अश ३ कला तक हैं। मध्यम रवि माना जाय तो वे २२।४ से २२।१८ तक होगे। इसी प्रकार हमारे देश के वर्तमान प्रचलन को देखा जाय तो शक १८०९ में अयनाश कही २२।४५, कही २२।४४ और कही २०।४९ है, यह भी लिखा जा चुका है। ऐसी स्थिति में ऊपर मैंने जो तारा बताया है उसे आरम्भस्थान मे मानने पर शक १८०९ में अयनाश २१।३३ मानना

पड़ेगा। यह ऊपर के सब तारो से अधिक नजदीक है। तेजस्विता के सम्बन्ध में जीटा-पीशियम तारा वेध के लिए अथवा केवल देखने के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही यह तारा भी उपयोगी है। जीटापीशियम को आरम्भस्थान मानने से ११ नक्षत्रों में गडबडी होती है किन्तु इसे मानने पर ७ में ही गडबडी होगी, यही इसकी सुविधा है। इसीलिए इस तारे को आरम्भ स्थान में माना जाय, उसके सम्पात से जो अन्तर हो उसे अयनाश माना जाय। तात्पर्य यह है कि चित्रा तारा वेध के लिए बहुत उपयोगी है। सूर्यसिद्धान्त में उसका भोग १८० अश है। इसके आधार पर उसके साथ वेधो की तुलना कर प्राचीन ज्योतिषी ग्रहगति स्थिति साधते होंगे, ऐसा अनुमान होता है। तो अब चित्रा तारा का भोग १८० अश मान कर वहाँ से १८० अश पर आरम्भस्थान माना जाय। चित्रा तारा का सायन भोग शक १८०९ में ६ राशि २२ अश १६ कला है, इसलिए शक १८०९ में अयनाश २२।१६ माना जाय। यही ऊपर स्पष्ट की गयी बातो से बहुत निकट है। आरम्भस्थान इस प्रकार मानने पर केवल ७–८ नक्षत्रों में गडबडी होगी। साराश, शक १८०९ में २१।३३ अथवा २२।१६ अयनाश माना जाय।[2]

अयन वर्ष गति वास्तविक अर्थात ५५ $\frac{2}{10}$ विकला मानी जाय और वर्षमान शुद्ध नाक्षत्र सौर अर्थात् ३६५ दिन १५ घडी २२ पल ५३ विपल माना जाय। यह मार्ग प्रचलित सभी पञ्चाङ्ग, उसी प्रकार केरोपन्ती, बापूदेव तथा रघुनाथाचार्य आदि के पञ्चाङ्गो से सर्वाधिक उत्तम है। सायन मान के जो दो मार्ग ऊपर बताये गये हैं, वे यदि प्रचलित न हो तो यह तीसरा मार्ग ग्रहण किया जाय, यह उचित ही होगा। इसमें प्रचलित ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्ग से सूर्यसक्रमण में केवल कुछ घडियो का ही अन्तर पडेगा तथा अधिक मास सब व्यवस्थित होगे। सामान्यत. अन्तर बिलकुल न पडेगा। इसीसे स्पष्ट है कि उपर्युक्त मार्ग सहज ही प्रचलित हो सकेगा। इसी प्रकार इस मान का नया सस्कृत ग्रन्थ तथा उसके अनुसार तिथि चिन्तामणि जैसी सारणियाँ तैयार

[1] पहले हम योगतारा भोग सूक्ष्म (केरोपन्ती) दे चुके हैं, वे जीटापिशियम से दूरी पर हैं। जीटापिशियम से आगे यह तारा लगभग ३ अंश १५ कला है, इस कारण जिसके सामने 'आगे' लिखा है वे उत्तरा भाद्रपद के सिवा सब तारे अपने-अपने प्रदेश में आवेंगे। जिन सात में गड़बडी पड़ेगी उनमें ज्येष्ठा तारा केवल २ कला पीछे रहेगा।

[2] इस ग्रन्थ का यह भाग पहले-पहल शक १८१० में लिखा गया था, इसलिए इसमें १८०९ के गणित का उल्लेख है।

होने पर यह मार्ग बहुत जल्द प्रचलित हो सकेगा, इसका मुझे विश्वास है। यदि केरो-पन्त के सामने यह मार्ग कोई प्रस्तुत करता तो वे उसे तत्काल मान लेते क्योकि पटवर्द्धनी पञ्चाङ्ग में उन्होने जो मार्ग स्वीकार किया है उसकी अपेक्षा जीटापीशियम के स्थान पर दूसरा तारा मानना, मात्र इतना ही दोनो में अन्तर है। बापूदेव का तथा रघुनाथा-चार्य आदि का उद्देश्य इससे सिद्ध हो जाने से उनके अनुयायियो को भी यह मार्ग पसन्द आयगा।

उपर्युक्त दूसरे और तीसरे मार्ग में वर्षमान तथा ग्रहस्थिति शुद्ध लेना, इतना ही पुराने पञ्चाङ्ग से इसमें अन्तर होगा। इस पद्धति का पञ्चाङ्ग किसी भी समझदार मनुष्य के हाथ मे देने पर उसकी समझ मे न आने लायक कोई बात उसमे न मिलेगी। पञ्चाङ्ग बदल गया, ऐसा भी उसे न प्रतीत होगा। साराश इन दोनो मे से कोई भी मार्ग प्रचलित होने में जरा भी कठिनाई नही है।

इन तीन मार्गो की चर्चा से तथा ग्रहादिको में ग्रहलाघव से आनेवाला अन्तर जो पहले बताया जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि ऐसे नवीन ग्रन्थ की आवश्यकता है जिससे ग्रहगति स्थिति शुद्ध प्राप्त हो सके। केरोपन्त के ग्रह साधन कोष्ठक ग्रन्थ में ग्रहगति स्थिति उतनी शुद्ध तो नही है जितनी इग्लिश नाटिकल आल्मनाक ग्रन्थ के आधार पर प्राप्त होती फिर भी कामचलाऊ दृष्टि से वह पर्याप्त शुद्ध है। उसमें वर्षमान सूर्य-सिद्धान्त का लिया गया है और उसके आधार पर ग्रह सायन निकलते है। इस कारण वह व्यवहारत उपर्युक्त तीनो में से किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नही, फिर भी यदि कोई नया ग्रन्थ निर्माण किया जाय तो उसमे इस ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता मिलेगी। जिन ग्रन्थो के आधार पर इग्लिश अथवा फ्रेंच नाटिकल आल्मनाक तैयार किया जाता है उन्ही की सहायता से नया ग्रन्थ तैयार होना चाहिये। वे ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में है। उन पर से ग्रह सायन निकलते है तथा उनकी वर्षमान पद्धति हमसे भिन्न है, इस कारण पर्याप्त कठिनाई होगी, फिर भी प्रयत्न करने पर ग्रन्थ तैयार किया जा सकता है। यह ग्रन्थ सस्कृत में पद्यात्मक होना चाहिये। उसमें गणित के लिए कोष्ठक तैयार कर ग्रहलाघव के आधार पर ग्रह निकालने में जितना परिश्रम करना पडता है उतना अथवा उससे भी कम परिश्रम करने पर ग्रह निकाले जा सकेंगे। इसके सिवा तिथि नक्षत्र योग की घडी पल निकालने में गणेश दैवज्ञ कृत तिथि चिन्तामणि जैसे कोष्ठक तैयार होने चाहिए। ये भी तैयार किये जा सकते है। ये दो ग्रन्थ तैयार होने पर उपर्युक्त तीनो में से, और उनमें भी विशेषकर अन्तिम दोनो में से कोई मार्ग प्रचलित होने में बहुत सहायता मिलेगी। केरोपन्ती पञ्चाङ्ग जैसा पञ्चाङ्ग जिसके आधार पर तैयार किया जा सके, ऐसा ग्रन्थ वेंकटेश बापू जी केतकर ने तैयार किया है, ऐसा ज्ञात हुआ है किन्तु उसमें अयनाश

जीटापीशियम से गिने गये है, इसीलिए उसका प्रचलित होना कठिन प्रतीत होता है। बाबा जी विट्ठल कुलकर्णी ने[1] ग्रहलाघव के अनुसार ग्रन्थ लिखा है किन्तु उसमें वर्षमान सूर्यसिद्धान्त का है और उसके आधार पर ग्रह सायन आते है, ऐसा ज्ञात हुआ। अर्थात् वह वस्तुत किसी भी मार्ग के लिए उपयोगी नही और उसका प्रचलित होना भी कठिन है। सुना जाता है कि बापूदेव ने अथवा उनके शिष्यो में से किसी ने उपर्युक्त ढग का ग्रन्थ तैयार किया है। रघुनाथाचार्य ने भी एक ग्रन्थ लिखा किन्तु उसमें वर्षमान कौन सा है, उसके आधार पर उपर्युक्त तीनो मे से किसी एक प्रकार पञ्चाङ्ग तैयार किया जा सकता है या नही, यह ज्ञात नही हो सका। साराश, जैसा चाहिये वैसा उपयुक्त ग्रन्थ अभी नही है। ऐसा ग्रन्थ लिखने की मेरी इच्छा है और मै प्रयत्न भी कर रहा हूँ। यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो उसमें मुझे सफलता मिलेगी।

(३) त्रिप्रश्नाधिकार

इसमे दिक्, देश और काल सम्बन्धी प्रश्नो का विचार किया रहता है इसलिए इसे त्रिप्रश्नाधिकार कहते है। इसमें दिक्साधन कई प्रकार से किया रहता है। इष्टकाल द्वारा लग्न और लग्न द्वारा इष्टकाल का आनयन रहता है। छायादिको द्वारा भी कालसाधन किया रहता है। उज्जयिनी से देशान्तर का विचार प्राय मध्यमाधिकार मे रहता है इसलिए वह इसमें नही रहता पर विषुववृत्त से किसी स्थान का अन्तर (अक्षाश) लाने की रीतिया दी रहती है। इसमे छाया का विचार अधिक रहता है। छायासाधन द्वादशागुल-शकु द्वारा किया रहता है। उसमे अभीष्टकाल मे ग्रह चाहे जिस दिशा मे हो, शकुच्छाया कितनी होगी और वह किस दिशा में पडेगी इत्यादि बातो का वर्णन रहता है। भास्कराचार्य से पहिले के आचार्यो ने शकु की केवल पूर्वापर, दक्षिणोत्तर और कोणछायाएँ लाने की विधिया लिखी है परन्तु भास्कराचार्य ने प्रत्येक दिशा का छायासाधन किया है। उसके विषय में उन्होने अभिमानपूर्वक लिखा है—

[1] कुलकर्णी ने 'करण शिरोमणि' तथा 'ग्रह ज्योत्स्ना' नामक ग्रन्थ लिखे है। मैने उन्हें पढा नहीं है अत. उनकी विशेष जानकारी मुझे नहीं है। ये ग्रन्थ छपे नहीं है। इनके सम्बन्ध में केरोपन्त की राय अच्छी है। कुलकर्णी का जन्म शक १७६७ में मालवण में हुआ था और शक १८१५ में उनकी मृत्यु हुई। वे रत्नागिरि जिले में ईसवी सन् १८६५ से १८७५ ईसवी तक शिक्षा विभाग में और फिर अन्त तक मुलकी विभाग में नौकर थे। उनके द्वारा रचित तारकादर्श पुस्तक १८८६ ईसवी में छपी है।

याम्योदक्समकोणभा. किल कृताः पूर्वं. पृथक्साधनै—
र्यास्तद्दिग्विरान्तरान्तरगता याः प्रच्छकेच्छावशात्।
ता एकानयनेन चानयति यो मन्ये तमत्य भुवि
ज्योतिर्विद्वदनारविन्दमुकुलप्रोल्लासने भास्करम्।।४४।।

सिद्धान्तशिरोमणि, त्रिप्रश्नाधिकार

छाया द्वारा कालसाधन करते हैं परन्तु उसका मुख्य उपयोग वेधार्थ नलिकाबन्ध मे होता हैं। नलिका द्वारा वेध करने का मुख्य स्वरूप यह है—इष्टकाल मे सूर्य (या किसी भी ग्रह) के प्रकाश मे खडे किये हुए शकु की छाया कितनी और किस दिशा में पडेगी, इसको ग्रन्थोक्त गणित द्वारा लाकर तदनुसार नलिका लगा कर उसमें से ग्रह देखा जाता हैं। इष्टकाल मे उसके दिखाई देने पर ग्रन्थागत ग्रहस्थिति शुद्ध समझी जाती हैं।

विषुवदिन की द्वादशागुल शकु की छाया उस स्थान की पलभा कही जाती हैं। यहा एक समकोण त्रिभुज बनता है जिसमे पलभा भुज, शकु कोटि और शक्वग्र तथा छायाग्र को मिलाने वाली रेखा कर्ण होती हैं। इसे अक्षक्षेत्र कहते हैं। हमारे ज्योतिष में इस अक्षक्षेत्र का वडा महत्त्व हैं। इसके सजातीय क्षेत्र वना कर उनके द्वारा प्रसङ्गानुसार अनेक मान लाये जाते हैं। इस अधिकार मे उन क्षेत्रो का अधिक विचार किया रहता हैं।

सिद्धान्ततत्त्वविवेककार लिखित कुछ नगरो के अक्षाश और रेखाश पहले लिख आये हैं। यन्त्रराज के टीकाकार मलयेन्दुसूरि ने ७५ नगरो के अक्षाश लिखे हैं। वह ग्रन्थ छपा हैं। पहले के किसी पृष्ठ की टिप्पणी में वर्णित सखाराम जोगी[1] के यन्त्र पर कुछ नगरो के अक्षाश लिखे हैं। उन्हें यहा उद्धृत करते हैं।

[1] प्रतोदयन्त्र की सखारामकृत एक टीका हैं। उसमें उदाहरण में अक्षांश १७।४१।५० लिया हैं। सखाराम जोशी कोडोलीकर ने सतारा के अक्षांश ये ही लिखे हैं और वह टीका की पुस्तक मुझे सतारा जिले में ही आष्टे में मिली है अत. वह टीका इन्हीं की होगी।

	अ०	क०		अ०	क०
श्रीरंगपट्टण	१५	२७	अहमदाबाद	२३	०
बीजापुर	१६	४२	वाराणसी	२५	३६
करवीर	१७	२१	मथुरा	२६	३६
सप्तर्षि (सितारा)	१७	४२	मंडव	२७	०
नन्दिग्राम	१८	२६	इन्द्रप्रस्थ	२८	४०
जनस्थान (नासिक)	२०	१२	कुरुक्षेत्र	३०	०
ब्रह्मपुर (बरारपुर)	२१	०	काश्मीर	३५	०
उज्जयिनी	२२	३७			

सम्प्रति ब्रिटिश सरकार ने हमारे देश के सहस्रो स्थानो के अत्यन्त सूक्ष्म अक्षाश और रेखाश प्रसिद्ध कराये है अत उपर्युक्त अक्षाश-रेखाशो की कोई आवश्यकता नही हैं तथापि उनसे यह ज्ञात होता है कि हमारे देशवासी भी इस विषय में प्रयत्नशील थे और तुलना करने से यह भी ज्ञात होगा कि इस प्रयत्न में वे कहा तक सफल हुए हैं।

(४) (५) चन्द्रसूर्य ग्रहणाधिकार

चन्द्रसूर्यग्रहणो का कारण राहु नामक दैत्य नही हैं बल्कि चन्द्रग्रहण का कारण भूछाया और सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा है, यह बात सबसे प्राचीन पौरुषग्रन्थकार वराहमिहिर और आर्यभट के समय से ही ज्ञात है। ब्रह्मगुप्त ने श्रुतिस्मृति और ज्योतिषसहिताओ की ज्योतिषसिद्धान्त से एकवाक्यता दिखाते हुए लिखा है[1] कि राहु चन्द्रग्रहण के समय भूछाया में और सूर्यग्रहण के समय चन्द्रमा मे प्रवेश करके चन्द्रमा और सूर्य को आच्छादित करता है। भास्कराचार्य ने भी ऐसा ही लिखा है[2]।

लम्बन

सूर्यग्रहण में चन्द्रलम्बन का विचार करना पड़ता है। हमारे ग्रन्थो में परम लम्बन ग्रहगति के पञ्चदशाश तुल्य माना है अर्थात् चन्द्रमा का परम मध्यम लम्बन ५२ कला ४२ विकला और सूर्य का ३ कला ५६ विकला है। आधुनिक मत की दृष्टि से यहा चन्द्रलम्बन में बहुत थोड़ी पर सूर्य के लम्बन में अधिक अशुद्धि है। आधुनिक सूक्ष्म शोध के अनुसार चन्द्रमा का विषुववृत्तक्षितिजस्थ परम लम्बन ५७ कला १ विकला

[1] ब्रह्मसिद्धान्त गोलाध्याय की आर्याएँ ३४–४८ देखिए।
[2] सिद्धान्तशिरोमणि ग्रहणवासना के श्लोक ७–१० देखिए।

और सूर्य का ८ ६ विकला है। हिपार्कस ने चन्द्रलम्बन ५७ कला और सूर्यलम्बन ३ कला तथा टालमी ने चन्द्रलम्बन ५८।१४ और सूर्यलम्बन २।५१ निश्चित किया था[1]। इससे सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिषियो ने लम्बमान इन दोनो से नही लिये है।

भास्कराचार्य ने लिखा है कि सूर्यबिम्ब का द्वादशाश ग्रस्त हो जाने पर भी उसके तेज के कारण दिखाई नही देता और चन्द्रबिम्ब का षोडशाश ग्रहण भी दिखाई देता है अत. गणित द्वारा इससे कम ग्रास आने पर ग्रहण नही बताना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यो ने इससे किञ्चित् न्यून या अधिक ग्रहण को अदृश्य कहा है परन्तु १९ अगस्त सन् १८८७ के सूर्यग्रहण को जिसमे ग्वालियर मे बिम्ब के $\frac{७}{१००}$ भाग अर्थात् लगभग चतुर्दशाश का ग्रहण हुआ था—विसाजी रघुनाथ लेले ने केवल नेत्रो से और शीशे मे काजल लगा कर, दो प्रकार से देखा था और वह ठीक दिखाई पडा था। लेले का कथन है कि इतना अल्प ग्रास केवल नेत्रो से देखना भयावह है। इसमे नेत्रो को अत्यधिक हानि पहुचने की सम्भावना रहती है।

(६) छायाधिकार

कुछ करणग्रथो मे यह अधिकार पृथक् नही रहता पर ग्रहलाघव मे है। इसमें सूर्यातिरिक्त ग्रहो के नित्योदयास्तकाल, दिनमान (क्षितिज से ऊपर रहने का काल), इष्टकालीन छाया और वेध इत्यादि का गणित रहता है।

(७) उदयास्त (दर्शनादर्शन)

ग्रहो का उदयास्त हमारे देश मे एक महत्त्व का विषय समझा जाता है। गुरु और शुक्र के अस्त मे विवाहादि धार्मिक कर्म नही किये जाते। मुख्यत इसी कारण इसको इतना महत्त्व मिला है। ज्योतिषग्रन्थो के अनुसार दृक्प्रतीति होती है या नही, इसकी परीक्षा का लोग इसे एक साधन समझने लगे है।

ग्रह और तारे जिस समय सूर्य के पास रहते है, सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद क्षितिज के ऊपर रहते हुए भी दिखाई नही देते, यद्यपि उस समय सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है। इस प्रकार वे कुछ दिन या कुछ मास तक अदृश्य रहते है। कोई भी दृश्य

[1] बर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ १२७ देखिए। व्हिटने का कथन है कि ये मान हिन्दुओ के मानो के बहुत सन्निकट है अत. हिन्दुओ ने ये ग्रीको से लिये होगे। परन्तु ऐसा कहना सरासर पक्षपात है। ऐसे स्थानो में थोडी-सी कलाओ का अन्तर भी बहुत है, इसे प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करेगा।

तारा या ग्रह क्रमश सूर्य के पास जाते जाते जिस दिन अदृश्य हो जाता है उस दिन उसका अस्त कहा जाता है और अस्त ग्रह या तारा क्रमश सूर्य से दूर हटते हटते जिस दिन दिखाई देने लगता है उस दिन उसका उदय माना जाता है। तारो और ग्रहो के प्रतिदिन क्षितिज के ऊपर आने और नीचे जाने की क्रिया को भी उदयास्त ही कहा जाता है अर्थात् उदयास्त शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे होता है परन्तु यह ठीक नही हैं। अच्छा होता कि दोनो के भिन्न भिन्न दो नाम होते। चन्द्रमा के विषय मे दो नाम हैं भी। कृष्णपक्ष में चन्द्रमा क्रमश सूर्य के पास जाते जाते अमावास्या के लगभग अदृश्य हो जाता है। और उसके वाद शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को पश्चिम में दिखाई देने लगता है उस समय 'चन्द्रमा का दर्शन हुआ' यह कहते हैं, उसे चन्द्रोदय नही कहते। इसी प्रकार तारो और अन्य ग्रहो की भी सूर्यसान्निध्य के कारण प्रथमत. दिखाई देने और न देने की क्रियाओ को दर्शन-अदर्शन कहना चाहिए परन्तु हमारे ज्योतिषियो ने उन्हें उदयास्त कहा है और सम्प्रति इसी का प्रचार भी है। चन्द्रमा के नित्योदयास्त और सूर्यसान्निध्य के करण होने वाले दर्शनादर्शन, दोनो की व्यवहार में आवश्यकता पडती है अत लोग उनसे अधिक परिचित रहे हैं और इसी कारण उन दोनो के पृथक्-पृथक् दो नाम रखे हैं पर अन्य ग्रहो और नक्षत्रो के नित्योदयास्त का प्राय. कोई विचार नही करता। सम्भवत इसी कारण उनके दर्शनादर्शन को भी उदयास्त ही कहा है।

जिस समय गुरु और शुक्र अस्त रहते हैं, उपनयन, विवाह इत्यादि सस्कार और व्रत, वास्तुप्रतिष्ठा इत्यादि कर्म नही किये जाते। इसके विषय में लिखा है—

> नीचस्थे वक्रसस्थेऽप्यतिचरणगते वालवृद्धास्तगे वा
> सन्यासो देवयात्राव्रतनियमविधि कर्णवेधस्तु दीक्षा।
> मौंजीबन्धोऽगनाना परिणयनविधिर्वास्तुदेवप्रतिष्ठा
> वर्ज्या सद्भि प्रयत्नात् त्रिदशपतिगुरौ सिंहराशिस्थिते वा॥
>
> लल्ल०

> वाले वा यदि वा वृद्धे शुक्रे वास्तगते गुरौ।
> मलमास इवैतानि वर्जयेद्देवदर्शनम्॥
>
> वृहस्पति०

धर्मशास्त्रनिवन्धकारों ने इसी प्रकार के और भी अनेक वचन लिखे हैं। सम्प्रति गुरुशुक्रास्त के समय तो विवाहादि शुभ कर्म नही किये जाते परन्तु उनकी नीचस्थता,

वक्रत्व और अतिचार का विचार कोई नही करता। ग्रह और नक्षत्रो मे केवल गुरु और शुक्र का ही अस्त धर्मकृत्यो मे प्रतिकूल समझा जाता है। ये दोनो औरो की अपेक्षा तेजस्वी है। कुछ न कुछ नक्षत्र सदा अस्त रहते है, बुध वर्ष मे लगभग ६ बार अस्त होता है और मगल का अस्त अधिक समय मे होता है परन्तु अस्त होने के बाद पाच मास तक वह दिखाई नही देता अत बुध, मगल और नक्षत्रो के अस्त को धर्मकृत्यो मे प्रतिकूल न मानना धर्मशास्त्र का व्यवहारानुकूलत्व सिद्ध करता है। शनि के अस्त का ग्रहण करने से व्यवहार मे कोई अडचन नही आती परन्तु धर्मशास्त्रकारो ने उसका विचार नही किया है। सम्भवत पापग्रह होने के कारण उन्होने उनके अस्त को त्याज्य नही माना है।

ग्रह और सूर्य के नित्योदयकाल मे एक नियमित समय से—जिसका परिमाण हमारे प्राचीन आचार्यो ने प्रत्येक ग्रह के लिए पृथक् पृथक् निश्चित कर दिया है—अधिक अन्तर पडने पर पूर्व मे उसका उदय और न्यून अन्तर पडने पर अस्त होता है। इसी प्रकार सूर्य और ग्रह के नित्यास्तकालो मे उस नियमित समय से न्यूनाधिक अन्तर पडने पर पश्चिम मे उसका अस्तोदय होता है। उदाहरणार्थ, गुरु और सूर्य के नित्योदयास्त मे ११० पल अन्तर पडने पर गुरु का उदयास्त होता है। ग्रहादिक अपने दैनन्दिन भ्रमण मे प्रति दस पल मे एक अश चलते है क्योकि अहोरात्र मे उनकी एक प्रदक्षिणा पूरी होती है अत. गुरु ११० पलो मे ११ अश चलेगा। ये अश कालसम्बन्धी है अत इन्हें कालाश कहते है। साराश यह कि सूर्य और गुरु मे ११ अश अन्तर पडने पर उसका उदय या अस्त होगा। भिन्न भिन्न ग्रन्थो मे बताये हुए ग्रहो के कालाश ये है—

	मूल सूर्यसिद्धांत	वर्तमान सूर्य, रोमश या ब्रह्म सोम सिद्धांत	प्रथम आर्य सिद्धांत	ब्रह्मगुप्त, सिद्धांत शिरो०	लल्ल, करण कुतूहल	द्वितीयआर्य सिद्धांत	करण प्रकाश	ग्रहलाघव	केरोपन्ती	टालमी	स्वानुभूत
चन्द्र	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२	१२		१२$\frac{५}{६}$
मगल	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१७	१४$\frac{१}{५}$	१७
बुध	१३	१४	१३	१४	१३	१३	१३	१३	१३	११$\frac{१}{२}$	१३
बुधवक्री		१२		१२	१२	१२$\frac{१}{२}$		१२			
गुरु	११	११	११	११	११	१२	१२	११	११	१२$\frac{३}{४}$	११
शुक्र	९	१०	९	१०	९	८	९	७	९	५$\frac{२}{३}$	८
शुक्रवक्री		८		८	८	७$\frac{१}{२}$		६			
शनि	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१५	१४	१५

इसमे टालमी के कालाश उस समय के है जब कि ग्रह कर्कराशि मे रहते है और बुधशुक्र के कालाश पश्चिमास्त सम्बन्धी है (वर्जेसकृत सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद का पृष्ठ २२३ देखिए)।

केरोपन्त ने अपने ग्रहसाधनकोष्ठक मे अनुभूत कालाश नही लिखे है क्योकि तदनुसार अनुभव नही होता। वे प्रथम आर्यसिद्धान्त के सर्वथा तुल्य है।

गणपत कृष्णाजी और निर्णयसागर के पञ्चाङ्गो मे केवल शुक्र के उदयास्त ग्रहलाघवीय कालाश द्वारा लाते है। शेष उदयास्त तथा अन्य ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गो के सभी उदयास्त ग्रहलाघव की एक स्थूल रीति द्वारा लाये जाते है। इस देश के अन्य पञ्चाङ्ग जिन ग्रन्थो द्वारा बनाये जाते है उन्ही के कालाशो द्वारा उनमे उदयास्त लाते होगे। नाटिकल आल्मनाक द्वारा बनने वाले केरोपन्ती अथवा पटवर्धनी, बापूदेवकृत, हमारे सायनपञ्चाङ्ग इत्यादि नवीन पञ्चाङ्गो मे भी हमारे ही किसी ग्रन्थ के कालाशो द्वारा उदयास्त साधन कियाजाता है। इस प्रकार लाये हुए किसी भी पञ्चाङ्ग केसब उदयास्तकाल सदा शुद्ध नही होते। उनके अनुसार किसी समय ठीक अनुभव होता है और कभी कभी वे अशुद्ध ठहर जाते है। इतना अवश्य है कि नवीन पञ्चाङ्गो में उतनी अशुद्धि नही होती जितनी प्राचीन मे थी। कुछ लोग नवीन पञ्चाङ्गो के उदयास्त में अशुद्धि क्यो होती है, इसका विचार किये बिना ही उनके कुछ उदयास्त अशुद्ध होते है, केवल इसी आधार पर यह सिद्ध करने लगते है कि ग्रहलाघवीय पञ्चाङ्गो की भाति नवीन पञ्चाङ्गो का गणित भी कभी कभी अशुद्ध हो जाता है। वे यह नही समझते कि नवीन पञ्चाङ्ग के उदयास्त मे कभी कभी अशुद्धि हो जाने के कारण उसका गणित अशुद्ध नही कहा जा सकता। उन पञ्चाङ्गो के गणित की सत्यता अन्य अनेक प्रमाणो से सिद्ध होती है। उदयास्त कथित समय पर न होने के कारण दूसरे है। उनमे कालाशसम्बन्धी त्रुटि मुख्य है। ग्रहलाघव के ग्रहगणित में सम्प्रति सदा थोडी बहुत अशुद्धि रहती है। उसके उदयास्त का यथार्थ अनुभव हुआ तो भी उसे काकतालीय न्याय ही समझना चाहिए। कालाश निश्चित करते समय ग्रह और सूर्य के नित्योदयास्तकालो के अन्तर का या तो प्रत्यक्ष अवलोकन करना चाहिए अथवा उस समय की उनकी गणितागत स्थिति द्वारा उसे गणित करके लाना चाहिए। परन्तु सूर्य और ग्रह के नित्योदयास्त कालो के अन्तर का प्रत्यक्ष अवलोकन करने मे कठिनाई यह है कि सूर्य तो क्षितिज मे आते ही दिखाई देने लगता है पर अन्य ग्रह उस समय जब कि हम उनके उदय और अस्त का निरीक्षण करने जा रहे है, क्षितिज मे आने पर दिखाई नही देते। उनका दर्शन तब होता है जब वे क्षितिज से कुछ ऊपर आ जाते है। इसका कारण यह है कि जब वे क्षितिज मे आते है उस समय अर्थात् सूर्योदय के कुछ पहिले अथवा सूर्यास्त के कुछ समय बाद सूर्य

क्षितिज से थोडा ही नीचे रहता है। वह सन्धिप्रकाश का समय रहता है। उस स्थिति में भी यदि दोनों के उदयास्तकालों का वास्तविक अन्तर जानने का कोई उपाय हो तो भी तदुपयुक्त काल और कोण का सूक्ष्म मान नापने के आजकल सरीखे उत्कृष्ट साधन प्राचीन काल में रहे होंगे, इसकी सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार ग्रहों की उदयास्त-कालीन स्थिति के आधार पर नित्योदयास्त का अन्तर लाने में भी उनकी शुद्ध स्थिति ज्ञात होनी चाहिए, अन्यथा शुद्ध काल नहीं आवेगा। परन्तु प्राचीनकाल मे जिस समय कालांश निश्चित किये गये, ग्रहगणित का सूक्ष्म ज्ञान नित्योदयास्तकाल मे एक पल की भी अशुद्धि न होने योग्य था, इसका मुझे विश्वास नहीं है अत उस समय निश्चित किये हुए कालांश में अशुद्धि की सम्भावना है। जिनके आधार पर उदयास्त लाना है वह कालांश ही यदि अशुद्ध है तो उदयास्त कैसे शुद्ध हो सकता है? हम सायन-पञ्चाङ्ग मे गुरु का कालांश ११ मानते है अत उसमे जिस दिन गुरु का अस्त लिखा रहता है उसी दिन से सूर्यगुरु के नित्यास्त मे ११० पल से कम अन्तर पड़ने लगता है, यह हम निश्चयपूर्वक कहेंगे और उसके सत्यत्व की परीक्षा अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है परन्तु गुरु उसी दिन अस्त होता है, यह हम नहीं कह सकते क्योंकि नित्योदया-स्तकाल मे ११० पल से कम अन्तर पडने पर गुरु का अस्त उसी दिन होना या न होना दूसरा विषय है। सम्भव है, वह एक दो दिन आगे या पीछे अस्त हो। पर ऐसा होने पर यह कहना अनुचित होगा कि पञ्चाङ्ग का गणित अशुद्ध है। इससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि गुरु का कालांश ११ से न्यून या अधिक मानना चाहिए।

सम्प्रति ग्रहस्थिति की शुद्धता का परीक्षण करने के साधन उपलब्ध हैं और काल-साधन भी हैं। ऐसे समय में कालांश निश्चित करने चाहिए। मैंने शक १८११ पर्यन्त छ सात वर्ष इसका प्रयत्न किया पर बाद में समय न मिल सका। यद्यपि दृष्टि धीरे-धीरे मन्द होती जा रही है तो भी स्वयं और सूक्ष्मदृष्टि शिष्यों की सहायता से कुछ अनुभव कर रहा हूँ।[1] हमारे सायनपञ्चाङ्ग-मण्डल में गोपाल वल्लाल भिडे[2] नाम के एक सज्जन

[1] बम्बई से सृष्टिज्ञान नामक एक मासिकपत्र निकलता था। सन् १८८५ के उसके मई, जून और जुलाई के अङ्कों में मैंने ग्रहों के उदयास्त के विषय में एक विस्तृत निबन्ध लिखा है। उसके अतिरिक्त मेरे ज्योतिर्विलास का भी यह प्रकरण अवलोकनीय है।

[2] गोपाल बल्लाल भिडे को आकाशीय चमत्कारों के अवलोकन में बडी रुचि थी। शक १७७८ में रत्नागिरि जिले के निर्वेडी नामक स्थान में उनका जन्म और शक १८१२ में देहान्त हुआ। सन् १८७४ से मरणपर्यन्त वे उस जिले में स्कूल विभाग में नौकर थे। उन्होंने ग्रहों के उदयास्त सम्बन्धी अनेक अनुभव लिख रखे हैं और नक्षत्र-

थे। उन्होने इस काम मे वडा परिश्रम किया था। हमारे सव अनुभवो का एकीकरण करके उसके आधार पर उदयास्त सम्वन्धी नियमो के निर्माण का कार्य अभी समाप्त नही हुआ है। शक १८११ के पूर्व पाच वर्षो मे शनि के उदयास्त प्राय वर्षाकाल अथवा उसकी सन्धि मे हुए थे अत. उनका निरीक्षण करने का अवसर नही मिला। मगल का उदयास्त देखने का प्रसङ्ग भी दो एक वार ही आया। पाठको मे से यदि किसी को स्फूर्ति हो और वे अनुभव करके मुझे वताये तो ज्योतिपशास्त्र पर उनका वडा उपकार होगा। ग्रीप्म ऋतु मे भी कभी कभी आकाश वादलो से ढका रहता हैं, उदयास्तकाल की सन्धि में ग्रह क्षितिज के विलकुल पास रहते हैं और आकाश का अन्य भाग स्वच्छ रहने पर भी क्षितिज के पास प्राय वादल रहते है। अनुभव करने मे इस प्रकार की अनेक अडचने आती हैं तथापि सतत अवलोकन से मुझे अनुभव हुआ है कि हमारे ग्रन्थो के कालाश प्राय सूक्ष्म है। यद्यपि यह सत्य हैं कि वुधशुक्र जिस समय वक्री रहते है, अधिक तेजस्वी दिखाई देते हैं तथापि हमारे कुछ ग्रन्थो मे उनकी सरल और वक्र स्थिति के कालाशो मे जितना अन्तर वताया है, वस्तुत उतना नही है। वल्कि अन्तर है ही नही, यह कहने मे भी कोई आपत्ति नही है।

विशेषता

उदयास्त के विपय मे मैने एक ऐसी वात का पता लगाया है जो हमारे किसी भी ग्रन्थकार के ध्यान मे नही आई थी। उदय और अस्त के समय ग्रह सूर्य के पास रहते है। उनका दिखाई देने लगना उनकी तेजस्विता पर अवलम्वित है और तेजस्विता उनके न्यूनाधिक उन्नताश के अनुसार न्यूनाधिक होती है। पृथ्वी पर भिन्न भिन्न स्थानो में किसी ग्रह का नित्योदय हुए समान काल व्यतीत हुआ हो तो भी उसके उन्नताश भिन्न भिन्न होगे। १५ उत्तर अक्षाश वाले स्थान मे उसके उन्नताश जितने होगे उनकी अपेक्षा २५ उत्तर अक्षाश वाले स्थान मे कम होगे और तदनुसार तेज भी कम होगा। १५ अक्षाश वाले प्रदेश की अपेक्षा २५ अक्षाश वाले प्रदेश मे उसका उदय वाद मे और अस्त पहिले होगा। सूर्योदय के पूर्व नित्योदय और सूर्यास्त के वाद नित्यास्त होने के काल या कालाश के समान होने पर भी स्थलभेद के अनुसार उन्नताश मे और उसके कारण अस्तोदय मे अन्तर पडेगा, यह वात क्षेत्र वना कर सिद्ध की जा सकती हैं पर ग्रन्थ-विस्तार होने के भय से मैं यहा उसे सिद्ध नही करता। आगे के वर्णन से वह स्वय स्पष्ट

योगतारो के भी कुछ उदयास्तो का निरीक्षण किया है। यदि वे दीर्घायु होते तो हमारे ज्योतिषशास्त्र की ज्ञानवृद्धि में उनका बड़ा उपयोग होता।

हो जायगी। हमारे देश की अपेक्षा इंग्लैण्ड में क्षितिजस्थान अधिक समय तक रहता है। इस कारण हमारे देश मे किसी दिन यदि शुक्र का नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व हुआ है (अर्थात् उस दिन उसके कालांश ८ हैं) तो उस दिन उसका उदय अर्थात् दर्शन होगा परन्तु इंग्लैण्ड मे सूर्य से ३२ मिनट पूर्व शुक्र का उदय होने पर भी उसका दर्शन नही होगा, वह कई दिन बाद दिखाई देगा। शुक्रक्रान्ति उत्तर रहने पर इस देश मे यदि उसका नित्योदय सूर्य से ३२ मिनट पूर्व होता है तो इंग्लैण्ड मे उस दिन ३२ से अधिक मिनट पूर्व होगा अत यदि केवल कालांश का विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि इंग्लैण्ड में उसका उदय कुछ दिन पूर्व होना चाहिए पर अनुभव इसके विपरीत होता है। एक ही स्थान मे भी कालांश समान रहने पर भी दक्षिणोत्तर क्रान्ति के अनुसार उन्नतांश न्यूनाधिक होंगे पर उनमें अधिक अन्तर नही पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि स्थान विषुववृत्त से ज्यो ज्यो उत्तर बढता जाय त्यो त्यो उदयास्त के कालांशों को भी बढाते जाना चाहिए और उदयास्त के नियमो का निर्माण कालांश द्वारा न करके उन्नतांश के आधार पर करना चाहिए।

उन्नतांश सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन और बार्शी (अक्षांश १८।१३) मे किये हुए अपने अनुभव से मुझे निश्चित ज्ञात होता है कि हमारे ग्रन्थो के कालांश हमारे ही देश में निश्चित किये गये हैं। टालमी के कालांशो को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे कालांशो से उनका कोई सम्बन्ध नही है, बल्कि टालमी के विषय मे हम यह कहते हैं कि उन्होंने कालांश स्वकीय अनुभव के आधार पर नही लिखे हैं और यदि स्वानुभव द्वारा लिखे हैं तो उनकी ग्रहस्थिति अशुद्ध रही होगी अथवा उनकी पद्धति मे अन्य कोई दोष रहा होगा। १८ अक्षांश वाले प्रदेश में मगल, बुध और शुक्र के कालांश १६, १२, ८ से कम नही आते अत अलेक्जंड्रिया (अक्षांश ३१।१३) में इनसे अधिक होने चाहिए पर टालमी ने १४½, ११½, ५⅓ लिखे हैं अत वे बहुत अशुद्ध हैं। स्थल विशेष के सूक्ष्म कालांश या उन्नतांश निश्चित कर लेने पर भी चन्द्रप्रकाश, क्षितिज के पास दिखाई देने वाली रक्तिमा, द्रष्टा की मन्द-सूक्ष्मदृष्टि[1] इत्यादि के कारण उनमे अन्तर पड जाया करता है। मेघ भी प्रतिबंधक हो जाया करते हैं। इसीलिए हमारे धर्मशास्त्रकारो ने गणितागत उदयास्त दिवस के पश्चात् और पूर्व ग्रहो की बाल-वृद्धावस्था के कुछ दिन छोड देने की व्यवस्था की है जो कि सर्वथा उचित है।

[1] सूक्ष्मदृष्टि मनुष्य को उदय दिखाई देने के तीन चार दिन बाद तक भी मन्ददृष्टि को दिखाई नहीं देता, ऐसा अनुभव हुआ है। ग्रह और सूर्य की गति का अन्तर थोड़ा रहने पर उदयास्त में अधिक अशुद्धि होती है।

सम्प्रति सायनपञ्चाङ्ग मे व्यवहृत स्वानुभूत कालाश मैने ऊपर लिख दिये है। गोपाल वल्लाल भिडे का हेदवी (अक्षाश १७।२०) का अनुभव है कि बुध, गुरु और शुक्र के उदयास्त कभी कभी ११,१० और ७½ कालाशो मे भी होते है।

(८) शृंगोन्नति

कृष्णपक्ष के उत्तरार्ध और शुक्लपक्ष के पूर्वार्ध मे चन्द्रमा का कुछ ही भाग प्रकाशित दिखाई देता है। इस प्रकाशित भाग की कोरो को शृङ्ग कहते है। शुक्लपक्ष मे सूर्यास्त और कृष्णपक्ष मे सूर्योदय के लगभग और उसमे भी विशेषत शुक्ल प्रतिपदा या द्वितीया को चन्द्रमा का दर्शन होता है। उस समय चन्द्रमा का कितना भाग प्रकाशित रहेगा और उसका किस दिशा का शृग ऊचा दिखाई देगा, शृगोन्नति अधिकार में इसका आनयन किया रहता है। सहिताग्रन्थो मे चन्द्रशृगोन्नति के आधार पर बहुत सा फल लिखा रहता है। वस्तुत चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है अत: सूर्य उसके जिस पार्श्व मे रहेगा तदनुसार शृङ्ग की उन्नति दिखाई देगी अर्थात् पृथ्वी पर होने वाली शुभाशुभ घटनाओ का उससे कोई सम्बन्ध नही है परन्तु वास्तविक कारण का ज्ञान होने के पूर्व ऐसी धारणा होना स्वाभाविक है।

(९) ग्रहयुति

ग्रहो के अत्यन्त सान्निध्य को युति या योग कहते है। युति के समय ग्रहो मे पूर्व-पश्चिम अन्तर नही रहना चाहिए पर दक्षिणोत्तर अन्तर रह सकता है। वह उनके शर के अनुसार न्यूनाधिक रहेगा। युतिकाल मे ग्रहो की किरणो का मिश्रण होने पर अथवा दक्षिणोत्तर अन्तर एक अश से कम होने पर उनका युद्ध कहा जाता है। एक अश से अधिक अन्तर रहने पर समागम कहते है। ग्रहबिम्बो के केवल स्पर्श को उल्लेख और परस्पर मिल जाने को भेद कहते है। सहिता ग्रन्थो मे भेदादिको के फल विस्तारपूर्वक लिखे रहते है। भेद का लक्षण और उसका गणित हमारे ग्रन्थो मे लिखा है पर इसका पता नही लगता कि शुक्र कभी कभी सूर्यबिम्ब का भेद करता है, यह बात हमारे आचार्य जानते थे या नही।

(१०) भग्रहयुति

इस अधिकार मे नक्षत्रयोगतारो और ग्रहो की युति का गणित रहता है इसलिए योगतारो और कुछ अन्य तारो के ध्रुव (भोग) और शर लिखे रहते है। ये भोग अधिकाश ग्रन्थो मे आयनदृक्कर्मसस्कृत रहते है अर्थात् तारे से विषुववृत्त पर डाला हुआ लम्ब क्रान्तिवृत्त को जहा काटता है, आरम्भ स्थान से उस बिन्दु तक का अन्तर भोग और तारे से उस बिन्दु तक का अन्तर शर माना रहता है। इस शर और भोग को

ध्रुवाभिमुख कहेंगे। कुछ ग्रन्थो मे तारे से क्रान्तिवृत्त पर डाले हुए लम्ब को शर और वह क्रान्तिवृत्त को जहा काटता है उस विन्दु से आरम्भस्थान तक के अन्तर को भोग माना है। क्रान्ति-वृत्त के केन्द्र का नाम कदम्ब है अत उस शर और भोग को कदम्बाभिमुख कहेंगे। अगले कोष्ठक मे ६ ग्रन्थो के ध्रुवाभिमुख शरभोग लिखे है। मैंने स्वय नक्षत्रो के जो योगतारे निश्चित किये है[1] उनके भी ध्रुवाभिमुख शरभोग वहीं लिख दिये है। अयनगति के कारण आयनदृक्कर्मसस्कार मे सर्वदा थोडा थोडा अन्तर पडता रहता है अत ध्रुवाभिमुख नक्षत्रध्रुव सदा एक सा नही रहता। कोष्ठक मे दिये हुए भिन्न भिन्न ग्रन्थो के नक्षत्रध्रुवो मे जो थोडा थोडा अन्तर है वह सम्भवत कुछ अश मे इस कारण भी होगा। योगतारो के भिन्नत्व के कारण भी कुछ अन्तर पडा होगा। सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त और लल्लतन्त्र के ध्रुव उस समय के है जब अयनाश वहुत थोडे थे। इसके विषय मे भास्कराचार्य ने लिखा है—

इत्यभावेऽयनाशाना कृतदृक्कर्मका ध्रुवा.।
कथिताश्च स्फुटा वाणा सुखार्थं पूर्वसूरिभि ॥१७॥

सिद्धान्तशिरोमणि, भग्रहयुति

ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ग्रन्थो में अयनगति का उल्लेख नही है और सूर्यसिद्धान्त मे है परन्तु उसके नक्षत्रध्रुव ब्रह्मगुप्त और लल्ल के ध्रुवो के लगभग समान है अत: भास्कराचार्य का कथन तीनो पर लागू होता है। सुन्दरसिद्धान्त की मेरे पास की प्रति वडी अशुद्ध थी। उसके कुछ अङ्को का निश्चय नही हो सका अत. वे मैंने यहा नही लिखे है।

मैंने जो योगतारे माने है उनके सन् १८८७ के आरम्भ के मध्यम विषुवाश और क्रान्तिया फ्रेंच कालज्ञानपुस्तक से लेकर उनके द्वारा ध्रुवाभिमुख शर और सायनभोग लाये गये है। उसमे चित्रा का भोग २०१।२६।१६ ३ आया। उसे १८० अश मान कर सव तारो के भोगो मे मे २१।२६।१६ ३ अयनाश घटा दिये। इस प्रकार लाये हुए भोग कोष्ठक मे मन्मत वाले घर में लिखे है। ये शक १८०९ के है अर्थात् शर भी उसी वर्ष के है। भोग निरयण है अत कालान्त मे इनमे वहुत थोडा अन्तर पडेगा। म्यूपिशियम तारा को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय भोगो मे से १ अश २० कला और घटा देना चाहिए।

[1] मैं शक १८१५ से सायन पञ्चाङ्ग में युतियाँ इन्हीं तारों के आधार पर लिखता हूँ। भिन्न-भिन्न अन्वेषकों को अभिमत योगतारो के यूरोपियन नाम आगे कोष्ठक में लिखे हैं।

सूर्यसिद्धान्त और ब्रह्मगुप्तसिद्धान्तोक्त[1] ध्रुवाभिमुख भोग और शरो द्वारा लाये हुए कदम्बाभिमुख भोगशर तृतीय और चतुर्थ कोष्ठको मे लिखे है। द्वितीय आर्य-सिद्धान्त के भोगशर कदम्बाभिमुख ज्ञात होते है अत वे भी वही लिख दिये है। सिद्धान्तसार्वभौम के भोगशर कदम्बाभिमुख है, यह उसी मे स्पष्ट लिखा है अत वे भी उसी कोष्ठक मे लिखे है। केतकर के और मेरे कदम्बाभिमुख भोगशर फ्रेंच या इगलिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए है। केतकर के और मेरे निरयण भोगो मे अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होने जीटापिशियम को आरम्भस्थान माना है और मैने चित्रा का भोग १८० अश अर्थात् चित्रा के सामने वाले विन्दु को आरम्भस्थान माना है परन्तु मेरे सात योगतारे केतकर से भिन्न है अत उनके भोगो मे भिन्नता है। मैने रेवती के भोग मे दो दो अङ्क लिखे है। उनमे प्रथम जीटापिशियम के और द्वितीय म्यूपिशियम के है। म्यूपिशियम को आरम्भस्थान मानना हो तो मन्मतीय प्रत्येक भोग मे ४३ कला जोड देनी चाहिए।

पञ्चसिद्धान्तिका मे मूल सूर्यसिद्धान्त के नक्षत्रध्रुव नही लिखे है। मालूम होता है, वे मूलग्रन्थ मे नही थे। प्रथम आर्यभट ने नक्षत्रयोगतारो के विषय मे कुछ नही लिखा है। भास्कराचार्य ने ब्रह्मगुप्त के ही भोग और शर लिये है। वेरुनी ने ब्रह्मगुप्त के जो भोग और शर लिखे है उनमे कुछ मेरे लिखे हुए भोग शरो से भिन्न है। उन्होने उत्तराभाद्रपदा का भोग ३३६, मृगशीर्ष का शर ५, आश्लेषा का ६ और मूल का ९½ लिखा है। वेरुनी के मूलग्रन्थ मे ही यह त्रुटि रही होगी अथवा वाद के लेखको के प्रमाद से ऐसा हुआ होगा। मैने भोगशरो की मूलग्रन्थोक्त आर्यावद्ध और शब्दवद्ध संख्याएँ लिखी है और वे ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त तथा खण्डखाद्य दोनो मे एक ही है। मैने ये सख्याएँ दोनो ग्रन्थो की भिन्न भिन्न चार प्रतियो के आधार पर लिखी है अत इसमे सशय नही है। ब्रह्मगुप्त ने कृत्तिका, रोहिणी, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा नक्षत्रो के शर पहिले क्रमश ५, ५, २, १½, ३ और ४ लिखे है। वेरुनी ने भी अपने ग्रन्थ में इतने ही लिखे है परन्तु ब्रह्मगुप्त ने वाद मे तुरन्त ही उपर्युक्त शरो मे से कुछ कलाएँ घटाने को कहा है, तदनुसार घटा कर मैने शरो के यथोक्त मान लिखे है पर वेरुनी ने ऐसा नही किया है। मूल का शर ब्रह्मगुप्त ने 'अर्धनवम' लिखा है। वेरुनी ने उसका अर्थ ९½ किया है पर उसका वास्तविक अर्थ ८½ है।

[1] सूर्यसिद्धान्त के कदम्बाभिमुख भोग और शर उसमें बतायी हुई रीति से व्हिटने ने निकाले है। मैने यहाँ वे ही लिखे है और बेंटली द्वारा लाये हुए ब्रह्मसिद्धान्तीय भोगशर उनके ग्रन्थो से उद्धृत किये है।

नक्षत्रयोगतारों और कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख भोग

	तारानाम	वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	अ०	अ०	क०
१	अश्विनी	८		८		८		८	३०	८	८	७	४३
२	भरणी	२०		२०		२०		२१	१५	२०	२१	२१	५१
३	कृत्तिका	३७	३०	३७	२८	३६		३७	४५	३८	३८	३६	२
४	रोहिणी	४९	३०	४९	२८	४९		४९		५०	४९	४७	३७
५	मृग०	६३		६३		६२		६२		६३	६२	६१	२६
६	आर्द्रा	६७	२०	६७		७०		६६		६७	६६	७५	४३
७	पुनर्वसु	९३		९३		९२		९२	४५	९३	९४	९१	२१
८	पुष्य	१०६		१०६		१०५		१०६		१०६	१०६	१०५	४३
९	आश्लेषा	१०९		१०८		११४		१०७	१५	१०८	१०६	१०६	२८
१०	मघा	१२९		१२९		१२८		१२९		१२९	१२९	१२६	५९
११	पूफा	१४४		१४७		१३९	२०	१४८			१४८	१४४	३१
१२	उफा	१५५		१५५		१५४		१५५	३०	१५५	१५५	१५४	१
१३	हस्त	१७०		१७०		१७३		१७०			१७०	१६५	६
१४	चित्रा	१८०		१८३		१८४	२०	१८३		१८३	१८३	१८०	
१५	स्वाती	१९९		१९९		१९७		१९८	३०	१९९	१९८	१९३	८
१६	विशाखा	२१३		२१२	५	२१२		२१२	१५	२१२	२१२	२०२	११
१७	अनुराधा	२२४		२२४	५	२२२		२२४	१५		२२४	२१९	८

		वर्तमान सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		दामोदरीय भटतुल्य		सुन्दर सिद्धान्त	ग्रहलाघव	मन्मत	
		अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अं०	क०
१८	ज्येष्ठा	२२९		२२९	५	२२८		२२९	३०	२२९	२३०	२२५	५९
१९	मूल	२४१		२४१		२४१		२४२			२४२	२४	४५
२०	पूषा०	२५४		२५४		२५४		२५५	३०	२५४	२५५	२५३	२३
२१	उषा०	२६०		२६०		२६७	२०	२६०		२६०	२६१	२६३	५
	अभिजित्	२६६	४०	२६५		२६७		२५९	४५		२५८	२५६	१०
२२	श्रवण	२८०		२७८		२८३	१०	२७५	१५	२७८	२७५	२७२	५८
२३	धनिष्ठा	२९०		२९०		२९६	२०	२८७	३०	२९०	२८६	२८४	४७
२४	शत०	३२०		३२०		३१३	२०	३२०		३२०	३२०	३१८	४३
२५	पू.भा	३२६		३२६		३२७		३२५		३२६	३२५	३२२	३
२६	उ.भा	३३७		३३७		३३५	२०	३३७		३३७	३३७	३४०	३५
२७	रेवती	३५९	५०	०		३५९	०	०		०	०	३५६ १	५७ २०
	अगस्त्य	९०		८७		८७				८७	८०		
	व्याध	८०		८६		८६				८६	८१		
	अग्नि	५२								५२	५३		
	ब्रह्मा	५२								५२	५५		
	प्रजापति	५७								५७	६१		
	अपांवत्स	१८०									१८३		
	आप०	१८०											

नक्षत्रयोग तारों तथा कुछ अन्य तारों के ध्रुवाभिमुख शर,

	तारानाम	वर्तमान सूर्यसिद्धांत		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		लल्लतन्त्र		भटतुल्य दामोदरीय		सुन्दर सिद्धा	ग्रहलाघव	मन्मत		शर-दिशा
		अ	क	अ	क	अ	क	अ	क	अ	अ	अ	क	
१	अश्विनी	१०		१०		१०		१०		१०	१०	९	५	उ
२	भरणी	१२		१२		१२		१२	१५	१२	१२	१०	५७	उ
३	कृत्तिका	५		४	३१	५		४	३०	५	५	४	९	उ
४	रोहिणी	५		४	३३	५		४	३०	४॥	५	५	३२	द
५	मृग	१०		१०		१०		१०		१०	१०	१३	२४	द
६	आर्द्रा	९		११		११		११		११	११	६	४६	द
७	पुनर्वसु	६		६		६		६		६	६	६	४६	उ
८	पुष्य	०		०		०		०		०	०	०	५	उ
९	आश्लेषा	७		७		७		७		७	७	११	२४	द
१०	मघा	०		०		०		०		०	०	०	२९	उ
११	पूफा	१२		१२		१२		११	४५		१२	१०	३१	उ
१२	उफा	१३		१३		१३		१२	४५		१३	१३	२४	उ
१३	हस्त	११		११		८		११		११	११	१३	१७	द
१४	चित्रा	२		१	४५	२		१	४५	१॥।	२	२	१२	द
१५	स्वाती	३७		३७		३७		३६	१५		३७	३२	५६	उ
१६	विशाखा	१	३०	१	२३	१	३०	१	१५		१	०	२२	द
१७	अनुराधा	३	०	१	४४	३		१	४५		२	२	१	द
१८	ज्येष्ठा	४		३	३०	४		३	३०		३	४	३७	द
१९	मूल	९		८	१०	८	३०	८	३०		८	१३	४८	द
२०	पू.षा	५	३०	५	२०	५	२०	५	३०		५	२	७	द
२१	उषा०	५		५		५		५			५द	१	२०	उ
	अभि०	६०		६२		६३		६२		६२	६२	६१	५५	उ
२२	श्रवण	३०		३०		३०		२९	३०	३०	३०	२९	४९	उ
२३	धनिष्ठा	३६		३६		३६		२५	३०	३६	३६	३४	१५	उ
२४	शत०ठ	०	३०	०	१८	०	२०	०	१५	१/३	०	०	२५	द
२५	पूभा०	२४		२४		२४		२३	४५		२४	२१	६	उ
२६	उभा०	२६		२६		२६		२६			२७	१३	४५	उ
२७	रेवती	०		०		०		०			०	०/३	१४/१८	द
	अगस्त्य	८०		७७		८०				७७	७६			द
	व्याध	४०		४०		४०				४	४०			द
	अग्नि	८								८	८			उ
	ब्रह्मा	३०								३०	३०			उ
	प्रजापति	३८								३८	३९			उ
	अपांवत्स	३									३			उ
	आप	९												उ

नक्षत्रयोगतारो के कदम्बाभिमुख भोग

	तारे	सूर्य सिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य०		सार्वभौम सिद्धान्त		ग्रे० बा० केतकर		मन्मत	
		अं०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०	अ०	क०
१	अश्विनी	११	५९	१२	५	१२	०	१२	४०	१४	६	१०	८
२	भरणी	२४	३५	२४	४१	२४	२३	२५	८	२८	२०	२४	२२
३	कृत्तिका	३९	८	३८	५८	३८	३३	३९	२	४०	७	३६	९
४	रोहिणी	४८	९	४८	११	४७	३३	४८	९	४९	५५	४५	५७
५	मृग	६१	३	६१	०	६१	३	६१	१	६३	५०	५९	५१
६	आर्द्रा	६५	५०	६५	५	६८	२३	६५	८	६८	५३	७५	१६
७	पुनर्वसु	९२	५२	९२	५२	९२	५३	९२	५३	९३	२२	८९	२४
८	पुष्य	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०६	०	१०८	५१	१०४	५३
९	आश्लेषा	१०९	५९	१०८	५८	१११	०	१०८	५६	११३	४६	११०	४४
१०	मघा	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	०	१२९	५८	१२६	०
११	पूफा	१३९	५८	१४२	४५	१४०	२३	१४२	४८	१४३	३२	१३९	३४
१२	उफा	१५०	१०	१५०	४	१५०	२३	१४९	४०	१५१	४५	१४७	४७
१३	हस्त	१७४	२२	१७४	२८	१७४	३	१७५	१३	१७३	३५	१६९	३७
१४	चित्रा	१८०	४८	१८३	४९	१८२	५३	१८३	५०	१८३	५८	१८०	०
१५	स्वाती	१८३	२	१८२	४१	१८४	०	१८२	२४	१८४	२२	१८०	२४
१६	विशाखा	२१३	३५	२१२	३४	२१२	५३	२१२	३६	२११	८	२०१	१४
१७	अनुराधा	२२४	५४	२२३	३३	२२४	५३	२२४	३८	२२२	४२	२१८	४४
१८	ज्येष्ठा	२३०	७	२३०	४	२३०	३	२३०	५	२२९	५४	२२५	५६
१९	मूल	२४२	५२	२४२	४८	२४२	४४	२४२	१६	२४३	०	२४०	४४
२०	पूषा	२५४	३९	२५४	०	२५४	३३	२५४	३४	२५४	४२	२५२	२८
२१	उषा	२६०	२३	२५९	३७	२६०	२३	२६०	२१	२६२	४७	२६२	२४
	अभि	२६४	१०	२६०	४६	२६३	०	२६२	१०	२६५	२६	२६१	२८
२२	श्रवण	२८२	२९	२८०	३	२८०	३	२८०	३	२८१	५३	२७७	५५
२३	धनिष्ठा	२९६	५	२९६	१५	२९५	३३	२९४	१२	२९७	३१	२९३	३३
२४	शत	३१९	५०	३१९	५४	३१९	५३	३१९	५४	३२१	४२	३१७	४४
२५	पूभा	३३४	२५	३३४	४६	३३४	५३	३३६	८	३३४	४०	३३०	४२
२६	उभा	३४७	१६	३४७	२९	३४७	०	३४८	४४	३५४	२६	३४५	१९
२७	रेवती	३५९	५०	०	०	०	०	३५९	५०	०	०	३५६ ३५९	२ १७

नक्षत्रयोगतारों के कदम्बाभिमुख शर

	तारे	शरदिशा	सूर्यसिद्धान्त		ब्रह्मगुप्त सिद्धान्त		द्वितीय आर्य सिद्धान्त		सार्वभौम सिद्धान्त		वें० वा० केतकर		मन्मत	
			अ	क	अ	क	अ	क	अ	क	अ	क	अ	क
१	अश्विनी	उ	९	११	९	८	१०	०	१०	५५	८	२९	८	२९
२	भरणी	उ	११	६	११	११	१२	०	१२	५६	१०	२६	१०	२६
३	कृत्तिका	उ	४	४४	४	१५	५	०	४	४४	४	२	४	२
४	रोहिणी	द	४	४९	४	२८	५	०	४	४०	५	२८	५	२८
५	मृग	द	९	४९	९	४८	१०	०	१०	१३	१३	२३	१३	२३
६	आर्द्रा	द	८	५३	१०	५०	११	०	११	७	१६	३	६	४५
७	पुनर्वसु	उ	६	०	६	०	६	०	६	०	६	४०	६	४०
८	पुष्य	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४
९	आश्लेषा	द	६	५६	६	५६	७	०	७	४	५	५	१०	५९
१०	मघा	उ	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	०	२८
११	पूफा	उ	११	१९	११	१४	१२	०	१२	४२	९	४२	९	४२
१२	उफा	उ	१२	५	१२	२	१३	०	१३	५५	१२	१६	१२	१६
१३	हस्त	द	१०	६	१०	४	१०	०	१२	४	१२	११	१२	११
१४	चित्रा	द	१	५०	१	५०	२	०	१	५२	२	३	२	३
१५	स्वाती	उ	३३	५०	३३	४१	३७	०	४१	५	३०	४९	३०	४९
१६	विशाखा	द	१	२५	१	१८	१	३०	१	२५	१	४८		
१७	अनुराधा	द	२	५२	१	३९	३	०	१	५०	१	५८	१	५८
१८	ज्येष्ठा	द	३	५०	३	२२	४	०	३	३७	४	३३	४	३३
१९	मूल	द	८	४८	८	१९	९	०	८	४०	६	३६		
२०	पूषा	द	५	२८	५	१८	५	२०	५	२२	६	२७	२	७
२१	उषा	द	४	५९	४	५९	५	०	५	१	३	२७	उ१	२७
	अभि	उ	५९	५८	६१	५६	६३	०	६२	१४	६१	४४	६१	४४
२२	श्रवण	उ	२९	५४	२९	५६	३०	०	३०	५	२९	१८	२९	१८
२३	धनिष्ठा	उ	३५	३३	३५	३२	३०	०	२६	२५	३३	२	३३	२
२४	शत	द	०	२८	०	१७	०	२०	०	२०	०	२३	०	२३
२५	पूभा	उ	२२	३०	२२	२६	२४	०	२६	३	१९	२३	१९	२३
२६	उभा	उ	२४	१	२३	५६	२६	०	२८	२८	२५	४१	१२	३६
२७	रेवती	द	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१३	०	१३ }
													३	४ }

ऊपर जो ध्रुव दिये गये हैं वे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के हैं। उसमे आर्द्रा के ध्रुव के विषय में मतभेद है। सूर्यसिद्धान्त-टीकाकार रङ्गनाथ के लेख से ऐसा मालूम होता है कि आर्द्रभोग नार्मद मत से ७३।४७ और पर्वत मत से ७३।१० है। रङ्गनाथ का यह भी कहना है कि सर्वजनाभिमत ध्रुव ७४।५० है। परन्तु रङ्गनाथ ने शाकल्य-संहितोक्त आर्द्राध्रुव ६७।२० को ही ठीक मानकर उसी को ग्रहण किया है[1]। सिद्धान्त-तत्व-विवेककार कमलाकर ने सब भोगशर सूर्यसिद्धान्त से लिये हैं। परन्तु उसमे आर्द्राभोग ७४।५० दिया है। वर्तमान रोमश, सोम और शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त सूर्यसिद्धान्त के अनुयायी हैं। इसलिए सूर्यसिद्धान्त के भोगशर इनमे भी दिये हुए हैं। परन्तु इनमें भी आर्द्रा के विषय मे मतभेद है। शाकल्योक्त ब्रह्मसिद्धान्त के भोगशर पूर्ण रूप से उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्त के समान हैं। सोम सिद्धान्त मे आर्द्रभोग ७४।५० है। शेष सब भोग और शर सूर्यसिद्धान्त के समान है। रोमश सिद्धान्त की दो प्रतियो को मैंने मिलाकर देखा तो कुछ ध्रुवो मे अन्तर दिखाई दिया परन्तु यह भेद लेखको के प्रमाद से होना सम्भव है। साराश रोमश-सिद्धान्त के भोगशर सूर्यसिद्धान्तानुसारी हैं, यह कहने में कोई आपत्ति नही है।

सूर्यसिद्धान्त में नक्षत्र तारो के भोगशर ९ श्लोको मे (अधिकार ८) देने के बाद अगले तीन श्लोको मे अगस्त्य, व्याध, अग्नि, ब्रह्मा के भोगशर बतलाये हैं। इसके बाद तुरन्त प्रजापति, अपावत्स, आप इनके भोगशर न देकर बीच ही में सात श्लोको मे विषयान्तर कर अन्त मे २०।२१ श्लोको में प्रजापति इत्यादि तीन तारो के भोग-शर दिये हैं। इससे यह अनुमान होता है कि ये दो श्लोक प्रक्षिप्त होगे। नवम अध्याय में अमुक तारा कभी अस्त नही होता ऐसा लिखा है। उसमे ब्रह्म हृदय तारे का उल्लेख है। इन तारो में प्रजापति का परिगणन आवश्यक था क्योकि ब्रह्म हृदय मे प्रजापति का शर ८ अश उत्तर है अतएव यह अनुमान होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तथापि इन तारो में अपावत्स तारा का उल्लेख बृहत्संहिता में भी है[2]। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तीनो तारो का ज्ञान शक ४२७ में भी वर्तमान था।

[1] वर्तमान सूर्य, रोमश, शाकल्य, ब्रह्म, सोम सिद्धान्तो में जो नक्षत्र ध्रुव दिये हैं वे उन नक्षत्र प्रदेश के आरम्भ से उस तारे तक जितनी कलाएँ होती हैं उनके दशांश के रूप में दिये हुए हैं। सूर्यसिद्धान्त में आर्द्रा भोग "अव्ययः (४)" इस शब्द से सूचित किया है। इस स्थान पर "गोव्ययः ४९", "गोऽनयः ३९" ऐसे भी पाठभेद मिलते हैं।

[2] सममुत्तरेण तारा चित्रायाः कीर्त्यते ह्यपांवत्स.।

बृहत्संहिता, अध्याय २५, पद्य ४।

प्रो० व्हिटने का कहना है कि प्रजापति, अपांवत्स और आप शाकल्योक्त ब्रह्म में नहीं दिये हैं[1] परन्तु यह उनकी भूल है। शाकल्य-ब्रह्म, रोमश और सोम इन तीनों सिद्धान्तो में उनका उल्लेख है। ग्रहलाघव में इनमें से केवल 'आप' का उल्लेख नही है। शाकल्य, ब्रह्म सिद्धान्त में सप्तर्षि के शर, भोग दिये हुए हैं। वे और किसी दूसरे सिद्धान्तो में नही है। यन्त्रराज नामक ग्रन्थ में १२ तारो के सायन भोगशर दिये हुए हैं, सिद्धान्तराज ग्रन्थ में ८४ तारो के भोगशर दिये गये हैं।

नक्षत्रतारा-संख्या

कुछ नक्षत्रो में एक ही तारा है। किन्हीं में एक से अधिक होते हैं। अनेक तारो में योग तारा किस दिशा में है यह सूर्यादि चार सिद्धान्तो में लिखा हुआ है। इस विषय में चारो में प्राय मतभेद नही है। परन्तु इससे योग तारा के विषय में सम्यक् बोध नही होता। शाकल्य ब्रह्म-सिद्धान्त में किस नक्षत्र में कितने तारे हैं यह बतलाया है, दूसरो में नही। तारो की सख्या न देकर केवल दिशा बतलाने से योग तारे का ठीक-ठीक बोध होना कठिन है। शाकल्य ब्रह्म सिद्धान्त को छोड़कर केवल खण्डखाद्य में नक्षत्र योग तारो की सख्या दी है। कुछ सहिता ग्रन्थो में वह मिलती है। नक्षत्र के तारो के विषय में मतभेद है। अगले पृष्ठो में दिये हुए अलग अलग ग्रन्थो के आधार पर तारा सख्याएँ दी है। अगले पृष्ठो में दिये हुए कोष्ठक के प्रथम स्तम्भ में तैत्तिरीयश्रुति से निश्चय रूप से ज्ञात होनेवाली सख्या दी हुई है। नक्षत्र कल्प[2] अथर्व-वेद का परिशिष्ट है। श्रीपति कृत रत्नमाला के टीकाकार माधव ने जो लल्लोक्त नक्षत्र सख्याएँ दी हैं वही मैंने लिखी है। वे सम्भवत. रत्नकोश से ली गयी हैं।

नक्षत्र तारा सख्याओं के विषय में मतभेद होने पर भी आकाश में इष्ट नक्षत्र पुञ्ज कौन कौन है, इसमें मतभेद नही है, यह बात सब दृष्टियो से विचार करने पर स्पष्ट हो जाती है। शतभिषक् शब्द से इस नक्षत्र में १०० तारे होगे यह भ्रम होने के कारण इस नक्षत्र का नाम शततारा रख लिया गया होगा। परन्तु यह भूल वराहमिहिर के

[1] बर्जेस का सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २१८

[2] नक्षत्र कल्प और बृहत् गर्गसंहिता आज तक मैंने नहीं देखी है। Indian Antiquary, Vol. XIV, pp.43-45 में थीबो द्वारा लिखे हुए लेख के आधार पर मैंने ये संख्याएँ दी है। प्रो० थीबो ने बृहत् गर्गसंहिता और खण्डखाद्य के मूल वचन उद्धृत किये हैं। उनमें रेवती और अश्विनी के सम्बन्ध में जो भूल की है उसे मैंने शुद्ध कर दिया है।

समय से ही है। इसी प्रकार रेवती तारा का शर सब मतों में शून्य है, भोग भी शून्य के लगभग है इसलिए रेवती योग तारा के विषय में मतभेद नही है। उसके आसपास मृदङ्गाकार में अनेक तारे है। उनकी सख्या ३२ ही मानी गयी है। इन्हें ३२ ही क्यो माना गया यह स्पष्ट नही हुआ। परन्तु यह भूल भी वराह के समय से है। शेष सब नक्षत्रो को ध्यान-पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नक्षत्र की मानी हुई सख्या का कुछ न कुछ आधार अवश्य है। अतएव सब की संख्याएँ सयुक्तिक मालूम पडती हैं।

अनुक्रमांक	नक्षत्र नाम	तैत्तिरीयश्रुति	नक्षत्रकल्प	वृद्धगार्गीय संहिता	नारद संहिता	वराहमिहिर	खण्डखाद्यक	लल्लकृत रत्नकोश	शाकल्यब्रह्मसिद्धा०	श्रीपतिकृत रत्नमाला	मुहूर्ततत्त्व	मुहूर्त चिंतामणि
१	अश्विनी	२	२	२	३	३	२	३	२	३	३	३
२	भरणी		३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
३	कृत्तिका	७	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६
४	रोहिणी	१		५	५	५	५	५	५	५	५	५
५	मृग		३	३	३	३	३	३	३	३	३	३
६	आर्द्रा	१ या २	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
७	पुनर्वसु	२	२	२	४	५	२	४	२	४	४	४
८	पुष्य	१	१	१	३	३	१	३	३	३	३	३
९	आश्लेषा		६	६	५	६	६	५	५	५	५	५
१०	मघा		६	६	५	५	६	५	५	५	५	५
११	पूर्वाफल्गुनी	२	२	२	२	८	२	२	२	२	२	२
१२	उत्तराफल्गुनी	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१३	हस्त		५	५	५	५	५	५	५	५	५	५
१४	चित्रा	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१५	स्वाती	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१६	विशाखा	२	२	२	२	५	२	४	२	४	४	४
१७	अनुराधा		४	४	४	४	४	३	३	४	४	४
१८	ज्येष्ठा	१		३	३	३	३	३	३	३	३	३
१९	मूल	१ या २		६	११	११	२	११	९	११	११	११
२०	पूर्वाषाढा		४	४	४	२	४	२	४	४	४	२
२१	उत्तराषाढा		४	४	२	८	४	२	४	४	३	२
	अभिजित्	१		३			३	३	३	३	३	३
२२	श्रवण	१	३	३		३	३	३	३	३	३	३
२३	धनिष्ठा	४	५	४		५	५	४	५	४	४	४
२४	शतभिषक्	१	१	१	१००	१००	१	१००	१००	१००	१००	१००
२५	पूर्वाभाद्रपदा		२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
२६	उत्तराभाद्रपदा	४	२	२	२	७	२	२	२	२	२	२
२७	रेवती	१	१	४	३२	३२	१	३२	३२	३२	३२	३२

योगतारा

गत दो तीन शताब्दियो की अवधि मे कई यूरोपियन ज्योतिषियों ने आँख से साधारणत· दीखने वाले तारो की तालिकाए बनायी है । उन्होने तारो का नामकरण भी किया है और उनके विपुवाश और क्रान्तियो का सूक्ष्मत निश्चय किया है। इनमें हमारे नक्षत्रो के योग तारे कौनसे है इस विपय मे भिन्न-भिन्न शोधको के मत सलग्न कोष्ठक मे दिये है ।

नक्षत्रलोकतारा

अनुक्रमांक	तारानाम	कोलब्रुक	बेंटली, केरोपन्त	ह्विटने	बापूदेव	वें० बा० केतकर	मन्मतीय
१	अश्विनी	आल्फा एरैटिस	बीटा एरैटि	बीटा एरै०	आल्फा एरै०	बीटा एरै०	बीटा एरैटि
२	भरणी	म्यू या ३५ एरैटिस	३५ एरैटिस	३५ एरै	३५ एरै	४१ एरै	४१ एरैटिस
३	कृत्तिका	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी	ईटाटारी
४	रोहिणी	आल्डिबरान	आल्डिब	आल्डि०	आल्डि०	आल्डिब	आल्डिबरान
५	मृग	लाबडा ओरायन	११६ टारि०	लाबडा ओरा	लाब० ओरा०	लाब० ओरा०	लाब० ओराय०
६	आर्द्रा	आल्फा ओरायन	१३३ टारि	आल्फा ओरा	आल्फा ओरा	आल्फा ओ	ग्यामा जेमिनि
७	पुनर्वसु	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स	पोलक्स
८	पुष्य	डेल्टाकाक्री	डे० काक्री	डे० काक्री	डे० काक्री	डे० काक्री	डे० काक्री
९	आश्लेषा	आल्फा काक्री	४९ काक्री	एपसिलान हैड्री	आ० काक्री	आल्फा का०	जीटा हैड्रा०
१०	मघा	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस	रेग्युलस
११	पूर्वाफाल्गुनी	डेल्टा लिआनिस	थीटालियानिस	डेल्टालिओनिस	डेल्टालिआ	थीटालिआ	थीटालिआनिस
१२	उत्तराफा०	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनिबोला	डेनि०	डेनिबोला	डेनिबोला
१३	हस्त	ग्यामा या डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि	ग्यामा या डे० कार्व्हि०	डेल्टा कार्व्हि	डेल्टा कार्व्हि
१४	चित्रा	स्पायका	स्पायका	स्पाय०	स्पायका	स्पायका	स्पायका
१५	स्वाती	आर्कटयूरस	आर्कटयूरस	आर्कटयू०	आर्कटयू०	आर्कटयूरस	आर्कटयूरस

अनुक्रमांक	तारानाम	कोलब्रुक	बेंटली, केरोपन्त	ह्विटने	बापूदेव	वें० बा० केतकर	मन्मतीय
१६	विशाखा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा या कपा लिब्रा	२४ लिब्रा	आल्फा लिब्रा
१७	अनुराधा	डेल्टा स्कार्पिआन	बीटास्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि	डेल्टास्कार्पि	डे० स्कार्पि	डेल्टा स्कार्पि
१८	ज्येष्ठा	अटारिस	अटारिस	अटारि	अटारिस	अंटारिस	अटारिस
१९	मूल	न्यूस्कार्पि या ३४ स्कार्पि	३४ स्कार्पि	लावडा स्का०	३४ स्कार्पि	४५ ओफि०	लावडा स्कार्पि०
२०	पूर्वाषाढा	डेल्टासाजिटेरिअस	डे० साजि	डे० साजि	डे० साजि	डेल्टा साजि०	लावडा साजिटे०
२१	उत्तराषा०	टोसाजिटेरि	फै० साजि	सिग्मासाजि	टो० साजि	सिग्मासाजि०	पाय साजि०
	अभिजित्	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा	व्हीगा०	व्हीगा०
२२	श्रवण	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर	आल्टेर
२३	धनिष्ठा	आल्फा डे०	आल्फा डे०	बीटा डेल्फि०	आल्फा डे०	आल्फा डे०	आल्फा डे०
२४	शतभिषक्	लावडा आक्वे-रिअस	लाव, आक्वे	लाव० अक्वि०	लाव आक्वे०	लाव० आक्वे	लाव आक्वे०
२५	पूर्वभाद्रप०	मार्का व०	मार्का व०	मार्का व०	मार्का व०	मार्का व०	मार्का व०
२६	उत्तराभा०	आल्फेराट	आल्जेनिब आल्फेराट	आल्जेनिब आ-ल्फेराट	आल्फेरा०	आल्फेरा०	आल्जेनिब
२७	रेवती	जीटपिशियम	जीटापिशि	जीटपिशि	जी० पि०	जी० पि०	जीटा या म्यु पिशि०

हमारी नक्षत्र पद्धति तथा अरब लोगो की नक्षत्र पद्धति की तुलना और हमारे योगतारो के यूरोपियन पद्धति के अनुसार नाम और स्थान कौनसे है इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार कोलब्रुक ने किया है। इसके पहिले विलियम जोन्स ने (ई० स० १७९० में) भी विचार किया था परन्तु वह अपूर्ण ही रहा। कोलब्रुक का निबन्ध Asiatic Researches Vol IX 1807 A D में प्रकाशित हुआ है। इसीके आधार पर मैंने कोलब्रुक के द्वारा सम्मत तारो के नाम ऊपर के कोष्ठक मे दिये है। बेंटली कृत A Historical View of Indian Astronomy नामक पुस्तक ई० स० १८२३ में कलकत्ते में प्रकाशित हुई थी। इसमे उसने ब्रह्मगुप्तोक्त शर भोगो द्वारा तारो का विचार किया है। इसी पर से ऊपर वाले कोष्ठक में उसके द्वारा सम्मत योग तारो के नाम दिये हैं। इनमें उत्तराभाद्रपदा का तारा केवल अल्जेनिब उसने दिया है। केरोपन्त ने इसको स्वीकार न कर आल्फेराट का परिगणन किया है। इसके अतिरिक्त केरोपन्त ने सब तारे बेण्टली के अनुसार लिये हैं[1]। इनके अतिरिक्त बेण्टली ने जो विकल्पात्मक दूसरे तारो के नाम लिखे है वे इस प्रकार है—अश्विनीगामा एरिस, मृग ११३, ११७ टारी, आश्लेषा ५० काक्री, पूर्व फाल्गुनी ७१ लिओ, हस्त ८ कार्वी, मूल ३५ स्कार्पिओ। व्हिटने ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है[2] और योग तारो को बहुत विचार-पूर्वक निश्चय किया है। बापूदेव शास्त्री ने अपने सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवाद में योग तारो के नाम दिये हैं[3]। ये सब कोलब्रुक के अनुसार ही हैं। परन्तु अपने पञ्चाङ्ग में ७ तारो में उन्होंने भेद किया है। अश्विनी, आश्लेषा, विशाखा, मूल, उत्तराषाढा, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपदा इनके पहिले तारे को छोड़कर उनके स्थान पर बीटा एरैटिस, एपसिलान हैड्री, २४ (आयोटा) लिब्रा, लाबडा स्कार्पि, सिग्मा साजिटेरी, बीटा डेल्फिनी, गामा पिगासी ये तारे लिये हैं। यह सब परिवर्तन व्हिटने के मतानुसार है, यह स्पष्ट है। वेंकटेश बापू जी केतकर ने अपने मतानुसार जो तारे मुझे विदित किये उनका भी सन्निवेश मैंने ऊपर के कोष्ठक में कर दिया है। कोलब्रुक इत्यादि के माने हुए योग तारो के शरभोग हमारे ग्रन्थो में दिये हुए शरभोगो से कहा तक मिलते हैं इस पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है परन्तु मैंने इस बात के अतिरिक्त इस बात

[1] ग्रहसाधन कोष्ठक पृष्ठ ३२४-५

[2] सूर्यसिद्धान्त अनुवाद पृष्ठ १७५-२२०

[3] Bibliothica Indica New Series 1860 A. D. इसमें भरणी के लिए मस्का कहा है परन्तु अपने पञ्चाङ्ग में वे ३५ एरैटिस लेते हैं अतएव मैंने कोष्ठक में वही दी है।

पर भी ध्यान दिया है कि योग तारो में १३ अ० २० कला या लगभग उतना अन्तर अवश्य रहना चाहिए। आर्द्रा नक्षत्र का तारा मृगपुञ्ज मे मानना ठीक नही है।

आर्द्रया रुद्र पथमान एति।

तै० ब्रा० ३-१-१

इस वाक्य का, आर्द्रा के साथ रुद्र आता है, यह अर्थ है। व्याध तारा ही रुद्र है। जो आर्द्रा मैंने मानी है वह व्याव के पहिले केवल ९ मिनिट मध्याह्न में आती है। इसके सिवाय व्याघ के पास दूसरा कोई तेजस्वी तारा इस प्रदेश मे नही दिखाई देता।

ऊपर के कोष्ठक से स्पष्ट है कि कृत्तिका, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, उत्तरा फाल्गुनी, चित्रा, स्वाती, ज्येष्ठा, अभिजित्, शतभिषक्, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती इन १४ तारो के विपय मे सब का एक मत है। इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्रो के विषय मे मतभेद है। इनमें कौनसा मत ठीक है, यह निश्चय करना व्यर्थ है क्योकि हमारे ग्रन्थो में जो शर भोग दिये हैं वे ऊपर वाले कोष्ठक में दिये हुए किसी तारे से अशत या पूर्णत नही मिलते। हमारे ग्रन्थो में दिये हुए शरभोग सूक्ष्म रीति से नही निकाले हैं इसलिए वे नही मिलते तो इसमें आश्चर्य नही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वे किस काल से सम्वन्धित है, यह भी मालूम नही है। यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि प्राचीन काल के शरभोगो को निकालने की जो पद्धति अपनायी गयी है वह भी सूक्ष्म है या नही, इसलिए उनका न मिलना ठीक ही है। वास्तव मे वे मिलते भी नही है। इसलिए जिन तारो के साथ वे प्राय मिल जाते है उन्ही को योगतारा समझना चाहिए। यदि किसी नक्षत्र मे २।३ तारे है और उनमे के एक तारे का शर प्राय मिल जाता है तो भोग नही मिलता। यदि दूसरे तारे का भोग मिलता है तो शर नही मिलता इसीलिए किसी ने शर मिलाने की ओर अधिक ध्यान दिया है और किसी ने भोग की ओर। किसी ने केवल दिशा की ही ओर ध्यान दिया है। अतएव प्रत्येक के मत का आवार तो अवश्य ही है। अमुक नक्षत्र को वर्त्तमान समय मे अमुक पुञ्ज कहते है, उदाहरणार्थ भरणी नक्षत्र मस्का ही है यह निश्चित हो जाने पर भी उसका योग तारा कौनसा है इस विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है परन्तु यदि कोई उस पुञ्ज के बाहर के किसी तारे को योगतारा मान ले और इसके लिए कोई आधार न हो तो इसे अवश्य ही भूल समझना चाहिए। उदाहरणार्थ मृग और उसके शीर्ष को मिलकर जो तारापुञ्ज दीखता है या माना जाता है उसके शीर्ष में जो तीन तारे है उनमे से एक को योग तारा मानना उचित है परन्तु केरोपन्त ने उनसे बाहर किसी तारे को माना है, यह उनकी भूल है। भूल

नक्षत्र की आकृति सब ग्रन्थो में सिंह पुच्छ के समान मानी है। केतकर का योग तारा उसके बाहर का है अत वह ठीक नही। केरोपन्त के ग्रह साधन में मूल की क्रान्ति ३७ अश के स्थान पर भूल से २७ अश लिख गयी है इसीसे यह भूल हो गयी है। जो हो, प्रत्येक का मत ठीक ही है।

तारा-स्थिति-पत्रक

तारो के वेध लेकर उनके भोगशरो के पत्रक (क्याटेलाग) यूरोप में प्रथम हिपार्कस (ई० स० पू० १५०) ने तैयार किये। वे इस समय उपलब्ध नही है। परन्तु ई० स० १३८ में टालमी ने केवल अयन गति का सस्कार देकर उन्हें फिर से तैयार किया। ये उसके सिंटाक्सिस नामक ग्रन्थ में उपलब्ध है। इस पत्रक में १०२२ तारे हैं, उनको ४८ भागो में बाँटा है। इसके पश्चात् दूसरा पत्रक तैमूर लङ्ग के पौत्र उलुगबेग ने, जो समरकन्द का बादशाह था, ईसवी सन् १४३७ में बनाया। इसमें १०१९ तारे हैं। इसके बाद का पत्रक टाइको ब्राहे का ई० स० १६०० का है जिसमें ७७७ तारे हैं। इसके बाद यूरोप में बहुत से पत्रक बने है जो इनसे सूक्ष्म हैं। हमारे देश में किसी ने वेध लेकर पत्रक बनाये हो ऐसा मालूम नही पडता। महेन्द्र सूरि के यन्त्रराज ग्रन्थ में ३२ तारो के ध्रुवक और शर यवनागम से लेकर लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ का टीकाकार मलयेन्दु सूरि कहता है

शकमतेन नक्षत्रगोले नक्षत्राणां द्वाविंशत्यधिक सहस्र १०२२ मुक्तमस्ति। तन्मध्ये ग्रन्थकारेण नक्षत्रगोलं सम्यग् बुध्वा यन्त्रोपयोगीनिद्वाविंशत् नक्षत्राणि गृहीतानि।

अध्याय १ श्लोक २१-३८ टीका

इसमें लिखे हुए नक्षत्र पत्रक की १०२२ नक्षत्र-सख्या के कारण और ग्रन्थकार तथा टीकाकार के कालनिर्णय से यह मालूम होता है कि वह टालमी का है। इससे यह मालूम होता है कि वह मुसलमानो के द्वारा इस देश में लाया गया परन्तु आगे जाकर किसी ने इसका उपयोग नही किया।

नक्षत्रो का परिचय

इस समय हमारे देश में नक्षत्रो के योगतारो को तो छोड़ ही दीजिये, नक्षत्रो को भी पहचानने वाले ज्योतिषी प्राय नही मिलते। कोलब्रुक कहता है कि कुछ नक्षत्रो को हिन्दू ज्योतिषियो ने मुझे दिखलाया परन्तु कई को वे न बतला सके। बेरुनी[1] कहता

[1] India II p 83

है कि मैंने इस विषय में बहुत परिश्रम किया परन्तु नक्षत्रो के योगतारो को आँख से देखकर दिखानेवाला एक भी ज्योतिषी मुझे नही मिला। आजकल भी योग तारे दिखलाने वाला ज्योतिषी शायद ही कही मिले। अधिकाश ज्योतिषी ऐसे है जिन्हें केवल नक्षत्र पुञ्जो से भी परिचय नही। कुण्डली निर्माण और मुहूर्त्त देखने में अत्यन्त निपुण ऐसा एक ज्योतिषी मुझे मिला जिसे यह भी मालूम नही था कि अश्विन्यादि नक्षत्र पश्चिम से पूर्व की ओर क्रम से स्थित है, पूर्व से पश्चिम की ओर नही। तथापि नक्षत्र दिखानेवाले ज्योतिषी प्राय मिल जाते हैं। कुलाबे जिले के चौल ग्राम का 'फफे' नाम का एक वैदिक ब्राह्मण मुझे मिला था उसको सब नक्षत्र मालूम थे। उसने मध्याह्नवृत्त पर कौनसा नक्षत्र आया हुआ है वह देखकर रात्रिमान निकालने के लिए एक श्लोक मुझे बतलाया था। वह बहुत उपयोगी है इसलिए यहाँ देता हूँ -

खौ ख जा श्री गु चु गै चो छो भू १ युक्॥
१०२ ११२ १२८ १४० १५३ १५६ १८३ १९६ १९७
छ खि श्री कु चू छे को द्वि २ युक्॥
२१७ २३२ २४० २५१ २६६ २७७ २९१
डौ ख छा डी कु घु त्रि ३ युक्॥
३०५ ३१२ ३२७ ३४५ ३५१ ३५४
ख जा कु चू घे घो
१२ २८ ५१ ६४ ७४ ९४

अश्विनी नक्षत्र मध्यान्ह वृत्त पर आने से लग्न १०२ अश रहता है (अर्थात् कर्क लग्न के १२ अश व्यतीत हुए रहते है)। इसी प्रकार २८ नक्षत्रो के प्राग्लग्न के अश उपर्युक्त श्लोको में दिये हुए है। लग्न से इष्ट काल लाने की रीति से काल का आनयन करना चाहिए। इस वचन में द्वितीय आर्यसिद्धान्त के कटपयादि संख्या सकेत है और साथ साथ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ यह सकेत १ से ९ तक अक तथा ० के वाचक हैं। इसी वचन के समानार्थक तीन श्लोक गणेश दैवज्ञ कृत मुहूर्त्त सिन्धु में भी दिये हुए है।[1] इनमें अशो की सख्याएँ साधारण नियम के अनुसार है, और जिस स्थान की ४ पलभा हो वही के ये लग्नाश है, इतरत्र कुछ न्यूनाधिक होगे ऐसा भी कहा

[1] इन श्लोको में चित्रा के अंश २६३ और शततारका के ६१ हैं। ऊपर के वचन में चू और कू ये अक्षर है परन्तु उनके स्थान पर यदि गू और कू ये दो अक्षर हो तो दोनो की संगति बैठ जाती हैं।

है। इस बात से और चौलग्राम गणेश दैवज्ञ के नादगाव से निकट होने के कारण "खौ" इत्यादि वचन और पूर्वोक्त वैदिक को ज्ञात नक्षत्र गणेश दैवज्ञ से परम्परा से प्राप्त हुए मालूम होते हैं।

[उक्त वैदिक ने जो नक्षत्र दिखलाये थे उनमें रेवती और विशाखा में भूल थी। रत्नागिरी के एक ज्योतिषी ने जा० बा० मोडक को जो रेवती तारा दिखलाया था वह इससे मिलता है। धुलिया के एक अच्छे ज्योतिषी ने भी इसी तारे को रेवती नक्षत्र कहा था। परस्पर कोई सम्बन्ध न होने पर भी तीनों को यह समान भ्रम कैसे हुआ यह कहना कठिन है। परन्तु यह सम्भव नही है कि यह भूल मूल में गणेश दैवज्ञ की ही थी। मैंने अपनी ज्योतिर्विलास पुस्तक में नक्षत्रो का वर्णन दिया है। उनकी सहायता से कोई भी नक्षत्रो का परिचय प्राप्त कर सकता है।]

नक्षत्रपद्धति का मूल

चीनी, पारसी और अरब लोगो में नक्षत्र पद्धति थी। अतएव नक्षत्र पद्धति हिन्दुओ ने स्वतन्त्र रूप से ही आविष्कृत की अथवा दूसरे राष्ट्रो से ली, इस विषय को यूरोपियन विद्वान् विशेष महत्त्व देते हैं। परन्तु मुझे इस वाद में कोई विशेष सार दृष्टिगत नहीं होता, क्योकि सम्पूर्ण ज्योतिर्गणित पद्धति भारतीयों ने स्वयम् आविष्कृत की या दूसरो से ली, इस बात का निर्णय केवल नक्षत्र पद्धति किसने निकाली इससे नहीं हो सकता। आज नक्षत्र ज्ञान होते ही कल ग्रह ज्ञान अवश्य होना चाहिए। एक राष्ट्र ने नक्षत्र-पद्धति स्थापित की तो ग्रहगति पद्धति भी उसी राष्ट्र के द्वारा स्थापित होनी चाहिए अथवा एक राष्ट्र ने किसी दूसरे राष्ट्र से नक्षत्रपद्धति ली हो तो उसे ग्रह गति-ज्ञान स्वय नही हो सकता, यह कहना युक्तिसङ्गत नही है। नक्षत्रपद्धति मूलत. हिन्दुओ की नहीं है यह वेबर नामक जर्मन विद्वान् का कहना है। एम बायो नामक फ्रेञ्च विद्वान् ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि नक्षत्रपद्धति मूलत. चीनियो की थी और उन्ही से हिन्दुओ ने उसे प्राप्त किया। परन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि चीनी लोगो को जो मूल में नक्षत्र ज्ञान था उससे अधिक नक्षत्रज्ञान उनको कभी प्राप्त नही हुआ। ग्रहगति और अयन चलन इन महत्त्व के विषयो का विचार उन्होंने कभी नहीं किया। यह बात व्हिटने और बायो दोनो स्वीकार करते हैं।[1] भारतीयो ने नक्षत्रपद्धति स्वय स्थापित की है, सम्भवत. चीनी लोगो ने भी उसे ढूढ निकाला हो

[1] इस विषय में बायो और व्हिटने के मतों का जो उल्लेख किया है वह बर्जेस के सूर्यसिद्धान्त के अनुवाद पृष्ठ १८०-२०० से लेकर २०९ और ३०४ पृष्ठ पर आधारित है।

परन्तु यह निश्चय है कि हम लोगो ने उसे उनसे प्राप्त नही किया। इस विषय मे हम पहिले ही विवेचन कर चुके हैं। यहाँ उसकी पुनरुक्ति करने की आवश्यकता नही किन्तु उक्त यूरोपियनो के कथन का सक्षेप में विचार किया जाता है। वायो ने Journal des Savants नामक पत्रिका में चीनी नक्षत्रपद्धति तथा हिन्दू नक्षत्र पद्धति का विस्तार पूर्वक विचार किया है।[1] उसके कहने का तात्पर्य नीचे दिया जाता है—

"चीनी लोगो के वेध यन्त्र और वेधपद्धति अच्छी थी और उनका वर्तमान यूरोपियन पद्धति से साम्य है। उनके पास याम्योत्तरलवन यन्त्र और काल साधन घटिका (Clepsydra) ये दो यन्त्र थे। उन्होने तारो के याम्योत्तर-लघन वेध करके उनके विषुवाश और क्रान्तियो को ठहराया था और इसके लिए और वेध लेने में काल के सम्बन्ध में कोई भूल न रह जाय इसलिए ई० स० पूर्व २३५७ के आसपास सम्भावित भूल को शुद्ध करने के लिए विषुववृत्त के निकट २४ तारो का उन्होने परिगणन किया था। ऐसा करने में विषुववृत्त के सान्निध्य की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया था। चाहे वे तेजस्वी हो या न हो, दिखाई देने मात्र से उन्होने उनको अपनी गणना में ले लिया था। वह ऐसे प्रत्येक तारे को सियू (Sieu) कहते हैं। च्यूकाग राजा के समय (ई० स० पू० ११०० में) पूर्वोक्त २४ तारो में मघा, विशाखा, श्रवण और भरणी के चार तारे और जोड दिये।" बायो ने चीनियो के नक्षत्रो का जितना विवेचन किया है उतना हिन्दुओ के नक्षत्रो का नही। व्हिटने ने चीनी, अरबी और हिन्दू तीनो पद्धतियो की तुलना की है। तीनो पद्धतियो में कुछ बातो में साम्य है, कुछ विषमता भी। इसलिए व्हिटने ने प्रथमत यही निष्कर्ष निकाला कि तीनो पद्धतियो में एक भी ऐसी नही जिसको तीनो का मूल कहा जा सके। ऐसा होने पर भी वह आगे कहता है कि "ई० स० ११०० पूर्व या उसके लगभग चीनी नक्षत्र पद्धति पश्चिम एशिया में पहुँची और उसको सेमिटिक या ईरानियो ने अपना लिया। उसमें उन्होने अच्छी शास्त्रीय रीति से या विशेष कुशलता पूर्वक नही परन्तु वेध लेकर कुछ परिवर्त्तन किया। ग्रहगति के अनुसार क्रान्तिवृत्त के प्रदेश में चीनी 'सू' एक तारा के स्थान पर उन्होंने नक्षत्र पुञ्जो की कल्पना की और कुछ नक्षत्रो के स्थान बदले। ऐसी अवस्था में यह पद्धति और ग्रह ज्ञान भारत में आया। इन्ही सेमिटिक या ईरानी लोगो से कालान्तर में अरब के लोगो ने यह ज्ञान प्राप्त किया।" ध्यान देने योग्य बात है कि हिन्दुओ की नक्षत्र पद्धति दृष्टिवेध से सिद्ध की हुई है, चीनियो की यन्त्रवेध से सिद्ध की गयी थी। हमारे नक्षत्रो में से रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, पूर्वोत्तर फाल्गुनी, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, अभिजित् और श्रवण

[1] Journal des Savants 1840, 1845 and 1859

का योग तारा देखने में स्पष्ट अर्थात् प्रथम या द्वितीय और क्वचित् तृतीय परिमाण का है, परन्तु चीनी लोगो ने उनको ग्रहण न कर उन्ही नक्षत्रो में कम तेजस्वी तारो को ग्रहण किया है,[1] इसका कारण यह है कि वे तारे उनको वेधोपयोगी मालूम हुए। इतना होने पर भी यद्यपि व्हिटने को यह कहने का साहस नही हुआ कि हिन्दुओ ने चीनी पद्धति को अविकल वैसा का वैसा उठा लिया है तथापि उसने एक ऐसी सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति की कल्पना की जिसका कही पता नही लगता। फिर इस सेमिटिक अथवा ईरानी पद्धति को चीनी पद्धति का हीन स्वरूप देकर उसे हिन्दुओ के माथे मढ़ दिया। यह सृष्टि में क्रमोन्नति के सिद्धान्त का विपर्यास तो है ही, साथ ही साथ व्हिटने के दुराग्रह का द्योतक है। ईरानियो में नक्षत्र पद्धति थी परन्तु उसके विषय में व्हिटने स्वय कहता है "जेन्दावेस्ता में उसका अस्तित्व अब तक किसी ने नही दिखाया है। बुन्देहेश नामक ग्रन्थ में नक्षत्रो की सख्या २८ और उनके नाममात्र दिये हुए हैं। यह ग्रन्थ भी बहुत प्राचीन नही है। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में सासनियन राजाओ के समय ईरान स्वतन्त्र हुआ था। उसी समय का यह ग्रन्थ होना सम्भव है।" खाल्डियन लोगो में नक्षत्र पद्धति थी या नही इस विषय में वह लिखता है "वेबर का कथन है कि बाइबल के मज्जलॉथ (Mazzaloth) और मजरॉथ (Mazzaroth) ये दो शब्द (Job 38, 32 Kings 23-5) अरबी के नक्षत्र वाचक शब्द मजिल (Manzil) के समान हैं। अतएव इससे सिद्ध होता है कि पाश्चात्य सेमिटिक लोगो में नक्षत्र-पद्धति वर्त्तमान थी और उसे खाल्डियन लोगो ने निकाला होगा। उपर्युक्त बात इतनी अप्रसिद्ध और सशयग्रस्त है कि नक्षत्रपद्धति के अस्तित्व के विषय में प्रमाण-भूत नही मानी जा सकती। तद्व्यतिरिक्त यदि यह पद्धति इतने प्राचीन काल में और इतने पश्चिम में वर्त्तमान थी तो ग्रीक लोगो ने इसके विषय में नितान्त मौन क्यो धारण किया? यह बात विश्वसनीय नही है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन सेमिटिक अथवा ईरानियो के द्वारा व्हिटने के कथनानुसार यह पद्धति भारत में आयी वे खाल्डि-यन या पारसीक नही थे। इनके सिवाय किसी दूसरी सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ, जिनमें यह पद्धति परम्परा रूप से प्रचलित थी, इतिहास को अवगत नही। इसीसे यह सिद्ध होता है कि तथाकथित मध्यस्थ सेमिटिक अथवा ईरानी जातियाँ जिनका भारत ऋणी हो सकता है केवल कपोलकल्पित हैं।

ई० स० ११०० पूर्व चीनी पद्धति में केवल २४ तारे थे इसलिए बायो अथवा व्हिटने यह नही कह सकते कि इसके पहिले यह पद्धति भारत में आयी। हिन्दू पद्धति

[1] बर्जेस कृत सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद, पृष्ठ २२४ देखिए।

में अभिजित् नक्षत्र था वह ई० स० ९७२ मे निकाल दिया गया, ऐसा बायो का कथन है। इससे वह सिद्ध करना चाहता है कि तब तक चीनियो के २८ नक्षत्र भारत में चालू थे। परन्तु इसके पूर्व दीर्घकाल से हिन्दुओ ने गणित मे २७ नक्षत्र ही लिये हैं। व्हिटने ने तैत्तिरीय संहिता का उल्लेख कर बायो का खण्डन किया है क्योकि इस सहिता मे केवल २७ नक्षत्र ही परिगणित है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि बायो और व्हिटने का यह कथन कि हम लोगो ने नक्षत्र-पद्धति चीनियो से ग्रहण की, सर्वथा त्याज्य है। वेबर भी कहता है कि 'यह मान्य नही है कि हिन्दुओ ने चीनियो से नक्षत्र-पद्धति सीखी थी'[१]।

सर विलियम जोन्स ने हिन्दू और अरब नक्षत्र-पद्धति की तुलना की है[२] परन्तु व्हिटने का कहना है कि वह अपूर्ण और स्थूल है अतएव विश्वसनीय नही।[३] यह तुलना जोन्स ने केवल नक्षत्रो के सम्बन्ध में नही की है, नक्षत्रो की राशि के सम्बन्ध में की है। उसका मत है कि हिन्दुओ ने नक्षत्र-पद्धति खाल्डियन लोगो से न लेकर नक्षत्र राशि पद्धति ग्रीक लोगो से ली है। व्हिटने का यह कथन कि नक्षत्र पद्धति खाल्डियन लोगो में नही थी हम ऊपर ही लिख चुके है। हिन्दू और अरब पद्धति की तुलना कोलब्रुक ने विस्तारपूर्वक की है परन्तु हिन्दुओ ने अरबो से यह पद्धति ली, यह वह या और कोई भी विद्वान् नही कहता। तद्विपरीत कोलब्रुक का यह कहना है कि अरबो ने ही हिन्दुओ से यह सीखी।[४] इस बात का विवेचन हम पहिले भी कर चुके है। मैक्समूलर का कथन है कि नक्षत्र-पद्धति बैबिलोनिया से सर्वत्र प्रसृत हुई[५]। वेबर का भी कहना है कि हिन्दुओ ने उसे बैबिलोनियन अथवा खाल्डियन लोगो से लिया परन्तु मैक्समूलर ने इस विषय पर कोई सप्रमाण और विस्तृत विवेचन नही किया है अतएव यह मत सर्वथा अग्राह्य है, यह व्हिटने ने भी स्वीकार किया है। साराश नक्षत्र-पद्धति भारतीयो ही का स्वतन्त्र आविष्कार है, यह पूर्णत सिद्ध हो जाता है।

[१] History of Indian Literature p 247.
[२] Asiatic Researches p. 2 (1790)
[३] सूर्यसिद्धान्त अनुवाद, पृष्ठ १८०
[४] Algebra, Introduction p XXII
[५] History of Indian Literature p 2 Note 2 and p 247.

(११) महापात

चन्द्र सूर्य से क्रान्तिसाम्य को महापात कहते हैं। सायन रविचन्द्र का योग जब ६ अथवा १२ होता है उसके आसपास क्रान्तिसाम्य होता है। पहिले को व्यतीपात और दूसरे को वैधृति कहते हैं। इन क्रान्तिसाम्यों के समय शुभकर्म वर्जित किये गये हैं। इसलिए प्रत्येक गणित ग्रन्थ में इनका गणित रहता है। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव में इनका गणित देकर भी सुलभ रीति से इसका समय निकालने के लिए पातसारणी नामक एक छोटा सा अलग ग्रन्थ लिखा है।

यहाँ तक गणित स्कन्ध का विचार हुआ, अब दूसरे स्कन्धों का विचार करेंगे।

२. संहितास्कन्ध

ज्योतिष की सब शाखाओ के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को पहिले सहिता कहते थे परन्तु वराहमिहिर के समय गणित और होरा से भिन्न तृतीय शाखा को ही सहिता कहने लगे थे। कुछ दिनो बाद शीघ्र ही वाराहीसहिता मे वर्णित विपयो की चर्चा लुप्त हो गई और मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध बन बैठा। इसका विवेचन आगे करेंगे। संहिता शाखा के स्वरूप का ज्ञान होने के लिए यहा पहिले यह बतायेंगे कि वराह की संहिता में किन किन विषयो का वर्णन किया गया है।

सहिताविषय

सहिताग्रन्थो मे राष्ट्रविपयक, शुभाशुभफल जानने की विधि लिखी रहती है, व्यक्तिविपयक नही। वाराहीसहिता के आरम्भ के ११ अध्यायो में सूर्य, चन्द्र, राहु और अन्य ग्रह तथा केतु के चार (गमन) और नक्षत्रमण्डल मे उनके गमन से ससार को होनेवाले शुभाशुभफलो का वर्णन है। १२ वे और १३ वें अध्यायो मे अगस्त्य और सप्तर्षियो के उदयादि के फल हे। १४ वे अध्याय का नाम कूर्माध्याय है। उसमें भारतवर्ष के ९ विभाग मान कर उन विभागो और तदन्तर्गत देशो पर अमुकामुक नक्षत्रो का आधिपत्य है—इत्यादि बातें बताई हैं। इसके बाद नक्षत्रव्यूह तथा ग्रहो के युद्ध और समागम के फल हैं। इसके बाद वर्पफलविचार है। वह कुछ इस ढग का है जैसा कि आजकल पञ्चाङ्गो मे सवत्सरफल लिखा जाता है। इसके बाद ग्रह शृङ्गाटक प्रकरण है। उसमें सूर्य या किसी नक्षत्र के पास एक ही समय सब या कुछ ग्रहो के एकत्रित होने से जो धनुष या शृङ्गादि सदृश आकृतिया बनती हैं, उनके फल बताये हैं। इसके बाद पर्जन्यगर्भलक्षण, गर्भधारण और वर्पण विपय है। उनमें मार्गशीर्षादि मासो मे पर्जन्यो के गर्भधारण और तदनुसार पर्जन्यवृष्टि इत्यादि का विवेचन है। आजकल भी कुछ लोग इसका विचार करते हैं। लोग कहते हैं कि गर्भ-धारण द्वारा वृष्टि की बिलकुल ठीक स्थिति बतानेवाले कुछ लोग इस समय भी हैं। इस प्रकरण में बरसा हुआ पानी नापने के लिए कहा है और उसे नापने की रीति बताई है। इसके बाद चन्द्रमा से रोहिणी, स्वाती, आपाढ और भाद्रपदा के योग के फल लिखे

हैं। तदनन्तर सद्योवर्पण, कुसुमफललक्षण, सन्ध्या (प्रात और सायकालीन आकाश की लालिमा इत्यादि), दिग्दाह, भूकम्प, उल्का, परिवेष (मण्डल), इन्द्रधनुष, गन्धर्व-नगर[1] (आकाश मे दिखाई देने वाला नगर), प्रतिसूर्य और निर्घात—इन सृष्टिचमत्कारो का वर्णन है। उसके बाद धान्यादिको के मूल्य, इन्द्रध्वज और नीराजन का वर्णन है। इसके बाद खञ्जन नामक पक्षी के दर्शनादिको के फल है और दिव्य, भौम तथा अन्तरिक्ष उत्पातो का वर्णन है। इसके बाद मयूरचित्रक प्रकरण है। आगे राजोपयोगी पुष्यस्नान, पट्टलक्षण और खड्गलक्षण है। इसके बाद वास्तु-प्रकरण है। यह बडा विस्तृत है। इसमें गृह बनाने के लिए स्थान कैसा होना चाहिए, काष्ठ कैसे होने चाहिए, भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए किस किस प्रकार के गृह बनाने चाहिए, इत्यादि उपयुक्त बाते बताई है। इसकी टीका मे भटोत्पल ने ५ नकशे दिये है। इसके बाद उदकार्गल प्रकरण है। उसमे मुख्यत यह बताया है कि भूमि में पानी कितने नीचे मिलेगा। प्रसगवशात् उसमे भूस्तरविद्या सम्बन्धी भी कुछ बाते आई है। लोग कहते है कि आजकल भी कुछ ऐसे मनुष्य है जो यह बताते है कि अमुक स्थान मे कुआँ खोदने से पानी शीघ्र मिलेगा। इसके बाद वृक्षायुर्वेद, प्रासादलक्षण और वज्रलेप प्रकरण है। वज्रलेप एक प्रकार का पलस्तर है। इसके विषय मे लिखा है कि यह मयकथित है। इसके बाद देवप्रतिमाविचार, वास्तुप्रतिष्ठा, गौ, कुक्कुर, कुक्कुट, कूर्म, अज, पद्मराग इत्यादिको की परीक्षा, दीप लक्षण, दन्तधावन और शकुन का विचार है। इसके बाद श्वान और शृगाल के शब्द से होने वाले शुभाशुभ का और मृग हाथी इत्यादिको का वर्णन है। इसके बाद तिथि, नक्षत्र, करण और गोचर ग्रहो के फल है।

मैने अधिक सहिताग्रन्थ नही देखे है तथापि वराह के पहिले की गर्गादि सभी सहिताओ में अनुमानत ये ही अथवा इनमें से कुछ विषय होगे। विवाहादि कर्मोपयोगी शुभकाल (मुहूर्त) का विचार सम्भवत सहिताग्रन्थो मे ही रहता है। वराह ने यात्रा और विवाह विषयक दो ग्रन्थ पृथक् बनाये है। मालूम होता है, इसी कारण उन्होने अपनी सहिता में ये विषय नही लिखे है। वराह ने अनेक स्थानो पर लिखा है कि अमुक ऋषि के कथनानुसार अमुक विषय का वर्णन कर रहा हू। इस प्रकार उन्होने गर्ग, पराशर, असित, देवल, वृद्धगर्ग, कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, बृहस्पति, मनु, मय, सारस्वत

[1] न्यूहालैण्ड से कुछ मील दूर समुद्रस्थित एक जहाज के मनुष्यो ने न्यूहालैण्ड का एक नगर आकाश में देखा था। यह समाचार सन् १८८७ के लगभग प्रकाशित हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि गन्धर्वनगर बिलकुल असत्य पदार्थ नहीं है।

और ऋषिपुत्र के नाम दिये हैं।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय इतनी सहिताएँ उपलब्ध थी। कुछ और भी रही होगी क्योकि उन्होने कही कही "अन्यान् बहून्" लिखा है। टीकाकार ने टीका मे इन सब सहिताओ के अतिरिक्त व्यास, भानुभट्ट, विष्णुगुप्त, विष्णुचन्द्र, यवन, रोम, सिद्धासन, नन्दी और नग्नजित् इत्यादिको के तथा भद्रबाहु नामक ग्रन्थ के वचन दिये हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थकार वराह से प्राचीन और कुछ अर्वाचीन होगे। वास्तुप्रकरण मे किरणाख्य तन्त्रावली और मय के वचन दिये हैं।

उपर्युक्त विषयो मे आधुनिक अनेक शास्त्र भी हैं। उनका सम्बन्ध केवल ज्योतिष-शास्त्र से ही नही है, उनमे आकाश और पृथ्वी सम्बन्धी अनेक सृष्टिचमत्कार तथा व्यावहारिक विषय भी आये हैं। मालूम होता है, इनमें से कुछ विषयो का विचार वराहमिहिर के बहुत पहिले ही हो चुका था और कुछ का प्राचीनकाल से वराहमिहिर के समय तक होता आया। अनेक स्थानो मे वराहमिहिर ने स्वकीय मतो का ही उल्लेख किया है। सारस्वतमुनिकथित उदकार्गल प्रकरण लिखने के बाद 'मानव वक्ष्ये' कह कर उन्होने अनेक बातें लिखी हैं। वराहसहिता में वर्णित विषयो का शोध बाद में भी होता रहता तो बडा लाभ होता। वराह के बाद एक भी ऐसा ग्रन्थ नही बना जिसमे उनकी सहिता के सभी अथवा कुछ विषयो का विवेचन हो। मुहूर्ततत्त्व मे सक्षेपत: बहुत से विषय आये हैं और ज्योतिषदर्पण मे ग्रहचार का वर्णन है तथापि यह कथन अनुचित नही है कि वराह के बाद वे विषय सर्वथा लुप्त हो गये। गर्भावली (पर्जन्य-गर्भ) इत्यादि दो तीन प्रकरणो का विचार आजकल भी कुछ लोग करते हैं और उनका सक्षिप्त वर्णन कुछ ग्रन्थो मे मिलता है तथापि उनमे महत्त्व की बाते बहुत कम हैं। वास्तुप्रकरण आधुनिक सभी मुहूर्तग्रन्थो मे है, उसमे कुछ उपयुक्त बाते भी हैं तथापि मूलहेतु ग्रन्थकारो को प्राय विस्मृत हो गया है और उसमे लिखी हुई बातो का प्रत्यक्ष उपयोग प्राय कम होता है। घर की लम्बाई चौडाई के योग इत्यादि मे अमुक सख्या का भाग देने से अमुक शेष रहे तो शुभ और अमुक रहे तो अशुभ फल होता है—इत्यादि नियमो को तो कोई नही ही पूछता[2] पर इनके साथ साथ उपयुक्त बाते भी लोगो ने छोड दी हैं।

[1] सारस्वत का नाम उदकार्गल प्रकरण में और मय का केवल वास्तु और तत्सदृश प्रकरणो में ही आया है।

[2] नक्षत्र सम्बन्धी शुभत्वाशुभत्व के अनुसार लम्बाई चौड़ाई के विषय में कुछ नियम बताये गये हैं और उनमें ज्योतिषियो ने बडी चतुराई दिखाई है। मुहूर्तमार्तण्ड के वास्तुप्रकरण में क्षेत्रफलादिको का बहुत विचार किया है। मैंने एक बार एक ज्योतिषी को

मुहूर्तग्रन्थ और उनके विषय

गर्भाधानादि संस्कार, प्रयाण तथा अन्य व्यावहारिक अनेक कार्य अमुकानुक समयों में करने से लाभप्रद होते हैं—इनके अनेक नियम बनाये गये हैं। उन नियमों के अनुसार निश्चित किये हुए समय का नाम मुहूर्त है। मुहूर्तविचार प्राचीनकाल में संहिताग्रन्थों का एक अङ्ग था परन्तु बाद में संहितोक्त अन्य विषयों का लोप और मुहूर्त का प्राबल्य हो गया और मुहूर्तविषयक ग्रन्थों को लोग मुहूर्तग्रन्थ ही कहने लगे। मुहूर्तग्रन्थों में मुख्यतः ये विषय रहते हैं :—प्राय सभी मुहूर्तग्रन्थों में त्याज्यप्रकरण नामक एक सामान्य प्रकरण रहता है। उसमें प्रत्येक शुभकार्य में वर्जित तिथिनक्षत्रादि लिखे रहते हैं। उसके बाद तिथि, वार, नक्षत्र, योग और संक्रान्ति के शुभाशुभत्व का वर्णन रहता है। उसके बाद गर्भाधानादि १५ संस्कारों के मुहूर्त का विचार रहता है। विवाह में वधूवर की कुण्डलियाँ मिलाने के विषय में एक विस्तृत प्रकरण रहता है। इनके अतिरिक्त वास्तु, यात्रा, राज्याभिषेक और कुछ अन्य फुटकर प्रकरण रहते हैं। नक्षत्रप्रकरण में कुछ ग्रन्थों में दुष्टनक्षत्रजननशान्ति इत्यादि शान्तियां भी रहती हैं[1]।

मुहूर्तग्रन्थों के ये ही विषय श्रीपति की रत्नमाला में भी हैं, अन्य विषय नहीं हैं पर श्रीपति ने अपने ग्रन्थ का नाम मुहूर्तग्रन्थ नहीं रखा है। इस प्रकार के ग्रन्थों के नाम मुहूर्तमार्तण्ड इत्यादि बाद में पड़ने लगे। श्रीपति ने रत्नमाला लल्ल के रत्नकोश के आधार पर बनायी है अतः लल्ल के ग्रन्थ में भी मुहूर्तव्यतिरिक्त विषय नहीं होंगे और वराह के बाद उनकी संहिता सरीखा अन्य ग्रन्थ नहीं बना, इससे ज्ञात होता है कि शक ५०० या ६०० से मुहूर्त ही तृतीय स्कन्ध हो गया।

शुभत्वाशुभत्व का बीज

नक्षत्रों के नाम और उनके देवता, अश्विन्यादि नक्षत्रों की अश्वादि कल्पित-योनियां[2] और स्थिरचरादि संज्ञाएं, राशियों की मेषादि संज्ञाओं से बोधित होने

वह समझा दिया, उससे मुझे ज्ञात हुआ कि उस विषय को बहुत कम ज्योतिषी समझते होंगे। रेखागणित इत्यादि बिलकुल न जानने वालों को इसे समझाना भी बड़ा कठिन है।

[1] मुहूर्तविचार में जन्मलग्नकुण्डली और इष्टकालीन लग्नकुण्डलियों में से एक का अथवा दोनों का विचार अनेक स्थानों में किया है। कुण्डली का विवेचन आगे किया है। विवाहादिक मुहूर्तों में षड्वर्ग का भी विचार किया है।

[2] योनि के विषय में रत्नमालाटीकाकार माधव ने नक्षत्र प्रकरण में लिखा है— एता योनयः आगमसिद्धा एव दम्पत्यादियोगार्थं पूर्वाचार्यैः कल्पिता न पारमार्थिकाः।

वाले मेषादि प्राणी और राशियो के भौमादि स्वामी, तिथियो की नन्दादि सज्ञाएं और तिथियो के स्वामी—इत्यादि बातो के आधार पर भिन्न भिन्न कर्मों मे नक्षत्रो का शुभत्वाशुभत्व माना गया है। जैसे—चर नक्षत्रो मे स्थिर कर्म करना अशुभ है, वधूवर के नक्षत्र रोहिणी और उत्तराषाढा हो तो उनकी सर्प और नकुल योनियो मे परस्पर शत्रुत्व होने के कारण यह विवाह अशुभ माना गया है। इसी प्रकार और भी बहुत सी बातें हैं।

मुहूर्त की आवश्यकता

इन मुहूर्तों का लोकव्यवहार से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है और प्रथम भाग के अनेक स्थानो के विवेचन से ज्ञात होगा कि ये अनादिकाल से चले आ रहे हैं। सम्प्रति विवाहादि सस्कार तो मुहूर्तों बिना होते ही नही। गृहारम्भ, गृहप्रवेश, बोआई, कटाई, दवाई इत्यादि कर्म भी मुहूर्त बिना नही होते। अन्य भी अनेक व्यावहारिक कार्य अनेक मनुष्य मुहूर्तानुसार करते हैं। केवल वैदिकधर्मी ही नही, लिंगायत और जैन भी पद पद पर मुहूर्त पूछते हैं। पारसी और मुसलमानो के भी कुछ कार्य मुहूर्तानुसार होते हैं। हमे थोड़ा सा ज्योतिषज्ञान होने के बाद उसकी क्रमश. वृद्धि होने का और आज तक उसका अस्तित्व रहने का एक मुख्य कारण मुहूर्त की आवश्यकता है।

मुहूर्तग्रन्थो का इतिहास

मुहूर्तग्रन्थ और उनके कर्ताओ का थोड़ा सा इतिहास लिख कर यह स्कन्ध समाप्त करेंगे। आगे लिखे हुए स्वल्प इतिहास से ज्ञात होगा कि मुहूर्तविषयक ग्रन्थ अनेक हैं। उनमें से जिनका प्रत्यक्ष या परम्परया थोडा बहुत परिचय है उन्ही का वर्णन यहा करेंगे।

रत्नकोश (लगभग शक ५६०)—यह ग्रन्थ लल्ल का है। इसे मैंने नही देखा है। श्रीपति ने रत्नमाला इसी के आधार पर बनाई है अत. यह आधुनिक मुहूर्तग्रन्थो सदृश ही होगा।

रत्नमाला (लगभग शक ९६१)—यह ग्रन्थ श्रीपतिकृत है। इसमे केवल उपर्युक्त मुहूर्तग्रन्थोक्त ही विषय हैं।[1] इस पर माधव की टीका है। माधव का काल शक ११८५ है। इन्होंने टीका मे अनेक ग्रन्थो के वचन दिये है। उनमें से यहा मुहूर्तस्कन्ध-सम्बन्धी ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के वे नाम लिखते हैं जिनके विषय में इसके पूर्व या पश्चात्

[1] तथापि टीकाकार ने लिखा है—संहितार्थमभिधातुमिच्छुराह।

कुछ भी नही लिखा गया है। ग्रन्थकारो के नाम[1]—ब्रह्मशभु, योगेश्वर (ये दोनो नाम वास्तुप्रकरण मे आये हैं) और श्रीधर। ग्रन्थो के नाम—भास्करव्यवहार, भीम पराक्रम, दैवज्ञवल्लभ, आचारसार (यह कदाचित् आचारविषयक ग्रन्थ होगा), त्रिविक्रमगत, केशवव्यवहार, तिलकव्यवहार, योगयात्रा, विद्यावारीविलास, विवाहपटल, विश्वकर्मशास्त्र (यह नाम वास्तुप्रकरण मे आया है)। इनके अतिरिक्त जातकग्रन्थ लघुजातक, यवनजातक, वृद्धजातक, शकुनग्रन्थ नरपतिजयचर्या और प्रश्नग्रन्थ विद्वज्जनवल्लभ के भी वचन दिये हैं। टीका मे वारप्रकरण मे इन्होने लिखा है—इह आनन्दपुरे विपुवच्छाया ५।२० विपुवत्कर्ण १३।८। इससे ज्ञात होता है कि इनका स्थान आनन्दपुर है और उसका अक्षाश २४ है।

राजमार्तण्ड—यह ग्रन्थ भोजकृत है। यह शक ९६४ के लगभग बना होगा।

विद्वज्जनवल्लभ—तजौर के महाराष्ट्र राजकीय[2] पुस्तकालय की सूची मे इस ग्रन्थ के विपय में लिखा है—यह ग्रन्थ भोजकृत (अर्थात् शक ९६४ के आसपास का) है। इसमे १८ प्रकरण और सब लगभग १८५ श्लोक हैं। प्रकरणो के नाम क्रमश लाभालाभ, शत्रुगमागम, गमागम, प्रेपितागम, यात्रा, जयपराजय, सन्धि, आश्रय, वन्धावन्ध, रोगी, कन्यालाभ, गर्भधारणा, जन्म, वृष्टि, क्षिप्तधन (१६ वा प्रकरण खण्डित है), मिश्र और चिन्ता हैं। भोजकृत सहितास्कन्धीय एक ग्रन्थ राजमार्तण्ड के रहते हुए उनका यह दूसरा ग्रन्थ बनाना शकास्पद है। दूसरे का हो तो भी यह निश्चित

[1] माधव ने प्रसंगवशात् अन्य विषयों के ग्रन्थकारो के भी वचन दिये हैं। चूंकि वे उपयोगी हैं इसलिए यहाँ उन ग्रन्थो या ग्रन्थकारो के नाम लिखते हैं—न्यायकिरणावली, कणादसूत्र, प्रशस्तकरभाष्य, भविष्योत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, शिवरहस्य, बौधायन, गृहस्थधर्म-समुच्चय, स्मृतिमञ्जरी, सौरधर्मोत्तर, स्कन्दपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, पुराणसमुच्चय, वाग्भट, याज्ञवल्क्यस्मृति, दुर्गसिंह, गरुड़ पुराण, विश्वादर्शभाष्य, वैद्य निघण्टु, सुश्रुतचिकित्सित।

[2] शिवाजी के भाई वेंकोजी (एकोजी) और उनके वंशजों ने तञ्जौर प्रान्त में राज्य किया था। तञ्जौर के राजाओ के बाड़े में पुस्तक संग्रह बड़ा अच्छा है। मद्रास सरकार की आज्ञानुसार ए० सी० बर्नेल की बनाई हुई उसकी सूची सन् १८७९ में छपी है। इस वश के तुलाजी नामक राजा सन् १७६५ से १७८८ तक गद्दी पर थे। उनके बनाये (या बनवाये) हुए ग्रन्थ उस पुस्तकालय में हैं। यह सग्रह प्राय. उन्हीं के समय हुआ होगा।

है कि यह शक ११८५ के पहिले का है क्योकि माधवकृत रत्नमाला की टीका में इसका नाम है।

अद्‌भुतसागर—मिथिला के राजा लक्ष्मणसेन के पुत्र महाराजाधिराज बल्लाल सेन ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसमे लिखा है कि बल्लालसेन शक १०८२ मे गद्दी पर बैठे और उन्होंने शक १०९० मे यह ग्रन्थ बनाया। इसमे वाराहीसहिता सदृश विषय है। उसकी अपेक्षा कुछ नवीन भी है या नही— यह मैंनेनही देखा है तथापि सुधाकर ने लिखा है कि ग्रन्थ देखने योग्य है। इसमे अध्यायो को आवर्त कहा है। ग्रहणविपयक आवर्त मे लिखा है कि बुधभार्गवाच्छादन के बिना यदि सूर्य मे छिद्र दिखाई दे तो परचक्र आता है। इससे सिद्ध होता है कि उन्हे बुधशुक्रकृत सूर्यबिम्बभेद और सूर्य के धव्वो का ज्ञान था क्योकि बिम्बभेद के बिना दिखाई देने वाले छिद्र सूर्य के धव्बे ही है। इन्होने लिखा है कि दोनो अयन कब होते है, इसे मैंने ठीक देखा है (और उसके द्वारा अयनाश निश्चित किया है)। इससे इनकी अन्वेषकता व्यक्त होती है। इस ग्रन्थ में अनेक ग्रन्थकारादिको के नाम आये है। उनमे वसन्तराज और प्रभाकर तथा वटकणिका, विष्णुधर्मोत्तर और भागवत ग्रन्थ है।

व्यवहारप्रदीप—इस नाम का सहितामुहूर्त स्कन्ध का एक उत्तम ग्रन्थ पद्मनाभकृत है। यमुनापुर नगर के निवासी शिवदास नामक ब्राह्मण के पुत्र गगादास थे। उनके पुत्र कृष्णदास पद्मनाभ के पिता थे। इनके ग्रन्थ मे भीमपराक्रम, श्रीपतिकृत रत्नमाला, दीपिका रूपनारायण, राजमार्तण्ड, सारसागर, रत्नावली, ज्योतिस्तन्त्र (गणितग्रन्थ), व्यवहारचण्डेश्वर और मुक्तावली के वचन आये है। सुधाकर ने लिखा है कि भास्करकथित वीजगणितग्रन्थकार पद्‌मनाभ ये ही है परन्तु बात ऐसी नही है। वीजगणितग्रन्थकार पद्‌मनाभ शक ७०० के पहिले के है और व्यवहारप्रदीप शक ९६४ के बाद का है क्योकि इसमे रत्नमाला और राजमार्तण्ड का उल्लेख है। पद्‌मनाभ के ग्रन्थ में लिखे हुए सूर्यसिद्धान्त और वाराहीसहिता इत्यादिको के वचन उन ग्रन्थो मे मिलते है परन्तु उसका एक श्लोक और उसमे शौनकसहिता, वसिष्ठसहिता और ज्योतिस्तन्त्र के नाम पर उद्धृत किये हुए एक-एक श्लोक अर्थात् सब चार श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि मे है[1]। सुधाकर ने लिखा है कि भास्कराचार्य ने ये श्लोक उन ग्रन्थो से लिये है परन्तु उन श्लोको के स्वरूप से मुझे पद्मनाभ का ही लेख अविश्वसनीय प्रतीत होता है और यह ग्रन्थ शक १०७२ के बाद का ज्ञात होता है।

[1] 'तुष्यन्तु' गणिताध्याय मध्यमाधिकार श्लोक ५। 'दिव्यं ज्ञानं' गोलाध्याय छेद्यक श्लोक ९। 'यो वेद' गो० श्लोक ८। 'असंक्रान्ति' मध्यमाधि० श्लोक ६।

ज्योतिर्विदाभरण—यह मुहूर्तग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि इसे रघुवंशादि काव्यो के रचयिता कालिदास ने गतकलि ३०६८ मे बनाया है पर यह कथन मिथ्या है। इसमें ऐन्द्रयोग का तृतीय अ्श व्यतीत होने पर सूर्यचन्द्रमा का क्रान्तिसाम्य बताया है, इससे इसका रचनाकाल लगभग शक ११६४ निश्चित होता है। यदि इसके रचयिता कालिदास ही है तो निश्चित है कि वे रघुवशकार कालिदास से भिन्न है।

विवाहवृन्दावन (लगभग शक ११६५)—मुहूर्तग्रन्थो के एक प्रकरण विवाह के विषय में केशव नामक ज्योतिषी ने यह ग्रन्थ बनाया है। इसका वर्णन ऊपर कर चुके है। रत्नमालाटीकाकार माधव की शक ११८५ की टीका में केशव का नाम आया है, वे केशव अनुमानत विवाहवृन्दावनकार ही होगे अत इस ग्रन्थ का काल लगभग शक ११६५ अधिक सयुक्तिक ज्ञात होता है। माधव की टीका में केशव-व्यवहार नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख है। वह भी इन्ही का होगा।

विवाहपटल (शार्ङ्गधरकृत)—यह विवाहविषयक मुहूर्तग्रन्थ है। इसमे हेमाद्रि और माधव के नाम आये है और पीताम्बरकृत विवाहपटल को शक १४४६ की टीका में इसका उल्लेख है अत इसका रचनाकाल शक १४०० के आसपास होगा। मालूम होता है, इसका एक नाम सारसमुच्चय भी है। गणेशकृत मुहूर्ततत्त्व की टीका (लगभग शक १४५०) में शार्ङ्गधर और सारसमुच्चय के नाम आये है। इससे भी सिद्ध होता है कि शार्ङ्गधर का काल शक १४०० से अर्वाचीन नही है। अब यहा इसमें आये हुए उन ग्रन्थकारादिको के नाम लिखते है जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ भी नही लिखा गया है। ग्रन्थकार—हरि, गदाधर, मुकुन्द, भार्गव, पवनेश्वर, लक्ष्मीधरभट्ट। ग्रन्थ—मुक्तावली, लक्ष्मीधरपटल, गदाधरपटल, रत्नोज्ज्वलसहिता। ये सब ग्रन्थ और ग्रन्थकार प्राय मुहूर्तस्कन्ध के है।

मुहूर्ततत्त्व—यह ग्रन्थ नन्दिग्रामस्थ केशव का है अत इसका काल लगभग शक १४२० होगा। इसमे आरम्भ में मुहूर्तग्रन्थो के उपर्युक्त विषय तो है ही पर उसके आगे "मुहूर्तखण्ड समाप्त अथ सहिताखण्ड" लिख कर ग्रहचार, ग्रहयुद्ध इत्यादि वराहसहिता के बहुत से विषयो का सक्षिप्त वर्णन किया है तथापि उस समय इन विषयो का प्रत्यक्ष उपयोग होता रहा होगा—यह शङ्कास्पद है। इस ग्रन्थ में नौकाविषयक एक विशिष्ट प्रकरण है। वह यात्रा के बाद है। उसमें नौका बनाने, उसे पानी में छोडने, उसमे यात्रा करने इत्यादि के मुहूर्त लिखे है। अन्य किसी भी मुहूर्तग्रन्थ में यह प्रकरण नही है। इसकी टीका में पूर्वाचार्यो के आधारभूत वचन बिलकुल नही दिये है। श्लोको में नाल और सुकाण शब्दो का प्रयोग किया गया है। इनके विषय में टीकाकार गणेशदैवज्ञ ने लिखा है—लौकिकाविमौ प्रयोगौ गृहीतौ अभिधानादिष्व-

दृष्टत्वात। समुद्रतटवासी होने के कारण मल्लाह इनसे नौकासम्बन्धी मुहूर्त पूछते रहे होगे अत. यह नवीन प्रकरण इन्होने स्वय बनाया होगा। नावप्रदीप नामक इनका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ (डे० का० स० न० ३३२ सन् १८८२-८३) भी है। मुहूर्ततत्त्व सम्प्रति प्रचलित है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गणेशदैवज्ञ की टीका है। वह लगभग शक १४५० की होगी। वह छप चुकी है। उसमे आये हुए मुहूर्तग्रन्थकारो और ग्रन्थो के वे नाम यहा लिखते है जिनके विषय मे अब तक कुछ नही लिखा गया है। ग्रन्थकार—वसन्तराव, भूपाल, नृसिंह। ग्रन्थ—विवाहपटल, ज्योतिषसार, शान्तिपटल, सहितादीपक सग्रह मुहूर्तसग्रह, अर्णव, विधिरत्न, श्रीधरीय, ज्योतिषार्क, भूपाल वल्लभ, ज्योतिपप्रकाश[1]।

विवाहपटल (पीताम्बरकृत)—यह ग्रन्थ शक १४४४ का है। इसमे ५२ श्लोक है। इस पर ग्रन्थकार की ही शक १४४६ की निर्णयामृत नाम की विस्तृत टीका है। पीताम्बर के पिता का नाम राम और पितामह का नाम जगन्नाथ था। वे महानदी-मुखस्थ स्तम्भतीर्थ (खभात) के निवासी गौड ब्राह्मण थे। अब यहा इस ग्रन्थ की टीका मे आये हुए ज्योतिष ग्रन्थादिको के वे नाम लिखते है जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ नही लिखा है[2]। ग्रन्थकार—प्रभाकर, वैद्यनाथ, मधुसूदन, वसन्तराज, सुरेश्वर, वामन, भागुरि, आशाधर, अनन्तभट्ट, मदन, भूपालवल्लभ। ग्रन्थ—चिन्तामणि, विवाहकौमुदी, वैद्यनाथकृत विवाहपटल, व्यवहारतत्त्वशत, रूपनारायणग्रन्थ, ज्योतिषप्रकाश, सहिताप्रदीप, चूडारत्न, सहितासार, मौंजीपटल, धर्मतत्त्वकलानिधि सग्रह, त्रिविक्रमभाष्य, ज्योतिषसार, ज्योतिर्निवन्ध, सन्देहदोषौषध, सज्जनवल्लभ, ज्योतिश्चिन्तामणि, ज्योतिर्विवरण, ज्योतिर्विवेक, फलप्रदीप, गोरजपटल, कालविवेक। ये सब ग्रन्थकार और ग्रन्थ प्राय. मुहूर्तस्कन्ध के है। इनके अतिरिक्त ताजिकतिलक और सामुद्रतिलक के नाम आये है।

ज्योतिर्निवन्ध—यह शिवदासविरचित धर्मशास्त्र पर मुहूर्तग्रन्थ है। पीताम्बरकृत विवाहपटल की टीका मे इसका उल्लेख है अत. यह शक १४४६ के पहिले का है।

ज्योतिषदर्पण—यह ग्रन्थ गद्यपद्यात्मक है। इसे कन्वपल्लु नामक ज्योतिषी

[1] अन्य विषयो के ग्रन्थो के नाम—भागवत, आश्वलायनगृह्यकारिका, पद्मपुराण, स्मृत्यर्थसार, स्मृतिरत्नावली, नैषधकाव्य, नृसिंहप्रबन्ध।

[2] मुहूर्ततत्त्व की टीका लगभग इस टीका के समय की ही है पर उसका निश्चित शक ज्ञात नहीं है और इसका ज्ञात है इसलिए उसमें आये हुए ग्रन्थादिकों के नाम यहाँ पुनः लिखे हैं।

ने शक १४७९ में बनाया है। मैंने इनकी अपूर्ण प्रति देखी है। ग्रन्थकार की शाखा कण्व, गोत्र वत्स और निवास ग्राम कोडपल्ली था। उन्होंने वहा की विपुवच्छाया ३।३६ और देशान्तरयोजन ४० पूर्व लिखा है। उनका कथन है कि मेरा पञ्चाङ्ग काञ्ची पर्यन्त चलता है। नरगिरि के नृसिंह उनके कुल देवता थे। उन्होंने पैलुभटीय नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

मुहूर्तमार्तण्ड (शक १४९३)—इस ग्रन्थ का सम्प्रति बडा प्रचार है। इसके कर्ता नारायण का वृत्त ऊपर लिख चुके है। मालूम होता है उन्होंने अपने पिता से ही अध्ययन किया था। उन्होंने स्वय इस ग्रन्थ की टीका की है। इसमें भिन्न-भिन्न छन्दो के १६० श्लोक है। बहुत से लोग काव्यग्रन्थ की भाति इसका अध्ययन करते है। इसमे ऊपर बताये हुए मुहूर्तग्रन्थो के ही विषय है पर ग्रन्थकार ने टीका के आरम्भ में लिखा है—सहितास्कन्ध चिकीर्पुराह। टीका में अनेक ग्रन्थकारो के वचन दिये है। उनमें से उन मुहूर्तग्रन्थकारो और ग्रन्थो के नाम यहा लिखते है जिनके विषय में इसके पूर्व कुछ नही लिखा है। ग्रन्थकार–गोपिराज, मेगनाथ, म्हालुगी (ये नाम वास्तुप्रकरण मे है)। ग्रन्थ—उद्वाहतत्व, मुहूर्तदर्पण, कश्यपपटल, सहितासारावली, व्यवहारसार, शिल्पशास्त्र, वृहद्वास्तुपद्धति, समरागण, व्यवहारसारस्वत (इसमे के अन्तिम ६ नाम वास्तुप्रकरण में है), रत्नावली। इनके अतिरिक्त गणितग्रन्थ स्फुटकरण और जातकग्रन्थ जातकोत्तम के भी नाम आये है।[1] यह ग्रन्थ टीकासहित छपा है।

तोडरानन्द—यह बडा विस्तृत ग्रन्थ है। इसे नीलकण्ठ ने शक १५०९ के लगभग बनाया है। मैंने इसका कुछ भाग देखा है। उसमें चण्डेश्वर, यवनेश्वर, दुर्गादित्य ग्रन्थकार और दैवज्ञमनोहर, व्यवहारोच्चय, कल्पलता इत्यादि ग्रन्थो के अनेको वचन दिये है।

मुहूर्तचिन्तामणि—यह बडा प्रचलित ग्रन्थ है। रामभट नामक ज्योतिषी ने इसे शक १५२२ मे बनाया है। रामभट का वृत्तान्त ऊपर लिख चुके है। इसमें मुहूर्तग्रन्थो के उपर्युक्त ही विषय है। इस पर ग्रन्थकार की प्रमिताक्षरा और उनके भतीजे गोविन्द की पीयूपधारा नाम्नी प्रसिद्ध टीका है। ये दोनो टीकाएँ छप चुकी

[1] अन्य विषयो के ग्रन्थो और ग्रन्थकारो के नाम—ब्रह्मपुराण, कात्यायनगृह्य-कारिका, कात्यायनगृह्ये हरिहरमिश्रव्याख्या, कालनिर्णयदीपिका विवरणसहिता, मार्कण्डेयपुराण, धनञ्जय (कोष), अनेकार्थध्वनिमञ्जरी (कोष), स्मृतिसारावली, शुल्वसूत्र, हलायुधकोष, धर्मप्रदीप, तीर्थखण्ड, पितृखण्ड, प्रेतमञ्जरी, आदियपुराण।

है। पीयूषधारा टीका (शक १५२५) मे आये हुए ज्योतिषग्रन्थो के वे नाम जिनके विषय में अब तक कुछ नही लिखा गया है ये हैं—जगन्मोहन और ज्योतिषरत्नसग्रह।

मुहूर्तचूडामणि—इसे शिव नामक ज्योतिषी ने बनाया है। शिव का कुलवृत्तान्त ऊपर लिख चुके हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग शक १५४० होगा।

मुहूर्तकल्पद्रुम—कृष्णात्रिगोत्रीय विट्ठलदीक्षित ने यह ग्रन्थ बनाया है। इस पर उन्ही की शक १५४९ की मुहूर्त कल्पद्रुममञ्जरी नाम की टीका है।

मुहूर्तमाला—इसे विक्रमसवत् १७१७ (शक १५८२, सन् १६६०) में रघुनाथ नामक ज्योतिषी ने काशी मे बनाया है। रघुनाथ शाण्डिल्य गोत्रीय महाराष्ट्र चित्पावन ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिण कोकण मे दाभोल के दक्षिण पालशेत में रहते थे। इनके पिता का नाम केशव था। इनके पिता नृसिंह काशी मे आकर रहने लगे थे। वे अकबर बादशाह के मान्य थे। अकबर ने जब आसेरी का किला जीता उस समय नृसिंह को ज्योतिर्वित्सरस पदवी मिली। यह ग्रन्थ छप चुका है। ग्रन्थकार ने लिखा है—

जित्वा दाराशाह सूजाशाह मुरादशाहञ्च।
औरगजेबशाहे शासत्यवनी ममायमुद्योग.॥

मुहूर्तदीपक—इसे भुज (कच्छ) निवासी महादेव नामक ज्योतिषी ने शक १५८३ में बनाया है। उनके पिता का नाम कान्हजी था। उन्होने अपने पिता को रैवतकराजपूजितपद कहा है। ग्रन्थकार ने स्वय इसकी टीका की है। आफ्रेच के कथनानुसार उसमें अमृतकुंभ, लक्षणसमुच्चय और सारसग्रह ग्रन्थो के भी नाम आये हैं। ग्रन्थकार ने लिखा है कि मैं अमुकामुक ग्रन्थ बना रहा हू। उनमें इसके पहिले न आये हुए नाम व्यवहारप्रकाश और राजवल्लभ हैं। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तगणपति—विक्रमसवत् १७४२ (शक १६०७) मे गणपति नामक ज्योतिषी ने इसे बनाया है। इन्होने अपने वृत्तान्त में लिखा है—

गौडोर्वीशशिरोविभूषणमणिर्गोपालदासोऽभवन्मान्धातेत्यभिरक्षिताद्व्यलभतेख्याति स दिल्लीश्वरात् (यह औरगजेब होगा)। तत्पुत्रो विजयी मनोहरनृपो विद्योतते सर्वदा॥

इस मनोहर राजा को ग्रन्थकार ने 'गौडान्वयकुमुदगणानन्दिचद्र' भी कहा है। मनोहर के पुत्र युवराज राम की इच्छानुसार इन्होने यह ग्रन्थ बनाया है। ये भारद्वाज गोत्रीय औदीच्य गुर्जर ब्राह्मण थे। इनका उपनाम रावल मालूम होता है। इनके

पिता इत्यादिको के नाम क्रमश. हरिशंकर, रामदास, यशोधर और ब्रह्मर्षि थे। यह ग्रन्थ छप चुका है।

मुहूर्तसिन्धु—पूनानिवासी वेदशास्त्रसम्पन्न गगाधरशास्त्री दातार (जन्मशक १७४४, समाधिशक १८१०) ने मुहूर्तसिन्धु नामक सस्कृतमराठी ग्रन्थ शक १८०५ में बनाया है। इसमें भिन्न भिन्न लगभग ३८ ग्रन्थो के आधार पर मुहूर्तादिक और उनके अपवाद-प्रत्यपवादो का विस्तृत विवेचन किया है। यह ग्रन्थ छप चुका है।

जिनके काल के विषय में कुछ बातें ज्ञात थी उन ग्रन्थो का वर्णन यहा तक किया गया। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से मुहूर्तग्रन्थ है।

सम्प्रति इस (महाराष्ट्र) प्रान्त के पञ्चाङ्गो में संवत्सरफल प्राय कल्पलता नामक ग्रन्थ द्वारा लिखा जाता है। इसे जलदग्रामवासी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने शक १५६४ में बनाया है। कोई कोई राजावलि ग्रन्थ से भी फल लिखते है। कुछ अन्य प्रान्तो में जगन्मोहन नरेन्द्रवल्ली और समयसिद्धान्ताजन इत्यादिको द्वारा लिखते हैं।

शकुन

सहितास्कध का ही एक अङ्ग शकुन है। इस पर नरपतिकृत नरपतिजयचर्या नामक एक बडा प्राचीन अर्थात् विक्रम सवत् १२३२ (शक १०९७) का ग्रन्थ है। नरपति जैन मालूम होते है। इसे उन्होने अन्हिलपट्टण में बनाया था। इनके पिता आम्र-देव धारा नगरी में रहते थे। वे बहुत बडे विद्वान् थे। इस ग्रन्थ में स्वर द्वारा मुख्यत. राजाओ के लिए शुभाशुभफल बताये है। ग्रन्थकार ने इसकी ग्रन्थसख्या ४५०० लिखी है। मालूम होता है, इसे स्वरोदय और सारोद्धार भी कहते है। जिन ग्रन्थो के आधार पर यह बना है उनके नाम ग्रन्थकार ने आरम्भ में इस प्रकार लिखे है—

> श्रुत्वादौ यामलान् सप्त तथा युद्धजयार्णवम्। कौमारीकौशलञ्चैव योगिना योगसम्भवम् ॥४॥ रक्तत्रिमूर्तिक (रक्ताक्ष तन्त्रमुख्य) च स्वरसिंह स्वरार्णवम्। भूवल गारुड नाम लम्पट स्वरभैरवम् ॥५॥ तन्त्रवलञ्च तारव्य (तन्त्र रुणाग दाक्ष) च सिद्धान्त जयपद्धतिम्। पुस्त-केन्द्र पटोकश्रीदर्पणं ज्योतिषार्णवम् ॥६॥ सारोद्धारं प्रवक्ष्यामि .

इनके अतिरिक्त इसमें वसन्तराज ग्रन्थकार तथा चूडामणि[1] और गणितसार ग्रन्थो के नाम भी आये है अत ये सब शक १०९७ के पहिले के है। इस पर हरिवशकृत

[1] राजमार्तण्ड में चूडामणि का उल्लेख है अतः यह ग्रन्थ शक ९६४ के पहले का है।

जयलक्ष्मी नाम्नी तथा नरहरि, भूधर और रामनाथ की टीकाएं हैं।[1] नैमिषक्षेत्रवासी सूर्यदास के पुत्र राम वाजपेयी[2] का स्वरशास्त्र पर समरसार नामक ग्रन्थ है। उस पर उनके भाई भरत की टीका है। यह स्वरशास्त्र मुख्यत. नासिका से निकले हुए वायु के आधार पर बनाया गया है। इसके अन्य भी बहुत से ग्रन्थ हैं।

[1] नरपतिजयचर्या के विषय में यहाँ लिखी हुई बातें भिन्न-भिन्न ५ ग्रन्थो से ली गई हैं। नरपति ने लिखा है कि मैंने ज्योतिषकल्पवृक्ष नामक ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्योतिषगणित लिखा है।

[2] राम के लेख से ज्ञात होता है कि उनका करणचिन्तामणि नामक एक करण ग्रन्थ है। उनका एक और ग्रन्थ कुण्डविषयक है। वह शक १३७१ का है।

३. जातकस्कन्ध

मनुष्य की जन्मकालीन ग्रहस्थिति या तिथि नक्षत्रादिकों द्वारा उसके जीवन के सुख दु:खादिकों का निर्णय जिस शास्त्र द्वारा किया जाता है उसे होराशास्त्र या जातक कहते हैं। ज्योतिषशास्त्र के इसी स्कन्ध में से ताजिक नाम की एक शाखा बाद में निकली। उसका विवेचन आगे करेंगे। यहां पहिले जातक का संक्षिप्त स्वरूप दिखाते हैं।
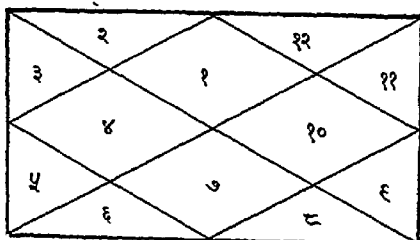
इस क्षेत्र को कुण्डली कहते हैं। इसमें जहां १ लिखा है उस घर में जन्मकालीन लग्न की राशि का अङ्क लिखते हैं। जैसे यदि सिंह लग्न में जन्म हुआ है तो यहां ५ लिखेंगे। इसे प्रथम स्थान कहते हैं। इसके बाद के घरों में क्रमश: आगे की राशियां लिखी जाती हैं। जन्म के समय ग्रह जिन राशियों में रहते हैं वे राशियां कुण्डली के जिन घरों में रहती हैं उन्हीं में वे ग्रह भी लिखे जाते हैं। जन्मलग्न उस राशि को कहते हैं जो जन्म के समय क्षितिज के पूर्व भाग में लगी रहती है। लग्नकुण्डली को भूमि पर क्रान्तिवृत्त के धरातल में इस प्रकार खड़ी करिये जिसमें लग्न पूर्व की ओर और सप्तम स्थान पश्चिम ओर पड़े। बस, यही जन्मकालीन आकाशस्थिति है। इसमें कुण्डली के ऊपर वाले आधे भाग को क्षितिज के ऊपर का आकाशार्ध, नीचे वाले आधे को क्षिति-जाधःस्थित आकाशार्ध, दशम स्थान को खमध्य और चतुर्थ को बिलकुल नीचे वाला पातालस्थान समझिए। कुण्डली के जिन घरों में २, ३ इत्यादि अङ्क लिखे हैं उन्हें

द्वितीयस्थान, तृतीयस्थान इत्यादि कहते है, उनमे राशि चाहे जो हो। इन १२ स्थानो के क्रमश तनु, धन, सहज, सुहृत, सुत, रिपु, जाया, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय ये १२ नाम है। इन नामो से सम्बोधित होने वाले तथा तत्सम्बन्धी अन्य सभी पदार्थों का विचार उन स्थानो मे स्थित ग्रहो द्वारा तथा अन्य स्थानो मे स्थित ग्रहो के दृष्टचादि सम्बन्ध द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ—पत्नी सम्बन्धी सब फलो का विचार सप्तम स्थान से किया जाता है। इन १२ स्थानो के अन्य भी बहुत से नाम हैं। मनुष्यो के सुख दु ख का सम्बन्ध इन १२ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वातो से रहता है पर ये सामान्य नाम है। विचारणीय सभी विपयो का समावेश इनमे से किसी न किसी में कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—राजा से सम्बन्ध रखने वाली अधिकाश बातो का विचार दशम स्थान से किया जाता है। फलादेश अधिकतर इस लग्नकुण्डली द्वारा और कभी कभी राशिकुण्डली द्वारा किया जाता है। राशिकुण्डली उसे कहते हैं जिसमे प्रथम घर में जन्मराशि लिखी रहती है और शेष बातें जन्मकुण्डली के समान ही रहती है। कुछ अन्य प्रकार की कुण्डलिया भी कल्पित की गई है। इस पद्धति में स्वगृह और उच्च की भी एक कल्पना की गई है। कर्क और सिंह राशिया क्रमश चन्द्रमा और सूर्य के गृह और इनके दोनो ओर की मिथुन और कन्या बुध-गृह मानी गई है। इसी प्रकार वृप और तुला शुक्र के, मेप वृश्चिक मगल के, मीन और धनु गुरु के, कुभ और मकर शनि के गृह माने गये है। उच्चो में यह क्रम नही है। जातक के उच्च गणित के उच्चों से भिन्न है। गणित सम्बन्धी सूर्य का उच्च सम्प्रति निरयण मिथुन और सायन कर्क में है पर जातक मे सूर्य का उच्च मेष है। पता नही चलता, इन उच्चो की कल्पना किस आधार पर की गयी है। सायन उच्चो की गति है। कुछ लोगो का कथन है कि जातक में उच्चो की कल्पना उस समय की गई जब कि कक्षान्त-र्गत उच्चो के सायन मान जातकोक्त उच्चो के तुल्य थे। निरयणमतवादियो को तो यह बात मान्य नही होगी पर समय का विचार करने से मुझे भी ऐसा होना असम्भव मालूम होता है क्योकि सूर्य का उच्च सायन मेष में शकपूर्व लगभग ४१०० से २३०० तक था। मगल का जातकोक्त उच्च मकर है। उसकी कक्षा का उच्च सायन मकर में शक पूर्व ११५०० से ९७०० तक था। इसके बाद कभी भी नही था, इसमे कोई सन्देह नही है। इतने प्राचीन काल मे जातकशास्त्र का होना ही सन्देहग्रस्त है तो फिर उपर्युक्त कल्पना का क्या ठिकाना! ऐसा कहने वाले भी कुछ लोग है कि उस समय मेषादि संज्ञाएँ थी, ग्रहो का ज्ञान था, इतना ही नही ज्योतिषगणित और जातक का उत्तम ज्ञान था पर मुझे यह सब असम्भव मालूम होता है। जातक में ग्रहो का परस्पर मित्रत्व, शत्रुत्व इत्यादि माना गया है। ग्रह अपने गृह या उच्च मे रहने पर अच्छा फल

देते है, शत्रुगृह या नीच में रहने पर अथवा वक्री होने पर उनके फल भिन्न प्रकार के होते है, ग्रहो की दृष्टि के अनुसार फलो का न्यूनत्व, अधिकत्व और शुभाशुभत्व होता है— इस प्रकार की वहुत सी कल्पनाएँ की गयी है। उनमें से कुछ तो व्यवहार के अनुसार है पर कुछ ऐसी है जिनके आधार का पता नही लगता। फलादिको के विषय मे सब ग्रन्थो का मतैक्य नही है। उनमे वहुत से भेद है। यूरोप में आजकल सायन राशियों द्वारा फलादेश किया जाता है। माघवराव ब्रह्माजी और जीवनराव त्र्यम्बकराव चिटणीस[1] इत्यादिको का कथन है कि हमारे ग्रन्थो के फल निरयण की अपेक्षा सायन मान से अधिक घटते है।

ग्रहो से मनुष्यों का सम्बन्ध

मनुष्य के जीवन से आकाशस्थ ग्रहो का सम्बन्ध होने में वहुतो को सन्देह होता है और ऐसा होना स्वाभाविक है परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि वह सम्बन्ध है। यद्यपि इस समय इसके सूक्ष्म हेतु नही वतलाये जा सकते पर सम्बन्ध होने में सन्देह नही है। मनुष्यो के शरीरलक्षणो द्वारा जन्मलग्न वताने वाले ज्योतिषी पटवर्धन के निम्नलिखित जीवनचरित्र से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा।

वावाजी काशीनाथ पटवर्धन

इनकी महाडकर नाम से विशेष प्रसिद्धि है। इनका जन्म शक १७८७ वैशाख कृष्ण १४ को धनु लग्न में चिपलूण के पास पाचेरी सडा उर्फ मोभार नामक स्थान में हुआ। इन्होने जातकशास्त्र का यह अश्रुतपूर्व ज्ञान प्राय स्वय सम्पादित किया है। जव ये १३ वर्ष के थे, इनके पिता का देहावसान हो गया। इनका मराठी-शिक्षण प्रथम सन् १८७७ में गणपति पुले मे, सन् १८७८ से १८८० तक मालगुण्ड में और इसके वाद १८८२ तक थाना में हुआ। सन् १८८३ में इन्हें अलीवाग जिले मे कोर्ट में नौकरी मिली। वहा १८८६ तक रहे। इसके वाद कुछ दिनो तक महाड के कोर्ट में थे इसीलिए उन्हें महाडकर कहते है। सन् १८९३ से ये नौकरी छोड कर इचलकरजी और मुख्यत. कोल्हापुर मे वकालत करते है। इनका अधिक समय अन्य व्यवसायो मे व्यतीत होता है।

सन् १८८२ मे इन्हें एक द्रविड ब्राह्मण ज्योतिषी ने, जो कि विक्षिप्त था— मनुष्य के शरीर लक्षणो द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ मूलतत्त्व वताये। उसके वाद उन्होंने अनेक ग्रन्थ देखकर, जहा तक हो सका उनमे वतलाये हुए लक्षणो की एकवाक्यता

[1] सम्प्रति ये दोनों वम्बई में रहते है।

तथा स्वय सैकडो मनुष्यो की आकृतियो का निरीक्षण करते हुए अपना ज्ञान बढाया। सन् १८९१ से इनके इस ज्ञान की प्रसिद्धि हुई। मुखचर्या देख कर कुण्डली बनाने मे इनकी बुद्धि बडी तीव्र है। मनुष्य पर दृष्टि पडते ही थोडे से समय में ये उसकी कुण्डली बना लेते है। यह कार्य ये मुख्यत मुखचर्या के आधार पर करते है और कभी कभी जीभ तथा हस्ततल भी देखते हैं। ये शरीरलक्षणो द्वारा जन्मकालीन लग्न और ग्रहो की राशिया ही नही, ग्रहो के अश तक बताते है। अशो मे औसत एक या दो से अधिक अन्तर नही पडता, इसका मैंने स्वय प्रत्यक्ष अनुभव किया है। सर्वदा अश नही बताते, अधिकतर केवल राशिया ही बताते हैं।

गुरु किसी राशि मे चलकर १२वर्षो मे पुन उसी राशि मे आ जाता है। शनि ३० वर्षो मे आता है। सूर्य चैत्रादि मासो मे मेषादि राशियो में रहता है। सूर्य और चन्द्रमा के अन्तर द्वारा तिथि लायी जाती है। इन नियमो द्वारा ज्योतिषगणित जानने वाला कोई भी मनुष्य लग्नकुण्डली देखकर यदि मनुष्य सामने हो तो उसका जन्मकाल बता सकता है। जन्मकाल ज्ञात होने पर तो ज्योतिषगणित द्वारा तत्कालीन लग्न और ग्रहो का ज्ञान हो ही जाता है पर पटवर्धन ये बाते शरीरलक्षणो द्वारा बताते है अर्थात् शरीर-लक्षणो से वे यह जान लेते है कि जन्म के समय अमुक राशि का उदय हो रहा था और अमुक ग्रह आकाश में अमुक स्थान मे था। कुण्डली मे उनकी स्थापना करने पर उपर्युक्त रीति से जन्मकाल बताया जा सकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जन्मकालीन आकाशस्थ ग्रहस्थिति और लग्न के अनुसार मनुष्यो के शरीर मे कुछ लक्षण उत्पन्न होते है अर्थात् ग्रहो का मनुष्यो से सम्बन्ध है। इस विषय मे अनेक शङ्काएँ हो सकती है पर यहा उन सबो का समाधान करने की आवश्यकता नही है। पटवर्धन की विद्या जाने बिना इस विषय का पूर्ण विवेचन नही किया जा सकता। फिर भी सम्भवनीय शङ्काओ का यथाशक्ति विचार कर लेने के बाद ही मैंने अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। पटवर्धन प्रत्येक शङ्का का उत्तर देने के लिए तैयार है और इस काम की फीस वे कुछ भी नही लेते—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पटवर्धन केवल जन्मकाल और थोडा सा फल बताते है। बहुत से लोग उनकी जन्मकाल बताने की प्रक्रिया न जानने के कारण उनकी विद्या का महत्त्व नही समझ पाते। कुछ लोग तो ऐसा भी समझते है कि वे ये बाते मन्त्रसिद्धि के बल पर बताते है परन्तु यह उनका भ्रम है। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मलग्न इत्यादि बताने वाली विद्या को सामुद्रिक कह सकते है पर पटवर्धन के सामुद्रिक का ज्योतिष से निकट सम्बन्ध है। वे मनुष्यो का थोडा सा भूत-भविष्य भी बताते है। मैंने देखा है, उनमे से बहुत

सी बाते ठीक होती है पर उनकी इस शाखा ने अभी पूर्णत्व नही प्राप्त किया है। सैकड़ो अनुभवो द्वारा इसके नये नये नियम बनाने होगे। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मकालीन ग्रहस्थिति बतलाना पटवर्धन का मुख्य विषय है। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते है जिनमें जन्मलग्न सशयित रह जाता है पर उनकी सख्या बहुत थोडी है। यद्यपि गुरु एक राशि मे वर्ष भर रहता है पर उसकी राशि सदा वर्षारम्भ में नही बदलती। वर्ष के मध्य मे राशि बदलने से उसकी एक ही राशि का सम्बन्ध दो वर्षो से हो जाता है, जैसे कि शक १८१८ और १८१९ दोनो में वह कुछ दिनो तक सिहस्थ था। इसी प्रकार सूर्य की प्रत्येक राशि का सम्बन्ध प्राय दो मासो से रहता है अर्थात् यदि जन्मकालीन सूर्य मेष का है तो केवल राशि द्वारा निश्चित रूप से यह नही बताया जा सकता कि जन्म के समय चैत्र था या वैशाख। इसी प्रकार चन्द्रमा एक राशि मे सवा दो दिन तक रहता है। इस कारण केवल राशि द्वारा जन्मकाल बताने में कभी-कभी एक वर्ष, एक मास या एक दिन का अन्तर पड जाता है पर पटवर्धन राशियो के अश भी जान लेते है इसलिए यदि वे सन्दिग्ध वर्ष का पञ्चाङ्ग देख कर बतावेंगे तो अशुद्धि कभी न होगी। मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि यदि वे पञ्चाङ्ग देख कर ध्यानपूर्वक बतावेगे तो दस में से कम से कम आठ कुण्डलिया बिलकुल ठीक ठीक मिलेगी।

मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध

पिता के शरीरलक्षणो द्वारा पुत्र की जन्मकुण्डली बनाते हुए भी मैंने पटवर्धन को कई बार देखा है। एक बार रा० ब० नारायण भाई दाडेकर की मुखाकृति देख कर उन्होंने १५-२० मिनट मे उनके गणेश नामक पुत्र की प्राय सभी ग्रहो से युक्त जन्म-कुण्डली मेरे सामने बनायी। यह विधि किसी भी ग्रन्थ में नही लिखी है। पटवर्धन ने इसका अभ्यास स्वय किया है। जातकशास्त्र द्वारा क्या क्या विलक्षण बातें निष्पन्न हो सकती हैं, यह बतलाना कठिन है। अनुभव द्वारा इस शास्त्र को बढाना चाहिए। मै समझता हू, ऐसा करने से आधुनिक अन्य शास्त्रो की भाति जातक भी अनुभवालम्बी एक उत्कृष्ट शास्त्र बन जायगा।

जातकशास्त्र

कुभकोण में गोविन्द चैट्टी नाम का एक शूद्र है। उसकी विद्या पटवर्धन से भी विचित्र है। वह केवल जन्मकाल ही नही, मनुष्य के मन का किसी भी भाषा का प्रश्न और उसका उत्तर बतलाता है—ऐसा लोग कहते है। वह ये बातें ज्योतिषशास्त्र की सहायता से बताता है या किसी अन्य विद्या द्वारा, इसका पता नही लगा है। अभी तक उसका इस विषय का कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। पटवर्धन ने भी अभी तक कोई

ग्रन्थ नही लिखा है। यदि लिखेगे तो ससार को कुछ स्थायी लाभ होगा अन्यथा जैसा कि बहुत से ज्योतिषियो के विषय मे लोग कहा करते हैं कि वे बडे अच्छे थे, उनका भविष्य ठीक मिलता था और कुछ दिनो बाद उनका नाम तक लुप्त हो जाता है, वही स्थिति इनकी भी होगी। शरीरलक्षणो द्वारा जन्मलग्न जानने के कुछ प्रकार जातक-ग्रन्थो मे मिलते है परन्तु पटवर्धन और गोविन्द चेट्टी ने जो विद्या सिद्ध की है उसके ग्रन्थ नही है। हो तो भी वे सबको प्राप्त नही है परन्तु इस विद्या के मूलतत्त्व परम्परागत है, इसमे कोई सन्देह नही है।

अमुक लग्न मे उत्पन्न मनुष्य के अमुक लक्षण होगे, मनुष्य के शरीर का विचार कुण्डली के प्रथम स्थान से, पत्नी का सप्तम से, सम्पत्ति का अमुक से करना चाहिए, हाथ मे अमुक रेखा अमुक प्रकार की हो तो जन्म के समय सूर्य अमुक राशि में रहा होगा—इत्यादि नियमो और जातकशास्त्र के मूलतत्त्वो को जिन्होने सर्वप्रथम निश्चित किया वे पुरुष धन्य है। इस समय हम इतना नि सकोच कह सकते हैं कि जातकशास्त्र की रचना किसी न किसी आधार पर हुई है और मनुष्य का ग्रहो से सम्बन्ध है।[1]

[1] जातक के विषय में सायनमान नैसर्गिक है या निरयण—पटवर्धन की विद्या के आधार पर इसका निर्णय करने के उद्देश्य से मैंने शक १८१५ से बड़ा परिश्रम किया पर सम्प्रति इसमें सफलता प्राप्त होने की आशा नहीं दिखाई देती। शरीरलक्षणो द्वारा पटवर्धन को ज्ञात होने वाले कुछ ग्रह सापेक्ष रहते है। जैसे—अमुक मनुष्य के जन्म काल में सूर्य और बुध में २ अंश का अन्तर था, अमुक ग्रह लग्न से अमुक स्थान में था। इससे सायननिरयण का निर्णय नहीं हो पाता। दूसरी बात मुख्य यह है कि पटवर्धन ने इन लक्षणो का अभ्यास पटवर्धनी पञ्चाङ्ग से किया है। एक ही लक्षण कई मनुष्यो में दिखाई देने पर उन्होंने उन मनुष्यो के जन्मकालीन लग्न और ग्रह पटवर्धनीय पञ्चाङ्ग से निश्चित किये। उनमें से कुछ बातें मिलती-जुलती देखकर एक नियम बनाया और बारबार उसका अनुभव होने पर उन्होंने यह निश्चित किया कि यह लक्षण होने पर अमुक लग्न या ग्रह के इतने अंश बीते होगे। ये सिद्धान्त सायनपञ्चाङ्ग द्वारा भी बनाये जा सकते थे। सायन और निरयण ग्रहो के अन्तर पाँच छः सौ वर्षो में सात आठ अंश बढ जाते हैं। सायन निरयण का भेद और पटवर्धन की विद्या, दोनो बातो के अच्छे ज्ञाता इतने दिनो तक अनुभव करें तो इसका निर्णय हो सकता है। पटवर्धन सम्प्रति मुखचर्यादिको द्वारा ग्रहो के जो राश्यश लाते हैं वे सायन राश्यंश से लगभग १८ अंश न्यून रहते हैं। ६०० वर्षो के बाद पटवर्धन के नियमानुसार मुखचर्या द्वारा निश्चित ग्रह और गणितागत सायनग्रह में १८ अंश का ही अन्तर रहे तो जातक के विषय में सायनमान और यदि

इतिहास

जातक ग्रन्थो के पूर्ण स्वरूप का थोडे मे वर्णन करना कठिन है अत यहा जातक-स्कन्ध का केवल सक्षिप्त इतिहास लिखते है।

जातकस्कन्ध के सम्प्रति उपलब्ध दैवीग्रन्थ गौरीजातक और कालचक्रजातक अथवा कालजातक और अपौरुपेय या आर्पग्रन्थ पाराशरी, जैमिनिसूत्र और भृगुसहिता मुझे मालूम है। पाराशरी के वृहत् और लघु दो भेद है। जातकस्कन्ध का उपलब्ध सबसे प्राचीन पौरुषेय ग्रन्थ वराहमिहिर का वृहज्जातक है। उसके अन्त में लिखा है—

मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार ।।

उपसहाराध्याय

वर्तमान जातक पद्धति का आरम्भकाल

वीच मे भी एक जगह (अध्याय ६ श्लोक १०) 'मुनिगदित' लिखा है। पराशर का नाम दो जगह आया है। वृहत्सहिता के ग्रहगोचराध्याय मे माण्डव्य का उल्लेख है। वृहज्जातकटीकाकार भटोत्पल ने गार्गी, वादरायण, याज्ञवल्क्य और माण्डव्य के जातकसम्बन्धी वचन दिये है, उनमे गार्गी के वचन तो अनेक है। इनका ग्रन्थ वराह के पहिले का होगा। इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व जातक के कम से कम पाँच आर्ष ग्रन्थ अवश्य रहे होगे।[1] इनके अतिरिक्त वराह ने सत्य, मय, यवन, मणित्थ, जीवशर्मा और विष्णुगुप्त आचार्यो का भी उल्लेख किया है।[2] उनमें सत्य का नाम ६ वार आया है और "एके, केचित्, अन्ये, पूर्वशास्त्र, आद्या" इत्यादि अस्पष्ट उल्लेख तो अनेक है। इनसे सिद्ध होता है कि वराह के पहिले पौरुपग्रन्थकार भी बहुत से थे।

लगभग २६ अंश का अन्तर रहे तो शुद्ध नाक्षत्र (निरयण) मान नैसर्गिक सिद्ध होगा। पटवर्धन फलादेश में ग्रहो के उच्च, क्षेत्र, उनकी राशियाँ और लग्नादि निरयण लेते हैं तथापि केवल इतने से ही अभी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

[1] इनके अतिरिक्त गर्ग, वसिष्ठ, भारद्वाज, शौनक और अत्रि ऋषि के वचन अन्य ग्रन्थों में मिलते है। वरुण सहिता नामक एक और ग्रन्थ सुनने में आता है।

[2] इनके अतिरिक्त सप्तम अध्याय के ७, ८ श्लोको में देवस्वामी और सिद्धसेन के नाम आये हैं परन्तु उत्पल ने लिखा है कि ये दोनो श्लोक वराह के नहीं है। इनके अतिरिक्त शक्ति और भदन्त अथवा भदत्त के नाम आये है। उत्पल ने शक्ति का पराशर और भदन्त का सत्य अर्थ किया है।

छ के तो उन्होने नाम ही लिख दिये है। साराश यह कि वराह के पूर्व इस विषय के १०-१२ लोकमान्य ग्रन्थ थे और उनमे से पाच तो ऋषिप्रणीत माने जाते थे। यह बात सौ पचास वर्षो मे नही हो सकती, इसमें कम से कम चार सौ वर्ष लगे होगे। उत्पल ने लिखा है कि (बृ० जा० ७।७ टीका) वराहकथित विष्णुगुप्त चाणक्य है अत ये चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य विष्णुगुप्त ही होगे। इसमे सन्देह होने का कोई हेतु नही है। इससे सिद्ध होता है कि वराहमिहिर के ८०० वर्ष पूर्व जातकस्कन्ध के ग्रन्थ प्रचलित थे अर्थात् हमें वर्तमान जातकशास्त्र का ज्ञान शककाल के चार पाच सौ वर्ष पूर्व ही था। वह आरम्भ से ही वराहकालीन जातक सदृश न रहा हो तो भी क्रमश वैसा बनता आया होगा। शकपूर्व ५०० के लगभग मेषादि सज्ञाएँ प्रचलित थी। उसी समय वर्तमान जातकपद्धति का प्रचार हुआ होगा। इसके पूर्व अथर्वज्योतिष की जातकपद्धति थी ही।

शकपूर्व चार पाच सौ वर्ष के लगभग जातकज्ञान था अत गणितस्कन्ध भी उतना ही प्राचीन होगा क्योकि ग्रहस्थिति का ज्ञान हुए बिना जातकविचार नही हो सकता। इतने प्राचीनकाल मे गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान नही रहा होगा—यह भी नही कहा जा सकता। इसका विवेचन पहिले कर चुके है और शकपूर्व ५०० वर्ष के पूर्व गणितस्कन्ध का पूर्ण ज्ञान अर्थात् ग्रहस्पष्टगति का ज्ञान न रहा हो तो भी मध्यमगतिस्थिति का और सामान्यत ग्रहो की राशिया जानने योग्य ज्ञान होने मे सन्देह बिलकुल नही है। गणित द्वारा शुद्ध ग्रहस्पष्टगति लाने का ज्ञान न होने पर भी केवल नेत्रो से ग्रहस्थान, उनके वक्री, मार्गी, उदित और अस्त होने के काल जाने जा सकते है और केवल इतने से जातकपद्धति का आरम्भ हो सकता है। साराश यह कि हमारे देश में इतने प्राचीन काल मे पूर्ण गणित का ज्ञान नही रहा होगा अत वर्तमान जातकपद्धति इतनी प्राचीन नही हो सकती—यह कथन अनुचित है। हमारे देश मे ग्रहगति का विचार हुआ और गणितस्कन्ध (हमारे ग्रन्थ जितने पूर्ण है उतने ही) पूर्णत्व को प्राप्त होकर आज तक टिका है—इसका एक मुख्य कारण ग्रहचार द्वारा होने वाले परिणाम का विचार है। सहिताग्रन्थो मे बताये हुए ग्रहचार के फलो को समझने की इच्छा, यज्ञ अथवा अन्य कार्यो के लिए मुहूर्त की आवश्यकता और ग्रहचार का प्रत्येक व्यक्ति पर होने वाला परिणाम—इन्ही तीन कारणो से हमारे देश में ग्रहगणित उत्पन्न हुआ, बहुत कुछ पूर्ण हुआ और आज तक है (यूरोप में वर्तमान पूर्णावस्था को पहुचने का मुख्य कारण नौकागमन है तथापि वहा भी हमारे इतना पूर्णत्व प्राप्त होने के मुख्य कारण ये ही तीन है) अत स्पष्ट है कि गणित की पूर्णावस्था आने के पहिले अर्थात् ग्रहगतिस्थिति का उत्तम ज्ञान होने के पूर्व ही वर्तमान जातकपद्धति की

स्थापना हुई होगी। इससे सिद्ध हुआ कि शककाल के चार पाच सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में वर्तमान जातकपद्धति स्थापित हुई—इस कथन में अविश्वास का स्थान विलकुल नही है।

जातकग्रन्थो का इतिहास

जातकस्कन्ध हमने पाश्चात्यो से लिया है अथवा नही, इसका विवेचन उपसहार में करेंगे। जातक के सैकड़ो ग्रन्थ है। उन सबों का अवलोकन करना कठिन है। मुझे जिन थोडे से ग्रन्थो का प्रत्यक्ष या परम्परया कुछ ज्ञान है और जिनके काल के विषय में कुछ बातें ज्ञात हुई है उन्ही का यहा सक्षिप्त इतिहास लिखा है। ये ग्रन्थ जातकसागर के एक कणतुल्य है।

पाराशरी

पाराशरी का नाम ज्योतिषियो मे वडा प्रसिद्ध है। इसके बृहत् और लघु दो भेद है। लघुपाराशरी उपलब्ध है और वह वडी प्रचलित है। उसकी बहुत सी टीकाएँ भी हो चुकी है। बृहत्पाराशरी नामक एक ग्रन्थ बम्बई के ज्ञानसागर प्रेस मे श्रीधर शिवलाल ने शक १८१४ मे छपाया है। इसके पूर्व और उत्तर दो खण्ड है। पूर्वखण्ड में ८० अध्याय है। उस पुस्तक में लिखा है कि इनमे से ५१ अध्याय भिन्न भिन्न स्थानो में वहुत प्रयत्न करने पर मिले और वे भी खण्डित थे, जटाशकरसुत श्रीधर ने इन्हे पूर्ण करके छपाया। पूर्वखण्ड मे ४१९६ श्लोक है। इनमें से कितने मूलग्रन्थ के हैं और कितने श्रीधर अथवा मुद्रक ने अन्य ग्रन्थो से लिये है, इसे जानने का कोई उपाय नही है। एक जगह अयनाश लाने के लिए ग्रहलाघव का श्लोक दिया है पर वहा यह नही लिखा है कि यह श्लोक ग्रहलाघव का है। साराश यह कि इसके पूर्वखण्ड को पाराशरकृत कहना व्यर्थ है। उत्तरखण्ड में २० अध्याय है। उनमें अधिकतर अनुष्टुप् छन्द के ८१२ श्लोक है। इसमें न लिखी हुई बातें गर्गकृत होराशास्त्र में देखने को कहा है। कही कही कुछ कार्य सायन ग्रहो द्वारा करने को कहे है। इससे अनुमान होता है कि शक ५०० के बाद इसमें कुछ मिश्रण हुआ होगा। तंजौर के राजकीय पुस्तकालय में पाराशरी का पूर्वार्ध है। उसकी ग्रन्थसख्या १६५० है। उसके प्रथम अध्याय मे राशिस्वरूप का वर्णन है। उसके आरम्भ के दो श्लोक ये है—

मनोहरदाय दृष्टि (?) मन्दहासलसन्मुख।
भगनाय नवमंगलाजानिरस्तु न ॥१॥

मेषोक्षनररयुक्कर्किसिंहकन्यातुलादय ।
धनुर्नक्रघटी. इति द्वादशराशय ॥२॥

वम्बई की छपी हुई प्रति मे यह अध्याय और ये श्लोक नही है। उसके तृतीय अध्याय मे राशिस्वरूप वताया है पर उसमे भी ये श्लोक नही है। तजौर की प्रति मे अरिष्टाध्याय अन्त मे है और इसमे पाचवा है। पता नही, वराह के पहिले की पाराशरी अपने वास्तव रूप मे कही उपलब्ध है या नही। भटोत्पल ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवे श्लोक की टीका मे लिखा है—

पाराशरीयासहिता केवलमस्माभिर्दृष्टा न जातकम्। श्रूयते स्कन्धत्रय पराशरस्येति। तदर्थं वराहमिहिर शक्तिपूर्वैरित्याह।

अर्थात् "पराशर के तीन स्कन्ध सुनने मे आते हैं, इसीलिए वराहमिहिर ने शक्ति (पराशर) का उल्लेख किया है (अध्याय ७ श्लोक १) पर मैंने वराह की केवल सहिता देखी है, उसका जातक नही देखा है।" भटोत्पल के समय (शक ८८८) भी पाराशरी उपलब्ध नही थी तो फिर इस समय कहा मिलेगी! लघुपाराशरी मिलती है पर उसकी भी यही अवस्था होगी। उसका एक दूसरा नाम उडुदायप्रदीप है। उसके आरम्भ में लिखा है कि पाराशरी होरा के अनुसार दैवज्ञो के सन्तोषार्थ उडुदायप्रदीप बना रहे है। केवल इतने से ही यह वात सिद्ध हो जाती है कि वह वराह के पहिले की नही है।

जैमिनिसूत्र

जैमिनिसूत्र नाम का एक छोटा सा चार अध्यायो का गद्यात्मक सूत्ररूप ग्रन्थ सम्प्रति वहुत प्रचलित है। उसकी वहुत सी टीकाएँ हो चुकी है। उसमे रिफ और आर यावनी भाषा के शब्द आये है। वराहमिहिर और भटोत्पल के ग्रन्थो में जैमिनिसूत्र का उल्लेख नही है अत जैमिनिसूत्र नामक आर्ष ग्रन्थ यदि है तो वह आज भी अपने आरभिक रूप में ही है—इसमे सन्देह है। वर्नेल ने लिखा है कि मलावार मे जैमिनिसूत्र का वडा प्रचार है।

भृगुसहिता—यह वडा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नाम से तो यह आर्ष मालूम होता है परन्तु वराहमिहिर और भटोत्पल ने इसका उल्लेख नही किया है अत यह उनसे प्राचीन होगा, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। लोग कहते है कि इसमे प्रत्येक मनुष्य की जन्मकुण्डली रहती है। यदि यह सत्य है तो भिन्न भिन्न लग्नो और भिन्न भिन्न स्थानस्थित ग्रहो के भेदानुसार इसमे ७४६४९६०० कुण्डलिया और प्रत्येक कुण्डली

का फल यदि १० श्लोको मे लिखा हो तो ७५ कोटि श्लोक होने चाहिए। भृगुसहितोक्त कुछ ऐसी पत्रिकाएँ मिलती है जिनमें एक लग्न के भिन्न भिन्न अशो की भिन्न भिन्न कुण्डलिया बनाई रहती है। इतनी कुण्डलिया मानने से उनकी सख्या बहुत बढ जायगी। इतना बडा ग्रन्थ होना असम्भव है। पूना मे एक मारवाडी ज्योतिषी के पास भृगुसहिता का कुछ छपा हुआ भाग मैने देखा है। उसमे लगभग २०० कुण्डलिया है। प्रत्येक का फल लगभग ७९ श्लोको में लिखा है और इस प्रकार उसकी ग्रन्थसख्या १४००० है। वह ग्रन्थ बडा अशुद्ध है और उसमे लग्नो का कोई क्रम नही है। काश्मीर मे जम्बू के सरकारी पुस्तकालय में भृगुसहिता है। उस पुस्तकालय का सूचीपत्र छपा है, उससे ज्ञात होता है कि वहा की भृगुसहिता मे लग्नो का क्रम है और उसकी ग्रन्थसख्या लगभग १६०००० है। प्रत्येक कुण्डली का फल यदि ७० श्लोको मे लिखा होगा तो उसमे लगभग २३०० पत्रिकाएँ होगी। भृगुसहिता का कुछ भाग जिनके पास है वे प्रसग-वशात् कुछ धूर्तता करते होगे। किसी की नवीन पत्रिका बना कर उसे वे भृगु-सहितोक्त कह कर देते होगे, फिर भी भृगुसहिता ग्रन्थ है—इसमे सन्देह नही है। भृगुसहितोक्त कुछ पत्रिकाएँ मैने देखी है, उनके अधिकतर फल ठीक होते है—यह मेरा मत है।

आनन्दाश्रम मे भृगुसहिता सरीखा ही भृगूक्त जातककल्पलता नाम का एक ग्रन्थ है। उसकी ग्रन्थसख्या १८०० है और उसमें २०० कुण्डलियो का विचार किया है।

नाडीग्रन्थ—चिदम्बरम् ऐयर बी० ए० ने The Hindu Zodiac में लिखा है कि "नाडीग्रन्थ में सभी भूत, वर्तमान और भविष्य मनुष्यो की जन्मकुण्डलिया है। मैने स्वय पाच नाडीग्रन्थ देखे है और पाच सुने है। सत्याचार्यकृत ध्रुवनाडीग्रन्थ सर्वोत्तम है। उसके लगभग ७० भाग दक्षिण भारत मे भिन्न भिन्न मनुष्यो के पास है। उनमें प्रत्येक मनुष्य के जन्मकालीन निरयण स्पष्ट ग्रह लिखे है। उनमे और (नाटिकल आल्मनाक द्वारा लाये हुए) सूक्ष्म सायन ग्रहो में सन् १८८३ के आरम्भ मे २०।२३'। ८" से २०।२५'।२२" पर्यन्त अन्तर है। अत मैने उस वर्ष का अयनाश २०।२४।१५ निश्चित किया है। इस लेख मे दो बाते बडे महत्त्व की है। एक यह कि मद्रास प्रान्त मे भृगुसहिता सदृश बडे बडे ग्रन्थ है और दूसरी यह कि उनके और नाटिकल आल्मनाक के ग्रहो मे केवल सवा दो कला का अन्तर है (अयनाश का सान्तर होना अशुद्धि नही है)। चिदम्बरम् के लेख से वे तज्ञ और विश्वसनीय पुरुष ज्ञात होते है। नाडीग्रन्थ की ग्रहस्थिति बडी सूक्ष्म है, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

यवनाचार्य—वराहमिहिर ने यवनाचार्य का उल्लेख किया है। बृहज्जातक के सप्तम अध्याय के नवें श्लोक की टीका में भटोत्पल ने लिखा है कि "यवनेश्वर स्फुजि-

ध्वज ने शककालारम्भ के बाद दूसरा शास्त्र बनाया। वराहमिहिर ने उनके पहिले के यवनाचार्य के मत लिखे हैं। मैंने उस यवनाचार्य का ग्रन्थ नही देखा है पर स्फुजिध्वज का देखा है। स्फुजिध्वज ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है—"यवना ऊचु ।" इससे ज्ञात होता है कि वराह के पूर्व एक या अनेक ऐसे यवनग्रन्थकार हो चुके थे जिनके ग्रन्थ भटोत्पल के समय उपलब्ध नही थे। उत्पल के मतानुसार वे शककाल से प्राचीन ज्ञात होते हैं। यवन शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वराह के समय यवनो का ग्रन्थ एक ही रहा होगा पर उसे मानने वाले यवन अनेक रहे होगे। भटोत्पल ने स्फुजिध्वज को ही यवनेश्वर कहा है और उन्होने यवनो के नाम पर जो वचन उद्धृत किये हैं वे उन्ही के ग्रन्थ से लिये हैं (वह ग्रन्थ सस्कृत मे है)। सम्प्रति मीनराजजातक नाम का एक ग्रन्थ उपलब्ध है। उसे वृद्धयवनजातक अथवा यवनजातक भी कहते हैं। उसके आरम्भ में लिखा है कि पूर्वमुनि ने मय को जो एक लक्ष होराशास्त्र बताया था उसे मीनराज ने आठ सहस्र किया। भटोत्पललिखित (बृहज्जातक अध्याय १ श्लोक ५ की टीका) राशिस्वरूप सम्बन्धी यवनाचार्य के १२ श्लोक तो मीनराज-जातक मे हैं पर अन्य बहुत से नही हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्फुजिध्वज का ग्रन्थ मीनराजजातक से भिन्न है और वराह के पहिले के यवनाचार्य इन दोनो के कर्ताओ से भिन्न तृतीय व्यक्ति हैं। प्राचीन ग्रन्थो को सक्षिप्त अथवा विस्तृत करके उनके बाद के ग्रन्थ बने होगे परन्तु तीनो का मत सम्भवतः एक ही होगा।

वराहमिहिर का बृहज्जातक और लघुजातक और उनके पुत्र पृथुयशा की षट्पञ्चाशिका सम्प्रति प्रचलित है। इन तीनो पर उत्पल की टीका है। लघुजातक पर ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ के भाई अनन्त की शक १४५६ की एक टीका है। बृहज्जातक पर बलभद्र की टीका थी। उसके अतिरिक्त महीदास और महीधर की टीकाएँ हैं। ये दोनो और लीलावतीटीकाकार महीदास और महीधर एक ही होगे। तजौरराजसग्रह में बृहज्जातक की सुबोधिनी नाम की एक और टीका है। आफ्रेचसूची मे इनके अतिरिक्त और ५, ६ टीकाएँ लिखी हैं।

मीनराजजातक में लल्ल का एक वचन दिया है। जातकसार ग्रन्थ के रचयिता नृहरि ने भी जातकग्रन्थकारो मे लल्ल का नाम लिखा है अत लल्ल का जातकविषयक भी एक ग्रन्थ रहा होगा।

भटोत्पल ने बृहज्जातक की टीका मे सारावली नामक ग्रन्थ के बहुत से वचन लिखे हैं और उनमे एक स्थान पर (अ० ७ श्लो० १३ की टीका) वराहमिहिर का नाम आया है अत सारावली ग्रन्थ वराह के बाद का और शक ८८८ के पहिले का है। सारावली नामक एक ग्रन्थ मैंने देखा है, उसमे उत्पलोद्धृत वचन नही हैं। उसके कर्ता का

नाम कल्याण वर्मा है। उन्होंने अपने को वटेश्वर भी कहा है। वराहमिहिर, यवननरेन्द्र इत्यादिकों के ग्रन्थों का सार लेकर उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया है। वटेश्वर नाम के एक ज्योतिषी शक ८२१ के लगभग थे अत उत्पलोद्धृत सारावली ही वटेश्वर या कल्याण वर्मा कृत सारावली है और उसका रचनाकाल लगभग शक ८२१ है।[1] उत्पल की टीका में देवकीर्ति (१।१९) और श्रुतकीर्ति (१।७,८।९) के भी नाम आये हैं।

श्रीपति का जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ है। मुझे ये श्रीपति और रत्नमालाकार श्रीपति एक ही मालूम होते हैं क्योंकि इन दोनो ग्रन्थो पर माधव की टीका है। रत्नमाला की माधव कृत टीका में वृद्धजातक नामक जातकग्रन्थ का उल्लेख है अतः वह शक ११८५ के पहिले का होगा। नन्दिग्रामस्य केशव (लगभग शक १४१८) ने अपनी जातकपद्धति की टीका में श्रीधरपद्धति, म्हालुगिपद्धति, दामोदर, रामकृष्णपद्धति, केशव मिश्र, वल्लयुपद्धति, होरामकरन्द और लघुपद्धति, इन ग्रन्थो और ग्रन्थकारो का उल्लेख किया है। इनमे से आरम्भ के चार नाम विश्वनाथी टीका में भी हैं। ये सब शक १४१८ के पहिले के हैं। नन्दिग्रामस्थ केशव ने श्रीपतिपद्धतिकार, भास्कराचार्य ने बीजगणितग्रन्थकार, रत्नमालाटीकाकार माधव ने मुहूर्तग्रन्थकार और कोलब्रूक ने गणितसारकार श्रीधर का उल्लेख किया है। ये चारो कदाचित् एक ही होगे। भटतुल्यकरणकार (शक १३३९) ही दामोदर होगे। भावनिर्णय नामक एक छोटा सा जातकग्रन्थ विद्यारण्यकृत है। नन्दिग्रामस्थ केशव का जातक पद्धति नामक एक छोटा सा ४० श्लोको का ग्रन्थ है परन्तु वह बडा प्रसिद्ध है। उसे केशवी ही कहते हैं। उस पर विश्वनाथ का उदाहरण और ग्रन्थकार, नारायण तथा दिवाकर की टीकाएँ हैं। आफ्रेचसूची में उसकी ७ और टीकाएँ लिखी है। जातकाभरण नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ ढुण्ढिराजकृत है। वह लगभग शक १४६० मे बना है। उसमें फल क्रमश. लिखे हैं अत कुण्डली बनाने वाले उसका अधिक उपयोग करते हैं। अनन्तकृत जातकपद्धति नामक एक ग्रन्थ शक १४८० के आसपास का है। मुहूर्तमार्तण्ड की टीका में जातकोत्तम का उल्लेख है अत वह ग्रन्थ शक १४९३ के पहिले का है। केशवीय जातकपद्धति की विश्वनाथकृत टीका में शिवदासकृत जातकमुक्तावली नामक ग्रन्थ का उल्लेख है।

[1] सुधाकर ने लिखा है कि उसमें मन्दिल, देवकीर्ति और कनकाचार्य के नाम आये हैं। उनके मतानुसार वह ब्रह्मगुप्तकालीन है पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

वीरसिंह नामक राजा ने रामपुत्र विश्वनाथ पण्डित द्वारा होरास्कन्धनिरूपण नामक एक विस्तृत ग्रन्थ बनवाया है। इसे वीरसिंहोदयजातकखण्ड भी कहते है। इस ग्रन्थ का काल ज्ञात नही है परन्तु इसमे जातकाभरण के वचन दिये है। अत यह शक १४६० के बाद शक १५०० के आसपास बना होगा। इसमे अनेक प्राचीन ग्रन्थो के वचन देकर फल क्रमश लिखे है अत कुण्डली बनाने वालो के लिए यह बडा उपयोगी है। यह अभी तक छपा नही है पर छपाने योग्य है। इसमे शौनक और गुणाकर ग्रन्थ-कार तथा समुद्रजातक, होराप्रदीप और जन्मप्रदीप प्राचीन ग्रन्थो के नाम आये है।

जातकसार नामक एक विस्तृत ग्रन्थ नृहरिकृत है। ग्रन्थकार ने उसके आरम्भ मे लिखा है—वसिष्ठ, गर्ग, अत्रि, पराशर, वराह, लल्ल इत्यादिको ने होराशास्त्र बनाया है पर उन्होने फल क्रमश नही लिखे है अत जन्मपत्रिका मे क्रमश फल लिखने के लिए मै सारावली, होराप्रदीप, जन्मप्रदीप इत्यादि ग्रन्थो की सहायता से यह ग्रन्थ बना रहा हू। जातकालकार नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ गणेशकृत है। गणेश के पितामह कान्हजी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे गुर्जराधिपति की सभा के भूषणीभूत थे। उनके सूर्यदास, गोपाल और रामकृष्ण तीन पुत्र थे। गोपाल के पुत्र गणेश ने ब्रघ्नपुर में शक १५३५ में जातकालकार बनाया है। इसमे ६ अध्याय है। गणेश के गुरु का नाम शिवदास था। एक ग्रन्थ मे ब्रघ्नपुर का अर्थ बरारपुर किया है पर उसका निश्चित प्रमाण नही मिलता। इस ग्रन्थ पर शुक्लोपनामक कृष्णपुत्र हरभानु की टीका है। टीकाकार ने ब्रघ्नपुर का अर्थ सूर्यपुर किया है।

दिवाकर का पद्मजातक नामक १०४ श्लोको का ग्रन्थ शक १५४७ का है। पद्धतिभूषण नामक एक ग्रन्थ शक १५५९ मे जलदग्रामवासी ऋग्वेदी रुद्रभटात्मज सोमदैवज्ञ ने बनाया है। जलदग्राम खानदेश का जलगाव होगा। पद्धतिभूषण पर दिवाकरकृत टीका है। उसमें उदाहरणार्थ शक १७२९ लिया है। ये दिनकर और दूसरे भाग के शुरू में वर्णित दिनकर एक ही है या भिन्न भिन्न, इसका निश्चित प्रमाण नही मिलता। होरारत्न नामक ग्रन्थ दामोदरसुत बलभद्र ने बनाया है। वह शक १५७७ के आसपास का होगा। होराकौस्तुभ नामक एक ग्रन्थ नरहरिसुत गोविन्द ने शक १६०० के लगभग बनाया है। नारायणकृत दो ग्रन्थ होरासारसुधानिधि और नर-जातकव्याख्या शक १६६० के आसपास के है। सुधाकर ने लिखा है कि परमानन्द पाठककृत प्रश्नमाणिक्यमाला नामक एक उत्तम जातकग्रन्थ है। उसके चार भाग है। परमानन्द सारस्वत ब्राह्मण थे। वे काशीराज बलवन्तसिह के मुख्य गणक थे। उनका काल शक १६७० के लगभग है। पद्धतिचन्द्रिका नामक एक ग्रन्थ राघव-कृत है। सुधाकर ने लिखा है कि काशी मे गोविन्दाचारी नामक एक उत्तम ज्योतिषी

थे। वे मारण, मोहनादिक मन्त्रतन्त्र कृत्यो में प्रवीण थे। बाद में वे विन्ध्यवासिनी के सन्निकट रहने लगे थे। उन्होने शक १७७५ के बाद साधनसुबोध, योगिनीदशा इत्यादि दो तीन ग्रन्थ बनाये हैं। शक १७८५ में उनका देहान्त हुआ। सोलापुरवासी अनन्ताचार्य म्हालगी नामक ज्योतिषी ने अनन्तफलदर्पण और आपाभटी जातक नामक दो ग्रन्थ बनाये है। पहिला शक १७९८ का है। उसमें जातक और ताजिक दोनो विषय है। अनन्ताचार्य के गुरु का नाम आपा जोशी भाडारकवठेकर था (शक १७८८ के लगभग उनका देहान्त हुआ)। शक १८०६ मे अनन्ताचार्य ने मुझसे कहा था कि उनके बताये हुए सभी फल बिलकुल ठीक होते थे और उन्होने प्राचीनग्रन्थो के नियमो में कही कही परिवर्तन करके नये नियम बनाये थे। वे नियम इस ग्रन्थ में है।

केरलमत

जातक में एक केरलमत है। इसके नियम अन्य जातकग्रन्थो मे कुछ भिन्न मालूम होते है। केरलमत के ग्रन्थ अनेक है।

प्रश्न

अमुक कार्य होगा या नही, किस प्रकार होगा इत्यादि अनेक प्रश्न लोग ज्योतिषियो से पूछते है। प्रश्न बताने की बहुत सी रीतिया है। कुछ लोग प्रश्नकालीन लग्न के अनुसार फल बताते है इसलिए प्रश्न होरास्कन्ध का एक अग कहा जा सकता है पर कुछ रीतिया ऐसी है जिनका ज्योतिष से कोई सम्बन्ध नही है, फिर भी लोगो की यह धारणा है कि ज्योतिषी सब प्रकार का भविष्य बताते है इसलिए हर प्रकार का प्रश्न ज्योतिष का विषय समझा जाता है और सब प्रश्नग्रन्थो की गणना ज्योतिषग्रन्थो में की जाती है। प्रश्न के बहुत से ग्रन्थ हैं।

प्रश्ननारदी नामक एक छोटा सा ३२ श्लोको का आर्षग्रन्थ है। वह नारदसहितान्तर्गत कहा गया है पर इस समय की उपलब्ध नारदसहिता बृहत्सहिता सरीखी है और उसमे यह प्रकरण नही है। उपलब्ध पौरुषेय ग्रन्थो मे भटोत्पलकृत ७२ आर्याओ का प्रश्नज्ञान या प्रश्नसमाप्ति नामक ग्रन्थ ही प्राचीन मालूम होता है।

रमल

पासो पर कुछ चिह्न बनाये रहते है। उन्हे फेंकने पर चिह्नो की जो स्थिति बनती है उसके अनुसार हर एक प्रश्न का उत्तर बताने की एक प्रश्नविद्या है, उसे पाशकविद्या या रमल कहते है। रमल शब्द अरबी भाषा का है और इस समय सस्कृत मे इस विषय के जो ग्रन्थ उपलब्ध है उनमें पारिभाषिक शब्द प्राय अरबी के ही है, इससे आपातत-

यह विद्या मुसल्मानो की प्रतीत होती है पर बात ऐसी नही है। बावर नामक एक यूरोपियन को प्राचीन गुप्त राजाओ के समय की लिपि मे भोजपत्र पर लिखी हुई एक पुस्तक मिली है। उसमे भिन्न भिन्न तीन विषयो का वर्णन है। वह सन् ३५० और ५०० के मध्य मे लिखी गयी है—यह सिद्ध हो चुका है। उसमें[1] आधुनिक रमल सरीखी पद्धति है परन्तु पारिभाषिक नाम अधिकतर सस्कृत और कुछ प्राकृत है। तंजौर के राजकीय पुस्तकालय में गर्गसहिता की एक प्रति है। उसमे पाशकावलि नामक २३५ श्लोको का एक प्रकरण है। मैंने देखा[2], उसके एक श्लोक मे दुन्दुभि शब्द आया है जो कि उपर्युक्त पुस्तक मे भी है। इससे सिद्ध होता है कि रमल विद्या इसी देश की है। बावर की पुस्तक की पाशकावलि की भाषा से अनुमान होता है कि वह शककाल के तीन चार सौ वर्ष पहिले की होगी[3] इससे सिद्ध होता है कि उस समय हमारे देश में यह विद्या थी। बाद में इसके मूल सस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो गये और उसके बाद अरबी ग्रन्थो के आधार पर सस्कृत मे ग्रन्थ बनने लगे। वे कब से बनने लगे, इसका निश्चित समय ज्ञात नही है। आफ्रेचसूची मे भटोत्पल और श्रीपति का एक एक रमलग्रन्थ लिखा है। शक १६६७ के रमलामृत ग्रन्थ में श्रीपति और भोज के रमलग्रन्थो का उल्लेख है। शक ७०० के लगभग सिन्ध प्रान्त के ज्योतिषी अरब गये थे। पता नही, वे अपने साथ रमल लाये थे या नही। उपर्युक्त दोनो पाशकावलियो और रमल की पद्धति पूर्णतया एक है या भिन्न, इसे मैंने नही देखा है। इसे देखने पर निर्णय हो सकता है कि मुसल्मानो ने रमल का स्वय आविष्कार किया है या उनके यहा प्राचीन काल मे भारत से ही गया है।

रमल के ग्रन्थ अनेक है। रमलचिन्तामणि नामक एक ग्रन्थ चिन्तामणि नामक ज्योतिषी ने बनाया है। उसकी ग्रन्थसख्या लगभग ७०० है। आनन्दाश्रम में शक

[1] उस पुस्तक का इतिहास, उसका कुछ भाग और उसके लेखनकाल का निर्णय इत्यादि विषयक लेख बगाल एशियाटिक सोसायटी के १८९० के नवम्बर और १८९१ के अप्रैल के मासिको में और इण्डियन ऐंटिक्वेरी की सन् १८९२ की पुस्तक में छपे हैं। इस समय डा० रूडोल्फ होरनल इस पुस्तक को छपा रहे हैं।

[2] Burnell's Catalogue

[3] बावर की पुस्तक में मन्त्रशास्त्र का एक ग्रन्थ है। उसे देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे किसी बौद्ध ने बनाया है। उसकी पाशकावलि की भाषा शुद्ध सस्कृत नहीं है। बौद्ध लोग अपने ग्रन्थ अधिकतर प्राकृत भाषा में ही बनाते थे अत पाशकावलि चन्द्रगुप्त के समय की होगी।

१६५३ की लिखी हुई उसकी एक प्रति है अत वह ग्रन्थ लगभग शक १६०० के पहिले का होगा। रमलामृतग्रन्थ खानदेश के प्रकाश नामक स्थान के निवासी जयराम नामक औदीच्य ब्राह्मण ने सूरत मे सवत् १८०२ (शक १६६७) मे बनाया है। उसकी ग्रन्थ-सख्या लगभग ८०० है।

स्वप्नादि

स्वप्न और पल्लीपतन सहिता और होरा दोनो के अङ्ग कहे जा सकते है। इनके कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते है।

ताजिक

जिस समय मनुष्य के जन्मकालीन सूर्य तुल्य सूर्य होता है अर्थात् जब उनकी आयु का कोई भी सौरवर्ष समाप्त होकर दूसरा सौरवर्ष लगता है उस समय के लग्न और ग्रहस्थिति द्वारा मनुष्य को उस वर्ष मे होने वाले सुखदु ख का निर्णय जिस पद्धति द्वारा किया जाता है उसे ताजिक कहते है। दामोदरसुत बलभद्रकृत[1] हायनरत्न नामक एक ताजिकग्रन्थ है। उसमे लिखा है—

यवनाचार्येण पारसीकभाषया प्रणीत ज्योतिषशास्त्रैकदेशरूप वार्षिकादिनानाविधफलादेशफलकशास्त्र ताजिकशब्दवाच्य तदनन्तरभूतै समरसिहादिभि . . ब्राह्मणैस्त-

[1] बलभद्र भागीरथीतटवर्ती कान्यकुब्जनगर के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम राम था। इनके लेख से ज्ञात होता है कि इन्होने यह ग्रन्थ उस समय बनाया जब ये बादशाह शाहशुजा के साथ राजमहल में रहते थे। इनके पितामह लाल ज्योतिषी थे। उनके पुत्र देवीदास, क्षेमङ्कर (क्षेमकर्ण ?), नारायण, चतुर्भुज मिश्र और दामोदर सभी विद्वान् थे। देवीदास ने व्यक्तगणित और श्रीपतिपद्धति की टीकाएँ की है। दामोदर ने भास्करकृत करणकुतूहल की टीका की है। बलभद्र के लघुभ्राता हरि नामक थे। हायनरत्न में यह सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा है। इस ग्रन्थ के काल के विषय में लिखा है—

योगो मासकृते. सम करहृ(ह)तो योगस्तिथि. स्यात्तिथिस्त्रिघ्ना वारमितिस्तदर्घ (? दूर्घ्व)
सदृश(दश)भ सर्वयोगो युत। भूबाणाक्षकुभि १५५१ भंवेच्छकमितिर्ग्रन्थस्य॥

इसमें कई संशयग्रस्त स्थल है। भिन्न-भिन्न वर्ष और मास मानकर गणित करने का अवकाश इस समय नहीं है। सुधाकर ने इस श्लोक द्वारा शक १५६४ निश्चित किया है पर वह अशुद्ध है। आफ्रेचसूची में इसका काल सन् १६५६ लिखा है।

देव शास्त्र सस्कृतशब्दोपनिवद्ध ताजिकशब्दवाच्यम् । अत एव तैस्ता एव इक्कवालादयो यावन्य. सज्ञा उपनिवद्धा. ॥

इसमे भी मुख्यत. ताजिक का उपर्युक्त ही लक्षण है। इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि ताजिक शाखा यवनो से ली गयी है। पार्थपुरस्थ ढुण्ढिराजात्मज गणेश का लगभग शक १४८० का ताजिकभूपणपद्धति नामक ग्रन्थ है। उसमे लिखा है—
गर्गाद्यैर्यवनैश्च रोमकमुखै सत्यादिभि कीर्तित। शास्त्र ताजिकसज्ञकम् ।
इससे भी ज्ञात होता है कि ताजिक यवनो से लिया गया है। दैवज्ञालकृति नामक तेजसिहकृत एक ताजिकग्रन्थ है। प्रो० भाण्डारकरकृत विवेचन[1] से उसका काल लगभग सन् १३०० ज्ञात होता है। समरसिहकृत ताजिकतन्त्रसार नामक एक ग्रन्थ है। डेक्कन-कालेजसग्रह की उसकी प्रति[2] सवत् १४९१ (शक १३५६) की लिखी है अत उसकी रचना इसके बहुत पहिले हुई होगी। हायनरत्नकारकथित समरसिह ये ही होगे।

इससे ज्ञात होता है कि शक १२०० के वाद अर्थात् इस देश मे मुसल्मानी राज्य होने पर हमारे यहा ताजिक शाखा आयी है। बहुत से ग्रन्थो मे ताजिक को तार्तीयक कहा है पर ताजिक शब्द द्वारा उसका यह सस्कृत रूप बनाया हुआ ज्ञात होता है। ताजिक को ताजक भी कहते है।

ताजिकशाखा यवनो से ली गयी, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि वर्पप्रवेशकालीन लग्न द्वारा फलादेश करने की कल्पना और कुछ पारिभापिक नाम यवनो से लिये गये। लग्नकुण्डली और उसके फल के नियम ताजिक मे प्राय जातक सदृश ही है और वे हमारे ही है।

ताजिक के और भी अनेक ग्रन्थ है। नन्दिग्रामस्थ केशव का ताजिकपद्धति नामक ग्रन्थ है। उस पर मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाएँ है। हरिभट्टकृत ताजकसार नामक एक ग्रन्थ शक १४४५ के लगभग का है। ज्ञानराज के पुत्र सूर्य का ताजकाल-कार नामक एक ग्रन्थ है। नीलकण्ठकृत ताजिकनीलकण्ठी नामक ग्रन्थ शक १५०९ का है। उस पर ग्रन्थकार के पुत्र गोविन्द की शक १५४४ की रसाला नाम्नी टीका है। वह छप चुकी है। इनके अतिरिक्त ग्रन्थकार के पौत्र माधव की शक १५५५ की और विश्वनाथ की टीका है। इस ग्रन्थ का समप्रति बडा

[1] पुस्तक संग्रह की सन् १८८२–८३ की रिपोर्ट देखिए।

[2] डेक्कन कालेज सग्रह न० ३२२ सन् १८८२–८३ में ग्रन्थलेखनकाल 'मार्गशीर्ष वदि १० गुरौ' लिखा है। शक १३६५ के अमान्त मार्गशीर्ष की वदी १० को गुरुवार था अतः उसमें लिखा हुआ १४९१ विक्रम सवत् होगा।

प्रचार है। ताप्ती के उत्तरतटस्थ प्रकाश नामक स्थान के निवासी याज्ञवल्क्यगोत्रीय बालकृष्ण ने ताजिककौस्तुभ नामक ग्रन्थ शक १५७१ में बनाया है। बालकृष्ण के पिता इत्यादिको के नाम क्रमश. यादव, रामकृष्ण, नारायण और राम थे। नारायण-कृत ताजकसुधानिधि नामक शक १६६० के आसपास का एक विस्तृत ग्रन्थ है।

उपसंहार

भारतीय ज्योतिष शास्त्र का विस्तारपूर्वक विवेचन यहा तक किया गया। ज्योति सिद्धान्तकाल के पूर्व वैदिककाल तथा वेदाङ्गकाल मे ज्योतिष शास्त्र की क्या अवस्था थी इसका विचार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे किया गया है, और सिद्धान्त काल में उसकी प्रगति कहा तक हुई थी इसका विवरण दूसरे भाग मे दिया गया है। दूसरे भाग म गणित[1], सहिता तथा जातक, इन तीनो स्कन्धो का अलग अलग विवेचन किया गया है। अब प्रस्तुत अध्याय में इन सब बातो का साकल्येन उपसहार किया जाता है।

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ के अधिकांश भाग लिखे जाने के बाद जो और नयी बातें मालूम हुई हैं वे—J. Burgess द्वारा लिखित Notes on the Hindu Astronomy 1895 के आधार पर दी जाती हैं। (१) भारतीय ज्योतिष के विषय में उल्लेखनीय ज्ञान पहले पहल यूरोपियन लोगो के थाइलैण्ड से ले जाये गये एक ज्योतिषीय गणित के ग्रन्थ से प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ में वर्षमान ३६५।१५।३१।३० (अर्थात् मूल सूर्य-सिद्धान्त अथवा खण्डखाद्य इत्यादि के अनुसार) है। क्षेपक ई० स० ६३८ तारीख ३१ मार्च शनिवार अमावस्या के हैं, ऐसा फ्रेन्च ज्योतिषी कैसिनी ने लिखा है। (मूल सूर्यसिद्धान्त के अनुसार शक ५६० में मध्यम मेष संक्रमण वैशाख शुद्ध २ तारीख २२ मार्च ६३८ रविवार को घटी १२ पल ५८ पर हुआ था। इसके पहले का अर्थात् चैत्र का मध्यम अमान्त शुक्रवार घटी ४९ पल ३५ पर अर्थात् यूरोपियन गणना के अनुसार तारीख २१ मार्च शनिवार को आता है।) मूल क्षेपक गोदावरी जिले के पीठापुर के निकट नरसिंगपुर किंवा काशी के होने चाहिए। इस ग्रन्थ में सूर्योच्च ८० अश है। रवि-परमफल २।१४ और चन्द्र-परमफल ४।५६ हैं। इससे यह सिद्ध है कि यह ग्रन्थ मूलसूर्यसिद्धान्त अथवा तदनुसारी प्रथम आर्यभट के अनुपलब्ध करणग्रन्थ के आधार पर लिखा गया था। कुछ और ग्रन्थो के नाम लिखे जाते हैं, जैसे—(२) उल्लमुट्टयन का करण, शक ११६५, (३) वाक्यकरण कृष्णापुर, शक १४१३ क्षेपक पूर्व को फाल्गुन बदी ३० तारीख १० मार्च। वारन ने कहा है कि इस ग्रन्थ का कर्ता वररुचि था। (४) पञ्चाङ्गशिरोमणि, नरसापुर, ई० स० १५६९ (अथवा १५५६)। इन दोनों

अधिकाश यूरोपियन विद्वानो का मत है कि भारतीयो ने ज्योतिप शास्त्र, विशेप करके उसका गणित और जातक भाग, खाल्डी या वैविलोनी लोगो से अथवा मिस्र या अलकजेड्रिया के ग्रीक लोगो से सीखा। प्रसगवश इस वात का विचार ऊपर हो ही चुका है, परन्तु यहा और भी विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए उपसंहार मे कुछ नयी बाते भी बताई जायेंगी।

नक्षत्रपद्धति वैबिलन की नहीं

नक्षत्र-पद्धति मूलत किसने निकाली यह विचार उतने महत्त्व का नही है। ग्रहो की मध्यम और स्पष्ट गति का गणित विशेप महत्त्व का है। यह बात पिछले प्रकरणो मे वताई जा चुकी है। तथापि नक्षत्रो के विपय में एक महत्त्वपूर्ण लेख अभी देखने को मिला, जिसका साराश नीचे लिखा जाता है। इस महत्त्व के लेख को डा० थीवो ने सन् १८९४ मे एशियाटिक सोसाइटी जर्नल के ६३ वें भाग मे प्रकाशित किया है। वेविलोनिया के वहुत से उत्कीर्ण लेख हाल ही मे खोद कर निकाले गये हैं। फादर स्ट्रासमेयर ने फादर एपिंग की सहायता से वहुत परिश्रम से उनमें ज्योतिप सम्वन्वी जो

ग्रन्थो के वर्षमान ३६५।१५।३१।१५ अर्थात् आर्यसिद्धान्तानुसारी है। परन्तु रवि-फल २।१०।३४ और चन्द्रफल ५।२।२६ दिया हुआ है। (५) ग्रहतरगिणी, शक (?) १६१८, (६) सिद्धान्तमञ्जरी–१६१९ (वारन के गणनानुसार), (७) मल्लिकार्जुन कृत करण ग्रन्थ, शक ११००, इसमें अब्दप इत्यादि रामेश्वर रेखा के हैं। मल्लिकार्जुन तैलग था, इसलिए इसका ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्तानुसारी होना अधिक सम्भव है। (८) बालादित्य कल्लू का करण ग्रन्थ शक १३७८ रामेश्वर की रेखा। बेंटली सग्रह की जो पुस्तकें कैम्ब्रिज में हैं उनकी तालिका के अनुसार: (९) ब्रह्मसिद्धान्त अध्याय २६ (इसमें ११ अध्याय गणित के हैं। शेष अध्यायो में मुहूर्तादि का विचार है) आरम्भ— ॐ श्र्यर्कः परमो ब्रह्मा श्र्यर्क परम शिव.। (१०) विष्णु सिद्धान्त अधिकार ११, आरम्भ श्लोक उपर्युक्त ब्रह्म सिद्धान्त का ही है। (११) सिद्धान्त लघुखमाणिक, ई० स० १५वीं शताब्दी केशव कृत सूर्यसिद्धान्त के अनुसार, अधिकार ९। (१२) सूर्यसिद्धान्तरहस्य राघव कृत शक १५१३। (१३) सूर्यसिद्धान्त-मञ्जरी, मथुरानाथ कृत शक १५३१। मथुरानाथ शत्रुजित राजा का ज्योतिषी था। (१४) ज्योति सिद्धान्तसार, शक १७०४, यह पिछले पृष्ठो में वर्णित मथुरानाथ का है अध्याय ८, मथुरानाथ का वाप सदानन्द मूलत पटना का रहनेवाला था, बाद में काशी में रहने लगा। यह ग्रन्थ यूरोपियन ग्रन्थो के अनुसार बनाया हुआ मालूम होता है। (१५) पदमञ्जरी, रचनाकाल दिया हुआ है, लेकिन स्पष्ट नहीं है।

गये उत्कीर्ण हुए उनको सन् १८८९ में (Astronomisches aus Babylon) नामक ग्रंथ में प्रकाशित किया है। प्राप्त उत्कीर्ण लेखों में बहुत से वेध लिखे हुए हैं। उदाहरणार्थ, सेल्युकिडन शक के १८९ वें अर्थात् ई० स० पूर्व १२४।२३ वर्ष में एरु (एप्रिल) मास की पंद्रहवीं रात्रि को शनि पूर्वाकाश में दिखाई दिया था या दिखाई देने वाला था।[1] उससे ४ गज ऊपर मेष राशि के मस्तक प्रदेश का पश्चिम तारा दिखाई दिया। उसी वर्ष अब (जुलाई-अगस्त) मास में २६ वीं रात्रि को मंगल आकाश के पूर्व भाग में दिखाई दिया। उसके ऊपर मिथुन के मुख का पश्चिम तारा ८ इंच की दूरी पर था। फिर उसी वर्ष एरु मास के तीसरे दिन सन्ध्या समय बुध का अस्त वृषभ राशि में हुआ। सेल्यु-वर्ष २०१ में तिश्रितु महीने की आठवीं रात्रि में तुला राशि में मंगल का उदय हुआ। इन सब बातों का विचार करके थीबो ने ऐसा निर्णय किया है कि बैबिलन के ज्योतिषी ग्रहस्थिति राशियों के अनुसार बनाते थे। क्रान्तिवृत्त के २७ या २८ नक्षत्र रूप विभाग उनको मालूम नहीं थे। इसलिए यह कहने का बिलकुल ही अवसर नहीं रह जाता कि भारतीयों ने क्रान्तिवृत्त का नक्षत्ररूप विभाग बैबिलियन लोगों से लिया होगा। अतएव यह मत सर्वथा त्याज्य है[1]।

[1] इस लेख में यह निर्णय नहीं हुआ कि इन बातों को प्रत्यक्ष देखकर लिखा गया है या होने वाली बातें लिखी हैं। भविष्य में होने वाली घटनाओं के ज्ञान के लिए ग्रह गणित का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान बैबिलियन लोगों में प्रचलित था या नहीं यह अब तक अनिर्णीत ही है।

इसी सम्बन्ध में लिखते हुए थीबो ने कहा है कि चीनी लोगों में मूल में २४ नक्षत्र थे। आगे जाकर सन् ११०० के आसपास उनकी संख्या २८ हुई। इस कथन का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। हिन्दू, चीनी और अरब नक्षत्र पद्धतियों में बहुत कुछ साम्य है, यह उपर्युक्त लेख में लिखते हुए थीबो ने कोई प्रमाण नहीं दिया है। परन्तु इस विषय में तारीख ५ सितम्बर १८९६ के एक निजी पत्र में उन्होंने मुझे लिखा है कि चीनी, अरब और हिन्दू नक्षत्र पद्धतियों में जो साम्य है उसकी समाधानकारक उपपत्ति अभी उनके विचार में नहीं आई है। यदि कोई दो मनुष्य, जिनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, चन्द्र मार्ग के नक्षत्रों को परिगणित करने लगें तो रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, ज्येष्ठा ये बड़े तारे सहज ही में दिखाई देंगे। अश्विनी इत्यादि उनसे छोटे तारे भी उसी प्रकार दोनों को दृग्गोचर होंगे। यह बात थीबो को भी मान्य है और सभी के मानने के योग्य है। परन्तु मृगशीर्ष, मूल, पूर्वोत्तर भाद्रपदा यह तीनों में समान हैं। पूर्वोत्तर फाल्गुनी हिन्दू और अरबों में समान हैं। आश्लेषा हिन्दू और

अब ग्रहगति और जातक के विषय में यूरोपियन विद्वानों के मतों का परीक्षण करना है। हम लोगों में से बहुतों को ऐसा विश्वास है कि यूरोपियनों का मत, चाहे उनकी योग्यता कुछ भी हो, वेद-वाक्यवत् मान्य है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते है कि हमारे कुछ विद्वान् भी इसी मत के है परन्तु जब तक इस बात का निर्णय नहीं होता कि मत देनेवालो का या स्वयं विचार करने वाले का कितना अधिकार है तब तक इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। बड़े बड़े विद्वानों के कथन पर दूसरे लोगों का स्वभावतः ही विश्वास होता है, इसलिए विद्वानों को बहुत समझ बूझकर अपना मत देना चाहिए। ज्योतिष के गणित-स्कन्ध के विषय में अपना अभिप्राय देने के लिए यह आवश्यक है कि उन विद्वानों को हमारे ज्योतिष का करण-भाग (Practical Astronomy) तथा उपपत्तिभाग (Theoretical Astronomy) अच्छी तरह अवगत हो और साथ ही साथ उन्हें एतद्विषयक यूरोपियन ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा ही व्यक्ति दोनों ओर के ग्रन्थों की तुलना करके यह कहने का अधिकारी होगा कि अमुक देश से अमुक देश ने यह बात सीखी है। वैसे ही जातक सम्बन्ध में मत प्रकट करने के पहले यह आवश्यक है कि उनको ऊपर लिखे हुए ज्ञान के साथ-साथ जातक-स्कन्ध के मूल तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त अपना मन्तव्य व्यक्त करते समय उनके पास पूरे साधनों का होना आवश्यक है। भारतीय ज्योतिष अध्ययन करने के साधन उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे है। इन साधनों की अधिकता या न्यूनता के अनुसार मत देने वाले का अधिकार अधिक या न्यून होगा। आज जो साधन उपलब्ध है वह दस वर्ष पूर्व उपलब्ध नहीं थे। गणित स्कन्ध के विषय में कोलब्रुक, ह्विटने, ई० बर्जेस और थीबो ने अपने विचार व्यक्त किये है। मुझे स्वयं ग्रीक ज्योतिष के विषय में बिलकुल ही जानकारी नहीं है। इसका ज्ञान मुझे इन्हीं लेखकों के लेखों से प्राप्त हुआ है। इसलिए इनके लेखों का साराश मैं अक्षरशः नीचे दे रहा हूँ।

चीनियों में समान है। इससे थीबो का यह विचार है कि इन तीनों का मूल एक ही है। परन्तु १०।१२ वर्ष तक या एक ही वर्ष में चन्द्र का नक्षत्रों में संक्रमण देखा जाय तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का नक्षत्र ज्ञान एक ही प्रकार का हो जाय तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। किंबहुना पक्षपात-विहीन सभी व्यक्तियों को इस बात पर विश्वास हो जायगा कि भारतीयों ने इन सत्ताईस नक्षत्रों की कल्पना स्वयं ही की होगी। १०।१२ वर्ष तक नक्षत्र चन्द्र समागम देखकर मुझे तो पूर्ण विश्वास हो गया है कि भारतीयों ने स्वयं ही नक्षत्र विभाग की कल्पना की है। चीनियों के सब नक्षत्र भारतीयों से नहीं मिलते इसलिए यह सम्भव है कि चीनियों ने अपनी नक्षत्र-पद्धति स्वतन्त्र रूप से स्थापित की हो।

टालमी के पूर्व ज्योतिपियो का ज्ञान इन विद्वानो को भी नही है। यह वात स्वय थीवो ने स्वीकार की है। कोलब्रुक ने अपना मन्तव्य १८०७ से १८१७ तक प्रकाशित किया है। वर्जेस तथा ह्विटने ने अपने विचार १८६० मे व्यक्त किये है और थीबो का लेख १८८९ मे प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो वाते आई है उनमें से बहुत सी वाते कोल्ब्रुक को मालूम नही थी। वर्जेस और ह्विटने के समय मे भी उसमे की अधिकाश सामग्री उनको उपलब्ध नही थी। थीबो को उनमे से अधिकाश ग्रन्थ प्राप्त हुए थे पर कुछ नही मिले। परन्तु यदि साधनो के न्यूनाधिक्य का विचार छोड दिया जाय तो कहना पडेगा कि उपर्युक्त चारो विद्वान् अपना अपना मत व्यक्त करने के पूर्ण अधिकारी थे, चाहे उनके मत हमारे प्रतिकूल ही क्यो न हो। वर्जेस और ह्विटने को जो सामग्री मिली थी वह एक होने पर भी उनकी राय अलग-अलग है। बेटली के ग्रन्थ मे ज्योतिष शास्त्र मूलत किसका था इस विपय पर विशेष विचार नही किया गया है। डा० कर्न ने वृहत्सहिता के उपोद्घात मे (सन् १८६५ में) तथा जेम्स बर्जेस (James Burgess) ने सन् १८७३ मे इस विपय पर अपने विचार प्रकट किये है। इन दोनो का मत है कि गणित और जातक ये दोनो हिन्दुओ ने ग्रीको से लिये है। परन्तु इस विषय पर विचारपूर्वक स्वतन्त्र लेख न लिखने के कारण इनका विवेचन पूर्ण और सप्रमाण नही माना जा सकता। इसलिए इनके मतो का परीक्षण यहा नही किया जायगा। प्रसंगवश इसका कुछ विचार मै आगे करूँगा। इन विद्वानो को छोडकर और किसी यूरोपियन विद्वान् का अग्रेजी मे लिखा हुआ लेख मुझे देखने को नही मिला। किसी भारतीय विद्वान् का लेख भी इस विषय पर प्राप्त नही हुआ। आगे जो विचार किया जा रहा है उसमें भारतीयो के ज्योतिष के विषय मे कुछ नयी बाते मालूम होगी। कोलब्रुक[1] ने अपने विवेचन मे गणित और जातक इन दोनो विपयो का विचार किया है।

[1] हेनरी टामस कोलब्रुक का जन्म सन् १७६५ में हुआ था। वह भारतवर्ष में सन् १७८२ में आया। सन् १९०१ में वह कलकत्ते के सदर दीवानी अदालत का जज नियुक्त हुआ। उसने सस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें क्रय करने में एक लाख रुपये खर्च किये थे। उसके लेख Asiatic Researches Vol 9 (1807) Vol 12 (1816) में और पाटीगणित तथा बीजगणित के अनुवाद सन् १८१७ में प्रकाशित हुए थे। उनका एक साथ संकलन करके वे सब सन् १८७२ में Miscellaneous Essays by Colebrooke Vol. 11 में छपा दिये गये है। ऊपर जो उद्धरण दिये गये है वे सब इसी ग्रन्थ से लिये गये है और जो पृष्ठसख्या दी गई है वह इसी पुस्तक की है।

कोलब्रुक का मत

इसी प्रकार अरब ज्योतिष के विषय मे उसने अपने विचार लिखे है। एक समय कई लोगो की ऐसी धारणा थी कि हिन्दुओ ने अरब लोगो से ज्योतिष सीखा। परन्तु अब इस विषय मे जो सामग्री उपलब्ध हुई है उससे स्पष्ट हो गया है कि अरब लोगो को ही हिन्दुओ से यह ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस बात मे अब कोई सशय नही रह गया है। ताजिक मुसलमानो के साथ इस देश मे आया यह हम पहले ही बता चुके है। कोलब्रुक ने (सन् १८०७ में) लिखा है कि "मुझे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दुओ मे प्रचलित क्रातिवृत्त की द्वादश विभाग वाली पद्धति अरबो ने कुछ हेर फेर कर ग्रहण कर ली थी (पृ० ३२३)। पृ० ३४४ मे वह लिखता है कि हिन्दूलोग क्रातिवृत्त के बारह भाग करते है। उनका आरम्भ स्थान ग्रीक लोगो के आरम्भ स्थान से कुछ अश पच्छिम की ओर है। यह विभागपद्धति हिन्दुओ को ग्रीक पद्धति के अनुसार सूझी होगी, यह बात बिलकुल असम्भव नही मालूम होती। यह बात यदि सच भी हो तब भी हिन्दुओ ने ग्रीक पद्धति को पूर्ण रूप से अविकल वैसे का वैसा ग्रहण कर लिया होगा, ऐसा नही कहा जा सकता। उन्होने अपने प्राचीन सत्ताईस नक्षत्रविभाग के अनुसार उसका मेल बैठा दिया है।" "गोल यत्र की कल्पना या तो हिन्दुओं ने ग्रीक लोगो से सीखी या ग्रीक लोगो ने हिन्दुओ से ली। यदि हिन्दुओ ने ग्रीक लोगो से ली भी हो तो भी उन्होने टालमी की नकल नही की है। दोनो की रचना मे बडा अतर है।" "अलमजेस्ट का अरबी अनुवाद सन् ८२७ में अलहसन बिन युसुफ ने पहले पहल किया। दूसरे अनुवाद इसके पश्चात् किये गये है।" मिस्री तथा बैबिलोनियन लोगो के समान हिन्दू ज्योतिषी भी राशि के तीन विभाग करते है। इसी को द्रेष्काण कहते है, द्रेष्काण पद्धति खाल्डियन, मिस्त्रियो और पर्शियन लोगो की एक समान है। हिन्दुओ की ठीक वैसी नही है, कुछ भिन्न है। "हिन्दुओ ने द्रेष्काण पद्धति विदेशियो से ली है, यह बात नि सशय मालूम होती है।" यह कल्पना मिस्र के राजा नेकेपसो की है ऐसा फरमिकुस कहता है। सेलस (Psellus) ने तेउसर नामक बैबिलोनी ग्रन्थकार का एतद्विषयक वचन उद्धृत किया है। उस ग्रन्थकार का उल्लेख पोरफिरियस ने भी किया है। द्रेष्काण शब्द मूलत सस्कृत का नही मालूम पडता। इससे यह शका होती है कि हिन्दुओ का फल ज्योतिष विदेशियो से लिया गया हो। कुण्डली देखकर फल बताने की पद्धति हिन्दुओ मे बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इसे हम लोगो ने मिस्र, खाल्डिया अथवा कदाचित् ग्रीक लोगो से लिया हो।' यदि यह बात सच हो

' फल ज्योतिष हिन्दुओ ने ग्रीक लोगों से लिया, यह कोलब्रुक ने सन् १८१७ में एक बार फिर कहा है।

तो ज्योतिष गणित का दिग्दर्शन भी हिन्दुओ को उसी समय मिला होगा। हिन्दुओ का ज्योतिषगणित फल-ज्योतिष के लिए ही है। परन्तु फलज्योतिष का दिग्दर्शन हो जाने पर उसको पक्वदशा मे लाने का श्रेय हिन्दुओ को मिलना चाहिए। यवनाचार्य के उल्लेख मात्र से कोई निर्णय नही हो सकता। उसके ग्रन्थ से लिये हुए सब आधारो से ग्रीक ग्रन्थो की तुलना कर किस ग्रन्थ का उसने आधार लिया था यह ढूँढ निकालना आवश्यक है। ग्रह समान परन्तु विलोम गति से नीचोच्च अधिवृत्त मे घूमते है। उस अधिवृत्त के मध्यस्थित वृत्ताकार कक्षा की परिधि पर वह मध्यम गति से घूमते है।[1] पाच ग्रहो की अनियमित गति की उपपत्ति हिन्दू ज्योतिषी इस प्रकार करते हैं —

केन्द्रच्युत वृत्त के परिधि पर जिसका मध्य है ऐसे अधिवृत्त मे अनुलोम गति से ग्रह घूमते है। (बुध शुक्र की उस केन्द्रच्युतवृत्त मे प्रदक्षिणा सूर्य के प्रदक्षिणा के समान काल मे होती है, इसलिए अधिवृत्त की प्रदक्षिणा उसकी कक्षा की वास्तविक प्रदक्षिणा है। बहिर्वर्ती तीन ग्रहो की अधिवृत्त की प्रदक्षिणा सूर्य की प्रदक्षिणा के समान काल मे होती है। और केन्द्रच्युतवृत्त की प्रदक्षिणा वस्तुत ग्रहो की वास्तविक प्रदक्षिणा है।) हिन्दू ज्योतिष और टालमी की पद्धति मे इतना साम्य है कि अपोलोनियस द्वारा कल्पित और हिपार्कस द्वारा उपयुक्त केन्द्रच्युत कक्षा का स्मरण पाठको को हुए बिना नही रह सकता। तथापि पञ्च ग्रहो की गति स्पष्ट करने के लिए टालमी ने केन्द्रच्युत कक्षा से द्विगुणित जिमकी कक्षा है ऐसे वृत्त की जो कल्पना की है तथा चन्द्र के च्युतिमस्कार को निकालने के लिए केन्द्रच्युतवृत्त के मध्य के वृत्त के अधिवृत्त की जो कल्पना उसने की है यह दोनो बाते हिन्दू पद्धति मे नही पायी जाती। वैसे ही बुध गति में दृष्ट अन्तर निकालने के लिए केन्द्रच्युत के केन्द्रवृत्त की कल्पना (circle of anamoly) हिन्दू ज्योतिष मे नही पायी जाती है यह ध्यान मे आये बिना नही रहता। ग्रहो के अधिवृत्त (मन्दनीचोच्च वृत्त) और केन्द्रच्युत अधिवृत्त (शीघ्र नीचोच्चवृत्त) को भारतीय ज्योतिषियो ने चपटा माना है। आर्यभट (प्रथम) और सूर्य सिद्धान्तकार ने इन अधिवृत्तो को चपटा माना है। इसमे गुरु और शनि के वास्तव अधिवृत्त के लघ्वक्ष शीघ्रोच्च रेखा मे अर्थात् मध्यच्युति रेखा मे माने है (?)। ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने केवल मगल और शुक्र के अधिवृत्तो को चपटा माना है। केन्द्रच्युति-वृत्त और अधिवृत्त (नीचोच्च वृत्तो) इत्यादि के विषय में भारतीय तथा ग्रीक कल्पनाओ में इतना साम्य है कि यह साम्य काकतालीय न्याय से हो गया है, यह कल्पना क्लिष्ट

[1] Epicycles को कोई-कोई प्रतिवृत्त कहते है। परन्तु प्रतिवृत्त का कुछ भिन्न अर्थ है। इसलिए यहाँ अधिवृत्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

मालूम पडती है । भारतीय ज्योतिष में यवनाचार्य और रोमकसिद्धान्त का उल्लेख होने के कारण यदि कोई कल्पना करे कि भारतीयो ने ग्रीक लोगो से ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त कर अपने मूल अपूर्ण ज्ञान को बढाया तो मेरे विचार की दिशा के यह विरुद्ध नही है। दूसरे एक लेख में कोलब्रुक कहता है कि "हिन्दुओ के प्रतिवृत्त और नीचोच्चवृत्त पद्धति से टालमी और कदाचित् हिपार्कस की पद्धति में यद्यपि सर्वथा ऐक्य नही है तथापि साम्य अवश्य है, इसलिए इसमें सशय नही रहता कि हिन्दुओ ने ग्रीक लोगो से कुछ बातें अवश्य ली होगी।"

व्हिटने का मत

अब मैं व्हिटने और बर्जेस के मन्तव्यो का साराश देता हू। प्रथम व्हिटने ने सूर्य-सिद्धान्त के अग्रेजी अनुवाद के स्पष्टाधिकार में हिन्दू और ग्रीक ज्योतिष की ग्रह स्पष्ट-गति-स्थिति प्रमेय की जो तुलना की है वह देता हू। वह कहता है—"प्रथमत. दोनो पद्धतियो को स्थूलत देखने से दोनो की मूल विचार धारा एक ही है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । ग्रहस्पष्टगति की अनियतता के जो दो कारण हैं उन्हें दोनो ने ढूंढ निकालने में सफलता प्राप्त की है। उस अनियतता के स्वरूप और उसके गणित करने की रीति दोनो की एक है। ग्रहो की दीर्घवृत्त कक्षा के स्थान पर दोनो ने प्रतिवृत्तो की कल्पना की है। सूर्य की जितनी बडी कक्षा है और सूर्य की जो मध्यमगति है उतनी ही बुध शुक्र की दोनो ने मानी है। आधुनिक पद्धति के अनुसार बुध शुक्र की जो वास्तविक कक्षा हैं उनके शीघ्र दोनो ने माने है और दोनो ने उन शीघ्र कक्षाओ के मध्य मे स्पष्ट सूर्य को न मान कर मध्यम सूर्य को माना है। दोनो ने मध्य सूर्य के लिए कम्पा-च्युति सस्कार की योजना की है। दोनो ने बहिर्वर्ती ग्रहो के मध्य मे सूर्य को न मान कर पृथ्वी मानी है। उन ग्रहो के लिए, पृथ्वी कक्षा के समान, प्रतिवृत्त की कल्पना की है। यह प्रतिवृत्त दीर्घवृत्त न होकर वृत्ताकार ही है। दोनो ने यहा भी प्रतिवृत्त का मध्य स्पष्ट सूर्य से न निकाल कर मध्यमसूर्य से निकाला है।. दोनो पद्धतियो में भेद बहुत ही कम है। टालमी ने जो चन्द्र के च्युतिसस्कार को ढूंढ निकाला था उसका ज्ञान भारतीयो को नही था। इन ग्रहो के स्पष्टीकरण में जो दूसरे एक नये प्रकार की कल्पना की थी, वह भी हिन्दुओ को मालूम नही थी। टालमी पूरा मन्दफलसस्कार एक बार देकर फिर शीघ्रफल सस्कार भी एक बार ही दे देता है। हिन्दू दोनो सस्कार दो दो बार देते है। हिन्दुओ की मद शीघ्र परिधिया ओज-युग्म पद में भिन्न-भिन्न है, वैसा ग्रीक लोगो में नही है।"

अपने अन्तिम मत में वह कहता है—"सूर्यसिद्धान्त में जिस बीज सस्कार

की कल्पना की है उसमे मुसलमानी ज्योतिष का कुछ न कुछ अश अवश्य होगा, क्योकि इस प्रकार के फेरफार करने के लिए हिन्दुओ के पास वेध करने के साधन थे या नही और यदि थे तो भी उनसे इष्ट अनुमान निकालने का ज्ञान उन्हे था या नही, इस बात का निर्णय अब तक नही हो सका है[1]। . हिन्दू पद्धति नैसर्गिक नही है पूर्णत कृत्रिम है। स्वच्छन्द रीति से गृहीत बातो से किंबहुना सृष्टि में जिनका बिलकुल आधार नही है ऐसी असम्बद्ध बातो (Abrsurdities) से वह भरी हुई है।" ऐसी कल्पनाएँ चाहे जो कर सकता है। (१) युग पद्धति, (२) कलियुगारम्भ के समय सब ग्रह एकत्र थे या परस्पर निकट थे और उस समय से गणित का आरम्भ, (३) काल के व्यवधान से सब ग्रह एकत्र आयेगे यह कल्पना कर युग-भगण सख्या मानना, (४) जीटापीशियम को आरम्भ स्थान मानना, (५) मन्दोच्च और पातो की भगण सख्या उपवृत्त (परिधि) ओजयुग्म पद मे भिन्न-भिन्न होना और (६) ग्रह कक्षा के मान इस बात के उदाहरण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि ज्योति शास्त्र एक ही पुरुष से उत्पन्न न हुआ हो तो एक ही काल मे एक ही वर्ग के लोगो से इसकी उत्पत्ति हुई है। उस पुरुष को या उस वर्ग को अपने स्वभाव विशेष का प्रभाव सारे राष्ट्र पर लादने का सामर्थ्य था। इसीलिए सर्व सिद्धान्तो में समान, यह पद्धति कहा, कब और किसके प्रभाव से उत्पन्न हुई इसके निर्णय करने का कोई महत्त्व नही रह जाता।[2] हमारा मत है कि ईसवी सवत् के आरम्भ होने के बाद थोडे ही दिनो में हिन्दू ज्योति शास्त्र ग्रीकशास्त्र से उत्पन्न हुआ और ईसवी सन् की पाचवी अथवा छठी शताब्दी मे यह पूर्णता को प्राप्त हुआ। इस बात की पुष्टि मे ये प्रमाण दिये जाते है— हिन्दुओ का स्वभाव और विचार करने का प्रकार जो हमको मालूम है उससे जिसमें सत्य की मात्रा विशेष है ऐसे ज्योति शास्त्र की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से उन लोगो में हुई होगी यह अपेक्षा करना ही निर्मूल मालूम होता है। अवलोकन करना (Observation), वस्तुभूत बातो (Facts) का सग्रह करना, उनको लिख रखना और उन पर पूर्ण विचार करके उनमे से अनुमान निकालना, इन बातो की ओर उनका ध्यान ही नही होता और इन बातो की पात्रता ही उनमे नही है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।

[1] व्हिटने के कहने का यह आशय मालूम होता है कि हिन्दुओ के पास वेध लेने के साधन नहीं थे। लेकिन इस विषय में पुष्ट प्रमाण न होने पर भी जब वह यह कहता है कि हिन्दुओ ने बीज सस्कार मुसलमानो से लिया है तब उसकी विचार-सरणी का भाव स्पष्ट हो जाता है।

[2] सूर्यसिद्धान्त के कालनिर्णय के विषय में यह कहा गया है।

. . . . . . मानस शास्त्र, व्याकरण और कदाचित् अङ्कगणित और बीज गणित में अवश्य उनको सफलता प्राप्त हुई है। . प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों मे तारो का उल्लेख बहुत कम आता है। ग्रहों का उल्लेख अर्वाचीन है, इसलिए यह स्पष्ट होता है कि खगोल-स्थित पिण्डो का अवलोकन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति थी ही नही। क्रांति-वृत्त के नियमित विभाग दूसरो से प्राप्त होने पर चन्द्र सूर्य की गति तथा सौरचान्द्र मासों का सामञ्जस्य स्थापन करने की ओर उनका ध्यान अवश्य गया था। परन्तु उससे अर्वाचीन काल में सूर्य मण्डल के समस्त ग्रहो के पूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ जो सहसा उनमें दृष्टिगत होते है वे उन्हें कहा से प्राप्त हुए यह शङ्का मन में सहज ही उत्पन्न होती है। "सूक्ष्मरीति से परीक्षण करने पर यह पद्धति मूल में हिन्दुओ की थी यह बात मन में आती ही नही। एकमात्र जिसमें सत्य सिद्धान्त है और दूसरे प्रकरणो में जिनमें असम्भवनीय पौराणिक बातें भरी पडी है ऐसी परस्पर विरुद्ध बातो का संग्रह एक साथ कैसे हुआ? शास्त्रीय खोजो से संस्कृत मन मे सत्य के साथ असम्भव बातों का प्रवेश कैसे हो सकता है? हिन्दू पद्धति यदि मूलत उनकी ही थी तो बहुत दिन तक लिये गये वेधो के आधार पर स्थापित हुई होगी और यदि यह बात ठीक है तो वेधों के आधारो को बिलकुल न दिखाते हुए यह कहना कि आगे उसमे सुधार हो ही नहीं सकता और उनका यह शास्त्र सनातन है और सत्य है यह कहां तक युक्तिसङ्गत है?" हिन्दू ग्रन्थो में वेध लेने का एक भी उल्लेख नही है। किसी स्थानविशेष के अक्षांश और देशान्तर लेने की छोटी छोटी बातें छोडकर वेध लेने का प्रकार कही दिया हुआ नही है। ग्रन्थ ही ज्ञान के आधार है, वेधो की कोई आवश्यकता नही, इसी प्रकार की विचार सरणी से ये ग्रन्थ लिखे हुए है। यह सम्भव है कि ग्रन्थों में जो पद्धति मिलती है उस पद्धति का मूल, जिस पीढी में वह प्रचलित हुई थी उस पीढी से भिन्न किसी प्राचीन पीढी से आया हो अथवा वह किसी भिन्न राष्ट्र से आया हो, यही दो बाते सम्भव मालूम होती है। उन मूलशोधको का अवलोकन करने और वेध लेने का अभ्यास तथा इन पर आधारित अनुमान करने की बुद्धि और उनको अपने ग्रन्थो में लिख रखने की प्रवृत्ति भारतीय ग्रन्थकारो में थी ही नहीं। यदि रही भी हो तो वह विस्मृत हो गई होगी। जिनके उद्योग के फल को उनके अर्वाचीन वंशजो ने अपनी पुस्तको में ग्रथित किया वह लोग भारतवर्ष में हुए होंगे ऐसा उनके ग्रन्थो से तो मालूम नही पड़ता। इससे यही सम्भव प्रतीत होता है कि यह ज्ञान दूसरे देशो से ही यहा आया हो। ह्विटने के कथनानुसार भारतीय ग्रन्थो में युग पद्धति इत्यादि असम्भव बाते भरी पडी है। परन्तु हम लोगो में परम्परा से युगपद्धति इतनी बद्ध-मूल हो गयी थी कि उनको छोड देने से ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार हम लोगो को रोमक सिद्धान्त के समान वेदबाह्य कहलाने का दोष

लगता। अतएव यह वात हमारे ज्योतिपी न कर सके। यूरोपियन दृष्टि से यह एक दोष हो सकता है परन्तु हमारी दृष्टि मे यह दोप नही हैं। उल्टे हमारे ज्योतिषियो ने युगपद्धति से इसका मेल वैठा दिया, इसी से उनका चातुर्य प्रकट होता है। पञ्चसिद्धान्तिका से आरम्भ करके राज-मृगाङ्क ग्रन्थ तक मैंने ज्योतिप का इतिहास दिया है। उस पर से तथा अयनचलन के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वेधो से फेरफार करने की जो आवश्यकता प्रतीत हुई वे सव इन ग्रन्थो मे समय समय पर किये गये थे। इतना ही नही आगे भी आवश्यकतानुसार उनके वाद के ग्रन्थो मे किये गये। आगे चलकर व्हिटने कहता है कि "अव हम इस वात का विचार करेंगे कि हिन्दुओ ने अपना शास्त्र ग्रीक लोगो से सीखा या नही। प्रतिवृत्त पद्धति दोनो मे समान है। यद्यपि यह वात सच है कि प्रतिवृत्त कुछ अशो मे स्वाभाविक है, तथापि इस पद्धति मे वहुत सा भाग इतना कृत्रिम और मन -कल्पित है कि इन दोनो देशो ने स्वतन्त्र रूप से इसे ढूंढ निकाला हो यह वात असम्भव-सी मालूम पडती है। ग्रीक लोगो ने इस पद्धति का आविष्कार किया और धीरे धीरे उसमे सुधार किया और टालमी ने पूर्णरूप से उसको ग्रथित किया ऐसा मानने के प्रमाण मिलते है। मिस्री और खाल्डियन लोगो से क्या पाया वह ग्रीक स्पष्टत स्वीकार करते है। प्रतिवृत्त कल्पना का मूल और उसके आधार-भूत वेध, उनको सिद्धान्तरूप देने की सयोगीकरण और पृथक्करण पद्धति, यह सव ग्रीक ग्रन्थो मे मिलती है। हिन्दू पद्धति को देखा जाय तो उसके लिए वेध इत्यादि किसी वस्तु की आवश्यकता नही। वह साक्षात् ईश्वर से अपने पूर्णरूप मे भारतीयो को मिली। दोनो मे गति इत्यादि की सख्या में काफी मेल है। इस वात को मै विशेप महत्त्व नही देता क्योकि एक ही तत्त्व के अन्वेपण में यदि दोनो मे परस्पर या प्रकृति मे मेल वैठ जाय तो यह असम्भव नही है।"

प्रतिवृत्त पद्धति दोनोकी स्वतन्त्र नहीहै और दोनो मे सम्वन्ध होना सम्भव मालूम पडता है। परन्तु यद्यपि दोनो की सख्याए एक नही है और दोनो के प्रयत्न की दिशा भी अलग अलग है तथापि व्हिटने इस स्पष्ट वात को स्वीकार नही करता। परन्तु जव वह कहता है कि ये दोनो राष्ट्र अपनी अपनी खोज मे अलग अलग प्रवृत्त हुए तव यह प्राय मान लेना ही है कि हिन्दुओ ने अपने अनुसन्धान स्वतन्त्र रूप से किये थे। ये शोध दो चार दिन मे समाप्त कर तुरन्त ग्रन्थो में लिख दिये गये, यह वात कोई नही कह सकता। हमारे प्राचीन वेध लिखकर क्यो नही रखे गये इसके कारण पहले वताये गये है। आगे वह लिखता है—"क्रान्तिवृत्त के अशादि विभाग दोनो मे एक ही है। परन्तु ग्रीक विभाग तारकापुञ्जो के अनुसार किये गये है और हिन्दुओ के विभाग मे उन तारकाओ से कुछ सम्वन्ध नही है। आरम्भ-स्थान से तीस अशो तक को वह मेप कहते है। अत

उन्होंने उसको दूसरो से लिया और उनका उद्देश्य भूल गये अथवा उनकी ओर ध्यान नही दिया।" मेषादि नामो के मूल कारण की ओर ध्यान न देकर इन संज्ञाओं को उन्होंने विभागात्मक बना लिया, इसी बात को मैं विशेष महत्त्व देता हू। केवल मेषादि सज्ञाओ का कोई महत्त्व नही हैं। इसलिए यदि उन्होंने इसे दूसरो से लिया हो तो हिपार्कस से पूर्व खाल्डियन लोगो से लिया, यह मै आगे जाकर सिद्ध करूगा। व्हिट्नें फिर आगे लिखता है—"लिप्ता शब्द ग्रीक है। इसी तरह वार की कल्पना हिन्दुओ की नही। वह जिस पद्धति से निकली है उसके मूल मे होरा शब्द है, जो ग्रीक भाषा का है। ग्रह-स्पष्टीकरण में मुख्य उपकरण केन्द्र शब्द है जो ग्रीक है। तीनों शब्द किसी कोने में छिपे पडे नही है, वे हिन्दू ज्योतिःशास्त्र रूपी किले के मध्य भाग में स्थित हैं। हिन्दू पद्धति वास्तव मे ग्रीक लोगो से ली गयी है इस विषय में इन प्रमाणों का तथा अन्य भी प्रमाणो का खण्डन नही हो सकता। इसके सिवाय हिन्दू ग्रन्थो में यवन, यवनाचार्य इत्यादि का वार वार उल्लेख होने के कारण और कुछ सिद्धान्त रोमक यानी रोम नगर मे ईश्वर से प्राप्त हुए इस आशय की जो दन्तकथाएँ मिलती है उनसे उपर्युक्त बात की पुष्टि हो जाती है। इनसे सूक्ष्म प्रमाण मैं नही देता।" वारो का विचार पहले आ चुका है। होरा तथा वार यद्यपि हमारे नही है तब भी उनका ग्रहस्पष्ट-गति-ज्ञान से कोई सम्बन्ध नही है। केन्द्र लिप्ता आदि शब्दो का विचार आगे किया जायगा। व्हिट्नें फिर कहता है—"अब हम विचार करेंगे कि ग्रीस से हिन्दुस्तान में ग्रीक ज्योतिषशास्त्र कब और कैसे आया। इस विषय में केवल अन्दाज किया जा सकता है। ईसवी सन् के आरम्भ में रोम के व्यापार के बन्दर अलेक्जेंड्रिया मे हिन्दुस्तान के पश्चिमी किनारे का व्यापार चलता था। इस व्यापार के कारण ज्योतिःशास्त्र हिन्दुस्तान में आया और उज्जयिनी उसका केन्द्र बना। सीरिया, पर्शिया या वैक्ट्रिया के मार्ग से यदि यह आया होता तो उज्जयिनी उसका केन्द्र न बना होता और हिन्दू ग्रन्थों में रोम का इतना महत्त्व न होता। टालमी ने ग्रीक ज्योतिष मे जो सुधार किये थे वे हिन्दू ज्योतिष में नही है। इस पर से और सिटाक्सिस में दी हुई गत्यादि सख्या हिन्दू ग्रन्थो मे दी हुई सख्या से नही मिलती इसलिए यह मानना पडता है कि टालमी से पूर्व ही ग्रीक ज्योतिष का ज्ञान हिन्दुओ को प्राप्त हुआ। जो हिन्दू भूमध्य सागर में जाते थे उनके द्वारा, या ग्रीक विद्वान जो भारत का पर्यटन करते थे उनके द्वारा अथवा, ग्रीक ग्रन्थो के अनुवादो के द्वारा या दूसरी किसी रीति से वह ज्ञान हिन्दुस्तान को प्राप्त हुआ होगा। निश्चित रूप से अब यह निर्णय करना कठिन है। वह ज्ञान उन्हें ईसवी सन् के आरम्भ की किसी शताब्दी में आया हो परन्तु पाचवी या छठी शताब्दी मे जब हिन्दुओ का आरम्भ-स्थान सपात पर था

उसी समय के आसपास वह ज्ञान वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ। ऐसा होने के लिए पर्याप्त समय लगा होगा। इस बीच जो महत्त्व के फेर फार हुए उसमें ज्यार्धो का उपयोग बहुत महत्त्व का है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि रेखागणित के स्थान पर अङ्कगणित का उपयोग होने लगा। हिन्दू पद्धति मे रेखागणित का उपयोग बहुत थोडा है। समकोणत्रिभुज के कर्ण का वर्ग दूसरी भुजाओ के वर्ग के योग के तुल्य है, सरूप समकोण त्रिभुजो की तुलना और त्रैराशिक यही तीन बाते सूर्य सिद्धान्त मे मिलती हैं। दूसरे सिद्धान्तो मे अङ्कगणित और बीजगणित का अधिक ज्ञान मिलता है परन्तु इस बात का विवेचन यहा नही किया जायगा।" उपर्युक्त मन्तव्य मे व्हिटने ने हमारी जो थोडी स्तुति की है उसे हम अपना सौभाग्य समझते हैं। परन्तु व्हिटने की पक्षपात-बुद्धि का एक उदाहरण यहा दिये विना मै नही रह सकता। टालमी के ग्रन्थ से हिन्दुओ ने कुछ नही लिया, यह बार बार कहते हुए भी टालमी अथवा हिपार्कस की ज्या की कल्पना से हिन्दुओ को ज्यार्धो की कल्पना सूझी होगी इस निराधार मत का उल्लेख करने से वह अपने को वंचित न रख सका। व्हिटने की साधारण विचारधारा के दूसरे उदाहरण उच्चा-पात के विवेचन मे पहिले ही दिखा चुका हूँ।

बर्जेस का मत

अब रेवरेंड बर्जेस का मत दिया जाता है। वह हिन्दुस्तान में बहुत दिनो तक रहा। उसको हमारे आचार-विचारो का अच्छा ज्ञान था। व्हिटने अमेरिका में रहता था, (देखो, सूर्यसिद्धान्त अनुवाद पृ० २८४) उसे इस विषय में पूर्ण अज्ञान था, इसलिए व्हिटने की अपेक्षा बर्जेस को इस विषय मे अपना मत देने का अधिक अधिकार था, यह मानना पडता है। वह कहता है "हिन्दू ज्योतिष पर मैने एक विस्तृत लेख लिखा था लेकिन उसके लिए यहाँ स्थान नही है परन्तु व्हिटने ने अपनी टिप्पणियो मे जो मत दिये हैं उनसे मेरे मत भिन्न हैं, इसलिए सक्षेप में मै अपने विचार देता हूँ। व्हिटने का कहना है कि हिन्दुओ ने अपने ज्योतिष गणित और जातक मूल रूप मे ग्रीको से लिये और उनका कुछ अश अरेबियन, खाल्डियन और चीनियो से लिया। मेरी समझ मे वह हिन्दुओ के साथ न्याय नही कर रहा है और वह उचित मात्रा से अधिक ग्रीक लोगो को मान दे रहा है। यह सच है कि ग्रीक लोगो ने इस शास्त्र में आगे जाकर बहुत कुछ सुधार किये थे तथापि इसके मूल तत्त्व और उसमें के बहुत से सुधार हिन्दुओ के थे और उन्ही से ग्रीको ने यह शास्त्र लिया, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।" इस विषय पर उसने जो प्रमाण दिये हैं उनका विवेचन नीचे किया जाता

है (१) क्रातिवृत्त के २७ या २८ विभाग थोडे भेद से हिन्दू, अरव और चीनियो में मिलते हैं। (२) क्रान्तिवृत्त के १२ विभाग और उनके नाम दोनो में समानार्थक हैं। यह सच है कि विभाग-कल्पना तथा उनके नाम मूलत एक ही थे। (३) ग्रहो की गति और स्पष्ट स्थिति निकालने की प्रतिवृत्त की प्रक्रिया दोनो की समान है। कम से कम उनमे इतना साम्य है कि इन दोनो राष्ट्रो ने इनको पृथक् पृथक् ढूंढ निकाला होगा, यह सम्भव मालूम नही होता। (४) हिन्दू, अरव और ग्रीक जातक पद्धति में साम्य है वल्कि कई भागो मे वे एक सी है, इसलिए उनका मूल एक ही होना चाहिए। (५) प्राचीन लोगो को ज्ञात पाच ग्रह और उनके नाम और उन पर आधारित वार पद्धति समान हैं। इन पाचो वातो के विपय मे मेरा मत यह है—"पहिली वात तो यह है कि ऊपर की पाचो वातो के मूल कल्पक या शोधक होने के हिन्दुओ के पक्ष में जितने प्रमाण हैं उनमे और उससे अच्छे किसी दूसरे राष्ट्र के पक्ष मे नही हैं।

दूसरी वात यह है कि पाचो में प्राय सभी के सम्वन्ध में मूलकल्पना हिन्दुओ की थी। इसके अनुकूल प्रमाण इतने पुष्ट हैं कि उनको मानना ही पडता है और विशेप महत्त्व के स्थानो पर तो वे इतने दृढ हैं कि उनको कोई काट नही सकता।"

अव मैं सक्षेप मे उपर्युक्त वातो का विवेचन करता हूँ। (१) क्रातिवृत्त के सत्ताईस या अट्ठाईस विभाग अपने विस्तृत रूप से हिन्दू लोगो में अति प्राचीन काल से आ रहे हैं। दूसरे राष्ट्रो मे इसका प्रमाण नही के वरावर है या अत्यल्प है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद्धति शुद्ध हिन्दुओ की है। वायो इत्यादि लोगो ने इसके विपक्ष मे जो मत दिये हैं उनसे मेरा मत नही वदलता। (२) व्हिटने के ध्यान में यह वात नही आयी कि क्रातिवृत्त के १२ विभाग, उनके उपयोग और उनके नाम दूसरे देशो में जितने प्राचीन काल से हैं उतने ही प्राचीन काल मे वे भारतवर्ष में विद्यमान थे, ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस वात के भी प्रमाण हैं कि दूसरे देशो मे जितने प्राचीन काल मे द्वादश विभाग प्रचलित थे उनसे कई शताव्दी पहले वे हिन्दुस्तान में प्रचलित थे, पर ये प्रमाण उतने पुष्ट नही हैं। इस विपय में ऐडलर और लिप्सियस ने जो प्रमाण दिये हैं उनके विपय में हुवोल्ट का मत मैं यहा देता हूँ। ऐडलर कहता है कि "प्राच्य के लोगो मे द्वादश विभाग के नाम थे परन्तु तारका पुञ्ज नही थे।" लिप्सियस कहता है कि तारका पुञ्ज जिनके कारण द्वादश विभागो का नामकरण किया गया था ग्रीक लोगो ने गाल्डियन लोगो मे लिये थे परन्तु प्राच्य शब्द मे यदि ऐडलर का अभिप्राय गाल्डियन इत्यादि किसी दूसरे राष्ट्र मे हो तो मालूम नही पर इस शब्द का सकेत यदि हिन्दुओ की ओर हो तो यह वात उनकी द्वादश विभाग पद्धति के कारण अधिक अनुकूल मालूम होता है। हुंबोल्ट का कहना है कि ग्रीक लोगो ने वारह विभाग और उनके

प्राप्त किया होगा। परन्तु विचार करने का विषय है कि टालमी और हिपार्कस के पहिले ग्रीको के पास क्या था? रविचन्द्र स्पष्टीकरण और पञ्चग्रह स्पष्टीकरण ये दो ज्योतिप में महत्त्व के विषय है। इनका ज्ञान हिपार्कस के पहिले पाश्चात्यो को था ही नही, यह सभी यूरोपियन ग्रन्थकार स्वीकार करते है। मन्द-फल-सस्कार-पूर्वक चन्द्रसूर्य-स्पष्टीकरण करने की प्रक्रिया रोमक सिद्धान्त के यहाँ आने के पूर्व रचित पुलिश सिद्धान्त मे दी हुई है। इस पर से यह स्पष्ट अवगत होता है कि वह हिपार्कस के पूर्व सिद्ध की गयी थी। अत यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि हमने ग्रीक लोगो से क्या लिया?

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्॥

इस श्लोक पर से यह परिणाम निकाला जाता है कि हम लोगो ने यवनो याने ग्रीक लोगो से ज्योतिषशास्त्र सीखा। परन्तु स्मरण रखने की बात है कि इस वचन का सम्बन्ध मुख्यत जातक से है, यह हम जातक विचार मे दिखलायेंगे। ब्रह्मगुप्त के लेखानुसार यवनो का कोई गणित ग्रन्थ अवश्य था परन्तु वह उत्पलोद्धृत पुलिश सिद्धान्त था, जो वराह के बाद शक ४२७ से ५५० तक कभी रचा गया होगा, यह हम पहले दिखा चुके है। हमारा ज्योतिषशास्त्र मूल सूर्यसिद्धान्त में वराह से पहिले ही उत्तमावस्था को प्राप्त हो गया था। परन्तु पञ्चसिद्धान्तिका में एक स्थान पर यवनपुरसे उज्जयिनी का देशान्तर दिया हुआ है। रोमक नगर मे म्लेच्छावतार का रूप लेकर मैं तुम्हें ज्योतिष के ज्ञान का उपदेश करूंगा, यह सूर्य ने मय से कहा है। इस आशय का एक श्लोक सूर्यसिद्धान्त में मिलता है—

वैसे ही—भूमि कक्षा द्वादशाशे लकाया. प्राक् च शाल्मले।
मयाय प्रथमप्रश्ने सौरवाक्यमिदम् भवेत्॥

शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त अ० १

यह वाक्य[1] शाकल्यब्रह्मसिद्धान्त मे है। आज तक किसी यूरोपियन के ध्यान में यह श्लोक आया हुआ नही मालूम होता, परन्तु इसका विचार निष्पक्षरूप से किया जाना चाहिए। पृथ्वी के द्वादशाश पर याने लका से ३० अश पर मय और सूर्य से सवाद हुआ था यह इससे सूचित होता है।

[1] यह वाक्य मुझे वें० बा० केतकर ने बतलाया। मुझे शाकल्य ब्रह्मसिद्धान्त की तीन प्रतियों में प्रथम अध्याय के १११ श्लोक तक का ही खण्ड मिला है परन्तु केतकर की प्रति में इसके आगे भी कुछ श्लोक हैं जिनमें उपर्युक्त श्लोक भी सम्मिलित है।

भारतीयो को ज्योतिप ज्ञान प्राप्त होने के लिए लंका से ३० अंश पर ऐसा कोई उपयुक्त स्थान नही है। अत. यह श्लोक विश्वसनीय नही माना जा सकता। परन्तु सूर्यसिद्धान्त की कथा को इस वाक्य से समर्थन प्राप्त होता है और यवनो से हमारे ज्योतिप गणित का कुछ सम्वन्व अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। दोनो की प्रतिवृत्तादि पद्धति कुछ अशो में समान हैं इसलिए इस अनुमान को आधार मिलता है। परन्तु हमने उनके कोई मान ग्रहण नही किये है, यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। अतएव पूर्ण विचार करने के बाद वर्जेस के कथनानुसार यही अनुमान करना पडता है कि दोनो राष्ट्रो को एक दूसरे से कुछ दिग्दर्शन अवश्य हुआ था और वह भी बहुत ही प्राचीन काल मे हुआ था (मेरे मत में हिपार्कस के पहिले) क्योकि अर्वाचीन काल में हिन्दुओ ने कुछ लिया यह हम यदि मान लें तो क्या लिया यह कहना कठिन है, क्योकि दोनो की सख्याएँ विल्कुल नही मिलती।

अतएव दिग्दर्शन किसको किससे हुआ इसका विचार करना है। केन्द्र सज्ञा वहुत महत्त्व की है। मन्दशीघ्रोच्च से ग्रहो का जो अन्तर होता है उसको केन्द्र कहते हैं। और तदनुसार मन्दशीघ्रफल उत्पन्न होते है। केन्द्र शव्द ग्रीक या दूसरी किसी भापा का होना चाहिए। वह सस्कृत का नही मालूम पडता। इससे यह प्रतीत होता है कि "केन्द्रानुसार ग्रहो की मध्यम स्थिति में अन्तर पडता है" यह तत्त्व यवनो से हमें प्राप्त हुआ। यह तत्त्व पहिले पहल पुलिश सिद्धान्त में दृष्टिगत होता है और जैसा कि हम वता चुके हैं यह सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थ के भारतवर्प में आने के पहिले रचित हो चुका था। प्रतिवृत्त-पद्धति और उस पर आधारित गणित का उपयोग, ग्रहों की मध्यम स्थिति का निर्णय करने के लिए हिपार्कस के पहिले किसी ने नही किया था, ऐसा कोलब्रुक इत्यादि विद्वानो के अभिमतो से स्पष्ट है। परन्तु कोलब्रुक का कहना है कि हिपार्कस के पहिले प्रतिवृत्त की कल्पना अपोलोनियस ने की थी। इसीलिए अपोलोनियस या दूसरे किसी कल्पक के द्वारा साक्षात या परंपरा से यह पद्धति भारत में आयी परन्तु उस समय वह अपूर्ण स्थिति मे थी। यही कारण है कि यद्यपि भारतीय तथा ग्रीक प्रतिवृत्त पद्धति में साम्य हैतथापि वैपम्य काफी है। पुलिशसिद्धान्त का यवन ज्योतिप से वस इतना ही सम्वन्ध है। पुलिश में भुजज्या का प्रयोग किया गया है इसे हम लोगो ने यवनो से नही लिया है क्योकि टालमी के ग्रन्थ में भी भुजज्या नहीं है। सारांश यह है कि यदि परकीयो से हम लोगो को कुछ मिला भी हो तो ग्रीक अथवा वैविलोनियन लोगो से हमें उपर्युक्त नियम का दिग्दर्शन मात्र हुआ था, दूसरा कुछ नही मिला। वेध प्राप्त बातो इत्यादि का कोई क्रमवद्ध ज्ञान हमें प्राप्त नही हुआ। जितना कि यूरोपियन लोग समझते हैं उतने हम परकीयो के मुखापेक्षी नही रहे है।

प्राचीन काल मे एक दूसरे से सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग मे कितनी अडचने थी इसका विचार व्हिटने इत्यादि किसी ने नही किया। वर्तमान काल मे हमारा और यूरोपियन लोगो का सम्बन्ध प्राय ३०० वर्ष से है। इसमे ७५ वर्ष से तो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है जिसका सहस्राश भी प्राचीन काल मे सम्भव नही था। इस अवधि में हम लोगो ने यूरोपियनो से कितना ज्योतिष सीखा है? पृथ्वी और दूसरे ग्रह सूर्य के चारो ओर घूमते है, इतना ही साधारण तत्त्व लोगो को अवगत होगा। परन्तु केवल वे लोग जिन्हे उच्चशिक्षा प्राप्त हुई है और जिन्होने ग्रहो की गति के विषय मे आधुनिक उपपत्तियो का सम्यक् अध्ययन किया है, इस तत्त्व को समझ सकते है। साधारण लोगो को इस विषय का कुछ भी ज्ञान नही। आधुनिक ज्योतिष के ग्रहस्पष्ट गत्युपपत्ति मे जितनी क्लिष्टता है उससे कही अधिक हमारे और ग्रीक गणित की उपपत्ति मे थी। जिन लोगो को उपपत्ति समझ मे आती भी हो उनमे कितने ग्रह-गणित करते है? यह सत्य है कि जो लोग उपपत्ति समझते है वे ग्रहगणित भी समझ सकते है और तदनुसार गणना भी कर सकते है। परन्तु इस काल मे भी यूरोपियन ग्रन्थो की सहायता से ज्योतिष गणना करने वाले दस पद्रह से अधिक विद्वान् हमारे देश मे नही है! आज तक यूरोपियन ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया ज्योतिष गणित का भारतीय भाषाओ मे केवल एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है और वह केरोपत नाना का है। यदि इस समय ऐसी अवस्था है तो प्राचीन काल मे जब ज्योतिषशास्त्र जाननेवाले विद्वानो से भेट होना प्राय असम्भव सा था और भेंट हो भी गयी तो भाषान्तररूपी अड-चनका उल्लघन करना तो सम्भाव्य बातो के परे था, तब कुछ स्थूल विषयो को छोड-कर एक दूसरे से शास्त्रीय सूचनामात्र मिलने के अतिरिक्त और क्या हो सकता था?

हमारा स्वतन्त्र प्रयत्न

रविचक्र ज्योतिष का विचार हमलोग वेदाङ्गज्योतिषकाल में अर्थात् ई० स० के १४०० वर्ष पूर्व करने लगे थे। बार्हस्पत्य द्वादश सवत्सरचक्र कश्यपादिको के वचनो मे है और वह नक्षत्रो पर आधारित है अत उनका ग्रीको से कोई सम्बन्ध नही। इनके अनुसार गुरु भगण मे सामान्यत. १२ वर्ष लगते है, यह बात हमे अति प्राचीन काल मे ही ज्ञात हो गयी थी। इसी प्रकार अन्य ग्रहो के विषय मे भी होना सम्भव है। यह सब ज्ञान हमें स्वतन्त्र रूप से ही प्राप्त हुआ था यह पुलिश और वासिष्ठ सिद्धान्तो के ग्रहगणित से सिद्ध है। वृत्त के अश कालादि विभाग की कल्पना मूलत. हमारी ही है, यह हम वेदाङ्गज्यो-तिष का विवेचन करते समय तथा और अन्य कई प्रसङ्गो मे दिखला चुके है। मूल वासिष्ठ सिद्धान्त का ग्रीको से कोई सम्बन्ध नही। उनमे अश [illegible] इत्यादि विभाग

दिये हुए हैं। जिस काल में ग्रीक लोगों से हमारा परिचय होना सम्भव नहीं था उस काल में ही हम लोग ग्रहों की स्थिति, उनका वक्रमार्गित्व, उनकी युति इत्यादि विषयों का विचार करने लगे थे, यह बात हमने महाभारत के विवेचन मे और प्रथम भाग के उपसंहार में स्पष्ट कर दी है। ग्रह उदित होने के बाद इतने दिनों में अस्त होगा, अन्यथा मार्गी या वक्री होगा इसके स्थूल नियम पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए हैं। आजकल के ग्रन्थो में भी नियम दिये रहते है परन्तु उनको विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। पञ्चसिद्धान्तिका और खंडखाद्य में इन नियमो को बडा महत्त्व दिया गया है। यह स्पष्ट है कि ये बातें पूर्व परम्परा के अनुसार लिखी गयी है, क्योंकि ग्रहस्पष्टगति की उपपत्ति को समझने से पूर्व ऐसे नियम बनाने के प्रयत्न स्वभावत. हमारे यहां किये गये होगे। ऐसा सचमुच हुआ भी था, यह भारत में वारवार आये हुए उल्लेखो से और पञ्चसिद्धान्तिका में दिये हुए तत्सम्बन्धीय नियमो से स्पष्ट हो जाता है। साराश यह कि अनेक प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि रविचक्र स्पष्टीकरण और ग्रहस्पष्टीकरण के साधनो के तैयार करने के हमारे प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से होते रहे। उन प्रयत्नों को केन्द्रानुसारी फलसंस्कार के तत्त्व की सहायता मिलते ही हिपार्कस और टालमी के समान यहा भी स्वतन्त्र विचार होकर पुलिश और मूल सूर्यसिद्धान्त के रूप में वे प्रकट हुए। केन्द्रानुसारी फलसंस्कार के दिग्दर्शन के अतिरिक्त ग्रीक लोगो से हम लोगो को कुछ नहीं मिला, यह मान लेने से ही भारतीय और ग्रीक ज्योतिष में जो भिन्नता है वह स्पष्ट हो जाती है। यदि केन्द्र शब्द संस्कृत होता और मयसूर्यसंवाद तथा यवनपुर के देशान्तर न दिये होते तो वर्जेस के समान हमारा भी यही मत होता कि ज्योतिष गणित का दिग्दर्शन ग्रीक लोगो को भारतीयो ने प्राप्त हुआ। यवनो से हमे जो सूचनाएँ मिली वे अवश्य महत्त्व की हैं और इसलिए हम लोगों ने उनकी उपयोगिता मानी है और मुक्त कण्ठ से इसे स्वीकार किया है। जिन भारतीयो ने उस दिग्दर्शन के आधार पर भारतीय ज्योतिष मन्दिर की स्थापना की यह बात उनके लिए भूषणास्पद ही है।

टालमी के ग्रन्थ में अंश के ६० भाग और प्रत्येक भाग के ६० विभाग दिये हुए हैं। इन आधार पर वर्जेस ने यह कहने का साहस किया है कि टालमी से ही हिन्दुओं को ज्योतिष का सर्वस्व मिला है। परन्तु टालमी के पूर्व वासिष्ठ सिद्धान्त मे ये विभाग हैं और यह बात निर्विवाद है कि उनका मूल दिन के घटी पलादि के साठ साठ विभाग में पाया जाता है जो हमारा है। ग्रीकों में टालमी के अतिरिक्त कोई ६०।६० विभाग नहीं करता, इसलिए यह स्पष्ट है कि ये विभाग टालमी को भारतीयों से मिले थे।

ग्रहस्थिति गणना का आरम्भस्थान मूल में रेवती नहीं था। वह शक ४४४ के

लगभग प्रचार मे आया। ई० स० के प्राय ५७९ वर्ष पूर्व वसन्त सपात अश्विनी नक्षत्र में था यह हम पहले दिखा चुके हैं। अत पञ्चसिद्धान्तोक्त सिद्धान्तो के आरम्भ स्थान अथवा अश्विन्यादि आरम्भ स्थान, तत्तद् सिद्धान्तो के रचनाकाल से शक ४४४ तक, स्थिर नही थे परन्तु वसन्तसपात का यही स्थान था, ऐसा थीवो का कथन है। वासिष्ठ सिद्धान्त के सम्बन्ध में तो, यह स्पष्ट ही है। पौलिश सिद्धान्त का आरम्भ स्थान कौन सा था यह स्पष्ट नही है। परन्तु उसका वर्षमान निरयण वर्षमान के आसपास है इसलिए उसका आरम्भस्थान विषुवायनाश से मिलता होगा ऐसा ही होना चाहिए। वह वर्षमान बहुत दिन तक प्रचलित न रहने के कारण उस वर्षमान से उसमें कोई बाधा नही उत्पन्न हुई। सूर्यसिद्धान्त मे गणितारम्भ कलियुगारम्भ से है। यह और उसके वर्षमान को मान लेने से सायन मेष में मेष सक्रमण होने का काल लगभग शक ४५१वें वर्ष मे आता है। वराहसहिता के अनुसार मूल सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल इतना अर्वाचीन नही है। यह काल जितना पीछे की ओर जायगा उसमे प्रति ६० वर्ष मे एक राशि के हिसाब से भूल होगी। इससे यह अनुमान होता है कि वर्ष का मान या वर्तमान कलियुगारम्भ से गणित का आरम्भ मानना इन दोनो बातो मे कोई एक बात मूलसूर्यसिद्धान्त में वराह के समय से भिन्न थी। और वराह ने जो जो बाते दी है उनका वराह से पूर्व सौ दो सौ वर्षो मे किसी ने प्रचार किया होगा। कुछ भी हो टालमी के ग्रन्थ के कोई भी मान सूर्यसिद्धान्त में नही है और टालमी का सिद्धान्त कम से कम शक ५०० तक हमारे देश मे नही आया था।[1] मूल सूर्यसिद्धान्त कभी का क्यो न हो उसमें भारतीय ज्योतिष का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह उसको ग्रीक सहायता के बिना प्राप्त हुआ था। केन्द्रानुसारी फलसस्कार के व्यतिरिक्त और दूसरे कोई महत्त्व के सिद्धान्त हम लोगो ने ग्रीक लोगो से लिये थे, इसका एक भी प्रमाण आजतक किसी ने नही दिया है।

सिद्धान्त-स्थापना काल

हिपार्कस के पूर्व ई० सन् से दूसरी या तीसरी शताब्दी पहिले, जब ग्रीक लोग भारत मे अधिक मात्रा में आते जाते रहे, उस समय यह तत्त्व भारत मे आया होगा। उस तत्त्व का ज्ञान होने के पहिले ही इस देश मे ग्रह-गति-स्थिति निकालने की पर्याप्त सामग्री सगृहीत हो गयी थी। उसके आते ही पुलिश सिद्धान्त रचा गया होगा। इसके बाद रोमक सिद्धान्त तैयार हुआ। तत्पश्चात् हमारे ज्योतिष को मूल सूर्यसिद्धान्त में जो

[1] आगे श्री जयसिंह तक हमारे देश में उसके आने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

रूप प्राप्त है वह सम्पन्न हुआ परन्तु यह कहना कठिन है कि यह शकारम्भ के पूर्व हुआ या उसके कुछ वर्ष वाद।

संहिता

सहिता स्कन्ध के विषय में कोई झगडा नही है। उसमे पदार्थ विज्ञान शास्त्र की वहुत सी शाखाएँ हैं। तीनो स्कन्धो में हमारा ध्यान इस स्कन्ध की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ था, यह वात इस स्कन्ध का साधारण अवलोकन करने से ही दृष्टिगत होती है। यह स्कन्ध हमारा है यह वात जितनी सत्य है उतनी भूपणास्पद भी है।

जातक स्कन्ध

अव यह विचार करना है कि क्या जातक स्कन्ध हम लोगो ने पाश्चात्यो से लिया था? इस विषय का समाधानकारक विवेचन व्हिश और वेवर ने किया है[1], ऐसा व्हिटने लिखता है। यह लेख मैंने स्वय नही देखा है। इसलिए इस विपय मे इन विद्वानों को विचार करने का कितना अधिकार था, उनके सामने कौन से साधन उपस्थित थे और उनके तर्क क्या हैं यह मुझे ज्ञात नही परन्तु इस विषय के साधक वाधक प्रमाण जो मुझे मिले हैं उन्हीके आधार पर नीचे विचार किया गया है।

जैकोवी[2] ने लिखा है कि द्वादश घरो की जन्मकुण्डली से फल वनाने की जातक पद्धति फारमीकस मैटरनस (ई० स० ३३६-३५४) के ग्रन्थ में मिलती है। इसके पश्चात् यदि वह भारत मे आई हो तो उसको आने मे कोई ५० वर्ष लगे होगे। तवसे वराह तक (ई० स० ५०० तक) ५०-७५ वर्ष की अवधि में इस विपय के ६ आर्य ग्रन्थ-कार और ५ आर्प ग्रन्थकार होना विलकुल ही असम्भव मालूम होता है। इसी एक प्रमाण से जातक मूलत हमारा ही है यह निर्विवाद सिद्ध होता है। टाइट्रा-विब्लास (Titrabiblas) नामक जातक ग्रन्थ टालमी का कहा जाता है और अलमाजेस्ट फलग्रन्थ भी टालमी का है, यह भी कोई कोई कहते हैं परन्तु यह प्रमाणित नही है। इसको यदि सत्य भी माना जाय और यह मान लें कि उसका ग्रन्थ भारत मे आया तो उसके समय (ई० स० १५०) से वराह के समय तक ३५० वर्ष होते हैं। परन्तु वराह से पहिले सात आठ सौ वर्प पूर्व से जातक पद्धति हमारे देश मे थी यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। दूसरी वात यह है कि अथर्वज्योतिप में जातक पद्धति

[1] देखो व्हिटने का लेख (Trans of Literary Society, Madras 1827) और वेवर का लेख (Indische Studies II p 236)।

[2] Weber-History of Indian Literature p 251

के मूलतत्त्व निहित है। उसमे १२ के स्थान पर केवल नौ स्थान है। नौ मे जन्म, सपत्, नैधन अर्थात् पहला, दूसरा तथा सातवाँ स्थान वर्तमान द्वादश स्थानवाली कुण्डली के १।२।८ स्थान से मिलते है। अथर्वज्योतिष मे जन्म से १० वा नक्षत्र कर्म नक्षत्र हैं। आधुनिक पद्धति मे १० वा स्थान कर्म स्थान है। अथर्वज्योतिष के ९ स्थान वर्तमान जातक के १२ स्थानो मे किसी न किसी स्थान मे अन्तर्भुक्त हो जाते है। अथर्व ज्योतिष की जातक पद्धति भृगूक्त कही जाती है। अथर्व-ज्योतिष मेषादि सज्ञा प्रचार मे आने के पहिले याने शकारम्भ से ५०० वर्ष पूर्व से भी प्रचलित है, यह हम पहले दिखला चुके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जातक पद्धति शकारम्भ से ५०० वर्ष के पहिले से हमारे देश मे स्वतन्त्र रूप से प्रचलित थी। मेषादि सज्ञाओ की कल्पना हमारे देश मे उद्भूत् होने के बाद या परदेश से इस देश मे आने के बाद सम्प्रति जो जातक पद्धति प्रचलित है उसका प्रचार इस देश मे हुआ होगा। अथर्वज्योतिष मे जन्म कुण्डली का पहिला स्थान चन्द्र का था, प्रचलित जातक पद्धति मे पहिला स्थान लग्न का है, यही कालान्तर मे उसमे मुख्य अन्तर हुआ। इस सम्बन्ध मे एक बड़े महत्त्व की बात यह भी है कि जातक मे लग्न का जो अर्थ है वही अर्थ वासिष्ठ सिद्धान्त मे भी है। जन्म कुण्डली बनाने की पद्धति उत्पन्न होने के कारण ही यह शब्द वासिष्ठ सिद्धान्त मे आया होगा। अन्यथा इसका और दूसरा कोई कारण नही हो सकता। यह पहले सिद्ध कर चुके है कि वासिष्ठ सिद्धान्त शकारम्भ से लगभग ५०० वर्ष पूर्व का है और अन्ततोगत्वा टालमी से ५० वर्ष पूर्व का है। अत जिस समय ग्रीस मे जातक ग्रन्थ नही बने थे उस समय हमारे यहा जातक का अति महत्त्व का शब्द 'लग्न' प्रचार मे आ गया था और जन्म कुण्डली का जातक शास्त्र उत्पन्न हो गया था। बृहत्सहिता के ग्रहचाराध्याय मे (अ० १०४) ग्रहगोचर फल दिये हुए है। उसमे प्रथम स्थान चन्द्र का है। इस अध्याय मे माडव्य का उल्लेख है। माडव्य आर्ष ग्रन्थकार था। इस माडव्य के ग्रन्थ मे चन्द्रकुण्डली मुख्य थी अथवा कम से कम चन्द्र की स्थिति पर से विचार किया गया था। मेषादि १२ राशियाँ प्रचार मे आने पर अथर्वज्योतिष के ९ स्थानो की चन्द्र कुण्डली के स्थान पर १२ स्थानो वाली राशि-कुण्डली की कल्पना होना स्वाभाविक है। अत जन्मकुण्डली की पद्धति पराशर, गर्ग आदि किसी ऋषि ने प्रचलित की, यह मानना सयुक्तिक है। हमारी यह पद्धति कालान्तर मे पश्चिम की ओर गयी और यवनो ने इस शास्त्र पर ई० सन् के १५० वर्ष बाद अपने ग्रन्थ लिखे। स्मरण रखना चाहिए कि टालमी के पहिले ग्रीस मे किसी जातक ग्रन्थ का पता नही चलता। यह हो सकता है कि उसने उसे कुछ बढाया हो। तीसरी महत्त्व की बात यह है कि यवनेश्वर और वराह का मतभेद उत्पल ने बहुत से स्थानो मे दिखाया है सत्याचार्य का मत वराह

ने जगह जगह लिया है। उसीका मत उसको ग्राह्य था, यह बृहज्जातक से सिद्ध होता है। यदि यवन आद्य ग्रन्थकार होते तो इतना मतभेद होना सम्भव नही था और दूसरे ग्रन्थकारो की अपेक्षा उनको अधिक महत्त्व देना पड़ता परन्तु ऐसा उसने नही किया, जिससे यह स्पष्ट है कि यवन आद्यग्रन्थकार नही थे।

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितं।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विजा. ।।१५।। बृह० सं० अ० २

गर्ग के इस श्लोक को वराह ने उद्धृत किया है। इस श्लोक में यही कहा गया है कि यवनो में भी यह शास्त्र अच्छी अवस्था में है। इस श्लोक से कोई कोई अनुमान करते हैं कि सारा का सारा ज्योतिष शास्त्र हम लोगो ने यवनो से लिया, परन्तु यह भूल है। इस श्लोक का पूर्वापर सम्बन्ध देखने से यह पता चलता है कि इसका गणित स्कन्ध से कोई सम्बन्ध नही और ज्योतिष गणित ही ज्योतिष की सर्वस्व या मुख्य शाखा है, यह हमारे शास्त्रज्ञ नही मानते। जातक और संहिता को ही मुख्य शाखा मानते है। संहिता शाखा का यवनो से कुछ सम्बन्ध है ही नही इसलिए उपर्युक्त श्लोक जातक सम्बन्ध मे है, यह उसमें के 'दैववित्' शब्द से स्पष्ट हो जाता है। यवनो में भी यह शास्त्र अच्छी अवस्था में प्रचलित है इसलिए म्लेच्छ भी पूजनीय है, फिर दैववित् द्विजो की बात ही क्या? यही इस श्लोक का तात्पर्य है। इससे यह सिद्ध नही होता कि सारा का सारा जातक शास्त्र हम लोगो ने यवनो से लिया।

यावनी संज्ञाएँ हमारे जातक ग्रन्थो में है, इससे बहुत लोग कल्पना करते हैं कि जातक शास्त्र मूल मे यवनो का था, परन्तु यह सरासर भूल है। इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। बृहज्जातक में ग्रीक भाषा के ३६ शब्द है, ऐसा वेबर और कर्न का कथन है। वे शब्द कहा कहा है और उनके क्या अर्थ है, वह नीचे बताया जाता है। अध्याय १ के ८ वें श्लोक मे १२ राशियो के ये नाम आये है—(१) क्रिय (२) तावुरि (३) जितुम (४) कुलीर (५) लेय (६) पाथेन (पाथोन) (७) जूक (८) कौर्प्य (९) तौक्षिक (१०) आकोकेर (११) हृद्रोग (१२) इत्थम्। इसके अतिरिक्त श्लोक ९ मे होरा (राशि का द्वितीयाश), द्रेष्काण (राशि का तृतीयाश), श्लोक १५ में रिष्फ (कुण्डली का १२ वा स्थान), श्लोक १६ में द्यून (सातवा स्थान), श्लोक १७ में केन्द्र (१, ४, ७ और १० वें स्थान), श्लोक १८ में पणफर (२, ५, ८ और ११ वा स्थान), अपोक्लिम (३, ६, ९ और १२ वें स्थान), हिबुक (चौथा स्थान), यामित्र (सातवाँ स्थान), त्रिकोण (पाचवा स्थान), मेषूरण (१० वा स्थान), श्लोक २० में वेशि (सूर्य जिस स्थान में हो उससे आगे का स्थान), अध्याय २ श्लोक २ में हेलि (सूर्य),

हिम्न अथवा हेम्न (चद्र), आर (मगल), कोण (शनि), श्लोक ३ में आस्फुजित् (शुक्र), अध्याय १३ श्लोक ३ मे सुनफा, अनफा, दुरुधर, केमद्रुम (रवि के अतिरिक्त शेष कोई ग्रह चन्द्र से दूसरे स्थान पर हो तो सुनफा, द्वादश स्थान मे रहने पर अनफा और दोनो स्थान पर दो ग्रह होने पर दुरुधर योग होता है। तीनो मे एक भी योग न हो तो केमद्रुम योग होता है), अध्याय ७ श्लोक १० मे लिप्ता (कला) यह गणित का शब्द आया है। ये ३४ शब्द हुए। इनके अतिरिक्त ज्यौ और द्युत ये दो शब्द हैं। द्युत या द्यूत मेरे देखने मे नही आया। यदि यह शब्द कही प्रयुक्त हुआ हो तो यह किसी स्थान का वाचक होगा। वेवर का कहना है कि ज्यौ शब्द अध्याय २ श्लोक ३ में आया है परन्तु वह शब्द उक्त श्लोक में नही पाया जाता। ईज्य शब्द है परन्तु वह सस्कृत मे गुरु के अर्थ मे प्रसिद्ध है। उत्पल ने उसको 'ईज्य' ही पढा है। इत्थम् शब्द को सस्कृत के 'इस प्रकार' के अर्थ मे ही उत्पल ने लिया है। कुलीर शब्द सस्कृत है और कर्कट का समानार्थक है। हृद्रोग, त्रिकोण, हेम्न, कोण शब्द ग्रीक ही हैं सस्कृत नही, यह कौन कह सकता है? यदि इन सव शब्दो को ग्रीक ही मान लिया जाय तो इससे क्या होता है, मेरी समझ में नही आता। वारह घरो की कुण्डली हमारे यहा थी ही नही, वह हम लोगो ने ग्रीक लोगो से ली, यह इन शब्दो के कारण सिद्ध नही होता। कुण्डली की कल्पना हमारे देश मे ही उद्भूत हुई यह हम पहिले दिखा चुके है और यदि यह वात सत्य है तो कुछ यावनी शब्द हमारे ग्रन्थो में आ गये हो तो इसमे कौन सा महत्त्व है? इससे इतना ही सिद्ध होता है कि जातक स्कन्ध के कुछ यावनी ग्रन्थ हमारे देश मे प्रचलित थे। ये ग्रन्थ प्रचलित थे इसलिए ये उपर्युक्त शब्द भी प्रचार मे आ गये।

आजकल 'वुक' शब्द मराठी मे प्रचलित है। और हो सकता है कि कालान्तर में इस शब्द का प्राबल्य होकर पुस्तक शब्द केवल ग्रन्थो मे रह जाय। इससे यह सिद्ध नही हो सकता कि पुस्तक की कल्पना हमारे यहा हुई ही नही। यही वात उपर्युक्त प्राय ३६ शब्दो की है। इसके अतिरिक्त यह भी वात है एक शब्द के पर्यायवाचक अनेक हो तो कविता मे छन्द के अनुरोध से किसी शब्द विशेष का प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार इन छत्तीस शब्दो में से अधिकाश शब्द छन्द के सौकर्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वहुत स्थानो पर उनके सस्कृत पर्याय भी हैं। ३६ शब्दो मे १२, वारह राशियो के वाचक हैं परन्तु तदर्थवाचक दूसरे सस्कृत शब्द भी हैं ही। हेली इत्यादि छ शब्द ग्रहवाचक हैं उनके लिए भी सस्कृत शब्द हैं। ग्रहो का ज्ञान हमे स्वतन्त्र रूप से हुआ, यह निर्विवाद है। रिफ, द्यून इत्यादि ११ शब्द कुण्डली के स्थानो के वाचक हैं। किन्तु उनके लिए भी सस्कृत के पर्याय मौजूद हैं। शेष होरा, द्रेष्काण, सुनफा, अनफा, केमद्रुम और दुरुधर इनका विचार रह गया। इनके पर्यायवाचक सस्कृत शब्द नही

है। सुनफा इत्यादि ४ योग है जिनको हमने ग्रीक ग्रन्थो से लिया होगा। परन्तु यह कोई महत्त्व की बात नही है। हमारे ग्रन्थो मे सैकडो योग है, उनके अतिरिक्त ये ४ योग जो हमे उपयोगी मालूम हुए वे यावनी ग्रन्थो से हमने ले लिये। होरा और द्रेष्काण ये दो शब्द अवश्य ही बडे महत्त्व के है परन्तु जन्म कुण्डली का सर्वस्व इनमे नही भरा पड़ा है। हमारी द्रेष्काण पद्धति खाल्डी और मिस्री पद्धति से कुछ भिन्न है यह कोलब्रुक ने भी स्वीकार किया है। परन्तु इनमें कुछ साम्य अवश्य है और द्रेष्काण शब्द सस्कृत का नही है इसलिए कोलब्रुक ने उसको महत्त्व देकर जातक हमारा नही है, यह मान लिया। पर यह उसकी सरासर भूल है।

होरा और द्रेष्काण की जातक मे सर्वत्र आवश्यकता होती है पर उनका बहुत महत्त्व है यह नही कहा जा सकता। जिसने जातक का सम्यक् अध्ययन किया है उसे यह बात सहज ही समझ मे आ सकती है। उन दोनो का महत्त्व सैकडे में ५ से भी कम है। अतएव यद्यपि हमारे जातक में यवनो के ३६ शब्द है तथापि यह सिद्ध नही होता कि हमारे जातक मूलत हमारे नही है।

साराश यह है कि जातक पद्धति आरम्भ मे हमारी ही है। उसमे कुछ यावनी शब्द और विचारपद्धति सम्मिश्रित हो गई, बस यही हमारे जातक स्कन्ध का यवनो से सम्बन्ध है।

पूर्वापर विचार

हमारे ज्योतिष शास्त्र की वृद्धि क्रमश कैसी होती गयी यह हम पहले दिखा चुके है। वराहमिहिर के पूर्व के और ब्रह्मगुप्त से राजमृगाङ्क तक के गणित ग्रथ हमें यदि उपलब्ध होते तो ज्योतिष शास्त्र की अभिवृद्धि का इतिहास अधिक मात्रा में हमे प्राप्त होता। सहिता स्कन्ध में नयी खोज होना वराहमिहिर के बाद थोडे दिनो ही में बद हो गया था। गणित स्कध लगभग शक १००० तक वृद्धिगामी था। भास्कराचार्य के ग्रन्थो के कारण दूसरे पूर्व के ग्रन्थों का लोप सा हो गया और तब से भास्कर के ग्रन्थो की उपपत्तियो का ज्ञान ही ज्योति शास्त्र के ज्ञान की पराकाष्ठा माना जाने लगा। ग्रह स्थिति दृग्विसवादी होने लगी तब सूर्यसिद्धान्त बीज कल्पक[1] कोई उत्पन्न हुआ और केशव दैवज्ञ और गणेश दैवज्ञ उत्पन्न हुए और उन्होने ग्रहशुद्धि की परन्तु ज्योति शास्त्र को बराबर प्रगतिशील रखने का काम उनसे भी नही हुआ।

वेध लिख रखने की परम्परा चालू न होने के कारण जो बीज सस्कार हुए वे तत्तत् काल के लिए ही सीमित रहे। इसके अतिरिक्त वे कही कही सूक्ष्म भी नही थे। अतएव

[1] यह व्यक्ति कौन था इसका पता नहीं लगता।

इससे यह बडी हानि हुई कि वेध से ग्रहो का जो अंतर दृष्टिगत हुआ वह अतर कलियुगारम्भ से ही हुआ होगा यह अधिकाश लोगो का मत हो गया। इसलिए वे बीज सस्कार यद्यपि थोडे वर्पो के लिए थे तथापि दीर्घ काल मे विभाजित किये जाने लगे। अतएव वे दीर्घ कालोपयोगी सिद्ध न हो सके और कही कही निरुपयोगी भी सिद्ध हुए। इसका बडा उदाहरण यह है कि जो वर्षमान पहिले से आ रहा था उसकी शुद्धता की ही नही गयी। इसलिए वर्तमान पञ्चाङ्गशुद्धि के मार्ग मे जो सबसे बडी समस्या है वह वर्पमान को शुद्ध करने की है। ब्रह्मगुप्त ने प्रथम अनुभव किया कि विषुवदिन पहिले से पीछे हटा है। परन्तु अतर का मान यद्यपि आर्यभट्ट के समय से अर्थात् केवल १५० वर्प का था तथापि परम्परागत विश्वास के कारण कलियुगारम्भ से इतना अतर पडा होगा ऐसा समझकर ३७०० वर्षो मे उसको बाट दिया गया। ऐसा न होता तो ब्रह्मगुप्त ने ही सायन वर्पमान का प्रचार किया होता। और उसने ऐसा कर दिया होता तो आज उसके लिए इतने प्रयास न करने पडते। केशव और गणेश दैवज्ञ के वेध भी बहुत उपयोगी सिद्ध नही हुए। उनको यदि पिछले वेध उपलब्ध होते तो वे अपने वेधो को जाच सकते। साराश यह कि यद्यपि तत्तत् समय के लिए ग्रह शुद्धि की गयी तथापि परवर्ती काल के लिए वे अशुद्ध ही बने रहे।

हमारे प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय है और सर्वाङ्गपूर्ण है यह विश्वास ज्योतिप शास्त्र की उन्नति के लिए बडा घातक सिद्ध हुआ। वैसे ही यद्यपि आर्यभट्ट तथा ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ पौरुपेय थे तथापि उनमे अपौरुष ग्रन्थो के समान श्रद्धा रखने के कारण इस शास्त्र की क्रमोन्नति के मार्ग में अनुल्लघनीय बाधाएँ उपस्थित हो गई। जब ग्रहस्थिति अनुभव मे न मिलने लगी तब उसमे तत्काल मात्र के लिए ही सस्कार किया जाने लगा और वह सस्कार स्वतन्त्र रूप से नही वरन् मूल ग्रन्थो मे बीज के नाम से। फलत ज्योतिपियो की यह धारणा हो गयी कि इससे अधिक उनका कोई कर्तव्य नही है। इस कारण तथा राज्याश्रय से वेध लेने की दीर्घ काल की परम्परा बद हो जाने के कारण यूरोप खड मे जो नये नये शोध किये गये वैसे हमारे यहा सर्वथा असम्भव हो गये। राज्याश्रय बद होने के कारण ज्योतिपियो को अपने कर्तव्य का ज्ञान नही रहा और ज्योतिपियो की इस उदासीनता के कारण राज्याश्रय भी बद हो गये। मुसलमानो का प्राबल्य होने के कारण दक्षिण मे शक १३०० के बाद और उत्तरा खड मे उससे भी पहिले बडे बडे एतद्देशीय राज्य लुप्तप्राय हो गये और देश की शान्ति नष्ट हो गयी। इस अशान्तस्थिति ने ज्योति शास्त्र की अभिवृद्धि मे ऐसे प्रतिबध खडे कर दिये जो दीर्घकाल तक हटाये न जा सके।

इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी कोकण के नादगाव, गोदावरी तीर के पार्थपुर,

गोलग्राम इत्यादि छोटे छोटे गावो में, काशीस्थविद्यापीठ में केशव और गणेश दैवज्ञ के ऐसे वेधकार, कमलाकर के समान उपपत्तिवेत्ता, पद्मनाभ के समान यत्रकार व्यक्तिश हो गये, यह हमारे लिए कम भूपणास्पद नही है। मराठो और पेशवो के राज्यकाल मे इस (महाराष्ट्र) प्रान्त मे थोडी शान्ति स्थापित होने के साथ-साथ चिंतामणि दीक्षित नामक यत्रकार ने नष्टप्राय वेध परम्परा को पुनर्जीवित किया और कुछ तो ग्रहलाघव के समान ग्रन्थो के कारण और कुछ दूसरे कई कारणो से नष्टप्राय उपपत्तिज्ञान लघुचिन्तामणि-टीकाकार यज्ञेश्वर के द्वारा पुन स्थापित होते-होते पेशवाओ की सत्ता नष्ट हो गयी। दिल्ली, उज्जयिनी, जयपुर और काशी में आरम्भ किये हुए प्रयोग राजकीय अव्यवस्था के कारण वद हो गये। अगरेजी राज्य स्थापन होने के वाद मे देश में शान्ति स्थापित हो गई, विद्या को उत्तेजन मिला परन्तु ज्योति शास्त्र के गणित और दूसरे गहन तथा मनोरजक विषयो में नयी खोज के साथ अध्ययन करने के साधनो का अभाव पूरा नही हो सका है। छापाखानो के कारण एक ऐसा उलटा प्रभाव पडा कि जहा पहिले प्रत्येक गाव में पञ्चाङ्गकार ज्योतिपी मिलते थे वहा उनकी अव आवश्यकता न रही अतएव उनका अव लोप होता जा रहा है। ऐसी अवस्था मे भास्कर सिद्धात के समान उपपत्ति ग्रथो का अध्ययन कौन करेगा ? मुहूर्तों की आवश्यकता तथा जातकोक्त भविष्य ज्ञान होने की प्रवल इच्छा अव भी पहिले के समान वर्तमान है और आगे भी रहना सम्भव है। इसके लिए ग्रहगणित करने की थोडी आवश्यकता ज्योतिषियो को अव भी पडती हैं, इस कारण गणित स्कघ अव भी जीवित है। और जातक स्कध पहिले की तरह नही तो भी अच्छी स्थिति में वर्तमान है। परन्तु इसमे गौरव के लायक कुछ भी नही हैं।

कोपर्निकस ने अपना ग्रन्थ शक १४६५ में लिखा। इसके पहले यूरोपीय ज्योतिष और हमारा ज्योतिप समान स्थिति में थे। भेद इतना ही था कि जहा यूरोपीय ज्योतिष वर्द्धमान था वहा हमारा निश्चेष्ट सा हो गया था। कोपर्निकस के कुछ दिन पहिले हमारे यहा केशव और गणेश दैवज्ञ हुए। कोपर्निकस के वाद यूरोपियन ज्योतिष में इतना स्थित्यन्तर हो गया कि जहा हम उसके पूर्व के ज्योतिप को एक नवोत्पन्न वटवृक्ष की उपमा दे सकते थे वहा अनेक शताब्दियो के वाद उसकी उपमा उस महान् वृक्ष से दी जा सकती है जो उस पौधे से वढकर इतना विशाल हो गया है कि उसकी छाया मे हजारो जीव आश्रय लेते है। खेद है कि तद्विपरीत हमारा ज्योतिष जैसा था वैसा ही अव तक वना हुआ है।[1]

[1] ज्योतिर्विलास (दूसरी आवृत्ति), पृष्ठ ५१, ५२ देखिए।

यूरोप खंड मे ज्योतिष जिस उत्तमावस्था में आज है उसका प्रधान कारण नौकागमन है। हमारे देश मे यह कारण विद्यमान नही है परन्तु ज्योतिष के अध्ययन के लिए दूसरे कारण वर्तमान हैं। पञ्चाङ्ग निर्माण यह प्रथम कारण है। इसमे धर्म-शास्त्र और मुहूर्त का भी अन्तर्भाव होता है। जातक दूसरा कारण और जिज्ञासा तीसरा कारण है। कई लोगो का मत है कि हमारे ज्योतिप शास्त्र मे अब कोई अर्थ नही, हमारे पञ्चाङ्ग नष्ट हो जायँ तो कोई हानि नही। परन्तु थोडा विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमारे पूर्वजो ने ज्योतिष के सवध मे जितने प्रयत्न किये थे उतने और किसी दूसरे राष्ट्र ने नही किये और उनको इस काम मे जितनी सफलता मिली उतनी वैद्यकादि अनुभववाले दूसरे शास्त्रो मे भी नही मिली। देश के छोटे छोटे गावो की परिस्थिति पर ही हम ध्यान दे तो हमे पता लगेगा कि इनमे ९०।९५ प्रतिशत ऐसे लोग है जिन्हे पञ्चाङ्ग की आवश्यकता पडती है। नयी दृष्टि के सुशिक्षित लोग यदि पञ्चाङ्गो की उपेक्षा करते हैं तो भी साधारण लोग उसका त्याग नही करते। पञ्चाङ्ग के समान ज्योतिदर्पण की आवश्यकता के कारण ज्योतिपशास्त्र की हमारे यहा उत्पत्ति हुई। पञ्चाङ्ग को शुद्ध करना आवश्यक है और ज्योतिष के विषय में जो आदर भाव लोगो में वर्तमान है उसे इष्ट दिशा मे प्रभावित करने की इच्छा करना उचित है परन्तु शिक्षित लोग यदि इस सार्वजनिक श्रद्धा की अवहेलना या उसका तिरस्कार करें तो यह कभी उचित नही कहा जा सकता।

भविष्य के कर्त्तव्य—पञ्चाङ्ग शोधन के विषय मे पहले विचार किया ही जा चुका है। शोधन के तीन मार्ग वहा वतलाये गये है। उनमे कौन सा मार्ग श्रेयस्कर है, इस विपय मे बहुमत से निर्णय किया जाय तो बहुत अच्छा होगा। परन्तु ऐसा होना कठिन है क्योकि सब लोगो का ध्यान इस विपय की ओर आकर्षित होना असम्भव-सा है। विद्वानो को उचित है कि बहुमत से इस बात का निर्णय करें पर यह भी कठिन है। इस देश की सार्वभौम सरकार परधर्मीय होने के कारण इस काम में हाथ न बटायेगी। इसलिए ज्योति शास्त्रज्ञो का तथा इस देश के राजा महाराजा और धर्म-गुरुओ का यह एक मुख्य कर्त्तव्य है। इन तीनो ने मिलकर यदि कोई एक मार्ग ठीक कर लिया और उसीके अनुसार नया ग्रन्थ बनवाया तो वह चल निकलेगा। यदि यह ग्रन्थ लोक सम्मत हो गया अथवा यदि इसको ज्योति शास्त्र मे पारङ्गत विद्वानो का समर्थन प्राप्त हो गया तो कालान्तर में ग्रहलाघव के समान सर्वत्र प्रचार मे आ सकता है। परन्तु इसमें विलम्ब लगेगा। वेधशाला स्थापन करके वेध लेकर और तदनुसार प्राप्त ग्रहस्थिति के अनुसार यदि ग्रन्थ बनाया जायगा तो यह बात अत्युत्तम होगी। परन्तु इस कार्य के लिए सौ पचास वर्ष अथवा कम से कम बीस पच्चीस वर्ष लगेगे। कहा जाता है

कि सकेश्वर पीठ के जगद्गुरु शकराचार्य ने वेध लेने के प्रयत्न आरम्भ किये हैं। यह बडे आनन्द की बात है। वह यदि उचित दिशा मे चालू रखे गये तो बडी अच्छी बात होगी। परन्तु इस काम मे शकराचार्यादि धर्मगुरुओ के तथा ज्योति शास्त्रज्ञो के जो कर्तव्य है वे इस प्रकार है—

(१) अग्रेजी नॉटिकल आल्मनाक अथवा फ्रेंच कालज्ञान पञ्चाङ्ग जिन ग्रन्थो के आधार पर बनाये जाते है उन ग्रन्थो के आधार पर भारतीय भाषाओ मे ग्रन्थ बनवाना आवश्यक है। वे ग्रन्थ बहुत बडे है परन्तु उन ग्रन्थो का ज्ञान हुए बिना नये ग्रन्थ की उपपत्ति समझ मे नही आती। ऐसे ग्रन्थ तैयार होने पर सस्कृत मे उनके आधार पर सिद्धान्त ग्रन्थ, करण ग्रन्थ और तदनुसार सारणी हमारी प्रणाली से बनानी चाहिए।

(२) ग्रन्थ तैयार होने पर कुछ विद्यार्थियो को वृत्तिया देकर उन्हे पढाना चाहिए।

(३) उपर्युक्त ग्रन्थ के आधार पर पञ्चाङ्ग निर्माण करवाकर सार्वजनिक द्रव्य से छपवाकर उसे प्रचारित करना चाहिए। पञ्चाङ्गशोधन करने के लिए ग्रन्थ तैयार हो जाने से जातक का काम हो ही जायगा। जिसको जातक मे रुचि होगी वह इस शाखा का अध्ययन करेगा। तीसरी रही बात जिज्ञासा की, तो इसके बिना सब निष्फल है। ऊपर हम बतला चुके है कि ज्योतिष शास्त्र की उन्नति का मुख्य कारण नौकागमन था और वह अब भी है परन्तु उससे भी महत्त्व का कारण यूरोपियन विद्वानो की ज्ञानपिपासा थी। मनुष्य को अपनी सच्ची योग्यता का ज्ञान होने के लिए ज्योति शास्त्र के समान दूसरा कोई शास्त्र नही और हमारा इस शास्त्र का ज्ञान आजकल यूरोपखड मे जो इस विषय के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित विद्वान है उनके ज्ञान से किसी तरह न्यून न होना चाहिए। इस विषय मे मराठी में कई ग्रन्थ लिखे गये है परन्तु ज्योतिष गणित के ग्रन्थो का अभी निर्माण नही हुआ। केवल पुस्तकी ज्ञान से ही काम न चलेगा। सम्यक् ज्ञान होने के लिए वेधशालाओ की स्थापना करना आवश्यक है। आजकल जो साधारण शिक्षा मिलती है उसमे ज्योतिष विषयक अल्पज्ञान कुछ न कुछ सबको हो जाता है। ज्योतिषशास्त्र को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, ऐसा बहुत लोगो का विचार है। इन कारणो से राष्ट्र का अन्त करण इस विषय के बीज वपन के लिए सस्कृत हो गया है। ऐसे समय में यदि गाव-गाव के ज्योतिषियो को यन्त्रो की जानकारी करायी जाय और उनमे वेध लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न की जाय तो कितना महत्त्व का काम होगा। व्यक्तिनिष्ठ प्रयत्नो की अपेक्षा मन्द गति से ही क्यो न हो यदि ऊपर दिखाये गये मार्ग से काम किया जाय तो राष्ट्र की बुद्धि जाग्रत होकर उसका फल चिरस्थायी होगा। देश में बडे-बडे स्थानो पर हमारे प्राचीन ग्रन्थो और प्राचीन यन्त्रो का सग्रह किया जाना आवश्यक है। प्राचीन और नवीन पद्धति से वेधशाला स्थापन करके उनमें प्रयोगा-

त्मक अध्यापन कराया जाय तो हमारे प्राचीन पूर्वजो द्वारा स्थापित ज्योति शास्त्र उज्ज्वल स्थिति मे ही न बना रहेगा वरन् क्रमश उज्ज्वलतर होता चला जायगा। पञ्चाङ्ग शोधन के विषय मे शकराचार्यादि लोगो के जो तीन कर्तव्य ऊपर बतलाये हैं उनको पालन करने से राष्ट्र मे व्याप्त अज्ञानता मूलक रोग अच्छा करने मे सहायता मिलेगी। परन्तु तात्कालिक फलप्राप्ति के उपायो की अपेक्षा हमे ऐसा कुछ करना उचित है जिसका फल चिरस्थायी हो। हमारा ज्योति शास्त्र-वृक्ष प्राचीन काल मे देश की उत्तम भूमि मे उत्पन्न होकर बडे जोर से बढा। उसको समय-समय पर पानी मिलता गया। उसके फलो का स्वाद लेकर लोग तृप्त होते थे। उसके पुष्पो का सौरभ केवल हमारे देश में ही नही दूसरे देशो मे भी फैल गया। यह सम्भव है कि अति प्राचीनकाल मे दूसरे देश के गणक रूपी मेघो से उसकी क्यारी मे कुछ जलबिन्दु सिंचित हुए हो परन्तु इससे उत्पन्न हुए बीजो ने उन देशो मे जाकर नवीन ज्योतिष वृक्षो को उत्पन्न किया या पुराने वृक्षो को पुनर्जीवित किया, यह बात इस शास्त्र के इतिहास से निस्सशय सिद्ध हो जाती है। इस देश मे यह वृक्ष आगे जाकर सूख गया, इसका बढना बद हो गया, इसको पानी न मिल सका और इसकी शाखाओ के कोमल पल्लव म्लान हो गये। प्राचीन काल मे मिले हुए पानी से और यदाकदा प्राप्त जलकणो से किसी तरह वह प्राण धारण किये हुए है और किसी तरह के खट्टे मीठे फल दे रहा है। दूसरे देशो मे यदि देखा जाय तो इसी के बीज से उत्पन्न हुआ अथवा पुनर्जीवित हुआ वृक्ष इतनी तेजी से बढा है और बढ रहा है कि उसके नीचे हजारो जीव आश्रय ले रहे है। उसका विस्तार देखा जाय तो हमारे ज्योतिषरूपी वृक्ष से उसका कोई सबध है, यह ध्यान में भी नही आता। इतने बडे अन्तर का कारण यह है कि उसको वेधशालाओ से अनुभव रूपी उदक निरन्तर प्राप्त होता गया। तद्विपरीत हमारा वृक्ष नूतन ज्ञान के अभाव के कारण निर्जीव सा हो गया। अत यदि इस देश मे भी वेधशालाएँ स्थापित हो तो हमारा ज्योतिष भी पुनरुज्जीवित होकर उन्नतिशील हो सकता है तथा क्रमश पूर्णावस्था को प्राप्त हो सकता है। जैसा कि हम लिख चुके है हमारी राष्ट्रान्त करण रूपी भूमि सुसस्कृत हो गयी है और नवीन बीजारोपण के लिए तैयार है अतएव इसमे नये बीजसस्कार किये जा सकते है। हम जगच्चालक सवितृदेव से प्रार्थना करते है कि हमारे देश मे ऐसे विद्वान् उत्पन्न हो जो अपने मौलिक ग्रन्थो द्वारा इस शास्त्र मे नये नये शोध करते हुए उसके भविष्य को उज्ज्वल से उज्ज्वलतर स्वरूप देते रहे और ज्ञान के क्षेत्र मे अपने देश की प्राचीन प्रतिष्ठा को पुन प्रस्थापित करे।

अमात फाल्गुन शुक्लपक्ष शके १८०८ सवत् १९४३ ईसवी १८८७

ति	वा.	घ.	प.	न.	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	चंद्रराशि	ताराचंद्रयुति. ता	घ	अ.दि	दि. मा.	रविक्रांति क्रांति		मध्याह्न क	मि.	सू. च.	पा. ता.	अं. ता	शास्त्रार्थादिविशेषा
१	बु	५८	२०	श	३६	६	शि	११	११	किं	२५	४	कुंभ	श	२१	१ द.	३६/३४	९	५९	०	१४	२९	९	२३	बुधभौमयु. घ. ३८ बुध ३२ कला उ.
२	गु	६०	०	पू	४३	५२	सि	१३	३४	बा	३१	४०	कु २७	×	×	×	३८	९	३८	०	१३	३०	१०	२४	चंद्रद शुक्रचंद्रयु. घ ४० शु १ उ.
२	शु	५	१	उ	५१	३६	सा	१६	२	कौ	५	१	मीन	उ	२	३१ द	४१	९	१५	०	१३	१	११	२५	अमृत ५११३६ न जमादिलाखर.
३	श	११	२५	रे	५१	०	शु	१८	२३	ग	११	३५	मी५९	रे	२९	४ द.	४४	८	५३	०	१३	२	१२	२६	भद्रा प्र. ४४।३८ मीनेह्न ५।५
४	र	१७	४२	अ	६०	०	शु	२०	२३	भ	१७	४२	मेष	अ	२३	१४ द	४७	८	३१	०	१३	३	१३	२७	विनाय ४ वैधृतिपात प्र ४५।३२
५	च	२३	२१	अ	५	४४	ब्र	२१	४५	बा	२३	२१	मेष	भ	२६	१७ द	५१	८	८	०	१३	४	१४	२८	वैधृ. नि. १।२४
६	मं	२७	११	भ	११	२६	ऐ	२२	१५	तै	२७	११	मे २८	कृ	४५	१० द	५४	७	४५	०	१३	५	१५	१	मीनेभौम १२।११ मार्च
७	बु	२९	४५	कृ	१५	४६	वै	२१	३५	व	२१	४५	वृषभ	रो	४२	० उ	५७	७	२३	०	१२	६	१६	२	
८	गु	३०	३२	रो	१८	२७	वि	१९	३५	भ	०	८	वृ. ४९	मृ	४०	२ उ.	२९/१	७	०	०	१२	७	१७	३	पू भा. कं: ३४।१२ मृत्यु. १८।२७नं
९	शु	२९	२७	मृ	११	१६	प्री	१६	५	कौ	२९	२७	मिथु.	आ	२	५ उ	४	६	३७	०	१२	८	१८	४	बुधउ.भा यु घ. ८ बु. २७ द.
१०	श	२६	२४	आ	१८	१०	आ	११	४	ग	२६	२४	मिथु	×	×	×	७	६	१४	०	१२	९	१९	५	भद्राप्र. ५३।५५ शनिचंद्रयु श. ३ उ.
११	र	२१	२६	पु	१५	१५	सौ	४/५२	३४/१०	भ	२१	२६	मि. १	पु	४	१० द	११	५	५१	०	१२	१०	२०	६	आमलकी ११ दग्ध २१।२६ नं.
१२	चं	१४	५२	पु	१०	४१	अ	४७	४८	बा	१४	५२	कर्क	पु	४	२ द	१४	५	२७	०	११	११	२१	७	सोमप्रदोष आश्रेषाचंद्रयु. क्ष. ४
१३	म	७/५१	२/१५	आ	४/५३	५१/१	सु	३७	५८	तै	७	२	कर्क५	म	२८	० द	१७	५	४	०	११	१२	२२	८	
१५	बु	४९	०	पू	५०	३९	ध	२७	३०	भ	२३	३८	सिंह	पू	३५	१ द	२१	४	४१	०	११	१३	२३	९	हुताशनी १५ मन्वा.

शुक्ल १५ बुधे मध्यमसूर्योदये स्पष्टग्रहा.

र	म.	बु.	गु.	शु.	श.	रा
१०	११	११	६	११	२	४
२५	६	१२	१२	१८	२२	४
२५	०	४८	४०	१४	५४	९
५१	५६	१३	२	१०	२५	३६
५९	४६	३१	२	७४	०	३
५४	३४	२१	व/५०	३	व/५८	११

रविफलंधन ३।४५।३४

म बु शु १२
र ११ के
१० ९
१ २ ८
रा ५ च
३ श गु ७
४ ६

सूक्ष्मगणितात् निरयनमानपञ्चाङ्ग

सायन मानेन अमात चैत्र शुक्ल पक्ष- १८०६

अमात फाल्गुन शुक्लपक्ष शके १८०८ सवत् १९४३ ईसवी १८८७

ति	वा.	घ.	प.	न.	घ	प	यो	घ	प	क	घ	प	चन्द्रराशि	ताराचन्द्रयुति. ता	घ	अं.दि	दि मा.	मु च.	पा. ता	अ ता.	शास्त्रार्थादिविशेषा·
१	बु	५५	१२	श	३०	११	शि	३	२६	कि	२२	४२	कुम्भ.	श	३०	१ द.	३८ ३४	२१	९	२३	बुधभौमयु. घ ८ पूर्वाभाद्र चन्द्रयु घ ५५
२	गु	६०	०	पू	३६	५०	सि	४	४०	बा	२७	४१	कुं.२०	उ	५५	२१ द	३८	३०	१०	२४	वक्रीगुरु चन्द्रदर्शन
२	शु	०	२६	उ	४३	१७	सा	५	५१	कौ	०	२६	मीन.	×	×	×	४१	१	११	२५	अमृत. ४३।१७ न जमादिलाखर.
३	श	५	२४	रे	४१	१४	शु	७	८	ग	५	२४	मी४१	रे	४१	३ द	४४	२	१२	२६	भद्रा प्र. ३७।४९ मीनेबुध ०।५०
४	र	९	५५	अ	५४	३४	शु	७	५४	म	९	५५	मेष	अ	२८	३४ द	४७	३	१३	२७	मीनभौम ५५।५५ वैधृ. प्र. २२।४७ नि. ३६।४५
५	च	१३	३१	भ	५८	३४	ब्र	८	२	बा	१३	३१	मेष	भ	३१	१६ द	५१	४	१४	२८	[शुक्रउत्तराभाद्र. यु. च १
६	म	१५	५१	कृ	६०	०	ऐ	७	९	तै	१५	५१	मे १४	कृ	५२	९ द	५४	५	१५	१	मार्च
७	बु	१७	१०	कृ	१	३०	वै	५	११	व	१७	१०	वृषभ	रो	४३	१ उ.	५७	६	१६	२	भद्रानि. ४७।७ शततारकारवि युति. पूर्वाभाद्र-
८	गु	१७	४	रो	३	१४	वि	२ ५६	२७ १५	ब	१७	४	वृ ३४	मृ	४३	६ उ	२१	७	१७	३	मृत्यु ३ न दुर्गा ८. [पदार्क. ५४।३.
९	शु	१५	४२	मृ	३	५२	आ	५३	५८	कौ	१५	४२	मिथु	आ	१	७ उ	४	८	१८	४	
१०	श	१३	८	आ	३	१	सौ	४८	२५	ग	१३	८	मि ४७	×	×	×	७	९	१९	५	भद्राप्र. ४१।२२.
११	र	९	३६	पु	९ ५७	१४ १८	शो	४२	९	भ	९	३६	कर्क	पु	४	८ द	११	१०	२०	६	आमल ११ पुष्य चं.यु. घ. ५६ चं. १द. आश्ले. चं.यु.
१२	च	५ ५४	१० ५०	आ	५५	२५	अ	३५	२२	बा	५	१०	क.५५	×	×	×	१४	११	२१	७	रविपूर्वाभाद्र. यु. घ. ५५ सोमप्रदोष.
१४	म	५४	२५	म	५१	३५	सु	२८	३	ग	२७	१२	सिंह	म	३३	० उ	१७	१२	२२	८	
१५	बु	४८	२१	पू	४७	३४	धृ	२०	३०	भ	२१	२७	सिंह	पू	५३	१० द	२१	१३	२३	९	हुताशनी १५ मन्वादी.

शुक्ल १५ बुधे मध्यमसूर्योदये स्पष्टाग्रहा·

र	म	बु.	गु.	शु	श	रा
१०	११	११	६	११	२	४
२६	७	११	१६	११	२५	४
५	१	२४	६	२०	३४	५०
९	५६	३८	११	१७	४६	३२
६०	४८	४०	३	७४	०	३
२	५०	४४	८व	३२	५५ च	११

अहर्गण २४१६ मध्यमरवि १०। २४।५।३१ रविफलंध्रुवं १।५१।३०

शु बु म १२
२
१०
१
११ के
९
२
८
३ श
व ५ रा
गु ७
४
६

चालू पञ्चाङ्ग

लघुतिथिचिंतामणिग्रहलाघवगणितात् निरयनमानेन

परिशिष्ट २

शक ९५० के पूर्व के अन्य ग्रन्थो एवं ग्रन्थकारो का परिचय

इस ग्रन्थ के लगभग ३०० पृष्ठो के छप जाने के बाद ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थो के सम्बन्ध मे जानकारी वाली ऐसी दो-तीन पुस्तके प्राप्त हुई जो इसके पूर्व मेरे देखने में नही आयी थी। उन ग्रन्थो के अवलोकन से उपलब्ध विशेष जानकारी यहाँ दे रहा हूँ। अबू अल रेहान मुहम्मद बिन अहमद अलबेरुनी नामक मुसलमान विद्वान् को महमूद गजनवी अपने साथ भारत ले आया था। अहम अलबेरुनी का जन्म ईसवी सन् ९७३ में खीवा नामक स्थान मे हुआ था। कालान्तर मे अलबेरुनी वहाँ के तत्कालीन शासक का मत्री बना। अनतर जब महमूद गजनवी ने खीवा पर अधिकार किया तब अल-बेरुनी नजरबद बना लिया गया। नजरबदी की स्थिति मे ही महमूद गजनवी उसे भारत ले आया। अलबेरुनी सन् १०१७ से लगभग १०३१ ई० तक भारत मे रहा। सन् १०३१-३२ (शक ९५३) के आसपास उसने अरबी भाषा मे "इडिका" नामक ग्रन्थ की रचना की। "इडिका" नामक ग्रन्थ मे भारतवर्ष के अनेक शास्त्र ग्रन्थो का वर्णन है। अलबेरुनी ने सस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। सस्कृत भाषा मे लिखित अनेक ग्रन्थो का उसने अवलोकन भी किया था। ज्योतिष शास्त्र पर उसका विशेष अधिकार था। उसमे उसकी अत्यधिक रुचि और गति थी। कई ज्योतिष ग्रन्थो का उसने अरबी भाषा में अनुवाद भी किया था। उसके इडिका नामक ग्रन्थ का अनुवाद बर्लिन के प्रोफेसर एडवर्ड सी० साचो ने किया है। इस ग्रन्थ के दो भाग है। उसमे मुख्य रूप से शक ९५० के पूर्व के ग्रन्थकारो के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है।

मुसलमानो में हिन्दू ज्योतिष शास्त्र का प्रचार—वर्षो तक सिन्ध प्रान्त बगदाद के खलीफाओ के अधीन था। उनमे खलीफा मसूर (ई० सन् ७५३ से ७७४ तक) के शासन काल मे सिन्ध प्रान्त के तत्कालीन एक शासक के यहाँ से एक दूत सन् ७७१ ई० में उसके दरबार मे गया था। उस दूत के साथ कई ज्योतिषी भी बगदाद गये थे। उन ज्योतिषियो के द्वारा सस्कृत के कतिपय ज्योतिष ग्रन्थो का अरबी भाषा मे अनुवाद हुआ। खलीफा हारूँ (रशीद) के शासनकाल (ई० सन् ७८६-८०६) में वैद्यक

तथा ज्योतिष विषयक कतिपय ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद हुआ। उस समय ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त तथा खण्डखाद्य का अरबी भाषा मे उल्था हुआ। इतना ही नही, संस्कृत भाषा में लिखित ज्योतिष के विविध सिद्धान्त ग्रन्थो के आधार पर अरबी भाषा मे स्वतन्त्र ग्रन्थो की भी रचना हुई थी ऐसा प्रतीत होता है। अल फजारी, याकूब बिन तारिक, अबू अल हसन नामक अरबी भाषा के ज्योतिष ग्रन्थकार ईसवी सन् की ८ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे वर्तमान थे। ऊपर लिखे हिंदू ज्योतिषियों की सहायता से उनने अरबी भाषा मे ज्योतिष शास्त्र के स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। उपर्युक्त ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नही हो पाये, पर इतना तो स्पष्ट है कि अल-बरुनी के संग्रह में उपर्युक्त तीनो लेखको के ग्रन्थ विद्यमान थे। प्रथम दोनो लेखको के ग्रन्थो का उल्लेख तो अलबेरुनी ने बार-बार किया है। उन ग्रन्थो मे कालमान, महा युग अथवा कल्प की ग्रह भगण संख्या, ग्रहकक्षा योजना, मध्यम ग्रह साधन हेतु अहर्गण-प्रक्रिया, भुजज्या, ग्रहो का अस्तोदय, चंद्रदर्शन आदि संस्कृत ग्रन्थो के अनेक प्रकरण समाहित किये गये थे। अरबनिवासियो ने ज्योतिषशास्त्र का सर्वप्रथम ज्ञान भारतीय ज्योतिष ग्रन्थो के आधार पर सम्पादित किया। अनन्तर उन्हे टालमी के ग्रन्थो का पता चला। मुस्लिम जनता को हिंदू ज्योतिष शास्त्र का परिज्ञान सर्वप्रथम अलफजारी ने कराया। याकूब ने जब ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ की रचना की तब खण्डखाद्य का अरबी अनुवाद हो चुका था। वह अनुवाद अलफजारी ने किया होगा।

पुलिश सिद्धान्त—अलबेरुनी के पास इस सिद्धान्त की सटीक पुस्तक थी। वह उसका अरबी भाषा मे अनुवाद कर रहा था। (भा० २ पृष्ठ ३०५) महायुगान्त के ग्रह भगण, सावन दिवस, इत्यादि का पुलिश सिद्धान्तोक्त मानका उसने उल्लेख किया है। वह उत्पल द्वारा उद्धृत पुलिश-मान से पूर्णत मिलता है। पुलिश के उप-र्युक्त विषय सम्बन्धी निश्चित मानदड का उल्लेख मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ २२७ पर किया है। उसमे चन्द्रोच्च राहु सम्बन्धी भगण नही है। इसका उल्लेख अलबेरुनी ने अनुक्रमसे ४८८२१९ तथा २३२२२६ दिया है। सूर्योच्च भोग ८० अंश बताया है। पुलिश सिद्धान्त में युगपद्धति स्मृतियो के अनुसार है। परन्तु कल्पात महा-युग १००८ तथा ७२ युगो का एक एक कर इस प्रकार १४ मनु अर्थात् संधि और मन्व्यश उसमें नही आया है। उसमें युग का आरम्भ मध्यरात्रि से माना गया है। अलबेरुनी ने अपने ग्रन्थ में उपर्युक्त बातें लिखी है। "पुलिश सिद्धान्त नाम सैत्र नगर के ग्रीक पौलिस के नाम पर पडा है। सैत्र सिकन्दरिया मुझे प्रतीत होता है", ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है (भाग १, पृष्ठ १५३)। परन्तु यूनानी लोगो में युगपद्धति बिल-

कुल न थी, ऐसा उसने लिखा है (भाग १ पृष्ठ ३७४)। ऐसा प्रतीत होता है कि अलबेरुनी के समय मे उत्पल द्वारा उद्धृत पुलिश सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रचार था।

आर्यभट पहिला'—अबू अलहसन के ग्रन्थ में से ग्रह भगण सख्या बेरुनी ने दी है, (भाग २ पृ० १९) उसमें का बहुत सा अश आर्यभट प्रथम के ग्रन्थ में मिलता है, कुछ अश नही भी मिलता। सभव है लेखक के प्रमाद के कारण उक्त कुछ अश न मिलता हो। बेरुनी के पास आर्यभट के ग्रन्थ के कुछ भाग व उसका अरबी अनुवाद अवश्य था (भा० १ पृष्ठ २४६ व आर्यभटीय, चतुर्थ पाद, आर्या ११ देखिये)। ये अनुवाद खलीफा मसूर के शासन काल मे हुए थे।

वराहमिहिर—इनका समय बेरुनी ने शक ४२७ दिया है। इनके बृहत्सहिता तथा लघुजातक नामक ग्रन्थो का अनुवाद उसने अरबी भाषा मे किया था। बृहज्जातक की बलभद्र कृत टीका का उसने उल्लेख किया है। सुधाकर जी के लेखानुसार वराह-मिहिर के योगयात्रा तथा विवाहपटल नामक ग्रन्थ काशी में है। उत्पल ने लिखा है कि वराहमिहिर ने समाससहिता नामक ग्रन्थ भी लिखा था। वह बृहत्सहिता का सक्षिप्त रूप ही रहा होगा।

' कुसुमपुर के आर्यभट और उनसे भी प्राचीन आर्यभट ऐसे दो आर्यभटो का उल्लेख अलबेरुनी ने किया है। पृ० ३२२ पर मै कह चुका हूँ कि प्राचीन आर्यभट का ग्रन्थ मुझे नहीं मिला। पर प्राचीन आर्यभट का अनुयायी कुसुमपुर का आर्यभट था, ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है। इन दोनो आर्यभटो का उल्लेख अलबेरुनी के ग्रन्थो में ३० स्थानो पर आया है। उन स्थलो को देख उनका वर्णन मैंने पिछले पृष्ठ २६३, ३२० में किया है जिसमें पहिले आर्यभट का पूरा विवरण दिया है। ग्रहभगण संख्या इत्यादि में दोनों का मतभेद स्पष्ट दिखाई देगा, ऐसा अलबेरुनी ने लिखा है पर दूसरे आर्यभट के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। साथ ही वह पहिले का अनुयायी भी नहीं था। इससे स्पष्ट है कि अलबेरुनी द्वारा प्रतिपादित दोनो आर्यभट वस्तुतः एक ही थे। मेरा मत है कि प्रो० साचो के ध्यान में भी यह बात नही आयी। मैंने जिस दूसरे आर्यभट का उल्लेख किया है वह पहिले ही हो गया था। उसका ग्रन्थ अलबेरुनी के देखने में नहीं आया था, यह स्पष्ट हो जाने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सुनने में दो आर्यभट होने की बात आयी अवश्य थी पर उसके समझने में ऊपर लिखे अनुसार भूल हुई है, ऐसा प्रतीत होता है और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आर्यभट द्वितीय शक ९५० से ५० या १०० वर्ष पूर्व हुआ होगा। इस ग्रन्थ के आरम्भ में मैंने आर्यभट द्वितीय का जो काल निर्णय किया है, वह ठीक जँचता है।

लल्ल—गणकतरंगिणीकार के अनुसार इनका समय शक ४२१ है, पर यह अशुद्ध है जैसा मै पृ० ३१४ में सिद्ध कर चुका हूँ। भास्कराचार्य ने गोलाध्याय में लल्ल के वृत्तपृष्ठफलानयन का एक श्लोक उद्धृत कर इसका खण्डन किया है। इससे सिद्ध होता है कि लल्ल ने पाटी गणित ग्रन्थ रचा था। सुधाकर का कथन है कि बीज गणित पर भी उन्होने ग्रन्थ बनाया था। शक ९५० के पूर्व के प्रसिद्ध ज्योतिषियो का कुछ न कुछ वर्णन बेरुनी के ग्रन्थो मे आया है पर उसमे लल्ल का नाम भी नही है। इससे स्पष्ट है कि सिन्ध, पजाब, कश्मीर अथवा उत्तर भारत के अधिकाश भाग में शक ९५० तक लल्ल का ग्रन्थ प्रसिद्ध नही था। इससे तथा लल्ल बीज सस्कृत प्रथमार्य सिद्धान्त का दक्षिण में प्रचार होने से प्रतीत होता है कि वह दक्षिण का निवासी था।

मुंजाल कृत लघुमानस (शक ८५४)—मुजाल दाक्षिणात्य था, जैसा कि पृ० ३१९ पर लिखा जा चुका है। गणक-तरगिणी-कार ने लघुमानस का समय कभी ८५४ और कभी ५८४ दिया है। इसमे ५८४ दृष्टिदोष है। यह बात उक्त ग्रन्थ में कृतेष्विभ (८५४) दो बार आने तथा अन्य प्रमाणो से स्पष्ट है।

आर्यभट दूसरा—ये अलबेरुनी के पूर्व हुए होगे, ऐसा पहिले दिखाया जा चुका है। (देखो पृ० ३२२)

पृथुस्वामी—जैसा कि पृ० ३२५ पर लिखा जा चुका है इनका काल लगभग शक ८५० से ९०० तक होगा।

भटोत्पल—इनके जिन ग्रन्थो का वर्णन पृ० ३२७ में मैने किया है, उनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का उल्लेख अलबेरुनी ने किया है। वे है—राहुन्नाकरण और करणपात। ये दोनो करण ग्रन्थ तथा बृहन्मानस ग्रन्थ की टीका है। इनमे करणग्रन्थो का नाम आश्चर्यजनक है। साथ ही एक ही ग्रन्थकार के दो करणग्रन्थ सम्भव भी नही जान पडते। इससे बेरुनी की समझ में कुछ भूल हुई जान पडती है। उसका कथन है कि उत्पल का श्रूधव नामक एक और ग्रन्थ था। इस नाम में भी कुछ भूल जान पडती है। इस ग्रन्थ के कालादिक के मान की चर्चा अलबेरुनी ने की है। उसका कहना है कि श्रूधव नामक और भी ग्रन्थ है। उसके विषयो का स्वरूप थोडा सा उसने दिया भी है। उससे वह शकुन या प्रश्न ग्रन्थ होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

विजयनन्दी कृत करण तिलक—जैसा कि पृ० ३२९ पर लिख आये है, वराहमिहिर लिखित विजयनदी इस विजय-नदी से बहुत प्राचीन है।

[**और करणग्रन्थ**—करणचूडामणि, लोकानद कृत लोकानदकरण, भट्टिल कृत भट्टिलकरण ये और करण ग्रन्थ है। यह लिखकर बेरुनी आगे कहता है कि इस प्रकार के असख्य ग्रन्थ है (भा० १ पृ० १५७)। इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३४७ में मैने जो अनुमान

किया था वह अलबेरुनी के लेखो से भी सही उतरता है। देशकाल मे ऐसे करणग्रन्थ अनेक हुए होगे, यह सहज सभाव्य है। सम्प्रति वे सब उपलब्ध नही है। यदि उपलब्ध भी हुए तो उनका प्रत्यक्ष कोई उपयोग नही। फिर भी ज्योतिष शास्त्र का एव सामान्यत अपने देश का इतिहास समझने मे उनका अत्यधिक उपयोग होगा।]

शक ९५० के बाद के अन्य ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

श्रीपति—इनके पाटीगणित और बीजगणित पर ग्रन्थ है। मुनीश्वर कृत लीलावती की टीका मे इनके ग्रन्थ के जो उद्धरण दिये गये है, उनसे उपर्युक्त ग्रन्थो का पता चलता है, जैसा कि पृ० ३३० पर लिख आये है।

केशव—विवाह वृन्दावनकार केशव का वर्णन पृ० ३५२ मे किया जा चुका है। इनका समय शक ११६५ के लगभग प्रतीत होता है।

महादेव कृत ग्रहसिद्धि—ये गोदाके पास रासिण के रहनेवाले थे। वहा की पलभा ४।। थी। अहमदनगर के दक्षिण रासिन नामक एक गाव है। पर वहा की पलभा लगभग ४ है तथा वह गोदा के पास नही है, भीमा के पास महाराष्ट्र में है।

पृष्ठ ३५३ पर दिये गये कतिपय उल्लेखो से ये गुजराती प्रतीत होते है। सभव है कि मूलत गुजरात के रहनेवाले होते हुए स्वय वे या उनके कोई पूर्वज महाराष्ट्र देश में आकर वस गये हो।

नृसिंह—ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ के भाई राम थे। उनके ये पुत्र थे (पृ० ३६६)। राम गणेश दैवज्ञ के छोटे भाई रहे होगे। सुधाकर ने लिखा है कि नृसिंह ने शक १४८० में महादेव की ग्रह सिद्धि का अनुसरण कर "मध्यग्रह सिद्धि" नामक ग्रन्थ लिखा। उसमे मध्यम ग्रह मात्र है। स्पष्टग्रह महादेव के ग्रन्थ पर से करना चाहिये। कृष्ण शास्त्री गोडबोले की हस्तलिखित मराठी पुस्तक में लिखा है कि "केशव दैवज्ञ के पौत्र राम के पुत्र नृसिंह ने शक १५१० में "ग्रह कौमुदी" ग्रन्थ लिखा। नृसिंह का जन्म शक १४७० है।" यह शक और ऊपर का शक १४८०, इन दोनो में एक गलत होना चाहिये। शक १४८० छोडकर शेष वर्ष गति से गुणा कर ग्रह निकालना चाहिये, ऐसा नृसिंह ने लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उक्त शक में भूल होनी सभव नही। सम्भवत शक १४८० के बाद किसी वर्ष नृसिंह ने उक्त ग्रन्थ लिखा होगा।

अनुक्रमणिका

१. ज्योतिषग्रन्थ

क—सस्कृत के

ख—संस्कृतेतर भाषाओं के ज्योतिष ग्रन्थ

२. ज्योतिष ग्रन्थकार

क—संस्कृत भाषाके

३—अन्य ग्रन्थ

क—संस्कृत के

ख—सस्कृतेतर भाषाओ के

४. अन्य ग्रन्थकार